ॐ

आत्मपुराणम्

प्रथमो भागः

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन

काशी

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला – १७

श्रीमच्छङ्करानन्दसरस्वतीप्रणीतम्

आत्मपुराणम्

(उपनिषद्रत्नम्)

ऋग्वेदोपनिषद्व्याख्यारूपाध्यायत्रयात्मकः

प्रथमो भागः

●

सत्प्रसवः

श्रीदत्तकुलतिलकश्रीमद्रामकृष्णपण्डित – कृतः

●

हिन्दी व्याख्या

श्री १०८ स्वामी दिव्यानन्द गिरि

न्याय-मीमांसा-वेदान्ताचार्य

प्रकाशक

श्री दक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन, वाराणसी

विषयानुक्रमणिका

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

भूमिका

मानव जब सृष्टि के कारण का एवं अपने अस्तित्व के प्रयोजन का अन्वेषण करने चलता है तो अब तक के अन्वेषण के आधार प्रत्यक्ष व अनुमान को आधार नहीं बना पाता। अनुभूत के आधार पर ही अननुभूत का अन्वेषण सफल हो सकता है। कारण व्यक्त होता है व कार्य उसमें अव्यक्त होकर रहता है। कार्य के प्रकट होने पर कारण पूर्ववत् नहीं रह जाता। पर यहाँ जगत् रूप कार्य तो व्यक्त है, एवं इसका कारण अव्यक्त है। फिर कारण का पता कैसे लगे ? तत्तत्कार्य का कारण तो ज्ञात हो जाता है, परन्तु समग्र कार्य के, जिसमें सभी ज्ञात कारण आ जाते हैं, कारण का पता कैसे लगे ? अतः किसी ऐसे ज्ञान के स्रोत की जिज्ञासा होती है जो इस प्रकार के अतीन्द्रिय विषय का प्रतिपादन कर सके। इसका प्रतिपादन ही वेद का वास्तविक प्रयोजन है। धर्म व ब्रह्म दोनों ही अतीन्द्रिय पदार्थ हैं। ब्रह्म जगत् का मूल कारण है, व धर्म जगद्वैचित्र्य का हेतु है। धर्म व ब्रह्म दोनों ही वेदमात्र से ही जाने जा सकते हैं। किसी भी कारण से उत्पन्न कार्यों में उस कारण की अनुस्यूतता रहती है जो कार्य के अव्यक्त व व्यक्त काल में समान रूप से रहती है। साथ ही कार्यों में परस्पर भेद भी रहेगा। मिट्टी से बने खिलौनों में गन्धवत्ता एक जैसी रहेगी, परन्तु हाथी, घोड़ा, चूहा आदि खिलौनों के आकार में भेद भी रहेगा। इसी प्रकार सद्रूप ब्रह्म से उत्पन्न सभी में सद्रूपता एक जैसी रहेगी पर फूल, गर्मी, आवाज आदि आकारों में भेद भी रहेगा। सद् ब्रह्म से उत्पन्न मन में ज्ञान भी प्रकट होता है अतः सद् ब्रह्म का एक रूप चित् भी है जो मन में प्रकट होता है। शान्त मन में आनन्द भी प्रकट होता है, अतः आनन्द भी सत् का ही रूप है। जिस प्रकार आग की गर्मी तो जल, लोहा आदि सर्वत्र प्रकट होती है परन्तु रोशनी केवल लोहे आदि में ही प्रकट होती है, इस प्रकार सत् का ही चित् व आनन्द भी रूप है पर ये रूप मन में ही प्रकट होते हैं। ज्ञान व आनन्द कहीं भी बिना सत् के नहीं मिलते, ज्ञान व आनन्द में भी आनन्द बिना ज्ञानरूप हुये नहीं मिलता। जिस प्रकार दो सत् में भेद किसी उपाधि के द्वारा ही बताया जा सकता है, उसी प्रकार ज्ञान का भी उपाधि के द्वारा ही भेद कहा जा सकता है। घड़ा है, कपड़ा है, पेड़ा है के "है" में भेद घड़ा या पेड़ा के नाम रूप से ही है, अन्यथा "है" की अनुवृत्ति में तो एक रूपता ही है। इसी प्रकार घड़े का ज्ञान, कपड़े का ज्ञान, पेड़े के ज्ञान का भेद घड़े के नाम रूपों से है, अन्यथा ज्ञान की अनुभूति में एकरूपता है। इसी प्रकार घड़े का आनन्द, पेड़े का आनन्द आदि में भी आनन्द के अनुभव में कोई भेद नहीं है; केवल इन पदार्थों के नाम रूप का ही भेद है। अतः सत् जो चित् व आनन्द से अभिन्न है सर्वत्र एक रूप से अन्वित है।

यह सच्चिदानन्द ही जगत् का कारण है। सुषुप्ति या महाप्रलय में अव्यक्त रूप से जगत् के सारे नाम रूप रहते हैं, पर व्यक्त रूप से नहीं। यह तत्त्व ही सम्पूर्ण जगत् का कारण है एवं यही ज्ञात हो जाना सृष्टि का व हमारे जीवन का प्रयोजन है। अव्यक्त ही अज्ञान नाम से कहा जाता है; सच्चिदानन्द स्वरूप से अज्ञात है अतः इसका ज्ञान ही प्रयोजन है। अज्ञात ब्रह्म कारण है व ज्ञात ब्रह्म सृष्टि का आत्यन्तिक अभाव कर देता है। यह ठीक है कि ज्ञान से केवल अज्ञान ही हटता है, पर कारण अज्ञान की या अव्यक्त की निवृत्ति से कार्य की निवृत्ति होगी ही। कारणनाश से कार्य की अगले क्षण में निवृत्ति नैय्यायिक संमत है जो अनुमानसिद्ध है। इसी प्रकार अज्ञाननाश से कार्य की यावत्प्रारब्ध अवस्थिति श्रुतिसिद्ध होने से अद्वैत के साम्प्रदायिक आचार्यों ने स्वीकारी है। जिस प्रकार सर्प की केंचुली चट्टान पर पड़ी सर्प की तरह दीखती है, पुस्तकों में रखी कीड़ों को डराती भी है, परन्तु सर्प वहाँ नहीं है। इसी प्रकार शरीर, मन आदि दीखते हैं, हरकतें भी करते हैं, पर उन्हें उकसाने वाला अध्यास वाला ब्रह्म अर्थात् जीव वहाँ नहीं है। चलाने वाला या प्रारब्धभोग कराने वाला अविद्या से सम्बन्धित ईश्वर तो वहाँ है ही, उसे साक्षी रूप से भी मान सकते हैं, मायाविशिष्ट रूप से भी। अध्यास के अभाव में आगामी कर्म बनेंगे नहीं अर्थात् शरीर-मन में प्रारब्धभोग के लिये कर्म दीखने पर भी वे फलोत्पत्ति में असमर्थ होते हैं। अध्यास के निबन्धन से रहने वाले संचित कर्म तो ज्ञान-समकाल ही निवृत्त हो जाते हैं। अतः यह जीवन्मुक्ति प्रारब्धसमाप्ति पर कार्य की आत्यन्तिक निवृत्ति कर देती है। जीवभाव का बीज है इच्छा। ऋग्वेद इसी लिये कहता है 'कामस्तदग्रे

समवर्तत'। ईश्वर तो सत्यकाम, सत्यसंकल्प है। अत: उसकी इच्छा उत्पन्न होते ही पूर्ण होने से उसे सामान्य इच्छा नहीं कह सकते। जीव में ज्ञान से क्रिया के मध्य में इच्छा आती है, व क्रिया इच्छापूर्ति के लिये है। ईश्वर में काम या ईक्षण होने पर ज्ञान है। ईश्वर के लिये अज्ञात या अप्राप्त सत्ता का कोई पदार्थ नहीं है। जीव अज्ञात या अप्राप्त की प्राप्ति के लिये इच्छा करता है। अत: भगवान् भाष्यकार इच्छा की निवृत्ति अध्यासकाल में नहीं मानते। अन्य भी मानते हैं कि ''मै स्वयं कुछ नहीं करता'' (ईसा जोन ८.१८ में), ''मेरी इच्छा नहीं वरन् तेरी इच्छा'' (ईसा मार्क १५.३६ में)। बोहम (Boehme) दो जीवों की वार्त्ता में (Discourse between two souls) लिखता है ''तुम और कुछ न करो, अपनी खुद की इच्छा छोड़ दो, क्योंकि यही वह है जिसे तुम अपना आपा मानते हो। इसे छोड़ने पर तुम उस सत् से एक हो जाओगे जिसके अज्ञान से तुम प्रकट हुये थे।'' अज्ञान की निवृत्ति ही वेद का प्रयोजन है। इच्छा की सर्वतोभावेन निवृत्ति तो वासनाक्षय होने पर ही होती है, परन्तु वैराग्य से उद्वेग करने वाली इच्छाएँ निवृ त होकर साधक को अज्ञाननिवृत्ति में एकतानता से लगने का अवसर देती है, जो श्रवणादि में लगाकर जीव को परमकैवल्य दे देती है।

वेदान्त यद्यपि मूलरूप से वैदिक शाखाओं में आई उपनिषदें ही हैं, परन्तु परवर्ती ग्रन्थ जो इन उपनिषदों के तात्पर्य का स्पष्टीकरण करने में प्रवृत्त हुये वे भी वेदान्त ही कहे जाते हैं। गीता व ब्रह्मसूत्र तो इतने आवश्यक हुये कि उनको उपनिषदों के साथ मिलाकर प्रस्थानत्रयी नाम से अभिहित किया गया। वेदव्यास ने इनका पुराणों में विस्तार किया। अत: 'इतिहास पुराण से वेद के अर्थ का विस्तार करे' ऐसा आदेश प्रसिद्ध है। परन्तु पुराण पौराणिकों द्वारा इस प्रकार बीहड़ बन गये कि उनमें उपनिषदों के किस अर्थ का कहाँ उपबृंहण हुआ है इसका पता लगाना महामनीषियों को भी दुष्कर हो गया। यद्यपि स्कन्दपुराण के संहितात्मक सूतसंहिता आदि के ब्रह्मगीतादि स्थल इसके अपवाद कहे जा सकते हैं तथापि ये इतने न्यून हैं कि इनको नहीं के समान ही माना जा सकता है। अत: तेरहवीं शताब्दि में **स्वामी शंकरानन्द सरस्वती** ने **आत्मपुराण** की रचना की जिसमें प्रत्येक उपनिषद् का अलग अलग तरतीब क्रम से पुराण के ढंग से विस्तार किया। नामकरण का संभवत: तात्पर्य यह रहा कि जैसे शिवमाहात्म्य का आधार लेकर परब्रह्म का निरूपक शिवपुराण, विष्णुमाहात्म्य का आधार लेकर विष्णुपुराण, देवी से श्रीमद्देवीभागवत आदि हैं, उसी प्रकार आत्मा के माहात्म्य को लेकर प्रकट करने वाला आत्मपुराण है। प्रारंभ में यह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद क्रम से चला। अन्त में अनेक स्वल्पकाय, जिनका ब्रह्मसूत्र में विचार नहीं किया है, उन उपनिषदों का संग्रह कर दिया है। इसका प्राचीन साधुकड़ी हिन्दी में स्वामी चिद्धनानन्द जी ने अनुवाद किया था। वे निर्वाणी अखाडे के आचार्य महामण्डलेश्वर थे एवं स्वामी गोविन्दानन्द गिरि जी के गुरु थे जिन्होंने काशी में गोविन्द मठ की स्थापना की थी। इस पर काका नाम से प्रसिद्ध पंजाब के **पंडित रामकृष्ण** की विद्वत्तापूर्ण टीका है। श्रीदक्षिणामूर्त्ति मठ, काशी के स्वामी **दिव्यानंद गिरि जी**, न्याय-मीमांसा-वेदान्ताचार्य इस ग्रंथ से बड़े प्रभावित हुये व उन्होंने वृद्धावस्था में इसके अनुवाद का कार्य प्रारंभ किया। तीन अध्यायों तक तो उनका अनुवाद मिल पाया, आगे अनुवाद उपलब्ध होने से पूर्व ही उनका देहावसान हो गया। पर ग्रंथ के अनुवादक स्वामी स्वयंप्रकाशगिरि जी के मिलने से यह कमी पूरी हो गई व इसका प्रकाशन होने जा रहा है। प्रथम तीन अध्याय प्रथम खण्ड में हैं। द्वितीय खण्ड छप रहा है व शीघ्र ही उपलब्ध होगा, आगे क्रमश: सारा ग्रंथ प्रकाशित होगा। अनुवादक श्री दक्षिणामूर्त्ति मठ के अन्यतम रत्न रहे हैं, उनके अनुवाद में साम्प्रदायिक ज्ञान का प्रकाश पाठकों को उपलब्ध होगा।

प्रथम अध्याय में ऐतरेय उपनिषद् का विस्तार है। यह ऋग्वेद की उपनिषद् है। इसके आत्मषट्क पर आचार्य का भाष्य है। तदनन्तर द्वितीय अध्याय से कौषीतकी ब्राह्मण उपनिषद् को लिया है। ब्रह्मसूत्र में इसके वाक्यों को अधिकरणों का विषय भी बनाया गया है एवं भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर ने पौन: पुन्येन इसका उद्धरण दिया है। यद्यपि इस पर उनका भाष्य नहीं है तथापि प्रस्थानत्रयीभाष्य में कई क्लिष्ट स्थलों की व्याख्या उपलब्ध होती है। ऋग्वेद की ये दो ही श्रौतशाखान्तर्गत उपनिषदें हैं। इस प्रकार वर्त्तमान खण्ड में ऋग्वेद पूर्णत: आ गया है।

स्वामी शंकरानन्द जी विवरण प्रस्थान का ही प्रायश: अनुसरण करते हैं, परन्तु भामती प्रस्थान के उपादेय अंशों का भी ग्रहण करते हैं। मूल ग्रंथ का भाव जिस प्रक्रिया से स्पष्ट हो उसी प्रक्रिया का अनुसरण करना उनका लक्ष्य प्रतीत होता है। ग्रंथारंभ के अनेक स्थल इसीलिये एकजीववाद, दृष्टि-सृष्टि-वाद आदि से समझाये गये हैं, जो संभवत: प्रारंभ में क्लिष्ट प्रतीत होंगे। पर पाठक

आगे के अध्यायों में सृष्टि-दृष्टि-वाद, अनेक प्रमातृवाद आदि भी विस्तार से पायेंगे। इस प्रकार सभी वादों का उदय किस उपनिषद् का कौन सा स्थल है यह स्पष्ट हो जाता है। ग्रंथ में टीका की विशेष उपादेयता यही है कि वे सभी स्थल प्रक्रियाबद्ध ढंग से उपस्थित कर प्रक्रियाओं को ग्रंथारूढ कर दिया गया है। विद्वान् अनुवादक ने संस्कृत से अनभिज्ञ पाठकों को उपकृत कर सभी स्थल स्पष्टता से प्रकाशित किये हैं। पृ० ४२ पर आये इन्द्रिय व देवताओं की उत्पत्ति के प्रकरण का अनुवाद देखने से यह स्पष्ट होगा। ऐसे अनेक स्थल हैं। पृ० ६१ पर श्लो० १२९ की टीका की अपेक्षा अनुवाद में असंभावना व विपरीतभावना का स्पष्टीकरण है। इस प्रकार पुराण व टीका पढ़ने वाले को भी अनुवाद उपकृत करेगा, यह निःसन्दिग्ध है। पृ० ७० पर सम्बन्ध के विषय में भी पुराण बड़ा सुस्पष्ट व समीचीन मत उपस्थापित करता है। ग्रंथकार की विशेषता है — सभी मतवादों का संक्षेप में प्रस्तुतीकरण व उनका समन्वय। यह पद्धति आचार्य शंकर ने जैसी बनाई तदनुकूल ही पुराण में है। प्रथम अध्याय के ८८७ श्लोक हैं। इसमें पूर्वभाग में आत्मषट्क से पूर्वभाग की व्याख्या है, जिस पर भगवान् भाष्यकार का भाष्य नहीं है। यह भी वैशिष्ट्य है। सर्वत्र टिप्पणियों में विद्वान् लेखक ने अद्भुत प्रकाश डालने के साथ स्थलों का उद्धरण भी दिया है जहाँ यह विषय उपलब्ध है। टिप्पणियाँ संस्कृतज्ञ मनीषियों के ही काम की होने से उनका अनुवाद उपादेय नहीं था।

सभी पाठकों के ज्ञानप्राप्ति की उमारमण से प्रार्थना है। इति शम्।

श्री विश्वनाथ संन्यास आश्रम, दिल्ली
मेष संक्रान्ति, २०५५ विक्रमाब्द

भगवत्पादीय
महेशानन्द गिरि

ॐ

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

आत्मपुराणम्

उपनिषद्रत्नम्

प्रथमोऽध्यायः ऐतरेयार्थप्रकाशः

मङ्गलम्

ईशानीशादिभेदेन व्याकुलं सकलं जगत्। निरीक्ष्य श्रोत्रियः कश्चिच्छ्रुतार्थग्रहणक्षमः ॥
एकदा करुणाक्रान्तचित्त एतद् व्यचिन्तयत् ॥ १½ ॥

सत्प्रसवव्याख्या

ॐ नमः ॥

शैलेशान्तोद्भवविरचने दृग्यदीयाऽलमेका काशीयाभाभरणललितो विग्रहो भाति यस्य ।
रामोमालङ्करणपरमस्तत्सखीभिर्निरुद्धः स्वान्तागारे श्रुतिभिरवताच्छङ्करो देवदेवः ॥ १ ॥
चिन्ता निहन्ति खलु यस्य महान्तरायं स्फूर्तिर्विकासयति यस्य समस्तकार्यम् ।
वृत्तिर्यथार्थफलचिच्च यथा नुमस्तं द्वैमातुरं च कुलदैवतमाञ्जनेयम् ॥ २ ॥
येषां कृपा सकलदेवगणं प्रसूते संप्रीणिता भगवता श्रुतिभूषणाभ्याम् ।
क्षेमं तनोत्यदितिवत् प्रणतोऽस्म्यहं तान् विश्वेश्वराश्रमगुरून् अपि तातपादान् ॥ ३ ॥
रत्नानि यत्रोपनिषन्मयानि कोशे समस्तान्यपि शेरतेऽस्मिन् ।
विविक्षतः कूटविघाटनाय कृपा गुरूणां मम कुञ्चिकास्ति ॥ ४ ॥

मङ्गलपद्यव्याख्या - दानधर्मेषु[१] रहस्यप्रकरणे हरिहरयोरभेद इत्युपाख्यायते। नारदादयो मुनयो नारायणस्य भगवतो दर्शनाय समागताः सभाजिताः स्थिताः। तदा नारायणस्य मुखादकस्मान्निर्गत्य तेजसा हिमालयो दग्धः। तदा चकितान् मुनीन् दृष्ट्वा भगवता दृष्टो हिमालयस्तथाभूतोऽभवत्। अथ भगवता मुनयः पृष्टाः — किंचिच्चित्रं यद्भवद्भिर्दृष्टं तच्छ्राव्यताम् — इति। ततस्तैर्नारदो नियुक्तः श्रावयामास — कदाचिद् हिमालये भगवान् शिवः स्थितोऽभूत्। तदा पार्वती पृष्ठत आगत्य नेत्रद्वयं पिदधे। अथ अन्धीभूते लोके हरस्य विकासिततृतीयनेत्रेण हिमालयो दग्धः। पुनः पार्वत्यां चकितायां हरेण दृष्टस्तथाभूतोऽभवद् — इति। तथा च यदीया दृक् शैलेशस्य हिमालयस्य अन्तोद्भवयोः निर्माणे एका असहाया शक्ता — इत्यर्थकः प्रथमपादो हरौ हरेऽपि समन्वितः। द्वितीयपादस्तु हरिपक्षे आकाशीयाया आकाशसम्बन्धिन्या आभायाः श्यामाया भरणेन ललितो मनोहरो विग्रहो यस्य इति। हरपक्षे तु काशस्येयं काशीया, यद्वा काशीं यान्ति इति काशीया - विच्[२] - तेषां भाभरणं ज्ञानप्रकाशपूरणं ललितम् ईप्सितं प्रयोजनं यस्य; लल ईप्सायाम्; एतादृशो लीलाविग्रहो यस्येति। उत्तरार्धे तु हरिपक्षे 'राम' इति विशेष्यपदम्, मालङ्करणेन लक्ष्मीरूपभूषणेन परम उत्कृष्टशोभः। हरपक्षे रामा चासावुमा चेति विग्रहः, यद्वा रामचन्द्रेण उमया च कृतं यदलंकरणं तेन परम इति। अथवा,

---

१. महाभा. अनु. दानधर्म. अध्याय. १४९-१५०। २. पाणिनिसूत्रम् ३.२.७४।

रामचन्द्रोमयोः प्रेम्णा अलंकरणे तत्पर इत्यर्थः। वैशेषिकादिमतेन तटस्थतया प्रतिपादनात् प्रवासमिव नीतः तत्सखीभिः पार्वतीलक्ष्मीसंज्ञकब्रह्मविद्यासखीभिः श्रुतिभिः स्वान्तागारे धीगुहायां निरुद्धः प्रसाद्य इवानीतः, स्वात्मतया बोधितः। शेषं स्पष्टम्॥ १॥

द्वितीयपद्ये–आवरणरूपान्तरायभंजिका वृत्तिर्गणपतिस्मृतेरुपमानम्, फलचित् हनुमत्स्फूर्तेः, कार्यस्य घटादेः साधकत्वात्। शेषं स्पष्टम्॥ २॥

तृतीयपद्ये– अदितिरुपमानं गुरुदया उपमेया, तयोः साधारणधर्मस्तु देवप्रसवकारणत्वमुपमाने प्रसिद्धम्, उपमेयपक्षे देवाः शमादिशास्त्रविहितवृत्तिरूपास्तद्धेतुत्वम्। द्वितीयः साधारणधर्मो भगवत्कर्तृकश्रुतिभूषणकरणक-व्यापारजन्यप्रीतिशालित्वं, तत्तूपमाने प्रसिद्धम्–श्रुत्योः कर्णयोः भूषणे ताभ्यामिति षष्ठीसमासाश्रयणात्, श्रीकृष्णेन भौमासुरं निहत्य कुण्डलप्रत्यर्पणात्। उपमेये तु 'मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरितम्' इति वदता भगवता सर्वफलप्रदात्रा प्रवृत्तिनिवृत्तिशास्त्ररूपसामग्रीसंघटनेन संप्रीणिता सहायतां नीता इत्यर्थः। श्रुती पूर्वोत्तरकाण्डे एव भूषणे इति कर्म-धारयाश्रयणात्। क्षेमहेतुत्वं तु मातुः दयायाश्च प्रसिद्धमेव॥ ३॥

तुर्ये पद्ये कूटपदेन यन्त्रं ग्राह्यं, 'कूटं पूर्द्वारयन्त्रयो' रिति हैमः। तत्तु 'ताला' इति प्रसिद्धम्। विविक्षतः प्रवेश-मिच्छतः। शेषं स्पष्टम्॥ ४॥

अथात्र भगवान् शङ्करानन्दमुनिर्गुणोपसंहारन्यायेन[1] अधिकारिणां यावद् यत्र यच्च मननोपयोगि तद्दर्शनपूर्वकं समस्तोपनिषदो व्याचिख्यासुरधिकारिणं सूचयन् ऋग्वेदप्राथम्येन ऐतरेयोपबृंहणमादावारभते। तत्र प्रथममधिका-रिलक्षणं बोधयन् औत्सर्गिकं गुरुशिष्यसंवादमवतारयति – ईशेत्यादिना। जीवेश्वरभेदः, जीवजगद्भेदः, ईशजगद्भेदः, जीवानां परस्परं भेदः, जगतः परस्परभेद इति पंचविधभेदज्ञानात्मिकया कार्याविद्यया सकलं जगत् कर्तृभोक्तृरूपं जीवजातं व्याकुलं कारणोपाधीश्वरात् प्रशासितुर्भयेन अभिनिवेशाख्यक्लेशेन व्याप्तं, य 'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' (तै.२.७) इति श्रुतेः; निरीक्ष्य आलोच्य। एतेन नित्यानित्यवस्तुविवेकः सूचितः। कश्चित् श्रोत्रियः विधिवदधीतवेदवेदांगः श्रुतार्थग्रहणक्षमः मेधावान् श्रद्धावांश्च। एतेन नित्यानित्यवस्तुविवेक-श्रद्धाभ्यां मध्यवर्तीनि अंगानि सन्दंशन्यायेन[2] संगृहीतानि। प्रमेयन्तु नाम्नैव स्फुटीकृतम् – यथा, आत्मा पुराणः पुरुषः पुराणः पुरुष-स्त्वयम्[3]। आत्मेत्यात्मपुराणस्य नाम्ना मेयं प्रदर्शितम् ॥ सम्बन्धः प्रसिद्ध इति।

ननु मंगलाऽनाचरणान्मूलकृतेः सदाचारविरोध इति चेद्? अत्रोच्यते–त्रीण्यत्र मंगलानि; बहिःकृतमेकम्, मगणप्रयोगात्मकं द्वितीयम्, भगवत्पादैरिव भाष्यारम्भे 'अयमध्यासो मिथ्येति भवितुमर्हति' इति शुद्धं तत्त्वं मंगलाय स्मृतं तथैतैरपि भेदस्य हेयतया प्रतिपादनाद् अहेयतत्त्वानुस्मरणरूपं तृतीयं मंगलं कृतमिति सर्वं समंजसम्।

एकदेति। करुणाक्रान्तचित्तः करुणया व्याप्तमनाः। एतेन शुद्धान्तःकरणतया मुमुक्षा सूचिता॥ १½॥

भगवान् श्रीशङ्करानन्दजी महाराज श्रीविद्यारण्यमुनि के गुरु थे। पञ्चदशी के मङ्गलाचरण में इसीलिए 'नमः श्रीशङ्करानन्दगुरुपादाम्बुजन्मने' लिखा गया है। सत्ताईस उपनिषदों पर दीपिकायें, श्रीमद्भगवद्गीता पर गीतातात्पर्यबोधिनी और ब्रह्मसूत्रों पर दीपिका - यों श्रौत, स्मार्त व तर्क प्रस्थानों के अनुपम व्याख्याता श्रीशङ्करानन्द स्वामी ने अठारह अध्यायों में बँटे 'उपनिषद्रत्न' नामक आत्म–पुराण ग्रन्थ की रचना की है जिसमें प्रमुख उपनिषदों के अद्वैतबोधक प्रसङ्गों की अनूठी श्लोकबद्ध व्याख्या है। पूर्वपक्षपरीक्षा में अनेक विकल्प करना इनकी शैली की विशेषता है। प्रकृत ग्रंथ की एक और विशेषता है इसमें 'गुणोपसंहार न्याय' के प्रदर्शन से। ब्रह्मसूत्र में (३.३.५) स्थापना की गयी है कि विज्ञान (उपासना) समान होने पर उसके पृथक् स्थलों पर बताये गुणों का सर्वत्र समाहार कर लेना चाहिये। यह भी वहाँ कहा

१. भिन्नशाखागतानां गुणानामंगानां विशेषणानां वा एकबुद्ध्युपारोहणं गुणोपसंहारः। २. प्रथमान्तयोर्ग्रहणेन मध्यस्थानां ग्रहणमत्र न्यायशरीरम्। एकांगानुवादेन विधीयमानयोरंगयोरन्तराले विहितत्वमिति न्यायप्रकाशादौ। अवान्तरप्रकरणमिति तत्रार्थः। ३. पुराणः पुरुषो यज्ञ इत्यमरः।

है (३.३.१) कि समग्र वेदांतों में एकरूप परमात्मा का जहाँ कहीं भी उपदेश है उन सब स्थलों का तात्पर्य मिलाया जाये यही संगत है। वस्तुतः समन्वयसूत्र (१.१.४) भी यही स्पष्ट करने के लिए है कि सारे वेदान्त परमेश्वर का उपदेश देते हैं। अतः परमात्मस्वरूप समझने के लिए ज़रूरी है कि उनके बारे में बतायी सारी बातें इकट्ठी कर जानी जायें। इसी को गुणोपसंहार कहते हैं। एक शाखा की श्रुति की व्याख्या में तदनुकूल अन्य श्रुतियों की भी व्याख्या का समावेश इस ग्रंथ में मिलता है। अधिकारी के लिए मननोपयोगी जहाँ जितना जो कुछ भी है उस सब को करुणापूर्ण शङ्करानन्दजी महाराज ने वहीं उपस्थित कर दिया है। उदाहरणार्थ ऐतरेय-व्याख्या में वैराग्यप्रसंग में गर्भोपनिषत् की व्याख्या का समावेश है या चतुर्थाध्याय में सृष्टि बताते हुए पुरुषसूक्त की विस्तृत व्याख्या की गयी है। ऐसे ही अन्य अध्यायों में विषय के संग्रह से प्रकरण अत्यन्त रोचक बनाये गये हैं। ग्रन्थ का नाम है 'आत्मपुराण'। नित्य परमेश्वर 'पुराण' शब्द से व प्रत्यगात्मा 'आत्मा' शब्द से कहा जाता है, अतः दोनों के अभेद का प्रतिपादक होने से यह ग्रंथ यथार्थ नाम वाला है। यह अभेद ही ग्रंथ का विषय है। ईश्वरकृत सृष्टि, विराडादिकृत सृष्टि, गुरुपरम्परा, विभिन्न कालिक उपदेशकों की शिक्षायें एवं साधकों व ज्ञानियों के चरित्र – इन सब का वर्णन होने से पुराणलक्षण भी घट जाता है। यदि भगवान् भाष्यकार के अनुसार 'असद्वा इदमग्र आसीद्' (तै.२.७.१) इत्यादि को ही पुराण समझें (द्रष्टव्य बृ.भा२.४.१०) तब तो नाम स्पष्ट ही सार्थक है। ग्रन्थ का प्रयोजन उक्त अभेदबोध ही है जिससे मोक्ष कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। जिन विवेकादिशील मनुष्यों को श्रौताक्षरग्रहणादि में अधिकार नहीं है उन्हें भी उन श्रौत उपदेशों का करामलकसदृश बोध इस ग्रंथ से अनायास होने के कारण तथा वर्तमान काल में वैध वेदग्रहण न करने वालों की अतः अनधिकारियों की ही बहुलता होने के कारण विशेषतः आजकल इस ग्रंथ की उपयोगिता निःसीम है। विप्राग्रतःकरण भी परिगणित पुराणादि के लिए ही विहित होने से, ग्रंथान्तर के लिए उस नियम के अतिदेश में प्रमाण नहीं होने से तथा प्रकृत ग्रंथ में ऐसे नियम का विधान न होने से विवेकादिशील व्यक्तिमात्र के उपयोग का यह ग्रंथ है। ग्रंथ भी यदि अपने प्रतिपाद्य का बोधक न हो तो पठनादि के अयोग्य होता है जैसे आजकल 'उपनिषद्व्याख्या' नाम से बहुत कुछ प्रकाशित किया जाता है जिससे किसी उपनिषत् को समझाया न जाकर चाहे जो बताया जाता है या 'भागवत' नाम से ग्रंथ छपते हैं जिनमें भागवत छोड़ कर अन्य सभी कथायें लिखी रहती हैं। अतः परंपरा है कि यह परीक्षा कर लेनी चाहिये कि ग्रंथ अपने प्रतिपाद्य को समझाता है या नहीं व यदि समझाये तभी उसके अध्ययन में प्रवृत्त होना चाहिये। आत्मपुराण निश्चय ही अद्वैतबोधक है यह किसी भी स्थल के स्थालीपुलाकपरीक्षण से पता चल जाता है। इस ग्रंथ का 'उपनिषद्रत्न' भी नाम है। आत्मपुराण को कोश मानकर उसमें उपनिषद्रूप रत्न भरे हैं – यह उस नाम का अभिप्राय प्रथमाध्याय-समाप्ति में सत्प्रसव-टीकाकार ने कहा है। ग्रंथ के अधिकारी की सूचना प्रथम श्लोक से ग्रंथकार ने दी है। जिस काम को करने से जो व्यक्ति उस काम का फल पा सकता है उस व्यक्ति को उस काम का 'अधिकारी' शास्त्रों में कहा जाता है। केवल जो उस काम को कर ले वह उसका शास्त्रीय अधिकारी नहीं हो जाता। वेदांतशास्त्र के अध्ययन का फल तत्त्वनिष्ठा जिसे हो सकती है वही वेदांतशास्त्र के अध्ययन का अधिकारी है। स्मृतियों में कहा गया है कि कोई प्रश्न पूछे तभी उसे कुछ बताया जाये यह उचित होता है। इस बात का इस ग्रंथ में सर्वत्र ख्याल रखा है और शिष्य के पूछने पर गुरु उत्तर देते हुए विस्तार से समझाते हैं यही हर अध्याय में रीति है। अतः शिष्यविचारपूर्वक उसके प्रश्न द्वारा उपक्रम करते हैं–

जिसने वेद पढ़ा हुआ था ऐसे मेधावी व श्रद्धालु किसी व्यक्ति ने सारे संसार को ईश्वर-अनीश्वर आदि भेदों के कारण क्लेश वाला देखकर 'यह क्लेश कैसे हटे' इस करुणा से भरे मन वाला होकर एक बार यों विचार किया –॥ १½॥

यहाँ अधिकारी की विशेषता बतायी गयी है। 'वेद पढ़ा होना' यह एक गुण है। यहाँ 'पढ़ने' से यथाविधि अंगों सहित अध्ययन समझा ज़ा सकता है। अथवा विधि से केवल अक्षरग्रहण कर अन्यत्र परिश्रम किये बिना अनिवार्य व्याकरण-कोषादि पढ़कर भी शारीरक शास्त्र में प्रवृत्ति संभव होने से अक्षरग्रहणमात्र भी 'पढ़ना' समझ सकते हैं। यह स्मरण रखना चाहिये कि अध्ययन पूर्वजन्मों में भी किया हो सकता है। अतः प्रकृत जन्म में श्रौताक्षरग्रहण के अनधिकारी

में यह गुण असंभव नहीं। एतावता सभी के लिये वेदाग्रहण की प्रसक्ति नहीं क्योंकि उपनीत को विधिप्रयुक्त होकर ग्रहण करना ही होगा अन्यथा दोष होगा और कर्मानुष्ठानार्थ ग्रहणसंस्कारयुक्त मन्त्र ही उपयोगी होने से कर्मेच्छु को ग्रहण करना ही होगा। अव्रती विरक्त न भी ग्रहण करे तो पूर्वजन्मग्रहण से काम चल जायेगा। 'मेधाविता' अर्थात् समझायी गयी बात को (जल्दी) भूलना नहीं तथा किये हुए निश्चय से डिगना नहीं यह दूसरी विशेषता है। श्रद्धा अर्थात् गुरु व शास्त्र सत्य का ही उपदेश दे रहे हैं ऐसा निश्चय भी अधिकारी का गुण है। किंच ईश्वर व अनीश्वर में जो आपसी भेद है एवं ऐसे ही जो अन्य भेद हैं उनकी पहचान अर्थात् विवेक — यह अधिकारी का मुख्य गुण है। पाँच भेद शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं – १) जीव-ईश्वर का भेद, २) जीव-जगत् का भेद, ३) ईश्वर-जगत् का भेद, ४) जीवों का आपसी भेद और ५) जगत् की वस्तुओं का आपसी भेद। इन भेदों से ही सब दुःखी हैं क्योंकि दुःख सदा किसी कारण से होता है व वह कारण अपने से भिन्न होता है। 'मुझसे कुछ भिन्न है' या 'मैं किसी से भिन्न हूँ' या 'कुछ भी किसी से भिन्न है' ऐसा ज्ञान कार्याविद्या कहा जाता हैं क्योंकि आवरणात्मिका अविद्या का वह कार्य होता है। केवल आवरण स्वयं दुःखप्रद नहीं जैसे सुषुप्ति में, उसका कार्य यह भेदज्ञान ही दुःख देता है। स्वयं को कर्ता-भोक्ता मानने वाले को ही यह भेदज्ञान क्लेश देता है अन्यथा भेददर्शन होकर भी क्लेश नहीं देता। भेदज्ञान होने पर कर्तादिरूप जीव भयभीत होता है, ईश्वरादि से डरता है व मरने से डरता है। अतः कार्याविद्या की क्लेशहेतुता का निश्चय कर लेना आवश्यक है ताकि उसकी समूल निवृत्ति के लिए प्रयास हो सके। कारण जाने बिना उपचार होता नहीं यह प्रसिद्ध है। इसलिए भेदज्ञान दुःखदायी है यह भी जान लेना आवश्यक है और किन में भेद प्रतीत हो रहा है जो दुःख दे रहा है यह भी जान लेना आवश्यक है क्योंकि उन्हीं के भेद की परीक्षा पर एकाग्र होना पड़ेगा। अतः संसार के पदार्थों के भेदों का चिन्तन अध्यात्मशास्त्र के लिए अपेक्षित न होने से ग्रंथकार ने ईश्वर-अनीश्वर आदि भेद को ही उपस्थित किया है। आदि शब्द नित्य-अनित्य आदि के संग्रहार्थ है। यह विचार वही कर सकेगा जिसका मन शुद्ध है। अन्यथा स्थूल प्रतीयमान दुःख-हेतुओं को ही वास्तविक मानकर उन्हें हटाने के प्रयासों को ही पुरुषार्थ मानेगा। एवं च शुद्धमनस्कता से संभव होने वाली साधनसम्पत्ति यहाँ कही गयी है। प्रारंभ में भेदज्ञानरूप विवेक व मेधावितोपलक्षित श्रद्धा कहने से मध्य के वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा व समाधान का संग्रह कर दिया है। संसारदुःख की समाप्ति के लिए विचारप्रवृत्ति से मुमुक्षा कह दी। इस प्रकार साधनचतुष्टय अधिकारिविशेषण हैं यह इस श्लोक में बताया गया है। जिसमें ये विशेषण हैं वही आत्मपुराण का अधिकारी है अर्थात् इसके अध्ययन से होने वाले ज्ञानरूप फल को पा सकता है। अन्य कोई इसे पढ़ेगा तो शब्दज्ञान भले ही हो जाये, तत्त्वनिष्ठा नहीं पा सकेगा।

एक शंका उपस्थित होती है कि शिष्टाचार से मालूम पड़ता है कि कोई कार्य करने के पूर्व मंगल का आचरण करना चाहिये। शंकरानन्दस्वामी ने इतने महान् ग्रंथ का आरंभ करने के पूर्व ऐसा किया यह कैसे जानें? यदि नहीं किया तो वे शिष्ट न होंगे फलतः उनकी रचना आदरणीय न होगी। इसका समाधान यों है—मंगल कई प्रकार का होता है। एक बहिःकृत—ग्रंथांग न होते हुए भी 'मेरे शिष्यादि ऐसे ही मंगलाचरण किया करें' इस भाव से श्लोकादि रचकर ग्रंथारंभ में लिखना। जैसे न्यायमुक्तावली में 'नूतनजलधररुचये' इत्यादि श्लोक है। दूसरा मंगल होता है गणविशेष का प्रयोग — पिंगलशास्त्र में अक्षरविन्यास के कुछ मात्रानुसारी क्रम प्रतिपादित हैं व उनमें कुछ क्रम मांगलिक हैं ऐसी शिष्टमान्यता है। वे क्रम ही गणशब्दार्थ हैं। यहाँ 'ईशानी' इस प्रकार तीन गुरु वर्णात्मक मगण का प्रयोग है जो मांगलिक है। छन्दोवेत्ताओं ने मगण की संज्ञा मित्र, देवता पृथ्वी और फल श्री हैं ऐसा माना है। अतः श्रीफलक होने से मांगलिकता स्पष्ट है। एक अन्य मंगल का प्रकार है ऐसे तत्त्व को याद करना — अर्थात् ग्रंथारंभ में लिखना — जो किसी भी तरह छोड़ने योग्य न हो और क्योंकि परमात्मा ही ऐसा तत्त्व है इसलिए फलतः उन्हीं का स्मरण इस मंगल का स्वरूप है। उदाहरणार्थ आचार्य श्री शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य का प्रारंभ करते हुए कहा है कि आत्मा-अनात्मा का अध्यास मिथ्या ही हो सकता है, जिससे फलितार्थ निकलता है कि आत्मा वस्तुतः शुद्ध है। यों शुद्धात्मस्मरण रूप मंगल का उन्होंने आचरण किया है जिससे आचार्य पद्मपाद ने उन्हें शिष्टाचार के परिपालन में अग्रणी माना है। ऐसे ही शंकरानंदजी महाराज ने भेद को हेय कहकर अद्वितीय शिवतत्त्व का अर्थात् स्मरण किया है। एवं च तीन प्रकार के मंगल इस ग्रंथारंभ में स्फुट होने से ग्रंथकार की

शिष्यप्रश्नः

अहो संसारशूलेन क्लेशिताः सर्वदेहिनः।। २।।
कामादिकाकवासेन नारीवृकविनोदिना। कथमस्माद् भवेन्नैव भीतिः सर्वनृणामिह।। ३।।

विचारस्वरूपमाह – अहो इति। महागसां वधसाधनेन शूलेन देहत्रयाभिमानलक्षणसंसारतादात्म्यं प्राप्तेन सर्वदेहिनः क्लेशिताः।। २।।

साधर्म्यमाह – कामादीति। शवव्याप्तत्वेन दिवा काकसेवितत्वं, नक्तं वृकरंजकत्वं च उपमाने सिद्धम्। उपमेये तु उड्डीयोड्डीय पतद्भिः काकैः प्रसुप्ताद्यवस्थावतां[1] कामादीनां साम्यम्; प्रच्छन्नभोक्तृभि र्वृकै र्नारीणां च अत्यन्ताभिनिविष्टत्वात् श्रान्तपादप्रहारन्यायेन[2] तद्विनोदहेतुत्वं बोध्यम्। संसारशूलेनेति परिणामालंकारः, उपमानशूलस्य उपमेयतादात्म्यापत्तिं विना प्राणित्वावच्छिन्नकर्मकक्लेशनक्रियान्वयासंभवात्; मयूरव्यंसकादित्वात् समासः।। ३।।

शिष्टता का निश्चय होता है। इष्टस्मरणादि भी मंगल हैं जिन्हे ग्रंथ में सूचित न भी किया जाता है। अतः मंगल को ग्रंथारूढ होना ही चाहिये ऐसा नियम भी नहीं। ग्रंथकार की शिष्टता शिष्टसमाज की प्रसिद्धि से जान कर भी उनकी रचना आदरणीय हो सकती है। अतः समंगल होने से यह ग्रंथ अध्ययन के सर्वथा योग्य सिद्ध होता है।

उसने क्या विचार किया? यह बताते हैं — अरे! संसाररूप शूल से सभी देहधारी क्लेश पा रहे हैं। कामना आदि कौवों का इस पर वास है और नारीरूप गीदड़ को यह प्रसन्न करता है। सब लोगों को इससे भय कैसे न हो?।। २-३।।

अपराधी का वध करने के लिए उसे शूल (सूली) पर चढ़ाते हैं। शूल पर तीन नोक हों तो वह त्रिशूल कहाता है। स्थूल-सूक्ष्म-कारण-शरीरों में तादात्म्याभिमान ही संसार है व उस संसार को ही यहाँ शूल कहा है। शूल से संसार की समानता है: शूल पर अपराधी चढ़ाये जाते हैं, संसार में अज्ञानी पड़े रहते हैं। अज्ञान सबसे बड़ा पाप है क्योंकि समस्त पापों का यही मूल है। परमात्मा को न जानना अज्ञान है। न जाना हुआ परमात्मा ही संसरण का हेतु है। जब तक वह न जाना हुआ है तभी तक उसे जानने के लिए प्रयास है, वह प्रमेय है। जाना हुआ वही परमात्मा प्रयोजन या मोक्ष है। इसे ही, ज्ञात परमेश्वर को ही, दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानंदप्राप्ति कहा जाता है। एवं च अज्ञानरूप अपराध का दण्ड है संसाररूप शूल पर चढ़ाया जाना। शूल पर चढ़ा व्यक्ति मर जाता है अतः दिन में कौवे वहाँ मँडराते हैं, शव को गोदते-खाते हैं। ऐसे ही संसारशूल पर चढ़े हम लोगों को दिन भर काम-क्रोधादि परेशान करते रहते हैं। जैसे कौवे कुछ देर तंग कर घोसले में छिप जाते हैं, फिर कुछ देर बाद आकर तंग करते हैं; ऐसे ही कामादि भी थोड़ी देर दुःख देकर कुछ समय विलीन हो जाते हैं। सुषुप्ति में कामादि सभी विलीन रहते हैं। पर फिर पुनः उपस्थित हो दुःख देने लगते हैं। रात के समय शूल पर पड़े शव के भक्षणार्थ गीदड़ आते हैं और उस शव को खाकर बड़े प्रसन्न होते हैं। ऐसे ही संसार-शूल वाले का उपभोग कर स्त्री प्रसन्न होती है। जो कोई भी आग्रह-पूर्वक अन्य के उपभोग से खुश हो वही यहाँ स्त्रीशब्द का वाच्य है। साथ ही जैसे गीदड़ रात में शूल पर आता है वैसे यहाँ भी जो छिपकर अर्थात् 'मैं भोग रहा हूँ' इस बात को छिपाकर भोग करे वह स्त्री है। प्रायः हम दूसरे को प्रतीत कराना चाहते हैं कि उसके लिए हम कार्य कर रहे हैं जबकि वास्तव में सर्वत्र हम केवल अपने लिए ही कुछ भी करते हैं। यही छिपकर करना है। एवं च वैराग्यहीन सब जीव परस्पर स्त्री बने हुए हैं। 'स्त्यै' शब्दार्थक धातु से औणादिक ड्रट् प्रत्यय स्त्रीशब्द बनाता है। अतः केवल शब्द करे, उसके अर्थ में तात्पर्य न रखे क्योंकि मन में कुछ और हो, ऐसे को स्त्री कहते हैं। प्रसिद्ध स्त्री तो संघातार्थकता को लेकर है – 'स्त्यायेते शुक्रशोणिते अस्याम्' जिसमें शुक्र-शोणित संहत होते हैं। मूलकार ने तो 'नारी' शब्द का प्रयोग किया है। नृ व नारी शब्द योगार्थदृष्टि से समान ही हैं। जो ढो लेवे, नयन करे, वह नृ या नारी है – 'नयतीति'। अपने

---

१. 'प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम्। विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसंगिनाम्'॥ इति तत्त्ववैशारदी २.४॥ २. निन्दितेनापि पादप्रहारेण श्रान्तस्तुष्यति, तद्वत्।

इति संचिन्त्य मतिमान् स्वगुरुं परिपृच्छति। कथमज्ञानलोहांगं तीक्ष्णसंसारशूलकम्।।४।।
गुणत्रयत्रिशाखाढ्यमतिक्रम्य व्रजेत् पुमान्।

गुरोरुत्तरम्

एवमुक्तो गुरुः प्राह स्वशिष्यं करुणानिधिः।।५।।

'स गुरुमेवाभिगच्छेद्' इति (मुं. १.२.१२) श्रुतिमनुरुध्याह — इति संचिन्त्येति। प्रश्नस्वरूपमाह — कथमिति। अज्ञानमेव लोहमयः, तदंगं शरीरं यस्य तत्; मृद्घटइतिवत् सामानाधिकरण्यम्।।४।। गुणत्रयेति गुणत्रयात्मक-शिखात्रययुक्तम्।

'तस्मै.....उपसन्नाये' त्यादिश्रुतिम् (मुं. १.२.१३) अनुरुध्याह— एवमुक्त इति। एवमुक्तो गुरुः 'एष पन्था' इत्यादिवाक्येन ऐतरेयशाखायां पठितेन उत्तरमाह। वाक्यस्वरूपं यथा — 'एष पन्था, एतत्कर्म, एतद्ब्रह्म, एतत्सत्यं, तस्मान्न प्रमाद्येत्, तन्नातीयात्, न ह्यत्यायन् पूर्वे, येऽत्यायंस्ते पराबभूवुः। तदुक्तमृषिणा[1] प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुरिति, या वैता इमाः प्रजास्तिस्रो अत्यायमायंस्तानि इमानि वयांसि वंगावगधाश्चेरपादा[2]' इति। एतदुपबृंहणम् अष्टचत्वारिंशत्तमश्लोकं यावद् बोध्यम्।।५।।

से भिन्न को ढोकर अपना कर लेना यही नारी होना है। अनात्मा को आत्मीय बना लेना ही यहाँ ढोना है। अतः गीदड़ की समानता नारीशब्दित सभी बुभुक्षुओं में है। भोगी को, नारी को, भी इस शवभक्षण से कोई वास्तव सुख मिलता हो ऐसा नहीं। जैसे थका व्यक्ति अपने पर पैर से भी प्रहार किये जाने पर समझता है मुझे आराम हो रहा है, ऐसे शवभक्षण जैसे निंद्य कर्म से भी कामना से थका व्यक्ति मान लेता है कि सुख हो गया। शव स्वयं असहाय होता है ऐसे ही हम भी अपने भोग के लिए जब परापेक्षी होते हैं तब स्वयं असहाय होते हैं अतः शव ही हो जाते हैं। ऐसी समानता वाले संसारशूल से भयभीत होना सहज है, यदि बुद्धि में कुछ शुद्धि हो। क्योंकि शूल से सब प्राणी तो क्लेश नहीं पाते, केवल राजादिद्वारा दण्डित अपराधी ही उस पर चढ़ाये जाने पर क्लेश पाते हैं अतः सब देहधारियों को क्लेश देना शूल के लिए तभी संभव है जब उसे संसार से अभिन्न समझें। एवं च सर्व देहियों को क्लेश देना रूप क्रिया से सम्बद्ध होने के लिए क्योंकि उपमानभूत शूल को उपमेयभूत संसार से तादात्म्यापन्न होना पड़ता है, अतः यहाँ परिणामालंकार है। चन्द्रालोक में (५.१८) इसका स्वरूप बताया है 'परिणामः क्रियार्थश्चेद् विषयी विषयात्मना'। विषयी जब विषयात्मकता प्राप्त कर ही क्रियार्थ—क्रियासम्बद्ध हो तब परिणामालंकार है। जैसे 'नेत्रकमलों से देखती है' कहने पर कमल का देखने से स्वयं संबंध संभव नहीं, अतः वह नेत्रतादात्म्यद्वारा ही देखने से अन्वित होगा। यह परिणामालंकार का स्वरूप है।

विचार के बाद शिष्य को चाहिये कि वह गुरु से इस विषय में जिज्ञासा करे क्योंकि यही वेद का (मुं. १.२.१२) निर्देश है; अतः उक्त मेधावी ने गुरु से क्या पूछा यह बताते हैं—उक्त विचार कर उस बुद्धिमान् ने अपने गुरु से प्रश्न किया: अज्ञानरूप लोहे से बने, तीन गुणरूप नोकों वाले, तीखे संसाररूप शूल से बचकर व्यक्ति कैसे जाये?।। ४½ ।।

मिट्टी क्योंकि घट का उपादान है इसलिए घट मृत् से सर्वथा अलग नहीं, मृन्मय ही होता है। संसार भी ऐसे ही अज्ञानमय है। काला व कड़ा होने से लोहा अज्ञान की विशेषता बता सकता है अतः 'अज्ञानरूप लोहा' ऐसा कहा। तीन

---

१. मन्त्रस्वरूपन्तु–'प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे। बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आविवेश' इति। अस्य पच्छो व्याख्यानं कुरुते ब्राह्मणम्। मन्त्रार्थस्त्वयम्–खेचरादितिस्रः प्रजा अत्यायं कर्मज्ञानाऽयोग्यतामीयुर्गताः। अन्याः पुनर्मनुष्या अर्कमग्निमभितः कर्मज्ञानाभ्यां विविश्रे श्रितवन्तः। भुवनेषु लोकेषु अन्तर्मध्ये बृहत् महान् सविता तस्थौ स्थितः। तं च काश्चिदाश्रिता इति वर्तते। पवमानो वायुर्हरितो दिश आविवेश, तमपि काश्चिच्छ्रिता इति। २. वङ्गा इति वनगा वनस्पतय उच्यन्ते। अवगधाः क्षुद्रस्थावराः। वङ्गा महास्थावराणि, अवगधा व्रीह्यादय इति विवेकः। वङ्गा अवगधाश्चेति चः समुच्चये, सन्धिरार्षः। इरपादा उरःपादा सर्पादयः। उकारस्येकारो विसर्गलोपश्च छान्दसः। अत्रैतदवधेयमुपनिषद्ब्रह्मयोगिना यद्व्यख्यानमैतरेयोपनिषदो व्यरचि तद् 'एष पन्था' इत्यादिनाऽऽरब्धाया एव, 'आत्मा वा' इत्यादिस्तु तुर्योऽध्यायः। (अड्यारपुस्तकालयात्प्रकाशिते १५.१ तमे ग्रन्थे)।

ज्ञानमज्ञाननाशाय नियतं साधनं त्विति। संसारशूलमखिलं वृककाकादिसेवितम्॥ ६॥
मायिनो मायया भातं मायाऽज्ञानमितीरितम्। ज्ञानं वेदान्तविज्ञानमज्ञानमितरत्पुनः॥ ७॥
न हि भ्रान्तस्य विज्ञानं लोकेऽपि ज्ञानमिष्यते। अतो ब्रह्माहमस्मीति बोधो मार्गोऽत्र संमतः॥ ८॥

तत्रादौ 'एष पन्था' इति भागस्यार्थमुपबृंहयति सार्द्धैस्त्रिभिः। पथे गताविति (भ्वा. पर.) धातोः इनिप्रत्यय औणादिके[१] सति पथिन्-शब्दो निष्पन्नः। तथा च पथ्यते गम्यत इष्टदेशादि अनेनेति पन्थाः। तादृशन्तु ज्ञानमेव, दुःखनाशकत्वेन सर्वाभीप्सिताऽज्ञाननाशहेतुत्वाद् इत्याह – ज्ञानमिति। तुशब्दः कारकव्यापारनैरपेक्ष्यरूपवैलक्षण्यार्थकः। इतिशब्दो हेतौ। तथा च, यतो ज्ञानमज्ञाननाशाय नियतमितरविलक्षणं च साधनं तस्मात् तदेव पथिन्शब्दार्थ इत्यर्थः।

ननु संसारशूलनिवृत्तिसाधनं पृच्छ्यते, किमज्ञाननिवृत्तिसाधनोपदेशेनेति? अत आह – संसारेति॥ ६॥ उक्तविशेषणविशिष्टं संसारशूलं मायिन ईश्वरस्य मायया भातम्, 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे.४.१०) इति श्रुतेः। न तु मायाऽज्ञानभिन्ना, लोकेऽपि ऐन्द्रजालिकमन्त्रौषधादिभिर्द्रष्टृणामज्ञानक्षोभेणैव तत्तदाकारेण ऐन्द्रजालिकस्य दर्शनात् मायाऽज्ञानम् एव इतीरितं, 'माया च तमोरूपे'ति नृसिंहतापनीयश्रुतौ (नृ.उत्त. ९ आदावेव), आकरेषु च।

ननु लौकिकज्ञाने सत्यपि संसारशूलनिवृत्त्यदर्शनात् कथमुक्तं संगच्छत इति? अत आह – ज्ञानमिति। 'ज्ञाऽवबोधन' इति स्मृतेः (क्र्या. उ.) अवस्थितस्याधिष्ठानस्य बोधनं यथावत् स्फूर्तिर्ज्ञानं, तादृशन्तु वेदान्तप्रमाणजन्यमेव, तत्र यथावत् प्रमेयस्य भानात्; इदमेव प्रमाणस्य प्रमेयतन्त्रत्वम्। इतरद् यथावत्प्रमेयभानरहितम् अज्ञानं बोध्यम्॥ ७॥

एतदेव व्यतिरेकमुखेनाह – नहीति। न हि संनिपातवताऽभिलपितं दोषप्रयुक्तं भेरीशब्दज्ञानं प्रमाणमिति व्यवहरन्तीत्यर्थः॥ ८॥

गुण हैं सत्त्व, रज व तम। सुख, कर्म व आलस्यादि द्वारा बींधने वाला होने से अज्ञानशूल के सत्त्वादि नोक हैं। विषयसुख सत्त्वकार्य ही है व बंधनहेतु होने से बींधता है। अन्यों का बींधना प्रसिद्ध है। शूल तीखा हो तो तुरंत काटना आरंभ करता है व काटता ही चलता है। संसार भी तुरंत भेद उपस्थित करता है व शनैः शनैः उसे बढ़ाता ही रहता है। अतः यह तीखा है। किंच यह मजबूत भी है। शिवात्मधी के बिना यह अनाश्य है।

उपनिषत् कहती है (मुं. १.२.१३) कि जिसका चित्त शांत है व जिसने साधन एकत्र कर गुरु की शरण ली है उसे विद्वान् गुरु सही तरह वह ब्रह्मविद्या समझाये जिससे सत्य अक्षर पुरुष का यथार्थ निश्चय हो। इस वेदाज्ञानुसार गुरु ने शिष्य को उत्तर दिया, यह बताते हैं – इस प्रकार पूछे जाने पर करुणासागर गुरु ने अपने शिष्य को कहा : क्योंकि केवल ज्ञान ही अज्ञाननाश का निश्चित साधन है इसलिए संसारशूल से बचकर निकलने का वही मार्ग है। गीदड़, कौवा आदि समेत सारा संसाररूप शूल मायाधीश परमेश्वर की माया से प्रतीत होता है। अज्ञान ही माया कहा जाता है। वेदांत प्रमाण से जन्य अखण्डानुभव ही ज्ञान है, बाकी सब अज्ञान ही है॥ ५-७॥

इस उत्तर का आधार है आत्मषट्क से पूर्व ऐतरेयारण्यक में आया 'एष पन्थाः' आदि वाक्य। वेदवाक्य का सरलार्थ है – "यह मार्ग है, यह कर्म है, यह ब्रह्म है, यह सत्य है। इससे प्रमाद न करे। उसका अतिक्रमण न करे। पहले वालों ने इसका अतिक्रमण नहीं किया। जिन्होंने इसका अतिक्रमण किया वे पराभव को प्राप्त हुए। यह बात मन्त्र में ऋषि ने कही है–खेचर आदि तीन प्रजायें कर्म व ज्ञान के अयोग्य हो गयीं। उनसे भिन्न मनुष्यरूप प्रजा ने कर्म व ज्ञान (उपासना) से अग्नि का सहारा लिया। लोकों के मध्य जो महान् सूर्य स्थित है, कुछ ने उसका सहारा लिया। सब दिशाओं में स्थित वायु का अन्यों ने सहारा लिया। जिन प्रजाओं ने इस मार्ग का अतिक्रमण किया वे ही ये पक्षी, वनस्पति, छोटे पेड़, बड़े

---

१. 'पतस्थ चे' (४.१२) ति तूणादिसूत्रम्।

पेड़, जौ चावलादि तथा छाती के बल चलने वाले साँपादि हैं''। इस वाक्य का ही विस्तार अड़तालीसवें श्लोक तक चलेगा। जिसके सहारे इष्ट स्थानादि पर पहुँचा जाता है उसे पन्था या मार्ग कहते हैं। क्योंकि दुःखनिवृत्तिपूर्वक सुखलाभ ही सब को इष्ट है इसलिए उसे प्राप्त कराने वाला अज्ञाननिवर्तक आत्मज्ञान ही वास्तविक मार्ग है। 'केवल' कहकर बताया कि यह मार्ग कारकों के व्यापार की अपेक्षा से फल नहीं देता, स्वयं स्वरूपलाभ से ही सफल है। 'क्योंकि' शब्द से इस विषय की उपपन्नता बोधित की। अन्य उपायों से यह मार्ग सर्वथा अलग है क्योंकि यह प्राप्त का प्रापक है व प्राप्ति पर स्वयं उपस्थित रहने का अनाग्रही है। प्रश्न उठता है कि शिष्य ने संसारशूलनिवृत्ति का उपाय पूछा तो गुरु उसे न कहकर अज्ञाननिवृत्ति के उपाय को क्यों बताने लगे? इस प्रश्न के उत्तर के लिए ही गुरुजी ने स्पष्ट किया कि संसारशूल अज्ञानरूप माया से प्रतीयमान है।

माया भगवान् के अधीन है क्योंकि श्रुति ने परमेश्वर को मायी—माया पर अधिकार वाला कहा है। संसार में जो जादूगर भी विभिन्न आकार से प्रतीत होते हैं वह दर्शकों के अज्ञान को क्षुब्ध (विचलित, स्पंदित) करने से ही होते हैं, ऐसे ही परमशिव भी आत्मा के अज्ञान को ही क्षुब्ध कर नाना प्रतीत होते हैं। एवं च माया अज्ञान ही है। वेद ने भी माया को तमोरूप या अज्ञान कहा है। ब्रह्मसूत्रों में भी यह निश्चित किया है कि पारमेश्वरी शक्ति ही माया, अज्ञान आदि शब्दों का वाच्य है। आनुमानिकाधिकरण में (१.४.१.३) भाष्यकार ने कहा है ''अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिः अव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः, तदेतदव्यक्तं क्वचिदाकाशशब्दनिर्दिष्टं क्वचिदक्षरशब्दोदितं क्वचिन्मायेति सूचितम्''। भगवान् सर्वज्ञात्मा ने भी मायापर्यायों का संग्रह उपस्थित किया है (सं.शा. १.३१८) —

'चिद्वस्तुनश्चिति भवेत् तिमिरं तमिस्त्रं तामिस्त्रमन्धतमसं जडिमा तमिस्त्रा।
माया जगत्प्रकृतिरच्युतशक्तिराध्यं निद्रा सुषुप्तिरनृतं प्रलयो गुणैक्यम्॥'

प्रत्यक्स्वरूप भगवान् ने नयनप्रसादिनी में सहेतुक कुछ नामों का निर्देश किया है जिसका अभिप्राय है कि सद् व असत् प्रकारों से उन्नेय न होने से (समझी न जाने से) इसे माया कहते हैं; कार्यप्रपंच का मूल (परिणामी उपादान) होने से प्रकृति कहते हैं; प्रबोध से निवर्त्य होने से अविद्या कहते हैं; विशद-आनन्द-ज्ञान-समुद्र विश्वरूप से विवर्तित होने वाले की सहायक होने से इसे ही शक्ति कहते हैं। वस्तुतस्तु भवानीपति समस्त भेद की गंध से भी रहित हैं, यह निश्चय ही उनकी वन्दना है।

जब ज्ञान को उपाय कहा तो प्रश्न होना स्वाभाविक है कि घटादि ज्ञान तो हमें हैं ही, उनसे तो यह शूल निवृत्त हो नहीं रहा और यदि कहें आत्मा का ज्ञान विवक्षित है तो वह भी 'मै कर्ता भोक्ता हूँ' आदि रूप से हमें है ही; तब ज्ञान को उपाय कैसे कहा? इसका उत्तर गुरु ने दिया कि यहाँ ज्ञान वेदांत से होने वाला तत्त्वनिश्चय ही है। ज्ञान-शब्द अवबोध-अर्थक है। अवबोध में 'अव' का अर्थ है जो अवस्थित है, विद्यमान है। 'बोध' का अर्थ है वस्तु जैसी है उससे अन्यथा उसे न समझते हुए वस्तु की स्फूर्ति, प्रकाश होना। विद्यमान वस्तु एकमात्र परमात्मा है जो संसारभ्रम का अधिष्ठान है और उसका बोध केवल उपनिषदों के श्रवणादि से ही संभव है। वेदांतेतर साधनों से होने वाले अनुभव भ्रममात्र होने से अज्ञान ही हैं।

भ्रमज्ञान संसार में भी ज्ञान नहीं माना जाता यह गुरुजी स्पष्ट करते हैं — लोक में भी भ्रम में पड़े व्यक्ति के अनुभव को ज्ञान नहीं स्वीकारा जाता। अतः 'मैं ब्रह्म हूँ' यह प्रामाणिक अनुभव संसार से बचकर जाने के प्रसंग में रास्ता माना गया है॥ ८॥

वात, पित्त, कफ तीनों धातु प्रकुपित होने पर संनिपात अवस्था होती है जिसमें उल्टा-पुल्टा बोध होता है। ऐसी स्थिति वाला जब अकस्मात् कहता है 'यहाँ नगाड़ा बज रहा है' तब उसकी बात सही नहीं मानी जाती। 'आकाश ठोस वस्तु है' ऐसा जानकार आकाश के विषय में ज्ञानी नहीं अज्ञानी ही कहा जाता है। अन्यान्य प्रसिद्ध प्रचारक यथार्थज्ञान का

संसारशूलं सन्त्यज्य गच्छतां मुक्तिमण्डपे। कर्तव्यमेतद्विज्ञानमात्माज्ञानापनुत्तये॥ ९॥
न चान्यदग्निष्टोमादि देहकारागृहप्रदम्।

फलितं दर्शयन् मार्गत्वोपपादकदर्शनायाह — संसारशूलमिति। मुक्तिमण्डपस्य सर्वाधारतया सन्निहितत्वद्योतनाय गमधातोर्ज्ञानार्थपर्यवसानसूचनाय च सप्तमी प्रयुक्ता। 'एतत्कर्मे' ति भागं व्याचष्टे — कर्तव्यमिति। एतद्विज्ञानं श्रवणाद्यनुष्ठानद्वारा कर्तव्यं सम्पादनीयमत एतत् कर्मेत्यर्थः॥ ९॥

सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायेन एतद्व्यावर्त्यमाह — न चान्यदिति। काम्यं कर्म मुमुक्षोर्न कर्तव्यं, भोगान्यथानुपपत्त्या तदुपयोगिदेहबन्धहेतुत्वादित्यर्थः।

प्रतिपादन करते देखे जाते हैं व उनके उपदेश उपनिषदों के उपदेश से सर्वथा विलक्षण हैं, तब यह क्यों कहा कि औपनिषद आत्मज्ञान ही अकेला रास्ता है? वस्तुतः तो निरपेक्ष प्रमाण होने से एक श्रुति ही सही प्रमा दे सकती है, तदनुसारी ज्ञापक भी प्रमाण माना जा सकता है पर तद्विरुद्ध ज्ञापक अप्रमाण ही है। युक्ति से सोचें तो भेदाधारित उपदेश इसी से कट जाते हैं कि भेद प्रमाणसिद्ध नहीं होता। जो तो आत्मनिवृत्ति के उपदेश हैं वे निःसाक्षिक के बोधक होने से अप्रमाण हैं। वेदांतेतर सकल उपदेश इन दोनों श्रेणियों में संगृहीत हो जाते हैं। अतः यहाँ कहा कि एक औपनिषद बोध ही मार्ग है। पुनः कोई शंका कर सकता है कि आधुनिक युग में नाना लोग स्वयं को उपनिषद्व्याख्या करने वाला बताकर उनकी परस्पर विरुद्ध व्याख्यायें उपस्थित करते हैं, ऐसे में किस व्याख्या के अनुसार होने वाले ज्ञान को मार्ग माना जाये? इसका समाधान है कि पद-वाक्य-प्रमाणशास्त्रों में स्थापित परिपाटी से स्वयं उपनिषदों का श्रवण-मनन कर जो अर्थ अनुभवारूढ होवे उसे ही मार्ग माना जाये। व्यावहारिक दृष्टि से भगवान् श्री शङ्करभगवत्पादाचार्य ने व उनके सम्प्रदाय के प्रकृत शंकरानंदस्वामी आदि ने जो व्याख्या की है वही उक्त परिपाटी के अनुकूल व अनुभवानुसारी होने से उपनिषदों की एकमात्र सही व्याख्या है। तदुपदिष्ट ज्ञान ही यहाँ मार्गशब्द का अर्थ है।

अतः संसारशूल को त्याग कर मुक्तिमण्डप में जाने वालों को आत्मा के अज्ञान को दूर करने के लिए उक्त अनुभव अवश्य प्राप्त करना चाहिये॥ ९॥

जाना क्रिया का कर्म है मुक्तिमण्डप अतः 'मुक्तिमण्डप को' कहना चाहिये, तब 'मुक्तिमण्डप में' ऐसा क्यों कहा? इस कथन के दो प्रयोजन हैं: १) 'में' इस सप्तमी का प्रधान वाच्य है आधार। अतः यह बोधित होता है कि मुक्तिमण्डप सबका आधार है, फलतः सदा सबको संनिहित है, प्राप्त ही है। २) क्योंकि आधारतया प्राप्त ही है इसलिए उस तक 'जाना' पैरों से चलना आदिरूप क्रिया हो नहीं सकता कारण कि प्राप्त-अपादानक क्रिया उसकी अप्राप्ति का ही हेतु संभव है और प्राप्त-अधिकरणक क्रिया उसकी प्राप्ति के प्रति उदासीन ही संभव है; फलतः 'जाना' का अर्थ 'जानना' ही करना होगा। काशीस्थ वृद्ध यदि संनिपातादिवश काशी जाना चाहे तो चलकर नहीं जा सकता। काशी 'पहुँचने' के लिए उसे केवल यह 'जानना' होगा कि मैं काशी में हूँ। इसीलिए यहाँ ज्ञान को ही रास्ता कह दिया है यह भी उपपादित हो जाता है। अनुभव की अवश्य प्राप्यता श्रति के 'एतत् कर्म' — यह कर्म है — अंश के आधार पर कही है। इसे पाने का उपाय है साधनसम्पन्न होकर श्रवण, मनन व निदिध्यासन में तत्पर रहना।

एक नीति है कि यदि कोई विरोध न हो तो हर वाक्य से वाक्यार्थ भी समझना चाहिये और वाक्यार्थभिन्न का निषेध भी। यथा 'घड़ा लाओ' का यह भी अर्थ है कि घड़ा लाया जाये और यह भी कि घड़े से अतिरिक्त हाथी, सुअर आदि न लाये जायें। इसी तरह 'यह कर्म है' का अभिप्राय यह भी समझ सकते हैं कि इससे अतिरिक्त कर्म नहीं हैं। अत एव गुरुजी कहते हैं— इससे भिन्न अग्निष्टोमादि कर्म, जो शरीररूप जेल देते हैं, नहीं करने चाहिये॥ ९½॥

यहाँ सामर्थ्यवश मुमुक्षु के लिए श्रवण व तदंगों से अतिरिक्त काम्यादि कर्मों का निषेध है। कर्म फल अवश्य देगा व फलभोग के लिए देहधारण करना ही पड़ेगा। इसलिए कर्म को देहप्रद बताया है। भगवान् शंकराचार्य ने बहुत जगह स्पष्ट किया है कि मुमुक्षु को कर्मत्याग ही करना चाहिये। कुछ भीरु इससे सशंक होते हैं कि यदि ज्ञानलाभ न हुआ तो

आत्मधियोऽपि ब्रह्मता

आत्मबोधो बृहत् तस्मादुक्ताज्ञानविनाशनात्॥ १०॥ प्रापणाच्चात्मरूपस्य ब्रह्मणो भेदशून्यतः।
घटस्तिष्ठति नान्यत्र वर्तमानः स्थितो भुवि॥ ११॥ नासीत् पुरा न पश्चाच्च भविष्यति कथंचन।
अयं घटो न चान्यत् स्याद् घटाघटमिदं जगत्॥ १२॥

'एतद् ब्रह्म' त्यंशं व्याचष्टे — आत्मबोध इति। सर्वोत्कृष्टं हि बृहद् ब्रह्म, बृहिधातोरर्थानुगमात्। साधनस्य बृहत्त्वं तु समूलदुःखनाशकत्वं, निरतिशयाऽविनाश्यानन्दप्रापकत्वं च। तयोराद्यमाह — उक्ताज्ञानविनाशनादिति॥ १०॥

द्वितीयमाह — प्रापणादिति। भेदशून्यस्य भूम्नो ब्रह्मण आत्मरूपस्य प्रापणादित्यर्थः। सार्वविभक्तिकस्तसिः।

'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ती' ति (छां.७.२३.१) श्रुत्यनुरोधेन त्रिविधपरिच्छेदराहित्या-त्मकभूमस्वरूपत्वप्रतिपादनाय अल्पत्वात्मकत्रिविधपरिच्छेदमुदाहरणेन स्पष्टयति — घटइति। अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं देशपरिच्छेदः यथा भुवि वर्तमानो घटोऽन्यत्र देशे न तिष्ठति, अत्यन्ताभाववानित्यर्थः॥ ११॥

नासीदिति। प्रागभावध्वंसप्रतियोगित्वं वस्तुपरिच्छेदः। यथा वर्त्तमानो घटः पुरा नासीत्, पश्चाच्च न भविष्यतीति। अन्योऽन्याभावप्रतियोगित्वं वस्तुपरिच्छेदः। यथा घटोऽन्यत्पटादि न, ततो भिन्न इति यावत्। इदं जगद् घटघटभिन्नात्मकमित्यनुभवाद् भेदः स्फुट इत्यर्थः॥ १२॥

कर्महीन जीवन व्यर्थ हो जायेगा; किंतु क्योंकि आचार्य विरक्त को अधिकारी मानते हैं इसलिए मुमुक्षु अनेक जन्मों तक ज्ञानाभ्यास के फल का इन्तज़ार करने में न डरे यह उनका तात्पर्य है। इसीलिए बादरायण महर्षि ने ऐहिकाधिकरण का विन्यास (३.४.१६.५१) किया है।

'यह ब्रह्म है'— ऐसा जो श्रुति ने कहा है उसे समझाते हैं — आत्मबोध अग्निष्टोमादि कर्मों से बृहत् है, बड़ा है, क्योंकि उसी से उक्त अज्ञान का नाश होता है॥ १०॥

साधन का बड़प्पन दो तरह हो सकता है: १) समूल दुःख का विनाशक होने से और २) निरतिशय अविनाशी आनन्द का प्रापक होने से। इनमें प्रथम प्रकार को तो बता दिया ज्ञान को अज्ञाननाशक कह कर अब दूसरा प्रकार कहते हैं — भेदरहित व्यापक आनन्द का आत्मरूप से प्रापक होने से भी ज्ञान बृहत् है॥ १०½॥

मूलस्थ 'भेदशून्यतः' का 'भेदशून्यस्य' और 'भेदशून्यतया' दोनों अर्थ हैं क्योंकि 'तस्' प्रत्यय सभी विभक्तियों का अर्थ कह सकता है। अतः जिसका प्रापक है वह भेदरहित है और जो प्राप्ति होती है वह भी 'वह आनंद अपने से भिन्न है' इस तरह की नहीं होती, यह भाव है।

वेद ने कहा है कि व्यापक ही सुख है, कम में सुख नहीं होता। अतः व्यापकता समझाने के लिए अव्यापकता, परिच्छिन्नता या सीमितता, कैसे होती है यह उदाहरण से बताते हैं — भूमि पर विद्यमान घट अन्यत्र नहीं रहता अतः देश से (स्थान से) परिच्छिन्न है, सीमित है। वर्तमान घट भूतकाल में और भविष्यकाल में नहीं होता अतः काल से परिच्छिन्न है। यह घट अपने से भिन्न पटादिरूप नहीं है अतः वस्तुओं से परिच्छिन्न है। यह जगत् 'घट और उससे भिन्न सब कुछ' इस रूपवाला अतः वस्तुपरिच्छिन्न ही है॥ ११-१२॥

अन्य प्रकार से कहें तो जो अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी (विरोधी) हो उसे देश-परिच्छेद वाला कहते हैं। प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव का प्रतियोगी जो हो वह कालपरिच्छेद वाला है। अन्योन्याभाव का प्रतियोगी वस्तुपरिच्छेद वाला होता है। देशादिपरिच्छेद का सरलार्थ है कि वह वस्तु किसी देश की, स्थान की, परिधि में बँधी हुई है, युगपत् सब स्थानों में नहीं हो सकती; किसी काल से बँधी है, युगपत् सब कालों में नहीं हो सकती; तथा वह युगपत् सब कुछ नहीं हो सकती। वस्तुपरिच्छेद को सीमा इसलिए कहना संगत है कि इस सीमा के कारण ही घट भूतल पर आकर समाप्त हो जाता है। यदि भूतल घट को सीमित न करता तो घट भूतल भी होता; ऐसे ही पटादि भी होता। पर घट भूतल-पट-आदि होता नहीं तो

इति त्रिधा परिच्छेदो ब्रह्मण्यात्मस्वरूपके। न विद्येत यतस्तस्माद् ब्रह्मात्माहमितीरितः॥ १३॥

तस्य मे गमकं ज्ञानं ब्रह्मेत्याह श्रुतिः स्वयम्।

तस्य सत्यत्वम्

यथा ब्रह्म तथा सत्यमिदं ज्ञानमिहोदितम्॥ १४॥

आदावन्ते च मध्ये च यत् स्वरूपं[1] न सन्त्यजेत्। सत्यं तत् तादृशं प्रोक्तं मत्तोऽन्यत् तादृशं न हि॥ १५॥

अद्वितीये सर्वात्मनि ब्रह्मणि तद्व्यतिरेकमाह — इति त्रिधेति। तत्र 'अयमात्मा ब्रह्म' (मां. २) इति वाक्यं संवादयति — ब्रह्माहमिति॥ १३॥

तस्माद् एतादृशब्रह्मप्रापकत्वात् ज्ञाने ब्रह्मपदप्रयोग उपपन्न इत्याह — तस्य मे इति।

'एतत् सत्यम्' इत्यंशं व्याचष्टे सप्तभिः — यथा ब्रह्मेति॥ १४॥

अवश्य भूतलादि सब घट को सीमित करने वाले हैं। अद्वैत से इतर मतवादी ईश्वर को इस परिच्छेद वाला मानते हुए जो यह कहते हैं कि ईश्वर व्यापक है वह उनकी कुबुद्धि ही है। घट परिच्छिन्न होने पर घटेतर सब कुछ भी घट से परिच्छिन्न हो जाता है क्योंकि घट उन सबको घट नहीं होने देता, अपने से बाहर ही सीमित कर देता है। एवञ्च सारा जगत् वस्तुकृत परिच्छेद वाला है। इसे ही कहा कि जगत् का संक्षेप में रूप है घट और तदतिरिक्त बाकी सब। यह प्रश्न नहीं करना चाहिए कि अनात्मा से आत्मा भी तो भिन्न है फिर वह भी परिच्छिन्न अतएव विनाशी आदि क्यों नहीं? कारण यह है कि अनात्मा स्वयं जब आत्मा पर कल्पित है तब अनात्मा का भेद सुतरां कल्पित होगा अतः अकल्पित आत्मा को सचमुच परिच्छिन्न नहीं कर पायेगा। आत्मा का अनात्मा में जो भेद है वह तो अनात्मा से तुल्यसत्ताक है, व्यावहारिक है, अतः अनात्मा को परिच्छिन्न कर लेगा। समान या अधिक—अन्यून—सत्ताक भेद ही परिच्छेदक होता है यह समझ लेना चाहिये।

अद्वितीय सर्वात्मा ब्रह्म में तीनों परिच्छेद नहीं हैं यह कहते हैं — क्योंकि ये तीनों प्रकार की सीमायें आत्मरूप ब्रह्म में नहीं हैं इसलिए 'मैं ब्रह्मरूप आत्मा हूँ' ऐसा श्रुति द्वारा बतलाया गया है॥ १३॥

वस्तुपरिच्छेदरहित होते ही परमेश्वर जीवों से भिन्न नहीं हो सकता। यद्यपि यहाँ भी जीव में व्यावहारिकब्रह्मभेद है ऐसा कह सकते हैं तथापि 'प्रकाशमान प्रिय हूँ' इस अबाधित अनुभव के अनुरोध से जीव-ब्रह्म का मुख्यसामानाधिकरण्य (अभेद) ही संप्रदाय में प्रायः प्रसिद्ध होने से अनात्मा और जीवात्मा में इतना अंतर मानते हैं कि अनात्मा सर्वथा है ही नहीं जबकि जीवात्मा स्वयं तो है, उसका अनात्मसम्बंध सर्वथा नहीं है। किंच मोक्षशास्त्र में प्रत्यक् के मोक्ष का उपाय बताना उचित होने से यहाँ 'यह आत्मा ब्रह्म है' इत्यादि महावाक्यों के अनुसार ब्रह्म की व्यापकता से जीव की तद्रूपता प्रकट की गयी है। 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार मार्गशब्दित ज्ञान को ही ब्रह्म कहना संगत है यह निगमन करते हैं — उस ब्रह्मरूप मेरा सूचक होने से स्वयं श्रुति ने ज्ञान की प्रशंसा करने के लिए कहा 'ज्ञान ब्रह्म है'॥ १३½॥

उपाय को उपेयशब्द से लांगल जीवन आदि स्थल में कहना प्रसिद्ध ही है। प्रकृत में प्रशंसा इसलिए है कि श्रुति ज्ञानसाधन का विधान करना चाहती है।।

'यह सत्य है' यह जो ऐतरेयारण्यक का हिस्सा था उसे सात श्लोकों द्वारा समझाते हैं — जैसे यह ज्ञान ब्रह्म कहा गया वैसे सत्य भी कहा गया है॥ १४॥

सत्यविषयक एवं सत्य मोक्ष का साधन होने से ज्ञान सत्य है। अथवा क्योंकि ज्ञान का साधन सत्य है इसलिए ज्ञान को सत्य कह दिया। तब उपेय में उपायशब्द समझना होगा जैसे स्वास्थ्य या सुख को धन कह देते हैं।

---

१. स्वस्य प्रत्यगात्मनो रूपमित्यर्थः। बहूनि वस्तून्यात्मतया भान्ति तेषु यद्वस्तु नैवात्मतां प्रत्यक्तां सन्त्यजेत् तदेव सत्यम्। तादृक्षं च वस्त्वहमेव त्वंपदलक्ष्यएवेत्यर्थः। वाच्यस्य व्यभिचारिघटितत्वात्।

अपि चास्तीति विज्ञानशब्दयोर्विषयो मतः। सदर्थः सत्यता तेन मम धीशब्दरूपिणः॥ १६॥
यथा वाक्यं जनस्यात्र सत्यार्थगमकं हि तत्। एवं सत्यमिदं ज्ञानं मम सत्यस्य बोधकम्॥ १७॥

सत्यशब्दस्यारोपेण ज्ञाने वृत्तिरिति बोधनाय सत्यशब्दस्य मुख्यार्थमाह — आदाविति। कालत्रयेऽपि निर्विकारं कूटस्थनित्यं यत् तादृशं सत्यशब्देन 'सत्यं ज्ञानमि' त्यादिवाक्यगतेन (तै.२.१.) प्रोक्तम्। तत्तु मत्तः शोधिताहमर्थात् सर्वान्तराद् अन्यत् जडं विकारि न सम्भवतीत्यर्थः॥ १५॥

एवं श्रुतिप्रसिद्धं सत्यशब्दार्थमुक्त्वा लोकप्रसिद्ध्याऽपि तदेवाभिनयति —अपि चेति। यत्र 'अस्ती'-तिप्रतीतिविषयत्वम्, 'अस्ति'- शब्दवाच्यत्वं वा, स सदर्थः सतां प्रमाणानामर्थः। सत्प्रमाणमर्हतीति विग्रहवतो यत्प्रत्ययान्तस्य सत्यशब्दस्यापि स एवार्थो मतो लौकिकपरीक्षकैः, असतो ज्ञानविषयत्वाऽसम्भवात्। स च आपातद-र्शिनां दृष्टौ नानारूपः। वस्तुतस्तु 'प्रकाशा बहवो दीपाः सन्तु रात्रौ गृहे गृहे। दिनेऽप्रकाशतां यान्ति भानावेकत्र भास्वति॥' इति न्यायेन, 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (कठ. ६.१३) इत्यादिप्रमाणोदये सत्यता ममैव सर्वान्तरस्य। कीदृशस्य? धीशब्दरूपिणः धीशब्दौ रूपयितुं — विषयिणो विषयनिरूप्यत्वात् — रूपवन्तौ कर्तुं शीलं यस्य स तथा तस्य। तथा चोक्तम् — 'अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम्। आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततो द्वयम्'॥ (दृग्दृश्य. २)॥ इति॥ १६॥

एवं सत्यशब्दमुख्यार्थमुक्त्वा आरोपेण ज्ञाने वृत्तिं दृष्टान्तपूर्वकमाह — यथा वाक्यमिति। यथा लोके 'आप्तवाक्यं सत्यम्' इति व्यवह्रियते, सत्यार्थबोधकत्वाद्; एवम् 'एतत् सत्यम्' इति वाक्ये सत्यपदं ज्ञाने प्रयुक्तं, ब्रह्मज्ञानस्य परमार्थसत्यप्रापकत्वादित्यर्थः॥ १७॥

सत्यशब्द का गौण अर्थ ज्ञान है इस बात को समझाने के लिए सत्यशब्द का मुख्य अर्थ बतलाते हैं — भूत, भविष्य व वर्तमान में जो अपना रूप न छोड़े उसे सत्य जानना चाहिये। मेरे शुद्ध स्वरूप से भिन्न ऐसा कुछ नहीं है जो कभी अपना रूप न छोड़े॥ १५॥

सत्य शब्द का यह अर्थ ब्रह्म को सत्य कहने वाले श्रुत्यादिवाक्यों में स्पष्ट है। कालत्रय में निर्विकार कूटस्थ नित्य ही सत्य है। शोधित अहं का अर्थ जो सर्वान्तर है उससे भिन्न जड व विकारी कुछ भी वस्तुतः सत्य नहीं है।

सामान्यतः सत्य से क्या कहा जाता है यह दिखाते हैं — जिसका अनुभव 'है' ऐसा हो और 'है' ऐसा शब्दप्रयोग जिसके लिए किया जाये, वही सत्य पदार्थ माना जाता है। क्योंकि मैं सदा 'है' ऐसे शब्द व ज्ञान का विषय हूँ इसलिए अनुभव और शब्द को स्वरूपलाभ कराने वाले मेरी ही सत्यता है॥ १६॥

घड़े को सत्य इसीलिए कहते हैं कि अनुभव होता है 'घड़ा है' व शब्दव्यवहार होता है 'घड़ा है'। शशशृंगादि का 'है' ऐसा ज्ञान व शब्दव्यवहार न होने से उसे असत्य कहते हैं। शुक्तिरजतादि प्रतीतिकाल में सत्य ही समझे जाते हैं व बाध होने पर असत्य ही समझे जाते हैं। सोपाधिक स्थल में प्रातीतिक और वास्तविक इस दृष्टिभेद से सत्यता व असत्यता दोनों ही हैं। सत्यता और असत्यता एक दूसरे के अभावरूप तो हैं नहीं कि इनका विरोध हो और एकत्र ये न रह सकें। जहाँ सत्यता-अभाव रहे वहाँ असत्यता रहे — ऐसा भी नियम नहीं क्योंकि शुक्तिरूप्य में वास्तविक सत्यता न रहने पर भी शशशृंगादितुल्य असत्यता नहीं रहती। अतः ऐसा विरोध भी सत्य-असत्य का नहीं है। यदि कहें कि जहाँ सत्यता होगी वहाँ असत्यता का अभाव अवश्य होगा व जहाँ असत्यता होगी वहाँ सत्यता का अभाव अवश्य रहेगा इसलिए इनका विरोध होने से एकत्र उपस्थिति नहीं कही जा सकती; तो उत्तर है कि यद्यपि ऐसा विरोध होने से युगपत् साहचर्य संभव नहीं और इसीलिए मिथ्या को सत्यासत्य न कहकर सत्यासत्यविलक्षण कहते हैं तथापि प्रकृत में 'सामान्यतः' जो कहा जाता है उसका विचार चल रहा है और नृशृंग को कभी भी 'है' नहीं कहते जबकि गगननैल्य को 'है' कहते हैं यह लौकिक रीति है अतः गगननैल्य को इस रीति से सत्य कहा जा सकता है एवं विचारपूर्वक लोक में ही निर्णय करते हैं

असत्यस्य विनाशाद् वा सत्यमेतदिहोच्यते। न हि ज्ञानस्य सत्तायामात्माऽज्ञानं न नश्यति॥ १८॥

एवं परब्रह्ममुख्यार्थकस्य सत्यशब्दस्यारोपेण प्रवृत्तिरुपपादिता। अधुना कार्यब्रह्मपरस्य सत्यशब्दस्य 'असन्नेवास्य शत्रुर्भवती' त्यर्थकश्रुत्या (   ) शत्रुवसत्तासम्पादकध्यानकस्य आरोपेण ज्ञाने प्रवृत्तिमाह — असत्यस्येति। यथा कार्यं ब्रह्म हिरण्यगर्भः सत्यशब्दवाच्यो विनष्टशत्रुः, एवं ज्ञानमपि विनष्टसविलासज्ञानशत्रुकम्; अतो युक्ताऽत्र ज्ञाने सत्यशब्दस्य सादृश्येन वृत्तिरिति भावः॥ १८॥

कि गगननैल्य नहीं है अतः उसे असत्य भी कहा जा सकता है। सदा नहीं है समझा व कहा जाने वाला असत्य और सदा वैसा नहीं समझा और कहा जाने वाला या सदा है समझा व कहा जाने वाला सत्य — ऐसी विवक्षा होने पर तो सत्यता-असत्यता को एकत्र नहीं कह सकते यह निश्चित है। सिद्धिग्रंथ के आरंभ में ही यह विचार है। सत्यशब्द का विग्रह है 'सद् अर्हतीति' जो सत् के योग्य हो। सत् से प्रमाण समझ कर सत्य का अर्थ हुआ — जो प्रमाण के योग्य अर्थात् उसका विषय हो, यथार्थ रूप से जाना जाये। असत्य किसी को भी, लौकिक व परीक्षक, प्रमाण से ज्ञात नहीं होता अतएव असत्य है। भ्रम या विकल्प का विषय होने पर भी प्रमाणविषय न होने से ही असत्य है। जो लोग विवेक करते नहीं, जैसा प्रतीत हुआ वैसा ही स्वीकार लेते हैं उन्हे वह सत्य वस्तु नानारूप दीखती है। किन्तु जब 'है-ऐसा ही उसे समझना चाहिये' इत्यादि वेदवाक्य का पर्यालोचन कर सत्यविषयक यथार्थज्ञान होता है तब नाना सत्य वस्तुयें सत्य नहीं लगती, एक महेश्वर ही सत्य रह जाता है जैसे रात में घर-घर में सैकड़ों दिये प्रकाश करते हैं पर सूर्य के प्रौढ प्रकाश में वे सब प्रकाश लगते ही नहीं, एक सूर्य ही प्रकाश रह जाता है। अद्वितीय, सर्वान्तर, सत्य मैं ही ऐसा हूँ जो 'है' इस ज्ञान व शब्द से हमेशा सम्बद्ध है। मूल में 'धीशब्दरूपिणः' कहा है। विषयी विषय से निरूप्य होता है। 'है' धी(ज्ञान) और शब्द को निरूपित करने वाला होने से आत्मा धीशब्दरूपी है। अस्ति, भाति, प्रिय को आत्मरूप व नाम-रूप को मायारूप आचार्यों ने कहा है।

सत्यशब्द का वाच्यार्थ बता दिया। अब सोदाहरण समझाते हैं कि सत्यशब्द से ज्ञान कैसे कहा जाता है — जिस प्रकार आप्त-पुरुष द्वारा उच्चरित सत्य अर्थ के बोधक वाक्य को भी सत्य कहते हैं, उसी प्रकार मुझ सत्यात्मा का बोध कराने वाला होने से वेदान्त-प्रमाणजन्य अखण्ड ज्ञान प्रकृत ऐतरेय श्रुति में सत्य कहा गया है॥ १७॥

ब्रह्मज्ञान ही परमार्थ सत्य का प्रापक है। वृत्ति को यहाँ ज्ञान कहा है और तज्जन्याविद्यानिवृत्ति से उपलक्षित चेतन को बोध कहा है यह ध्यान रखना चाहिए। यहाँ बोध में मुख्य सत्यत्व एवं वृत्ति में गौण सत्यत्व है। 'सत्यं ज्ञानम्' (तै.२.१) आदि में ज्ञानपद चेतनपरक है जबकि प्रकृत 'एतत्सत्यम्' में एतत्पदोक्त ज्ञान वृत्तिपरक है। वृत्ति से चिदविवेक के कारण ज्ञानत्वव्यवहार प्रसिद्ध है।

सत्यशब्द से कार्यब्रह्म भी शास्त्रों में कहा जाता है। उस अर्थ को मानकर भी सत्यपद ज्ञान का लक्षक हो सकता है। वेद ने कहा है कि सत्यब्रह्म का जो उपासक हो उसके शत्रु नष्ट हो जाते हैं। उपासना अर्थात् ध्यान को ज्ञान भी कहते हैं। तत्त्वज्ञान भी ज्ञान है। और वह मुख्य शत्रु अज्ञान का विनाश करता ही है इस प्रकार शातयितृ—विनाशकत्व सम्बन्ध से ज्ञान में उक्त ध्यान का आरोप कर, और ध्यान को उसके विषय से अभिन्न मान सत्य समझ कर ज्ञान को सत्य कहना संगत है। यही बताते हैं — अथवा असत्य अज्ञान का विनाशक होने से इस प्रसंग में यह ज्ञान सत्य कहा जा रहा है। ज्ञान के रहते आत्मा का अज्ञान नष्ट न हो ऐसा नहीं होता अपितु नष्ट होता ही है॥ १८॥

स्वयं कार्यब्रह्म भी शत्रुरहित है और ज्ञान भी विरोधिरहित होता है — इस साम्य से भी ज्ञान सत्य है। 'शद्लृ' भौवादिक व तौदादिक धातु है शातनार्थक। शातन अर्थात् जीर्ण होना, गिरना, जाना या गिराना। णिजन्त इसी धातु से 'शातयति' अर्थ में शत्रुशब्द बनता है (उणा. ४.१०४)। हमें जीर्ण कराता है अतः अज्ञान शत्रु है। सर्वशक्ति हम अज्ञान से ही निर्वीर्य हुए हैं। परम पद से गिराये गये भी हम अज्ञान द्वारा हैं इससे भी वह शत्रु है। जाना अर्थात् जानना क्योंकि गति ज्ञानार्थक प्रसिद्ध है। क्योंकि हमें गलत ज्ञान कराता है इसलिए भी अज्ञान शत्रु है। अथवा मारक होने से ही शत्रुता स्फुट है।

आदौ पश्चादसत्त्वाद्धि[१] मध्येऽप्येतदसत् स्मृतम्। न च कालद्वयाव्याप्तो मध्ये वन्ध्यासुतोऽस्ति हि॥ १९॥
न चापरोक्षं भानं स्यात् तस्य यद्वत् तथास्य हि। न स्वप्रसिद्धेः सिद्धिः स्यादनयोर्विषमा क्वचित्॥ २०॥

ननु हिरण्यगर्भस्य अनागतवर्तमानातीतकल्पेष्वेकत्वाद् एकविधैश्वर्यत्वाच्च शत्रुषु असच्छब्दप्रयोगः सम्भवति। ज्ञानशत्रोरज्ञानस्य अनादेरतीतवर्तमानकालसम्बन्धित्वात् तत्कार्याणां च वर्तमानकालसम्बन्धित्वात् कथमसत्त्वम्? अतआह — आदाविति। यद्यत् कालाऽव्यापि तत्तदसत्, यथा वन्ध्यासुतः — इति व्याप्तिशरीरं, लाघवात्; न तु कालत्रयाव्यापित्वं, कालद्वयाव्यापित्वं वा निवेश्यं, गौरवात्। एवं च, अज्ञानस्य भविष्यत्कालाऽव्यापित्वात् तत्कार्याणां चातीतानागतकालाऽव्यापित्वाद् असत्त्वं सत्ताराहित्यं सिद्धमिति भावः॥ १९॥

किंच; अज्ञानं सविलासमसद् अपरोक्षभानराहित्याद् — इत्यनुमानान्तरम् 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ.३.४.२) इति श्रुत्यनुगृहीतं सूचयति — न चापरोक्षमिति। यद्वत् तस्य वन्ध्यासुतस्यापरोक्षं भानं न स्यात् न संभवेत् तथा अस्य सविलासाऽज्ञानस्येत्यर्थः। नन्वात्मभानमादाय स्फुरणं सविलासाज्ञाने विशेष इति चेद्? अस्त्वयं विशेषो मध्यमं प्रति, श्रुतितात्पर्यविदमुत्तमं प्रति तु न विशेष इत्याह — न स्वप्रसिद्धेरिति। स्वेन आत्मना प्रसिद्धि र्यस्य स स्वप्रसिद्धिः आत्मा, ल्यब्लोपे पञ्चमी। तथा च, स्वप्रसिद्धिं स्वप्रकाशमात्मानमाश्रित्य सिद्धिः अनयोः अज्ञानवन्ध्यासुतयो र्विषमा न, किन्तु समैव। यदि आत्मनः सत्ताप्रकाशाभ्यामज्ञानं सदिति व्यवह्रियते तर्हि वन्ध्यासुतोऽपि तथा व्यवह्रियतां, न हि परधनेन कश्चिद् धनीति व्यवह्रियते। न चासतस्तदाश्रितत्वमपि, सदसतोः सम्बन्धासंभवात्। तदुक्तम् —
'तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा। ज्ञेया माया त्रिभि र्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः'॥ (पंचद. ६.१३०)॥

शंका होती है कि हिरण्यगर्भ (सत्याख्य कार्यब्रह्म) भूत, भविष्य, वर्तमान कालों में एक ही है और एक ही प्रकार के ऐश्वर्य वाला होने से उसके शत्रुओं को असत् कहना अर्थात् यह कहना कि उसके शत्रु हैं ही नहीं, संभव है; किन्तु ज्ञान का शत्रु अज्ञान तो अनादि, अतीत व वर्तमान काल में है और उसका कार्य भी उपस्थित है, तब ज्ञान के शत्रु को असत् कैसे कह सकते हैं? समाधान है कि — पहले और बाद में न होने के कारण मध्य में भी यह अज्ञान नहीं है, ऐसा स्वीकृत है। जैसे वन्ध्या का पुत्र क्योंकि भूत-भविष्य दोनों कालों में नहीं होता इसलिए मध्य में भी नहीं ही होता है॥ १९॥

भाव यह है कि असत् उसे कहना चाहिये जो काल का अव्यापी हो अर्थात् कालसत्त्व में जिसके सत्त्व का नियम न हो। धूम होने पर जैसे अग्नि होना निश्चित है ऐसे काल होने पर जिसका होना निश्चित न हो, वही असत् है। वंध्यापुत्र ऐसा है क्योंकि कालसत्त्व में उसका सत्त्व नहीं मिलता। भूतादि तीनों या भूत-भावी दोनों कालों में नहीं रहने वाला ही असत् होता है — ऐसा कहना गौरवग्रस्त है। वंध्यासुतादि उभयसंमत असत् में कालाव्यापिता से निर्वाह संभव होने पर काल में 'दो' या 'तीन' विशेषण का उपयोग नहीं। यदि कहो ऐसे तो घटादि भी असत् होंगे; तो सिद्धान्ती को इष्ट ही है। इस प्रकार क्योंकि तत्त्वज्ञानकाल व तदुत्तरकाल का अव्यापी होने से अज्ञान असत् है तथा भूत-भावी दोनों कालों का अव्यापी होने से उसका कार्य असत् है इसलिए ज्ञानशत्रु अज्ञान को असत् कहने में कोई आपत्ति नहीं समझनी चाहिये। यदि पूछो कि वर्तमान या भूत काल का अव्यापी होने से ज्ञान भी तो असत् है? तो उत्तर है कि ज्ञान (वृत्तिज्ञान) असत् होने से ही सत्यशब्द का मुख्य नहीं गौण अर्थ बताया था। बोध में कालाव्यापी अविद्यानिवृत्ति उपलक्षकमात्र होने से चिद्रूप बोध को असत् नहीं बना सकती। उपलक्षितत्व को धर्म माना नहीं जाता, अन्यथा विशेषण से कोई अंतर नहीं होगा। इतरथा अप्रकाशमान प्रकाश — यही उपलक्षितत्व है; अप्रकाशमानता इतरथा-प्रकाशमानता का अभाव होने से अधिकरणीभूत प्रकाश का स्वरूप ही है अतः कोई विरोध नहीं। दर्पणस्थ सूर्यरूप औपचारिक प्रकाश की अंधकारविरोधिता के समान असत् भी ज्ञान की शत्रु-असत्ता कहना सर्वथा उपपन्न है।

---

१. आदौ वा पश्चाद्वा मध्ये वा यदसत् = कालासम्बद्धं तदसत्। कालसम्बन्धः सत्त्वमिति वो मतमतः कालासम्बन्धोऽसत्त्वम्। न च कालसम्बन्धात्यन्ताभावानधिकरणत्वं सत्त्वमित्यदोषः, गौरवाद्वन्ध्यासुतादौ कालासम्बन्धमात्रादसत्त्वनिश्चयात्।

आनन्दात्मनि चाध्यासे भेदबुद्धिस्ततो मृषा।

ज्ञानाच्च्युतिरनर्थाय

अहं ब्रह्मास्मि बोधश्चेत् पुण्यपुञ्जविपाकतः॥ २१॥

यद्वा; ननु स्फुटो वन्ध्यासुतसविलासाज्ञानयोर्भेदः — वन्ध्यासुतो ह्यसन्निति प्रतीयते, अज्ञानं तु सत्; इति यदि कश्चिद् ब्रूयात्तत्राह — न स्वप्रसिद्धेरिति। अनयोः वन्ध्यासुताज्ञानयोः असत्सदाकारेण या विषमा सिद्धिः स्फूर्तिः, साऽपि स्वप्रसिद्धेः तयोः स्वरूपभूतप्रकाशाद्धेतोर्न, चिद्भिन्नत्वेन जडत्वात्; किन्तु आत्मसत्ताप्रकाशबलादेव। तथा आत्मैवैकः सन्, एतौ तु असत्तया समावेवेति भावः॥ २०॥

मध्यमं प्रत्याह — आनन्दात्मनीति। यदि अध्यासं मन्यसे, तदापि अध्यस्तस्याधिष्ठानाभेदासंभवाद्[1] अद्वैतनिष्ठारूपामपवाददृष्टिमालम्बस्वेति भावः।

'तस्मान्न प्रमाद्येद्' इत्यंशं व्याचष्टे — अहमिति। ब्रह्मात्मबोधः पूर्वपुण्यस्य परिपाकात् प्रतिबन्धनिरासपूर्वकं सामग्रीसम्पादनात्मकात् जातश्चेद् इत्यन्वयः॥ २१॥ जात इति।

यह भी अनुमान किया जा सकता है कि कार्य-प्रपंच सहित अज्ञान असत् है क्योंकि उसका अपरोक्ष भान नहीं होता, जैसे वंध्यासुत। यदि पूछो कि अपरोक्षभान न होने पर भी असत् न मानने में क्या हानि है? तो उत्तर है कि श्रुति ने (बृ.३.४.८) आत्मा से भिन्न सबको विनाशी कहा है अतः आत्मभिन्न अज्ञान को असत् (कालाव्यापी) न मानने में श्रुतिविरोध की आपत्ति है। यह बताते हैं — वन्ध्यापुत्र की तरह अज्ञान का भी अपरोक्ष भान नहीं होता। स्वप्रकाश आत्मा से वन्ध्यापुत्र व अज्ञान दोनों की एक जैसी सिद्धि होती है। यद्यपि वंध्यासुत असत् सिद्ध होता है व अज्ञान सत् सिद्ध होता है तथापि उनकी ये सिद्धियाँ उनके निजी प्रकाश से तो होती नहीं अतः आत्मप्रकाश से ही सिद्धि होने से दोनों समान ही हैं॥ २०॥

उक्त अनुमान में 'अपरोक्ष भान नहीं होना' रूप हेतु अज्ञान में स्वरूपासिद्ध होना चाहिये क्योंकि उसका 'मैं अज्ञ हूँ', 'मुझे अज्ञान है' यों अपरोक्ष भान होता है? इस प्रश्न का उत्तर है कि मध्यमाधिकारी या अनधिकारी या सिद्धान्तानभिज्ञ तटस्थादि को चाहे भान हो, श्रुतितात्पर्य को जानने वाले उत्तम अधिकारियों की दृष्टि से भान न होना सिद्ध है। पंचदशी में कहा है कि लौकिक बोध की दृष्टि से अज्ञान वास्तविक है, यौक्तिक बोध की दृष्टि से अर्थात् विचार के धरातल पर अज्ञान अनिर्वचनीय है और श्रौतबोध की दृष्टि से अर्थात् तत्त्वनिष्ठा के धरातल पर अज्ञान तुच्छ है, असत् है अतः स्वरूपासिद्धि नहीं है। अथवा हेतुभूत अपरोक्ष भान में अपरोक्ष का अर्थ है साक्षत्। आत्मा का तो साक्षात् भान होता है पर तदतिरिक्त का आत्मभानपुरःसर व तत्प्रयुक्त ही भान होता है। इससे भी स्वरूपासिद्धि नहीं है। आत्मा 'स्वप्रसिद्धि' है, खुद से ही उसकी सिद्धि है। अज्ञान व वन्ध्यासुत की सिद्धि स्वप्रकाश आत्मस्फुरत्ता का सहारा लेकर होती है, स्वप्रसिद्धि आत्मा के बिना दोनों की सिद्धि नहीं होती। यदि आत्मा की सत्ता को लेकर सविलास अज्ञान को सत् कहा जाये तो वन्ध्यापुत्र को भी उसी प्रकार सत् कहा जायेगा जो उचित नहीं। दूसरे के धन से कोई धनी नहीं कहलाता। असत् को सत् के आश्रित कहना उचित भी नहीं क्योंकि उनका सम्बन्ध बनता नहीं। सद्-असत् का नित्य सम्बंध अप्रामाणिक है। अनित्य सम्बन्ध कारणसत्त्वापेक्ष होने से असत्कारणक हो नहीं सकता। किंच सम्बन्ध सत् होगा या असत्? उभयथा असम्बन्ध की प्राप्ति है। सत्सम्बन्ध से असत् सत् होने पर यदि नित्य सम्बन्ध हो तब असत् ही असिद्ध होने से सम्बन्ध भी अमान्य होगा। यदि असत्कारणक अनित्य सम्बन्ध मानें तो भी सम्बन्धकाल में असत् सत् होगा, अतः सद्-असत् सम्बंध न होकर सत्-सत् सम्बंध ही होने लगेगा। सम्बन्ध के आद्यक्षण में उसे असत् मानना व द्वितीयादि क्षणों में सत् मानना यह सम्बन्ध में कोई विशेष न होने से केवल मनमानी होगी। अतः सद्-असत् का सम्बन्ध बनता नहीं। आगे प्रश्न उठ सकता है कि वन्ध्यापुत्र की 'नहीं है' रूप से प्रसिद्धि होती है जबकि अज्ञान की 'है' रूप से प्रतीति होती है जिससे

१. अधिष्ठानं सत्। यद्यध्यस्तमपि सदेव स्यात्तर्हि तस्याधिष्ठानेन अभेद एव स्यात्। स तु न संभवति। अतोऽध्यस्तमसदेवेत्यर्थः।

जातस्ततोऽन्यन्न ज्ञेयं तदैक्यं हि प्रमोदकृत्। उक्तं वेदान्तविज्ञानमतिक्रम्य न च व्रजेत्॥ २२॥

अन्यद् भेदव्याप्तं न ज्ञातुं योग्यं, प्रमादापातात्; 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यती'ति श्रुतेः (बृ.४.४.१९)। ननु सति फले कुतो न ज्ञेयम्, दृश्यते हि राज्यादिलोभेन संग्रामादौ मृत्युभयेऽपि प्रवृत्तिः? अत आह — तदैक्यमिति। विषयेण विषयिणो लक्षणात् तदैक्यम् ब्रह्मात्मैक्यज्ञानं प्रमोदम्, 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'ति (बृ.४.३.३२) श्रुतिबोधितं निरतिशयानंदं करोति व्यंजयतीत्यर्थः। अतः सम्राजा वराटिकाऽर्जनवत् प्रमादो न कार्य इति भावः।

'तन्नातीयाद्' इत्यंशं व्याचष्टे — उक्तमिति। 'तद्' वेदान्तजन्यज्ञानम् 'अति' अतिक्रम्य 'न इयात्' न गच्छेदिति श्रुतिपदार्थः॥ २२॥

उनका भेद स्पष्ट है। एवं च प्रतीति से बाधित होने के कारण अनुमान ग़लत क्यों न मानें? इस का उत्तर है कि आत्मसत्ताप्रकाशाधीन सत्ता-स्फुरत्ता दोनों की होने से साम्य कहा गया है। अज्ञान और वन्ध्यासुत चिद्भिन्न, जड, होने से स्वतः तो सिद्ध होते नहीं। अतः जैसे तार्ण, पार्ण आदि भेद वाली प्रतीत होने पर भी धूम से व्याप्त होने की समानता से वह्नि की अनुमिति सही ही होती है वैसे स्वतः प्रकाश न होते हुए भान होना रूप समानता से अज्ञान में असत्ता की अनुमिति वन्ध्यासुत दृष्टान्त से अवश्य होगी। श्रौतानुपपत्ति रूप अनुकूल तर्क तो दे ही चुके हैं॥

जो तो मध्यमाधिकारी अज्ञान का अपरोक्ष अभान नहीं समझ सकता उसके लिए कहते हैं — आनन्दरूप आत्मा में अज्ञान का अध्यास मानने पर अध्यस्त होने के कारण ही द्वैतज्ञान मिथ्या है यह निश्चित है॥ २०½॥

अध्यस्त वस्तु का अधिष्ठान से अभेद हो नहीं सकता अतः अद्वैत-निष्ठा रूप अपवाददृष्टि का अवलम्बन करना चाहिये। यहाँ द्वैतज्ञान से तत्कारण अज्ञान भी समझ लेना होगा। मध्यमाधिकारी अर्थात् पूर्वोक्त यौक्तिक बोध वाला। यदि 'मध्यम' से अनधिकारी तटस्थादि समझें तो पहले सकारण भेदबुद्धि को आनन्दात्मा में अध्यस्त सिद्ध करना चाहिये। तब श्लोकस्थ 'च' को हेतुपरक मान लेना होगा। प्रतीयमान होने से अप्रतीत्यात्मक अत एव तदात्मक आत्मा के अधीन होने से तदधिष्ठानक होने से सविलास अज्ञान कल्पित है यह स्पष्ट है।

'इससे प्रमाद न करे' इस ऐतरेयक श्रुत्यंश की व्याख्या करते हैं — पूर्वपुण्य-परिपाक से यदि 'मैं ब्रह्म हूँ' यह निश्चय पैदा हो जाये तो उससे अन्य कुछ ज्ञातव्य नहीं। अपनी परमात्मा से एकता का निश्चय ही आनन्दप्रद है॥ २१ - २१½॥

तत्त्वज्ञान को उत्पन्न न होने देने वाले प्रतिबंधक हटने के लिए पुण्यसंचय की अपेक्षा करते हैं। तभी सामग्री एकत्र होती है जिससे ब्रह्मात्मबोध द्वारा द्वैत बुद्धि का अपवाद हो जाता है। वस्तुतः हेतुविशेषवशाद् अन्यथा व्यवहार प्रतिबद्धता है व वह हेतु ही प्रतिबंधक है। दाहक भी अग्नि मणिसंनिधिरूप हेतु से अदाहक-व्यवहार का विषय होती है अतः मणिसंनिधि प्रतिबंधक है। ऐसे ही पुरुषापराध से जो धिषणामालिन्य है वही प्रतिबंधक है क्योंकि उससे ही तत्त्व का सही निश्चय नहीं हो पाता। भगवदर्पित स्वधर्मानुष्ठानादिवशात् वह मालिन्य हटता है तब क्लृप्त सामग्री से ही निश्चय हो जाता है। अथवा सामग्री से हो चुका भी निश्चय उक्त मालिन्य से अविद्यमानसम, अकार्यकारी,रहता है। मालिन्य हटने पर कार्यकारी हो जाता है। सर्वथापि प्रतिबन्धकनिवृत्तिरूप अभाव को कारण मानने का प्रसंग नहीं है। उसकी आवश्यकता मानने पर भी वह अभाव क्लृप्त सामग्री रूप ही माना जायेगा अतः मतान्तर से वैलक्षण्य ही है। ब्रह्मात्मबोध से भिन्न जो भी भेदव्याप्त है वह जानने योग्य नहीं है। उसकी ओर दृष्टि जाना ही प्रमाद है। भेद को सत्य समझने से बारंबार मृत्यु की प्राप्ति श्रुति ने बतायी है। साधनावस्था में ध्यानरूप निदिध्यासन से द्वैतोन्मुख दृष्टि रोकनी चाहिये। सिद्धस्थिति में तो विज्ञानरूप निदिध्यासन स्वाभाविक रूप से द्वैत का मिथ्यात्वोल्लेखपूर्वक उपस्थापन होने से द्वैतोन्मुखवृत्ति होने नहीं देता। किंतु 'न प्रमाद्येत्' निषेध तो साधक के लिए ही है। अतः श्रवण-मनन से एवं श्रद्धा से प्रपंचमिथ्यात्व समझकर पुनः पुनः

अन्यत् साधनजातं हि मोक्षार्थी बन्धकारणम्। सच्चिदानन्दमात्मानमीशानमिममद्वयम्॥ २३॥
अतिक्रम्य गता ये ते परिभूतास्तु देहिनः।

गमनकर्म दर्शयति — अन्यदिति। साधनजातं जन्यफलहेतुभूतं लौकिकवैदिककर्मजातं हि यतः अयं मोक्षार्थी, तच्च बन्धकारणमिति।

'नात्यायन् पूर्वे' इत्यंशोपबृंहणस्य 'अपराश्च प्रजा' इत्यारभ्य (श्लो. ३४) करिष्यमाणत्वाद् 'येऽत्यायंस्ते पराबभूवुः' इत्यंशं व्याचष्टे — सच्चिदानन्दमिति। सच्चिदानन्दस्वरूपमात्मानं सर्वान्तरं, त्रिविधपरिच्छेदराहित्याद् अद्वितीयम्, इमं साक्षादपरोक्षम्, अज्ञाने सति ईशानं सर्वनियन्तारमाज्ञोल्लंघिनां भयप्रदं सर्ववेदप्रतिपाद्यम्॥ २३॥

अतिक्रम्येति। एतादृशमतिक्रम्य ये गतास्ते परिभूता इत्यन्वयः। ईश्वरातिक्रमो नाम तन्निश्वसितत्वेन तदाज्ञारूपवेदार्थाननुष्ठानम्। लोकेऽपि यो यदाज्ञामुल्लंघते स तमतिक्रामतीति व्यवह्रियते। वेदार्थाननुष्ठानमेव च ज्ञानातिक्रमः, तत्साधनतन्निष्ठाऽन्यतरानाचरणात्। यथा धर्मं तत्साधनं चाननुतिष्ठन् धर्ममतिक्रामतीति व्यवह्रियते। इत्याशयेन ईश्वरातिक्रमएव परिभवकारणत्वेन मूल उक्तः। परिभवस्तु तामसयोनिप्राप्तिः। तदुक्तं भगवद्गीतासु — 'तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु'॥ १६.१९॥ इति।

इसका अनुसंधान कर प्रपंचविषयक प्रवृत्तियाँ रोकते हुए ब्रह्मसंस्थता के लिए प्रवृत्ति करना यही प्रमाद न करने का तात्पर्य है। यद्यपि जैसे मृत्यु का भय रहते हुए भी राज्यलोभ से संग्राम में प्रवृत्ति होती है वैसे यदि सफल हो तो भेदव्याप्त जगत् भी जानने योग्य, आदरयोग्य, हो सकता है; तथापि जैसे सम्राट् एक कौड़ी पाने के लिए यत्न नहीं करता वैसे अभेदवेत्ता भेद के लिए यत्न नहीं करता। जिस तरह नगाड़ा मढ़ने के प्रयोजन वाला मेढक के चमड़े इकट्ठे करने नहीं लगता उसी तरह मुमुक्षु को भेदार्थ यत्न करना रूप प्रमाद से दूर रहना ही उचित है। इसीलिए अद्वैतज्ञान की आनन्दप्रदता कही। यद्यपि 'तदैक्यं प्रमोदकृत्' अर्थात् जीवब्रह्म की एकता को आनन्दप्रद कहा है तथापि ऐक्यविषयक ज्ञान की आनन्दप्रदता विवक्षित है क्योंकि उसी का प्रकरण है। ज्ञान का विषय ऐक्य होने से ऐक्यशब्द की लक्षणा स्वविषयक ज्ञान में है। 'अन्य जितने प्राणी हैं वे सभी इस आत्मानन्द भूमानन्द का अंशमात्र ग्रहण करते हैं' ऐसी श्रुति है। अतः भेद से प्राप्य सुख पूरा ही अभेदसुख में समा जाता है इसलिए अभेद के संमुख भेद सर्वथा निष्फल होने से तदर्थ प्रवृत्ति संगत नहीं। फलतः अद्वैत से प्रमाद नहीं करना चाहिये।

'उसका अतिक्रमण न करे' इस ऐतरेयकांश का व्याख्यान करते हैं — क्योंकि साधक मोक्षार्थी है इसलिए उक्त वेदान्तजन्य अनुभव को छोड़कर बंधन के कारणभूत अन्य साधनों का अनुष्ठान न करे॥ २२ - २२½॥

वेदान्तप्राप्य बोध को लाँघकर न जाये — यह उक्त ऐतरेयवाक्य का अर्थ है। लाँघना अर्थात् छोड़ना। उसे न पाकर अन्य प्रवृत्ति या उसे पाकर भी अन्य प्रवृत्ति, दोनों ही लाँघकर जाना है। अभेदबोध पाकर अन्य प्रवृत्ति भी तब तक संभव है जब तक उस बोध का निष्ठारूप में परिपाक न कर लिया जाये। लौकिक वैदिक जितने कर्मसमूह हैं सब के सब जन्य फलों के हेतु हैं अतः मोक्षप्रार्थी के लिए बन्धनभूत हैं, ऐसा निश्चय कर जीव-ब्रह्म के एकत्वरूप वेदांतविज्ञान का अतिक्रमण रूप प्रमाद न करे। पूर्व में 'न प्रमाद्येत्' से भेद में सत्यत्व उपयोगित्व आदि बुद्धि न करना कहा था। अब 'नातीयात्' से तदर्थ कर्म न करने को कहा है अतः पुनरुक्ति नहीं।

आगे ऐतरेय में कहा था 'पहले वालों ने इसका अतिक्रमण नहीं किया। जिन्होंने इसका अतिक्रमण किया वे पराभव को प्राप्त हुए।' 'पहले वालों ने नहीं किया' इसे तो चौंतीसवें श्लोक से आरंभ कर बतायेंगे। जिन्होंने किया वे पराभूत हुए इसे अभी बताते हैं — जो देहाभिमानी लोग सच्चिदानन्दरूप साक्षाद् अपरोक्ष व्यापक परमेश्वर की वेदरूप आज्ञा को लाँघकर मनमाने रास्ते गये वे तामस योनियों को प्राप्त हुए॥ २३ - २३½॥

सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वान्तर, त्रिविध परिच्छेद से रहित आत्मा अद्वितीयरूप से अपरोक्ष है। यदि उसे हम जानते नहीं तो वही सर्वनियन्ता ईशान (ईश्वर) होता है। उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने वालों के लिए वह भयप्रद होता है। वही

साधनविषय इतिहासः

अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्॥ २४॥

ऋषीणां च प्रजानां च संवादं साधनं प्रति। अतीन्द्रियार्थद्रष्टारो जितबाह्यान्तरेन्द्रियाः॥ २५॥

यथोपपन्नलाभेन सन्तुष्टाश्च सहिष्णवः। आत्मविज्ञानसम्पन्ना लोकानुग्रहकारिणः॥ २६॥

सनकाद्याः पुरा सृष्टा ब्रह्मणा सृष्टिकारिणा। सुखार्थिनीः प्रजा दृष्ट्वा साधनज्ञानवर्जिताः॥ २७॥

अत्रेतिहासमवतारयति — अत्रेति॥ २४॥ ऋषीणामिति। निःश्रेयससाधनस्य लक्षणभूतं, ऋषिप्रजासम्बन्धिसंवादरूपमिति इतिहासविशेषणम्।

अतीन्द्रियं तर्कागोचरमागमार्थं द्रष्टुं शीलं येषान्ते तथा; सुसप्रबुद्धन्यायेनाधिगतवेदार्था इत्यर्थः। जितानि बाह्यानि आन्तराणि चेन्द्रियाणि यैस्ते तथा। एतेन शमदमानुष्ठानं बोध्यते॥ २५॥ यथोपपन्नेति। उपरताः। सहिष्णव इति तितिक्षावन्तः। आत्मविज्ञानसम्पन्नाः साक्षात्कृतात्मतत्त्वाः। तेषां तनुस्थितौ प्रयोजनं दर्शयति — लोकानुग्रहकारिणइति॥ २६॥ आत्मेति[1]। एतादृशा आचार्यलक्षणोपेताः[2] शुद्धसात्त्विकाः सनकाद्याः सृष्टिकारिणा ब्रह्मणा पुरा प्रथमं सृष्टाः।

ते च पश्चात्सृष्टास्त्रिविधाः प्रजा निःश्रेयससाधनज्ञानवर्जिता दृष्ट्वोचुरित्यन्वयः॥ २७॥ इदमिति।

अद्वितीय शिव सारे वेद का प्रतिपाद्य है। उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने वाले पराभव को प्राप्त हुए। ईश्वर के निःश्वास-रूप वेद का अर्थरूप ईश्वराज्ञा का अनुष्ठान न करना ईश्वर का अतिक्रमण है। लोक में भी जो जिसकी आज्ञा का उल्लंघन करता है वह उसका अतिक्रमण करता है ऐसा व्यवहार होता है। वेदार्थ का अनुष्ठान न करना ही ज्ञान का अतिक्रमण है। ज्ञान के साधन व ज्ञान में निष्ठा, दोनों में से किसी का आचरण न करे तो ज्ञान का अतिक्रमण हो जाता है जैसे धर्म या धर्म के साधनों का अनुष्ठान न करने पर धर्म का अतिक्रमण हो जाता है। परिभव का मूलकारण ईश्वर का अतिक्रमण सिद्ध हुआ। तामस योनि की प्राप्ति ही परिभव है। भगवद्गीता में कहा है 'जो नराधम हैं, क्रूर हैं, द्वेष करते हैं, वे परमेश्वर द्वारा बार-बार आसुरी योनियों में ही डाले जाते हैं।' यह सब होता तभी है जब हमें शरीराभिमान हो। अभिमान से राग-द्वेष होने पर धर्मपराङ्मुखता तथा अधर्मतत्परता अनिवार्य है।

देहाभिमानी अतः ईश्वर का अतिक्रमण करने वाले पराभव को प्राप्त होते हैं इस विषय में प्राचीन इतिहास को उदाहरणरूप से प्रस्तुत करते हैं — इस संदर्भ में कल्याणसाधनविषयक ऋषि-प्रजासंवादरूप इस प्राचीन इतिहास को सुनाते हैं : सृष्टि करने वाले ब्रह्माजी द्वारा पहले सनक आदि बनाये गये जो तर्कमात्र से अगम्य जो वस्तु उसके जानकार थे, बाह्येन्द्रियों व मन पर नियन्त्रण वाले थे, जैसा भी मिल जाये उसी लाभ से संतोष करते थे, सहनशील थे, आत्मैक्य के अनुभव वाले थे व लोगों पर कृपालु थे॥ २४ - २६½॥

यहाँ कही विशेषतायें आचार्य का लक्षण समझनी चाहिये। कृपालुता से कहा कि वे जीवित क्यों थे। विद्वान् का शरीर केवल अस्मदादि अज्ञानियों के कल्याणार्थ रहता है, यही प्रारब्धवाचोयुक्ति का परम अभिप्राय है।

कृपावान् होने से उनकी क्या प्रवृत्ति हुई यह बताते हैं — आचार्यलक्षण-सम्पन्न सनकादि निःश्रेयससाधन ज्ञान से रहित प्रजा को सुखार्थी जानकर कृपावश कहने लगे 'हे प्रजागण! आप लोगों के लिए सुख का साधन ज्ञान ही है।'॥ २७ - २७½॥

क्योंकि वास्तव सुख केवल ज्ञान से है इसलिए वास्तव कृपालु उसी का उपदेष्टा है। हम भी यदि किसी पर कृपा करना चाहें तो उसे ज्ञानमार्ग में ही प्रवृत्त करना चाहिये। अन्य धन, कर्मादि में प्रवृत्त करने से या प्राप्ति भी करा देने से बन्धन ही बढ़ेगा अतः वह वस्तुतः कृपा नहीं द्वेष ही होगा। यहाँ 'जानकर' ही सनकादि ने समझाना प्रारंभ कर दिया। अतः 'बिना पूछे नहीं बताना चाहिये' यह ब्रह्मविद्या के प्रसंग में अनिवार्य नियम नहीं है। 'बोधयन्ति बलादेव सानुकम्पा

१. प्रमादपतितं प्रतिभाति। २. आचार्यलक्षणं चोपदेशसहस्रिकायां गद्यभागआदावेवाचार्यश्चेत्यादिना (पृ. १२३. M.R.I.) श्रीमद्भगवत्पादैर्व्यक्तम्।

इदमूचुः कृपाविष्टा ज्ञानं वः सुखसाधनम्। तेषां तद्वचनं श्रुत्वा प्रजास्ता दैवमोहिताः॥ २८॥
अनादृत्य गताः सर्वाः सुखार्थं साधनान्तरम्।

तामसप्रजाप्रकृतिः

तत्र तिस्रः प्रजा मूढा न वेदोक्तं च मेनिरे॥ २९॥
साधनं प्रज्ञयैवैताः शब्दाद्येवाभिमेनिरे। शब्दादिसेवनात्तासां मनोवाक्कायदोषतः॥ ३०॥
नभोभूभूबिलावासस्त्रिधा कायो व्यजायत। मानुषैरुपभोग्योऽयं वध्यश्छेद्यश्च नित्यशः॥ ३१॥

दैवमोहिता दैवेन पूर्वसंस्कारेण — श्रुतिस्मृतिषु मृत्यु-प्रकृति-स्वभावपदैर्व्यवहृतेन — मोहिता विवेकहीनाः॥ २८॥ अनादृत्येति। अन्यत् साधनं कर्मरूपम्।

तत्र तासु प्रजासु तिस्रः तामस्योऽधममध्यमोत्तमाः, 'पापः पापेन' (बृ.३.२.१३;४.४.५) भवतीति[१] श्रुतेः पापवासिता वेदोक्तं न मेनिरे॥ २९॥

साधनमिति। एताः प्रजाः प्रज्ञया पूर्वजन्माभ्यस्तानुभवोत्थसंस्कारजातया बुद्ध्या। शब्दादि विषयजातमेव सुखसाधनं मेनिरे संकल्पविषयं चक्रुः। 'यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते' (बृ.४.४.५) इति श्रुत्युक्तन्यायेन शब्दादिसेवने कृते सति मनोवाक्कायदोष उत्पन्नः। मनोदोषाः परद्रव्याभिलाषादयः। वाग्दोषा निष्ठुरत्वादयः। कायदोषाः स्तेयादयः; तेभ्यः॥ ३०॥

नभ इति। नभोवासः पक्ष्यादिः, भूवासः वृक्षादिः, भूबिलावासः सर्पादिः, इत्येवं त्रिविधः कायस्तेषां व्यजायत। कीदृशस्त्रिविधोऽपि कायः? मानुषैरुपभोग्यः, वध्यश्छेद्यश्च; प्रसिद्धमेतत्॥ ३१॥

हि साधवः' वासिष्ठोक्ति से कारुणिक विद्वान् तो उक्त उत्सर्ग के अपवाद में ही प्रवृत्त हो जाते हैं।

इस उपदेश से प्रजाओं में क्या प्रतिक्रिया हुई यह कहते हैं — सनकादि के वाक्य को सुनकर भी पूर्वजन्मों के संस्कारों (दैव) से विवेकहीन (मोहित) तामसी अधम, मध्यम, उत्तम तीन प्रकार की प्रजा ने मूर्खता के कारण सनकादि के उपदेश में विश्वास नहीं किया, उनकी आज्ञा का पालन नहीं किया। वे पूर्वजन्मों में अभ्यस्त अनुभव से उत्पन्न संस्कारों से जनित बुद्धिरूप प्रज्ञा द्वारा शब्दादि विषयों को ही सुखसाधन मानने लगे। उन्होंने सुखप्राप्त्यर्थ ज्ञान से अन्य कर्मरूप साधन को अपनाया॥ २८ – २९½॥

प्रजाओं में अधमों ने वेदमात्र में अविश्वास किया, अतः दृष्ट कार्य-कारण का अनुसरण कर पाप एकत्र कर वे तामस योनियाँ ही पा सके। तामसी प्रजा में तमःप्रकर्षानुसारी उत्तमाधम-भाव है अर्थात् तमआधिक्य से उत्तमता व तमोन्यूनता से अधमता। अथवा विपरीत भी समझ सकते हैं। तमोभूयस्त्व से पापभूयस्त्व तथा तमोल्पता से पापाल्पता होने से फल भी इन्हें विविध मिल जाते हैं। वेद में श्रद्धा न होने का कारण चित्त में पापसंस्कारों का होना है क्योंकि श्रुति ने कहा है 'पाप से पाप होता है'। 'पाप से' अर्थात् पूर्वार्जित पापवासना से। प्रश्न होता है कि यदि पूर्वपापवासनावश इस जन्म में भी पाप होगा तब तो पुनः भावी जन्म में भी पापवासना ही रहने से पाप ही होगा एवं च पापशृंखला ही बनने से कल्याण असंभव होगा? उत्तर है कि यदि वर्तमान जन्म के कर्म नियमतः इससे अगले जन्म में अभिव्यक्त होते तो ऐसी समस्या आती किंतु ऐसा होता नहीं क्योंकि हर जन्म में संचित कर्मों में से कुछ की ही अभिव्यक्ति होती है। इसलिए अगले जिस भी जन्म में सत्कर्माभिव्यक्ति से सत्प्रवृत्ति होगी, तभी से कल्याण संभव हो जायेगा। तात्पर्य है कि जिसे जब भी वेदश्रद्धा हो उसे तभी समग्र सामर्थ्य से सत्संस्कार अर्जित करने चाहिये ताकि संचित में सत्कर्म ही अधिक हों, इस विषय में आलस्य करें तो न जाने कितने जन्मों बाद पुनः सत्कर्म करने का मौका मिले! अतः संशय हो तो भी सत्संस्कार ही एकत्र करना बुद्धिमानी है। जो प्रजायें तामस से भिन्न थीं उन्होंने यद्यपि सनकादि का ज्ञानोपदेश तो अनसुना किया

---

१. श्रुतौ भवतिपदं पूर्वमस्तीहान्वयानुसारेणानन्तरमुक्तम्।

अहस्तपादवागादिः सुखहीनोऽतिदुःखितः। पक्षिणो हस्तहीनास्तेऽधीन्द्रिया अपि पादपाः॥ ३२॥
वाचा विशदया हीनाः पशवस्तूभयेऽपि हि। पादादिहीनाः सर्पाद्याः प्रसिद्धाः सर्वदेहिनाम्॥ ३३॥

अहस्तेति। तथा अहस्तपादवागादिः व्यवस्थया सुखहीनोऽतिदुःखितश्च। व्यवस्थां स्फुटयति सार्द्धेन — पक्षिणो हस्तहीनाः। पादपास्तु अधीन्द्रियाः अल्पार्थे नञ्, अल्पानि अस्फुटानि धीन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि येषामित्यर्थः; अतो न पुराणान्तरविरोधः[1]। अपि- शब्देन कर्मेन्द्रियहीनाः॥ ३२॥ वाचेति। उभयेपि ग्राम्या आरण्याश्च पशवो विशदया वाचा हीना अवाच एव, नञोल्पार्थताया उक्तत्वात्। सर्पाद्याः पादादिहीनाः प्रसिद्धाः। अत्र तामसा एता योनीः प्राप्नुवन्तीत्येतावद्विवक्षितं, न तु मनोवाक्कर्मणां योनीनां च क्रमो विवक्षित इति[2] मन्वादिस्मृतिविरोधः॥ ३३॥

तथापि वेदोक्त कर्म में श्रद्धा रखी। तामस प्रजा ने तो लौकिक कर्मों को ही पुरुषार्थोपाय मान लिया।

'जैसा संकल्प करता है वैसा कर्म करता है' यह श्रौतन्याय है। शब्दादि विषय को पारमार्थिक मानकर तदनुसार ही प्रवृत्ति होनी निश्चित थी। उससे क्या हुआ यह बताते हैं — शब्दादि विषयों के एकान्तिक उपभोग से होने वाले मन के, वाणी के व शरीर के दोषों के कारण उन प्रजाओं के आकाश में उड़ने वाले पक्षी आदि, भूमि पर उगने वाले वृक्ष आदि और भूमि में बिलों में रहने वाले सर्पादि, ये तीन प्रकार के शरीर उत्पन्न हुए। ये विविध शरीर मनुष्यों के उपभोग्य तथा सदा मारे व काटे जाने वाले हैं॥ ३० - ३१॥

भोग से दोष हो जाते हैं। परद्रव्य की चाहना करना आदि मन के दोष हैं। निष्ठुर शब्द बोलना, गाली देना, निंदा व चुगली करना आदि वाणी के दोष हैं। चोरी, जारी आदि शरीर के दोष हैं। भोग में स्वार्थप्राधान्य होता है। भोग करते हुए, चाहते हुए व स्मरण करते हुए उससे स्वयं को क्या मिला यही प्रमुखतः उपस्थित होता है, अहंकार ही शेषीरूप से भासता है। दूसरा व्यक्ति व पदार्थ शेष अतः गौण ही प्रतीत होता है। इसी कारण से भोगी मन-वाणी-देह से वैसे एवं वही करना बढ़ाता है जैसे व जो उसके अहंकार के अनुकूल हो, अतः त्रिविध दोष फलतः आ जाते हैं। अतः सात्त्विक भोगी निवृत्तिप्रधान सुख ही लेता है। तथापि उत्कट शास्त्रसंस्कार न हों तो उसमें भी ये दोष कुछ मात्रा में आ ही जाते हैं। तामस भोगी में कायदोष चाहे कुछ कम हो, मनोदोष और वाग्दोष तो रहेंगे ही। राजस भोगी में तीनों स्पष्ट हो जाते हैं। इसलिए साधक को आयासपूर्वक भोग से बचना चाहिये। प्रारब्धवश अवश्य भोक्तव्य पदार्थादि से अतिरिक्त कुछ साधनादि निकट ही न रखे तभी यह संभव है। आंतरिक वैराग्य न होने पर भी बाह्य अभोग से भोगसंस्कार तो न्यून होंगे ही, अभोग के संस्कार भी पड़ेंगे। उक्त दोषत्रयवश प्राप्य पक्षी, वृक्षादि योनियाँ मनुष्यों के उपभोग्य हैं क्योंकि मनुष्य उन्हें अपने उपयोगार्थ मारता काटता है यह प्रसिद्ध है। यद्यपि कुछ जानवर और कुछ वृक्ष भी मनुष्य का उपभोग करते हैं, विशेषकर मानवदेह में पनपने वाले कीटाणु आदि मनुष्यशरीर को अपना शेष बना लेते हैं, तथापि उपदेश क्योंकि मनुष्य को दिया जा रहा है इसलिए उसकी दृष्टि से निन्द्य योनियों का उल्लेख है ताकि वह उक्त दोषत्रय से बचे।

शास्त्राज्ञा न मानकर पूर्वसंस्कारों से प्रेरित होकर चलने वाला व्यक्ति तन-मन-वचन दोषों से जो शरीर मरने के बाद प्राप्त करता है उन शरीरों में उसे कितना कष्ट होता है, यह बताते हैं — त्रिविध शरीर हाथ, पैर, वाणी आदि से वंचित होने से अत्यल्प सुख वाले और अत्यधिक दुःख वाले हैं। पक्षी हाथरहित होते हैं। वृक्ष ज्ञानेन्द्रियों से व कर्मेन्द्रियों से रहित होते हैं। ग्राम्य व जंगली दोनों तरह के जानवर विस्तृत व्यवहार के योग्य वाणी वाले नहीं होते। सर्पादि पैरादि से रहित होते हैं। इस तरह के पक्षी आदि सभी लोगों में प्रसिद्ध हैं॥ ३२ - ३३॥

हाथ आदि से राहित्य दुःखाधिक्य व सुखाल्पत्व के बोधनार्थ है। वृक्ष, पशु आदि में यद्यपि इन्द्रियादि तो होते ही

---

१. पुर्यष्टकगमनस्वीकारात्तत्रेन्द्रियाणामप्यन्तर्भावाद्वृक्षयोनिष्वपीन्द्रियसद्भावस्वीकृतेरावश्यकत्वमिति भावः। २. इति न मन्वादिस्मृतिविरोध इत्येवं नञ आवृत्त्या योज्यम्। 'शरीरजैः कर्मदोषै र्याति स्थावरतां नरः। वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्'॥१२.९॥ इति मनुस्मृतिः। प्रकृते भूवासे काये अन्त्यजानामपि परिग्रहः कार्यः।

राजससात्त्विकयोः प्रकृतिः

अपराश्च प्रजाः काश्चिदतिक्रान्तात्मसाधनाः। वेदोक्तं साधनं सर्वं निजं कर्माभिमेनिरे॥ ३४॥
उपासनं च वह्न्यर्कवाय्वाद्यात्मस्वरूपिणाम्। उक्थादिशब्दबोध्यानां देवतानां च सर्वशः॥ ३५॥
अत्रापि द्वैधमापन्नं प्रजानां फलभेदतः। स्वर्गादिसुखसिद्ध्यर्थं वैदिके ज्ञानकर्मणी॥ ३६॥
चक्रुः, काश्चित् परा जग्मुर्विचार्यैवं परस्परम्।

'नात्यायन् पूर्वे' इत्यंशेन सात्त्विकानां गतिमाख्यातुं राजसानां सात्त्विकानां च प्रकृतिं दर्शयति — अपराश्चेति। अपराः प्रजा वेदोक्तकर्मरूपं साधनं निजम् आत्मना कर्तव्यम् अभिमेनिरे अंगीचक्रुः। कीदृश्यः? अतिक्रान्तात्मसाधनाः आत्मानं साधयति स्वराजं साम्राज्यमिहैव निष्पादयतीति आत्मसाधनं वेदान्तप्रमाणजं ज्ञानम्; 'सिद्ध्यतेरपारलौकिके' (पा.६.१.४९) इत्यात्वम्, नन्द्यादित्वाल्ल्युः (पा. ३.१.१३४); अतिक्रान्तमात्मसाधनं याभिस्तास्तथा॥ ३४॥

उपासनमिति। उपासनं च वेदोक्तं निजं स्वकर्तव्यं मेनिरे। केषाम्? उक्थादिशब्दबोध्यानाम्। आदिपदेनसंवर्गादिपदग्रहः। उक्थादिशब्दार्थानामित्यर्थः। कीदृशानामुक्थादिशब्दबोध्यानाम्? वह्न्यर्कवाय्वाद्यात्मस्वरूपिणाम् — वह्न्यर्कवायव आद्या आत्मानो यस्य स वह्न्यर्कवाय्वाद्यात्मा प्राणः, 'स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुत' (बृ.१.२.३) इति श्रुतेः; तदंशभूतानां सर्वशो देवतानां च। उत्तिष्ठति अनेन सर्वमित्युक्थः प्राणः। संवृणक्ति स्वस्मिन् विलापयति इति संवर्गः स एव। यद्वा, वह्न्यर्कवायवश्च आद्यात्मा चेति द्वन्द्वः; वह्न्यर्केति विराजः, वायुपदेन सूत्रात्मनः, आद्यात्मेति दहरविद्यादिविषयस्य कारणोपाधेरीश्वरस्य ग्रहः। शेषं समानम्॥ ३५॥

अत्रापीति। अत्रापि कर्मोपासनानुष्ठानेऽपि प्रजानां द्वैधं द्विधा द्वयमापन्नम्। फलभेदतः भिन्नफलबोधक-वाक्यद्वैधमालोच्येत्यर्थः; ल्यब्लोपे पञ्चमी। द्वैधं स्फुटयति — काश्चिद् राजस्यः प्रजाः 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः' (तै.सं.२.२.५) इत्यादिवाक्यान्येवालोच्य रजसा गुडजिह्विकान्यायमनवधार्य स्वर्गार्थं कर्मोपासने चक्रुरित्यर्थः। या भगवद्गीतासु 'यामिमां पुष्पिताम्' (२.४२) इत्यत्रोक्ताः॥ ३६॥ चक्रुरिति। पराः सात्त्विक्यः प्रजा एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण विविदिषासम्बन्धबोधकं 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' (बृ.४.४.२२) इति वाक्यं विचार्य कर्मोपासने जग्मुः प्रापुः चक्रुः इति यावत्।

हैं क्योंकि पुर्यष्टक में इंद्रियादि आते हैं व पुर्यष्टक मोक्षपर्यन्त सब योनियों में जाता ही है तथापि गोलक न होने से तथा अन्य कारणों से कहीं कोई इन्द्रिय स्फुट या कार्यकारी नहीं होती यह समझना चाहिये। मनु महाराज ने कहा है कि शरीरदोषों से वृक्षादि, वाग्दोषों से पशु-पक्षी आदि तथा मनोदोषों से अन्त्यज योनियाँ प्राप्त होती हैं। अतः प्रकृत वर्णन में भी वैसे ही व्यवस्था समझनी चाहिये। यहाँ क्रमांतर का बोधन नहीं है केवल इतना ही समझा रहे हैं कि त्रिदोष से अतिकष्ट होता है।

'पहले वालों ने इसका अतिक्रमण नहीं किया' इस ऐतरेयवाक्यांश से सात्त्विकों की गति बताने के लिए राजसों व सात्त्विकों की प्रकृति दिखाते हैं — आत्मलाभ के साधन वेदान्तज्ञान को न अपनाने वाली कुछ और प्रजाओं ने वेद में बताये सब कर्मरूप साधनों को अपना कर्तव्य मान लिया व उक्थ आदि शब्दों से कहे जाने वाले वह्नि, सूर्य, वायु आदि स्वरूप वाले देवताओं की हर तरह से उपासना को भी अपना कर्तव्य मान लिया॥ ३४ - ३५॥

इन प्रजाओं ने केवल आत्मसाधना का अतिक्रमण किया। वेदांत प्रमाण से आत्मज्ञान की उत्पत्ति करने को आत्मसाधना बोलते हैं। इसी जन्म में आत्मा को स्वराट् अर्थात् सम्राट् बना देने वाला होने से आत्मबोध का यह नाम है। उक्थ आदि शास्त्रोक्त उपास्य-बोधक नाम हैं। जिसके सहारे सभी ऊपर उठते हैं वह उक्थ है। प्राण को उक्थ कहा है, उसके सहारे उपासना से सद्गति मिलती है। वह्नि आदि देवता प्राणरूप हैं। इसी प्रकार सुषुप्ति में चक्षु आदि का अपने में संवरण (विलय) करने से अध्यात्म प्राण को संवर्ग कहते हैं। सूर्यादि का संवरण कर लेने से अधिदैव वायु भी संवर्ग है।

विविदिषूणां विचारः

सनकाद्यैर्वेदविद्भिरुक्तं नः साधनं परम्॥ ३७॥

ज्ञानं तत्राधिकारोऽस्ति न कथंचन नोऽधुना। स यश्चात्मा परं ब्रह्म यज्ज्ञानं सुखसाधनम्॥ ३८॥

अतो देहादिसंघातादस्माभिर्न पृथक्कृतः। वेदविद्भ्योऽपि पूर्वेभ्यः पित्रादिभ्यः कथंचन॥ ३९॥

तेषां विचारस्वरूपमाह सार्द्धैकादशभिः — सनकाद्यैः नः अस्मभ्यं परं निःश्रेयसकरं साधनं ज्ञानमुक्तं, तत्र नोऽधिकारो नास्तीत्युत्तरेणान्वयः॥ ३७॥ ज्ञानमिति। वाक्यार्थज्ञानाधिकाराभावे पदार्थज्ञानाभावं हेतुमाह — स शास्त्रप्रसिद्धः, य आत्मा त्वम्पदलक्ष्यः, परं ब्रह्म तत्पदलक्ष्यः, यज्ज्ञानं सुखसाधनं स संघातान्न पृथक्कृत इत्युत्तरेणान्वयः॥ ३८॥

अत इति। पृथक्करणं लक्षणज्ञानाधीनं लक्षणज्ञानं च तस्य लौकिकप्रमाणागोचरत्वात् न जातमित्याहुः— वेदविद्भ्योऽपि पित्रादिभ्यो पूर्वेभ्यो हेतुभ्यस्तद्वाक्येन नावधारितः॥ ३९॥

छांदोग्य में (४.३) संवर्गविद्या व बृहदारण्यक में उक्थविद्या(५.१३.१) का प्रसंग आया है। अथवा वह्नि, सूर्यादि से विराट्, हिरण्यगर्भ और दहरविद्याविषयभूत ईश्वर को समझना चाहिये। विराडादिभावफलक उपासनायें भी शास्त्र में विहित हैं। ईश्वरोपासनाओं में दहरोपासना मुख्य है। 'दहरविद्याप्रकाशिका' में श्री परमशिवेन्द्रसरस्वतीजी ने बड़े विस्तार से दहरविद्या का प्रकाशन किया है। वेदान्तोपयोगी समाधाननामक साधन की प्राप्ति के लिए दहरविद्या का अभ्यास करना चाहिये।

शास्त्रश्रद्धालु प्रजा का अवान्तरविभाजन बताते हैं — कर्म व उपासना के अनुष्ठान में भी भिन्न-भिन्न फलबोधक दो प्रकार के वाक्यों की आलोचना कर प्रजा दो भागों में बँट गयी। कुछ ने स्वर्गादि सुख की प्राप्ति के लिए वेदोक्त उपासना व कर्म का अनुष्ठान किया॥ ३६॥

वेद में स्वर्गादि फल वाले दर्शादि याग वर्णित हैं पर वे त्रर्णन भी शनैः शनैः चित्तशुद्धि कर परमेश्वरप्राप्ति में ही तात्पर्य वाले हैं। प्रजाओं ने उस मुख्य तात्पर्य को समझे बिना कर्म से स्वर्ग पाना ही पुरुषार्थ मान लिया। स्वर्गसुख से लुब्ध होने वाली ये राजसी प्रजायें थी। रजोगुण लोभ का कारण है। गीता में भी वर्णन है कि जो वेद का अर्थ समझे बिना केवल उसकी बातें करते हैं वे लोग वेद का अभिप्राय फूलों जैसी विविध भोग-प्राप्ति में ही बताते हैं और उस भोगलाभ से भिन्न जो अभोक्ता परमात्मदेव है उसका निषेध करते हैं। ऐसे लोग कर्मकाण्ड में फँसे रहते हैं।

सात्त्विक प्रजा ने क्या किया यह बताते हैं — कुछ अन्यों ने आपस में यों विचार कर आत्मज्ञान के लिए उपासना व कर्म किये॥ ३६½॥

इन प्रजाओं ने वेद के उन वाक्यों पर ध्यान दिया जिनमें कर्म-उपासना को आत्मज्ञान का साधन बताया है। साक्षात् न सही, मुमुक्षादि उत्पादन द्वारा कर्म-उपासना आत्मज्ञान का उपाय बन सकते हैं बशर्ते उन्हें इसी उद्देश्य से किया जाये या भगवान् की प्रसन्नता के लिए किया जाये।

उन्होंने जो विचार किया वह अब साढे ग्यारह श्लोकों में बताया जायेगा — वेदवेत्ता सनकादि ने हमें पुरुषार्थप्राप्ति का परम साधन ज्ञान बताया था, किंतु उस ज्ञान में अभी हमें किसी तरह अधिकार नहीं है, क्योंकि जो आत्मा परब्रह्म है, जिसका ज्ञान मोक्ष का उपाय है उसे हमने शरीरादिसंघात से अभी पृथक् नहीं किया है और न अपने शास्त्रज्ञ पूर्वजों से हमने उसे समझा है॥ ३७ - ३९॥

वाक्य का अर्थ समझने के लिए उसमें प्रयुक्त पदों का (शब्दों का) अर्थ जानना ज़रूरी होता है। जीव-ईश्वरबोधक पदघटित महावाक्य का अर्थ तभी समझ आये जब वाक्यघटक पदों के परस्पर अन्वययोग्य अर्थ का स्फुरण हो। शरीरादि से असङ्कीर्ण प्रत्यक् तथा विभूतिआदि से असम्बद्ध पराग् आत्मा तादृश अर्थ हैं। जब तक इन्हें सम्यक् समझा न जाये,

वाक्यार्थज्ञान में अधिकार नहीं आता। आत्मा को शरीरादि से पृथक् करने का मतलब उसके वैसे होने का निश्चय होना है। मिली-जुली वस्तुओं को अलग तब कर सकते हैं जब उन वस्तुओं के लक्षण पता हों। आत्मपदार्थ लौकिक प्रमाणों का अविषय होने से लक्षणज्ञान ही हम लोगों को होता नहीं। शास्त्रोक्त पद्धति से विचार करने पर ही लक्षण समझ आ सकता है और उसके लिए पूर्वाचार्यों के उपदेश की ज़रूरत है। भोगलम्पट होने से इस विषय में हम पूर्वाचार्यों से प्रश्न करते नहीं तथा कृपावश दिये उनके उपदेश की ओर ध्यान देते नहीं अतः पदार्थबोध होता नहीं। प्रश्न होता है कि लौकिकप्रमाण का अविषय आत्मा है ऐसा मानना ही क्यों? शास्त्र तो कर्ता-भोक्ता आत्मा का प्रतिपादक भी समझा जा सकता है और प्रायः सभी व्याख्याता शास्त्र का ऐसा ही अभिप्राय कहते भी हैं। यदि कथंचित् बादरायणादि के अनुसार उसका तात्पर्य अकर्ता आदि स्वरूप वाले आत्मा में मानें, तो भी प्रत्यक्षादिविरोध होने से शास्त्र अप्रमाण ही मानना चाहिये या यजमान प्रस्तरादि वाक्यों की तरह उपचरितार्थक मानना चाहिये। अतः कर्मादि से भोगलाभरूप क्लृप्त पुरुषार्थ से अतिरिक्त ज्ञानप्रयुक्त अभोगात्मक पुरुषार्थ की कल्पना क्यों की जाये? इस प्रश्न का उत्तर है कि आत्मा कर्तादिरूप से भी तो लौकिक प्रमाण का विषय नहीं है। क्रियावान् कर्ता होता है, कृतिमान् को कर्ता मानने में कोई प्रमाण नहीं। क्रियावान् देहादि ही है व उसका आत्मत्व है नहीं क्योंकि न तो उसका आत्मत्व प्रत्यक्ष है और न उसे आत्मा मानने से प्रत्यभिज्ञादि उपपन्न होते हैं। कुछ लोग मन से आत्मा का प्रत्यक्ष मानते हैं तथा वह प्रत्यक्ष कर्ता-भोक्ता आत्मा का होता है ऐसा कहते हैं। वे भी कर्ता आत्मा का मानस प्रत्यक्ष सिद्ध कर नहीं सकते क्योंकि उक्तविधया आत्मा में कर्तृत्व संगत नहीं होता। अतः कुछ अन्य तार्किक आत्मा को केवल भोक्ता मानना चाहते हैं। किन्तु भोक्ता आत्मा भी प्रत्यक्षसिद्ध नहीं: भोग का सदा ज्ञान होता है, अज्ञायमान भोग में प्रमाण नहीं। ज्ञान आत्मा को ही होता है। एवं च भोग ज्ञान का विषय है जिसे आत्मज्ञान विषय करता है। विषय कभी विषयी का विशेषण होता नहीं क्योंकि ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं। बल्कि विषय को विषयी का विशेषण (तत्स्वरूपान्तर्निविष्ट) मानने पर उसमें अविषयत्वप्रसंग होने से विषय की ही सिद्धि न होगी क्योंकि स्व में स्वकी विषयता असंगत है। एवं च भोग आत्मविशेषणतया प्रत्यक्ष हो नहीं सकता। फलतः आत्मा को कर्ता-भोक्ता मानने में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं। अतएव तन्मूलक प्रमाणान्तर भी नहीं। अतएव शास्त्र भी उसे वैसा बता नहीं सकता। कुछ मूर्खों का वैसा प्रलाप तो सर्वथा उपेक्ष्य है। लौकिक प्रत्यक्ष से असिद्ध होने से ही अनधिगतता के कारण शास्त्र वैसा बोध कराता है, यह भी अति-मन्द प्रज्ञा है क्योंकि प्रमाण के बिना जो निश्चय है ही उसे पुनः प्रमाण से उत्पन्न करने में शास्त्र का क्या प्रयोजन? जो तो कुछ कुबुद्धि कहते हैं कि बादरायणादि के वाक्यों से जो आत्मा को अकर्तादि मान ले उसके लिए शास्त्र सार्थक हो जायेगा, उन्हे भी आत्मा को कर्तादि जताने वाला शास्त्र कोई मिलता नहीं एवं अकर्तादि बताने वाले शास्त्र के उपक्रमादि का विचार किये बिना वे खींच-तान कर उसे अन्यपरक कहते हैं, अतः उनकी अनर्गल बातें भी ध्यान देने योग्य नहीं हैं। इस प्रकार मानान्तर-विरोध न होने से शास्त्र न अप्रमाण है न उपचरितार्थ किंतु तात्पर्यनिर्णायकलिंगानुसार अद्वितीय अकर्तादि का प्रतिपादक है। आत्मा को ज्ञान होता है — इससे आत्मा ज्ञानभिन्न है ऐसा जो मानते हैं उन्हे भी भ्रांत जान लेना चाहिये। ज्ञानरहित आत्मा सिद्ध होता नहीं क्योंकि सिद्ध होने के लिए आत्मा में ज्ञान चाहिये। अतः कभी भी निर्ज्ञान आत्मा उपलब्ध न होने से उसे ज्ञानेतर नहीं मान सकते। 'मुझ में ज्ञान है' प्रतीति तो 'नमक में लुनाई है' आदि की तरह भ्रम से संभव है। आत्मा को ज्ञान मानने में श्रुतिसंमतिरूप अनुकूल तर्क भी है ही। इस प्रकार अकर्ताबोधक वाक्यों का प्रामाण्य अखण्डित है। जो तो क्लृप्त व कल्प्य पुरुषार्थों का प्रश्न है, उसका उत्तर है कि निर्विशेष होने से ही आत्मा निर्विशेष ही मुक्त हो सकता है अतः भोगादि सविशेष स्थिति मुक्ति ही नहीं, क्लृप्तता की तो बात ही कहाँ? अनात्मसम्बंध ही बन्धन है, भोगादि ऊपरोक्त रीति से अनात्मपक्षपाती हैं अतः उनके रहते मोक्ष असंभव है। तथा स्वरूपनिष्पत्तिरूप मोक्ष ही नित्य होना संभव होने से एवं स्वरूपनिष्पत्ति ज्ञानेतर उपाय से असंभव होने से ज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र उपाय निश्चित होता है। अतः महावाक्यार्थ-बोध के लिए उपयुक्त पदार्थों के ज्ञान के लिए प्रयास सुसंगत है।

विचार करती हुई प्रजाओं ने और क्या सोचा, यह बताते हैं — मन की प्रवृत्ति करने में कुशल हम लोगों ने मन

बुद्धिमद्भिर्न चास्माभिः स्वयं बुद्ध्याऽवधारितः। मनसा कल्पितो नापि मनश्चारविशारदैः॥ ४०॥
घ्राणादिभिर्न वाऽऽघ्रातः कुतश्चिद् देहमन्दिरे। [1]चक्षुरादिभिरप्येष दृष्टः स्वप्नेऽपि नैव हि॥ ४१॥
प्रज्ञेत्यादिश्रुतेर्वाक्यैर्विज्ञातो निर्गुणो न च। अस्माभिश्च स्वशिष्येभ्यो नोपदिष्टोऽस्ति निर्गुणः॥ ४२॥
किन्तु देहात् पृथग्भूतः पुण्यापुण्यफलोपभुक्[2]। अस्त्यात्मेति तथा श्रोता मन्तेत्यादिश्रुतिर्जगौ॥ ४३॥
न विरागं वयं प्राप्ता यागाध्ययनकर्मसु। मुनयः कावषेया[3] वा अग्निहोत्रान्तराद्यथा॥ ४४॥

बुद्धिमद्भिरिति। बुद्ध्या नावधारितः। मनश्चारविशारदैः मनःप्रवृत्तिकुशलैर्मनसाऽपि न कल्पितः॥ ४०॥

घ्राणादिभिरिति। घ्राणमादिः कारणं यासां वृत्तीनां ता घ्राणादयस्ताभिः। एवं चक्षुरादिभिरिति। शेषं स्पष्टम्॥ ४१॥

ननु प्रमाणान्तरागोचरत्वेऽपि 'प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐ.३.३) इत्यादिवाक्यान्निर्धार्यताम्? अत आहुः — प्रज्ञेत्यादीति। किमिदं सगुणपरं निर्गुणपरं वेति संशयप्रतिबन्धात् तदपि कर्तुं न शक्नुम इति भावः। यदि कश्चिद् ब्रूयाद् 'भवन्तो ज्ञात्वा गोपायन्ती' ति, तं प्रत्याहुः — अस्माभिरिति। 'ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत' (भागवत.१.१.८) इति प्रसिद्धेनैवं शक्यमिति भावः॥ ४२॥

कियत्तर्हि भवद्भिर्ज्ञातमित्यत आहुः — किन्त्विति। स्थूलदेहात्पृथग्भूतः पुण्यपापफलभुगात्माऽस्तीत्येतावन्मात्रं जानीमः। अत्र 'श्रोता मन्ता विज्ञाता द्रष्टादेष्टाघोष्टा सर्वेषां भूतानामन्तरः पुरुषः' ( ) इति श्रुतिरप्यनुकूला भातीत्याहुः — श्रोतेत्यादि॥ ४३॥

तर्हि गुरूपसत्तिर्निर्णयाय क्रियताम् इति शंकिते, वैराग्याभावात्तत्रापि नास्माकमधिकार इत्याहुः — न विरागमिति। कवषस्य अपत्यानि, 'शुभ्रादिभ्यश्च' (४.१.१२३) इति ढक्, कावषेया मुनय आन्तराग्निहोत्रविदः; अन्यदग्निहोत्रमग्निहोत्रान्तरं बाह्याग्निहोत्रं तस्माद् यथा विरागं प्राप्ता, एवं वयं यागाध्ययनकर्मसु न विरागं प्राप्ताः; वैयधिकरण्येन दृष्टान्तः। आन्तराग्निहोत्रं च वाक्प्राणयो र्व्यापारे परस्परविलयनचिन्तनात्मकं कौषीतकिशाखायां (कौ.उ.२.५) प्रसिद्धम्॥ ४४॥

से भी उसकी (आत्मा की) कल्पना नहीं की। बुद्धिमान् होते हुए भी हमने आत्मविषयक निश्चय किया नहीं। घ्राणादि इन्द्रियों से हमने शरीर में आत्मा का प्रत्यक्ष किया नहीं। सपने में भी हमने इसे नहीं देखा है॥ ४० – ४१॥

यदि अन्य प्रमाणों से उसे विषय नहीं कर पा रहे तो 'प्रज्ञा प्रतिष्ठा है, प्रज्ञान ब्रह्म है' आदि उपनिषद्वाक्यों से क्यों नहीं उसका निर्धारण कर लेते? इस प्रश्न पर प्रजायें कहती हैं — 'प्रज्ञप्ति प्रतिष्ठा है' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से निर्गुण आत्मा हमने न जाना और न उसका अपने शिष्यों को उपदेश दिया॥ ४२॥

उक्त एवं ऐसे अन्य श्रौत वाक्य सगुणपरक हैं या निर्गुणपरक — ऐसे संशयरूप प्रतिबंधक के कारण प्रजायें उक्तादि वाक्यों से निश्चय कर नहीं पायीं। यह न समझा जाये कि प्रजाजन गैरजानकारी का नाटक कर रहे हैं इसलिए कहा कि उन्होंने शिष्यों को भी वह तत्त्व नहीं बताया है। भागवत में कहा है कि गुरु को चाहिये कि प्रिय शिष्य को रहस्य भी स्पष्ट बतावे। अतः शिष्यों को न बताने से गुरु का अज्ञान पता चलता है। फलतः प्रजाजन अपनी अनभिज्ञता स्फुट कर रहे हैं। वस्तुतस्तु शिष्यों को न बताने से आत्मा के परोक्षज्ञान का भी निषेध किया है: यदि हम परोक्षतया भी निर्गुण तत्त्व जान गये होते तो स्वयं साक्षात्कार न कर पाने पर भी शिष्यों को तो उसका उपदेश दे ही देते ताकि वे उसके अपरोक्षज्ञान के लिए यत्न कर सकें; यह भाव है।

---

१. घ्राणादिना जागरेन्द्रियाण्युक्तानीति चक्षुरादिनेह स्वाप्नेन्द्रियाण्युच्यन्ते। स्वप्नेऽपि कदाचिन्मन्त्रादिलाभो जायते यो न जाग्रदवस्थायां संभवीत्यात्मनो विवेको जागरे न चेत्स्वप्नेऽस्त्वित्याशंक्य तत्राप्यसावसम्भवीत्याह — चक्षुरादिभिरिति।

२. पुण्यादिकर्तृतत्फलभोक्तृ चात्मतत्त्वमबोधीत्यर्थः।

३. 'एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहु ऋषयः कावषेया किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे' इति काचिच्छ्रुतिः सूत्रभाष्यादौ (३.४.९) दृश्यते।

शरीरं ब्रह्मबोधार्थं सर्वेषामिह देहिनाम्[1]। निर्मितं यत एतस्मिन् प्रपदाग्रात् शिरोवधि॥ ४५॥
ऊरूदरोरःस्थानेषु प्रविष्टं[2] तदिति श्रुतिः। तत्रापि पौरुषो देहः सम्पन्नाखिलसाधनः॥ ४६॥

यद्येवं, कर्मैव स्वर्गार्थं कर्त्तव्यमिति चेत्? तर्हि जन्मवैफल्यापातः, 'न चेदवेदीन्महती विनष्टिः' (के.२.५) इति श्रुतेरित्याहुः — शरीरमिति सार्द्धद्वयेन। सर्वेषां देहिनां शरीरं ब्रह्मबोधार्थं निर्मितमित्यन्वयः। तत्र हेतुः — यत इत्यादि। पादस्याग्रम् अंगुलीपंचकात्मकं प्रपदम्, तस्याग्रं नखाग्ररूपं, तदारभ्य; ल्यब्लोपे पंचमी॥ ४५॥ ऊरूदरोरःस्थानेष्विति। गुहान्तःप्रविष्टदीपस्योत्तरोत्तरं प्रकाशाधिक्यं द्वारतः प्रकाशाल्पत्वं प्रसिद्धम्, तथाऽऽत्मनो हृदयादावुपलब्ध्याधिक्याभिप्रायेण सर्वगतस्याप्यात्मन उत्क्रान्तिप्रवेशयोः प्राणोपाधिकत्वम्; प्राणस्य च पादाग्रमारभ्य प्रवेशः स्फुटीकरिष्यते, तदभिप्रायेण वा पादाग्रमारभ्य प्रवेशोक्तिः। श्रुतिः 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' (बृ.१.४.७) इत्याकारा। ब्रह्मरन्ध्रद्वारा प्रवेशाभिप्रायस्तु वक्ष्यते।

तत्रापीति। तत्र देहेषु पौरुषो देहो विशदात्मावबोधाय स्पष्टात्मज्ञानायेत्युत्तरेणान्वयः। यतः सम्पन्नानि अखिलानि आचार्यशास्त्रादिरूपाणि साधनानि यत्र स तथा॥ ४६॥

फिर आप लोगों ने कितना समझा है? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं — पुण्य-पाप का फल भोगने वाला, स्थूल देह से भिन्न कोई आत्मा है, इतना ही हम जानते हैं। आत्मा कर्ता-भोक्ता है इस संबंध में 'श्रवण करने वाला, मनन करने वाला, निश्चय करने वाला, देखने वाला, आदेश देने वाला, उद्घोष करने वाला सभी प्राणियों के भीतर पुरुष है' इस अर्थ को बताने वाली श्रुति को भी हमने अनुकूल समझा है।

तो आत्मस्वरूप के निर्णय के लिए गुरु की शरण क्यों नहीं लेते? इस प्रश्न पर कहते हैं — जैसे कावषेय मुनि बाह्य अग्निहोत्र से विरक्त हो गये थे ऐसे हम याग, अध्ययन व अन्य कर्मों से वैराग्य नहीं पा चुके हैं॥ ४४॥

बिना वैराग्य के गुरु की शरण ली नहीं जा सकती। अपने अहंकार को छोड़े बिना दूसरे की बात मानें कैसे? अपने आग्रह से हम कार्यरत हैं। यागादि अनुष्ठान प्रवृत्तिप्रधान है, उसी में हम लोग व्यस्त हैं। निवृत्तिप्रधान वैराग्य होना ही हममें संभव नहीं। अतः गुरुशरणरूप उपाय से हम वंचित हैं। ऐसा प्रजाओं का अभिप्राय है। कावषेय तुर् नामक ऋषि वंशब्राह्मण में (बृ.६.५.४) आये हैं। कवष के अपत्य कावषेयों का प्रसंग सूत्रभाष्य में (३.४.९) सूचित है। वहाँ बताया है कि जानकार होने से कावषेयों ने कहा 'हम अध्ययन एवं यज्ञ किस लिए करें?' इसलिए वाक् और प्राण के परस्पर होमात्मक अग्निहोत्र को जानने वाले प्राचीन उपासकों ने अग्निहोत्र होम नहीं किया। आंतर अग्निहोत्र कौषीतकी में (२.५) बताया है। कावषेयों को बाह्याग्निहोत्र से वैराग्य था इसलिए उन्होंने उसे छोड़ दिया किंतु प्रजागणों को कर्म से वैराग्य नहीं था इसलिए कर्म का सहारा वे छोड़ न पाये। बिना अन्य सहारा छोड़े गुरु का सहारा ले नहीं सकते।

यदि ऐसा है तो स्वर्गलाभार्थ कर्म ही क्यों नहीं करते रहते? इस पर कहते हैं — संसार में सब देहधारियों के शरीर ब्रह्मज्ञान के लिए बने हैं क्योंकि शरीर में पैर के पंजे के नख से सिर तक जांघ, पेट, छाती आदि सब जगह वह परमात्मा घुसा है॥ ४५ - ४५½॥

केवल स्वर्गाद्यर्थ कर्म करें तो मनुष्यजन्म लेना ही व्यर्थ हो जायेगा। 'यदि मानव देह के रहते हुए ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाया तब तो महान् विनाश है' यह श्रुति का कथन है। श्रुति ने ही परमात्मा को प्रपदाग्र से शिर पर्यंत सारे देह में प्रविष्ट कहा है। प्रपद अर्थात् पंजा उसका अग्र अर्थात् नाखून का सिरा। वहाँ से लेकर सारे शरीर में वह व्याप्त है। गुहा में प्रविष्ट दीपक का प्रकाश आगे-आगे अधिक होता है, दरवाज़े पर कम होता है, इसी प्रकार आत्मा की उपलब्धि हृदय

---

१. ननु मनुष्याधिकारत्वात्सर्वेषां देहिनामिति कुतः? उत्तरार्द्धेन पुरुषकर्त्तव्यताख्यापनात्प्रशंसार्थतया सर्वदेहिग्रहणमित्यदोषः। यद्वा, इह मनुष्येषु देहिनां देहाभिमानवतां, निरभिमानिनां तादात्म्याध्यासाभावादप्रवेश इति बोध्यम्। २. तदिति प्राणरूपं ब्रह्मोक्तं मन्तव्यम्। यद्वा परमेव तदिहोक्तमुपनिषदुक्तप्राणप्रवेशस्याऽभिधास्यमानतयेहाऽग्रहणेप्यदोषाज्जीवन्मुक्तिसुखप्राप्तिहेतवे जन्म धारितमित्यादिस्मृतेरेवेहत्यार्थोपपत्तेरिति।

विशदात्मावबोधाय स्यादाविरिति हि श्रुतिः। कर्तव्यं हितमस्मभ्यं तैश्चोक्तं श्रुतिसम्मतम्॥ ४७॥
अशक्यं चेति विज्ञाय तूष्णीमिह समागताः। ततोऽधिकारसम्पत्त्यै कुर्महे ज्ञानकर्मणी॥ ४८॥

*विशदे*ति। अत्र आविः अपरोक्षः *स्याद्* इति इत्यर्थिका हि यतः *श्रुतिः* 'पुरुषत्वे चाविस्तरामात्मा' इत्याकारा। तर्हि यदत्र शरीरे सम्पाद्यं तदन्विष्यताम्; अत आहुः — कर्तव्यमिति। श्रुतेः सम्मतं हितं च यत् कर्तव्यं तदस्मभ्यं तैः सनकाद्यैरुक्तम्॥ ४७॥

तदतिक्रमः किं कृतः? अत आहुः — अशक्यमिति। नास्माभिरतिक्रमः कृतः किन्तु कथमस्माकमत्र अधिकारः स्याद्? — इति चिन्तया इहागताः। तूष्णीम् चिन्तया स्तब्धवाचः। ततः चिन्तया स्मृतात् 'तमेतम्' (बृ.४.४.२२) इत्यादिवाक्याद्; अधिकारसम्पत्त्यै अधिक्रियते फलेन सम्बध्यतेऽनेनेत्यधिकारः साधनचतुष्टयं तस्य सम्पत्तिः कल्मषात्मकप्रतिबन्धराहित्यं, तदर्थम्; ज्ञानकर्मणी उपासनकर्मणी कुर्महे। पापानि हि शुभप्रवृत्तिप्रतिबन्धकानि, सत्कर्माणि च तन्निवर्तकानि। तथा च श्रुतिस्मृती — 'पापः पापेन भवति' (बृ. ३.२.१३) इति।

'कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं च परमा गतिः। कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते'॥ (सूत्रभाष्ये ३.४.२६)॥ इति। एतावता 'नात्यायन्नि' त्यंशो व्याख्यातः। पूर्वे सनकादयो नात्यायन् तन्निष्ठा एव बभूवुरित्यप्यर्थोऽनुसन्धेयः॥ ४८॥

में अधिक स्पष्ट होती है अतः आत्मोपासना के लिए हृदय उत्तम स्थान है। यद्यपि आत्मा सर्वगत है, स्व-रूप से वह न कहीं प्रवेश करता है न कहीं से निकलता है, तथापि आत्मा का प्रवेश और निर्गमन प्राणोपाधिक हो जाता है। जैसे आकाश का गमनादि न होने पर भी घटाकाश का गमनादि हो जाता है वैसे प्राणावच्छिन्न आत्मा का भी जानना चाहिये। अनेक संगतियों के लिए एक अनिर्वचनीय घटाकाश की उत्पत्ति जैसे माननी पड़ती है, और शिवगीतादि शास्त्र में कही भी गयी है, वैसे प्राणात्मारूप जीव को मानने से व्यवस्था बन जाती है। यद्यपि प्राणप्रवेश और आत्मप्रवेश का पृथक्-पृथक् प्रसंग है तथापि उसका अभिप्राय स्वयं ग्रंथकार आगे स्पष्ट करेंगे। प्राण का स्वतंत्र प्रवेश यहाँ कहा गया हो यह संभव नहीं क्योंकि जड का ऐसा प्रवेश हो नहीं सकता।

सभी देहों में आत्मा समान है पर मानवदेह में उसे समझने की विशेष संभावना है इस अभिप्राय से कहते हैं — उन शरीरों में भी मनुष्य देह आत्मा के स्पष्ट ज्ञान के लिए पर्याप्त है क्योंकि इसमें शास्त्र, आचार्य आदि सब साधन जुट जाते हैं और श्रुति ने भी बताया है कि पुरुष को स्पष्टतर आत्मबोध होता है। सनकादि द्वारा वेदसंमत हितकारी कर्तव्य हमें बताया गया था॥ ४६ - ४७॥

मूल में 'पौरुषो देहः' कहा है। 'पुरुषावात्ममानवौ' तथा 'मनुष्या मानवा मर्त्या मनुजा मानुषा नराः' इत्यादि अमरानुशासन से पौरुष से मानव समझना चाहिये। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को अध्ययन, कर्म आदि में विशेष मौका होने से मनुष्यों में भी उनकी विशेषता है, यह बात पृथक् है। फिर भी क्योंकि शास्त्र मनुष्याधिकारक कहा गया है इसलिए औपनिषद आत्मबोध में मनुष्यमात्र अधिकारी है। वेदपूर्वकत्व और तदपूर्वकत्व का भले ही विशेष हो। यदि हरिवर्षादि प्रदेशों के वासियों को मनुष्य न मानकर भोगयोनिविशेष ही मानें, तो भी पूर्वश्लोक से उन्हे अधिकार मिल सकता है। विवेकादिसमर्थ जो कोई भी जीव है वह यत्न करे तो ज्ञानाधिकारी है यही सिद्धांत है।

यदि आप लोग इतना सब समझते हैं तो सनकादि के उपदेश का, ज्ञान का, अतिक्रमण आप लोगों ने क्यों किया? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं — किन्तु वह ज्ञान हमसे हो नहीं सकता यह जानकर उसे करने की योग्यता कैसे पायें यह जानने के लिए चुपचाप यहाँ इकट्ठे हुए हैं। यहाँ विचारपूर्वक श्रुति से उपाय जानकर अधिकारलाभ के लिए उपासना व कर्म करना हमने प्रारंभ कर दिया है॥ ४८॥

तात्पर्य है कि अतिक्रमण तब होता यदि हम समर्थ होते हुए उनके उपदेश का पालन नहीं करते। किन्तु हम तो असमर्थ हैं। इसलिए हमने अतिक्रमण किया ऐसा नहीं। इससे द्योतित किया कि हमारा पराभव नहीं होगा। अतः उपदेश

अधिकारिणां गुरूपसत्तिः

इति संचिन्त्य संचक्रुस्ताः प्रजा ज्ञानकर्मणी। ततो विशुद्धहृदयाः प्राप्यैतानृषिसत्तमान्॥ ४९॥
मुमुक्षवस्तत्समाना आत्मज्ञानविवर्जिताः। स्वाशयं त्वखिलं तेभ्य ऊचिरे ब्रह्मबुद्धये॥ ५०॥

अथाधिकारिसिद्धिपूर्वकमुपनिषद्व्याख्यामवतारयति — इति संचिन्त्येत्यादिपंचभिः। स्पष्टम्॥ ४९॥

मुमुक्षवइति। तत्समानाः — शमदमादयो हि जीवन्मुक्तानां लक्षणानि मुमुक्षूणां च साधनरूपाणि। तदुक्तम् 'बुद्धाऽद्वैतसतत्त्वस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः। अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः'॥ द्र. नै. सि. ४.६९; पंचदशी ४.५५॥ इति। विशेषमाह — आत्मज्ञानेति। स्वाशयम् 'सोहं भगवः शोचामि तं मां भगवान् शोकस्य पारं तारयतु' (छां. ७.१) इति श्रुतिसिद्धम्। शेषं स्पष्टम्॥ ५०॥

का पालन करने की योग्यता पाने का उपाय खोजने के लिए ही हम सब एकत्र हुए हैं। यद्यपि हममें से प्रत्येक इस विषय में अल्पज्ञ है तथापि मिलकर किसी से कुछ, दूसरे से कुछ और इस प्रकार इस विषय में काफी जानकारी मिलेगी यह हमारा अभिप्राय रहा। एक दीपक प्रौढ प्रकाश न कर पाये पर सौ मिलकर करते देखे ही जाते है। उपाय सोचने में एकाग्रता से हम चुपचाप थे। चिंतन करते करते ख्याल आया कि वेद ने कहा है 'वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप व अनशन से ब्राह्मण लोग उस इस आत्मा को जानना चाहते हैं।' 'चाहना' अपने में तो कोई फल नहीं हो सकता इसलिए चाहरूप प्रेरक पाकर जान लेते हैं यही इस वाक्य का तात्पर्य संभव है। अतः चाहप्राप्ति से वह स्थिति समझनी चाहिये जिसमें जानना संभव होगा। उस स्थिति को ही अधिकारशब्द से कहते हैं। जिसके होने पर ही फल से सम्बंध होता है उसे अधिकार कहते हैं। अध्यात्मविद्या में साधनचतुष्टय अधिकार है। किंतु अधिकार मिल कर भी यदि प्रतिबद्ध हो तो कार्योपधायक नहीं होता। अतः उसका प्रतिबंध करने वाले पापों की निवृत्ति भी करें तब कहा जाता है अधिकारसंपत्ति प्राप्त हुई। इसलिए हमने अधिकारसंपत्ति के उद्देश्य से कर्मोपासना प्रारंभ किये हैं। शुभ कर्मों में प्रवृत्त होने में प्रतिबंधक है पाप और सत्कर्मों से ही पाप निवृत्त होता है। यद्यपि पुण्य का फल पृथक् है, पाप का पृथक्, प्रायश्चित्त से अतिरिक्त पुण्य से पाप निवृत्त होता नहीं तथापि पुण्य कर्मों का अनुष्ठान पापसंस्कारों को दृढ नहीं होने देता प्रत्युत तद्विरोधी संस्कारों को दृढ करता है इसलिए पुण्य से पाप निवृत्त होते हैं ऐसा कहते है। अथवा एक समय एक ही कर्म कर सकते हैं। श्रुति ने भी कहा है 'पुण्य कर्म से पुण्य होता है, पाप से पाप।' स्मृति में बताया है कि 'राग-द्वेषादि कषायों की समाप्ति कर्मों से होती है। परम गति मोक्ष का साधन ज्ञान है। कर्मों से कषाय हटने के बाद तब ज्ञान होता है।' अतः श्रुतिस्मृतिसंमत मार्ग पर हम चल पड़े है। इस प्रसंग में अधिकारप्राप्ति के प्रतिबंधक और प्राप्त अधिकार के प्रतिबंधक पृथक् माने हैं किन्तु दोनों की निवृत्ति कर्म व उपासना से ही मानी है। अप्रतिबद्ध अधिकारप्राप्ति पर्यन्त कर्म व उपासना करने चाहिये यही अभिप्राय है। वस्तुतः विवेक-वैराग्य कर्मप्रवृत्ति में प्रतिबंधक हो जाता है ऐसा प्राचीनों का अनुभव है। इसी से निर्गुणोपासना का विस्तार शास्त्रों में है। यहाँ तक 'पहले वालों ने ज्ञान का अतिक्रमण नहीं किया' इस हिस्से की व्याख्या हुई। 'पहले वालों' से सनकादि भी समझ लेने चाहिये।

अब उपनिषद् की व्याख्या करनी है। अतः अधिकारप्राप्ति होने पर प्रजागणों ने क्या किया यह बताते हैं — पूर्वोक्त विचार कर उन प्रजाओं ने उपासना व कर्म किये। उससे शुद्ध चित्त वाले होकर मुमुक्षु हुए। वे आत्मज्ञानरहित थे किन्तु शमादि का ऋषिवत् अनुष्ठान करते थे। ऐसे वे प्रजागण इन (उपनिषदुक्त) उत्तम ऋषियों के पास पहुँचे और ब्रह्मज्ञान पाने के लिए उनसे अपनी समस्त दुःखमयी स्थिति निवेदित की॥ ४९ - ५०॥

यहाँ अधिकारियों को भी ऋषिवत् कह दिया है। इसका अभिप्राय है कि ऋषि अर्थात् जीवन्मुक्त स्वभाव से जो सच्चर्या करते हैं, अधिकारियों को प्रयास कर उसी चर्या को करना चाहिये। द्वेष न करना आदि विशेषतायें ज्ञानी में बिना यत्न के बनी रहती हैं, 'साधना कर रहा हूँ' ऐसा समझकर वह उनका पालन नहीं करता। किंतु साधक को साधन के रूप में उन्हे करना चाहिये। भगवान् भाष्यकार ने गीताभाष्य में (१८.६६) बताया है कि अनिर्देश्य अक्षर के जो उपासक होते

तेऽपि तद्वचनं श्रुत्वा कृपया परयावृताः। सर्वज्ञा आत्मबुद्ध्यर्थमिदं वचनमब्रुवन्॥ ५१ ॥

ऋषीणामुपदेशः

वयं वक्तुं कथं शक्ता अवाङ्मनसगोचरम्। सच्चिदानन्दमात्मानं ज्ञातुं वा यूयमीदृशाः॥ ५२ ॥

तेऽपीति। तेषामुपदेशप्रवृत्तौ हेतुमाह — कृपयेति। स्पष्टम्॥ ५१ ॥

वयमिति। 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचद्' (ऋ.सं. १.३०.६) इति श्रुतेर्जातिगुणक्रियानाम्नां तत्रासम्भवात्, मनोवचसोः साक्षात्तत्र प्रवृत्तिर्न सम्भवतीति भावः॥ ५२ ॥

हैं उनके लिए 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' से प्रारंभ कर पूरे अध्याय में कहे गये साधन तथा क्षेत्राध्याय आदि तीन अध्यायों में कहे ज्ञानसाधन अनुष्ठेय हैं। अद्वेष्टा आदि से गीता का बारहवाँ अध्याय समझना होगा। क्षेत्राध्याय से तेरहवें के अमानित्वादि समझने होंगे। अध्यायत्रय कहा, अतः चौदहवें के 'प्रकाशं च प्रवृत्तिं च' आदि गुणातीत-लक्षण तथा पन्द्रहवें में 'असंगशस्त्रेण' से 'गच्छन्त्यमूढाः' तक बताये साधन समझने होंगे। अथवा अध्यायत्रय में व्यवहित का भी परिगणन करें तो पंद्रहवें को छोड़कर सोलहवें में कही दैवी सम्पत् को समझ लेना चाहिये। एक प्रश्न उठता है कि क्या ये सब साधन जीवन्मुक्त में स्फुट रहते हैं? इसका उत्तर है प्रायः कमोबेश से ये गुण उसमें रहते हैं पर ऐसा कोई नियम नहीं कि सब जीवन्मुक्तों में ये सब गुण स्फुट दीखें ही। तब यह कैसे कहा कि उसमें ये अयत्नतः होते हैं? जिस ज्ञानी में ये होते हैं उसमें अयत्नतः होते हैं इतना ही अभिप्राय है। यदि रागादि रह ही गये तो जीवन्मुक्त में बद्ध से क्या विशेष हुआ? विशेष तो अविद्यानिवृत्ति का है। रागादि तो क्षेत्रधर्म हैं, अविद्यावश बद्ध स्वयं को रागी आदि जानता है, मुक्त क्षेत्र के रागादि से स्वयं को रागी आदि नहीं जानता यह विशेष है। क्षेत्र में वैशिष्ट्य है ऐसा मानने की आवश्यकता नहीं। तब क्या क्षेत्र का यथेष्टाचरण स्वीकार्य है? क्षेत्र के संबंध में ज्ञान निरूपित कोई प्रतिबंध प्रतिपादित नहीं अतः यथेष्टाचरण के निषेध के लिए प्रयास करने की जरूरत नहीं। विद्यारण्य मुनि आदि ने इस विषय को स्पष्ट किया है कि ज्ञान मिलेगा शुद्धचेता को इसलिए ज्ञान के बाद भी चित्त तो शुद्ध बना ही रहेगा जिससे यथेष्टाचरण आदि का प्रसंग ही कहाँ है! किंतु किसी प्रतिबंधवश यथेष्टाचार-निषेध स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं। ऐसा कहीं कहा नहीं कि जिस मन में अविद्यानिवर्तक अखण्डवृत्ति बन चुकी हो वह तथा उसका आधारभूत शरीर अमुक करे एवं अमुक न करे। बल्कि यह तो कहा है कि ज्ञानप्राप्ति के बाद किये पाप का असंबंध रहता है इसलिए ज्ञानी के क्षेत्र से पापक्रिया नहीं होगी ऐसा नियम नहीं, प्रायः नहीं होगी यही कहा जा सकता है। हाँ ज्ञानी स्वयं को पाप-पुण्य का कर्ता या सुख-दुःख का भोक्ता जानेगा नहीं यह निश्चित कह सकते हैं। जैसे नारदजी ने कहा था 'हे भगवन्! इतना पढ़कर भी मै शोक में पड़ा हूँ, मुझे इस शोक सागर से पार कर दें।' (छा.७.१) ऐसे ही इन प्रजागणों ने अपने गुरुओं से कहा। शिष्य अपना अनुभव गुरु को बताये तभी गुरु उसकी स्थिति के अनुरूप उपदेश दे सकते हैं। किंच 'तद्विज्ञानार्थं गच्छेद्' ऐसी वेदाज्ञा है अतः गुरु के संमुख स्पष्ट करना चाहिये 'मैं ब्रह्मबुद्धि के लिए ही आया हूँ।' साथ ही 'अधीहि भगवो ब्रह्म' इत्यादि रीति से उपदेशप्रार्थना करनी चाहिये क्योंकि पूछने पर बताया जाये यही सामान्य नियम है।

प्रजाओं की प्रार्थना सुनकर ऋषियों ने क्या किया यह बताते हैं — सर्वज्ञ, परम कृपालु ऋषि प्रजाओं के वचन सुनकर उन्हे आत्मबोध कराने के लिए इस प्रकार कहने लगेः जो मन-वाणी का विषय नहीं है ऐसे सच्चिदानन्द आत्मा का उपदेश करने में हम कैसे समर्थ हों? तुम भी उसे जान कैसे पाओगे?॥ ५१ - ५२ ॥

गुरु सच्छिष्य की उपेक्षा न करे, उत्तर अवश्य दे यह सूचित करने के लिए ऋषियों ने उत्तर प्रारंभ किया। प्रारंभ से ही शिष्य परमात्मा को घटादिसमान विषय न समझे इसका ध्यान रखना चाहिये। याज्ञवल्क्य महर्षि ने इसीलिए प्राणादि से प्राणनादि करने वाले के रूप में ही सर्वान्तर साक्षाद् अपरोक्ष आत्मा को समझाया। उषस्त चाक्रायण ने प्रार्थना भी की कि गाय-घोड़े की तरह आत्मा को बताया जाये पर महर्षि ने वैसे उसे बताया नहीं जा सकता यही स्पष्ट किया। साथ ही गुरु का विनय यहाँ प्रकट किया गया है। यद्यपि उपायज्ञ होने से वे जानते हैं कि शिष्य को कैसे समझाना है तथापि उद्धतता

तथापि शास्त्रसिद्धेन व्यवहारेण वोऽधुना। वक्ष्यामः परमात्मानं राजानमिव बन्दिनः॥ ५३॥

का तर्ह्यस्माकं गतिः? अत आहुः — तथापीति। शास्त्रसिद्धेन 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते' (गीताभाष्य १३.१४) इति न्यायसिद्धेन व्यवहारेण लक्षणया बोधनात्मकेन। दृष्टान्तः — राजानमिति। यथा सुप्तं राजानं बन्दिनो बोधयन्ति तथाऽज्ञाननिद्रासुप्तं, वस्तुतः शुद्धम्, आत्मानं वेदान्तास्तात्पर्यरीत्या बोधयन्तीत्यर्थः॥ ५३॥

प्रकट न करने के लिए अपनी असमर्थता व्यक्त की। शिष्य भी अपनी योग्यता पर अतिविश्वासरूप अभिमान कर न ले इसलिए उसके सामर्थ्य को भी शंकित बना दिया। इस प्रकार उत्तर के उपोद्घात में ऋषियों ने काफी रहस्य छिपा रखा है। परमात्मा को जानना एवं उसके बारे में कहना कितना आश्चर्य है यह स्वयं ऋग्वेद में कहा है : 'अरे! इस आत्मा को कौन समझेगा! संसार में इसका उपदेश कौन कर सकेगा!' इसमें कारण भी है। शब्दप्रवृत्ति अपेक्षा करती है जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध में से अन्यतम की। गायशब्द गोत्वजाति के सहारे गायपदार्थ को विषय करता है। श्वेतशब्द गुण के, पाचक शब्द क्रिया के और पिताशब्द सम्बन्ध के सहारे तत्तद् विषय को कह पाते हैं। निर्विशेष परमात्मा में यह चारों न होने से शब्द कैसे विषय करे? इन चारों के बिना भी अंगुल्या निर्देशादि से यदि कह दें 'यह वस्तु डित्थसंज्ञक है', तब भी व्यवहार में डित्थशब्द उस वस्तु को विषय कर लेता है। परमात्मा यदि प्रमाण का विषय होता तो उस प्रमाण से उसे दिखाकर उसका कोई नाम बता देते जो नाम उसे विषय कर लेता; किंतु प्रमाणों का विषय न होने से ऐसा किया नहीं जा सकता। शब्द से निर्दिष्ट क्यों नहीं कर सकते? शब्द से निर्देश का क्या अभिप्राय है? शब्द से तदाकार मनोवृत्ति ही बनती है। निराकार होने से आत्माकार वृत्ति शब्द से क्योंकर बनेगी? तब अखण्डाकार वृत्ति का क्या अर्थ है? आत्मसमान शुद्धादि हो जाना ही मनका अखण्डकार होना है। यह विषय गीताभाष्य में (१८-५०) श्रीमदाचार्यचरणों ने बहुत स्पष्ट किया है। अतः स्वप्रकाश से शब्द का शक्तिसम्बन्ध हो यह नामुमकिन ही है। 'कैसे समर्थ हों?' यही कहा न कि 'समर्थ नहीं हैं', अभिप्राय है कि शब्द की लक्षणाख्य अचिन्त्यशक्ति के सहारे ही समर्थ हैं, सीधे ही शक्ति सम्बन्ध से नहीं।

प्रजाओं ने घबराकर पूछा 'फिर हमारी गति क्या होगी?' इस पर ऋषियों ने जो कहा वह बताते हैं — फिर भी जैसे राजा के विषय में बाँदी बोलते हैं वैसे शास्त्र द्वारा निश्चित ढंग से तुम्हे अब परमात्मा के विषय में बतायेंगे॥ ५३॥

'अध्यारोप-अपवाद से निर्विशेष आत्मा का उपदेश हो सकता है' यह शास्त्रद्वारा निश्चित ढंग है। वस्तुतः अजात (अतः असत्) विश्व के जन्म आदि की व्यवस्था का उपपादन अध्यारोप कहा जाता है। अत एव मूलकार चतुर्थाध्याय में (श्लो.८०७) माया को असत् की प्रतीति का निमित्त बतायेंगे। अध्यारोप के निषेध का ही नाम अपवाद है। श्रीमान् शंकराचार्यों ने सूत्रभाष्य में (३.३.९) कहा है कि जहाँ किसी वस्तु के बारे में पहले मिथ्या निश्चय हो और बाद में उत्पन्न होने वाली प्रमा उसे निवृत्त करे वहाँ अपवादशब्द का प्रयोग होता है। ध्यान देने योग्य यह है कि अध्यारोप में व्यवस्था उपपन्न की जाती है, प्रपंच तो प्रतीति से ही सिद्ध है, उसे प्रमाण या विचार से सिद्ध नहीं करना। केवल उसकी व्यवस्था ऐसी समझनी है कि एकमात्र महादेव से भिन्न वह प्रपंच रह न पाये। अत एव अध्यारोप में विविधता संगत है। वेदांत में अतएव प्रक्रियाओं की बहुतायत है। पर सब प्रक्रियाओं के अध्यारोपभाग में यह समान है कि एक परमेश्वर से अतिरिक्त प्रतीयमान जड-चेतन प्रपंच है नहीं और अपवादभाग में यह समान है कि प्रतीयमान प्रपंच है ही नहीं। अर्थात् अध्यारोप में यौक्तिक दृष्टि प्रधान है व अपवाद में श्रौतदृष्टि प्रधान है। जैसे संख्यादि सूक्ष्म पदार्थों का साक्षाद् उपदेश संभव न होने से पहले द्रव्यादि को संख्या मानकर हिसाब समझाया जाता है व बाद में द्रव्यादि संख्या नहीं बल्कि पदार्थान्तर है यह बताया जाता है, वैसे परमात्मा को पहले कारण रूप से बताकर फिर उसकी कारणता का निषेध किया जाता है। अन्यत्र कारणता अध्यारोप से हट चुकने से अपवाद द्वारा परमात्मा से भी हटने पर वह तुच्छ हो जाती है। आत्मा अविद्याग्रस्त है तो उक्तप्रक्रिया से भी समझ कैसे सकता है? इसके उत्तरार्थ बाँदीदृष्टांत है। सोये राजा को बाँदी गीत आदि से जगाते हैं ऐसा राजमहलों का आचार है। सोये व्यक्ति की इन्द्रियाँ कार्यकारी होती नहीं अतः वह सुने कैसे? फिर भी अनुभव होता है 'मैं गहरी नींद में था, अमुक आवाज़ से उठा।' जैसे यहाँ शब्द व उठने का अचिन्त्य ही कार्यकारणभाव संभव है वैसे

आत्मानात्मपदार्थौ

शब्दबोधौ द्विधा दृष्टौ लौकिकैर्वादिभिस्तथा। अहं नाहमिति प्राज्ञा अर्थद्वैधन्तथाऽनयोः॥ ५४॥

ननु कथं शुद्धमात्मानं बोधयन्ति, तस्य सविशेषत्वेन प्रत्यक्षादिसिद्धत्वाद् इति चेद्? न, सविशेषत्वस्य मायिकत्वाद्—इति बोधयितुं प्रवृत्तम् 'आत्मा' (ऐ.उ.१.१.१) इत्यादि वाक्यं व्याख्यातुमारभमाणस्तत्रात्मनः सर्वदा सत्त्वात् सृष्टेः पूर्वं सत्त्वकथनमनुपपन्नमित्याशंक्य तदभिप्रायं स्फुटयन्, व्यवहारकालिकविलक्षणमारोपाधिष्ठानत्वयोग्यं यदात्मस्वरूपं, तत्परत्वमात्मशब्दस्य दर्शयति — शब्दबोधाविति षड्भिः। हे प्राज्ञाः ! 'अहम्' — इत्याकारकौ, तथा 'नाहम्' — इत्याकारकौ शब्दबोधौ लौकिकैस्तथा वादिभिर्द्विधा दृष्टौ, तथाऽनयोः शब्दबोधयोः अर्थद्वैधं दृष्टमित्यन्वयः। आन्तरमर्थमहमिति शब्दबोधाभ्यामर्थादविवेचिताभ्यां व्यवहरन्ति भ्रान्ताः, तथा बाह्यं सर्वं नाहमिति शब्दबोधाभ्यां यथोक्ताभ्यां व्यवहरन्तीत्यर्थः॥ ५४॥

अविषय आत्मा के अज्ञान से आवृत को शब्द से परमात्मबोध हो जाता है, यहाँ भी अचिन्त्य हेतुहेतुमद्भाव है यह बाँदीदृष्टांत का अभिप्राय है। किञ्च राजा को अपनी महत्ता स्वयं मालूम है, बाँदी उसे ही कहते हैं। आत्मा भी स्वप्रकाश है, शब्द भी यही कहते हैं। जैसे राजा महान् है केवल ऐसा न कहकर अनेक शौर्यप्रसंगों से सूचित किया जाता है कि वह महान् है इसी प्रकार आत्मा को भी लक्षणा से ही सूचित किया जाता है। वस्तुतः शुद्ध जो आत्मा है उसका तात्पर्यरीति से ही बोध उपनिषदें कराती हैं।

आत्मषट्क का आरंभ है 'यह सब पहले एक आत्मा ही था। उससे अतिरिक्त सक्रिय-निष्क्रिय कुछ नहीं था। उस आत्मा ने ईक्षण किया — मैं लोकों को उत्पन्न करूँ।' इस वाक्य से क्या सविशेष का प्रतिपादन है या निर्विशेष का? सविशेष तो प्रत्यक्षसिद्ध है। जो प्रमाणान्तर से अज्ञात हो उसे ही श्रुति बतलाती है। वह यदि सविशेष को बताये तो अज्ञातज्ञापक न होने से प्रमाण नहीं रहेगी। अतः उसे निर्विशेषपरक ही होना पड़ेगा। किंतु यदि सविशेष प्रत्यक्षसिद्ध रहे तो तद्विरुद्ध निर्विशेष शास्त्र का प्रतिपाद्य नहीं हो पायेगा क्योंकि प्रमाणों का विरोध संभव न होने से जैसे 'आग दिन में नहीं दीखती' इत्यादि वेदवाक्य प्रत्यक्षविरुद्ध होने से उपचरितार्थ है वैसे सविशेषविषयक प्रत्यक्ष के विरोधवश निर्विशेषवाक्य भी अन्यार्थ होगा। एवं च निर्विशेषपरता न रहने पर पारिशेष्यात् सविशेषपरता ही होगी और वही अप्रामाण्यापत्ति आ जायेगी। इसलिए शास्त्रप्रामाण्य की अन्यथानुपपत्ति से प्रत्यक्ष को ही भ्रम मानना अनिवार्य है। अतः भ्रम से ज्ञायमान सविशेषता मायिक ही है। इसी बात को स्फुट करने के लिए आत्मषट्क का उपक्रम वाक्य है। इस दृष्टि से इस वाक्य को मूलकार स्वयं समझायेंगे। श्रुति में आये 'पहले' शब्द का अर्थ है सृष्टि से पूर्व। आत्मा तो सदा विद्यमान है, तब सृष्टि से पूर्व में आत्मा की सत्ता क्यों कही जा रही है? बात यह है कि आत्मा शब्द का यहाँ विशेष तात्पर्य है: व्यवहारकाल से विलक्षण होते हुए जो अध्यारोप की अधिष्ठानता के योग्य सच्चिदानन्दस्वरूप है वह यहाँ आत्मा-शब्द का अर्थ है। 'व्यवहारकाल से विलक्षण' कहने से 'पहले' यह कहना संगत है। व्यवहारकाल से तद्वैशिष्ट्य समझना चाहिये। 'अधिष्ठान' इतना ही कहते तो केवल अध्यारोपकालिक आत्मा का ग्रहण होता अतः 'अधिष्ठानता के योग्य' कहा। 'योग्य' से भी यौक्तिक बाध काल में 'अधिष्ठान' इस व्यवहार का विषय समझना चाहिये। आनुभविक बाध से तो अधिष्ठान-व्यवहार भी रहेगा नहीं। इस प्रकार योग्यपर्यन्त तटस्थ लक्षण व सच्चिदानन्दस्वरूप से स्वरूप लक्षण कहा है। स्मरणीय है कि औपनिषद मर्यादा में निर्विशेष परमात्मा ही जगत्कारण है, वही जिज्ञासा-सूत्र में प्रतिज्ञात है क्योंकि उसी का जन्मादि-सूत्र से लक्षण कहा गया है और उसी के ज्ञान से मोक्ष है। यद्यपि समाय ब्रह्म ही कारण हो सकता है, तथापि समाय भी तो निर्माय ब्रह्म ही हो सकता है। यह रहस्य है। समायता अनादि होने पर भी अनिर्वाच्य होने से साधिष्ठान ही होगी इत्यादि उपपत्तियाँ स्वयं ऊहनीय हैं। इस प्रकार परमात्मबोधक आत्मषट्क के आरंभ-वाक्य को समझाने के लिए भूमिकारूप से कहते हैं — हे प्राज्ञों! लौकिकों व शास्त्रविचारकों द्वारा दो प्रकार के शब्द व ज्ञान देखे गये हैं — 'मैं' तथा 'मैं नहीं'। जैसे प्रयोग दो प्रकार के हैं वैसे इनके अर्थ दो प्रकार के हैं॥ ५४॥

घट इत्यादिको योऽयं व्यवहारोऽत्र लौकिकः। शब्दप्रत्ययबोध्यात्मा स्यात्सोऽप्येतद्विवर्जिते॥ ५५॥

व्यवहारो भ्रान्तिः

वाचि शब्दो हृदि ज्ञानमर्थो भूम्यादिसंस्थितः। कथं स शब्दबोधात्मा भवेद् भ्रान्तिं विना नृणाम्॥ ५६॥

न केवलमहं-नाहंविषयेयं गतिः, किन्तु सर्वो लौकिको व्यवहारो भ्रन्तिरूप इति दर्शयति— घटइति द्वाभ्याम्। लौकिको लोकप्रसिद्धो योऽयं घटइत्यादिको व्यवहारः सोपि शब्दप्रत्ययबोध्यात्मा स्याद् इत्यन्वयः। शब्दश्च प्रत्ययश्च बोध्यश्च शब्दप्रत्ययबोध्याः शब्दज्ञानार्थाः, ते आत्मा शरीरं घनीभूतं रूपं यस्य स तथा; 'आत्मा यत्नो धृतिः बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म चे' त्यमरः, वर्ष्म शरीरम्। तथाहि, 'कोऽयमर्थः?' इति पृष्टे, 'घट' इत्युत्तरं लौकिका ददति। तथा 'किं ज्ञानम्?' 'घट' इति। 'कः शब्दः?' 'घट' इत्येकरूपमुत्तरम्। एतमविविक्तं व्यवहारं योगसूत्रमप्यनुवदति 'शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराऽविवेकात्संकरः' (३.१७) इति। एतद्विवर्जिते एतेन संकरेण भ्रान्तिसिद्धेन विवर्जिते वस्तुनि योऽयं लौकिको व्यवहार इत्यन्वयः॥ ५५॥

ननु व्यवहारस्य कुतो भ्रान्तित्वमिति चेद्? विचारासहत्वादित्याह — वाचीति। वाचि शब्दः तिष्ठति। हृदि अन्तःकरणे ज्ञानं तिष्ठति। अर्थो भूम्यादौ संस्थितः। सोऽर्थः शब्दबोधात्मा भ्रान्तिं विना कथं स्याद् इत्यर्थः। एवं सति भिन्नाधिकरणानां तादात्म्यं भ्रान्तिं विना कथं निर्वहतीति भावः॥ ५६॥

भ्रान्त लोग आंतरिक अर्थ का पदार्थ से अविविक्त अहंशब्द व अहंबोध से व्यवहार करते हैं तथा बाह्य वस्तुओं का पदार्थ से अविविक्त नाहंशब्द-बोधों से व्यवहार करते हैं। अहं या मैं यह शब्द, ज्ञान और पदार्थ तीनों हैं तथा नाहं या मैं नहीं यह भी शब्दादि तीनों ही है।

केवल अहं-नाहं शब्दादि का ही यह हाल नहीं है किन्तु सारा ही लौकिक व्यवहार भ्रांतिरूप ही है यह दो श्लोकों से कहते हैं — भ्रान्तिसिद्धि सङ्कर से रहित ब्रह्मवस्तु में जो यह संसार में प्रसिद्ध 'घट' इत्यादि व्यवहार होता है वह भी शब्द, ज्ञान और अर्थ का घनीभूत (अविविक्त) रूप है। शब्द वाणी में है, मन में ज्ञान है, भूमि आदि पर अर्थ है; तब लोगों के भ्रम के बिना यह कैसे संभव हो कि अर्थ शब्दरूप एवं ज्ञानरूप होवे॥ ५५ – ५६॥

संसार में 'घड़ा' ऐसा जो व्यवहार है उसका स्वरूप त्रिविध है: शब्द, ज्ञान और उनका विषयरूप पदार्थ, इन तीनों का मिला-जुला रूप ही 'घड़ा' है। किसी द्रव्यविशेष के विषय में 'यह क्या है?' पूछने पर सांसारिक लोग कहते हैं 'घड़ा'। ऐसे ही 'यह क्या शब्द है?' पूछने पर कहते हैं 'घड़ा'। तथा 'क्या ज्ञान है?' प्रश्न का उत्तर भी देते हैं 'घड़ा'। इस प्रकार पदार्थ, पद और ज्ञान तीनों को लोक में 'घड़ा' कह दिया जाता है। इस मिले जुले व्यवहार को योगसूत्र में भी कहा है 'शब्द, अर्थ और ज्ञान, इनके परस्पर अध्यास से संकर होता है। इनके अलगाव पर संयम (धारणादि) करने से सभी प्राणियों की बोली समझ आ जाती है।' यह पातंजलसूत्र का अर्थ है। शब्द से अर्थ पता चलता है 'संकेत' के कारण; संकेत का व्यासभाष्य में अर्थ किया है: स्मृतिरूप जो पद-पदार्थ का आपसी अध्यास है वही संकेत है, 'सङ्केतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मकः'। स्मृतिरूप इसलिए कहा कि स्मर्यमाण ही संकेत बोधक होता है, केवल स्वरूपसत् नहीं। यह अध्यास भी संकेत बनाने वाले का आहार्य-आरोप ही है अर्थात् उसने जो पद-पदार्थ के अभेद का आरोप किया है वही यहाँ अध्यास है। आहार्य इसलिए कि सब पद व पदार्थ को स्वरूपतः पृथक् तो मानते ही हैं इसीलिए 'घट लाओ' कहने पर कोई 'घट, घट' ऐसा बोलते हुए निकट आने नहीं लग जाता, कम्बुग्रीवादिमान् द्रव्य ही लाने जाता है। उस आरोपित अभेद का ज्ञान ही शब्द से अर्थ को उपस्थित करता है। यह सब विज्ञानभिक्षु ने स्पष्ट किया है। उन्ही ने यह भी बताया है कि शब्द और अर्थ का परस्पराध्यास है संकेतग्रहण, क्योंकि संकेत-ग्रहण का पूर्वोक्त रीति से अर्थ हुआ आरोपित अभेद का ज्ञान। शब्द व अर्थ का ज्ञान से परस्पराध्यास इसलिए है कि तीनों का आकार एक ही है। असाधारणव्यवहार के हेतु को ही आकार समझना चाहिये। घटशब्द व घट-अर्थ के असाधारणव्यवहार का जो हेतु है वही घटज्ञान के असाधारणव्यवहार का भी हेतु है। यद्यपि शब्द-अर्थ-ज्ञाननिष्ठ हेतुओं को पृथक्-पृथक् मानना उचित

शब्दबोधावपि यदा स्यातामर्थौ तदा तयोः। पृथगेव भवेतां तौ यथा भिन्नौ पितुः सुतौ॥ ५७॥

शब्दार्थप्रत्ययानां तादात्म्यस्वीकारे व्याघातोप्यायातीत्याह — शब्दबोधावपीति। यदा यदि शब्दबोधावपि अर्थस्य प्रकाशकौ सन्तौ तयोः शब्दबोधयोः अर्थौ प्रकाश्यौ स्याताम्, तदा तौ स्वस्मात् पृथक् स्याताम्; प्रकाश्यप्रकाशकयोर्हि भेदो दृष्टः। यथा एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकमिति न्यायेन पितृस्मारकौ सुतौ पितुर्भिन्नौ। तथा च प्रकाशकयोः शब्दबोधयोः प्रकाश्यार्थरूपत्वे, अर्थस्य वा तद्रूपत्वे स्वस्माद्भेदापत्तिः सा च नोपपद्यत इति भावः। यद्वा[1], शब्दबोधयोरर्थाद् भेदं प्रकारान्तरेणोदाहरति — शब्दबोधाविति। यदा यस्मिन् काले शब्दः शब्दस्यार्थो भवति, यथाऽनुकरणशब्दस्यानुकार्यशब्दः; बोधस्य च बोधो यदाऽर्थः, यथा न्यायमतेऽनुव्यवसायस्य व्यवसायः; तदापि तयोः भेद एव स्फुटः। तथा च अर्थात् तयोः भेदो विवेकिना सुज्ञात इति भावः॥ ५७॥

लगता है तथापि घट-इस अनुगति के कारण लाघवात् एक हेतु को ही तीनों में मानना चाहिये। एतावता ज्ञान का शब्द-अर्थ से अभेदाध्यास हो जाता है। किं च ज्ञान और विषय का तो अध्यास ही सम्बंध होता है यह प्रसिद्ध है। तथा विषय और शब्द का उक्तविधया संकेतग्रहणरूप अध्यास बताया ही जा चुका है। इसलिए तीनों का अभेदाध्यास संगत है। यद्यपि शब्द-अर्थ तो घट-इस रूप से समझे जाते है जबकि ज्ञान घट-इस रूप से नहीं बल्कि घटका-इस रूप से समझा जाता है जिससे तीनों का अध्यास है यह अटपटा लगता है तथापि क्योंकि ज्ञान का घटीयत्व (घटका-पन) घट का उस पर अध्यास ही संभव है, अन्य नहीं, इसलिए पतंजलि महर्षि ने एवं श्रीशंकरानन्दजी ने यहाँ तीनों के अध्यास को सिद्धवद् अनूदित कर दिया है। 'लौकिको व्यवहारः' यह जो कहा उसका अभिप्राय है कि लोक में भी यही समझा जाता है कि यद्यपि मिट्टी, ध्वनि और ज्ञान वस्तुयें पृथक्-पृथक् हैं तथापि इनमें घट यह समानता है, तभी उस मिट्टी आदि में घटव्यवहार होता है। इस 'समानता' को ही पूर्व में आकारशब्द से कहा समझा जा सकता है। वह समानता बाह्य मिट्टी, मुख में उच्चार्यमाण या कान में श्रूयमाण ध्वनि तथा मन में अनुभूयमान ज्ञान, तीनों में रह सकती तो नहीं पर समझी जाती हैं अतः लोकसिद्ध भ्रांति है। चंद्र व मुख में समानता रहती है तो इनमें क्यों नहीं रह सकती? वहाँ भी समानता रहती है का क्या अर्थ है? चन्द्रगत होते हुए मुखगत होवे यह कैसे संभव है? यदि निरंश वस्तु हो तो जात्यादिरूप माननी पड़ेगी तभी युगपत् पृथक् देशों में रहेगी, पर समानता ऐसी मानी नहीं जाती। सांश कोई धर्म हो तब तो तत्तदंश ही तत्र-तत्र रहा, समानता कहाँ रही? पदार्थांतर मानने पर भी ये ही प्रश्न बने रहेंगे। अतः चन्द्र-मुखस्थल पर भी प्रेक्षक का आहार्य आरोप ही सादृश्य समझना चाहिये। अत एव सबको वह एकरूप नहीं दीखता। एक व्यक्ति को भी उसी मुख में प्रेमावेशकाल में चंद्रसादृश्य और किसी कारण से कालांतर में द्वेष हो जाये तो उसी मुख में किसी जुगुप्सित वस्तु का सादृश्य दीखने लगता है। पदार्थविशेषादि होने पर घट की तरह सबको सदा एकरूप दीखना चाहिये, सो होता नहीं। अतः सादृश्य सर्वत्र ही इस प्रकार का है। अतः घटपदार्थ, घटपद व घटज्ञान के भूतल या मिट्टी आदि विभिन्न अधिकरण हैं जिससे घट पद-अर्थ-ज्ञान का तादात्म्य (अभेद) केवल भ्रांतिरूप है यह निश्चित है। भ्रांति का अधिष्ठान अंततः तो निर्भ्रांत वस्तु ही संभव है। एवं च भ्रांतिरहित परमात्मा ही इस सारी भ्रांति को निभा रहा है यह कहा गया।

शब्द-अर्थ-ज्ञान का वास्तविक अभेद मानना युक्तिविरुद्ध है यह कहते हैं— यदि शब्द और ज्ञान भी शब्द और ज्ञान के विषय हों तो वे शब्द और ज्ञान से पृथक् ही होंगे जैसे पिता का स्मरण कराने वाले पुत्र पिता से भिन्न होते हैं॥ ५७॥

यदि शब्द और बोध को अर्थ का प्रकाशक मानते हैं और यह भी मानते हैं वे स्वयं शब्द और बोध के विषय हो जाते हैं तो स्वयं का स्वयं से भेद मानना पड़ेगा जो संगत नहीं। प्रकाश्य व प्रकाशक विभिन्न ही देखे गये हैं। प्रकाशक स्थानीय स्मारक पुत्र प्रकाश्यस्थानीय स्मृत पिता से भिन्न ही होते हैं। इसलिए अर्थ को पद व ज्ञान से सर्वथा अलग मानना पड़ेगा क्योंकि पद व ज्ञान प्रकाशक हैं एवं अर्थ प्रकाश्य। अथवा इस श्लोक को यों समझना चाहिये ; शब्द और बोध

१. नहि दृष्टेऽनुपपन्नमितिन्यायेन व्याघातो मिथ्यात्वसाधको माभूदित्याशंक्यानुमानमादर्शयितुं प्रकारान्तरेण व्याचष्टे यद्वेति। अर्थस्य शब्दत्वेपि शब्दाद् भेद इति घटादर्थाद् घटशब्दस्य भेदइत्यत्र न शंकास्थानमित्यर्थः।

अहं-शब्दप्रत्यययोरात्मा विषय ईरितः। व्यवहारे तथाऽनात्मा त्वनहंशब्दबोधयोः॥ ५८॥

आत्मैवेत्यत्र आत्मशब्दार्थः

शब्दबोधौ विधूयैको योऽर्थोऽहंशब्दबोधयोः। स एव जगदुत्पत्तेः पूर्वमासीन्महेश्वरः॥ ५९॥

न शब्दबोधौ[1] नाऽनात्मा निस्तमा भास्करो यथा॥ ५९½॥

एवमुपपादितमर्थं प्रकृते निवेशयति — अहंशब्दप्रत्यययोरिति। अहमित्याकारकस्य शब्दस्य ज्ञानस्य च ताभ्याममविविक्त आत्मा आन्तरभावो विषयो मतः। विशेषेण सिनोति तादात्म्येन बध्नातीति विषयः, 'षिञ् बन्धने' (स्वा.उ.अ.), पचाद्यच् (३.१.१३४)। तथा अनात्मा शब्दबोधाविविक्तोऽनहंशब्दबोधयो विषयो मत इति॥ ५८॥

एतादृशसंकीर्णरूपवैलक्षण्यद्योतक 'आसीदग्र'- शब्दसाहचर्यात् शुद्धाद्वितीयतत्त्वपर आत्मशब्द इत्याह — शब्दबोधाविति। औपाधिको ह्यात्मनि भेदः। एवं च अहंशब्दबोधयो र्योऽर्थः शब्दबोधौ विहाय एको भेदवर्जितः, अवशिष्यत इति शेषः, स एव अत्र वाक्ये प्रतिपाद्य इत्याह — सएवेति सार्धेन। महेश्वरः भेदराहित्यान्महत्त्वं, सर्वशक्तत्वादीश्वरत्वं बोध्यम्॥ ५९॥

एवशब्दार्थावधारणव्यावर्त्यमाह — न शब्दबोधाविति। लोकप्रसिद्धौ शब्दबोधावनात्मा च न आसन्नित्यर्थः। दृष्टान्तः — भास्करो यथा उपचयापचयधर्मिभावरूपं तमः, विरोधात् संभक्ष्य, तमसा तत्प्रयुक्तपिशाचादिभिश्च वियुक्तो दिने विराजते; एवमात्मा नृसिंहः कारणत्वात् स्वकार्यं सर्वं स्वस्मिन् विलाप्याद्वितीयोऽवतिष्ठत इति भावः॥ ५९½॥

का अर्थ से भेद है यह प्रकारान्तर से कहा जा रहा है — जिस समय शब्द ही शब्द का अर्थ होता है जैसे अनुकरणशब्द का अनुकार्य शब्द; या बोध का जब बोध ही अर्थ होता है जैसे न्यायमत में अनुव्यवसाय का व्यवसाय अर्थ (विषय) होता है; तब भी उन दोनों का भेद स्पष्ट है; अतः अर्थ से शब्द व बोध का भेद निश्चित है। बात इतनी ही है कि प्रकाशक से प्रकाश्य पृथक् ही होगा। यदि प्रकाश्य भी शब्दादि ही हो तो भी प्रकाशक व्यक्ति से तो अवश्य अलग होगा। इसलिए घट पद-अर्थ-ज्ञान का अभेद केवल भ्रम है।

इस प्रकार युक्तिपूर्वक प्रतिपादित बात को प्रकरणानुसार समझाते हैं — व्यवहार में 'मैं' इस शब्द और ज्ञान का विषय आत्मा बताया जाता है इसी प्रकार 'मैं नहीं' इस शब्द और ज्ञान का विषय अनात्मा बताया जाता है॥ ५८॥

'मैं' इस शब्द और ज्ञान से अलग कर न समझी आंतरिक भाववस्तु ही 'मैं' इस शब्द और ज्ञान से विषयतया व्यवहृत होती है। अनात्मा भी स्ववाचक और स्वबोध से पृथक् न समझा हुआ ही उनका विषय बना है। विशेषकर अर्थात् तादात्म्य से बाँधने वाले को ही विषय कहते हैं।

लौकिक 'मैं' या 'आत्मा' शब्द उक्त संकीर्णरूप से उपस्थित का बोधक है पर 'यह सब पहले आत्मा ही था' इस ऐतरेयोपनिषत् के प्रारंभवाक्य में आया आत्मा-शब्द शुद्ध अद्वितीय आत्मतत्त्व के तात्पर्य वाला है, मिले-जुले में तात्पर्य वाला नहीं। यह बात 'था' और 'पहले' इन शब्दों की समीपता से मालूम पड़ती है क्योंकि जिनसे संकीर्णता हो सकती है उनसे पहले की बात की जा रही है यह इन दो शब्दों से व्यक्त होता है। यह बात मूलकार कहते हैं — 'मैं' इस शब्द और ज्ञान का जो अखण्ड अर्थ शब्द और ज्ञान को छोड़कर बचता है वही महेश्वर है और वही जगत् की उत्पत्ति से पहले था, शब्द और ज्ञान नहीं थे, अनात्मा भी नहीं था। अन्धकाररहित सूर्य की तरह शब्द-ज्ञान-अनात्मा से रहित आत्मरूप महेश्वर था॥ ५९ - ५९½॥

आत्मा में भेद केवल औपाधिक है। एवं च अहंशब्द व अहंबोध का जो अर्थ है वह शब्द तथा बोध को त्याग कर भेदवर्जित अकेला अवशेष रहता है वही यहाँ आत्मा शब्द से प्रतिपाद्य है। महेश्वर अर्थात् महान् ईश्वर; वहाँ महत्त्व भी

---

१. बोधइत्यविद्यानिवर्तकचिदुच्यते। तस्याश्च तत्त्वं वृत्तिविशेषोपहितायाएवेत्युपाध्यभावात्तदभाव इति ज्ञेयम्। तेन सत्यं ज्ञानमित्यादेरविरोधः।

दिवसे दिवसे भानौ[१] तमो यद्वल्लयं व्रजेत्। सदानन्दात्मनि तथा जगदेतद्विलीयते॥ ६०॥

निशासु यद्वत् सर्वासु ह्यभिभूय दिवाकरम्। तम उत्पद्यते तद्वत् जगदेतद् विजायते॥ ६१॥

दृष्टान्तं विवृणोति – दिवस इति त्रिभिः। सदानन्दात्मनीति। अयमेव कारणात्मा छान्दोग्ये सत्पदेन व्यवहृतः, तैत्तिरीये आनन्दपदेन, अत्र तु आत्मपदेन; वेदान्तानामैकमत्यादिति भावः॥ ६०॥

निशास्विति। अस्य शास्त्रस्य संयमिमुख्याधिकारिकत्वाद् दिनं प्रलयोपमानत्वेन रात्रिः सर्गोपमानत्वेन च वर्णिता। यथोक्तं गीतासु 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जगर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः'॥ (२.६९)॥ इति। दिवाकरमभिभूय इति व्याप्यव्यापकभावद्योती क्त्वाप्रत्ययः, मुखं व्यादाय स्वपितीतिवत्; यथा यदा शयनं तदास्य मुखव्यादानं, तथा यदा तमउत्पत्तिस्तदा विरोधाद् भास्करादर्शनमिति। उत्पद्यत इत्यत्र मूलकारणादविद्याख्यादिति शेषः। तमसोप्याकाशादिवन्मूलकारणजन्यत्वस्य विद्युदादिवज्झटिति प्रादुर्भावस्य विवरणकारैः (पृ. ५५ कलकत्ता सं.) उपपादितत्वादिति॥ ६१॥

भेद न रहने से ही है। ईश्वर से सर्वशक्ति वाला समझना चाहिये। ऐतरेयवाक्य में 'आत्मा ही' कहा है; 'ही' का मतलब होता है किसी अन्य की मनाही करना, इसे ही व्यावृत्ति कहते हैं। शब्द और ज्ञान की ही मनाही की गयी है तथा अनात्मा की मनाही की गयी है। जैसे सूर्य अंधेरे को व उससे प्रतीत होने वाले पिशाचादि को समाप्त कर रहता है वैसे सारे भूतभौतिक प्रपंच को विलीन कर महेश्वर था। यद्यपि अनात्मा की व्यावृत्ति से शब्दबोध की व्यावृत्ति सिद्ध ही है तथापि स्पष्टता के लिए पृथक् कथन है। बोध से यहाँ तद्विषयक वृत्तिरूप बोध समझना चाहिये, आत्मा के स्वप्रकाशस्वरूप के निषेध का भ्रम नहीं करना चाहिये। प्रश्न हो सकता है कि आत्मभिन्न अज्ञान तो था ही, तब सब अनात्मपदार्थों का निषेध कैसे? इसका स्वयं चौसठवें श्लोक से प्रारंभ कर मूलकार उत्तर देंगे। अभी इतना ही समझ लेना चाहिये कि मायाशबल ही महेश्वर आत्मशब्द का वाच्य हैं और उनसे भिन्न माया नहीं थी क्योंकि उससे शबल हुए वे ही एक थे। जैसे अपने हाथ-पैर से कोई सद्वितीय नहीं होता वैसे जानना चाहिये।

सूर्यदृष्टान्त को व्यक्त करते हुए अन्य श्रुतिप्रसंगों का भी संग्रह करते हैं — जिस प्रकार प्रतिदिन अँधेरा सूर्य में लीन हो जाता है वैसे सद् आनन्दरूप आत्मा में यह जगत् विलीन होता है॥ ६०॥

सूर्य के होने पर लीन होने से सूर्य में लीन होना कहा जाता है। दृष्टांत में भी स्थिति यही है। विवर्तवादाश्रयण से कल्पित का अन्य कोई विलय संभव नहीं। इसी कारण-आत्मा को छान्दोग्योपनिषत् में सत् पद से व तैत्तिरीयोपनिषत् में आनन्दपद से कहा है। पूर्व में बता चुके हैं कि भूतार्थक होने से वेदांतों में एकवाक्यता स्थापित है अतः जहाँ कहीं भी कारण का कथन है वहाँ इसी महेश्वर से तात्पर्य है यह निश्चित है। अतः यहाँ सद् व आनंद कहकर वेदान्तों का ऐकमत्य सूचित किया है।

रात में अँधेरे की उत्पत्ति के दृष्टांत से सृष्टि समझाते हैं — जिस तरह हर रात सूर्य को अभिभूत कर अँधेरा उपजता है उस तरह यह जगत् उत्पन्न होता है॥ ६१॥

गीता में कहा है 'सर्वसाधारण प्राणियों के लिए जो रात है उसमें संयमी विद्वान् जागता है और जिसमें बाकी प्राणी जागते हैं वह जानकार मुनि के लिए रात है।' इससे मालूम पड़ता है कि इस वेदान्त शास्त्र का मुख्य अधिकारी संयमी (संन्यासी) होता है। इसीलिए दिन को प्रलय का उपमान और रात को सृष्टि का उपमान बनाकर यहाँ वर्णन किया। 'सूर्य को अभिभूत कर' यह जो कहा उसका भाव है कि जब अँधेरा उपजता है तब अँधेरे से विरुद्ध होने के कारण सूर्य का दर्शन नहीं होता। जैसे 'मुँह फाड़कर सोता है' कहने से सोने के प्रति मुँह फाड़ना कारण नहीं माना जाता, केवल सोते समय मुँह का फटना विवक्षित होता है, वैसे यहाँ तमःकारणक सूर्याभिभव नहीं कहा जा रहा, यह अभिप्राय है। 'अँधेरा

१. सप्तमी सत्यर्थे बोध्या। दार्ष्टान्तेप्येवमनेन विवर्तकार्यस्याधिष्ठाने बाध एव विलय इति व्यक्तम्।

सच्चिदानन्दमात्मानमभिभूय विलक्षणम्। असज्जडं दुःखरूपमनात्मवपुरेव हि॥ ६२॥
रज्जुरेव यथा सर्पः सर्पोत्पत्तेः पुरा स्थिता। आनन्दात्मा तथाऽनात्मा नात्मोत्पत्तेः पुरा स्थितः॥ ६३॥

तमःसाम्यं दार्ष्टान्तिके स्फुटयति— सच्चिदानन्दमिति। अस्तिभातिप्रियमिति सूर्यवत्स्पष्टमप्यात्मानं तमोवदभिभूय आच्छाद्य एव जगद्विजायत इत्यनुषंगः। यतो विलक्षणम्। सच्चिदानन्दात्मपदार्थवैलक्षण्यं चतुर्भिः पदैर्दर्शयति — असदित्यादि॥ ६२॥

सूर्यो लयमात्रे दृष्टान्त उक्तः। न हि स तमसो विवर्तोपादानम्। अतो विवर्तोपादानं दृष्टान्तमाह—रज्जुरेवेति। पूर्वार्द्धं स्पष्टम्।[1] तथा आनन्दात्मा एव पुरा आसीत्, अनात्मा तु आत्मोत्पत्तेः निजोत्पत्तेः पुरा न स्थितोऽभूदित्यन्वयः॥ ६३॥

उपजता है' सुनकर प्रश्न हो सकता है उसकी उत्पत्ति का कारण क्या है? उत्तर है कि मूलकारण अविद्या से अँधेरा पैदा होता है। आकाशादि की तरह अँधेरा भी अज्ञान से उत्पन्न होता है यह पंचपादिकाटीका विवरण में युक्तिपूर्वक स्पष्ट किया गया है।

दार्ष्टान्त में तम की, अँधेरे की, समानता बतलाते हैं — सत्, चिद्, आनन्द रूप प्रत्यगात्मा को ढाँक कर ही उससे विलक्षण असत्, जड दुःखरूप अनात्मसंघात उत्पन्न होता है। क्योंकि कार्य अपने कारण से विलक्षण है इसलिए कारण को ढाँक कर ही — अज्ञान से ही — होता है॥ ६२॥

जैसे सूर्य प्रौढ प्रकाश होने से स्पष्ट है वैसे आत्मा भी 'है', 'भासमान है' और 'प्रिय है' इस तरह स्पष्ट है। फिर भी जैसे अँधेरा सूर्य को ढाँक लेता है वैसे अज्ञान आत्मा को आच्छादित कर लेता है। उत्पन्न होने वाला जगत् कारण आत्मा से पूर्णतः पृथक् है यह बताने के लिए चार प्रकार की विलक्षणता कही: आत्मा प्रत्यक् है, प्रपंच अनात्मा अर्थात् पराक् है; आत्मा सत् है, प्रपंच सद्भिन्न है; आत्मा स्वप्रकाश है; प्रपञ्च अप्रकाश है, आत्मा अनवधि सुख है, प्रपञ्च दुःखैकरूप है। विवर्तवाद में कारणाभिभव अर्थात् आवरणपूर्वक ही कार्योत्पत्ति अर्थात् विक्षेप होता है। यद्यपि कुछ स्थलों में बिना आवरण भी विक्षेप प्रतीत होता है तथापि वहाँ आहार्य आवरण मानना चाहिये। इसीसे जीवन्मुक्ति के लिए बाधित ही सही, अविद्या-प्रतीति मानी गयी है। ईश्वर को यद्यपि बिना आवरण के ही विक्षेप होता है तथापि क्योंकि ईश्वर को जीवदृष्ट्या ही विक्षेप है, स्वदृष्ट्या नहीं, कारण कि परमार्थभूमि में विक्षेप नहीं है, इसलिए उक्त व्यवस्था में दोष नहीं। एवं च कारणाज्ञान से ही कार्यजन्म सिद्ध होता है। यहाँ भी कारणाज्ञान का सही मतलब है अज्ञात कारण, इसलिए ब्रह्मकारणवाद सर्वथा उपपन्न है।

अँधेरे का विवर्तोपादानकारण तो सूर्य नहीं है, तब उसे प्रकृत में कारणस्थानीय कैसे मानें? इस प्रश्न का उत्तर है कि सूर्य का दृष्टांत इतने अंश में ही है कि उसके होने पर अँधेरा विलीन हो जाता है। हर दृष्टांत सब अंशों में तो बैठता नहीं है। विवर्तोपादान को समझने के लिए दूसरे उदाहरण से समझाते हैं — जैसे साँप, साँप की उत्पत्ति से पूर्व रस्सी ही है, वैसे अनात्मा अनात्मा की उत्पत्ति से पूर्व स्थित आनंदरूप आत्मा ही है॥ ६३॥

अर्थात् अनात्मजन्म से पूर्व अनात्मा था ही नहीं, केवल आत्मा था; और यदि उत्पत्ति से अनुमान करें कि अनात्मा अवश्य रहा होगा, तो वह केवल आत्मा ही था। विवर्तवाद को अजातवाद की पृष्ठभूमि सदा याद रखना चाहिये। प्रतीति की उपपत्तिमात्र विवर्तवाद है, किसी उत्पत्त्यादि का प्रतिपादन नहीं। भाष्यकारादि ने यह बहुत जगह व्यक्त किया है यद्यपि प्रक्रियाबोधक ग्रंथों के आपात पठन से यह रहस्य उतना स्पष्ट हो नहीं पाता।

जगत् की उत्पत्ति से पूर्व कार्यप्रपंच न होने से कार्य-प्रपंच से आत्मा भिन्न है यह न कहा जा सके तो भी माया, अव्याकृत आदि नामों वाले कारणरूप अनात्मा से तो आत्मा भिन्न था ही; तब अद्वैत कैसे? इस प्रश्न के उत्तर के लिए

---

१. उत्तरार्द्धस्य द्विधा योजना - अनात्मोत्पत्तेः पुरा स्थित आत्मैवासीत्, कः? अनात्मेत्येका, तामाह-तथेति। आत्मोत्पत्तेः पुरा अनात्मा न स्थितः, कस्तर्हि? आत्मेत्यपरा, तामाह-अनात्मा त्वित्यादिना।

समायोऽप्यद्वितीयः

यथा सुषुप्तः पुरुषो वासनाकोटिगर्भिणीम्। पश्यन्नविद्यामप्येतां न जानात्यात्मनः पृथक्॥ ६४॥

आनन्दात्माऽपि च तथा मायां विश्वैकगर्भिणीम्। आत्मनो न पृथग्वेत्ति[1] मायावी स महेश्वरः॥ ६५॥

अपि मायेति मायायाः स्वतः सिद्धिरिहेष्यते। सुषुप्तस्य यथा सुप्तिः सुप्त्यैवेह प्रसिद्ध्यति॥ ६६॥

ननु कार्यप्रयुक्तद्वैतराहित्येऽपि मायाऽव्याकृतादिसंज्ञककारणप्रयुक्तं द्वैतं स्थितमेव? इत्याशंक्य, 'सद्भ्यामभावो[2] निरूप्यत' इति न्यायेन सता द्वैतं वाच्यम्। कीदृशं च मायायाः सत्त्वमिष्यते—पृथक् स्फूर्तिर्वा? प्रमाणसिद्धत्वं वा? नाद्य इत्याह—यथा सुषुप्त इति द्वाभ्याम्। यथा सुप्तः पुरुषो वासनाकोटिगर्भिणीमविद्यां पश्यन्नप्येतामात्मनः पृथङ्न जानाती-त्यन्वयः। वासनानां कोटयोऽसंख्याता वासना इति यावत्। ताभिर्गर्भिणीं तद्रूपगर्भवतीमित्यर्थः, प्रकृत्यादित्वात्[3] तृतीयान्तत्वेन समासः। वर्षापाये मण्डूकानां सूक्ष्मावस्थारूपसंस्कारवती यथा मृत्, तथा जाग्रत्स्वप्नपदार्थसंस्कारवत् सौषुप्तमज्ञानमिति भावः॥ ६४॥

एवं व्यष्ट्युपाधिकजीवे साधितमर्थं समष्ट्युपाधिके दार्ष्टान्तिके दर्शयति — आनन्दात्मेति। भूमरूपत्वेन आनन्दरूपो विश्वैकगर्भिणीम् — एक एकतामापन्नोऽव्याकृतइति यावत्, तादृशो गर्भोऽस्या अस्तीत्येकगर्भिणी, विश्वेन सर्वजगता एकगर्भिणी विश्वैकगर्भिणी तां तथा। शेषं स्पष्टम्[4]॥ ६५॥

न द्वितीयः; तस्यां प्रमाणाभावादित्याह—अपि मायेति सार्धत्रिभिः। मायेत्याकारा मायायाः सिद्धिरपि स्फूर्तिरपि स्वतो मायात एव प्रमाणनैरपेक्ष्येण इष्यते विवेककुशलैरिति शेषः। तदुक्तं वार्तिककारैः[5] 'अविद्यास्तीत्यविद्या-यामेवास्तित्वं प्रकल्प्यते। ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं नासीदस्ति भविष्यति'॥ (सम्बन्ध.१७६)॥ इति॥ ६६॥

पहले समझना चाहिये कि भेद का निरूपण करने के लिए सद् अर्थात् विद्यमान अनुयोगी-प्रतियोगी होने चाहिये। अतः कार्यप्रपंच की उत्पत्ति से पूर्व जिस द्वैत का आपादन किया जा रहा है वह भी किसी सद्वस्तु से ही कहा जाना होगा। माया को यदि सत् मानो तो उसकी सत्ता कैसी है: क्या आत्मा से पृथक् उसकी स्फूर्ति (प्रकाश) है यह उसकी सत्ता है? या प्रमाण से सिद्ध होना उसकी सत्ता है? पृथक् स्फूर्ति तो है नहीं यह कहते हैं — जैसे सोया पुरुष करोड़ों वासनाओं को गर्भ में रखने वाली अविद्या को देखते हुए भी इसे अपने से भिन्न नहीं समझता, वैसे समस्त विश्व को अकेले ही गर्भ में रखने वाली माया को देखते हुए भी आनन्दरूप वह मायावी महेश्वर भी उसे अपने से पृथक् समझता नहीं॥ ६४ – ६५॥

जाग्रत् में वासनाओं के उद्बोध से निश्चय होता है कि सुषुप्ति में बीजरूप से वे थीं इसीलिए अविद्या को वासना गर्भ में रखने वाली कहा। ऐसे ही माया भी प्रपंच-गर्भिणी है। 'विश्वैकगर्भिणी' का यह अर्थ है: एक अर्थात् एकता को प्राप्त अव्याकृत; वह जिसका गर्भ है वह हुई एकगर्भिणी; विश्व अर्थात् सारे संसार से जो एकगर्भिणी है, संसार जिसमें अव्यक्त है वह विश्वैकगर्भिणी है। प्रश्न हो सकता है कि अनात्मभूत माया को अपने से पृथक् नहीं जानता तो क्या ईश्वर को अज्ञान या मिथ्याज्ञान है? उत्तर है कि यहाँ इतना ही विवक्षित है कि 'मुझसे पृथक् कुछ है' ऐसा वह नहीं जानता; न कि यह कि अज्ञान को अपने से एक जानता है। अतः अज्ञान या भ्रम नहीं है।

यदि कहो कि प्रमाणसिद्ध होना माया की सद्वस्तुता है, तो वह भी ग़लत होगा क्योंकि माया में कोई प्रमाण है नहीं

---

१. पृथङ्न वेत्तीत्येव, न त्वपृथग्वेत्तीति तथा च सर्वं समंजसम्।
२. प्रतियोग्यनुयोगिभ्याम् अभाव इह भेदः।
३. कर्तृकरणयोरित्यत्र (२.३.१८) प्रकृत्यादिभ्यइति वार्तिकम्। प्रकृत्यादिराकृतिगण इति तत्त्वबोधिन्याम्।
४. न चैवं परस्मिन्नावरणं मिथ्याधीर्वेति शंक्यम्, मत्तोन्यन्नास्ति किंचिदिति जानन् स नात्मनः पृथक् पश्यतीति विवक्षितत्वात्। दृष्टान्तवैलक्षण्यमिति चेन्न, सर्वांशे दृष्टान्ताऽसंप्रतिपत्तेर्यथाह – दृष्टदार्ष्टान्ततुल्यत्वं न तु सर्वात्मना क्वचिदिति (ड.प.सा.१८.८६)।
५. तत्र 'नाविद्यास्येत्यविद्यायामेवाऽऽसित्वा प्रकल्प्यते। ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथञ्चन युज्यते॥' इति सम्बन्धग्रंथे वर्तते। अनन्तरं (श्लो. १८३) च 'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः। अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति॥' इति पठ्यते।

सुषुप्तो न च तां वेत्ति स्वयं करणसंक्षयात्। न चान्यो जागरूकोऽपि तस्य सा विषयो न हि॥ ६७॥
करणानामचेष्टा या न सा लिंगमुदीरिता। व्यभिचारित्वतो यस्मात् स्वप्नादावपि दर्शनात्॥ ६८॥

प्रमाणाभ्युपगमेऽपि किं प्रमाणं सुषुप्तिरूपायामविद्यायां मतं भवता — प्रत्यक्षं वा? अनुमानं वा? आगमो वा? अन्यद्वा? तत्र, आद्ये — सुप्तपुरुषस्य प्रत्यक्षं तत्र क्रमते? अन्यपुरुषस्य वा? उभयमपि न संभवतीत्याह — सुषुप्त इति। सुषुप्तः स्वयं तां न जानातीत्यन्वयः। इन्द्रियजन्यं हि ज्ञानं प्रत्यक्षमिति व्यवहरन्ति वादिनः। सुषुप्तस्येन्द्रियाणि तु लीनानीति कथं तां जानीयादिति। जागरूकोऽन्योऽपि तां न वेत्ति, अयोग्यत्वादित्यर्थः। साक्षिप्रत्यक्षापादनं तु साक्षिणः सत्यग्रहणनियमाभावेन अविश्वासात्, साक्षित्वस्य [१]ज्ञानघटितत्वेन पूर्वश्लोकोक्तस्वतःसिद्धिरूपेष्टापत्त्या वा समाधेयम्॥ ६७॥

न द्वितीय इत्याह — करणानामिति। अयं सुषुप्तिमान्, इन्द्रियचेष्टाहीनत्वात्, सम्मतवद् — इत्यनुमानं भवता विधेयम्। तत्तु न संभवति, यस्मात् या करणानामचेष्टा हेतुत्वेनोदीरिता सा न लिगं न हेतुः। कुतः? व्यभिचारित्वात्। अव्यभिचरितः सम्बन्धो हि व्याप्तिः,[२] तां विना कथं हेतुता? इति भावः। व्यभिचारः कुतः सिद्धः? इत्यत आह — स्वप्नादावपीति। आदिपदेन समाधिग्रहः। स्वप्नादौ सुषुप्तिभिन्नेऽचेष्टाया दर्शनात् साध्याभाववद्वृत्तित्वरूपो व्यभिचारः स्फुट इति भावः॥ ६८॥

यह कहते हैं — माया के विषय में 'माया' यह ज्ञान भी स्वयं माया से ही स्वीकारा जाता है जैसे सोये पुरुष का सोना सोने से ही लोक में प्रसिद्ध होता है॥ ६६॥

प्रमाण की अपेक्षा के बिना ही माया की स्फूर्ति विवेककुशलों ने मानी है। वार्तिककार कहते हैं: 'अविद्या है ऐसी कल्पना अविद्या में ही होती है। ब्रह्मदृष्टि से तो अविद्या न पहले कभी थी, न वर्तमान में है, न भविष्य में होगी।

किंच जो अविद्या को प्रमाण का विषय मानना चाहता है उससे पूछना चाहिये 'आप अविद्या में क्या प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं, या अनुमान को, या शास्त्र को, या अन्य किसी को?' यदि वह प्रत्यक्ष को प्रमाण कहे तो पुनः प्रश्न होता है 'क्या सोये पुरुष को उसका प्रत्यक्ष होता है, या उससे भिन्न (जगे) पुरुष को?' ये दोनों ही पक्ष असंभव हैं यह बतलाते हैं — सोया व्यक्ति स्वयं सोने को नहीं जानता क्योंकि उस व्यक्ति के जानने के साधन तब विलीन हैं। और उससे भिन्न जगा व्यक्ति भी सोये व्यक्ति के सोने को जानता नहीं क्योंकि अन्य का सोना अन्य के ज्ञान का विषय नहीं होता॥ ६७॥

इन्द्रियजन्य ज्ञान का ही वादी लोग प्रत्यक्षरूप से व्यवहार करते हैं। सुषुप्ति में इन्द्रियाँ विलीन होती हैं अतः सुषुप्त पुरुष स्वकीय सुषुप्ति को या तत्रत्य अज्ञान को प्रत्यक्ष से नहीं जानता। दूसरा व्यक्ति जिसकी इंद्रियाँ कारगर हैं वह तो अन्यदीय सुषुप्ति या अज्ञान को प्रत्यक्ष से जान नहीं सकता क्योंकि उससे संसर्गादि न होने से उनका अन्य को प्रत्यक्ष होना अयोग्य है। यदि सिद्धन्ती को संमत साक्षिप्रत्यक्ष से अज्ञान की सिद्धि करने की कोशिश करें तो भी वह प्रमाणसिद्ध न होगा क्योंकि साक्षी तो सत्य-असत्य दोनों का ग्रहण करने वाला है अतः उसका प्रत्यक्ष प्रमारूप हो ऐसा नियम नहीं। यदि सुखादि की सिद्धि की तरह मानना चाहें तो यह समझना चाहिये कि क्योंकि साक्षी स्वयं अज्ञानघटित है इसलिए साक्षिसिद्ध मानने पर अज्ञानसिद्ध ही मानना होगा जिससे यही आयेगा कि अज्ञान स्वयं अज्ञान से ही सिद्ध है; और यह तो सिद्धांत में स्वीकार्य ही है यह पूर्वश्लोक में कह चुके हैं। साक्षी अज्ञानघटित है का अर्थ है कि साक्षी का स्वरूपलाभ (साक्षित्वेन स्थिति) अज्ञान से ही होती है, उसके बिना नहीं। चिन्मात्र तो साक्षी है नहीं। अद्वैतसिद्धि में श्रीमधुसूदनसरस्वती महाराज कहते हैं 'केवलचिन्मात्रं न साक्षि, किन्तु अविद्यावृत्त्युपहितम्' (पृ.५४५)।

अनुमान भी अज्ञान में प्रमाण नहीं यह कहते हैं — जो इन्द्रियों का निश्चेष्ट होना है वह सोने का, सुषुप्ति का, लिंग

---

१. अज्ञानघटितत्वेनेति युक्तं पठितुं तत एव स्वतः सिद्धिः सिध्येदन्यथा ज्ञानादज्ञानसिद्धिः सा च पूर्वश्लोकमनुसरन्ती न स्यादिति ज्ञेयम्।
२. 'सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टाऽत्र लिंगधर्मस्य लिंगिना' (श्लो. अनुमा.) इति भाट्टवार्तिकमनुस्मृत्योक्तम्।

न च तस्यां प्रमाणं हि शास्त्रं त्वपुरुषार्थतः। तस्मादनुवदत्येतां स्वतः सिद्धां सुदुर्लभाम्।
मायेत्यादिवचःसंघैरानन्दात्मावबुद्धये॥ ६९ ॥

न तृतीय इत्याह — न च तस्यामिति। तुशब्दो वैलक्षण्यार्थः; विलक्षणमपौरुषेयं शास्त्रं तस्यां न प्रमाणम्। पुरुषेणाऽर्थ्यत इष्यत इति पुरुषार्थः फलं, तदभावादित्यर्थः। आगमोपि पौरुषेयोऽपौरुषेयो वा? नाद्यः, तस्य प्रत्यक्षादिदर्शिते वस्तुनि प्रवृत्तेस्तन्निरासेन निरस्तत्वात्। न द्वितीयः, 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इतिन्यायेन यत्र तात्पर्यं स वेदार्थो वाच्यः। तत्तु षड्विधलिंगावसेयम्। तत्र उपक्रमोपसंहाराभ्यासार्थवादास्त्रयः प्रमेयशेषशब्दप्रमाणनिष्ठाः, अपूर्वत्वाबाधितत्वफलवत्त्वानि प्रमेयनिष्ठानि प्रधानानि[१]। तत्रापि प्रवृत्तौ प्रेक्षावद्भिर्जिज्ञासितत्वात् फलवत्त्वं प्रधानम्। तद् अज्ञानप्रतिपादने नास्तीति भावः। किम्परं तर्हि 'माया चाऽविद्या च स्वयमेव भवति' (नृ.उ.९) इत्यादि शास्त्रम्? अत आह — तस्मादिति। तस्माद् एतत्प्रतिपादने फलाभावात्, एतां शास्त्रं मायेत्यादिवचःसंघैरनुवदतीत्यन्वयः। कीदृशीम्? स्वतःसिद्धाम्। अनन्यलभ्यःशब्दार्थ इति न्यायात् प्रतिपादनानर्हाम्। सुदुर्लभाम् दीपेनान्धकारवत् प्रमाणेन दुर्दर्शाम्। अनुवादप्रयोजनं 'फलवत्सन्निधावफलं तदंगम्' (शाबरभाष्ये ४. ४.१९) इति न्यायेनाह — आनन्दात्मावबुद्धये। सृष्ट्यादिवाक्यानि हि अद्वैतबुद्ध्यवतारणद्वारा ऐक्यबोधकवाक्यशेषाणीति भावः।

न चतुर्थः, अचिन्त्यशक्तेरविद्यायाः केनचित्सादृश्याभावेनोपमानासम्भवात्, भ्रमसिद्धैः कार्यैः स्वसजातीयस्यैवार्थापत्त्या साधनात्, अनुपलब्धिस्तु तस्य[२] भावरूपत्वाद् दूरापास्तेत्यवधेयम्॥ ६९ ॥

नहीं बताया गया है कारण कि वह चिह्न सुषुप्ति से सदा सहचरित नहीं क्योंकि स्वप्न आदि में भी इन्द्रियों की निश्चेष्टता दीखती है॥ ६८॥

स्वप्न व समाधि में इन्द्रियनिश्चेष्टता है पर सुषुप्ति नहीं है अतः व्यभिचारी होने से वह सल्लिंग नहीं। साध्याभाववद्वृत्ति हेतु व्यभिचारी होता है, सुषुप्त्यभाववत् स्वप्न व समाधि में हेतु (इंद्रियचेष्टाहीनत्व) रहता है जिससे व्यभिचार दोष स्पष्ट है। जब सुषुप्ति अनुमेय नहीं तब उसमें होने वाला अज्ञान सुतरां अनुमेय न होगा यह भाव है।

शब्दप्रमाण से भी उसकी सिद्धि नहीं यह बतलाते हैं — शास्त्र तो माया के विषय में प्रमाण नहीं ही है क्योंकि वह पुरुषों द्वारा प्रार्थित वस्तु नहीं है। अतः प्रतिपादन के अयोग्य व प्रमाण की अविषय, किन्तु अनुभूत इसे 'माया' (नृ.उ.९.श्वे.१.१०,४.९,४.१०) इत्यादि वचनों से शास्त्र अनूदित करता है जिससे आनन्दरूप आत्मा का ज्ञान हो॥ ६९॥

'शास्त्र तो' इस 'तो' से शास्त्र की विलक्षणता कही अर्थात् लैकिक की अपेक्षा विलक्षण जो अपौरुषेय वेद वह इसमें प्रमाण नहीं। पौरुषेय शब्द तो ज्ञातविषयक होने पर ही प्रमाण होता है तथा अज्ञान मानान्तर से प्रमित सिद्ध हुआ नहीं अतः उसके विषय में पौरुषेय शब्द प्रमाण हो ही नहीं सकता। बचा अपौरुषेय शब्द; सो वह भी माया विषय में प्रमाण नहीं। 'शब्द जिस तात्पर्य से प्रयुक्त हो वही उस शब्द का अर्थ होता है' यह सिद्धान्त है अतः जिसमें वेद का तात्पर्य है, वही वेदार्थ कहा जा सकता है। तात्पर्य का निर्णय इन छह चिह्नों से होता है: १) उपक्रम-उपसंहार की एकवाक्यता २) अभ्यास ३) अपूर्वता ४) फल ५) अर्थवाद ६)उपपत्ति। इनमें उपक्रम-उपसंहार, अभ्यास और अर्थवाद प्रमाणनिष्ठ लिंग हैं और बाकी तीन प्रमेयनिष्ठ। प्रमेयनिष्ठ होने से इन तीन का प्राधान्य भी कहा जाता है। फलवत्त्व प्रधान इस वास्ते है कि बुद्धिमान् सफल की ही जिज्ञासा करता है। अज्ञान का प्रतिपादन निष्फल है। जो तो श्रुतार्थापत्ति से अविद्या का साधन है वह भी निरविद्य आत्मा के बोध के लिए होने से अर्थवादस्थानीय है। इसीलिए जहाँ शास्त्र ने माया, अविद्या, प्रकृति आदि शब्दों से अज्ञान कहा भी है वहाँ अनुवादमात्र है। जो अन्य प्रकार से मालूम न पड़े वही शब्द से बताया जाता है यह

---

१. तुलय 'त्रिविधं तात्पर्यलिंगं प्रामाण्यशरीरघटकमर्थनिष्ठम्-अज्ञातत्वमबाधितत्वं प्रयोजनवत्त्वं च, त्रिविधन्तु शब्दनिष्ठमतिप्रसंगवारकम्-उपक्रमोपसंहारयोरैकरूप्यमभ्यासोऽर्थवादश्चेति' मिथ्यात्वानुमानस्यागमबाधविचारेऽद्वैतसिद्धौ। २. तस्या इति पाठोनुमीयते। यद्वा टीकोक्ताज्ञान-परामर्शकस्तच्छब्दः।

अतः समायोप्यात्माऽयं निर्माय इव संलये। सतमस्को यथा भानुर्दिवसे निस्तमा इव॥ ७०॥

ईक्षणपदार्थः

एवं स्थितस्तदा देवः पूर्वसंस्कारसंस्कृतः। वासनानां समुद्बोधात् पर्यालोचयदीश्वरः॥ ७१॥

फलितमाह—अतः समायइति। संप्रलये लये। दृष्टान्तः — सतमस्को यथा भानुरिति। मूलाविद्यायास्तमःकारणत्वाद् भानोस्तत्कार्यतमोमात्रविरोधित्वात्, कारणाकारतमोविशिष्टोऽपि भानुः स्वतन्त्रतमोराहित्यात् निस्तमा व्यवह्रियते। तथा व्यापारात्मकस्वातन्त्र्यरहितमायाविशिष्टोऽप्यात्मा निर्मायइति चोक्त इत्यर्थः। एतेन 'मिषद्' व्यापारवद् अन्यन्नाभूदित्यर्थकं विजातीयभेदाभावपरं द्वितीयं वाक्यम्[१] व्याख्यातम् इति॥ ७०॥

'स ऐक्षत' (ऐ.१.१.१)[२] इत्यादि वाक्यं व्याचष्टे — एवं स्थित इति द्वाभ्याम्। पूर्वसंस्कारसंस्कृतः पूर्वकल्पेषु यत्स्रष्टव्यविषयालोचनं मायापरिणामरूपमीक्षणसंज्ञं कृतं तत्संस्कारव्याप्तः। वासनानाम् तेषामेव संस्काराणां समुद्बोधात् सृष्टिकालोद्बुद्धप्राण्यदृष्टकृतात् कार्योन्मुखत्वात् पर्यालोचयत् आलोचनं स्रष्टव्यतत्प्रकारविषयं मायावृत्तिरूपमीक्षणं कृतवानित्यर्थः॥ ७१॥

मान्यता है। अज्ञान तो प्रमाण के बिना भी सबको स्वयं मालूम है अतः वह शब्द का प्रतिपाद्य अर्थ नहीं। जैसे दिया अँधेरा नहीं दिखा सकता ऐसे प्रमाण अज्ञान नहीं प्रमित करा सकते। माया का अनुवाद क्यों? सिद्धांत है कि सफल की संनिधि में आया निष्फल सफल का अंग होता है। मोक्षफलक आत्मविद्या की संनिधि में होने से माया का अनुवाद आत्मविद्या की प्राप्ति का अंग है। सृष्टि आदि को बताने वाले वाक्य अद्वैत ज्ञान को उपपन्न करा कर ऐक्यबोधक वाक्य को समझने में सहायक बनने के लिए ही हैं। सृष्टि आदि का बोधन शास्त्र का तात्पर्य नहीं। यह भी नहीं कह सकते कि प्रत्यक्ष, अनुमान व शब्द से भिन्न कोई प्रमाण अविद्या में है क्योंकि अविद्या अचिन्त्य शक्ति वाली है व अन्य कुछ ऐसा है नहीं जो अचिन्त्य शक्ति वाला हो अतः अविद्या की किसी से समानता न होने से वह उपमान का विषय नहीं। कार्य से कारण का ज्ञान अर्थापत्ति से होता है। अविद्या के कार्य भ्रमसिद्ध हैं अतः उनसे अपने समान जातीय कारण का ही ज्ञान होगा जिससे भ्रमसिद्ध ही अविद्या सिद्ध होगी। क्योंकि अज्ञान भावरूप है इसलिए वह अनुपलब्धि का विषय नहीं। छह प्रमाण ही आस्तिक दार्शनिकों में प्रसिद्ध हैं। अन्य भी प्रमाणों का ऐसे ही निरास कर लेना चाहिये।

माया प्रमाणसिद्ध न होने का फल बताते हैं — अतः जैसे लीन होने पर अँधेरे वाला प्रतीत होता हुआ भी सूर्य दिन की तरह अँधेरा-रहित ही है वैसे समाय, माया वाला, प्रतीत होता हुआ भी यह आत्मा वस्तुतः मायारहित ही है॥ ७०॥

सूर्य जिस अँधेरे का विरोधी है वह मूलाविद्या का कार्य ही है, उसी कार्य-अँधेरे से रहित होने के कारण उसे अँधेरा-रहित कहा-समझा जाता है। कारणरूप से तो अँधेरा मूलाविद्या में है ही जिससे मूलाविद्या का ही कार्यविशेष होने से सूर्य का भी अँधेरे से संबंध सदा रहता है। दार्ष्टांत में भी समाय ब्रह्म को ही निर्माय कहा है क्योंकि वह जिस माया से सम्बद्ध है वह केवल व्यापार रूप और परतंत्र है जबकि स्वतन्त्रादिस्वरूप माया से वह सर्वथा असंबद्ध है। व्यापार का अर्थ कहा गया है – तज्जनकताप्रयोजकजनकताकत्व; तत् अर्थात् कार्य, उसकी जनकता कपाल में, उस जनकता का प्रयोजक संयोग क्योंकि उसके बिना कपाल में जनकता नहीं होगी; और उस संयोग में घट के प्रति जनकता भी है; एवं च संयोग व्यापार हो गया। इसी प्रकार प्रपंचरूप कार्य की जनकता परमेश्वर में, उसका प्रयोजक अज्ञान तथा वह अज्ञान प्रपंच का जनक है अतः व्यापाररूप है। परिणामी कारण अज्ञान प्रसिद्ध ही है। इसलिए अविद्या में ब्रह्मजन्यत्व के बिना भी व्यापाररूपता स्पष्ट है। पंडित बदरीनाथ शुक्ल ने विधिवाद की भूमिका में यह लक्षण बताया है। इस प्रकार 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' तथा 'नान्यद् किञ्चन मिषत्' इस ऐतरेयोपनिषत् के प्रथम वाक्य का अर्थ हो गया। 'नान्यद्' इत्यादि का शब्दार्थ है— मिषद् अर्थात् व्यापार वाला अन्य कुछ भी नहीं था। भाष्य में व्यापाररहित का भी उपलक्षण से

१. 'नान्यत्किंचन न किंचिदपि मिषन्निमिषद्व्यापारवदितरद्वा' इति भाष्यम्। २. 'स ईक्षत' इति हि श्रुतिस्तत्राडागमाभावश्छान्दसः।

इत्थं मयि स्थितं सर्वं भूतभौतिकरूपधृक्। अस्पष्टं स्पष्टवत् कृत्वा स्रक्ष्ये लोकत्रयीमिमाम्॥ ७२॥

सर्गः

इति संकल्प्य विश्वात्मा सत्यसंकल्प ईश्वरः। भूरादिलोकसहितमप्स्वण्डमुदपादयत्॥ ७३॥

आलोचनप्रकारमाह — इत्थं मयीति। भूतानि आकाशादीनि, भौतिकं सान्तर्विशेषं ब्रह्माण्डं, तद्रूपेण धृष्णोति प्रगल्भं भवति, ज्ञानविषयीभवति इति यावत्, भूतभौतिकरूपधृक्। एतादृशं सर्वमपि अव्यक्तम् अस्पष्टनामरूपम् अव्याकृतसंज्ञकं मयि कारणोपाधौ स्थितम्। इत्थं स्पष्टवत् कृत्वा इमां लोकत्रयीं स्वर्गाकाशभूलोकात्मिकां स्रक्ष्य इत्यर्थः। अत्र जलप्रधानैर्महरादिलोकैस्तदाधारस्वर्गस्य एकतां विवक्षित्वा श्रुतौ अप्पदार्थं, पातालैर्मरपदार्थ-भूलोकस्य चैकतां विवक्षित्वा, आदित्यकिरणप्रधानत्वेन मरीचिपदार्थमाकाशमादाय 'लोकत्रयीम्' इत्युक्तमिति श्रुत्यविरोधः॥ ७२॥

'स इमान्' (ऐ.१.१.२) इति व्याकुरुते - इति संकल्प्येति सार्धेन। अप्स्वण्डमिति। अग्निहोत्राहुतिपरिणामजल-प्रधानेषु सूक्ष्मपंचभूतेषु हिरण्यगर्भशरीरभूतेषु कार्यतया स्थितम् अण्डं ब्रह्माण्डं विराजःशरीरम् उदपादयत् जनितवानित्यर्थः॥ ७३॥

निषेध स्पष्ट किया है। एवं च आत्मा में विजातीय का भेद नहीं है यह सिद्ध होता हैं।

ऐतरेय में आगे कहा है 'स ईक्षत लोकान् नु सृजा इति' अर्थात् उस परमात्मा ने ईक्षण (विचार) किया 'मैं लोकों को उत्पन्न करूँ।' इस वाक्य को समझाना शुरु करते हैं — पूर्वकल्प में उत्पाद्यविषयक किये विचारों के संस्कारों वाले यों स्थित महेश्वर महादेव ने वासनाओं के जगने से उत्पाद्यविषयक चिंतन किया॥ ७१॥

पूर्व पूर्वतर कल्पों में जो सृष्टिविषयक आलोचन, विचार, थे वे माया के परिणामरूप ईक्षण ही थे। उन ईक्षणों के संस्कार माया में रहे। उन वासनाओं के कार्योन्मुख होने से इस कल्प के आरंभ में पुनः वैसा ही ईक्षण हुआ। कार्योन्मुख होने में प्राणियों का अदृष्ट भी हेतु है। जिस प्रपंच की सृष्टि करनी है उस स्रष्टव्य के प्रकार के विषय में जो पर्यालोचन है वही ईक्षण है। है वह मायावृत्तिरूप ही। यहाँ यह नहीं पूछना चाहिये कि क्यों तभी ईक्षण हुआ या क्यों तभी वासना जगी या क्यों तभी प्राण्यदृष्ट कार्यकारी हुए या वे अदृष्ट किंरूप हैं या वे ईक्षण के पूर्व यदि कार्यकारी हो गये तो ईक्षण की क्या आवश्यकता आदि। मायिक के बारे में ये या ऐसे प्रश्न पूछने ही नहीं चाहिये क्योंकि इनका व्यवस्थित उत्तर हो ही नहीं सकता, अन्यथा मायिकता ही नहीं रहेगी। शास्त्र का तो सृष्टि हुई नहीं इसी में तात्पर्य है अतः कोई दोष नहीं।

क्या विचार किया यह बताते हैं — 'सारा भूतभौतिक रूप वाला जगत् अस्पष्ट (अव्यक्त) हुआ मुझ में स्थित है। इसे स्पष्ट-सा कर इस त्रिलोकी की सृष्टि करूँ।' इस प्रकार महेश्वर ने चिंतन किया॥ ७२॥

आकाशादि महाभूत तथा उनके कार्य, ये मिलकर ब्रह्माण्ड रूप से सृष्टिकाल में ज्ञात होते हैं। ये ही सृष्टि से पूर्व अव्यक्त रहते हैं अर्थात् इनके नाम व रूप स्पष्ट नहीं होते, भूत व भौतिक रूप से ज्ञायमान नहीं होते। इनकी उस स्थिति को अव्याकृत कहते हैं। वह अव्याकृत परमेश्वर की ही उपाधि है। उसी उपाधि से महेश्वर कारण कहे जाते हैं। ईक्षण में यह संकल्प किया गया कि अव्यक्त रूप से स्थित ब्रह्माण्ड अब व्यक्त कर दिया जाये। 'स्पष्ट-सा' इसलिएं कहा कि नाम-रूप मायिक होने से हमेशा उनमें कुछ-न-कुछ अटपटापन ज़रूर रहेगा। अथवा सूक्ष्मसृष्टि हो जाने पर कारणोपाधिक की अपेक्षा सूक्ष्मोपाधिक हिरण्यगर्भ स्थूल सृष्टि करेगा इस अभिप्राय से 'स्पष्ट-सा' कहा; पूर्ण स्पष्ट तो स्थूल होने पर ही होंगे। 'इस त्रिलोकी' यों 'इस' शब्द से बताया कि परमेश्वर को वह तब भी अपरोक्ष थी।

आगे उपनिषत् कहती है 'स इमाल्ँलोकानसृजत, अम्भो मरीचिर्मरमापः' इत्यादि। इसका शब्दार्थ है 'अंभ, मरीचि, मर और आप, इन लोकों को महेश्वर ने उत्पन्न किया।' यहाँ चार लोक प्रतीत होते हैं तो पूर्व श्लोक में त्रिलोकी कैसे कहा? चारों का अभिप्राय त्रिलोकी में इस प्रकार है: जल है प्रधान जिनमें उन महः आदि लोकों को तथा उनके आधार स्वर्ग को एक मानकर श्रुति में अम्भ कहा है; अप्-शब्द जल का वाचक है। भुवर्लोक मरीचि कहा गया है। मरीचि

आत्मनोऽव्यतिरिक्तं तन्नामरूपक्रियात्मकम्॥ ७३½ ॥

लोकपालसृष्टिसंकल्पः

सृष्ट्वा सर्वं जगद् देवो मायावी बालको यथा। इदमालोचनं चक्रे सर्वज्ञः सर्वशक्तिभृत्॥ ७४॥

आत्मनः स्वस्मात्सदात्मकाद् अव्यतिरिक्तं स्वकीयसत्ताहीनमित्यर्थः। तस्य समष्टितां स्फुटयति — नामेति। नाम शब्दप्रपंचः, रूपमर्थप्रपंचः, क्रिया एतयोः कारणं कर्मप्रपंचः कर्मफलत्वान्नामरूपयोः; नामरूपक्रियाऽऽत्मा शरीरं यस्य तत्तथा॥ ७३½ ॥

तत्र लोकपालसृष्टिपरं 'तस्य····मुखम्' इत्यादि 'आपः' इत्यन्तं (ऐ.१.१.४) वाक्यं सार्द्धैकादशभिः श्लोकैः व्याकरिष्यंस्तदनुकूलेक्षणपरं[१] व्याकुरुते — सृष्ट्वेत्यादि त्रिभिः। सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्देव इदं वक्ष्यमाणश्लोकद्वयोक्तम् आलोचनं चक्र इत्यन्वयः। दृष्टान्तः — मायावी बालक इति। 'जन्मौषधिमन्त्रसमाधिजाः सिद्धयः' (४.१) इति योगसूत्रात् जन्मत एव मायया अनेकभावनिर्माणशक्तिमान् असुरादिर्यथा बालकतया रागद्वेषौ विना स्वभावान्निर्माणे प्रवर्तते, तद्वदीशोपीत्यर्थः। तदुक्तं भगवता व्यासेन 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (२.१.३३) इति। केवलमेव कैवल्यम्। लोकवद् राजवत् केवललीलैवेशस्य सृष्टिरिति सूत्रार्थः। गौडपादैरप्युक्तम् 'ईशस्यैव[२] स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहे'ति (आगम.९)॥ ७४॥

किरणों को कहते हैं। भुवः में सूर्यकिरणें प्रधान रहती हैं। मर से मर्त्य लोक और आप से पातालादि निम्न लोक कहे हैं, उनकी एकता की विवक्षा से उनका भू लोक में ग्रहण है। इस तरह श्रुति से त्रिलोकी समझी गयी है। ये लोक महेश्वर ने बनाये इसे मूलकार कहते हैं — यों विचार कर सर्वरूप व अमोघनिश्चय महेश्वर ने जलप्रधान महाभूतों में भूः आदि लोकों से युक्त ब्रह्माण्ड बनाया॥ ७३॥

ब्रह्माण्ड अर्थात् विराट् का समष्टि स्थूलात्मक शरीर। वह हिरण्यगर्भ के शरीर में विलीन था। हिरण्यगर्भ का शरीर सूक्ष्ममहाभूतरूप है। सूक्ष्म महाभूतों में जल प्रधान है, उसी से मूर्तता आरंभ होती है। अग्निहोत्र की आहुतियाँ सूक्ष्मावस्था में जलरूप से रहती हैं ऐसा शास्त्रों में कहा है। इससे भी जल की प्रधानता है। इस प्रकार श्लोक का अभिप्राय हुआ : अग्निहोत्र की आहुतियाँ परिणत होकर जिस रूप से रहती हैं वह जल है प्रधान जिनमें ऐसे सूक्ष्म पाँच भूतों में, जो कि भूत हिरण्यगर्भ के शरीर हैं, कार्यरूप से स्थित ब्रह्माण्ड अर्थात् विराट् के शरीर को उत्पन्न किया। यहाँ 'कार्यरूप से' यह सृष्टिकाल की दृष्टि से कहा समझना चाहिये।

उत्पादित ब्रह्माण्ड के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं — सद्रूप स्वयं से अनतिरिक्त उस नाम-रूप-क्रियास्वरूप ब्रह्माण्ड को पैदा किया॥ ७३½ ॥

ब्रह्माण्ड परमेश्वर से पृथक् सत्ता वाला नहीं है। तो क्या वह पारमार्थिक सत् है? नहीं। ब्रह्माण्ड की जो सत्ता प्रतीत होती है वह है तो परमेश्वर की, प्रतीत चाहे ब्रह्माण्ड से सम्बद्ध होती हो। एवं च ब्रह्मसत्ता से सत्तायुक्त होने के कारण ब्रह्माण्ड मिथ्या है यह अर्थ है। तब आत्मसत्ता से भिन्न (व्यावहारिक) सत्ता वाला है ऐसा क्यों नहीं कहा? सत्ता नाना हैं ही नहीं। एक ब्रह्मसत्ता ही है। जब उससे पृथक् सत्ता वाला नहीं तो असत् (सद्भिन्न) ही कहा गया, यह अर्थ है। तब त्रिविध सत्ता है ऐसा प्रसिद्ध क्यों है? उक्त सिद्धांत को बुद्धिगत करने के उपायरूप से ही त्रिविध या द्विविध सत्ता का कथन ग्रंथों में है, सचमुच अनेकविध सत्ता बताने के लिए नहीं। विराट् समष्टिरूप है। शब्द प्रपंच नाम है, अर्थ प्रपंच रूप है, शब्द-अर्थों का कारण कर्मप्रपंच क्रिया है। नाम व रूप ये दोनों ही कर्म का फल हैं। कर्मभोगार्थ ही उनकी अभिव्यक्ति होती है।

अम्भ आदि लोकों का वर्णन कर श्रुति आगे कहती है: 'उसने ईक्षण किया, 'ये लोक हुए, लोकपालों को उत्पन्न

---

१. 'स ईक्षतेमे नु' (ऐ.१.१.३)। २. देवस्यैष इति मूलपाठः।

इमानि पंचभूतानि त्विदमण्डं च नीरगम्। अत्र स्थिता इमे लोका भूर्भुवः स्वरितीरिताः॥ ७५॥
अचेतनमिदं सर्वं विनश्येत् क्षणमात्रतः। स्वामिहीनं गृहं यद्वन्मृतस्येव कलेवरम्॥ ७६॥

सगोलकेन्द्रियदेवसर्गः

इति संचिन्त्य तत्रैव च्छिद्राणि विविधानि तु। चकार लोकपालानां सृष्ट्यर्थं स जगत्पिता॥ ७७॥

इमानीति। नीरगं जलप्रधानपंचभूतगम्। शेषं स्पष्टम्॥ ७५॥ अचेतनमिति। स्फुटम्॥ ७६॥

इति संचिन्त्येति। प्रथमं छिद्रोत्पत्तावुपपत्तिमाह — लोकपालानां सृष्ट्यर्थमिति। लोक्यत एभिरिति करणव्युत्पत्त्या लोकपदार्थवागादिकरणनिरूप्यं हि लोकपालत्वं, करणत्वं च कार्यनिरूप्यं, कार्यारम्भस्तु गोलकमन्तरा करणैर्दुःसम्पादः। इत्थं यावता विनाऽनुपपत्तिः तत्सर्वं कल्प्यत इति न्यायाच्छिद्राणि ससर्जेत्यर्थः। जगत्पिता जगतः पितृवद् योगक्षेमनिर्वाहकः॥ ७७॥

करूँ।' उसने जलों से (भूतों से) ही पुरुषाकार शरीर को ग्रहण कर उसे संपिंडित किया। उसे तपाया। जैसे अण्डा फूटता है ऐसे उस तपे पिण्ड का मुँह खुल गया। मुँह से वाक् और वाणी से अग्नि हो गयी।' इसी रीति से गोलक, इंद्रिय व देवता की अभिव्यक्ति बतायी है। इस प्रसंग को साढ़े ग्यारह श्लोकों से बताना है। पहले 'उसने ईक्षण किया' इस हिस्से का व्याख्यान करते हैं — मायावी बालक की तरह महादेव ने सारे जगत् को उत्पन्न किया। फिर उसी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् महादेव ने यह विचार किया॥ ७४॥

विचार आगे के दो श्लोकों में बतायेंगे। सर्वज्ञ सर्वशक्ति ईश्वर ईक्षण करते हैं। दृष्टांत दिया है मायावी बालक का। 'जन्म से, औषधि से , मन्त्र से , तप से, व समाधि से सिद्धियाँ मिलती हैं' इस योगसूत्र के अनुसार जन्म से ही कुछ लोग अनेक वस्तुओं के निर्माण की अलौकिक शक्ति वाले होते हैं। बचपन में ऐसा व्यक्ति जब किसी निर्माण में प्रवृत्त होता है तब बाल्यवश होता है, किसी राग-द्वेषवश नहीं। महेश्वर भी ऐसे ही स्वाभाविक मायाशक्ति से संपन्न है व रागादि के बिना केवल लीला रूप से सृष्टि करता है। ईश्वर को कोई अपूर्ण कामना तो है नहीं अतः उसका यह स्वभाव ही है कि अज्ञान होने पर प्रपंचाकार से उपलब्ध होवे। उपलब्ध किसे होता है? जो उसे जानता नहीं। कौन नहीं जानता? जिसे यह अनुभव है कि 'मैं नहीं जानता'। न जानने वाला मैं क्या उससे भिन्न हूँ या अभिन्न? हूँ तो अभिन्न पर मान रहा हूँ भिन्न। तब तो वही मान रहा है ऐसा क्यों नहीं कहा? वही तो मैं हूँ अतः एक ही बात है।

परमेश्वर ने लोकपाल उत्पन्न करने के लिए जो विचार किया वह दिखाते हैं — 'ये पाँच महाभूत तथा जलप्रधान महाभूतों में स्थित यह ब्रह्माण्ड, इस ब्रह्माण्ड में स्थित भूः, भुवः, स्वः कहाने वाले ये लोक, यह सब तो अचेतन है अतः चेतन अधिष्ठाता के बिना यह वैसे ही क्षणभर में नष्ट हो जायेगा जैसे मालिक के बिना घर और जैसे मरे हुए का शरीर नष्ट हो जाता है॥ ७५ - ७६॥

भावपदार्थों का क्षयोन्मुख परिणाम होता ही है। यदि कोई चेतन जागरूकता पूर्वक व्यवस्था करता रहे तब पदार्थ कुछ लम्बे समय तक चलते हैं अन्यथा शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। यह घर व शरीर के दृष्टांतों से बताया। दोनों हर हालत में नष्ट होंगे, पर मालिकादि हों तो देर से, अन्यथा जल्दी नष्ट हो जायेंगे। ऐसे ही संसार के मालिक-स्थानीय चेतन हों तो सांसारिक पदार्थ कुछ अधिक स्थायी होंगे तथा व्यवस्थित कार्यों में सक्षम होंगे। ईश्वर तो मालिक है ही, अन्य मालिकों की क्या आवश्यकता? उस उस व्यष्टि में अभिमानी ईश्वर ही तो यहाँ अधिष्ठाता मालिक कहा गया है। समष्ट्यभिमान से काम चल जाये, व्यष्ट्यभिमान की क्या ज़रूरत? समष्टि तो व्यष्टिसापेक्ष ही है अतः ज़रूरत है। यदि समष्टि को निरपेक्ष मानें तो पूर्वोक्त लीलासिद्धि के लिए व्यष्ट्युपाधि अधिष्ठाताओं की आवश्यकता समझनी चाहिये।

यों विचार कर परमात्मा ने क्या किया यह कहते हैं — इस प्रकार विचार कर लोकपालों की सृष्टि करने के लिए जगत्पिता ने पूर्वनिर्मित ब्रह्माण्डपिण्ड में अनेक प्रकार के छिद्र बनाये॥ ७७॥

मुखच्छिद्रादियं जाता वाक् शब्दव्यवहारिणी। तत्रैव तस्याः संजातो वह्निर्वैदिककर्मकृत्॥ ७८॥
नासिकाच्छिद्रतो घ्राणं घ्राणादेव प्रभंजनः। अक्षिच्छिद्रादिदं चक्षुश्चक्षुषो भगवान् रविः॥ ७९॥

मुखच्छिद्रादिति। मुखच्छिद्रं गोलकं प्राप्य शब्दव्यवहारिणी वाग् जाता प्रादुर्भूतेत्यर्थः, पूर्वं स्वकारणादुत्पन्नापीति शेषः। एवमग्रेऽपि। कर्मेन्द्रियाणि हि अपंचीकृतभूतराजसांशेभ्यो, ज्ञानेन्द्रियाणि तु सात्त्विकांशेभ्यः पूर्वमुत्पन्नानीति। तत्र गोलक एव संनिहितो वह्निर्देवो भूतसात्त्विकांशोत्पन्नः[१] संजातः प्रदुर्भूतः। कीदृशः? वैदिकानि कर्माणि करोति निर्वाहयतीति तथा। यद्वा वैदिकं कर्म अग्न्युपासनं तद्भावप्रापकं पूर्वकल्ये कृतवान् स तथा। वह्निभावित्वाद् वह्निः यजमानः संजातः देवभावरूपं फलं प्राप्त इत्यर्थः। तथा च श्रुतिः — 'अग्निर्वा अकामयत देवानामहमन्नादो भूयासं स एतमग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपद्' इति। एवमग्रेऽपि करणदेवोपासकास्तद्भावं प्राप्ता इति बोध्यम्॥ ७८॥

नासिकाच्छिद्रतइति। प्रभंजनो वायुः। उक्तोऽर्थ॥ ७९॥

जिनके द्वारा लोकन (ज्ञान) किया जाता है उन वाग् आदि करणों के अधिष्ठाता होने से लोकपाल करणों से सम्बद्ध हैं। करण कहते हैं कार्य का जो असाधारण कारण हो उसे अतः करण का कार्य से सम्बंध है। करण तभी कार्य कर सकते हैं जब गोलक हो। इसलिए लोकपाल-सृष्टि के लिए करण तथा गोलक दोनों को बनाना ज़रूरी हुआ। 'जितने के बिना काम न बने वह सब तैयार करना पड़ता है' यही सामान्य नीति है। अतः ईश्वर ने भी गोलकरूप छिद्र बनाये यह भाव है। क्योंकि संसार में सारी आवश्यकता भगवान् ही पूरी करते हैं एवं रक्षा-योग्य वस्तुओं को बचाते हैं इसलिए वे ही जगत् के पिता हैं।

छिद्र बनने के बाद जो हुआ उसे बताते हैं — शब्दों का उच्चारण रूप व्यवहार करने वाली यह वाणी मुख के छिद्र से उत्पन्न हुई। वहीं उसकी अधिष्ठात्री देवता एवं वैदिक कर्मों की निर्वाहिका वह्नि उत्पन्न हुई॥ ७८॥

यद्यपि वागिन्द्रिय सूक्ष्म आकाश के रजोंश से पूर्व में ही उत्पन्न हो चुकी थी क्योंकि वह हिरण्यगर्भ के शरीर का हिस्सा है, तथापि गोलक को प्राप्त होकर वह व्यवहारसक्षम हुई यह तात्पर्य है। आगे भी इंद्रियों की गोलक से उत्पत्ति का यही अर्थ समझना चाहिये कि गोलकसम्बन्ध से इंद्रिय कार्यकारी हुई। कर्मेन्द्रियाँ सूक्ष्म भूतों के रजोंश से तथा ज्ञानेन्द्रियाँ उनके सत्त्वांश से बनी हैं। भूतों की ही सत्त्वसमष्टि से अधिष्ठाता देवता बने हैं। यहाँ भी देवोत्पत्ति का प्रकृत में कथन इसी अभिप्राय से है कि वह देवता अधिष्ठातृरूप से गोलक से सम्बद्ध हो गया, गोलकस्थ इन्द्रिय में अभिमानी हो गया। अग्नि वैदिक कर्मों को संभव करती है यह प्रत्यक्षसिद्ध ही है। अथवा 'वैदिककर्मकृत्' का अर्थ है कि पूर्वकल्प में जिस यजमान ने अग्नि-उपासनारूप वैदिक कर्म पूर्ण सम्पन्न किया था वही इस कल्प में अग्नि देवता बन गया। श्रुति कहती है 'अग्नि ने कामना की 'मैं देवताओं के अन्नों को खाने वाला बन जाऊँ'। उसने कृत्तिका अग्नि के निमित्त अष्टाकपाल का निर्वाप किया।' इत्यादि; इससे पता चलता है अग्निभावापत्त्यर्थ अग्नि-पूजनादि करना चाहिये। ऐसे ही अन्यान्य देवोपासक कल्पांतर में तत्तदेव बन जाते हैं यह समझना चाहिये। पदरूप से देवता नित्य हैं। देवता व्यक्ति तो कर्मानुसार बदल जाते हैं या ज्ञान पाकर मुक्त हो जाते हैं। पुरोडाश, अर्थात् पिसी हुई होमीय वस्तु का पिण्ड, कुछ विशिष्ट कपालों पर अर्थात् मिट्टी के ठीकरों पर भूँजा जाता है। यदि वे विहित कपाल आठ हों तो पुरोडाश को अष्टाकपाल कहते हैं। आठों कपाल ऐसे व इतने बड़े बनाये जाते हैं कि उन्हे व्यवस्थित कर रखें तो घोड़े के खुर का आकार-प्रकार बन जाये। 'निर्वाप' से समर्पण समझ सकते हैं।

फिर क्या हुआ यह बताते हैं — नाक के छेद से सूँघने की इंद्रिय घ्राण, घ्राण के बाद वायुदेवता; एवं आँख के छेद

१. अत्रेयं पैङ्गलोपनिषदनुसन्धेया - 'स तेषां सत्त्वांशं चतुर्धा चतुर्धा कृत्वा भागत्रयसमष्टितः पञ्चक्रियावृत्त्यात्मकमन्तःकरणमसृजत्, स तेषां सत्त्वतुरीयभागेन ज्ञानेंद्रियाण्यसृजत्, सत्त्वसमष्टित इन्द्रियपालकानसृजत्। तानि सृष्टान्यण्डे प्राचिक्षिपत्, तदाज्ञया समष्ट्यण्डं व्याप्य तान्यतिष्ठन्नि'त्यादि (अध्य.१)।

कर्णच्छिद्रादिदं श्रोत्रं श्रोत्राज्जाता इमा दिशः। अतिसूक्ष्माण्यनन्तानि देहे सर्वत्र यानि हि॥ ८०॥
छिद्राणि तेभ्यः संजाता त्वक् देहं व्याप्य संस्थिता। तस्याः शरीरे लोमानि केशाश्चापि हि जज्ञिरे॥ ८१॥
लोमभ्यश्च सकेशेभ्यः स्थावराः सर्व एव हि। जाताः सर्वोपकाराय क्लेशभाजस्त्वहर्निशम्॥ ८२॥
पंचच्छिद्रं मांसपद्ममन्तराकाशसंश्रितम्। हृदयं नाम तज्जातं तस्माज्जातमिदं मनः॥ ८३॥
मनसश्चन्द्रमा जातो जगदानन्दकारकः॥ ८३½॥

प्राणसृष्टिः

नाभिच्छिद्रादयं जातः प्राणभेदोऽतिदुःसहः॥ ८४॥
मुखागतमिदं यस्मादन्नपानं च सर्वशः। अन्तर्देहेऽपनयति ततोऽपानोऽयमीरितः॥
अपानतो महानेष मृत्युर्जनभयंकरः॥ ८५॥

कर्णच्छिद्रादिति। पूर्वार्धं स्पष्टम्। यानि देहे सूक्ष्माणि च्छिद्राणि तेभ्यो देहं व्याप्य संस्थिता त्वक् स्पर्शनेन्द्रियगोलकचर्मरूपा[1] संजाता इत्युत्तरेणान्वयः॥ ८०॥ छिद्राणीति। लोमानि केशाश्च जज्ञिरे — लोमकेशसहकृतं स्पर्शनेन्द्रियमुत्पन्नमित्यर्थः॥ ८१॥

लोमभ्यश्चेति। तेभ्यः स्पर्शनेन्द्रियसहकृतेभ्यः सर्व ओषध्यादिभेदभिन्ना स्थावरा जाताः। तत्सहकृतो वायुर्देवतोत्पन्ना इत्यर्थः। गन्धोपाधिर्वायुर्घ्राणदेवता, स्थावरोपाधिस्तु स्पर्शनेन्द्रियदेवतेति विभागः॥ ८२॥

पंचच्छिद्रमिति। पंच पूर्वादिक्रमेण मध्ये च प्राणाद्युपासनस्थानानि च्छिद्राणि यस्मिंस्तत्तथा। अन्तरिति। अन्तराकाशेन दहराख्येन अवच्छेदकतयाऽऽश्रितं हृदयं हृदयपदेन श्रुतौ विवक्षितं गोलकं *जातम्*। तस्मान्मन इन्द्रियं जातमिति॥ ८३॥ मनस इति॥ ८३½॥

नाभिच्छिद्रादिति। नाभिच्छिद्रं गोलकं तस्मात् प्राणभेदो बाह्यवायोराचमनहेतुरपानः पूर्वं भूतानां मिलितराजसांशोत्पन्नो जातः प्रादुर्भूतः। अतिदुःसहो दुःखेन सोढुं शक्यः। अतएव प्राणायामस्य दुष्करत्वम्॥ ८४॥

तस्यापानत्वं निर्वक्ति — मुखागतमिति। अन्नं पानमपनयति अधो नयतीति अपान इति विग्रहः। तद्देवतामाह — अपानत इति॥ ८५॥

से यह देखने की इंद्रिय चक्षु और फिर भगवान् सूर्य उत्पन्न हुए। कान के छेद से यह सुनने की इंद्रिय श्रोत्र व श्रोत्र से ये दिशायें (दिग्देवता) उत्पन्न हुई। देह में सर्वत्र जो अनन्त अतिसूक्ष्म छेद हैं उनसे त्वक् रूप गोलक उत्पन्न हुई जो शरीर में फैलकर स्थित है। त्वचा (चमड़ी) से शरीर में रोम और बाल अर्थात् तत्सहकृत छूने की इंद्रिय उत्पन्न हुई। उससे सबके उपकारार्थ सारे ही स्थावर (पेड़-पौधे) उत्पन्न हुए। किंतु ये सब दिन-रात क्लेश पाते हैं॥ ७९ - ८२॥

यहाँ पूर्ववत् ही गोलक-इंद्रिय-देवता का उद्भव वर्णित है। स्थावरों से वायुदेवता लक्षित जानने चाहिये। गन्ध उपाधि वाला वायु घ्राणेन्द्रिय की और स्थावर-उपाधि वाला वायु स्पर्शेन्द्रिय की देवता है। अध्यारोपवर्णन संसार से विराग कराने के लिए है अतः यहाँ सबका क्लेश याद दिला दिया।

अन्तरिन्द्रिय के गोलकादि बताते हैं — दहराकाश द्वारा आश्रित, पाँच छेदों वाला मांसमय कमल हृदय कहाता है। वह गोलक उत्पन्न हुआ। उससे अंतःकरण बना और तब जगत् को आनन्द देने वाला चंद्रमा उत्पन्न हुआ। नाभि के छेद से यह विभिन्न प्राण उत्पन्न हुआ जिसे सहना दुष्कर है॥ ८३ - ८४॥

यहाँ 'विभिन्न प्राण' की जगह केवल अपान समझना चाहिये ऐसा टीकाकार का अभिप्राय है। प्राण रहते उसके धर्म

१. 'त्वग्गोलकम्। लोमेति लोमसहचरितं स्पर्शनेन्द्रियमुच्यत' इत्यानन्दगिरीयं वचनं स्मृत्वैवं व्याख्यानम्। अधिष्ठानकरणदेवतानां प्रकरणान्मध्ये लोमग्रहोऽयुक्त इत्युक्तव्यख्यातात्पर्यम्। अत्र च प्रसंगे 'सर्वत्र अधिष्ठानं करणं देवता च क्रमेण निर्भिन्नम्' इति भाष्यं (ऐ.१.१.४) स्मर्तव्यमेव।

अन्नदोषं विना नैव म्रियन्ते प्राणिनः क्वचित्। अन्नं चैष ग्रसत्यस्मादपानान्मृत्युरीरितः॥ ८६॥

अन्येन्द्रियाद्युत्पत्तिः

शिश्नच्छिद्रादिदं रेतः पंचमाहुतिसाधनम्। जरायुजाण्डजान्स्तन्वच्छरीरस्य च कारणम्।
रेतसोऽपि च नीराणि ब्रह्माण्डान्तः स्थितानि हि॥ ८७॥

नाभिच्छिद्रादपानो यो मृत्योर्जनक ईरितः। स गुदच्छिद्रतो ज्ञेयः स पायुर्मित्रपूर्वकः॥ ८८॥

अपानस्य मृत्युजनकत्वं लोकप्रसिद्धयुक्त्या संभावयति — अन्नदोषमिति। स्पष्टम्॥ ८६॥

शिश्नच्छिद्रादिति। उपस्थच्छिद्रं गोलकं ततो रेतः तत्सहचरितमुपस्थेन्द्रियं जातमित्यर्थः। पंचमाहुतिसाधनम् — द्युपर्जन्यभूमिपुरुषयोषिद्रूपाः पंचाग्नयः, श्रद्धासोमवर्षान्नरेतांसि जीवसम्पृक्तानि आहुतयः पंचाग्निविद्यायां प्रसिद्धाः। तत्र पंचमाहुतेः साधनं घटकं रेतः प्रसिद्धं श्रुतावित्यर्थः। पुनः कीदृशम्? जरायुजाण्डजान् देहान् तन्वद् विस्तारयद् लोकेपि प्रसिद्धमिति। ननु रेतसा साहचर्यसम्बन्धेन उपस्थेन्द्रियोपलक्षणं न सम्भवति, स्त्र्युपस्थे साहचर्यभंगाद्? अतआह — शरीरस्येति। षाट्कौशिकशरीरस्य कारणमत्र रेतःपदेन विवक्षितमतो न दोष इति। तत्र त्वगसृङ्मासानि मात्रंशात्, स्नाय्वस्थिमज्जानः पित्रंशादिति षट्कोशाः। रेतस इति। नीराणि नीरप्रधानपंचभूतशरीरः प्रजापतिर्देव उत्पन्न इत्यर्थः॥ ८७॥

एवम् 'आप' (ऐ.१.१.४) इत्यन्तं वाक्यं व्याख्याय तस्य स्ववर्तिपदैरुपलक्षणेन गुणोपसंहारन्यायेन च शेषकरणदेवसृष्टिपरत्वं दर्शयति — नाभिच्छिद्रादिति सार्धैः सप्तभिः। योऽपानः उक्तः स गुदच्छिद्रतो ज्ञेयः स्पष्टो भवति। अतो हेतोः सः अपानो वायुः पायुरिन्द्रियं भवति। मित्रपूर्वकः मित्रसंज्ञः पूर्वः प्रथमचिन्त्यो देवो यस्य स तथा। उपासनासु हि प्रथममधिदैवचिन्तनं पश्चादध्यात्मचिन्तनमिति क्रमः प्रसिद्धः। तथा च अपानपदेन सदैवं पायुरिन्द्रियमुपलक्षितमिति भावः॥ ८८॥

भूख-प्यास सहना और प्राण का वियोग सहना दोनों ही दुष्कर हैं। प्राणायाम भी दुष्कर है।

उस प्राण को (अथवा अपान को) अपान क्यों कहते हैं, यह समझाते हैं — क्योंकि मुख में आये इस अन्न और पेय को यह देह के अंदर सर्वत्र ले जाता है इसलिए यह अपान कहलाता है। अपान से (या अपान नाम वाले प्राण से) यह महान् मृत्यु देवता उत्पन्न हुई जो लोगों को भय देने वाली है। प्राणी कहीं भी अन्नदोष के बिना नहीं मरते और अन्न को यह अपान (या एतत्संज्ञक प्राण) निगलता है, अतः अपान से मृत्यु कही गयी॥ ८५ -८६॥

निषिद्ध अन्न का भक्षण, निषिद्ध व्यक्ति या उपाय से अन्न का उपार्जन, निषिद्ध काल आदि में अन्न खाना आदि अन्नदोष हैं। मनुस्मृति में (५.४) अन्नदोष मृत्युहेतु कहा है।

कर्मेन्द्रियों की भी उत्पत्ति ऐसे ही हुई यह दिखाते हैं — शिश्न से उपस्थगोलक समझना चाहिये अतः रेतस् से जननेन्द्रिय उत्पन्न हुआ जो जरायुजों का व अण्डजों का विस्तार करते हुए शरीर का भी कारण है। रेतस् से ब्रह्माण्ड में स्थित जलप्रधान पंचभूत शरीर वाला प्रजापति उत्पन्न हुआ॥ ८७॥

शिश्न से उपस्थगोलक समझना चाहिये अतः रेतस् से जननेन्द्रिय समझने से सर्वसंग्रह हो जाता है। द्यु, पर्जन्य, भूमि, पुरुष और योषित् रूप पाँच अग्नियाँ ध्यानार्थ उपनिषद् में कही गयी हैं। श्रद्धा, सोम, वर्षा, अन्न, रेत ये इन अग्नियों की आहुतियाँ है। यह सब पंचाग्निविद्या में प्रसिद्ध है। पंचम आहुति का साधन श्रुति में रेत कहा गया है। रेत जरायुज व अण्डज देहों के विस्तारक रूप से प्रसिद्ध है। छह कोषों वाले स्थूल शरीर के कारण को यहाँ रेत कहा है अतः शिश्न से योनि एवं रेतस् से शोणित द्वारा लक्षितलक्षणा से प्रजननेंद्रिय समझना उचित है। इंद्रियाँ स्त्री-पुरुष में विभिन्न जातीय नहीं होती, केवल गोलकादि के भेद से कार्यभेद हो जाता है। देहमात्र की उत्पत्ति कहते समय स्त्री-आदि देह को छोड़ा नहीं जा सकता। छह कोशों में त्वचा, रक्त व मांस माता के अंश से एवं स्नायु (नस), हड्डी व मज्जा पिता के अंश से होते

घ्राणाद् वायुः सगन्धः स्याद् भूमिस्तेन हि सा स्मृता। त्वचो लोमानि तानि स्युः सकम्पानि ततो मरुत्॥ ८९॥
लोमभिः सहितो जातस्त्वच इत्थं विनिर्णयः। दिशोऽवकाशरूपत्वात्ता आकाश इतीरिताः॥ ९०॥

घ्राणादिति। घ्राणं प्राप्य स्वयं निर्गन्धोपि वायुः सगन्धो भवेद्। यद्वा, घ्राणाद् हेतोः सगन्धो वायुः स्याद् अनुभूयेतेत्यर्थः। विषयेण विषयिणो लक्षणात्। तेन हेतुना सा भूमिः स्मृता — घ्राणं पृथिवी तत्त्वेन गर्भोपनिषदादिषु स्मृतिषु च प्रसिद्धमिति यावत्। सेति स्त्रीत्वं विधेयापेक्षया। तदुक्तं कैयटेन - 'उद्देश्यविधेययोरेकतामापादयन्ति सर्वनामानि कामचारेण तत्तल्लिंगमुपाददते' इति। सगन्धेन वायुना पृथिवी देवतोपलक्षितेति भावः। त्वच इति। त्वचो लोमानि यानि उक्तानि तानि सकम्पानि प्रसिद्धानि। ततो वायुजन्यकम्पशालिलोमाभिधानाद् *इत्थं* निर्णयो भवति; कथम्? लोमभिः स्पर्शनेन्द्रियसहकृतैः सह त्वचो गोलकात् मरुद् वायुर्देवो जात इत्युत्तरार्धेन अन्वयः॥८९॥ लोमभिरिति। दिशइति। लक्षणैक्यं हि पदार्थाऽभेदप्रयोजकम्। आवरणविरोध्यवकाशरूपं लक्षणं च दिगाकाशयोरभिन्न-मित्याशयेन ता आकाश इतीरिताः श्रुतिषु स्मृतिषु चेति शेषः॥ ९०॥

हैं। जल की पूर्वदर्शित प्रधानता से ही विराट् के शरीर को उस नाम से कहा।

ऐतरेयोपनिषत् (१.१.४) के लोकपालसृष्टिबोधकवाक्य की व्याख्या करने के बाद शेष करणों के देवों की सृष्टि गुणोपसंहारन्याय से तथा वाक्यस्थपदों से उपलक्षण द्वारा दिखलाते हैं — मृत्यु का जनक जो अपान नाभि के छेद से उत्पन्न होने वाला बताया गया है वह गुदा के छिद्र में स्पष्ट होता है अतः वह पायु इंद्रिय है जिसकी देवता मित्र है॥ ८८॥

उपलक्षणा समझाने के लिए अपान का उल्लेख किया है। उपासनाओं में पहले अधिदैव का चिंतन होता है, बाद में अध्यात्म का। इसी से मूल में 'मित्रपूर्वकः' अर्थत् मित्र है पूर्व में जिसके ऐसा कहा है; पूर्व में अर्थात् पूर्व में चिन्तनीय।

अन्य भी इन्द्रियादि बताते हैं — घ्राणेन्द्रिय से गन्धयुक्त वायु का अनुभव होता है अतः घ्राणेन्द्रिय पृथ्वीरूप बतायी गयी है। त्वचा से जो रोम होते हैं वे कम्पनयुक्त होते हैं, अतः यों निर्णय होता है कि त्वचा से रोमों सहित अर्थात् स्पर्शनेन्द्रिय-सहित वायु उत्पन्न हुआ॥ ८९ - ८९½॥

स्वयं गंधरहित भी वायु घ्राण इन्द्रिय को प्राप्त होकर सगन्ध हो जाता है, अथवा घ्राणेन्द्रियरूप हेतु से वायु सगंध जाना जाता है। नाक-घ्राण-वायु तो पूर्व में (श्लो.७९) कहे जा चुके हैं। यहाँ घ्राण की पार्थिवता कह रहे हैं। गन्धरूप विषय से उस विषय वाले की अर्थात् गंध वाले की लक्षणा होती है। इसलिए घ्राण को पार्थिव जानना चाहिये। उपनिषदों में यह बताया भी गया है। भगवान् भाष्यकार ने कहा है 'श्रुति मानती है कि करण विषयों की जाति के ही हैं, उनसे अन्य जाति के नहीं। अपने आप का ग्रहण करने वाले के रूप में स्थित विषय ही करण कहा जाता है। जैसे दीपक है तो रूपविशेष ही, वही सब रूपों का प्रकाशन करने में करण भी बनता है। ऐसे ही सभी इंद्रियों में जानना चाहिये।' (बृ.भा. २.४.११)। इसके वार्तिक और उसकी टीका में अनुमानों को दिखाकर यह और भी स्पष्ट किया गया है। सगन्ध वायु से पृथ्वी देवता उपलक्षित है। त्वचा से उत्पन्न जो लोम कहे थे वे सकम्प ही प्रसिद्ध हैं अतः वायुजन्यकम्पशाली लोम कहने से निर्णय होता है कि स्पर्शेन्द्रिय-सहकृत लोमों से, त्वग्गोलक से, वायुदेवता उत्पन्न हुए।

दिशा को आकाश क्यों कहा यह बताते हैं — क्योंकि दिशायें खाली जगह रूप हैं इसलिए उन्हे आकाश कहा गया है॥ ९०॥

लक्षण यदि समान हो तो पदार्थों में अभेद होता है। आवरणविरोधी अवकाशरूप लक्षण दिशाओं का तथा आकाश का अभिन्न है, अतः श्रुति-स्मृति में दिशाओं को आकाश कहा है। प्रकृत ऐतरेय में 'श्रोत्राद् दिशः' (१.१.४) कहा ही है जबकि श्रोत्र आकाशप्रकृतिक है। दिग्देवताक होने से ऐसा कहा है और लक्षणया आकाश कहकर तदुपादानक भी कह दिया है यह अर्थ है। सिद्धांतबिंदु में दिशाओं का व्यवहार सोपाधिक आकाश से ही संभव होने के कारण आकाश से

अन्तःकरणमुक्तं हि मनस्तेनाखिलं जगत्। बुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्यं तत्र जातं निगद्यते॥ ९१॥
ब्रह्मा रुद्रो महेशश्च चन्द्रशब्देन लक्षिताः। अपानशब्दतः प्राणो नानावृत्तिश्च लक्षितः॥ ९२॥
वाचापि रसनं तद्वदग्निनापि जलाधिपः॥ ९२½॥

अन्तःकरणमिति। चेतनस्योपाधी द्वौ। तत्र विज्ञानशक्तिरूपं मनोऽहंकारबुद्धिचित्तात्मकं समष्टितया हिरण्यगर्भत्वोपाधिभूतमन्तःकरणमाद्यम्। द्वितीयस्तु प्राणः क्रियाशक्तिः। तथा चायमर्थः — अन्तःकरणं चतुर्विधं मनः, अत्र श्रुतौ मनःपदेन ग्राह्यमित्यर्थः। तत्र हेतुं श्रौतीं प्रसिद्धिं दर्शयति — तेन हि मनसा अखिलं जगद् उत्पन्नम् उक्तम्। तथा च श्रुतिः 'असतोऽधि मनोऽसृजत मनःप्रजापतिमसृजत्, प्रजापतिः प्रजा असृजत्; तदिदं सर्वं मनस्येव प्रतिष्ठितम्' इति। 'असतः' अव्याकृतात्, 'मनो' हिरण्यगर्भः, 'प्रजापति' र्विराड् इति श्रुति-पदार्थः। नन्वेवं कारणतया प्रधानं मनः कथं कार्यभूते विराट्शरीरे शेषताऽऽत्मकान्तःकरणतामश्नुत इति चेत्? तथा दर्शनादित्यवेहि। उपादानं हि जाते कार्ये प्राय उपसर्जनतया भासते, यथा 'सद् आकाशम्' इत्यनुभवे कारणं सद्वस्तु सत्तारूपेण; यथा वा 'इदं रजतम्' इत्यत्र इदन्तया पुरोवर्ति वस्तु रजत इति। फलितमाह — बुद्धीत्यादि। तत्र मनःप्रादुर्भाव उक्ते सति बुद्ध्यहंकारचित्ताख्यम् इतरांशत्रयमपि जातं निगद्यते उक्तप्रायमित्यर्थः। मनसा बुद्ध्यहंकार-चित्तानि उपलक्षितानीति भावः॥ ९१॥

एवं मनोदेवतया बुद्ध्यहंकारचित्तदेवता उपलक्षिता इत्याह — ब्रह्मेति। अपानपदेन च क्रियाशक्ति र्नानाविधः प्राणो लक्षित इत्याह — अपानेति॥ ९२॥

एवमेकगोलकतासम्बन्धेन वागिन्द्रियेण रसनेन्द्रियमुपलक्षितं, तद्देवतया च रसनदेवतेत्याह — वाचेति॥ ९२½॥

अतिरिक्त दिशा मानना व्यर्थ है ऐसा अष्टमश्लोक-व्याख्या में श्रीमान् मधुसूदन सरस्वतीजी महाराज ने कहा है।

'हृदयाद् मनः' इस ऐतरेयवचन में मन से चतुर्विध अंतःकरण समझना चाहिये यह बताते हैं — अंतःकरण ही मन कहा गया है। मन से सारा जगत् उत्पन्न हुआ ऐसा श्रुति ने अन्यत्र बताया है। बुद्धि, अहंकार और चित्त नामक मनोंश भी मन की उत्पत्ति बताने से बता दिये समझने चाहिये॥ ९१॥

चेतन की दो उपाधियाँ हैं: मन और प्राण। मन विज्ञानशक्तिरूप है जिसमें मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार चारों समाविष्ट हैं। समष्टि मन हिरण्यगर्भ की उपाधि है। प्राण है क्रियाशक्तिरूप। ऐतरेयश्रुति के मनपद से अंतःकरणचतुष्टय का ग्रहण है। श्रुति में कहा है 'अव्याकृत से हिरण्यगर्भ बनाया, मन ने प्रजापति और प्रजापति ने प्रजा का सर्जन किया। इसलिए यह सब मन में ही प्रतिष्ठित है।' प्रश्न होता है कि मन जब हिरण्यगर्भ है तब वह कारणरूप होने से प्रधान है। विराट्शरीर तो कार्य है। विराट् शरीर में मन अंतःकरणरूप से उसका अंग अर्थात् उससे गौण कैसे बन गया? उत्तर है: अनुभव ऐसा ही होता है अतः ऐसा ही स्वीकारना पड़ता है। कार्य बनने के बाद उपादान कारण प्रायः गौण हो जाता है। जैसे 'सत् आकाश' (आकाश है) इस अनुभव में कारण सद्वस्तु घटीय अतः घटशेष सत्तारूप से भासती है। अथवा जैसे 'यह रजत' इस अनुभव में पुरोवर्ति वस्तु रजत में (अतः तच्छेष होकर) इदन्तया (यह इस तरह) भासती है। यहाँ श्रुति में मन कहा है उससे सभी अंतःकरणवृत्तियों का उपलक्षण जान लेना चाहिये।

इनके देवता भी समझने होंगे यह दिखाते हैं — मन के देवता को बताने वाले चंद्रशब्द से बुद्धि के देवता ब्रह्मा, अहंकार के देवता रुद्र और चित्त के देवता महेश भी समझ लेने चाहिये। ऐसे ही अपान शब्द से विभिन्न वृत्तियों वाला प्राण भी समझ लेना चाहिये॥ ९२॥

देवतानामों में ग्रंथों में मतभेद मिलता है। पंचीकरणवार्तिक में बुद्धि के प्रजापति और चित्त के क्षेत्रज्ञ देवता कहे हैं। मानसोल्लासमें (२.३६) बुद्धि के प्रजापति और चित्त के क्षेत्रज्ञ देवता कहे हैं। अतः ब्रह्मा के ही बृहस्पति व प्रजापति नाम समझ लेने चाहिये। प्राणरूप ब्रह्मा को 'एष उ एव बृहस्पतिः' (१.३.२०) बृहदारण्यक में कहा ही है। वे प्रजापति

छिद्राण्येवं विनिर्माय हस्तौ पादौ च सृष्टवान्। हस्ताभ्यां त्रिजगन्नाथं पद्भ्यां चैव त्रिविक्रमम्॥ ९३॥
एवं देहे हि वैराजे मुखादिषु यथोदितम्। सृष्टवान् देवताः सर्वा वागाद्याः स महेश्वरः॥ ९४॥

'कौषीतक्याद्युक्तहस्तपादेन्द्रियसृष्टिमुपसंहारेणाह' — छिद्राणीति। हस्तपादाऽऽधिपत्यसूचकनामानौ इन्द्रोपेन्द्रदेवौ अपि जनितावित्याह — हस्ताभ्यामिति। त्रयाणां जगतां लोकानां नाथो बलेनासुरान्निहत्य ईश्वर इति स तथा, बलवत्कर्म च हस्तनिष्ठम्; आहुश्च लौकिकाः — यद् बलवत् कर्म तदिन्द्रस्येति। त्रयो विक्रमाः पादन्यासा लोकाक्रमणसमर्था यस्य स तथा॥ ९३॥

एवमन्या अपि देवता उपलक्षणीया इति बोधयन् प्रकृतवाक्यव्याख्यानमुपसंहरति — एवमिति। यथोदितम् उदितं वेदशब्दमनतिक्रम्य तदनुसारेणेत्यर्थः। तथा च श्रुतिः 'एत इति वै प्रजापति र्देवानसृजत' इत्याद्या; सन्निहितवाचकं वेदस्थम् 'एत' इति पदमालोच्य तदर्थतया करणसंनिहिता देवताः स्मृत्वा ताः ससर्ज इति श्रुत्यर्थः। शेषं स्पष्टम्॥ ९४॥

तो प्रसिद्ध ही हैं। ऐसे ही महेश और क्षेत्रज्ञ का अभेद जानना चाहिये। सूक्ष्मदेह महच्छब्दार्थ है उसका ईश अर्थात् स्वामी क्षेत्रज्ञ महेश है। महत्ता ईश की यही है कि वह महत् का ईश है अतः षष्ठी समास न करने पर भी अर्थ वही सिद्ध हो जाता है।

एक ही गोलक में कार्यकारी होना, इस सम्बंध से वागिन्द्रिय व उसके देवता से रसनेन्द्रिय व उसके देवता की उपलक्षणा कहते हैं — वाणी से भी रसना (चखने की इंद्रिय) समझ लेनी चाहिये। ऐसे ही वाणी के देवता अग्नि से रसना के देवता जलाधिपति वरुण को भी समझ लेना चाहिये॥ ९२½॥

समानार्थक प्रसंग समान प्रयोजन वाले होने से एकवाक्यता से समझने चाहिये अतः कौषीतकी आदि में कहे हस्त-पादेन्द्रिय-जन्म को कहते हैं — इस प्रकार छेदों का एवं इंद्रियों व देवताओं का निर्माण कर हाथ और पैर उत्पन्न किये, उनसे क्रमशः इन्द्र व विष्णु को उत्पन्न किया॥ ९३॥

उक्त इन्द्रियद्वय के उक्त ही देवता हैं। मूल में इन्द्र को त्रिजगन्नाथ कहा है क्योंकि बल से असुरों को हरा कर वह त्रिलोकी का शासक है। हाथ भी बल वाले कार्य करता है अतः दोनों का सम्बंध स्फुट है। ऐसे ही विष्णु को मूल में त्रिविक्रम कहा क्योंकि तीन पादों में, डगों में, कदमों में उन्होंने त्रिलोकी नाप ली थी और पैर भी कदम भरता है जिससे दोनों का सम्बंध स्पष्ट हो जाता है।

यहाँ न कहे अन्य भी देवता परमेश्वर ने उत्पन्न किये यह समझना चाहिये यह बताते हुए ऐतरेयोपनिषद् आत्मषट्क के प्रथम खण्ड की व्याख्या का उपसंहार करते हैं — यों उस महेश्वर ने विराट् शरीर में मुख आदि में उक्त विधि से सारे वागादि देवता उत्पन्न किये॥ ९४॥

'उक्त विधि' अर्थात् वेद में कहा ढंग। महेश्वर वेद का स्मरण कर तदनुसार ही सृष्टि करते हैं। इसी से महानारायण में (१४) 'यथापूर्वकमल्पयत्' कहा है। केवल करणानुग्राहक देवताओं की ही सृष्टि नहीं सभी की सृष्टि जाननी चाहिये। प्रकरणानुसार करणसम्बद्ध देव कहे हैं। वस्तुतः सृष्टि में तत्तत्कार्यों के अध्यक्ष रूप से ही देवता उपस्थित हैं अतः करणों से सभी सृष्टिकार्य समझ कर उनके देवता समझने चाहिये। अचेतन की चेतनाऽनधिष्ठित प्रवृत्ति अनुपपन्न होने से एवं करणों की सब चेष्टाओं में जीव की अध्यक्षता अनुभूयमान न होने से यथाश्रुति करणसंचालक देवता स्वीकार्य हैं। अन्य भी जहाँ अचेतन की प्रवृत्ति दीखे वहाँ अधिष्ठाता रूप से देवता मानना होगा। इससे कार्यानुमेय ही देवता हैं अतः अन्यथा उपपत्ति से निराकार्य या अनियत संख्याकादि होंगे ऐसा नही समझना चाहिये। देवता तो शास्त्रानुसार ही बोध्य हैं,

---

१. कौ. उ. ३.५। २. 'उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च' (ब्र.सू.३.३.५)।

द्वितीयः खण्डः

अनन्तकोटीः कोटीनां योजनानि स विस्तृतः। विराड्देहार्णवो लोकात् प्राणिनां हि भयङ्करः॥ ९५॥

अथ 'ता एता' इत्यादिकण्डिकां (ऐ.१.२) देवानामध्यात्मभावेन व्यष्टिशरीरे प्रवेशप्रतिपादिकां द्वाविंशतिभिरुपबृंहयन्, आदौ तदुपयोगितया कर्मोपास्तिफलं देवभावोऽपि दुःखानुविद्ध इत्यभिप्रायेण च क्षुत्पिपासोत्पत्तिप्रतिपादकं भागं चतुर्भिर्व्याकुर्वन्, विराड्देहमर्णवत्वेन निरूपयति — अनन्तेति त्रिभिः। विराड्देहाऽभिन्नोऽर्णवो विराड्देहार्णवः। रूपकोपयोगिसमानधर्मानाह — कोटीनां स्वांशभूतानां देवानां व्याप्यतया सम्बन्धीनि अनन्तकोटीः योजनानि अगणितकोटिसंख्याकानि योजनानि विस्तृतः, अपरिच्छिन्न इति यावत्। देवानां विभुत्वे च 'एते सर्वं एव समाः सर्वे अनन्ताः' (बृ.१.५.१३) इति श्रुतिर्मानम्। तेषां विभूनामपि प्राण्यदृष्टवशेन प्रोद्भूतव्यष्टिशरीरे करणेष्वभिमानस्य प्रादुर्भावतिरोभावावित्यग्रे निर्णयो भविष्यति। कोटिशब्दस्य अंशपरत्वे मानं तु 'कोटिरस्त्रौ च चापाग्रे संख्याभेदप्रकर्षयो'रिति विश्वः। कोणरूपास्त्रिवाचककोटिशब्दस्य अवयवपरत्वं संभवत्येवेति। समुद्रपक्षे कोटीनामावृत्त्या या अनन्तकोटयः ताः, तत्परिमितानि, प्रलयकाले गणकाभावाद् ईश्वरस्य तद्गणने प्रयोजनाभावात् चासंख्यातानि योजनानि विस्तृत इत्यर्थः। 'अनन्तकोटिकोटीनाम्' इति पाठेऽनन्तकोटिगुणितानामनेककोटीनां संख्यानां संख्येयतया सम्बन्धीनि योजनानि विस्तृत इत्यर्थो बोध्यः। पुनः कीदृशः? — लोकात्। लोकानत्ति स्वस्मिन्नन्तर्भावयति इति तथा; सर्वलोकशरीर इति यावत्। समुद्रपक्षे सर्वलोकाऽऽप्लावक इत्यर्थः। यद्वा, दर्शनादित्यर्थः। तच्च विराट्पक्षे 'अहं सर्वात्मा विराडस्मि' इत्याकारकनिश्चयरूपम्, उत्तरविशेषणस्थभयेऽवधित्वेनान्वेति। समुद्रपक्षे तु अवलोकनरूपहेतुतया इति बोध्यम्। पुनः कीदृशः? प्राणिनामिति। निन्दायामिनिः। भूमनिन्दाप्रशंसास्वितिवाक्यात् (५.२.९४ तमस्य सूत्रस्य वार्तिकम्)। तथा च निन्दितः परिच्छिन्नतया भासमानः प्राणो येषान्ते प्राणिनः परिच्छिन्नदृष्टयस्तेषां भयंकरः ते हि बाला इव अपरिच्छिन्नभावाद्बिभ्यति। हिशब्दः प्रसिद्धिद्योती। तथा च सूचितं गौडपादाचार्यैः — 'अस्पर्शयोगो नामैष[1] दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः। योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः'॥ ३.३९॥ इति। समुद्रपक्षे तु स्फुटम्॥ ९५॥

कार्यलिंगकानुमान तो समझने मात्र के लिए है। सृष्ट्युपदेश का मुख्य प्रयोजन क्या है? कार्य-कारण भेद से हम द्वैतनिष्ठ हैं। समस्त कार्य एक कारण से अतिरिक्त अन्य किसी से उत्पन्न नहीं होते यह समझने से कार्यों का परस्पर भेद नाममात्र का है यह समझ आता है। मिट्टी से अतिरिक्त किसी से न बनी होने से घट, शराव आदि वस्तुयें मृन्मात्र होती हैं उनका परस्पर भेद नाम-रूप का ही होता है। फिर उस एक कारण से भी यह कार्य-प्रपंच उत्पन्न हुआ नहीं यह समझने से द्वैतभाव का विलोप हो जाता है। सर्प, माला, जलधारा आदि पुरःस्थित रस्सी से इतर किसी से नहीं उत्पन्न हुए इतना ही नहीं, वे उस रस्सी से भी उत्पन्न नहीं होते अतः रस्सी ही अकेली है अन्य कुछ है ही नहीं। ऐसे ही एक महादेव से अतिरिक्त कहीं कोई जड-चेतन पदार्थ है ही नहीं इस अद्वैत-बुद्धि के अवतारण के लिए सृष्टि का अध्यारोप है। इस प्रकार यह प्रथम खण्ड की व्याख्या हुई।

द्वितीय खण्ड

द्वितीय खण्ड में श्रुति यह बताने से प्रारंभ करती है कि पूर्वोक्त उत्पन्न देवता भूख-प्यास से युक्त इस संसारसमुद्र में आ पड़े। उन्होंने परमेश्वर से रहने के ऐसे स्थान की प्रार्थना की जहाँ वे अन्न खा सकें। भगवान् ने पहले गाय फिर घोड़ा उपस्थित किया पर उसमें उन देवों को प्रवेश करने की रुचि न हुई। तब महेश्वर ने पुरुषदेह उपस्थित किया जिससे सब प्रसन्न हो गये और ईश्वर की आज्ञा से अपने उचित स्थानों पर, अर्थात् मुँह में आग, नासिका में वायु इत्यादि, वे उचित

---

१. 'वै नाम' इति कारिकापाठः। सर्वसम्बन्धाख्यस्पर्शवर्जितत्वादस्पर्शो योगो ब्रह्मण्यैक्यम्। ततो बिभ्यति स्वनाशशंकया। योगिभिर्वेदान्तविद्यारहितैरित्यर्थः।

महाभूतजलः सप्तसप्तलोकोर्मिमालकः। चतुर्विधशरीरौघशुक्तिशंखविभूषितः॥ ९६॥
कामक्रोधादिनक्राणामाकरः कर्मबन्धनः। त्वगादिधातुदुर्गन्धो विण्मूत्रमलसंश्रयः॥ ९७॥
एतस्मिन् पतिता एता वागाद्याः सर्वदेवताः। क्षुत्पिपासापरिश्रान्ता जनकं स्वमथाऽब्रुवन्॥ ९८॥

महाभूतेति। महाभूतान्येव जलानि यस्मिन् स तथा। सप्तयुक्ताः सप्त सप्तसप्त, चतुर्दश इति यावत्; ते च ते लोका एव ऊर्मिमाला यस्मिन् स तथा। जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जतया चतुर्विधा ये शरीरौघास्त एव शुक्तिशंखास्तै र्विभूषितः। अत्र सादृश्यातिशयेन महाभूतानां जलानां च अभेदविवक्षायां यथा महाभूताभिन्नजलवत्त्वं विराट्शरीरस्य तथा समुद्रस्यापि। एवमुत्तरत्रापि बोध्यम्॥ ९६॥

कामक्रोधेति। कामक्रोधादय एव स्ववासनामयैस्तन्तुभिर्बध्वा संसारसिन्धौ मज्जकत्वान्नक्रास्तेषामाश्रयः। कर्म-बन्धनः; समुद्रे हि बन्धनानि नानाविधानि — कानिचित् पारगमनप्रतिबंधकानि, यथा हनुमतश्छायाग्राह्यसुरादीनि; कानिचित्तरणप्रतिबन्धकानि, यथा जलभ्रमादीनि; कानिचित् बहिर्निःसरणप्रतिबन्धकानि, यथा ग्राहमुखादीनि; तथा-विधानि संचितागामिप्रारब्धलक्षणानि कर्माण्येव बन्धनानि यत्र स तथा। शेषं स्पष्टम्। अन्नदोषाणां विराट्-समष्टिशरीरे सम्बन्धो व्यष्टिद्वारा बोध्यो, न तु साक्षात्। अन्यथा 'न ह वै देवान् पापं गच्छति' (बृ.१.५.२०) इति श्रुतिविरोधापत्तेः; 'पापं' पापफलमशुभमित्यर्थः॥ ९७॥

एतस्मिन्निति। क्षुत्पिपासापरिश्रान्ता ईश्वरेण विराट्शरीरे सृष्टाभ्यामशनायापिपासाभ्यां तदंशत्वेन ग्लानाः, यथा मानुषशरीरे क्षुत्पिपासोदये सर्वेन्द्रियाणि व्याकुलानि भवन्ति तद्वदित्यर्थः। एतादृशास्ते देवा विराट्शरीरतर्पण-क्षममन्नपानमपश्यन्तः स्वं जनकम् ईश्वरम् अब्रुवन् इति॥ ९८॥

रूप, अर्थात् वाणी प्राण आदि, ग्रहण कर प्रविष्ट हो गये। भूख-प्यास को परमेश्वर ने सब देवों के भोगों में हिस्सा दे दिया। इसीलिए वे सभी के भोगों से तृप्त होती हैं। यह द्वितीय खंड का संक्षेप है। एवं च यहाँ तात्पर्य है देवताओं का अध्यात्मभाव से, अर्थात् शरीरस्थ रूप से, व्यष्टि शरीर में प्रवेश प्रतिपादित करना। कर्म-उपासना का फल जो देवभाव है वह भी दुःखों से अनुविद्ध है इस अभिप्राय से भूख-प्यास की उत्पत्ति कही है। देवों का संसारित्व बताने के लिए विराट् शरीर का समुद्ररूप से वर्णन करते हुए यह खंड समझाना आरंभ करते हैं — विराट् देह रूप समुद्र अनन्तकोटि करोड़ों योजनों में फैला हुआ है। सारे लोक इसका शरीर हैं। यह प्राणियों को अवश्य भय देने वाला है। इस समुद्र में जलस्थानीय हैं महाभूत। चौदह लोक इसमें लहरे हैं। जरायुजादि चारों प्रकार के शरीरसमूहरूप सीपों व शंखों से यह सुशोभित है। काम, क्रोध आदि घड़ियालों की यह खान है। कर्म से यह बँधा है, त्वग् आदि धातुओं की दुर्गन्ध वाला है तथा विष्ठा व मूत्र रूप मलों द्वारा आश्रित है॥ ९५ - ९७॥

समानता से रूपक होता है अतः समुद्र की समानता दिखायी है। अनन्त योजनों को देवता विभु होने से व्याप्त करते हैं अतः वे देव जिसके अंश हैं वह विराड् भी अनन्त विस्तार वाला है। देवता अपरिच्छिन्न हैं फिर भी प्राणियों के अदृष्ट के साफल्य के लिए व्यष्टि शरीर में जो इंद्रियाँ हैं उनके अधिष्ठाता रूप से वे उनमें अभिमान कर लेते हैं। यह आगे समझाया भी जायेगा। समुद्र अनंत कोटि योजनों में फैला है यह प्रलय में स्पष्ट होता है क्योंकि वहाँ उसके फैलाव की सीमा जानने वाला ही कोई नहीं! ईश्वर को भी कोई प्रयोजन न होने से वह उसे गिनता नहीं। प्रकृत अनुवाद 'अनन्तकोटिकोटीनाम्' इस पाठ को मानकर है। 'अनन्तकोटीः कोटीनाम्' पाठ में यह अर्थ है — वह परमेश्वर अपने अंशभूत देवों से सम्बद्ध अनन्त-कोटि योजनों में विस्तृत है। मूल में 'लोकात्' शब्द है जिसका अर्थ है कि परमात्मा सभी लोकों को मानों खा जाता है अथात् अपने में अंतर्भूत कर लेता है; फलितार्थ है कि सारे लोक उसका शरीर हैं। समुद्र भी 'लोकात्' है क्योंकि सबका आप्लावक है। अथवा ज्ञानार्थक लोकशब्द है। विराट् शरीर में 'मैं सर्वात्मा विराट् हूँ' इस प्रकार का निश्चयात्मक ज्ञान है, उस विराट् से ही सब भयभीत हैं। समुद्रपक्ष में तब अर्थ होगा 'देखा जाने के कारण'। ऐसे ही कहा 'प्राणियों को'; प्राणीशब्द में प्राण और इनि ये दो भाग हैं; इनमें इनि का अभिप्राय निंदा में है। जिन्हे प्राण

अन्नपानसृष्टये देवप्रार्थना

अयं सर्वात्मको देहो विराजो भवता कृतः। नैतस्माद् व्यतिरिक्तं भो! अन्नं पानं च दृश्यते॥ ९९॥
न भोक्तव्यं न पातव्यमस्माकमिह दृश्यते। ततोऽन्यं भगवन्! देहं सृजास्मभ्यं हिताय वै॥
यत्र स्थिता वयं स्याम ह्यन्नपानस्य भागिनः॥ १००॥

गवादिदेहोपजनिः

इत्युक्ते स हि गोदेहं चकार जनको विभुः। न तस्मिन् प्रीतिरेतेषामभूदन्नाद्यदर्शनात्॥ १०१॥

तद्वाक्यरूपं श्रुत्यंशं व्याचष्टे — अयमिति द्वाभ्याम्। स्पष्टम्॥ ९९॥

न भोक्तव्यमिति। अन्यं देहं स्वल्पेन तृप्यन्तं तर्पयन्तं च सृज उत्पादय। तदेवाहुः — यत्र स्थिता इति॥ १००॥

'ताभ्यो गामानयद्' (ऐ.१.२.२) इत्यादि व्याचष्टे— इत्युक्त इत्यादिपादोनत्रिभिः। गोदेहं दृष्ट्वा प्रीत्यभावे हेतुः — अन्नाद्यदर्शनादिति। अन्नमादिः[1]'कारणं, बुद्धिः कर्म च'[2] सप्तान्नब्राह्मणे (बृ.१.५) प्रोक्तं, तददर्शनात्। गवादिशरीरे हि पूर्वकृतमेव भुज्यते न तु नूतनबुद्धिकर्मणी संपादयितुं शक्ये इति प्रसिद्धम्॥ १०१॥

परिच्छिन्न प्रतीत होता है वे निंद्य होने से प्राणी कहे गये हैं। जैसे छोटे बच्चे अपरिच्छिन्न से डरते हैं, क्योंकि उससे वे अभिभूत हो जायेंगे ऐसा समझते हैं, ऐसे ही विराट् से प्राणी डरते हैं। गौडपादाचार्य ने कहा है 'सब योगियों के लिए मुश्किल से दीखने वाला जो यह अस्पर्श योग है इससे भी वे योगी डरते हैं जो अभय में भय देखते हैं!' काम-क्रोधादि अपने वासनामय तन्तुओं से बाँधकर संसारसागर में डुबो देते हैं अतः वे ही मगरमच्छ हैं और समुद्र उनका आश्रय है। समुद्र में नाना बंधन हैं। कुछ बंधन पारगमन के प्रतिबंधक हैं जैसे हनुमान् की छाया को पकड़ने वाले असुरादि, कुछ तैरने में प्रतिबंधक हैं जैसे भँवर। कुछ बाहर निकलने में प्रतिबंधक हैं जैसे ग्राहमुखादि। इसी प्रकार संचित, आगामी व प्रारब्ध रूप कर्म ही संसार में प्रतिबंधक हैं। प्रारब्ध प्रतिकूल होने पर ही प्रतिबंधक है अन्यथा नहीं। किंतु प्रायः प्रतिकूल ही वह होता है अतः उसे प्रतिबंधक ही माना है। धातुओं की दुर्गंध व्यष्टि में ही जाननी चाहिये न कि समष्टि में। व्यष्टिद्वारा समष्टि में होने से यहाँ ऐसा कहा।

वर्णित संसारसागर का प्रकृत से सम्बंध कहते हैं — इस संसारसमुद्र में पड़ी और भूख-प्यास से परेशान वाणी आदि इन सब देवताओं ने अपने उत्पादक महेश्वर से कहा 'हे भगवन्! आपने सर्वरूप यह विराट् शरीर बनाया। इस शरीर से भिन्न कुछ भी अन्न या पेय नहीं दीख रहा। हमारे खाने-पीने योग्य यहाँ कुछ मिल नहीं रहा। इसलिए हमारे हित के प्रयोजन से हमारे लिए अन्य शरीर बनाइये जिसमें रहते हुए हम अन्न-पान के भागीदार बनें॥ ९८ - १००॥

जैसे हम भूखे प्यासे हों तो हमारी सभी इंद्रियाँ अवसन्न हो जाती हैं ऐसे वे सारे देव भूख-प्यास से पीडित हुए। सभी कुछ जब विराड् देह का अंग हो गया तो भूख-प्यास मिटे कैसे? अपने से भिन्न का ही तो भोग हो सकता है। अतः देवताओं ने ऐसे छोटे देह की प्रार्थना की जिससे भिन्न कुछ होवे जिसे भोगा जा सके और शरीर छोटा होने से उस भोग से भूख मिट भी सके। इससे यह भी समझना चाहिये कि व्यापक से तादात्म्य बुद्धि होने पर भोक्तृभोग्यभाव संभव नहीं

आगे क्या हुआ यह कहते हैं — यों प्रार्थित उस व्यापक उत्पादक ने गायशरीर बनाया किंतु इन देवताओं को उसमें प्रेम नहीं हुआ क्योंकि उन्हे उसमें विज्ञान एवं कर्म की संभावना न दीखी॥ १०१॥

विज्ञान अर्थात् उपासना एवं तत्त्वनिश्चय और कर्म अर्थात् पुण्यादि देने वाली चेष्टायें। मानवेतर देह भोगयोनियाँ हैं, उनमें पूर्वकृत कर्मों के फल तो भोगे जाते हैं, नये पुण्य-पाप बटोरे नहीं जाते। श्रेयःफलक ईश्वरपरिचर्या में अमानवों का

---

१. अन्नस्यादिरिति सुवचम्। यथाश्रुते कारणमस्यास्तीति कारणं कार्यमित्यर्थः। अन्नमादिः कार्यं यस्येति समासः।

२. सप्तान्नानामादिरेवेहान्नमुच्यते कार्यकारणयोरभेदादित्यर्थः। 'मेधया तपसाऽजनयदि' ति तत्र श्रुतम्। मेधा च प्रज्ञा विज्ञानं तपश्च कर्म।

पुनः सुतानां प्रीत्यर्थं देवोऽश्वमुदपादयत्। तत्रापि नाऽभवत् प्रीतिर्हस्तादीनामभावतः॥ १०२॥
एवं नानाविधान्देहांस्तदर्थं ससृजे प्रभुः। न च तेषामभूत्प्रीतिर्मानुषं सोऽसृजत्ततः॥ १०३॥

नृदेहे देवप्रीतिः

तं दृष्ट्वा तेऽभवन्प्रीतास्तातैतत् सुकृतं बत। भवता कृतमित्येवं हृष्टा जनकमब्रुवन्॥ १०४॥
उचितं पुरुषे ह्येतज्ज्ञात्वा वक्ति यतः पुमान्। चक्षुरादिक्रियास्वेव प्रायोऽज्ञानविवर्जितः॥ १०५॥

पुनरिति। हस्तादीनामित्यादिपदेन आन्तर्बाह्यज्ञानकर्मसाधनानां ग्रहः॥ १०२॥

श्रुतौ गवाश्वानयनमुत्पादनरूपम् एकोनचतुरशीतिलक्षयोन्युत्पादनोपलक्षणमित्याशयेनाह — एवमिति। तदर्थं देव-प्रीत्यर्थम्। 'ताभ्यः पुरुषम्' (ऐ.१.२.३) इत्यंशं चतुर्थपादेन व्याचष्टे — मानुषमिति॥ १०३॥

'ता अब्रुवन्' (ऐ.१.२.३) इति व्याकुरुते — तं दृष्ट्वेति। तं मानुषं सृष्टं दृष्ट्वा ते देवाः प्रीता अभवन् तथा हृष्टाः सन्त इत्येवं जनकमब्रुवन्। इति किम्? — हे तात! बतेति हर्षे; एतत् सुकृतं, तस्य व्याख्यानम्—भवता कृतमिति। भवता स्वयं कृतं न तु भृत्यद्वारा कारितम्। कुशलस्तक्षादिर्हि यत् स्वयं करोति तदतिरमणीयं भवति, यद् भृत्येन कारयति तद् अपकृष्टम् इति प्रसिद्धम्। तथा च स्वकृतशब्दे पृषोदरादित्वेन स्वयं-शब्दस्य सु-इत्यादेशे सुकृतमिति सिद्धमिति भावः॥ १०४॥

तदेव वाक्यं प्रमाणान्तरसंवाददर्शनाय श्रुत्या पुनरनूदितं व्याचष्टे — उचितमिति त्रिभिः। एतद् ईश्वरेण स्वयं कृतत्वं पुरुषे उचितं सम्बद्धं न त्विदमसम्बद्धमुक्तमित्यर्थः। तत्र हेतुतया ससाधनज्ञानक्रियासम्पत्तिमाह — यतः पुमान् ज्ञात्वा वक्तीति। ज्ञात्वा इति ज्ञानेन्द्रियसम्पत्तिरुक्ता, वक्ति इति कर्मेन्द्रियसम्पत्तिर्बोधिता। ननु वानरादिशरीरेऽपि सर्वेन्द्रियजं ज्ञानमस्ति? इत्यतो विशेषमाह — चक्षुरादीति। क्रियासु व्यापारेषु मानुषभिन्नानां हीन्द्रियसंयोगेऽपि अज्ञानं निःशेषतो न निवर्तत इति भावः। प्रमत्तादावव्याप्तिवारणाय प्राय इति पदम्॥ १०५॥

अधिकार पुराणादि की अन्यथानुपपत्ति से मानें तो भी विरोध नहीं। पुराणप्रसंगों को अभूतार्थवादमात्र भी मानें तब तो यथाश्रुत ठीक है। अन्यथा विविध स्वर्गादिभोगप्राप्त्युपायभूत कर्मादि का असंभव विवक्षित है।

तब परमात्मा ने क्या किया यह बताते हैं — पुत्रों की प्रसन्नता के लिए फिर महादेव ने अश्व-शरीर बनाया। उसमें भी उन्हे प्रेम न हुआ क्योंकि उसमें भी विज्ञान एवं कर्म के साधनभूत हाथ आदि हैं नहीं॥ १०२॥

मूलानुसार तो द्विविध देहप्रर्दशन सर्वदेहोपलक्षणार्थ ही है। अथवा गायदेह में विज्ञानासंभव और अश्वदेह में कर्मासंभव होने से प्रीत्यभाव समझना चाहिये।

फिर क्या हुआ, यह कहते हैं — इस प्रकार देवताओं की प्रसन्नता के लिए महेश्वर ने विभिन्न तरहों के शरीर बनाये किंतु देवों को उनमें प्रेम न हुआ। अतः परमेश्वर ने मनुष्य शरीर बनाया। उसे देखकर वे देव उसमें प्रेम वाले हुए और उत्पादक से सहर्ष यों बोले 'हे तात! हर्ष का विषय है कि आपने यह सुकृत बना दिया है।'॥ १०३ - १०४॥

'विभिन्न तरह' से मानवेतर समस्त योनियाँ समझनी चाहिये। सुकृत का अर्थ है अच्छा किया हुआ तथा स्वयं किया हुआ। मनुष्य देह अच्छा भी है व स्वयं परमेश्वर ने ही बनाया भी है इससे सुकृत है। कुशल कारीगर खुद जो बनाये वह बेहतर होता है, नौकरों से बनवाये तो घटिया होता है। ऐसे ही खुद शिव का बनाया होने से मानवदेह बढ़िया है। यद्यपि अन्य देह भी खुद ही बनाये थे तथापि वे कारणांतर से बढ़िया नहीं थे यह भाव है। कुशल शिल्पी की भी हर कृति श्रेष्ठ नहीं होती।

अपनी बात को देवता पुष्ट करते हैं - 'यह हमने ठीक ही कहा है क्योंकि मानव सही जानकर वाणी से प्रकट करता है। अन्य प्राणी चक्षु आदि के संबंध होने पर भी प्रायः विषयों को सर्वथा समझ पाते नहीं'॥ १०५॥

इहाऽमुत्र सुखं चाऽयं ह्यःश्वस्त्यमपि संगतम्। कर्तव्यं चाप्यकर्तव्यं वेत्ति सर्वं प्रमाणतः॥ १०६॥
अत्र चाऽऽविस्तरामात्मा वेदवाक्यात् प्रकाशते। अत्र ता देवताः सर्वाः सन्तोषमवमेनिरे॥ १०७॥

तत्र तत्प्रवेशः

एवं तुष्टेषु पुत्रेषु पिताऽप्येतानुवाच ह। स्वं स्वं स्थानं प्रविशत स्वस्मिन् भेदं विहाय वै॥ १०८॥

एवं प्रत्यक्षज्ञानसम्पत्तिं दर्शयित्वा परोक्षज्ञानमप्यस्मिन् स्फुटयति — इहामुत्रेति। इहाऽमुत्रसुखं चाऽयं वेत्ति ऐहिकमामुष्मिकं सुखं चकारात्तत्साधनं चायं वेत्ति ह्योऽतीतं श्वस्त्यमनागतेऽह्नि भवं वेत्ति; साधनज्ञानाय साधनविद्भिः संगतं सम्बंधप्रकारं च वेत्ति। विद्वद्भिः सह संगते कृते कर्तव्यमकर्तव्यं विहितं प्रतिषिद्धं च सर्वं प्रमाणतो वेत्तीत्यर्थः॥ १०६॥

एवमङ्गयोग्यतां स्फुटीकृत्य सर्वतः प्रधानब्रह्मविद्यायोग्यत्वमाह — अत्र चेति। चिद्रूपेणभासमानोऽपि सत्यत्वानन्दत्वाद्वयत्वादिरूपेण भासत इत्यर्थः। एतेन 'पुरुषन्वे च अविस्तरामात्मा स हि प्रज्ञानेन सम्पन्नतमो विज्ञातं वदति विज्ञातं पश्यति वेद श्वस्तनं वेद लोकालोकौ मर्त्येनामृतमीप्सति एवं सम्पन्नतमोऽपीतरेषां पशूनामशनायापिपासे एवाभिज्ञानम्' (ऐ.३.२) इतिं श्रुतिरर्थतः सकला संगृहीता। अत्र इहामुत्रपदे लोकालोकपदाभ्यां समानार्थे। श्वोऽनागतेऽह्निभवमित्यर्थकं श्वस्त्यपदं श्वस्तनपदेन। शेषपदानि तु श्रुत्या साक्षादुपलक्षणतया च बोधितमर्थं प्रतिपादयन्तीति बोध्यम्। सर्वदेवानां युगपद्धर्षजननमेव तस्येश्वरेण स्वयं कृतत्वं साधयतीत्याशयेनाह — अत्र ताइति। अवमेनिरे अनुभूतवन्त इत्यर्थः। यद्वाऽनेकशरीराणि अभीष्टसाधनाक्षमाणि अवलोक्य उद्योगपरित्यागलक्षणं सन्तोषमङ्गीकृत्य स्थिताः सन्तो देवाः पुरुष उत्पन्ने तं सन्तोषमवमेनिरे अनादृतवन्तः हर्षेणेष्टसिद्धौ सोद्योगा जाता इत्यर्थः॥ १०७॥

यहाँ 'जानकर' इस अंश से ज्ञानेन्द्रियरूप संपत्ति और 'वाणी से' इत्यादि द्वारा कर्मेन्द्रियरूप संपत्ति का बोध कराया है। अन्य प्राणियों का सांसारिक पदार्थविषयक अज्ञान भी पूरा हटता नहीं तो आत्मविषयक अज्ञान न हटने का कहना ही क्या! 'प्रायः नहीं समझते' में प्रायः से पागल, नशेबाज आदि की व्यवस्था बना दी है।

प्रत्यक्ष की तरह परोक्ष ज्ञान भी मनुष्य में विशेष है यह कहते हैं — 'भावी बातों को, साध्य-साधनों के सम्बंधों को, कर्तव्य-अकर्तव्यादि सब को प्रमाण से जानता है अतः मनुष्य सुकृत है।'॥ १०६॥

इस लोक व परलोक के सुखों को उनकी प्राप्ति के उपायों को, दुःखों को व उनसे बचने के उपायों को मनुष्य जानता है। पूर्वघटित एवं भविष्य में घटने वाली घटनाओं को भी यह समझता है। क्या करना चाहिये व क्या नहीं करना चाहिये यह भी सत्संगादि से मनुष्य जान लेने के सामर्थ्य वाला है।

इस प्रकार परमपुरुषार्थ के लाभ के सत्कर्म आदि उपायों में मनुष्य की योग्यता बताकर सबसे प्रधान जो ब्रह्मविद्या उसका भी सामर्थ्य इसमें है यह देवता कहते हैं — 'वेदवाक्य के श्रवण से इसी शरीर में आत्मा का स्पष्टतर ज्ञान होता है, इससे भी यह सुकृत है।' इसलिए मानव देह पाकर सब देव प्रसन्न हो गये॥ १०७॥

चिद्रूप से सब देहों में भासमान होने पर भी गुरु से महावाक्यों का उपदेश पाकर तो मनुष्यदेह में ही सत्य-आनन्द-अद्वयरूप से आत्मा का अपरोक्ष हो सकता है। यहाँ ऐतरेय की श्रुति का अर्थतः संग्रह किया है। श्रुति का अक्षरार्थ है: 'पुरुष में आत्मा अत्यधिक प्रकट है, वही प्रज्ञान में अत्यधिक संपन्न है, जानकर बोलता है, समझता हुआ देखता है, कल होने वाली घटना को समझता है, इहलौकिक व पारलौकिक सुख को साधनसहित समझता है, मरणधर्मा होकर भी अमरता चाहता है। इस प्रकार मनुष्य के पास सर्वाधिक सम्पत्ति है जबकि अन्य पशुओं में भूख-प्यास का ही ज्ञान रहता है।' सब देव इकट्ठे ही प्रसन्न हुए इसी से मानव ईश्वर की सुकृति है यह निश्चित होता है। बहुतेरे देह उन्हे ऐसे उपलब्ध कराये गये थे जिनसे वे अभीष्टसिद्धि नहीं कर सकते थे अतः मानो उनसे ही सन्तोष किये हुए थे; अब उस संतोष को छोड़कर हर्ष से अपनी इष्टसिद्धि के लिए उद्योग करने लगे, यह भाव है।

इत्युक्ते ते तथा चक्रुर्देवाः सर्वे स्वयंभुवा। अग्निर्वागात्मतां प्राप्य मुखच्छिद्रे व्यवस्थितः॥ १०९॥
अपां नाथो रसनतां प्राप्य जिह्वाग्रतोऽभवत्। वायुर्गन्धं प्राप्य नेता घ्राणं भूत्वाप्यथाऽविशत्॥ ११०॥

कण्डिकाशेषं व्याकुरुते — एवं तुष्टेष्वित्यादिना। तुष्टेषु हर्षेणाज्ञामनुष्ठानाय प्रतीक्षमाणेषु पुत्रेषु सत्सु एतान् पितोवाच आज्ञापयत्। आज्ञामभिनयति — स्वं स्वमिति। स्वनियम्यकरणद्वारेण स्वकीयं स्वकीयं स्थानं गोलकं प्रविशत व्यष्टिशरीरे प्रवेशं कुरुतेत्यर्थः। ननु इन्द्रियार्हे स्थाने कथमस्माकं व्यापकानां प्रवेशः, इन्द्रियैरेवार्थसिद्धौ व्यर्थश्च? अत आह — स्वस्मिन्नित्यादि। आत्मीयवाची स्वशब्दः। आत्मीय इन्द्रिये भेदं पृथग्भावं नैरपेक्ष्यमिति यावत्, तं विहाय मूषायां धातव इवैकलोलीभावलक्षणमभिमानं कृत्वा प्रविशत इत्यर्थः। अयं भावः — परस्परनिरपेक्षकारकत्वं समुच्चयविरोधि, तत्त्वत्र नास्ति। तथाहि — चक्षुर्विना प्रकाशरूपः सूर्यो न सिद्ध्यति तं विना चक्षू रूपग्रहणासमर्थत्वान्न सिद्ध्यति। तथा स्वकीयनिरूप्यं स्वामित्वं तन्निरूप्यं च स्वत्वम्। एवं शरीरे ऊष्महेतुमग्निं विना वाग् वक्तुमक्षमा, वाचं विना तटस्थेनाग्निः शरीरे दुर्ज्ञेयः। यद्वाचोऽग्नेरुत्पन्नत्वाद्वाचं विनाऽग्निरुपलब्धुं न शक्यः, अग्नेश्च वागुत्पत्तेस्तं विना वाग् दुर्लभेत्येतदग्रे स्फुटीभविष्यति। एवमन्यदप्यूह्यम्। तथा च मिलित्वा प्रवेशो युक्त एवेति भावः॥ १०८॥

इत्युक्त इति। स्वयंभुवा ईश्वरेण अग्निर्वागधिष्ठातृदेवता वागात्मतां पूर्वोत्पन्नया वाचा तादात्म्यरूपमेकलोलीभावं प्राप्य मुखगोलके स्थितः स्थितिं लब्धवानित्यर्थः। एवं सति व्यष्टिशरीरेऽधिदैवाध्यात्माधिभूतभेदेन त्रैविध्यं संपन्नं; तत्र देवं विराजमधिकृत्याधारं कृत्वा स्थितं वागादीन्द्रियविशेषं स्वशरीरवदभिमन्यमानमग्न्यादिदेवरूपमधिदैवम्, तथा विग्रहेणात्मनि 'अहमि'ति भासमाने शरीरे वर्तमानं करणरूपं तत्परिच्छिन्नमध्यात्मम्, तथा भूतेषु वर्तमानं विषय-रूपमधिभूतमिति; एवमर्थो विभागश्चेतरेन्द्रियवाक्येष्वपि बोध्यः। एतत्परस्परसापेक्षं त्रैविध्यमपोद्य स्वतः सिद्ध-मात्मतत्त्वमुत्तरत्र निर्णेष्यत इति॥ १०९॥

अपां नाथ इति। वरुणो रसनया तादात्म्यं तत्राभिमानं प्राप्य जिह्वाग्रतो जिह्वाग्रगोलकेऽभवत् स्थितोऽभूदिति; सार्वविभक्तिकस्तसिः। गंधं प्राप्य तं घ्राणदेशं प्रति नेता गन्धविशिष्ट इति यावत्। एतादृशो वायुर्घ्राणं भूत्वाऽविशत् नासिकाविवरमित्युत्तरेणान्वयः॥ ११०॥

देवताओं की प्रसन्नता देखकर ईश्वर ने क्या किया यह बताते हैं — देवरूप पुत्रों के यों संतुष्ट होने पर परमपिता ने भी यह कहा, 'अपने-अपने स्थानों में, गोलकों में, प्रवेश करो। तुम्हारी अपेक्षा से ही कार्यकारी इंद्रियों को तुम अपने से भिन्न न समझो।'॥ १०८॥

आज्ञा का अभिप्राय है कि अपने-अपने नियम्य करणद्वार से व्यष्टि शरीर के अपने-अपने गोलक में प्रवेश करो। प्रश्न होता है कि व्यापक देवों का इंद्रियों के योग्य स्थान में प्रवेश कैसे, और इंद्रियों से ही काम चल सके तो देवों के प्रवेश का प्रयोजन क्या? उत्तर है कि इंद्रियाँ देवताओं की अपेक्षा से ही कार्यकारी होती हैं। इंद्रियों से देवताओं को भेदबुद्धि हो तो इंद्रियाँ अपना कार्य कर सकती नहीं। साँचे में ढलने पर ताँबा जैसे साँचे से एकमेक हो जाता है वैसे देवों को इंद्रियों से एकमेक होना पड़ता है। तात्पर्य है कि इंद्रिय व देवता एक दूसरे से निरपेक्ष रहते हुए कारक नहीं बनते, अपेक्षा रखकर ही बनते हैं। चक्षु के बिना प्रकाश रूप सूर्य सिद्ध नहीं होता और सूर्य के बिना चक्षु क्योंकि रूप का ग्रहण नहीं कर पाती इसलिए सिद्ध नहीं होती। मिलकियत और जिस पर मिलकियत होती है दोनों एक-दूसरे से नियंत्रित होते हैं, एक के बिना दूसरा समझा नहीं जा सकता। इंद्रियों के अधिष्ठाता या मालिक होने से भी देवताओं का उनसे व उनका देवताओं से नियंत्रित होना स्वाभाविक है। इसे ही आपसी भेद का निवारण कहा है। सभी इंद्रियों व देवताओं का चक्षु-सूर्य की तरह सम्बंध समझ लेना चाहिये।

ईश्वर की आज्ञा मिलने पर देवताओं ने क्या किया यह बताते हैं — स्वयंभू ईश्वर की आज्ञा पाकर उन सब देवों ने वैसा ही किया। अग्निदेव वाग्रूप होकर मुखछिद्र में स्थित हो गये॥ १०९॥

इस प्रकार अधिदैव, अध्यात्म और अधिभूत भेद से त्रिविधता हो गयी। विराट्शरीर को आधार बनाकर स्थित जो

नासिकाविवरं तद्वदक्ष्णोरपि दिवाकरः। चक्षुरिन्द्रियतां प्राप्य दिक् श्रोत्रं कर्णयोस्तथा॥ १११॥
स्थावरा अपि लोमानि भूत्वोक्तास्त्वचमाविशन्। चन्द्रमाश्च मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्तथा॥ ११२॥
नाभिच्छिद्रं पुरोक्तं यन्मृत्युस्तत्र समाविशत्। उक्ताऽपानस्वरूपः सन् शिश्नच्छिद्रे तथैव हि॥ ११३॥
आपो रेतःस्वरूपास्ताः प्रविष्टा इति हि श्रुतिः। एवमन्या अपि तथा देवता भेदवर्जिताः॥
अध्यात्ममधिदैवं च स्वं स्वं स्थानं न्यविक्षत॥ ११४॥
एवं स्थानेषु दत्तेषु पित्रा तासां यथार्हतः। अशनायापिपासे चाऽयाचेतां स्थानकं तयोः॥ ११५॥
स्थानान्तरमदृष्ट्वा स देवतास्वेव दत्तवान्। तयोः स्थानं हविस्तेन दत्तं ताभ्यस्तयोर्भवेत्॥ ११६॥

नासिकाविवरमिति। दिवाकरश्चक्षुरिन्द्रियतां प्राप्याक्ष्णोरविशत्। दिक् श्रोत्रं भूत्वा कर्णयोरविशदित्यन्वयः॥ १११॥

स्थावरा इति। व्याख्यातम्॥ ११२॥

नाभिच्छिद्रमिति। स्फुटम्। तथैव शिश्नच्छिद्रे ता पूर्वोक्ता आपः प्रजापतिरूपाः प्रविष्टा इत्युत्तरेणान्वयः॥ ११३॥

आप इति। इति हि श्रुतिः। एतावता देवानां प्रवेशः साक्षादत्र कण्डिकायामुक्तः, अन्येषां तूपलक्षित इत्यर्थः। उपलक्षणत्वं स्फुटयति — एवमन्या इति। अध्यात्ममधिदैवमिति सप्तम्या अम्भावः। तथा च अध्यात्म इन्द्रियेऽधिदैवे देवतायां च वर्तमानो यो भेदः पृथग्भावस्तेन वर्जिता इन्द्रियेण तादात्म्यवत्यः स्वं स्वं स्थानं न्यविक्षत प्रविष्टा इत्यर्थः॥ ११४॥

एवं स्थानेष्विति। अशनायापिपासे देवते स्वाग्रजानां स्थानलाभं दृष्ट्वा स्थानमयाचेतां याचितवत्यौ। तयोरिति पदमुत्तरान्वयि॥ ११५॥

स्थानान्तरमिति। तयोरशनायापिपासयोः पूर्वदेवताक्रान्तस्थानादन्यत्स्थानमदृष्ट्वा तास्वेव अध्यात्माधिदैवभेदभिन्नासु देवतासु स्थानं दत्तवान्। देवतातृप्त्यैव युवां तृप्ते भवतम् — इत्युक्तवानिति भावः। तेनेश्वरेणैवं तयोः स्थानकरणेनेदानीमप्येवं दृश्यते यत् ताभ्यो देवताभ्यो दत्तं हविरधिदैवरूपाभ्यः पुरोडाशादिरूपम्, अध्यात्मरूपाभ्यो विषयरूपं तद्धविस्तयोरशनायापिपासयोः कामनारूपयोरुभयविधदेवनिष्ठयोरुपशमरूपतृप्तिकरं भवेदित्यर्थः। देवताभ्यो हविषि दत्ते तासां तृष्णापिपासे शाम्यतः। अध्यात्मं विषयरूपे हविषि दत्ते तत्कालमशनायापिपासे शाम्यत इव — इतीयमेव तयोस्तृप्तिरिति भावः॥ ११६॥

वागिन्द्रिय उसे अपना शरीर मानने वाला होने से अग्निदेव शरीरस्थ है, यह शरीर में अधिदैव है। शरीर से परिच्छिन्न करणरूप ही अध्यात्म है। विषयरूप से स्थित ही अधिभूत है। तात्पर्य है कि हर शरीर में किसी न किसी तरह तीनों की विद्यमानता है। परस्पर-सापेक्ष इन से व्यतिरिक्त स्वयम्प्रकाश परमात्मतत्त्व है यह आगे निर्णय किया जायेगा।

अन्य देवताओं का प्रवेश बताते हैं — वरुण देव रसना-इंद्रिय में तादात्म्याभिमान कर जिह्वा-गोलक में स्थित हो गये। गन्ध को प्राप्त कर उसे घ्राण देश में ले जाने वाले वायुदेव घ्राणेन्द्रिय बनकर नासिका-गोलक में प्रविष्ट हुए। दिवाकर चक्षु-इंद्रिय से तादात्म्याभिमान कर आँख-गोलक में स्थित हुए। दिग्देव श्रोत्रेंद्रिय बनकर कानों में प्रविष्ट हुए। वृक्षादि अर्थात् स्थावरोपाधि वायु, लोम अर्थात् त्वगिन्द्रिय बन कर त्वचा में प्रविष्ट हो गये। ऐसे ही चंद्रमा मन बनकर हृदय में स्थित हुए। पूर्वोक्त अपानरूप हुए मृत्युदेव नाभिच्छिद्र में घुसे। जलप्रधान पंचभूत शरीर वाले प्रजापति रेतस् अर्थात् जननेन्द्रिय होकर शिश्नच्छिद्र अर्थात् प्रजननेन्द्रियगोलक में प्रवेश कर गये। ऐसा श्रुति ने बताया है। इसी प्रकार अन्य देवता भी इंद्रिय और देवतारूप में जो भेद है उसे छोड़कर अपने-अपने स्थानों में प्रवेश कर गये॥ ११० - ११४॥

देवताओं द्वारा स्थान ग्रहण कर लेने पर क्या हुआ यह कहते हैं – परम पिता द्वारा उन देवताओं को यथायोग्य स्थान दे दिये जाने पर भूख व प्यास ने अपने लिए भी व्यष्टि शरीर में स्थान माँगा। उन महेश्वर ने अन्य स्थान उनके लिए उचित

तृतीयः खण्डः

अन्नसृष्टिः

एवं स्थानानि दत्त्वा स तेषामन्नार्थिनां प्रभुः। तैरनुक्तोऽपि जनक इदमत्र व्यचिन्तयत्॥ ११७॥

अत्रेदं बोध्यम्। वागादीन्द्रियेभ्यो देवसृष्टिप्रतिपादनेऽयं श्रुतेरभिप्रायः — ये पूर्वं विराडुपासनया विराड्भावं प्राप्तास्ते करणैः सह प्रलये लीनाः पुनः सृष्ट्यादावीश्वरेण विराट्शरीरे सृष्टे स्वस्वगोलकेषु तेषां करणानि प्रादुर्भूतानि, तानि च व्यष्टिशरीरकृतस्यावच्छेदस्य पूर्वमेवोपासनात्मकज्ञानेन [1]भङ्गादव्यापकदेवभावेन परिणतानीति। 'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशदि' त्यादिश्रुतेस्तु देवेभ्य इन्द्रियोत्पत्तिप्रतिपादिकाया एषोऽभिप्रायः — व्यष्टिशरीरे प्रोद्भूतानामवच्छिन्नानामिन्द्रियाणां कार्याऽक्षमाणामभिमानलक्षणतादात्म्येन देवैस्तेषां समर्थत्वापादनं यत् सैव देवेभ्यस्तेषामुत्पत्तिरिति। पातञ्जलमताच्चौपनिषदमतेऽयं विशेषः — यद्योगमत इन्द्रियाण्यपि विभूनि प्राण्यदृष्टवशेन तेषां शरीरे वृत्त्युद्भवाभिभवौ; एतेषामुत्पत्तिमते तु देवा एव विभवः, इन्द्रियाणि तु परिच्छिन्नानि, उत्क्रान्तिप्रतिपादकश्रुत्यादिभ्यः — इत्यवधेयम्। एवं देवानामिन्द्रियाणां चोत्पत्तिमभिधाय तेषां प्रवृत्तिहेतुभूतयोरशनायापिपासयोश्च तृप्तिं प्रतिपाद्याथान्नसृष्टिप्रतिपादिकां 'स ईक्षतेमेन्वि' (ऐ.१.३-१) त्यादिकण्डिकां संक्षेपेण व्याकरोति — एवं स्थानानि दत्त्वेत्यादिचतुर्भिः। प्रभुः परमेश्वर एवं तेभ्यः स्थानानि दत्त्वा तेषामन्नार्थिनामुपकाराय तैरनुक्तोपीदमग्रिमश्लोकोक्तं व्यचिन्तयद् विचारं कृतवान्। अनुक्तस्य हि तच्चिन्तने प्रवृत्तौ हेतुः — जनक इति। जनको हि स्वभावादेव सुतयोगक्षेमयोश्चिन्तने प्रवर्तत इति प्रसिद्धमिति भावः॥ ११७॥

न समझ कर उन दोनों को देवताओं में ही स्थान दे दिया। अतः देवताओं को दी हुई हवि उन दोनों की भी उपशान्ति कर देती है॥ ११५ - ११६॥

क्योंकि महादेव ने नियम किया कि 'देवताओं की तृप्ति से ही तुम दोनों की तृप्ति हो जायेगी' इसलिए आज भी यह देखा जाता है कि चाहे देवताओं को पुरोडाशादि हवि दें या शरीरस्थ देव अर्थात् इंद्रियों को विषयरूप हवि दें, कामनारूप से सभी देवों में स्थित भूख-प्यास की तृप्ति होती है, कामना कुछ समय के लिए पूरी हो जाती है। 'इन्द्रयाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते' (३.४०) इस गीतावचन से भी निश्चित है कि कामना केवल मनोधर्म नहीं, इंद्रियों में भी रहती है।

इन्द्रियों से देवताओं की सृष्टि बताने में वेद का यह अभिप्राय है: पूर्व कल्पों में विराट् की उपासना से जो विराट्स्वरूप हो गये थे वे प्रलय में इंद्रियों सहित लीन हो गये। फिर जब सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर ने विराट् शरीर पैदा किया तब अपने-अपने गोलकों में उनकी इन्द्रियाँ प्रकट हो गयीं। उन इंद्रियों में व्यष्टिभाव तो पूर्वकल्प में उपासना से ही हटा दिया गया था इसलिए वे व्यापकभाव में बदल गयीं। इसलिए इंद्रिय से देव हुए यह ठीक ही है। यह जो कहा कि अग्नि वाक् बनकर मुख में घुसी अर्थात् देवों से इंद्रियों की उत्पत्ति हुई उसका यह अभिप्राय है : व्यष्टि शरीर में प्रकट सीमित इन्द्रियों से तादात्म्यबुद्धि कर उन्हें कार्यकारी बनाना यही देवताओं से इन्द्रियों का उत्पन्न होना है। योगमत में इन्द्रियों को ही व्यापक मानते हैं जबकि औपनिषद सिद्धांत में इंद्रियाँ तो परिच्छिन्न हैं, देवता व्यापक हैं। ऐसा स्वीकारने पर ही वे श्रुतियाँ संगत होंगी जो कहती हैं कि मरने पर इंद्रियाँ शरीर छोड़कर परशरीर के लिए प्रयाण करती है।

तृतीय खण्ड

पूर्व खण्ड में देवताओं एवं इंद्रियों की उत्पत्ति तथा इंद्रियों की प्रवृत्ति में कारणभूत भूख-प्यास की इंद्रियतृप्ति से ही तृप्ति बतायी। अब अन्नसृष्टि का प्रतिपादन करने वाली तृतीयखण्ड की श्रुति का संक्षेप से व्याख्यान करते हैं। अन्न चाहने

---

१. भंगाद्व्यापकेति पठितुं युक्तमाभाति।

इमे लोका लोकपालाः क्षुधितास्तनया मम। एषामर्थे सृजाम्यन्नमिति संचिन्त्य सोऽसृजत्॥ ११८॥
अद्भ्योऽन्नं बहुविधमुपायैः[1] र्विविधैर्विभुः। तत्र वागादयः सर्वा देवता नाप्नुवन् हि तत्॥ ११९॥
विनाऽपानं प्राणभेदं तेनासामयमीश्वरः। प्राणोऽन्नादस्ततो वायुभेदोऽयं कथ्यते श्रुतौ॥ १२०॥

'कथं न्विदं मदृते स्याद्' इत्यस्य व्याख्या

तथापि न विनाऽऽत्मानमीष्टेऽन्नं सोप्यपानकः। इति विज्ञाय जनकस्तैरनुक्तो व्यचिन्तयत्॥ १२१॥

इमे लोका इति। इति संचिन्त्य विविधैरुपायैरन्नमसृजदित्युत्तरेणान्वयः। इतरत् स्पष्टम्॥ ११८॥

अद्भ्य इति। घटस्य मृद्वद् अन्नस्योपादानं दर्शयति — अद्भ्य इति। आपो जलप्रधानानि पञ्चभूतानि तेभ्य इत्यर्थ उक्तः। अन्नविशेषणं बहुविधमिति। नानायोनिवर्तिनां प्राणिनां यस्य यस्य यद्यदुचितं, यथा मानुषादीनां व्रीहितृणादिस्थावरात्मकमन्नं, सिंहादीनां मृगादिरूपं जंगमं, सर्पादीनां वायुमूषकादिरूपमिति नानाविधमिति। ईश्वरस्याभिन्ननिमित्तोपादानतां सूचयति — विभुरिति॥ तत्रेति। तत्र — अन्न उत्पन्ने सति 'इदं गृह्णीत' इतीश्वरेणाज्ञप्ता अपि वागादयस्तदन्नं प्राणभेदं प्राणवृत्तिरूपमपानं बहिर्देशान्मुखबिलेनान्तरागच्छन्तं वायुविशेषमपानसंज्ञं विना नाप्नुवन् न ग्रहीतुं शक्ता बभूवुरित्युत्तरान्वयेनार्थः॥ ११९॥

विनापानमिति। तेनेश्वराज्ञया स्वयमादाय देवताभ्योऽन्नस्य विभज्य दानेन हेतुनाऽऽसां देवतानामीश्वरः 'प्राणो ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चे' त्यादिश्रुतौ, अयं प्राणः कथ्यते, तथाऽन्नजीवनेत्यर्थकान्नायुःपदेन प्रकृतश्रुतौ, शाखान्तरे च साक्षाद् 'अन्नाद'पदेन कथ्यते — अन्नमासमन्ताद् ददाति, अन्नमादत्त इति द्विधा विग्रहसंभवादिति भावः॥ १२०॥

एवं कर्तृत्वभोक्तृत्वोपाधेर्वागादिप्राणान्तस्याऽध्यारोपितस्य तदभिमानलक्षणसंसाराश्रयत्वं न संभवति, जडत्वाद्, बन्धमोक्षयोश्च सामानाधिकरण्याच्चेत्याशयेन संसारयोग्यात्मस्वरूपनिर्धारणपरं 'कथमिदं मदृत' (ऐ.१.३.११) इत्यादिवाक्यमुपबृंहयति — तथापीत्यादिचतुर्दशभिः। यद्यपि स अन्नादत्वेन सकलेन्द्रियैराश्रितोऽन्नादानव्यापारे करणान्तरनिरपेक्षः, कारणं च, तथापि संनिधिमात्रेण प्रयोजकमात्मानं सर्वान्तरं विना कुठारादिवन्नेष्टे न समर्थो भवतीत्यर्थः। अशनायापिपासयोरपि जडत्वादिति भावः। प्राणं विना कुणपवदात्मानं विना प्राणोऽपि कुत्सित इति द्योतनाय कप्रत्ययः। इति विज्ञायेति स्पष्टम्॥ १२१॥

वाले उन देवों को और भूख-प्यास को यों स्थान देकर उनके द्वारा प्रार्थित हुए बिना ही परमपिता प्रभु ने अन्न के विषय में यह विचार किया: 'ये लोक व लोकपाल रूप मेरे पुत्र भूखे हैं, इनके लिए मैं अन्न उत्पन्न करूँ।' ऐसा सोचकर उन विभु ने जलप्रधान पंचभूतों से बहुत तरह का अन्न और अन्न के विविध उपाय पैदा किये। अन्न उत्पन्न होने पर भी वागादि सभी देव उस अन्न को प्राप्त कर नहीं सके। प्राणविशेष अपान ही उसका ग्रहण कर पाया। अतः अपान देवताओं का ईश्वर है। इसीलिए वायु-विशेष यह प्राण श्रुति में 'अन्नाद' कहा जाता है॥ ११७ - १२०॥

जिन योनियों के लिए जो उचित है वह सभी अन्न भगवान् ने बनाया। अन्न उत्पन्न होने पर उन्होंने कहा 'इसे ग्रहण करो' पर देवता कर नहीं पाये। बाहर से मुँह में घुसने वाली वायु अपान है, उसी ने ग्रहण किया। स्वयं ग्रहण कर अपान ने सभी देवताओं को अन्न बाँटा, इसी से वह उनका ईश्वर हो गया। क्योंकि सब को पूरी तरह अन्न देता है इसलिए अपान ही अन्नाद है। स्वयं भी अन्न का भक्षण करने से अन्नाद है ही।

आत्मा में कर्तृता व भोक्तृता संभव करने वाली उपाधि है वाणी से प्राणपर्यन्त वस्तुएँ। वह उपाधि आरोपित ही है। किंतु कर्तृतादि-अभिमान रूप संसारिता उपाधि की हो नहीं सकती क्योंकि उपाधि जड है जिससे कि वह मुक्त नहीं हो सकती कारण कि मोक्ष ज्ञानरूप से अवस्थान है। जो बद्ध होता है वही मुक्त होता है, यह नियम है। इसलिए मुक्त रूप

१. सहार्थे तृतीया। अन्नतदुपायावसृजतेत्यर्थः।

मामृते कथमेतत् स्याज्जगज्जातं सवायुकम्। न प्रकाशं विना किंचिद् विद्यमानं प्रसिद्ध्यति॥ १२२॥
न ह्यन्नाद्यमिति ज्ञानं विनाऽत्ताद्यं प्रसिद्ध्यति। न ह्यन्धकारे लोकोऽयं वेत्ति किंचित् कदाचन।
अन्धकारं च जानाति न विना चक्षुषी जनः॥ १२३॥

विचाराकारमाह — मामृत इति। एतत् सवायुकं सूत्रवद्धारकक्रियाशक्तिमत्प्राणयुक्तमपि जातं प्रादुर्भूतमेतदधि-दैवादिभेदशालि जगत्, मां प्रकाशरूपं विना कथं स्यात्। प्रकाशनिरपेक्षं च प्रादुर्भावात्मकप्रकाशविशिष्टं चेति वचो व्याहतं 'पिता मे बालब्रह्मचारी'ति वाक्यवदिति भावः। एतदेव स्फुटयति — न प्रकाशं विनेति॥ १२२॥

एवं च यद्यज्जडं तत् प्रकाशसापेक्षमिति व्याप्तिः फलिता, तामुदाहरणेन स्पष्टयति — नह्यन्नाद्यमिति। अन्नम् अपानाख्यप्राणकरणकव्यापारविषयः, आद्यं प्रथमभावि यस्य वागादिकरणकव्यापारविषयवक्तव्यादिविषयजातस्य तद् अन्नाद्यम्। अत्ता प्राणविशिष्टत्वेन भोक्ता प्रकाशरूप आत्मा, स आद्यः प्रथमो यस्य वक्तृद्रष्टृश्रोतृप्रभृतेरा-त्मभेदजातस्य सः अत्ताद्यः। एकस्यैवात्मनः 'वदन्वाक् पश्यञ्चक्षुः शृण्वञ्श्रोत्रमि' (बृ.१.४.७) त्यादिश्रुत्या करणोपाधिभि र्भेदप्रतिपादनात्। तथा च, इदमन्नमदनीयमिदं वक्तव्यमिदं द्रष्टव्यमित्याद्याकारं ज्ञानमत्तृप्रभृतिप्रकाशं विना न प्रसिद्ध्यतीत्यर्थः। तत्र लौकिकदृष्टान्तमाह — न ह्यन्धकार इति। किंचिद् रूपादिमद्घटादि। नन्वन्धकार एव भवदुक्तव्याप्ते र्भंग इत्याशंक्य, तस्यापि चक्षुःप्रकाशसापेक्षत्वान्नैवमित्याह — अन्धकारमिति॥ १२३॥

से स्थित रहने वाले आत्मा का ही उक्त उपाधि से बन्धन मानना होगा। संसरण हो सके ऐसे आत्मस्वरूप का निरूपण करने के लिए आगे श्रुति ने 'यह मेरे बिना कैसे होगा?' इत्यादि कहा है। उस प्रसंग को चौदह श्लोकों से समझाते हैं — फिर भी वह जड अपान आत्मा के बिना अन्नग्रहण करने में समर्थ नहीं हो सकता यह जानकर देवों द्वारा कुछ न कहे गये उन परमपिता ने विचार किया॥ १२१॥

यद्यपि पूर्वोक्त अपान क्योंकि सभी इंद्रियों को अन्न देता है इसलिए उनके द्वारा आश्रित है तथा अन्नग्रहण करने में अन्य इंद्रियों पर निर्भर नहीं करता और अन्नग्रहणादि का कारण भी है, फिर भी जिसकी केवल संनिधि होने से अपान कार्यलग्न होता है उस सर्वान्तर आत्मा के बिना अपान वैसें ही निश्चेष्ट रहेगा जैसे काटने वाले पुरुष के बिना कुल्हाड़ी स्वयं निश्चेष्ट रहती है। भूख-प्यास भी जड हैं अतः वे भी अपान को सचेष्ट बनाने में समर्थ नहीं। श्लोक में अपान के लिए 'अपानक' शब्द आया है, उसमें अंतिम क-का भाव है कि बिना आत्मसम्बन्ध के प्राण भी कुत्सित है, अशुद्ध है।

भगवान् ने क्या विचार किया यह कहते हैं — उत्पन्न हुआ प्राणसमेत यह जगत् मेरे बिना कैसे हो सकता है? कोई विद्यमान वस्तु ज्ञानरूप प्रकाश के बिना सिद्ध नहीं होती है॥ १२२॥

यहाँ प्राण से क्रियाशक्ति वाला सूत्रात्मा समझना चाहिये जो सबका वैसे धारण करता है जैसे फूलों को माला में धागा धारण करता है। जगत् से भी आधिदैविकादि सारे भेद वाला समग्र संसार समझ लेना चाहिये। उत्पत्ति भी वस्तुतः एक विशेष प्रकाश से सम्बंध ही तो है। कारणरूप से तो कार्य हमेशा है। जब 'यह कार्य है' ऐसा उसका ज्ञान होता है तभी कहते हैं 'कार्य उत्पन्न हो गया'। इसलिए कार्य को प्रकाश या ज्ञान के सापेक्ष ही मानना पड़ता है।

इस प्रकार यह नियम आया कि जो जो जड वस्तु है वह प्रकाश के सापेक्ष ही है। इसे दृष्टांत से स्पष्ट करते हैं — अत्ता आदि के बिना 'यह अन्न आदि है' यह ज्ञान नहीं होता। अँधेरे में लोग आँख से कभी कुछ नहीं जानते। अँधेरे को भी चक्षु रूप प्रकाश के बिना कोई नहीं जानता॥ १२३॥

श्लोक में 'अन्नाद्य' शब्द है जिसका अर्थ है अन्न है आद्य जिसका। अन्न अर्थात् अपानरूप प्राण को करणबनाकर किये जाने वाले व्यापार (चेष्टादि) का विषय। आद्य अर्थात् पहले होने वाला। वाणी आदि को करण बनाकर किये जाने वाले व्यापार के विषय जो वक्तव्यादि हैं उनसे पूर्व अन्न की अपेक्षा है। उसी से वे करण पुष्टि पाते हैं। ऐसे ही शब्द आया है 'अत्ताद्य' जिसका अर्थ है अत्ता है आद्य जिसका। अत्ता अर्थात् प्रकाशरूप आत्मा जो प्राणविशिष्ट होने से भोक्ता है।

यथा घटादिग्रहणे [1]प्रकाशोऽन्यो हि साधनम्। चक्षुषोऽपि प्रकाशः स्यात् तमसोऽन्यस्तथा ग्रहे॥ १२४॥

आत्मप्रकाशापेक्षा

चक्षुरादिप्रकाशानां प्रकाशेन प्रकाशनम्। क्रियते न घटेनात्र रविरेष प्रकाशते[2]॥ १२५॥

नन्वन्धकारस्य प्रकाशापेक्षत्वे किं मानम्? इत्याशंक्य, अनुमानमित्याह — यथा घटादीति। यथा घटादिग्रहणे घटादिभ्योऽन्यः सूर्यादिप्रकाशः साधनं, तथा तमसोऽन्यः चक्षुःसम्बन्धी प्रकाशस्तमसो ग्रहे साधनं स्याद् इत्यन्वयः। तथा च — अन्धकारः, प्रकाशसापेक्षः, जडत्वाद्, घटादिवद् — इत्यनुमानं फलितमिति बोध्यम्॥ १२४॥

एवं व्याप्तिं प्रसाध्य चक्षुरादिजन्यान्तःकरणवृत्तीनां प्रकाशत्वेऽपि जडत्वाद् आत्मप्रकाशसापेक्षत्वमात्मनः साधनाय दर्शयति — चक्षुरादीति। क्रियत इति पूर्वार्धान्वयि। ननु सूर्यादिप्रकाशेनाऽन्यथासिद्धिः? अत आह — न घटेनेत्यादि। तथा च, यथा घटेन विषयत्वात् सूर्यो भासयितुं न शक्यः, तथा विषयभूतेन सूर्यादिनाऽपि चक्षुरादीति भावः। विषयग्रहणे सहायतारूपमनुग्रहं सूर्यादिदेवः करोतीत्यन्यत्। एवं च चक्षुरादिप्रकाशः, प्रकाशान्तरसापेक्षः, जडत्वाद्, व्यतिरेक आत्मवदित्यनुमानं फलितम्। तादृशप्रकाशस्य चान्यस्यासम्भवात् परिशेषेणात्मसिद्धिरिति ध्येयम्॥ १२५॥

वक्ता, द्रष्टा, श्रोता आदि नाना प्रकार से उपलभ्यमान आत्मा से पूर्व सामान्य रूप से भोक्ता अपेक्षित होता है। बृहदारण्यक में बताया है कि एक ही आत्मा करणरूप उपाधियों से बोलने आदि वाला हो जाता है। अतः यह अन्न खाने लायक है, यह बोलने लायक वस्तु है, यह देखने लायक वस्तु है इत्यादि रूप ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक अत्तादि प्रकाश न हो।

शंका होती है कि अँधेरा प्रकाश की अपेक्षा रखता है यह क्यों मानें? इसके समाधानार्थ कहते हैं — जैसे घटादि के ज्ञानमें घटादि से भिन्न सूर्यादि साधन हैं वैसे अँधेरे के ज्ञान के लिए अँधेरे से भिन्न चक्षु-प्रकाश साधन है॥ १२४॥

अनुमान का स्वरूप है: अँधेरा, प्रकाश की अपेक्षा रखता है, जड होने से, जो जो जड होता है वह प्रकाश की अपेक्षा रखता है, जैसे घड़ा। यहाँ प्रकाश का 'अपने से भिन्न' यह विशेषण आवश्यक है जिससे स्वप्रकाश में प्रकाशापेक्षा की आपत्ति न हो। अज्ञायमान वस्तु असिद्ध होने से वस्तु की स्वरूपसत्ता वस्तुज्ञानाधीन है। ज्ञान स्वयम्प्रकाश होने से अज्ञायमान होता नहीं अतः अनन्याधीन सत्ता वाला भी हो जाता है। इस प्रसंग में ज्ञान के हेतु को प्रकाश शब्द से कहा है। सूर्यादि भी ज्ञानहेतु होते हैं इसी से प्रकाश कहलाते हैं। आँख की वृत्ति भी ज्ञान कराती है अतः प्रकाश है। चक्षु को रूपज्ञान के लिए आलोक चाहिये पर अँधेरे के ज्ञान के लिए उसकी ज़रूरत नहीं, इसमें अनुभव ही शरण है। क्योंकि 'अँधेरा देख रहा हूँ' यह अनुभव है एवं अँधेरा किसी के अभावरूप से नहीं स्वयं एक भाव वस्तु के रूप से दीखता है इसलिए अँधकार को चक्षुर्गम्य ही स्वीकारना उचित है।

जडमात्र को प्रकाश की अपेक्षा है यह नियम सिद्ध हुआ। चक्षुरादि से जन्य अन्तःकरणवृत्ति प्रकाश होते हुए भी जड है अतः उसे आत्मप्रकाश की अपेक्षा होनी आवश्यक है यह इसलिए समझाते हैं कि जड क्षेत्र से भिन्न चेतन क्षेत्रज्ञ स्पष्ट होवे — चक्षु आदि प्रकाशों का प्रकाशन किसी प्रकाश से ही होता है, अप्रकाशरूप विषय से नहीं; जैसे घट द्वारा सूर्य प्रकाशित नहीं किया जाता॥१२५॥

घट सूर्यद्वारा विषय किया जाता है अतः घट सूर्य को प्रकाशित करता नहीं। इसी तरह सूर्य को चक्षु विषय करती है अतः सूर्य चक्षु को प्रकाशित नहीं करता। विषयग्रहण में सहायता रूप अनुग्रह सूर्यदेव करते हैं, यह बात दूसरी है। ऐसे ही चक्षुरादि प्रकाश क्योंकि जड हैं इसलिए प्रकाशांतर की अपेक्षा रखते हैं। जड इसलिए हैं क्योंकि कभी होते व कभी नहीं होते हैं तथा 'मेरी आँख बिगड़ गयी' आदि अनुभवों में विषयरूप से भासते हैं। अपने से भिन्न प्रकाश की अपेक्षा उसे ही नहीं होती जो जड नहीं होता, उदाहरणार्थ प्रत्यगात्मा; वह जड नहीं और उसे स्वेतर प्रकाश की अपेक्षा भी नहीं।

---

१. ज्ञानहेतुत्वं प्रकाशत्वम्। २. प्रकाश्यत इति पाठेन भाव्यम्।

न च प्रदीपवत् सर्वः सजातीयानपेक्षणः[1]। मण्यादिषु तथाऽदृष्टिर्विद्यते सर्ववादिनाम्॥ १२६॥
ततः स्वल्पत्वबाहुल्ये[2] ग्राह्यग्रहणकारणे। प्रकाशेन सजातित्वं बहुत्वं च मयि स्थितम्॥ १२७॥

ननु चक्षुरादिप्रकाशः, प्रकाशान्तरानपेक्षः, प्रकाशत्वात्, प्रदीपवद् — इति सत्प्रतिपक्षः? इत्याशंक्य, मण्यादिषु व्यभिचारित्वेन दुष्टत्वात् प्रतिपक्षत्वं न संभवतीत्याह — न च प्रदीपवदिति। नापेक्षत इत्यनपेक्षणः, नन्द्यादित्वाल्ल्युः (पा.३.१.१३४)। सजातीयस्यानपेक्षणः सजातीयानपेक्षणः, सर्वः प्रकाशः सजातीयानपेक्ष इति नियमो न च। कुतः? मण्यादिषु प्रकाशेषु तथा साहचर्येण हेतुसाध्ययोः सर्ववादिभिरदृष्टेरदर्शनादित्यर्थः॥ १२६॥

ननु प्रकाशत्वाविशेषेऽपि केन विशेषेण प्रकाशस्य प्रकाशापेक्षेति सुहृद्भावेन पृच्छन्तं प्रत्याह — तत इति। ग्राह्यग्रहणेति भावप्रधानो निर्देशः। तथा च, प्रकाशत्वाऽविशेषेपि स्वल्पत्वबाहुल्ये परिच्छिन्नत्वव्यापकत्वे ग्राह्यग्रहणत्वयोः प्रकाश्यत्वप्रकाशकत्वयोः कारणे प्रयोजके व्याप्ये इति यावत्। यद्यत् परिच्छिन्नं तत्तत् प्रकाश्यं, यथा दीपप्रकाशापेक्षया परिच्छिन्नं मण्यादि। यद्यद् व्यापकप्रकाशरूपं तत्तत् प्रकाशकं, यथा दीपादीति व्याप्तिः सिद्धेति भावः। प्रकाशप्रकाशकत्वव्याप्यं यत् प्रकाशत्वे सति व्यापकत्वं तद्वानात्मेत्युपनयं सूचयति — प्रकाशेनेति। प्रकाशेन सजातित्वं समानजातिमत्त्वं, प्रकाशत्वमित्यर्थः। बहुत्वं भूमपदार्थो व्यापकत्वम्। उभयं मयि शोधिताहंपदार्थ आत्मनि स्थितं ज्योतिर्ब्राह्मणभूमब्राह्मणादिश्रुतिभि र्विद्वदनुभवेन च प्रसिद्धमित्यर्थः॥ १२७॥

अतः जब समस्त जड को जडेतर प्रकाश चाहिये तो वह चित्प्रकाश से अन्य क्या होगा! चित्प्रकाश को पुनः अन्य प्रकाश चाहिये नहीं। यही चित्प्रकाश आत्मा है यह सिद्ध होता है।

शंका होती है कि पूर्वानुमान का विरोधी यह भी तो अनुमान संभव है: चक्षु आदि प्रकाश को अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं है, प्रकाश होने से, दीपक की तरह। यदि यह अनुमान ठीक है तो जड होने पर भी चक्षु आदि आत्मप्रकाशापेक्षी न होंगे, फलतः उनसे अतिरिक्त चित्प्रकाशरूप आत्मा सिद्ध न होगा। इसके समाधान के लिए कहते हैं — यह नहीं कह सकते कि दीपक के समान सभी वस्तुएँ अपनी समान जाति के प्रकाश की आवश्यकता के बिना ज्ञात हो जाती हैं, क्योंकि सभी यह मानते हैं कि मणि आदि वस्तुओं को अपनी समान जाति के दीपादि-प्रकाश की अपेक्षा अपने ज्ञान के लिए रहती है। तैजस होने से मणि आदि दीपक के सजातीय हैं॥ १२६॥

शंकालु द्वारा कहे अनुमान से यह नियम निकला कि जो कोई भी प्रकाश होगा वह सजातीय की अपेक्षा नहीं रखेगा। किंतु मणि आदि इस नियम को मानते नहीं क्योंकि प्रकाश होते हुए भी वे दीपादि के सापेक्ष होते हैं। दीपक की अपेक्षा न भी हो तो चक्षु की अपेक्षा तो है ही। चक्षु भी तेजोरूप है। आगे प्रकाश होने से आत्मा में सापेक्षता की प्राप्ति होने पर जडत्व को उपाधि समझना चाहिये यह पूर्वश्लोक में स्पष्ट कर चुके हैं।

यदि मित्र बनकर कोई पूछे कि प्रकाशता समान होने पर भी किस विशेषता से प्रकाश को प्रकाश की अपेक्षा होती है अर्थात् दोनों जब प्रकाश हैं तो क्यों मणि आदि को प्रकाशांतर की अपेक्षा है, स्वयं से ही क्यों काम नहीं चल जाता? तो समझना चाहने वाले उस व्यक्ति के प्रति कहते हैं — अतः प्रकाशों के विषय में यह जान लेना चाहिये कि न्यूनविषयक-प्रकाश ग्राह्य और अधिकविषयक-प्रकाश ग्राहक होता है। मुझ जगत्स्रष्टा आत्मा में प्रकाश से सजातिता भी है और सर्वाधिकविषयकता भी है॥ १२७॥

परिच्छिन्नविषयक-प्रकाश अपने से अधिकविषयक प्रकाश का ग्राह्य बनता है। क्योंकि आत्मा अपरिच्छिन्नविषयक-प्रकाश है इसीलिए कभी ग्राह्य बनता नहीं, यह भाव है। इसलिए मणि आदि को चक्षु की अपेक्षा होना सुसंगत है। अनुमान इस ढंग से है: जो जो परिच्छिन्न होता है वह प्रकाश्य होता है जैसे दीपप्रकाश की अपेक्षा (या चक्षु-प्रकाश की अपेक्षा) मणि आदि परिच्छिन्न है तो प्रकाश्य है। जो जो व्यापक-प्रकाश होता है वह प्रकाशक होता है, जैसे दीपादि।

१. साजात्यं च ज्ञानहेतुत्वेन। २. अधिकविषयत्वं बाहुल्यम्। यदधिकं जानाति तद्बहु।

स्वल्पत्वादेव दृश्या स्याद् बुद्धिः सर्वप्रकाशिनी। मया यद्वत् तया दृश्यं भानाभानात्मकं जगत्॥ १२८॥

आत्मनो भूमरूपता

अहं न कुत्रचिद् देशे स्थितोऽस्मि गवि गोत्ववत्। नाहंकालेऽपि कस्मिंश्चिद् भाव्यस्ति च मृतो यथा॥ १२९॥

एवं व्याप्तिपक्षधर्मतयोः सिद्धौ सत्यामनुमानं दर्शयति — स्वल्पत्वादिति। स्वातिरिक्तसर्वप्रकाशिनी अपि बुद्धिर्मया दृश्या प्रकाश्या स्यादिति प्रतिज्ञा। स्वल्पत्वात् परिच्छिन्नत्वादिति हेतुः। उदाहरणं दर्शयति — यद्वदिति। तया बुद्ध्या हिरण्यगर्भोपाधित्वेन व्यापिकया, सत्त्वप्राधान्येन प्रकाशरूपया, भानाभानात्मकं सूर्यादिरूपं घटादिरूपं च जगद् यथा दृश्यं, तद्वदित्यर्थः॥ १२८॥

ननु श्रुत्योक्तमपि भूमरूपं चेतसि नावतरति, असंभावनाप्रतिबन्धाद् इत्यतस्तद्वारणाय त्रिविधपरिच्छेदाऽसंभवरूपं तर्कं स्फुटयति — अहमित्यादि चतुर्भिः। यथा गोव्यक्तिरूपदेशपरिच्छिन्ना गोत्वजातिस्तथाऽहं केनापि देशेनावच्छिन्नो न भवामि, मां विनेतरदेशीयानां सत्ताप्रकाशाऽनिर्वाहादिति भावः। कालपरिच्छेदाभावमाह — नाऽहं कालेपीति। व्यतिरेके दृष्टान्तः — यथा भावी अनागतः, अस्ति वर्तमानः, मृतोऽतीतः; एते यथा कालावच्छिन्नास्तथा नाहमित्यर्थः॥ १२९॥

प्रकाश का प्रकाशक जो होगा वह खुद प्रकाश भी होगा और प्रकाश्यप्रकाश से व्यापक भी होगा। आत्मा ऐसा है अतः वही सर्वप्रकाशक सिद्ध होता है। प्रष्टा को मित्रभाव वाला इसलिए कहा कि इस रहस्य को श्रुति में श्रद्धा के बिना समझ नहीं सकते क्योंकि इसमें अनुकूल तर्क ज्योतिर्ब्राह्मण, भूमब्राह्मण आदि श्रुतियाँ ही हैं जो आत्मा को प्रकाश व व्यापक बताती हैं। परमात्मज्ञानियों का अनुभव भी इस विषय में अनुकूल है। केवल शंकालु न श्रुति को और न विज्ञानुभव को मानेगा अतः उसे यह बताना व्यर्थ है। तर्कमात्र से यह विषय असमाधेय है। इसी से अनुव्यवसाय के पुनः अनुव्यवसाय पर नैयायिक केवल मनमानी रोक लगा पाता है, कोई हेतु नहीं दे पाता। यह विचार आकरों में विस्तार से आया है।

परिच्छिन्न को अन्ततः अपरिच्छिन्न की अपेक्षा तथा आत्मा की अपरिच्छिन्न-प्रकाशता सिद्ध होने से फल यह निकला — अन्य सब का प्रकाशन करने वाली भी बुद्धि परिच्छिन्न होने से मेरे द्वारा दृश्य (प्रकाश्य) ही है। प्रकाश व तम रूप जगत् जो बुद्धि का दृश्य है वह उसका दृश्य ही रहता है। ऐसे ही मेरा दृश्य भी सदा दृश्य ही रहता है॥ १२८॥

बुद्धि में बाकी प्रपंच को प्रकाशित करने का सामर्थ्य इसी से है कि वह हिरण्यगर्भ की उपाधि होने से व्यापक है और सत्त्वप्रधान होने से प्रकाशरूप है। यद्यपि सारा सूक्ष्मदेह हिरण्यगर्भ की उपाधि है तथा ज्ञानेन्द्रियाँ सत्त्वप्रधान भी हैं तथापि पूर्वोक्त अनुभव के अनुसार बुद्धि को चक्षु आदि का प्रकाशक स्वीकारना पड़ता है। चक्षु आदि प्रत्येक की व्यावृत्ति में व सभी की व्यावृत्ति में बुद्धि की अनुवृत्ति होने से बुद्धि की चक्षु आदि से व्यापकता सिद्ध हो जाती है यह ध्यान रखना चाहिये। 'प्रकाश व तम रूप जगत्' में प्रकाश से सूर्यादि और तम से घड़ा, अँधेरा आदि समझने चाहिये। 'दृश्य ही है' से स्पष्ट किया कि बुद्धि कभी आत्मा की प्रकाशक नहीं बन सकती। अन्यथा वह उसकी प्रकाश्य ही न होती।

यद्यपि श्रुति ने व्यापकस्वरूप परमात्मा का प्रतिपादन किया है तथापि 'ऐसी व्यापकता आत्मा की होनी संभव नहीं' इस समझ के कारण वह स्वरूप बुद्धि में स्पष्ट होता नहीं। तत्त्व जैसा बताया गया है वैसा संभव नहीं - यह समझ 'असंभावना' नाम से शास्त्र में कही जाती है। युक्ति से सिद्ध हो जाने पर असंभावना निवृत्त हो जाती है: वैसा होना संभव है यह निश्चय बन जाता है। फिर भी 'वैसा लगता नहीं बल्कि उल्टा ही लगता है' यह विपरीतभावना बनी रहती है जो दृढज्ञान से ही हटती है। यहाँ आत्मा की व्यापकता के विषय में जो असंभावना होती है उसे हटाने के लिए आत्मा देश-काल-वस्तुकृत तीनों प्रकारों के परिच्छेदों वाला हो नहीं सकता यह तर्क चार श्लोकों द्वारा स्पष्ट करते हैं - गाय में गोत्व की तरह मैं किसी काल में नहीं रहता और जैसे भूत, भविष्य और वर्त्तमान वस्तुएँ किसी काल में रहती हैं ऐसे मैं किसी काल में नहीं रहता॥ १२९॥

मत्तोऽस्ति न पृथक् किंचित् सदसच्छब्दधीगतम्। यथा घटात् पृथग्भूमिर्वन्ध्यापुत्रश्च लभ्यते॥ १३०॥

भेदरूपवस्तुपरिच्छेदाभावमाह — मत्त इति। सदसदित्युभयाकारकं शब्दं धियं च गतं विषयत्वेन तयो र्भासमानं किंचिद् अपि मत्तः पृथङ्नास्ति। व्यतिरेके दृष्टान्तः — यथा घटादिति। भूमिः सदाकारशब्दधीगता वन्ध्यापुत्रश्चासदाकारशब्दधीगतो[1] यथा घटात् पृथग् एवं न मत्तः किंचिदित्यर्थः॥ १३०॥

गोत्वजाति केवल गायों में रहती है, गोभिन्नों में नहीं। अतः वह किसी स्थानविशेष, अर्थात् गायरूप स्थान में ही रहती है। इस प्रकार मैं, आत्मा, किसी भी स्थान से सीमित नहीं, इसी स्थान पर मैं हूँ ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि मैं किसी स्थानविशेष में होता तो अन्य स्थानों की वस्तुएँ सत्ता व ज्ञान से विहीन हो जाती क्योंकि मेरे बिना किसी का सत्ता-प्रकाश हो सकता नहीं कारण कि मैं ही सत्ता-प्रकाशरूप हूँ। ऐसे ही घटादि किसी काल से सीमित होते हैं - अमुक काल में घट है, उससे अतिरिक्त काल में नहीं। किंतु मैं इस तरह किसी काल से सीमित नहीं अन्यथा कालान्तर के घटादि सत्ता-प्रकाशरहित हो जायें। जब देश व काल के सब विशेष मेरे परिच्छेदक नहीं तो देशमात्र और कालमात्र मेरे परिच्छेदक क्योंकर होंगे? देश-काल मुझ आत्मा से उत्पन्न होते हैं अतः मैं तो उनके बिना सिद्ध ही हूँ, तभी तो उनका कारण बनता हूँ। देश-काल मुझमें चाहे हों, मैं तो उनमें नहीं हो सकता। यद्यपि कुछ विचारक गोत्वादि जाति को केवल गवादि में सीमित न मानकर घटादि सर्वत्र ही उसे मानते हैं तथापि वैसा मानना प्रमाणशून्य और व्यर्थ है अतः गवादि में ही गोत्वादि मानना पर्याप्त होने से शंकरानन्दस्वामी ने उसे व्यक्तिपरिच्छिन्न कहा है।

देश-काल की सीमा मुझ आत्मा के लिए नहीं यह बताकर मेरी वस्तुकृत सीमा भी नहीं यह कहते हैं — 'है' या 'नहीं है' इन शब्दों व बुद्धियों का विषयभूत कुछ भी मुझ से पृथक् नहीं है। जैसे घट से पृथक् भूमि और वन्ध्यापुत्र सद् या असद् रूप से मिलते हैं, ऐसे मुझ से पृथक् कुछ उपलब्ध नहीं होता॥ १३०॥

'है' इस शब्द व ज्ञान का विषय सद्वस्तु कही जाती है और 'नहीं है' शब्द व ज्ञान का विषय असद्वस्तु। घट से भिन्न पट आदि सद्वस्तुएँ भी हैं और वन्ध्यापुत्रादि असद्वस्तुएँ भी। ऐसे आत्मा से भिन्न न कुछ सत् है व न असत्। 'घट वस्तुकृतसीमा वाला है' इसका अभिप्राय है कोई ऐसी वस्तु हैं जिसे हम घट कह व जान नहीं सकते। 'घट' इस शब्द व बुद्धि की विषयता को रोकने वाली होने से वह पट आदि वस्तु घट का परिच्छेद करती हुई कही जाती है। जो कुछ भी घटसामानाधिकरण्येन विद्यमान न हो - अर्थात् जिसे घट से अभिन्न नहीं समझा जा सके - वह घट का परिच्छेद करता है। क्योंकि 'घटः पटः' यह सामानाधिकरण्यबुद्धि (प्रमा) संभव नहीं इसलिए पट को घट का परिच्छेदक समझना पड़ता है। संसार की सभी चीजें सत्सामानाधिकरण्य वाली होने से सत् का परिच्छेदक अप्रसिद्ध हो जाता है। असत् भी सत्सामानाधिकरण्येन उपलब्ध होता है क्योंकि 'असन् सन्' ही बुद्धि होती है न कि 'असन्नसन्'। 'असन् सन्' में वदतोव्याघात इससे नहीं कि 'असन्' से सदभाव कहा ही नहीं जाता वरन् जिसे असत् कहा जा रहा है उस घटआदि का अभाव कहा जाता है - 'घटोऽसन्' का अर्थ इतना ही है 'घटाभावः सन्'। 'असत्' इतनी मात्र तो कभी प्रतीति संभव नहीं। 'सन्' इतनी मात्र प्रतीति भी यद्यपि अविद्यावस्था में होती नहीं तथापि श्रुति से व विद्वदनुभव से सिद्ध है। सद्रूप आत्मा से क्योंकि सभी का सामानाधिकरण्य है इसलिए कुछ भी आत्मपरिच्छेदक हो सकता नहीं। किं च आत्मा यदि 'कुछ' हो तो 'कुछ अन्य' उसे परिच्छिन्न करे। एक वस्तु 'सब कुछ' सचमुच हो सकती नही। फलतः आत्मा क्योंकि सचमुच 'कुछ' नहीं है [झूठमूठ चाहे वही सब कुछ है], किंतु है सही, इसलिए कुछ भी उसका परिच्छेद कर सकता नहीं। इसीलिए वस्तुकृतसीमा आत्मा की नहीं है।

---

१. 'अलीकं न वृत्तेर्विषय' इति लघुचन्द्रिकोक्त्या (पृ.२००) धीगत इति धीविषयत्वं मा वोचत्, सदसतोश्च सम्बन्धासंभवाच्छब्दविषयत्वमपि तथा। तर्हि कोर्थः? असदाकारशब्दधीभ्यां गतः गतार्थः, ततोन्यो नेति भावः। यद्वा मायिकेऽस्मिञ्जगति विकल्पवृत्तेर्विषयोप्यस्तु इत्यतर्क्यतामस्य द्योतयन् धीगत इत्युक्तम्। लघुचन्द्रिकायामेव 'निरुपाख्यपदेनैव ख्यायमानत्वाद्' इति वाक्यव्याख्याने निगमनं 'तथा च वृत्तिविषय एवालीकमिति भावः' (पृ.१३८)।

मय्येवं[1] सकलं विश्वं देशकालादिरूपकम्। नामरूपक्रियाव्याप्तमध्यस्तं स्रजि सर्पवत्॥
तथा भूमाऽहमेकोऽत्र मत्तो नान्योऽस्ति कश्चन॥ १३१॥
सुखसत्त्वप्रकाशाश्चेद् भिन्ना मत्तो न तेऽपि ते। अध्यस्तत्वेन[2] सर्पादिसमास्तस्मादहं हि ते॥ १३२॥

ननु चिज्जडभेदो लौकिकप्रमाणसिद्धः? इत्याशंक्य, तेषां स्वप्नगतप्रमाणवत् न 'अतोऽन्यदार्तमि'ति श्रुतिबाधितभेदसाधने शक्तिरित्याशयेन प्रपंचनिरूपितद्वैताभावे तस्याध्यस्तत्वं हेतुमाह — मय्येवेति। स्पष्टम्। फलितमाह — तथा भूमेति। भूमा व्यापकः, बहोर्भूरादेश इमनिच्प्रत्ययः। भवितृप्रधानो निर्देशः। उपसर्जनीभूतं यद्विशेषणं तद्विशिष्टाभिधायकं पदं यदा विशेषणं प्राधान्येनाऽभिधत्ते तदा भावप्रधानो निर्देश इति व्यवहारः, यथा गोत्वविशिष्टवाचकगोशब्दस्य 'नित्यो गौ' रिति वाक्ये गोत्वमात्राभिधाने। यदा तु भावप्रत्ययान्तः प्राधान्येन विशेषणाभिधानशीलः शब्दो भावप्रत्ययार्थमुपसर्जनीकृत्य विशिष्टं पुनरभिधत्ते तदा भवितृप्रधानो निर्देश इति व्यवहारः, यथा प्रकृतो भूमशब्दः, अयं हि इमनिजन्तत्वेन व्यापकत्वबहुत्ववाचकोऽपि प्रकृते व्यापकस्वरूपवाचक इति बोध्यम्॥ १३१॥

ननु भेदान्तराभावेऽपि घटस्य स्वधर्मेभ्यो रूपादिभ्य इव सुखसत्त्वप्रकाशेभ्यो भेद आत्मनः स्यादेव, तथा चागतो वस्तुपरिच्छेद इत्यत आह — सुखसत्त्वप्रकाशा इति। सुखमानन्दः सत्त्वं सत्ता प्रकाशश्चिद्, एते चेद् यदि मत्तः सर्वान्तराद् भिन्नाः स्युस्तदा ते सुखसत्त्वप्रकाशास्ते न स्युः सुखत्वादिभ्य एव च्युताः स्युरित्यर्थः। तथा हि—सुखं यदि भूम्नआत्मनो भिन्नं स्यात्तदा वस्तुपरिच्छेदेन भूमरूपहानात् सुखत्वादेव च्युतं स्याद् 'यो वै भूमे' त्यादिश्रुतेः। एवं सत्त्वमप्यात्मनः प्रकाशात्मकाद्भिद्यमानमसत् स्यात्, साधकाभावात्। प्रकाशोऽपि सद्रूपादात्मनो भिद्यमानोऽसत् स्यात्। त्रयाणामेकात्मकत्वे तु न कोऽपि दोष इति भावः। नन्वेवं सति कथं धर्मधर्मिभेदव्यवहारः? इत्याशंक्य, धर्मधर्मिभावो न गवाश्ववदत्यन्तभिन्नयोः नापि घटकलशवदत्यन्ताभिन्नयोः, तस्माद्भेदाभेदोभयसापेक्षेणापि व्यवहारेणाऽभेदे पारमा-

प्रश्न होता है कि लौकिक-प्रमाणों से चेतन व जड में आपसी भेद है यह निश्चित होता है, जड व चेतन पृथक् हैं यह हमें मालूम चलता है; तब कैसे कहा जा सकता है कि चेतन आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है? आखिर जड को तो आत्मा से भिन्न मानना ही होगा। इस प्रश्न का उत्तर है कि लौकिक-प्रमाण उसी तरह हैं जैसे स्वप्नावस्था के प्रमाण। स्वाप्न प्रमाण स्वप्नकालिक वस्तु ही सिद्ध करते हैं, जाग्रत्कालिक नहीं। स्वप्न में जो मुझमें घटभेद दीखता है वह जाग्रत् के मुझ में उसे सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि जगने पर उस भेद का बाध हो जाता है कारण कि जिसका वह भेद था उस घट का ही बाध हो जाता है। 'आत्मा से भिन्न कोई सत्य वस्तु नहीं है' कहकर श्रुति ने भेदमात्र का बाध कर दिया है। लौकिकप्रमाण स्वयं आत्मभिन्न होने से इसी श्रुति से बाधित है। वह क्योंकर भेद को सिद्ध कर पायेगा? अतः जड प्रपंच से आत्मा भिन्न है, उससे दूसरा है, यह बात भी वास्तव में ठीक नहीं क्योंकि जड प्रपंच स्वयं अध्यस्त है, मिथ्या है। इसी बात को व्यक्त करते हैं — नाम-रूप-क्रिया से व्याप्त देश-कालादिरूप सारा विश्व मुझ में वैसे ही अध्यस्त है जैसे माला में साँप। इस प्रकार अकेला मैं ही व्यापक हूँ। मुझसे अन्य विश्व में कुछ नहीं है॥ १३१॥

श्लोक में व्यापक कहने के लिए 'भूमा' शब्द का प्रयोग किया है। छांदोग्य में भी यही शब्द आया है। सूत्रकार ने भी आत्मा को भूमा कहा है। 'बहु' शब्द से भावार्थक 'इमनिच्' प्रत्यय होने पर 'भूमन्' शब्द बनता है। किंतु यहाँ यह भवितृप्रधान है नकि भावप्रधान। विशिष्टबोधक शब्द जब प्रधानरूप से विशेषण का बोध कराये तब उसे भावप्रधान कहते हैं। उदाहरणार्थ 'गाय नित्य है' कहने पर क्योंकि गोत्वविशिष्ट गोव्यक्ति नित्य हो नहीं सकती इसलिए गायशब्द से हम गोत्व को ही समझते हैं। गोशब्द (गायशब्द) यद्यपि गोत्ववाली गायव्यक्ति का बोधक है तथापि उक्त वाक्य में प्रधानतः वह गाय के विशेषणीभूत गोत्व का ही बोधक है। अतः यहाँ 'गाय' यह भावप्रधान प्रयोग कहा जाता है। जब

---

१. एवेति टीकानुसारी पाठः। 'मय्येव सकलं जातम्' इत्यादिः श्रुतिरपि प्रसिद्धा।
२. आत्मनो भेदेन प्रतीयमानानां सत्त्वादीनां मिथ्यात्वं न तु तत्स्वरूपस्येति स्मर्तव्यम्।

र्थिके लब्धेऽपि तादृशभेदस्याऽलाभात् स[1] 'बद्धमुक्तमहीपालन्यायेन' (पंचदशी ७.१५०) कल्पितभेदेनापि तुष्यति इति गृहाण। न च कल्पितेन सद्वितीयत्वं, न हि गृहे स्वपन् स्वप्ने दृष्टराजमण्डलः सद्वितीय इति व्यवह्रियते प्रामाणिकैरित्याशयेनाह — अध्यस्तत्वेनेति। यदि तेऽध्यस्ता मत्तो भिन्ना व्यवहृतास्तदा रज्जुसर्पादिसमाः सन्तो न भेदप्रयोजकाः अध्यस्तत्वात्। परमार्थतस्तु सुखसत्त्वप्रकाशा अहमेव मत्स्वरूपभूता एवेत्यर्थः। तथा चोक्तं विवरण-कारैः[2] 'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः, अभिन्नत्वेपि पृथगिवावभासन्ते' (पंचपा.पृ.६७कल.) इति॥ १३२॥

भाववाचीप्रत्ययुक्त शब्द प्रधानरूप से भाव को बोधित न कर भाववाले का ज्ञान कराता है तब भवितृप्रधान कहा जाता है। जैसे यही भूमशब्द 'बहु का भाव'(=बहुतपना, बहुंतायत) न कहकर जो वस्तु बहु-रूप है उस आत्मा को कह रहा है अतः भवितृप्रधान है। भूमा से बहुतायत नहीं कही जा रही, जिसकी निःसीम बहुतायत है वह आत्मा कहा जा रहा है।

पुनः शंका होती है कि आत्मा में और कोई भेद चाहे न हो फिर भी आत्मा में सुख-सत्ता-प्रकाशरूप निजी धर्म हैं ही, उनसे तो आत्मा भिन्न होगा ही जैसे रूप आदि निजी धर्मों से घट भिन्न ही होता है। और यदि अपने धर्मों से वह भिन्न है तो भी धर्मरूप वस्तु से परिच्छिन्न ही होगा। इस शंका के समाधान के लिए कहते हैं — सुख, सत्ता और प्रकाश (ज्ञान) भी यदि मुझसे भिन्न हों तो वे सुखादि रह ही नहीं जायेंगे क्योंकि मुझसे भिन्न होने पर वे अध्यस्त होने के कारण कल्पित साँप आदि की तरह असुखादिरूप ही होंगे। इसलिए वे मैं ही हूँ॥ १३२॥

वेद ने व्यापक को ही सुख कहा है। यदि सुख आत्मभिन्न हो तो आत्मवस्तु से परिच्छिन्न होने से व्यापक न हो पायेगा, फलतः सुख न रहेगा। ऐसे ही ज्ञानरूप आत्मा से भिन्न होने पर सत्ता अप्रकाशमान होगी तो अप्रामाणिक होने से उसे ही मानना असंभव होगा। जैसे अप्रकाशमान शशशृंग नहीं माना जाता ऐसे सत्ता भी अमान्य हो जायेगी। यद्यपि घटादि की तरह उसको आत्म-विषय मानकर प्रकाशित होने वाला कहा जा सकता है तथापि क्योंकि आत्मातिरिक्त न होने पर ही घटादि भी प्रकाशमान होता है इसलिए प्रकाशमान होने के लिए सत्ता को भी आत्मा से अभिन्न ही होना पड़ेगा। घटादि तो व्यावृत्त होने से उपाधिमात्र रह जाते हैं पर सत्ता अनुवृत्त होने से उपाधि कही नहीं जा सकती। एक ही उपलब्ध होने से सत् को ही सत्ता समझना पड़ता है। जैसे सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति में व्यक्ति को भी सामान्य समझना पड़ता है वैसे प्रकृत में जानना चाहिये। सद् व्यक्ति को श्रुति ने आत्मा कहा है अतः सत्ता मुझ आत्मा से भिन्न होना असंभव है। इस प्रकार आत्मा सद्रूप सिद्ध हुआ। अब यदि प्रकाश (ज्ञान) आत्मा से भिन्न होगा तो उसे असद् होना पड़ेगा जो अबाधित प्रतीति से विरुद्ध है अतः वह भी आत्मा ही है। आत्मा को प्रकाशरूप मानकर सत्ता को आत्मरूप सिद्ध किया था। यदि वहीं आत्मा की प्रकाशरूपता में सन्देह हो तो पूर्ववत् अव्यभिचारी होने से तथा 'ज्ञानं ब्रह्म' आदि श्रुति से सिद्ध होने से आत्मा को ज्ञानरूप समझ लेना चाहिये। इस प्रकार सुख-सत्ता-ज्ञान आत्मा से भिन्न हों यह संभव नहीं। आत्मरूप हों तब कोई दोष नहीं। किन्तु आत्मरूप हों तो उन्हे आत्मा का धर्म क्यों कहा-समझा जाता हैं? गाय-घोड़े की तरह अत्यंत भिन्न वस्तुएँ तथा घट-कलश की तरह अत्यंत अभिन्न वस्तुएँ आपस में धर्म-धर्मिभाव वाली तो होती नहीं अतः धर्मधर्मिव्यवहार वैसी ही वस्तुओं में स्वीकार्य है जो आपस में भिन्न भी हैं व अभिन्न भी। सचमुच भिन्न और अभिन्न होना असंभव है अतः वस्तुतः अभिन्न रहते हुए कल्पित भेद वाली वस्तुओं में धर्मधर्मिता हो जाती है। विपरीत इसलिए संभव नहीं कि अभेद तो स्वरूपात्मक होने से निरपेक्ष है जबकि भेद सप्रतियोगिक होने से सापेक्ष है तथा निरपेक्ष की अपेक्षा सापेक्ष मिथ्या ही होता है। इस प्रकार धर्मधर्मिभाव कल्पितभेद से संगत है। आत्मा व सुखादि में भी कल्पित भेद से धर्मधर्मिभाव कहा-समझा जाता है। राजा सामान्यतः अधिकाधिक देश जीतना चाहता है। पर यदि कभी हारकर बंदी बना लिया गया हो तो थोड़ा राज्य भी मिले तो लेकर संतोष कर लेता है। ऐसे ही धर्मधर्मिभाव भले ही चाहता वास्तव भेद हो पर क्योंकि वास्तव भेद ही संभव नहीं तथा क्योंकि वास्तव भेद होने पर गाय-घोड़े की तरह धर्मधर्मिभाव हो भी नहीं सकता, इसलिए वह कल्पित भेद से ही संतोष कर लेगा। क्या पुरुष से अत्यंत भिन्न दण्ड पुरुष का धर्म नहीं होता? वस्तुतः,

---

१. व्यवहारः। २. विव्रियतेऽनेनेति विवरणं टीकेत्यर्थः। तत्कर्तृभिः पद्मपादाचार्यैरिति शेषः। अभिन्नत्वेपीत्यत्रापृथक्त्वेपीति मुद्रितटीकासु पाठः।

तस्मात् प्रकाशनं युक्तं मया सर्वस्य वस्तुनः। तेजसोऽतेजसो वापि मम नान्येन वस्तुना॥ १३३॥

प्रवेशसङ्कल्पः

अतोऽहमस्य देहादेर्जडदुःखाऽसदाऽऽत्मनः। सच्चिदानन्दतां कुर्वन् प्रवेक्ष्यामि कलेवरम्॥ १३४॥

ज्योतिर्ब्राह्मणार्थोपसंहारेण निगमयति — तस्मादिति। तस्माद् व्यापकत्वे सति प्रकाशत्वाद् मयैव सर्वस्य वस्तुनस्तेजोऽतेजोरूपस्य जडस्य प्रकाशनं युक्तम्। मम तु सर्वप्रकाशकस्य घटेन सूर्यस्येवान्येन प्रकाशनं न युक्तम्, विषयस्य विषयिप्रकाशनाशक्तेरित्यर्थः॥ १३३॥

एतादृशविचारस्य प्रकृतोपयोगं दर्शयति — अतोऽहमिति। अतः पूर्वोक्तयुक्त्या सर्वस्य जडसंघातस्य मदधीनसिद्धिकत्वेन मच्छेषत्वाद् अहं कलेवरं प्रवेक्ष्यामि। किमर्थम्? जडदुःखाऽसदात्मनो देहादेः स्वतादात्म्याध्यासात् सच्चिदानन्दतां कुर्वन् कर्तुमित्यर्थः। कुर्वन्निति शतृप्रत्ययो 'लक्षणहेत्वोः क्रियाया' इति सूत्रेण (पा.३.२.१२६) हेतौ बोध्यः, फलस्यापि हेतुत्वाद्, अर्जयन् वसतीतिवत्। अत्रेदं विवेचनीयम् — अयं चतुर्दशश्लोकोक्तो विचारस्तथाग्रिमवाक्यव्याख्याने वक्ष्यमाणश्चैतद्द्वयं जीवे न संभवति, जीवस्यैवं विचारे कृतकृत्यत्वेन प्रवेशानुपपत्तेः। किं च सृष्टिस्थितिप्रलयप्रवेशानुग्रहास्तत्पदार्थेश्वरलक्षणानि इति सिद्धान्तः। तस्मादनादेरपि जीवस्येशप्रतिबिम्बरूपस्योपाधिप्रवेशात् पूर्वमस्फुटतया कारणोपाधीश्वरतादात्म्येनेश्वरनिष्ठोऽयं विचारस्तत्र जीवेऽभेदमादाय बुद्धेस्तत्त्वावतारणाय श्रुत्या व्यवहृत इति न विरोधः। जीवत्वबाधहेतुस्तु विचारोऽवस्थात्रयदर्शनानन्तरं वक्ष्यमाणो बोध्य इति॥ १३४॥

दण्डी का ही धर्म दण्ड होता है, न कि पुरुष का, और दण्डी ही दण्ड का धर्मी होता है, न कि पुरुष। दण्डी से धर्मरूप दण्ड का अत्यंत भेद कह नहीं सकते क्योंकि धर्मरूप दण्ड कभी दण्डी से भिन्न मिलता नहीं। अतः वहाँ भी भेदाभेद से ही उपपत्ति हो सकती है अन्यथा नहीं। अध्यस्त अर्थात् कल्पित वस्तु से सच्ची वस्तु कभी 'दूसरी' नहीं समझी जाती, 'कल्पित पुरुष से मैं दूसरा हूँ' ऐसा कोई अकेला व्यक्ति कहता-समझता या समझा जाता नहीं है। यह विषय वेदान्त-व्याख्याताओं के सिरमौर साक्षाद् नारायणस्वरूप भगवान् पद्मपाद ने भी स्पष्ट किया है: आनन्द, अनुभव और नित्यता ये आत्मा के धर्म हैं। भले ही ये उससे अभिन्न ही हों, तत्स्वरूप ही हों, फिर भी प्रकाशते यों हैं मानो उससे व परस्पर भिन्न हों। इस आचार्य-विवरण से उक्त बात निःसंदिग्ध हो जाती है।

ज्योतिर्ब्राह्मण (बृ.४.३) के तात्पर्य के उपसंहार द्वारा इस विषय का निगमन करते हैं — इसलिए यह ठीक ही है कि सब वस्तुओं का प्रकाशन मुझ से ही हो, चाहे वे वस्तुएँ प्रकाशरूप हों या अँधेरारूप। मेरा प्रकाशन किसी अन्य से हो यह उचित नहीं॥ १३३॥ पूर्वोक्त सारे विचार का यही सार है।

ऐसा विचार इस प्रसंग में किस काम का - यह दिखाते हैं — क्योंकि सारा जडसंघात मेरे अधीन सिद्धि पाने वाला अतः मेरे लिए है इसलिए जड-दुःख-असद् रूप देह आदि को सत्-चिद्-आनन्द रूप बनाने के लिए मैं शरीर में प्रवेश करूँगा॥ १३४॥

'सिद्धि' अर्थात् सत्ता व स्फूर्ति। जो जिसके अधीन सत्ता-स्फूर्ति वाला होता है वह उसके लिए होता है यह नियम है क्योंकि जो ऐसा नहीं होता वह शशशृंग किसी के लिए नहीं होता। केवल सत्ता में अधीनता से यह नियम लागू नहीं होता, दोनों में अधीनता होने पर ही होता है। फलतः केवल आत्मा के लिए ही उसके अधीन होने वाली वस्तुएँ होती हैं यह तात्पर्य है। जडादिदेह से तादात्म्य-अध्यास द्वारा ही उसे सद्-आदिरूप बनाया जा सकता है। अतः आत्मा वही करेगा। यह समझने योग्य है कि चौदह श्लोकों द्वारा (१२२-१३४) बताया विचार तथा अगले श्लोकों में जो कहा जायेगा, ये दोनों जीव में संभव नहीं क्योंकि ऐसा विचार कर चुके तो कृतार्थ होने से संसारसागर में प्रवेश ही क्यों करेगा? इतना ही नहीं, सृष्टि, स्थिति, प्रलय, प्रवेश और अनुग्रह ये पाँच काम ईश्वर के माने जाते हैं। अतः यह विचार और प्रवेश करने वाला जीव नहीं। किंतु यदि जीव प्रवेश न करे तो देह में आये कैसे? अतः उसे प्रवेश करना भी होगा ही। जीव व ईश्वर के पृथक्-पृथक् प्रवेश मानें तो देह में दो आत्मा होंगे जो असंभव है। फलतः प्रविष्ट ईश्वर ही जीव है यही

इति संचिन्त्य देवोऽसौ पुनश्चिन्तामवाप ह। द्वारमत्र प्रवेशे मे ज्ञानशक्तेर्भवेद्धि किम्॥ १३५॥

प्रवेशस्य द्वे प्रयोजने—भोगोऽपवर्गश्च[१]। अपवर्गश्च स्वरूपज्ञानमपवृज्यतेऽनेनेति व्युत्पत्तेः। तत्र भोक्तृत्वोपयोगिचित्स्वरूपविचारः पूर्वमुक्तः। अथ 'यत् संकल्पयति तत् करोती'ति न्यायेन द्वितीय-प्रयोजनोपयोगिविचारसूचकं 'कतरेण प्रपद्य' इत्यादि 'कोहम्' इत्यन्तं (ऐ.१.३.११) वाक्यमुपबृंहयति—इति संचिन्त्येत्यादिसप्तत्रिंशच्छ्लोकैः। पूर्वार्द्धं स्पष्टम्। चिन्ताऽऽकारमाह—द्वारमित्यादि। चेतनस्य हि ज्ञानशक्तिः क्रिया-शक्तिश्चेति द्वौ उपाधी। तत्र सत्त्वप्रधानो मायापरिणामो वा बुद्धि र्वा चित्प्रतिबिम्बग्राहितया ज्ञानशक्तिरिति व्यवह्रियते। तत्र ज्ञानेन्द्रियाणि ज्ञानशक्तिप्रपंचः, कर्मेन्द्रियाणि तु क्रियाशक्तेरित्यन्यत्र विस्तरः। तथा च मे ज्ञानशक्ते-रालोचनप्रधानज्ञानशक्त्युपाधिकस्य योग्यं किं द्वारं भवेदित्यर्थः। व्यापकस्योपाधिमन्तरा प्रवेशानुपपत्तेरिति भावः। पूर्वं सदैवतबुद्धेः प्रतिबिम्बरहितायाः[२] प्रवेश उक्तः, इदानीं तु प्रतिबिम्बविशिष्टबुद्धेश्चेतनोपाधितयेति विशेषः॥ १३५॥

मानना होगा। जीव क्योंकि आत्मा है अतः नित्य है। विचार करते समय भी ईश्वर से वह जीव अभिन्न ही है, अन्यथा आत्मा ही न हो। अतः विचार यद्यपि ईश्वर ने किया तथापि क्योंकि उससे अभिन्न है इसलिए यह मान लिया जाता है कि जीव ने ही कर लिया। इसलिए आगे का विचार संगत हो जाता है तथा प्रवेश करते समय निकलने के लिए चिह्न लगाना आदि जो कहा है वह भी उपपन्न हो जाता है। ईश्वर का विचार जीव ने किया ऐसा बताया भी इसलिए है कि इनका अभेद स्फुट हो। यह जो कहा था कि ऐसा विचार कर दुःखमयसंसार में प्रवेश करना संभव नहीं वह भी अत एव निवारित हो जाता है क्योंकि विचारपूर्वक प्रवेश तो ईश्वर ने किया जिसे दुःख होना नहीं। दुःख तो हम जीवों को होता है और उसका बाध अवस्थात्रय के दर्शन के बाद के विचार से होना है। प्रवेशपूर्वकालिक विचार तो जीवत्व का बाध करता नहीं। इस प्रकार सभी उपपन्न है।

शरीर में तादात्म्यरूप प्रवेश के दो प्रयोजन हैं, एक भोग व दूसरा ज्ञान। ज्ञान को अपवर्ग भी कहते हैं क्योंकि उससे समूल संसार का वारण हो जाता है। मोक्ष को भी अपवर्ग कहते हैं क्योंकि उसमें सकारण दुःखों का वारण हुआ रहता है। भोग के लिए उपयोगी चेतनस्वरूप का विचार बताया जा चुका है। यह सामान्य तरीका है कि संकल्पित काम किया जाता है अतः प्रवेश का संकल्प कर परमेश्वर ने प्रवेश किया यह बतायेंगे। प्रवेश का भोगरूप प्रयोजन तो पूर्वोक्त चैतन्यस्वरूप के प्रतिपादन से उक्तप्राय हो गया। अब दूसरे प्रयोजन अर्थात् ज्ञान के लिए उपयुक्त विचार की सूचना देने वाले ऐतरेयोपनिषद्वाक्य का विस्तार सैंतीस श्लोकों द्वारा किया जायेगा। देह को सच्चिदानन्दरूप बनाने के लिए प्रवेश करना चाहिये सोचकर भगवान् ने क्या किया, यह कहते हैं — यह सोचकर उन महादेव ने पुनः विचार किया कि ज्ञानशक्ति-उपाधि वाले मेरा इस शरीर में प्रवेश करने के लिए दरवाज़ा कौन सा होगा?॥ १३५॥

भगवान् का भाव यह हैः मैं ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति उपाधि वाला चेतन हूँ। सत्त्वगुणप्रधान माया का परिणाम अथवा बुद्धि चित् का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने वाली है अतः उसे ज्ञानशक्ति कहते हैं। ज्ञानशक्ति का विस्तार ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और क्रियाशक्ति का विस्तार कर्मेन्द्रियाँ हैं ऐसा अन्यत्र लिखा है। तथा च आलोचनप्रधान ज्ञानशक्ति-उपाधि वाले चेतन आत्मा मेरे लिए देह में प्रवेश के योग्य कौन-सा द्वार हो सकता है? मैं स्वरूप से व्यापक हूँ। बिना उपाधि के मेरा प्रवेश हो नहीं सकता। अतः ज्ञानशक्ति रूप उपाधि से मैं प्रवेश करूँ तो किधर से? प्रश्न होता है कि पहले भी (श्लो.८३) बुद्धि का प्रवेश बता चुके हैं तो अब पुनः उपाधिरूप से उसका प्रवेश कैसे होगा? उत्तर है कि तब उपाधिप्राधान्येन प्रवेश कहा था व अब उपहितप्राधान्येन कहेंगे, इतना ही अंतर है। कोई कालक्रम तो विवक्षित है नहीं, समझाने का ढंग है। यह भी शंका हो सकती है कि ज्ञान तो आत्मस्वरूप है अतः अविद्या की या बुद्धि की वृत्ति में प्रतिबिम्ब पड़ने से वह ज्ञानशक्ति हो यह ठीक है पर क्रियाशक्ति कैसे सिद्ध होगी? इसके समाधान के लिए इतना ही जानना पर्याप्त है कि क्रिया वस्तुतः

१. एतदुभयं जीवस्य न त्वीशस्य। जीवोऽपि प्रविष्टईशएवेत्यन्यद्। विशिष्टयोर्भेद इत्यभ्युपगमः। २. ननु बुद्धिसत्त्वे प्रतिबिम्बव्यतिरेकोऽसम्भवी? सत्यम्, उपाधिप्राधान्यत उपहितप्राधान्यतश्च व्यपदेशभेदमात्रं न तु पौर्वापर्ये तात्पर्यम्। किं च नात्राभिनिवेष्टव्यमध्यारोपत्वादपवादायेति दिक्।

प्रपदाग्रेण पूर्वं हि क्रियाशक्तिः[१] प्रविष्टवान्। न हि चेष्टाऽपि मां[२] हित्वा जडानां रथवद्भवेत्॥ १३६॥
ज्ञानशक्तिस्ततोऽद्याहं कथमात्मानमीश्वरम्। अविचार्य प्रवेक्ष्यामीत्येवं पुनरचिन्तयत्॥ १३७॥

ननु येन केनापि मार्गेण प्रवेशो विधेय इति चेद्? जडत्वेन मार्गदोषमपश्यतः क्रियाशक्तेः प्राणस्यैव स योग्यो न तु मम सर्वोत्कृष्टस्येत्याह — प्रपदाग्रेणेति द्वाभ्याम्। पादस्याग्रं प्रपदं, तस्याग्रं, तेन मार्गेण सर्वतोऽधस्तनेन प्राण आविष्टवान्। तत्र हेतुगर्भं विशेषणम् — क्रियाशक्तिरिति। दृश्यते च मूर्च्छया जडानां चेतनारम्भे पादाग्रे प्रथमं क्रियेति। इदमन्यद्वाराणामपि भृत्यप्रवेशार्हाणां स्वप्रवेशायोग्यत्व उपलक्षणम्। स्वस्य ज्ञानशक्तेः सर्वोत्कृष्टत्वेनेश्वरस्य तन्मार्गप्रवेशानर्हत्वसूचनाय स्वस्मिन् विशेषं सूचयति — न हि चेष्टेति। स्पष्टम्॥ १३६॥

ज्ञानशक्तित्वादेव विचारान्तरमपि विधेयमित्याह — ज्ञानशक्तिरिति। यतोऽहं ज्ञानशक्तिस्ततो योग्यमार्गमिवेश्वरमात्मानमविचार्य कथं प्रवेक्ष्यामि, किन्तु स्वरूपमपि विचार्य प्रवेशो युक्तः — इत्थं पुनरचिन्तयद् विचारान्तरं कृतवानित्यर्थः॥ १३७॥

ज्ञान का ही एक व्यवहारविशेष है। भगवान् श्री सुरेश्वराचार्य ने मानसोल्लास में (२.१२) कहा है —

'कारणं कार्यमंशोंऽशी जातिव्यक्ती गुणी गुणः। क्रिया क्रियावान् इत्याद्याः प्रकाशस्यैव कल्पनाः॥' अतः उन्होंने वहीं (श्लो.१४) काल को ही क्रियाशक्ति कह दिया है। यह तो महाभाष्यकार पतंजलि ने भी स्पष्ट किया है कि क्रिया 'समझी' जाती है, घटादि की तरह वह दीखती नहीं। पदार्थ के विभिन्न अवस्थानों का ज्ञान ही क्रिया का ज्ञान कहा जाता है। अतः क्रिया भी आत्मरूप हो इसमें कोई विरोध नहीं। उपाधिवैचित्र्य से आत्मा का स्वरूप ज्ञान कहीं विषयावबोध रूप से और कहीं क्रियारूप से प्रतिफलित हो जाता है। परिस्पन्द-परिणामरूप क्रिया को आत्मस्वरूप नहीं कहा जा रहा यह याद रखना चाहिये।

किसी भी मार्ग से प्रवेश कर लिया जाये, अन्तर क्या पड़ता है? यद्यपि क्रियाशक्तिरूप जड प्राण मार्गदोष के विचार के बिना प्रवेश कर सकता है तथापि ज्ञानशक्तिप्रधान मैं सर्वोत्कृष्ट हूँ अतः मेरे लिए बिना विचारे प्रवेश करना उचित नहीं, यह कहते हैं — पहले क्रियाशक्ति वाले प्राण ने पैर के तले से व्यष्टिशरीर में प्रवेश किया था। किंतु ज्ञानशक्ति उपाधि वाले मेरे बिना जड प्राणादि में चेष्टा भी नहीं हो सकती जैसे रथादि में सज्ञान घोड़ों के व सारथि के बिना चेष्टा नहीं होती। इसलिए अब ज्ञानशक्ति-उपाधि वाला मैं ईश्वर निज को द्वार आदि का विचार किये बिना शरीर में कैसे प्रविष्ट कर दूँ? — ऐसा उन्होंने पुनः चिंतन किया॥ १३६ - १३७॥

मूल में 'प्रपदाग्र' कहा है जिसका अर्थ है पैर के अगले हिस्से का छोर। मूर्छा से जडवत् हुए व्यक्ति में जब चेतना आती है तब पहले पैर के अगले भाग में ही क्रिया दीखती है अतः वहीं से क्रियाशक्ति का प्रवेश मानना उचित है। क्रियाशक्ति-उपाधि भगवान् का नौकररूप है अतः उसके प्रवेश का मार्ग भगवान् के प्रवेश के लिए समुचित नहीं। ऐसे ही सभी इंद्रियादि उनके नौकररूप ही है अतः उनके प्रवेशद्वार भी भगवान् के योग्य नहीं। ज्ञानशक्ति के बिना क्रियाशक्ति में चेष्टा संभव नहीं। सामान्यतः परिस्पन्दादि तो क्रिया है। हितप्राप्ति के लिए व अहितनिवृत्ति के लिए जो क्रिया की जाये उसे चेष्टा कहते हैं। चेष्टा के लिए ज्ञानशक्ति होना जरूरी है। जैसे मार्ग का विचार करना चाहिये वैसे ही स्वयं अपने स्वरूप का भी विचार कर ही प्रवेश करना चाहिये, तभी क्रियाशक्ति से विलक्षण ज्ञानशक्ति सार्थक होगी।

इस प्रकार अपने स्वरूप का विचार उचित बताकर आत्मविचार का ही विस्तार करते हैं — निज आत्मा को समझने के लिए ईश्वर ने यह विचार किया: वैदिकों में यह सुप्रसिद्ध है कि देह आत्मा नहीं फिर भी आत्मवेत्ता लोग दृश्यत्वादि हेतुओं से लोगों को यह बात समझा भी सकते हैं। और भी, संघात का विवेक करने पर प्रश्न उठता है कि अनुभव में आने वाली कौन-सी वस्तु 'देह' है? जिसे 'देह' इस शब्द से कहते हैं उसमें नाना वस्तुएँ मिल रही हैं - पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, पाँच महाभूत, त्वग् आदि सात धातु, वात-कफ-पित्त ये तीन दोष, विष्ठा, मूत्र, पसीना, पीप

---

१. क्रियायां शक्तिर्यस्येति विग्रहः। २. ज्ञानशक्त्युपहितमित्यर्थः।

प्रवेशात्प्रागात्मविचारः

इदं विचारयामास स्वात्मनोऽत्र बुभुत्सया। देहो नात्मा वैदिकानां सुप्रसिद्धोऽपि हेतुभिः॥ १३८॥

देहः कः

दृश्यत्वादिभिरात्मज्ञैः शक्यो दर्शयितुं नृणाम्। अपि देहोऽत्र को नाम सङ्घातेऽवगते सति॥ १३९॥
ज्ञानकर्मेन्द्रियप्राणभूतानां पञ्चता पुनः। सप्तता च त्वगादीनां धातूनां च त्रिता पुनः॥ १४०॥
दोषाणामपि वाताख्यकफपित्तात्मनामिह। विण्मूत्रयोस्तथा द्वित्वं तद्वत् स्वेदाख्यपूययोः॥ १४१॥
आनन्त्यं केशलोमादेर्वर्ततेऽत्र पृथक् कृते। अस्मिन् को नाम देहः स्यात् समुदायो न वस्तुसन्॥ १४२॥

आत्मविचारस्वरूपमवतार्य प्रपंचयति — इदमित्यादिना। ननु किमर्थं विचारः, देहस्याऽनात्मत्वेन प्रसिद्धत्वादिति चेत्? सत्यं वेदतात्पर्यवतां कुशलानां विचारापेक्षाऽभावेऽपि मन्दधियां नृणामुपकाराय विचार आरभ्यत एवेत्याह — देहो नात्मेति। यद्यपि वैदिकानां दृष्टौ देहो नात्मा प्रसिद्धस्तथाऽपि नृणां कृते दृश्यत्वादिभि र्हेतुभिरात्मज्ञैर्दर्शयितुं शक्य इत्युत्तरार्धेनान्वयः। देहो नात्मा दृश्यत्वाज्जडत्वात्परिच्छिन्नत्वाच्च, व्यतिरेक आत्मवदित्यनुमानं बोध्यम्॥ १३८॥

दृश्यत्वादिभिरिति पूर्वार्द्धं व्याख्यातम्। आदिपदसूचितमनिर्वचनीयत्वं स्फुटयितुमाह — अपि देह इत्यादि। अपिना हेत्वन्तरमप्युच्यत इत्यर्थः। अत्रानुभवगोचरे को नाम देहः? ननु प्रसिद्ध एव संघातइति चेद्? आपातप्रसिद्धे-रकिञ्चित्करत्वान्न्यायाऽविरुद्धा प्रसिद्धि र्वाच्या; तथा च संहननं परस्परमिलनं परस्परं सम्बन्ध इत्यागतं, स च सम्बन्धः समानानामेव वाच्यः 'योग्यं योग्येन सम्बध्यत' इति न्यायादित्याशयेन, इन्द्रियत्वादिधर्मैः सजातीयानां संघातान् त्रिभिर्दर्शयिष्यन् संघातविभागे विवेकविशिष्टानुभवं हेतुतयाह — सङ्घातेऽवगत इति। अवगते विविच्य दृष्टे सतीत्युत्तरश्लोकत्रयार्थे हेतुत्वेनान्वेति॥ १३९॥

ज्ञानेति। वर्तत इति पञ्चतादौ योज्यम्। ज्ञानेन्द्रियाणां पञ्चता श्रोत्रत्वक्चक्षुर्घ्राणरसनभेदात्। कर्मेन्द्रियाणां वाक्पाणिपादपायूपस्थभेदात्। प्राणानां प्राणापानव्यानोदानसमानभेदात्। त्वगादीनां सप्तता त्वगसृङ्मांसमे-दोऽस्थिमज्जारेतोभेदात्। त्रिता पुनरित्युत्तरान्वयि॥ १४०॥

दोषाणामिति। कफवातपित्तात्मनां दोषाणां त्रिता त्रित्वं वर्तते। विण्मूत्रयो र्द्वित्वं वर्तते। स्वेदपूययोरागन्तुकद्रवयो र्द्वित्वं वर्तते॥ १४१॥

आनन्त्यमिति। समुदायिनामपरिमेयत्वादपरिमेयः केशलोमादेः संघात इत्यर्थः। अस्मिन् संघातसमुदाये को नाम संघातो देहः? एतेषां संघातानां संघातो वा, प्रत्येकं वैते संघाताः? नोभयमपीत्याह — समुदाय इति। वस्तुसन् वास्तवो, निर्वक्तुं शक्य इति यावत्। तादृशो न भवतीत्यर्थः॥ १४२॥

तथा अनन्त केश व लोम। इस संचय में अलग कर समझी जा सकने वाली कौन-सी चीज देह है? इनका समुदाय देह है ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि समुदाय का वास्तविक निर्वचन असंभव है॥ १३८ - १४२॥

यह सारा विचार मन्द बुद्धि मनुष्यों के उपकार के लिए है क्योंकि वेदतात्पर्य के जानकार तो देहादिविलक्षण आत्मतत्त्व से परिचित ही हैं। दृश्य होने से, जड होने से, देशादि से सीमिति होने से तथा ऐसे अन्य भी हेतुओं से देह आत्मा नहीं यह विचार से समझ सकते हैं। देह का निर्वचन ही संभव नहीं इसी से देह आत्मा नहीं यह मालूम पड़ जाता है। इसीलिए यह प्रश्न उठाया कि देह किसे कहते हैं। समान वस्तुएँ ही सम्बद्ध होती हैं अतः जो वस्तुएँ देह में हैं उन्हे गिना दिया ताकि स्पष्ट हो कि वे कितनी असमानं हैं जिससे उनका संबन्ध संभव नहीं। फिर भी उनका सम्बन्ध मानकर विचार कर सकते हैं क्योंकि संघात (अर्थात् इन चीजों का सम्बद्धरूप) का अनुभव तो हो ही जाता है। संघात का विवेक करें तभी कठिनाई है, सामान्यतः अनुभव में शंका नहीं। विवेक करने पर ही संघात के सभी अवयवों का पूर्ण पार्थक्य सामने आता है। सात धातु हैं त्वक्, खून, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और रेतस्। इस प्रकार सात, पाँच, तीन आदि वस्तुओं

स किं तेभ्यो विभिन्नः स्यादथवा समुदायिनः। आद्ये त्वदर्शनं पूर्वमुक्तमेव हि दूषणम्॥
एकैकस्मिन्नदृष्टत्वाद् द्वितीयो नोपपद्यते॥ १४३॥
सर्वे ते मिलिताः स स्यात् तथा च पुनरुक्तता। सर्वेषां मेलनं नाम समुदाय इति स्थितिः॥ १४४॥

समुदायस्य द्विविधस्याऽनिर्वचनीयत्वं स्फुटयति — स किमिति सार्धेन। समुदायस्तेभ्यः समुदायिभ्यो महासमुदायावान्तरसमुदायान्यतरघटकेभ्यो भिन्नो वा, अथवा समुदायिनः समुदायघटकस्वरूपाभिन्न एव वेत्यर्थः। भिन्नत्वपक्षे दोषमाह — आद्ये त्विति। समुदायिभ्यः समुदायो भिन्न इत्यत्र पूर्वमुक्तं नवत्रिंशदधिकशततमे श्लोके यदुक्तं 'न्यायाविरुद्धा प्रसिद्धि र्वाच्या' इत्याकारं, तदेव दूषणं प्रसंजनीयमित्यर्थः। यथा न्यायानुसारेण सजातीयसंघातादन्यो विजातीयसंघातो न संभवति, एवं समुदायिनामपेक्षाबुद्धिविशेषविषयस्वरूपभिन्नः समुदायो न संभवतीति भावः। समुदाय्यभिन्नत्वपक्षे दोषमाह — एकैकस्मिन्निति। एकैकस्मिन् अवान्तरसमुदाये वा, तद्घटकप्रत्येकेन्द्रियादिस्वरूपे वा समुदायव्यवहारस्य देहव्यवहारस्य चादर्शनाद् द्वितीयः पक्षः — समुदायिभ्यः समुदायोऽभिन्न इत्याकारोऽपि — न संभवतीत्यर्थः॥ १४३॥

ननु न प्रत्येकस्वरूपं, न च तदतिरिक्तः समुदायोऽभ्युपगम्यते, किन्तु मिलितास्त एवेति? अत आह — सर्वे त इति। सर्वे ते समुदायिनो मिलिताः सन्तः समुदायः स्यादिति चेत्, तथा च पुनरुक्ततापत्तिरित्यर्थः। पुनरुक्तिं स्पष्टयति — सर्वेषामिति। सर्वेषां समुदायिनां यन्मेलनमेकबुद्ध्या विषयीकरणरूपं समुदाय इति स्थितिः मर्यादा सर्वतन्त्रसिद्धान्तः। तथा च मिलिता मेलनरूपसमुदायविशिष्टाः समुदाय इत्यागतम्। तर्हि देवदत्तो धनी जात इत्यत्र यथा विशेष्ये बाधाज्जातत्वस्य धनेऽन्वयः, तथाऽन्वये समुदायः समुदाय इति लब्धं, तदा पुनरुक्तिः स्पष्टेति भावः॥ १४४॥

के समूह उपलब्ध होते हैं। इन संघातों के समुदाय में आत्मा क्या है? क्या इन संघातों का संघात आत्मा है, या यह हर एक संघात आत्मा है? दोनों ही विकल्प इसलिए ठीक नहीं कि संघात का — समुदाय का—ही सच्चा निर्वचन हो नहीं पाता। जिसका सच्चा निर्वचन नहीं होता वह रज्जुसर्प की तरह मिथ्या ही होता है अतः आत्मा भी यदि निर्वचनीय न होगा तो वैसे ही मिथ्या होगा और ऐसा मानने पर अबाधित अहमनुभव का विरोध होगा।

इन्द्रियादियों का समुदाय तथा समुदायों का समुदाय, दोनों ही तरह के समुदाय अनिर्वाच्य हैं यह स्पष्ट करते हैं — समुदाय क्या उन ज्ञानेन्द्रियों से भिन्न कोई वस्तु है या वे सब वस्तुएँ ही समुदाय हैं? यदि कहो भिन्न वस्तु है तब तो पूर्व में दोष बताया जा चुका है कि इनसे अलग कुछ उपलब्ध होता नहीं। 'वे सब वस्तुएँ ही समुदाय हैं' यह भी संगत नहीं, कारण कि उनमें प्रत्येक वस्तु में समुदायबुद्धि या देहबुद्धि नहीं होती और ऐसा व्यवहार भी नहीं होता॥ १४३॥

पूर्वोक्त विवरण में दो प्रकार के समुदाय मिले थे — इन्द्रियादि वस्तुओं के समुदाय एवं उन समुदायों का एक महासमुदाय जिसे देह कहना चाहा था। दोनों ही प्रकार के समुदाय के विषय में प्रश्न है कि समुदाय जिनसे बना है उन अपने घटकों से वह समुदाय भिन्न है या घटकों के स्वरूप से अभिन्न ही है। घटक कहीं व्यक्ति हैं व कहीं स्वयं समूह, यह बात अलग है। भिन्न हो तो घटक हटाने पर भी मिले, पर मिलता नहीं, अतः अलग हो नहीं सकता। जैसे विजातीय चीज़ों का संघात युक्तिसिद्ध नहीं ऐसे ही समुदाय भी समुदायियों से भिन्न संभव नहीं। समुदायिविषयक एक तरह की अपेक्षाबुद्धि का विषय बने हुए वे समुदायी ही समूह कहे जाते हैं। जब अनेक वस्तुओं को परस्पर के संदर्भ मे जाना जाता है तो उस जानने को अपेक्षाबुद्धि कहते हैं। हर वस्तु स्वयं तो एक ही है पर जब उसे किसी अन्य के संदर्भ में देखें तब उसे दूसरा कहा-समझा जा सकता है। अतः द्वित्व अपेक्षाबुद्धि से होता है। ऐसे ही समूह भी अपेक्षाबुद्धि से ही होता है, यह भाव है। समुदायविषयक द्वितीय विकल्प था कि वह अपने घटकों के स्वरूप से अभिन्न हो। किंतु यह पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि प्रत्येक घटक (वह चाहे खुद समूहरूप हो या व्यक्तिरूप हो) को समुदाय समझा नहीं जाता। यदि समुदाय घटकस्वरूप होता तो घटक को समझना चाहिये था पर क्योंकि ऐसा होता नहीं इसलिए उक्त पक्ष भी संगत नहीं है।

कहा जा सकता है कि न तो प्रत्येक घटक का स्वरूप समुदाय है और न ही घटकों से अतिरिक्त समुदाय कुछ है,

सम्बन्धपदार्थः

मेलनं नाम सम्बन्धस्तादात्म्यमथ वा परम्। तादात्म्ये सति चैक्येन मेलनं दुर्घटं भवेत्॥ १४५॥

अपरं न हि सम्बन्धशब्दार्थं लभते क्वचित्। समो बन्धेस्तथा कोऽर्थः कथनीयं त्वयाऽधुना॥ १४६॥

तर्हि मेलनमेव समुदायोऽस्तु? इत्याशंक्याह — मेलनमिति। मेलनं सम्बन्धरूपमित्युक्तम्। तन्मेलनं, समवायस्थाने मीमांसकैरभिषिक्तं यत्तादात्म्यं 'भेदसहिष्णुरभेदस्तादात्म्यमि'ति लक्षितं तदभिमतं, परं वा? नाद्य इत्याह — तादात्म्य इति। तादात्म्यस्थले भेदाभेदयो र्वास्तवयोः समुच्चयाऽसंभवान्निरपेक्षत्वेनाऽभेदो वास्तवः, भेदः कल्पित इति सिद्धान्तः। तथा च वास्तवैक्येन मेलनं दुर्घटं भवेत्, तथा च व्याघातापत्तिरिति भावः॥ १४५॥

अपरपक्षं निराचष्टे — अपरमिति। बुध इति शेषः। स्पष्टार्थम्। संयोगस्य संयुक्तस्वरूपातिरिक्तस्याऽननुभवेन प्राभाकरैरेव विकल्पमात्रत्वोक्तेः, समवायस्य च सम्बन्ध्यतिरिक्तस्याऽङ्गीकारे तस्य च सम्बन्धमन्तरा स्थित्यसंभवात् तदर्थं सम्बन्धान्तराङ्गीकारेऽनवस्थापातात् स निरस्तः। किं च वृक्षसमुदायो वनमित्यादौ संयोगसमवाययोरनुपलम्भश्चेति भावः। किं च सम्बन्धशब्दावयवार्थाऽसंभवेन सम्बन्धनिरूपणाऽसंभवात् सम्बन्धरूपः समुदायो न वक्तुं शक्य इत्याशयेनाह — समो बन्धेरिति। सम्बन्धशब्दे समः समित्युपसर्गस्य, बन्धे र्बन्धधातोश्च कोऽर्थ इति पृष्टे त्वया वक्तव्यमित्यर्थः॥ १४६॥

किंतु मिले हुए घटक ही समुदाय हैं। इस पक्ष को उठाकर विचार प्रवृत्त करते हैं — यदि कहो वे सब मिलकर समुदाय हैं, तब पुनरुक्ति ही होगी क्योंकि सबका मिलना ही तो समुदाय है ऐसा स्वीकारा जाता है॥ १४४॥

सभी विचारक यह मानते हैं घटकों का मिलना ही समुदाय है। मिलना अर्थात् घटकों को विभिन्न न समझते हुए एक ही ज्ञान का विषय बनाना। अतः 'मिले हुए' कहो चाहे 'समुदाय' कहो एक ही बात है; दोनों कहना पुनरुक्ति होगी। जब कहते हैं 'देवदत्त धनी हो गया' तब धनी तो देवदत्त है पर उसे 'हो गया' कहना ठीक नहीं क्योंकि वह पहले से था ही, अतः 'हो गया' का सम्बंध विशेषणभूत धन से ही होता है, उसके पास धन हो गया यही समझा जाता है। ऐसे ही 'मिले हुए घटक समुदाय हैं' कहने पर क्योंकि घटक समुदाय नहीं इसलिए 'मिले हुए समुदाय हैं' यही अर्थ करना होगा। 'मिला हुआ होना' कहो या 'समुदाय' कहो बात एक ही है। अतः जैसे 'घड़ा घड़ा है' कहना अनर्थक है वैसे समुदाय का यह निर्वचन भी अनर्थक ही ठहरेगा।

यदि ऐसा है तो मिलने को ही समुदाय मान लो, इस शंका को हटाने के लिए कहते हैं — किं च मिलना कहते हैं सम्बंध को। समुदायरूप मिलना क्या तादात्म्य कहना चाहते हो या और कोई संबंध? यदि कहो तादात्म्यरूप, तब तो मिलना असंभव है क्योंकि तादात्म्य का अर्थ है वास्तविक अभेद, और अभिन्न का मिलना हो नहीं सकता॥ १४५॥

ऐसा अभेद जिसका भेद से विरोध न हो तादात्म्य कहा जाता है। वास्तविक भेद व अभेद का तो विरोध होगा ही अतः दोनों में एक को अवास्तविक मानना ही होगा। निरपेक्ष स्वरूपमात्र होने से अभेद को वास्तविक मानना ही संगत है और भेद को कल्पित मानने में ही लाघव है। इस प्रकार जब अभेद वास्तविक हुआ तो वास्तविक मिलना ही संभव नहीं रहा क्योंकि अभिन्न कहें व फिर मिलना कहें यह अनर्गल आलाप होगा, भिन्नों का ही मिलना हुआ करता है।

तादात्म्य से अन्य ही कोई सम्बंध मिलना कहा जाये, इस पक्ष का भी निराकरण करते हैं — बुद्धिमानों को तादात्म्य से अतिरिक्त कुछ भी समझ नहीं आता जिसे सम्बंध कहा जा सके। सम्बन्ध-शब्दघटक 'सम्' और 'बन्ध' शब्दों का क्या अर्थ है यह बताओ॥ १४६॥

संयुक्तों से भिन्न संयोग सिद्ध नहीं होता अतः प्रभाकर मीमांसक उसे कोई सत् पदार्थ नहीं मानते। समवाय को यदि समवायी से भिन्न मानें तो स्वयं समवाय को समवायी में रहने के लिए कोई सम्बंध चाहिये होगा और इस प्रकार अनन्त सम्बन्ध होंगे पर फिर भी सम्बद्ध की सिद्धि न होगी! समवाय को सम्बन्धी में रहने के लिए सम्बंध नहीं चाहिये ऐसा

सम्यक्त्वं सन्ध्वनेरर्थो बन्धेश्चैवाऽपि बन्धनम्। न चैतमपि पश्यामो विना ते वचनं क्वचित्॥ १४७॥
कालत्रये न पर्येति तत्सम्यगिति गीयते। पर्येति चेदं सकलं जडत्वाद्रज्जुसर्पवत्॥ १४८॥
बन्धनं च तथा दृष्टमुभयोर्बध्यमानयोः। पृथग्भूतं यथा रज्जुर्दृष्टयोरुभयोर्गवोः॥ १४९॥
अपि मूर्तं च तद् दृष्टं नाऽमूर्तं क्वापि बन्धनम्। आकाशेन न बुद्ध्यन्ते घटस्तम्भपटादयः॥ १५०॥
न च देहे तथा किंचित् तत्त्वानामिह बन्धनम्। दृश्यते तेन सम्बन्धशब्दार्थो नास्ति कश्चन॥ १५१॥

सम्यक्त्वमिति। सन्ध्वनेः संशब्दस्य सम्यक्त्वमर्थः। बन्धेश्चापि बन्धनमित्येव त्वया वक्तव्यमर्थान्तराऽसंभवादित्यर्थः। एतमपि ते वचनं विना क्वचित् सांसारिके वस्तुनि न पश्यामः किन्तु त्वद्वचन एव। तथा च सम्बन्धशब्दार्थबोधो लौकिको विकल्पमात्रं, सम्बन्धरूपः समुदायस्तु सुतरामिति भावः॥ १४७॥

एतदेव स्फुटयति - कालत्रय इति चतुर्भिः। न पर्येति न परिणमते नान्यथा भवतीत्यर्थः। पर्येति चेदमिति 'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे भावा ऋते चितिशक्ते' रिति सांख्यसिद्धान्ताद, 'अतोन्यदार्तम्' (बृ.३.४.२) इति श्रुतेश्चेति भावः॥ १४८॥

बन्धनं चेति। उभयो र्बध्यमानयो र्यद् बन्धनं तत्ताभ्यां पृथग्भूतं दृष्टं, यथा रज्जो र्भिन्नत्वेन दृष्टयोरुभयो र्गवोः ताभ्यां पृथग्भूता रज्जुरित्यन्वयः॥ १४९॥

अपि मूर्तमिति। मूर्तं घनावयवं तद् बन्धनं लोके दृष्टम्। व्यतिरेके दृष्टान्तः — आकाशेनेति। स्पष्टम्॥ १५०॥

न च देह इति। तथा रज्ज्वादिवन्मूर्तम्। शेषं स्पष्टम्॥ १५१॥

केवल मनमानी से स्वीकारना सर्वथा अयुक्त है। समवाय प्रत्यक्षसिद्ध तो है नहीं क्योंकि उसके विशेषण प्रत्यक्ष से अग्राह्य हैं तथा प्रत्यक्ष होने पर उसके विषय में विवाद संभव नहीं। किंच वन आदि समूहों में संयोग व समवाय सम्बन्ध कोई मानता भी नहीं। अतः तादात्म्यरूप अनिर्वचनीय सम्बन्ध से अतिरिक्त कोई सम्बंध अस्वीकार्य है।

'सम्बन्ध' शब्द के अवयवार्थ की परीक्षा करते हैं - 'सम्' शब्द का अर्थ है सम्यक्ता (सहीपन) और 'बन्ध' का अर्थ है बाँधना, यही तुम कहोगे। किंतु यह तुम्हारा कहना-भर है; देह में ऐसा कुछ हमें दीखता नहीं जिसे सम्यक् या बाँधना (बँधा होना) कहा जाये॥ १४७॥

संसार के सभी समूहों में यही बात है, केवल देह में नहीं, पर प्रकरण देह का ही प्रधानतः चल रहा है। जैसे 'गधे का सींग' यह शब्द तो है पर इसका लोक में उपलब्ध हो सकने वाला कोई अर्थ नहीं ऐसे ही 'सम्बन्ध' शब्द भी लोकसिद्ध किसी अर्थ वाला नहीं है तो सम्बन्धरूप समुदाय तो सर्वथा अनर्थक है ही।

यही विषय चार श्लोकों द्वारा कहते हैं — सम्यक् उसे ही कहते हैं जो तीनों कालों में बदले नहीं पर शरीर में दीखने वाला यह सब कुछ बदलता रहता है यह प्रत्यक्ष है और जड होने से रज्जुसर्प की तरह इसका बदलना युक्तियुक्त भी है॥ १४८॥

और बँधने वाली वस्तु उनसे भिन्न होती है जिन्हे वह बाँधती है जैसे दोनों बैलों से रस्सी भिन्न होती है जो उन्हे बाँधती है। ऐसी कोई पृथग् वस्तु भी हमें शरीर में मिलती नहीं॥ १४९॥

किंच बाँधने वाली वस्तु मूर्त (ठोस, संश्लिष्ट अवयवों वाली) देखी गयी है। अमूर्त आकाश से घड़ा, खम्भा, कपड़ा आदि कुछ बाँधा नहीं जाता। ऐसा कोई मूर्त बंधन शरीरावयवों को बाँधने वाला दीखता नहीं॥ १५०॥

उक्त विविध तत्त्वों को बाँधने वाली ऐसी कोई वस्तु इस शरीर में दीखती नहीं जिससे निश्चित है कि सम्बन्ध शब्द का कोई अर्थ है ही नहीं॥ १५१॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि संघात देह है यह बात विचारसिद्ध नहीं है। अब यह समझाते हैं कि संघात के घटक

इन्द्रियाणि नात्मा

तस्मादेकैकशस्त्वेतद् विचार्य स्वात्मबोधने। इन्द्रियादेर्न चाप्यत्र दृश्यते त्वात्मता क्वचित्॥ १५२॥

देहस्येवाप्यनात्मत्वमिन्द्रियादेः सुनिश्चितम्। अचैतन्यमपि प्राप्तं मामृते तेषु सर्वतः॥ १५३॥

अचेतनानां व्यापारे स्वातन्त्र्यं नास्ति कुत्रचित्। रथादयो न गच्छन्ति गवादीन् परिहाय हि॥ १५४॥

व्यापारास्तेन वागादेर्मत्कृता एव सर्वतः। क्रियाज्ञानात्मका ये स्युरिन्द्रियाऽनिन्द्रियस्य हि॥ १५५॥

एवं संघातो देह इति पक्षं निराकृत्य संघातघटकानामिन्द्रियादीनामनात्मत्वं बोधयति — तस्मादित्यादिना। आत्मबोधने जिज्ञासुं प्रति आत्मबोधने कर्तव्ये। इन्द्रियादीनामनात्मत्वे विद्वदनुभवं तावदाह — इन्द्रियादेरिति। आत्मता हि सर्वान्तरता[1], सा च साक्षिभास्यतया ततो घटादिवद् बाह्यत्वेनेन्द्रियादेर्न संभवतीति भावः। यद्यपीन्द्रियत्वेन रूपेण नेन्द्रियाणां साक्षिप्रत्यक्षं, तथापि 'पश्यामि, जिघ्रामि' इत्याद्याकारेण प्रसिद्धमेवेति॥ १५२॥

अनुमानमपि दर्शयति — देहस्येवेति। इन्द्रियादि, अनात्मा, दृश्यत्वादिभ्यः[2], देहवदित्यनुमानस्वरूपम्। ननु कर्तृत्वमात्मलक्षणं शैवशास्त्रे प्रसिद्धं, कर्तृत्वं च स्वातन्त्र्यं, तच्चेन्द्रियादीनां व्यापारे स्फुटमित्याशंक्य, स्वातन्त्र्यव्यापकचैतन्याभावं[3] व्याप्याभावदर्शनायाह — अचैतन्यमिति। सर्वतः सर्वेषु, सार्वविभक्तिकस्तसिः। तथा च मामात्मानं विना मत्तादात्म्याध्यासं विना तेषु प्राणादिष्विन्द्रियान्तेषु सर्वेष्वचैतन्यं प्राप्तं[4] 'कथं न्विदं मदृते' (ऐ.१ ३.११)) इति व्याख्याने, 'तथापि न विनाऽऽत्मानम्' (श्लो.१२१) इत्यादिग्रन्थेन निर्णीतमित्यर्थः॥ १५३॥

चैतन्यनिवृत्तौ तद्व्याप्यस्वातन्त्र्यस्याऽपि निवृत्तिरिति दर्शयति — अचेतनानामिति। तत्र प्रसिद्धो दृष्टान्तः — रथादय इति। स्फुटम्॥ १५४॥

अतस्तल्लक्षणमप्यात्मन्येव पर्यवस्यतीत्याह — व्यापारा इति। तेन मां विना सर्वेषां चैतन्यप्रयुक्तस्वातन्त्र्याभावेन, इन्द्रियाऽनिन्द्रियस्य इन्द्रियत्वेनाऽनिन्द्रियत्वेन प्राणत्वादिना प्रसिद्धस्य वागादेः करणस्य ये क्रियात्मका व्यापाराः प्राणकर्मेन्द्रियसम्बन्धिनो, ये च ज्ञानात्मका व्यापारा अन्तःकरणज्ञानेन्द्रियसम्बन्धिनस्ते सर्वे मत्कृता मयैव संनिधिमात्रेण प्रयुक्ता इति पर्यवस्यतीत्यर्थः॥ १५५॥

इंद्रियादि अनात्मा हैं – जिज्ञासु को निज आत्मा का बोध कराने के लिए उक्त नाना वस्तुओं में प्रत्येक का पृथक्-पृथक् विचार कर भी उसी कारण से उनमें आत्मरूपता दीखती नहीं॥ १५२॥

'उसी कारण' अर्थात् सर्वांतर होना आत्मा का स्वभाव है। देह आत्मा नहीं यह समझ आया था क्योंकि वह सर्वांतर नहीं। इसीलिए इंद्रियादि भी आत्मा नहीं क्योंकि वे भी सर्वांतर नहीं। इंद्रियाँ साक्षिभास्य हैं अतः सर्वांतर नहीं यह स्पष्ट है। हालाँकि 'इन्द्रिय' इस रूप से साक्षी इंद्रियों को जानता हो यह बात नहीं फिर भी 'देखता हूँ, सूँघता हूँ' इत्यादि रूप से वे साक्षी को प्रत्यक्ष होती हैं। आत्मवेत्ताओं को तो इंद्रियादि स्पष्ट ही अनात्मा भासती हैं यह प्रसिद्ध ही है।

इन्द्रियों को अनात्मा ही मानना होगा इसे अनुमान से भी स्पष्ट करते हैं – देह की तरह दृश्य होने से भी इन्द्रियादि अनात्मा हैं यह निश्चित है। मेरे तादात्म्याध्यास के बिना उन सब में अचेतनता भी स्वतः प्राप्त है। अचेतन वस्तु स्वतंत्र हो कोई व्यापार नहीं कर सकती। बैलादि के बिना रथ आदि कोई सप्रयोजन गति नहीं कर पाते। इसलिए वाणी आदि इन्द्रियों के व अन्यों के क्रियात्मक व ज्ञानात्मक सारे व्यापार मेरी संनिधि से ही प्रयुक्त हैं॥ १५३ – १५५॥

यहाँ सूचित अनुमान है: इन्द्रियादि, आत्मा नहीं हैं, दृश्य आदि होने से, देह की तरह। कुछ विचारक कर्तृता को आत्मा का असाधारण धर्म कहते हैं। स्वतन्त्र ही कर्ता होता है। इन्द्रियादि के व्यापारों में इन्द्रियादि स्वतंत्र अतः कर्ता हैं

---

१. लोकप्रसिद्धमात्मत्वं ज्ञानवत्त्वं तदपि नेन्द्रियेषु तत्करणतयैव तेषामनुभूतेरिति ज्ञेयम्। २. दृश्यत्वं ज्ञेयत्वं तच्चानुमेयत्वादिन्द्रियाणां स्फुटं ये तु गोलकेतरेन्द्रियाणि नोरीकुर्युस्तेषां तज्ज्ञेयता स्पष्टैव। ३. स्वातन्त्र्यव्यापकं यच्चैतन्यं तस्याभावमाहेत्यर्थः। व्याप्यस्य स्वातन्त्र्यस्याभावं दर्शयितुम्। चैतन्यमन्तरा स्वातन्त्र्यं नास्तीति भावः। ४. सुषुप्त्यादावदृष्टेरिति बोध्यम्।

यद्यपि स्यादमीषां हि स्वातन्त्र्यं व्यापृतौ क्वचित्। वागादीनां तथाप्येते नान्यव्यापृतिषु क्षमाः॥ १५६॥
वदनादानगतयो विसर्गानन्दकावपि। कर्मेन्द्रियाणां व्यापाराः प्रत्येकं नियता यतः॥ १५७॥
दर्शनश्रवणघ्राणरसनस्पर्शनानि च। ज्ञानेन्द्रियाणां व्यापारा नियतास्तेऽपि पूर्ववत्॥ १५८॥
प्राणस्यापि गतिश्चित्रा नानाभेदा यतो भवेत्। जीवनं तत्कृतं चेति नाऽसावन्यस्य कारणम्॥ १५९॥

'स्वव्यापारे स्वतन्त्रत्वं सर्वत्राप्यस्ति कारके' इति श्रीहर्षाद्युक्तरीत्या वागादीनां स्वस्वव्यापारे स्वतन्त्रत्वाभ्युपगमेऽपि तेषामात्मत्वं न संभवति। आत्मा हि सर्वत्र संनिहित उच्यते, अतति सातत्येन गच्छति सर्वत्र संनिधत्त इति व्युत्पत्तेः, तच्च स्वव्यापारेषु न संभवतीत्याह — यद्यपीति। क्वचिद् वदनादिरूपायां व्यापृतौ व्यापारे, अमीषां वागादीनां स्वातन्त्र्यं यद्यप्यभ्युपगम्यते तथापीतरव्यापारे न क्षमा अभ्युपगन्तुमपि न क्षमा इत्यर्थः। तथा च दुर्लभमेषामात्मत्वमिति भावः[1]॥ १५६॥

एतदेव प्रपञ्चयति — वदनेत्याद्यष्टभिः। शब्दोच्चारणग्रहणगमनमलोत्सर्गानन्दाः क्रमेण वाक्पाणिपादपायूपस्थानां व्यापाराः। नन्वन्येऽपि कुतो न स्युः? अत आह — यतः प्रत्येकं नियता आधिकारिकेषु राज्ञेव मया सर्वाधिपतिना व्यवस्थापिताः 'स सेतु र्विधरण' (बृ.४.४.२२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तथा च तेषां व्यापारनियम एव मां सर्वात्मानं शेषिणं बोधयतीति भावः। एवमग्रेऽपि॥ १५७॥

दर्शनेति। ज्ञानेन्द्रियाणां चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानाम्। शेषं स्पष्टम्॥ १५८॥

प्राणस्यासाधारणं कार्यमाह — प्राणस्येति। पूर्ववदित्यनुषज्यते। प्राणस्यापि पूर्ववद् व्यापारो नियतः। कथम्? यतः प्राणनापाननादिभेदेन नानाविधाश्चित्राऽन्नपानयोः सूक्ष्मनाडीच्छिद्रेषु व्यवस्थापकतयाऽद्भुता गतिः क्रियैकं कार्यं भवेत्। तस्य सचिवस्थानीयतां सूचयितुं द्वितीयं कार्यमपि दर्शयति — जीवनमिति। चकारो भिन्नक्रमः। जीवनं च तत्कृतमित्यन्वयः। जीवनं प्राणधारणं तच्च प्राणोत्क्रमणे स्थातुमशक्तानां प्राणशरणीकरणेन लब्धप्राणसंज्ञानां वागादीनां स्थितिहेतुत्वमिति प्राणेन्द्रियसंवादब्राह्मणे स्पष्टम्। इति[2] व्यापारद्वयं विहायान्यस्य व्यापारस्यासौ प्राणः कारणं न भवतीत्यर्थः॥ १५९॥

व फलतः आत्मा होने चाहिये। इस शंका के समाधानार्थ उनकी स्वतंत्रता नहीं है यह दिखाया है जिससे उनकी अचेतनता स्पष्ट हो। रज्जु-पराधीन सर्पादि जैसे स्वतंत्र चेष्टा में असमर्थ हैं ऐसे मुझ से सत्ता पाने वाले इंद्रियादि स्वतंत्र चेष्टा नहीं कर सकते व अस्वतंत्र होने से कर्ता न होने के कारण उक्त विचारकों के अनुसार भी आत्मा नहीं। मेरे तादात्म्य के न होने से ही स्वापादि में इंद्रियाँ कुछ नहीं करती। सारे ऐन्द्रियव्यापार मुझ आत्मा के कारण ही संभव होते हैं। विज्ञानात्मा ही स्वतंत्र होकर कर्ता है। यद्यपि केवल आत्मा अकर्ता है तथापि उपाधितादात्म्यापन्न वही आत्मा कर्ता है। उपाधि अकेली कर्ता नहीं क्योंकि जड में कर्तापन कहीं मिलता नहीं व 'मैंने किया' यह हमारा अनुभव है।

'अपने-अपने व्यापार में हर कारक स्वतन्त्र है' यह हर्ष मिश्र का कथन है। अतः निज व्यापारों में स्वतन्त्र होने पर भी वाग् आदि आत्मा नहीं हो सकते। जो सर्वत्र संनिहित हो उसे आत्मा कहते हैं। कुछेक ही व्यापार करने में सक्षम इंद्रियों की सर्वत्र संनिधि है नहीं अतः वे आत्मा नहीं यह कहते हैं — यद्यपि किन्ही कार्यों में इनकी स्वतन्त्रता भी है तथापि ये वागादि अपने लिए नियत से अन्य कार्यों को करने में सामर्थ्य वाले नहीं हैं। बोलना, पकड़ना, चलना, छोड़ना (मलत्याग) और आनंद (ग्राम्यधर्मानुष्ठान) ये वागादि कर्मेंद्रियों के क्रमशः नियत व्यापार हैं। देखना, सुनना, सूँघना, चखना और छूना ये चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों के नियत व्यापार हैं। प्राण के भी नियत दो व्यापार हैं, एक तो नाना भेदों वाली अद्भुत गति और दूसरा प्राणधारण (जीवन)। प्राण भी इससे अन्य व्यापार का कारण नहीं बनता। संकल्प, निश्चय,

---

१. तथात्वे पुनर्देहे नानाऽऽत्मानो भवेयुश्चक्षुरादय इति दिक्।

२. एवमिन्द्रियेभ्योपिं बलवतो नात्मत्वमिति वक्ति - इतीति। असावपीदं कर्मद्वयमेव निर्वहति, आत्मा पुन र्बहुकर्मेति नामुष्यात्मतेत्यर्थः।

सङ्कल्पज्ञानाऽहङ्कारचेतनान्येव सर्वतः। अन्तःकरणरूपाद्धि मनआदेश्चतुष्टयात्॥ १६०॥
धारणं क्लेदनं पाको व्यूहनं चावकाशता। पृथिव्यादिमहाभूतकार्यमेतन्न चेतरत्॥ १६१॥
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां व्यापृतिस्त्वियम्। श्रोत्रत्वङ्नेत्ररसनघ्राणानामात्मदर्शनम्॥ १६२॥

संकल्पेति। संकल्प इन्द्रियविषयस्य प्रकारान्वेषणम्। ज्ञानं निश्चयः। अहंकारोऽभिमानः। चेतनमनुसन्धानम्। एतानि मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानां नियता व्यापारा इत्यर्थः॥ १६०॥

एवं करणव्यापारमभिधाय प्रसंगेन भूतानां विषयाणां च व्यापारान् दर्शयति — धारणमिति द्वाभ्याम्। धारणं पात्रवद् धृतादेः (घृतादेः?) स्थितिहेतुत्वम्। पाक आमत्वनिवर्तनम्। व्यूहनं संकोचविकासादिभेदेन विविधमूहनं क्रिया। अवकाशता स्थितौ प्रसरणे चानुकूलत्वम्। यत एवोक्तं वाचस्पतिमिश्रैः 'यद्याकाशं नाभविषयत्तदान्योन्यसंपीडितानि भूतानि न सूचीभिरप्यभेत्स्यन्त' इति। एते पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां नियतव्यापाराः। नन्वन्येऽपि मोक्षधर्मादौ[1] पृथिव्यादिव्यापारा उक्ताः? अत आह — न चेतरदिति। ते चैषामेवाऽवान्तरविशेषा इति भावः॥ १६१॥

शब्दस्पर्शेति। शब्दादिविषयाणामियमेव व्यापृति र्व्यापारो यत् श्रोत्रादीन्द्रियाणामात्मनः स्वभावस्य[2] दर्शनं स्फुटीकरणमित्यर्थः। 'आत्मा यत्नो धृति र्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म चे' ति कोश उक्तः। इन्द्रियाणां हि स्वभावो बन्धकत्वरूपं ग्रहत्वं, तच्च विषयसम्बन्धमन्तरा न स्फुटीभवति, अतएव विषयाणामतिग्रहत्वमुक्तमार्तभागब्राह्मण इति भावः॥ १६२॥

अभिमान और अनुसंधान ये अंतःकरणरूप मन आदि चार से होने वाले व्यापार हैं॥ १५६ – १६०॥

सब के अधिपति परमेश्वर ने सभी को अपने-अपने कार्यों में नियमित किया हुआ है। जैसे मेड़ के कारण जल निश्चित सीमा पार नहीं करता ऐसे जागतिक पदार्थ अपने कार्यों से पृथक् काम नहीं करते ताकि विश्वव्यवस्था बनी रहे। इस नियतप्रवृत्ति से ही सिद्ध होता है कि वे सब किसी चेतन के लिए सचेष्ट हैं। प्राण का एक कार्य है प्राणधारण अर्थात् गौण प्राणों को देह में रखना। प्राण निकल जाने पर इंद्रियादि गौण प्राण देह में रह नहीं सकते। इतना प्रधान भी प्राण आत्मा नहीं क्योंकि उक्त दो ही काम करता है जबकि आत्मा तो सभी काम करता है। अंतःकरण-कृत्यों में संकल्प का अर्थ है इंद्रियों के विषयों में विशेषताओं का विचार। अनुसंधान से संस्कारमूलक स्मृति समझनी चाहिये।

इस प्रकार इंद्रियादि के व्यापार बताकर प्रसंग उठ चुकने के कारण भूतों के और विषयों के व्यापार भी बताते हैं — धारण करना, गीला करना, पकाना, क्रिया करना, रहने व फैलने के लिए स्थान देना, ये पृथ्वी आदि महाभूतों के नियत कार्य हैं। इन निजी कार्यों से भिन्न वे भी कुछ नहीं कर सकते॥ १६१॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये विषय हैं जिनका यही व्यापार है कि श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना व घ्राण, इन इन्द्रियों

---

१. व्यासस्य शुकं प्रत्युपदेशं युधिष्ठिराय भीष्मःप्राह। तत्र 'भूमेः स्थैर्यं गुरुत्वं च काठिन्यं प्रसवार्थता। गन्धो गुरुत्वं शक्तिश्च संघातः स्थापना धृतिः॥ अपां शैत्यं रसः क्लेदो द्रवत्वं स्नेहसौम्यता। जिह्वा विस्यन्दनं चापि भौमानां श्रपणं तथा॥ अग्ने र्दुर्धषता ज्योतिस्तापः पाकः प्रकाशनम्। शोको रागो लघुस्तैक्ष्ण्यं सततं चोर्ध्वभासिता॥ वायोरनियमस्पर्शो वादस्थानं स्वतंत्रता। बलं शैघ्र्यं च मोक्षं च कर्म चेष्टात्मता भवः॥ आकाशस्य गुणः शब्दो व्यापित्वं छिद्रतापि च। अनाश्रयमनालम्बमव्यक्तमविकारिता॥ अप्रतीघातिता चैव भूतत्वं विकृतानि च। गुणाः पंचाशतं प्रोक्ताः पंचभूतात्मभाविताः॥' इति (शान्ति., मोक्ष. २५५.३ – ८)॥ अत्राद्यस्य गुरुत्वस्यार्थो भारः, द्वितीयस्य च विशालत्वम्। प्रसवार्थता बीजस्यांकुरभावापादनसामर्थ्यम्। अग्ने र्गुणो लघुरिति गुरुत्वहीनता भाराहित्यमित्यर्थः। अतएव सततमुर्ध्वं याति। अनियमस्पर्शोऽनियतस्पर्शः। वादस्थानं वागिन्द्रियस्य स्थितिहेतुता। मोक्षं मलादिनिःसारणम्। कर्म उत्क्षेपणादि। आत्मता प्राणनम्। भवो जननमरणहेतुता। अनाश्रयमन्यस्याश्रयतानापत्तिः। अनालम्वमन्यस्मिन्ननाश्रितत्वम्। भूतत्वं श्रवणेन्द्रियहेतुता। विकृतानि वाय्वादितया विकारलाभ इत्यर्थः। तत्रैव पूर्वं (अध्य. २४७) भूतगुणाअन्यथाऽपि दर्शिताः।

२. स्वस्येत्यर्थोऽथवा स्वसत्तायाः प्रदर्शनमित्यर्थः।

ज्ञानशक्तिर्नात्मा

बुद्धेर्यद्यपि सार्वज्ञ्यमन्याधीनं तथापि हि। अज्ञताऽपि च तस्या यद् दृष्टाऽस्माभिर्हि सर्वदा॥ १६३॥

क्रियाशक्तिर्नात्मा

जीवनस्य च हेतुः स्यादात्मा यद्यप्यसुः स्वयम्। तथाऽपि मद्बलादेव जीवने हेतुरत्र हि॥ १६४॥

नन्वन्यस्य स्वातन्त्र्यासंभवेऽपि विज्ञानशक्तितया सर्वज्ञोपाधे बुंद्धेरात्मत्वमुक्तलक्षणमस्तु? इत्याशंक्याह — बुद्धेरिति। सार्वज्ञ्यं सर्वज्ञस्य भावं, सर्वज्ञोपाधित्वमिति यावत्। तद् यद्यपि बुद्धेः प्रसिद्धं तथापि साऽऽत्मत्वं नार्हति, यतः तत् सर्वविषयकत्वरूपं सार्वज्ञ्यमन्याधीनमित्यर्थः। अयं भावः — एकश्चिद्धातु र्विश्वप्रकाशको ज्ञानपदस्य मुख्योऽर्थः। बुद्धिस्तु स्वलेपेन, घटकुड्यादीन् जलं यथा प्रतिबिम्बयोग्यान् करोति, एवं पदार्थान् स्वसम्बन्धेन चित्प्रतिबिम्बग्रहणयोग्यान् कुर्वती, आवरणं चाऽभिभवन्ती, स्वयं च तत्प्रतिबिम्बं गृह्णन्ती ज्ञानपदस्य गौणोऽर्थः। तथा च, सूर्यादिप्रतिबिम्बविशिष्टतया कुड्यादिभासकस्यापि दर्पणस्य यथा न प्रकाशरूपत्वं तथा बुद्धेरपीति। अन्यथा तस्या जडायाः प्रकाशरूपत्वेऽपि शिलान्तरगतदीपसहस्रवत् साक्षिणं विना सिद्धे र्दुर्लभत्वादिति। एवं च बुद्धे र्मत्संनिधौ सर्वशक्तत्वेऽपि श्रीकृष्णवियुक्तार्जुनवन्मां विनाऽशक्तत्वान्नात्मत्वमिति भावः। एतदेव दर्शयति — अज्ञतापीति। अज्ञताऽपि जडताऽपि तस्या अस्माभि र्मया सर्वान्तरेण विषयाकारेण परिणताया भासनाद् दृष्टा निर्णीतेत्यर्थः। अस्माभिरिति 'अस्मदो द्वयोश्च' (१.२.५९) इति सूत्रेण बहुवचनं सर्वोत्कृष्टज्ञानशक्तिभासकतयाऽऽत्मनो निरतिशयोत्कर्षं व्यञ्जयति॥ १६३॥

एवं ज्ञानशक्तेरनात्मत्वं दर्शयित्वा क्रियाशक्तेः प्राणस्य तत् पूर्वं साधितमपि तत्र श्रुतिं दर्शयितुमनुवदति — जीवनस्येति। यद्यप्यसुः प्राणः स्वयं जीवनस्य हेतुः तथाऽऽत्माऽपि इन्द्रियापेक्षयाऽऽन्तरोऽपि[१], तथापि मद्बलाद् मत्कर्तृकात् तस्य संवरणात् संनिधिमात्रेणाङ्गीकारादेव तस्य जीवनहेतुत्वमात्मत्वं च, अतो नाऽसावपि मुख्यमात्मत्वमर्हतीति भावः। बलशब्दो 'बल संवरणे'[२] इति धातोर्निवृत्तप्रेषणाण्ण्यन्तादेरचि साधुः। यद् वा, मद्बलाद् मत्सामर्थ्यादित्यर्थः। हि यतः अत्राऽर्थे तैत्तिरीयश्रुतिरिति शेषः॥ १६४॥

को क्रमशः अपना (=शब्दादि का) स्वरूप दिखा देना॥ १६२॥

इन्द्रियाँ बन्धनहेतु होने से ग्रह कही गयी हैं। विषयसंबंध के बिना उनकी बन्धनहेतुता व्यक्त होती नहीं अतः विषयों को अतिग्रह कहते हैं। अतिग्रह बनना ही विषयों का कार्य है और कुछ नहीं।

विज्ञानशक्तिरूप से सर्वज्ञ हिरण्यगर्भ की उपाधि जो बुद्धि है वह तो स्वतंत्र होने से आत्मा होगी, इस शंका को मिटाते हैं — बुद्धि यद्यपि सब कुछ जानने वाली है तथापि उसका ज्ञानसामर्थ्य किसी अन्य के अधीन है क्योंकि हमारे द्वारा वह सदा विषय की जाती है जिससे उसकी जडता, अज्ञता, निर्णीत है॥ १६३॥

सबका प्रकाशन करने वाला, चैतन्य की निरपेक्ष अवधि आत्मा ही ज्ञान-शब्द का वास्तविक अर्थ है। वाच्य अर्थ ही मुख्य हो ऐसा नियम नहीं, विवक्षित अर्थ या तात्पर्यविषयभूत अर्थ को ही मुख्य समझना चाहिये, चाहे वह वाच्य हो या लक्ष्य। आत्मा ज्ञानपद का लक्ष्य होने पर भी मुख्य अर्थ है। बुद्धि या बुद्धिवृत्ति को उपचार से ज्ञान कहा जाता है। ज्ञान का कार्य प्रकाशन है, उस कार्य में अत्यन्त उपयोगिनी होने से बुद्धिवृत्ति को भी ज्ञान कहते हैं। सूखा घड़ा या दीवार सूर्य का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर नहीं सकते पर जल या तेल से लेप कर देने पर वही घड़ा आदि प्रतिबिम्ब ग्रहण कर लेता है। ऐसे ही जड वस्तुएँ चेतनका प्रतिबिम्ब ग्रहण कर नहीं पाती पर बुद्धि जब उनसे सम्बद्ध हो जाती है तब वे इस योग्य हो जाते हैं कि चित् का प्रतिबिम्ब ग्रहण करें। बुद्धि भी जड है पर उसका स्वभावविशेष ऐसा है कि वह स्वयं में और स्वसम्बद्ध में चित्प्रतिबिम्ब-ग्रहण करा देती है। पार्थिव तो घड़ा व दर्पण दोनों है पर दर्पण ही प्रतिबिम्बग्राहक है, घड़ा

---

१. कर्मेन्द्रियापेक्षयेत्यर्थः। यद्वा प्राणाधीनानीन्द्रियाणीत्युपनिषत्सूकेस्तस्य तत आन्तरत्वम्। अनुभवतस्तु प्राणेन्द्रिययो र्मध्ये विकल्पप्राप्तौ प्राणानेव जीवो वाञ्छतितरामिति प्राणान्तरत्वं सुस्थमिति दिक्। २. अन्तस्थादिः 'वल संवरणे' भ्वादौ (आ.से.) दृश्यते। पवर्गीयादिस्तु प्राणने स्मर्यते।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। अपरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥ १६५॥
तत एकैकशस्तेषां नात्मता स्यात् कथंचन। आत्मा सर्वार्थहेतुः स्यान्नैते सर्वार्थकारणम्॥ १६६॥

तां श्रुतिं[1] पठति — न प्राणेनेति। प्राणापानौ न जीवनप्रयोजकौ, किंतु संनिधिमात्रेण तयोः प्रवर्तको नियामकश्च य आत्मा स एवेति श्रुत्यर्थः॥ १६५॥

फलितमाह — तत एकैकश इति। तेषां पूर्वोक्तानां वागादीनां प्रत्येकमात्मत्वासंभव उषस्तब्राह्मणोक्तलक्षणासंभवमपि हेतुतयाह — आत्मेति। सर्वेषामर्थानां प्राणादीनां हेतुः प्रयोजकः य एतान् सन्निधिमात्रेण प्रवर्तयति, यदर्थमेते प्रवर्तन्ते च स आत्मा स्याद्, 'यः प्राणेन प्राणिति' इत्यादिलक्षणसंभवाद्। अन्यत्र तु तदसंभवमाह—नैत इति॥ १६६॥

नहीं। इसमें स्वभाव ही शरण है। ऐसे ही जड होने पर भी बुद्धि सात्त्विक होने से ज्ञानमय है। प्रश्न हो सकता है कि पदार्थसम्बद्ध बुद्धि में ही चित्प्रतिबिम्ब का ग्रहण मानने से भी पदार्थज्ञान उपपन्न हो सकता है फिर पदार्थ में योग्यता का आधान क्यों स्वीकारना? उत्तर है कि केवल घट-ज्ञान के लिए योग्यता न भी स्वीकारें, किंतु 'घट ज्ञात हो गया' इस अनुभव के लिए तो घट में ही कोई विशेषता स्वीकारना उचित है। अत एव विज्ञानवाद से हमारे सिद्धांत में महान् अंतर आ जाता है। केवल वृत्तिभेद के प्रयोजकरूप से ही बुद्धिभिन्न ग्राह्य स्वीकार्य है इतना ही नहीं, 'ज्ञात वस्तु' इस अनुभव से भी बुद्धिभिन्न ग्राह्य सिद्ध है। इसे भी बुद्धिमात्र मानना अंधविश्वास होगा क्योंकि इस अनुभव का बाध होता नहीं। बुद्धि घटादि से सम्बद्ध हो न केवल उनमें ज्ञान-प्रतिबिम्बन की योग्यता उत्पन्न करती है, वरन् आवरण का अभिभव करती हुई स्वयं भी ज्ञानप्रतिबिम्ब ग्रहण करती है। इसी से ज्ञानपद का बुद्धि गौणअर्थ है। जड पदार्थों से अवच्छिन्न चेतन पर आवरण है जिसके हटे बिना वह चेतन प्रकाश नहीं सकता और उसके प्रकाशे बिना उन जड पदार्थों का अपरोक्ष हो नहीं सकता। बुद्धिवृत्ति ही उस आवरण को हटाती है। यह 'हटाना' दो तरह से समझा जा सकता है। या तो वह आवरण सर्वथा निवृत्त हो जाता है और या निवृत्त न हो कर भी तत्काल कार्यकारी नहीं हो पाता। दूसरे 'हटाने' को ही अभिभूत करना कहते हैं। दोनों ही तरह से आचार्यों ने यह तथ्य स्पष्ट किया है। इस प्रकर विषयज्ञानों में बुद्धि का वही स्थान है जो सूर्यप्रतिबिम्ब वाले दर्पण का जब वह दर्पण कमरे आदि को प्रकाशित करता हो। जैसे वहाँ दर्पण खुद प्रकाशरूप नहीं वैसे ही बुद्धि भी खुद ज्ञानरूप नहीं है। वस्तुतस्तु आत्मभिन्न ज्ञान मानना व्यर्थ है क्योंकि वह ज्ञान सिद्ध होगा आत्मा से ही : मान भी लें कि बुद्धि ज्ञानरूप है, फिर भी आत्मा के बिना क्या वह सिद्ध होगी? अनात्मा (=आत्मा से भिन्न सभी कुछ) आत्मसम्बन्ध के बिना कभी भासता नहीं। ज्ञान चेतन को ही होता है। वह चेतन चाहे देवदत्त हो या यज्ञदत्त और या ईश्वर ही हो। जब समस्त ज्ञान को चेतन का अनुविधान आवश्यक है तो ज्ञान को अनात्मा में मानना किस काम का? यदि व्यर्थ मानना ही हो तो सीधे घट में भी ज्ञान मान लिया जाये, बुद्धि में ही क्यों मानना? अतः साक्षिरूप अस्मदर्थ आत्मा के बिना सिद्ध न हो पाने से बुद्धि को ज्ञानरूप मानना व्यर्थ है, प्रमाणरहित है। जैसे श्रीकृष्ण के बिना अर्जुन शक्तिहीन ही था ऐसे आत्मा के बिना बुद्धि ज्ञानरहित ही है, आत्मा की—मेरी—सन्निधि में ही बुद्धि ज्ञानसमर्थ है।

इस प्रकार स्पष्ट किया कि ज्ञानशक्ति (बुद्धि) अनात्मा है। क्रियाशक्ति (प्राण) भी अनात्मा है इसे शास्त्रप्रमाण से समझाने के लिए कहते हैं — यद्यपि प्राण स्वयं जीवन का हेतु है और इंद्रियों की अपेक्षा प्रत्यक् भी है तथापि वह मेरे बल से ही जीवनहेतु बन पाता है (अन्यथा धौंकनी में चलता हुआ भी जीवन का कारण नहीं बन पाता)। इस विषय में श्रुति प्रमाण है : कठोपनिषत् में कहा है 'प्राण और अपान से ही कोई मर्त्य प्राणी जीवित नहीं रहता किंतु किसी अन्य के कारण ही सब जीवित रहते हैं। प्राण व अपान भी उस अन्य में ही स्थित रहते हैं॥ १६४ - १६५॥

इंद्रियों की हानि सहन कर भी प्राण बचाने की प्रवृत्ति सिद्ध करती है कि प्राण इंद्रियों की अपेक्षा ज़्यादा प्रत्यक् है। 'प्राण आत्मा नहीं बल्कि उसका आत्मा वही है जो अन्नमय का आत्मा है' ऐसा तैत्तिरीयोपनिषत् में कहा होने से प्राण की अनात्मता स्फुट है। आत्मसंनिधि से ही प्राण शरीर को जिला पाता है, अन्यथा नहीं। 'संनिधि' का अभिप्राय तादात्म्याध्यास जानना चाहिये अन्यथा शवादि में भी संनिधि सुलभ है। यद्यपि धौंकनी में स्थूल वायु ही है न कि प्राण

[1] कठ.५.५।

संघातपारार्थ्यम्

पदार्थानां गृहादीनां संहतत्वेन हेतुना। अनात्मता मया दृष्टा कथमेष्वात्मता मम॥ १६७॥
वागादयो न हि स्वार्थाः प्रत्येकं मिलिता अपि। अतो नाऽहमिमे सर्वे कथमेकैकशोऽस्म्यमी॥ १६८॥

अथ वागादयः परार्थाः संहतत्वाद् गृहादिवदित्यनुमानं शेषित्वेनात्मबोधकमितरेषामनात्मत्वसूचकं च केनश्रुत्यनुगृहीतमाह — पदार्थानामिति। संहतत्वेन संहत्येतरैर्मिलित्वा कार्यकारित्वेनेत्यर्थः। यद्वा संघातरूपत्वेनेत्यर्थः। तत्राद्यार्थे वागादयः प्रत्येकं पक्षः। गृहास्यादयः कारणानि, तेषाम् — इत्यर्थेन स्तम्भकुड्यादीनां दृष्टान्तत्वम्। द्वितीयार्थे वागादिसंघातस्य पक्षता, संघातरूपगृहादीनां च दृष्टान्ततेति विवेकः। एषु परार्थेषु ममानन्यशेषस्याऽऽत्मता स्वरूपता कथं, न कथमप्येते मत्स्वरूपीभवितुमर्हा इति भावः॥ १६७॥

एवं संहतत्वस्य हेतो गृहादिसपक्षे सत्त्वं, वागादिपक्षेसत्त्वम्, आत्मनो विपक्षाद्व्यावृत्तिश्च दर्शिता। अबाधितत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं च दर्शयति — वागादयइति। वागादयः प्रत्येकं स्तंभकुड्यादिवत् स्वार्था न भवन्ति, मिलिता अपि गृहादिवन्न स्वार्था, अन्यथा करणत्वलक्षणात् स्वरूपादेव ते च्यवेयुः। हिशब्दः प्रसिद्धिद्योतकः। अतो बाधं प्रत्यनुमानं वक्तुं न कोऽपि शक्त इति भावः। फलितमाह — अतो नाहमिम इति। यदा सर्वे मिलिता अपि मत्स्वरूपतां नार्हन्ति तदा किमुत प्रत्येकमित्यर्थः॥ १६८॥

जो कि सूक्ष्म महाभूतों का कार्य है और पुर्यष्टक का ही अंग है तथापि मुख-नासिका में चलने वाले वायु को ही लोक में प्राण कहा जाने से और शास्त्र में भी प्राणायामादि शब्दों में प्राण से स्थूल वायु अभिहित होने से यहाँ दृष्टान्त समझना चाहिये। वस्तुतस्तु आत्मव्यतिरेक तो सुदुर्लभ होने से आत्मान्वय के बल पर लाघवानुरोध से ज्ञान-क्रिया आत्मा में स्वीकार्य हैं इतना ही तर्क श्रौत अर्थ में दिया जा रहा है। यही रीति सर्वत्र समझनी चाहिये। मूल श्लोक के 'मद्बलाद्' का अर्थ है 'मुझ आत्मा द्वारा अंगीकार के कारण' अथवा 'मेरे सामर्थ्य से'। आत्मा के ज्ञान-क्रिया सामर्थ्य बुद्धि व प्राण में वैसे ही उपलब्ध हैं जैसे सर्प में रज्जु की लम्बाई गोलाई आदि। अतः 'अंगीकार' का भी अभिप्राय है 'आत्मा में अध्यस्त होने के कारण'। कठश्रुति में कहा 'अन्य' मैं परमात्मा ही हूँ। प्राणरहित आत्मा यद्यपि सुषुप्तिसिद्ध है तथापि आत्मरहित प्राण कहीं सिद्ध नहीं यह स्मरण रखना चाहिये।

अतः पूर्वोक्त देहावयवों में हर-एक तो आत्मा नहीं हो सकता। प्राणन, दर्शन आदि सभी कार्यों का हेतु बनने वाला ही आत्मा होता है क्योंकि 'मैंने देखा, साँस लिया' आदि हमारा अबाधित अनुभव है। देह के अवयवों में कोई ऐसा नहीं जो सब कार्यों का हेतु बने॥ १६६॥

बृहदारण्यक के उषस्त ब्राह्मण में व्यक्त किया है कि प्राण से प्राणन करने वाला, अपान से अपानन करने वाला इत्यादि तत्तत् साधनों से कार्य करने वाला आत्मा है। उसी के आधार पर और अनुभव के अनुसार सर्वार्थहेतु को ही आत्मा माना गया है और अवयव कभी सर्वार्थहेतु हो नहीं सकते। फलतः देहावयव अनात्मा ही सिद्ध होते हैं।

शरीरावयव अपने से भिन्न आत्मा के लिए हैं क्योंकि संहत हैं। इस अनुमान से भी आत्मा अवयवों से अतिरिक्त सिद्ध होता है। केनोपनिषद् में भी करणादि का प्रेरक, उनका ईशिता आत्मा उनसे अलग ही बताया है जिस आत्मा से प्राण आदि का प्रणयन आदि होता है। अतः कहते हैं — गृहादि पदार्थ क्योंकि संहत हैं (मिलकर कार्यकारी होते हैं), इसलिए मुझे निश्चय है कि वे अनात्मा है। तब उसी तरह संहत इन इन्द्रियादि पदार्थों में मेरी आत्मरूपता कैसे हो सकती है? ये क्योंकर आत्मा होंगे?॥ १६७॥

यहाँ प्रत्येक अवयव को अनात्मा कहा है और साथ ही उनके संमिलित रूप को या संघात को भी। दृष्टांत में 'गृहादि' शब्द से 'गृह के आदि अर्थात् कारण खम्भा, दीवाल प्रभृति' समझें तब तो देहावयवों में प्रत्येक का अनात्मत्व स्पष्ट होगा और जब समूचे घर आदि संघात को 'गृहादि' शब्द से समझें तब देहावयवों के संघात की जडता मालूम पड़ेगी। मैं न अवयव हूँ न अवयवी। मैं संहत नहीं हूँ मैं किसी अन्य के लिए नहीं हूँ। शेषत्व-शेषित्व का अभेद तो

प्रवेशस्तत्प्रयोजनम्

एते च न विजानन्ति मां सर्वस्यापि कारणम्। एतैरभिन्नतां प्राप्य कोऽहमस्मीति चिन्तये॥ १६९॥
अस्तु वा यादृशस्तादृक् किं कृत्वाचिन्तयाऽनया। प्रविश्यैषां सुखं दत्वा प्रतिपत्स्ये निजं वपुः॥ १७०॥

नन्वेवं सत्येते सर्वे तवेश्वरस्य भृत्यत्वादेव शब्दोच्चारणादिकार्यमनियुक्ता अपि भवद्भयेन करिष्यन्त्येव, किन्तव प्रवेशेन? इत्याशंक्य; सत्यम्, अन्यकार्यसंपादनेऽपि यन्मम शेषित्वेन महावाक्यप्रतिपाद्याखण्डैकरसत्वेन च ज्ञानं तदन्यै र्दुःसंपादत्वेन मयैव प्रविश्य विधेयमिति 'यदि वाचा' (ऐ.१.३.११) इत्यादिभागतात्पर्यं दर्शयन्नाह — एते चेति। एते स्वकार्यारम्भका अपि मामान्तरं त्वम्पदार्थत्वेन न विजानन्ति, सर्वस्य कारणं तत्पदार्थमपि न जानन्ति, किमुत वाक्यार्थत्वेन? अतोऽहमेव प्रविश्य कोहमिति चिन्तये। प्रवेशस्य स्वरूपं स्पष्टयति — एतैरभिन्नतामिति। अहं वच्मि जिघ्रामीत्याद्यभिमान एव प्रवेशः प्रतिबिम्बावच्छेदपदव्यवहार्य इति भावः॥ १६९॥

ननु विचारितप्रायमात्मतत्त्वमधुनैव निर्धार्यतां, किं विषमसंसारे प्रवेशेन? अन्योपकाराय प्रवेशस्तूपकार्याणां. जडत्वाद्विफल इति चेत्? 'कार्याणि प्रतिबध्नन्ती चिकीर्षाऽन्यत्र जायत' इति न्यायेन प्रवेशेच्छाकाले विचारान्तरं विफलत्वेन न विधेयमित्याह — अस्तु वेति। यादृशो ममात्मा तादृशोऽस्तु, अनया एतत्कालिकयाऽऽत्मचिन्तया कृत्वाचिन्तया विफलत्वेन कृत्वाचिन्तासमानया किं, न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः। कृत्वाचिन्ताऽभ्युपगम्यवादः। यथा 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदि' (जा.३)त्यादिजाबालश्रुतिः संन्यासविधायिका न स्यादित्यभ्युपगम्य 'परामर्शं जैमिनि' (३.४.१८) रित्याद्यधिकरणं प्रवर्तितम्। यथा वेहैव षट्पञ्चाशदधिकशततमे श्लोके चेतनमन्तरा शक्तानां करणानां स्वव्यापारे स्वातन्त्र्यमभ्युपगम्याऽन्यव्यापाराऽक्षमत्वाभिधानं; सा कृत्वाचिन्ता विफलत्वेन प्रसिद्धा

'आक्षेपे चापवादे च प्राप्त्यां लक्षणकर्मणि। प्रयोजनं न वक्तव्यं यच्च कृत्वा प्रवर्तते॥'

इति वचनात्, तद्वदियमपीति भावः। अतः प्रवेशस्य प्रयोजनद्वयमेवालोचनीयमालोचितमित्याह — प्रविश्येति। प्रतिपत्स्ये निर्णेष्यामि। शेषं स्पष्टम्॥ १७०॥

त्रिकद्वय का विरोध स्वीकारने वाले मीमांसक भी नहीं स्वीकारते। अतः सर्व-शेषी मैं देहावयव या उनका अवयवी कैसे हो सकता हूँ? तात्पर्य है कि वे सब अकेले या मिलकर आत्मा नहीं है।

पूर्वोक्तानुमान का 'संहत होना' रूप हेतु बाधदोष से ग्रस्त नहीं अतः इसकी काट करने वाला कोई हेत्वंतर भी न होगा यह स्पष्ट करते हैं — वाणी आदि प्रत्येक तथा मिलकर भी स्वार्थ, अपने ही लिए, नहीं हैं अतः ये सब मिले हुए भी मेरा स्वरूप नहीं है तो मैं इनमें से एक-एक क्योंकर हो सकता हूँ?॥ १६८॥

अपने ही लिए हों तो वाणी आदि करण ही न होंगे क्योंकि करण अवश्य किसी अन्य के लिए होता है। जैसे कुठार लकड़ी काटने का करण है तो खुद अपने प्रयोजन से नहीं बल्कि किसी लकड़हारे आदि के प्रयोजन से। वागादि की करणता प्रसिद्ध ही है। अतः निर्दोष होने से उक्त हेतु सदनुमिति का ही हेतु है। फलतः करणादि न एक-एक कर मैं हूँ, न मिलकर।

प्रश्न होता है कि वागादि सब हैं ईश्वर के नौकर-स्थानीय, अतः उन्हे आज्ञा न दें (प्रेरणा न दें) तो भी ईश्वर के भय से अपने-अपने काम कर ही लेंगे, तब ईश्वर को प्रवेश करने की क्या ज़रूरत है? उत्तर है कि बाकी काम तो कर लें यह संभव है पर जो महावाक्य-प्रतिपाद्य अखण्ड एकरस रूप से सर्वशेषी परमेश्वर का ज्ञान है वह परमात्मा से अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता इसलिए उसके लिए परमेश्वर का प्रवेश आवश्यक है। इसे व्यक्त करने के लिए ही श्रुति में कहा है कि 'यदि वाणी आदि ही सारा काम कर लें तो मुझ परमेश्वर की क्या विशेषता?' इसी श्रुति का तात्पर्य स्पष्ट करते हैं — ये सब वागादि न आंतर प्रत्यगात्मा को जानते हैं और न सबके कारण परमात्मा को। इनसे तादात्म्याध्यास कर मैं ही यह विचार करूँ कि मैं कौन हूँ?॥ १६९॥

इति संचिन्त्य विश्वात्मा प्रवेशाय कलेवरे। आत्मचिन्तां विहायैव द्वारमेव व्यलोकयत्॥ १७१॥

प्रवेशद्वारवर्णनम्

स देवो देवजनकः कपालत्रयमध्यगाम्। सीमन्तिनीनां सीमन्ते सीमान्तां विदिनां नृणाम्।
आत्मसन्निधिमात्रेण विदार्यात्र समाविशत्॥ १७२॥

'कतरेण प्रपद्य' इत्यंशस्य 'कोऽहम्' (ऐ.१.२.११) इत्यन्तवाक्यादौ निर्देशेन द्वारचिन्तायाः प्राधान्यं सूचितं स्पष्टयति — इति संचिन्त्येति। स्पष्टम्॥ १७१॥

'स एतमेव सीमानम्' इत्यादि 'नान्दनम्' (ऐ.१.२.१२) इत्यन्तं वाक्यं व्याचष्टे — स देवेत्यादिसार्धपञ्चभिः। स सर्वदेवानां जनकः पिता देवः परमेश्वरो, भृत्यप्रवेशमार्गं स्वानुचितमालोच्य तां मूर्धसीमानम् आत्मसन्निधिमात्रेण विदार्यात्र शरीरे समाविशदित्यन्वयः। सीम्नः प्रसिद्ध्यर्थं विशेषणद्वयम्। कपालत्रयमध्यगां — कपालानां त्रयाणि नवेति यावत्, तेषां मध्यगाम्। 'नवकपालं वै शिर' इति मुखविशिष्टस्य शिरस्त्वप्रतिपादकश्रुतेः। यद्वा कपालानां वामदक्षिणपुरतो भवानां मध्यं मूर्धकपालं तद्गतमित्यर्थः। 'द्वौ गण्डौ च कपालानि चत्वारि' इति याज्ञवल्क्यस्मृतेः। वस्तुतस्तु, 'एतमि'तिश्रुतिगतपदे लोकप्रसिद्धिरेव विवक्षिता। तथा च कृशस्य मुण्डिते शिरसि अनुभूयमानं यत् कपालत्रयं वामदक्षिणमध्यरूपं, तस्य मध्ये गच्छति तिष्ठतीति सा तथा, तामित्यर्थः। उपलक्षणान्तरमाह —सीमन्तिनीनां नारीणां सीमन्ते केशविभागे नृणां विदितां, पुरतस्त्यकेशविभागरेखा यत्र समाप्तेति यावत्॥ १७२॥

'प्रतिबिम्ब', 'अवच्छेद' आदि शब्दों से कहा जाने वाला प्रवेश अभिमानरूप ही है, उससे अतिरिक्त नहीं। यहाँ 'अध्यास कर' ऐसा जो कहा है उसका अभिप्राय यह नहीं कि पहले अध्यासरहित स्थिति थी और फिर कभी अध्यास किया गया। अध्यास को तो अनादि ही समझना चाहिये क्योंकि जीव अनादि है। यहाँ तो समझाने के लिए यह प्रकार अपनाया है।

कहा जा सकता है कि आत्मतत्त्व की वास्तविकता लगभग विचारी जा चुकी है अतः उसका पूर्ण निश्चय अभी ही कर लिया जाये, दुःखमय संसार में प्रवेश करने से क्या लाभ? यह कह नहीं सकते कि किसी दूसरे के उपकारार्थ प्रवेश है क्योंकि दूसरे तो सब जड हैं, उनका उपकार होना नहीं। इस समस्या का समाधान है कि यदि अन्य कुछ करने की इच्छा हो जाय तो चलते काम को पूरा करने में वह इच्छा ही प्रतिबंधक हो जाती है, यह नीति है, अनुभवसिद्ध है। अब प्रवेश की इच्छा हो गयी अतः और विचार किया नहीं जा सकता। इसलिए परमात्मदेव ने कहा — मेरा स्वरूप जैसा है वैसा होवे, अभी इस निष्फलप्राय चिंतन से क्या लाभ। व्यष्टिशरीर में प्रवेश करके इन भूखे देवों को सुख देकर तब अपने स्वरूप का निर्णय करूँगा॥ १७०॥

मूल में यहाँ आत्मविचार को 'कृत्वाचिन्ता' कहा है। कृत्वाचिंता की तरह विफल होने से इसे वही नाम दिया है। उपस्थित भी प्रमाण आदि को 'नहीं है' ऐसा मानकर जो विचार होता है वह कृत्वाचिंता है। जैसे यद्यपि संन्यासविधायक स्पष्ट श्रुतिवचन हैं सही, पर यदि वे न हों तब क्या स्थिति होगी इसका विचार परामर्शाधिकरण में ब्रह्मसूत्रों में आया है; वह कृत्वाचिंता है। यहाँ भी (श्लो.१५६) इंद्रियाँ निजी व्यवहार में स्वतंत्र हैं ऐसा मानकर वे अन्य इंद्रियों का कार्य नहीं कर सकती अतः आत्मा नहीं यह कहा था जब कि तथ्य है कि वे निजी व्यवहार में भी स्वतंत्र हैं नहीं। अतः वह भी कृत्वाचिंता थी। कृत्वाचिंता में प्रयोजन नहीं बताना पड़ता। वह तो विचारक की अपनी इच्छा से ही संपन्न होता है। अतः यहाँ भी प्रयोजन की शंका नहीं उठती। देवों को कार्यानुकूल स्थान देना और अध्यात्मविचार करना ये ही प्रवेश के दो प्रयोजन हैं। पूर्वत्र (श्लो.१३५) यह स्पष्ट किया था।

प्रवेश के द्वार की प्रधानता सूचित करते हैं – यह सोचकर विश्वात्मा महेश्वर ने आत्मविचार छोड़ शरीर में प्रवेश के लिए दरवाज़े का ही विचार किया॥ १७१॥

ततो मनुष्यमात्रस्य पुरी द्वारवती स्मृता। अस्यां यस्मादयं कृष्णः पुराणः पुरुषोऽविशत्॥ १७३॥
ऊर्ध्वभागे ततो[१] द्वारं विद्वद्भिः कीर्त्यते बुधैः। विदार्य मस्तकं यस्मात् पुरीमेष समाविशत्॥ १७४॥
द्वारेणाऽनेन निर्गत्य योगिनोऽर्चिषमेव हि। सम्भवन्ति यतस्तेन नान्दनं स्यादिदं ध्रुवम्॥ १७५॥

तत इति। ततः परमात्मनोर्ध्वमार्गेण प्रविष्टत्वाद् मनुष्यमात्रस्य सर्वमनुष्याणां पुरी शरीरं द्वारवती प्रशस्तद्वारवत्त्वात् स्मृता मता। प्रसिद्धद्वारवत्या साधर्म्यमाह — अस्यामिति। यस्मादयं साक्षादपरोक्षः कृष्णः, 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो नश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥' इति लक्षितः सदानन्दात्मा पुराणः पुरुषोऽविशत्। प्रसिद्धायां द्वारवत्यामपि प्रवर्षणाद् गिरेरुत्प्लुत्याऽऽकाशरूपोर्ध्वमार्गेण श्रीकृष्णः प्रथमं प्रविष्ट इति। सूचितं चैतद् भागवते जरासन्धात् पलायनप्रस्तावे। 'मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारण' इत्यमरः। 'पुरं पुरे शरीरे च' ति विश्वः। अत्र मनुष्यमात्रस्येति 'पुरुषत्वे चाविस्तरामात्मा' (ऐ.३.२) इति श्रुतिमनुसृत्योक्तम्, अन्येषामुपलक्षणं बोध्यम्॥ १७३॥

ननु 'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्वै दशमी' (द्र.ब्र.सू.२.४.५) इत्यादिश्रुतौ, 'नवद्वारे पुरे' (गी.५.१३) इत्यादिस्मृतौ चेदं द्वारं न प्रसिद्धं, कथमनेन द्वारवतीत्युच्यते? अत आह — ऊर्ध्वभागइति। यतः परमेश्वरेण मूर्धानं विदार्य निष्पादितं ततः शिरस ऊर्ध्वभागे द्वारं विद्वद्भिः उपासकै र्विदृतिसंज्ञकं कीर्त्यते 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छां.८.६.६) इति श्रुतेः। लोकेऽपि बुधैः कुशलैः कीर्त्यते शिरसि कटुतैलादिधारणे तदीयरसानुभवाद्, अतो 'बुधैः', 'विद्वद्भिः' इति न पौनरुक्त्यम्। मूढैस्तु श्रीकृष्णस्तद्द्वारं च दुर्ज्ञेयमिति भावः। श्रुतौ स्मृतौ च भृत्यद्वारैः सहेश्वरप्रवेशद्वारमसमत्वान्न गणितमिति बोध्यम्॥ १७४॥

द्वारेणेति। योगिनोऽनेन द्वारेण निर्गत्य यतोऽर्चिषमेव अर्चिराद्यभिमानिदेवतोपलक्षितं देवयानमार्गमेव क्रममुक्तिदं सम्भवन्ति प्राप्नुवन्ति, 'भू प्राप्तौ' (चु. आ. से) इति धातोर्णिच्सन्नियोगेनैवात्मनेपदित्वात् साधु, तेन हेतुना इदं द्वारं नान्दनं नन्द्यत आनन्दो लभ्यतेऽनेनेति नन्दनं नन्दनमेव नान्दनं, प्रज्ञादित्वादण् स्वार्थिकः। ध्रुवं निश्चितं, 'तयोर्ध्वमायन्नि'तिश्रुतेः। इन्द्रोपवनं तु दुःखमिश्रत्वात् सन्दिग्धनन्दनत्वकमिति भावः॥ १७५॥

देवताओं के उत्पादक उन महादेव ने केवल अपनी ससङ्कल्प-संनिधि के बल से उस स्थल का विदारण किया जो, मनुष्य शरीर के तीनों कपालों का मध्यबिंदु है तथा लोग जिसे स्त्रियों के केश की माँग की समाप्ति के स्थान रूप से जानते हैं। विदृति कहाने वाले उस द्वार का उद्घाटन कर महेश्वर शरीर में प्रवेश कर गये॥ १७२॥

इसलिए सब मनुष्यों की शरीर-पुरी द्वारवती (श्रेष्ठ दरवाज़े वाली) बतायी गयी है। क्योंकि साक्षात् अपरोक्ष पुराण पुरुष कृष्ण ने (सद् आनंदरूप पर ब्रह्म ने) इसमें प्रवेश किया था इसलिए यह प्रसिद्ध द्वारवती (द्वारका) के समान ही है (क्योंकि वहाँ भी भगवान् आकाशमार्ग से ही प्रविष्ट हुए थे)॥ १७३॥

मस्तक का विदारण कर जिसके द्वारा परमात्मा देहपुरी में प्रविष्ट हुआ था वह द्वार सिर के ऊर्ध्वभाग में है ऐसा जानकार उपासक बताते हैं॥ १७४॥

प्रायः शरीर के जो नौ-दस दरवाज़े बताये जाते हैं उनमें शिरःस्थ द्वार नहीं आता क्योंकि सर्वसामान्य न उस द्वार को समझ सकता है न उससे प्रवेश करने वाले कृष्ण को! शास्त्र तो उपासक के उत्क्रमण का मार्ग उसी दरवाज़े से बताता है। उस द्वार पर यदि कड़वा तेल लगायें तो ध्यान देने पर उस तेल का स्वाद आता है जो तभी संभव है जब तेल जिह्वा तक आये और इसके लिए सिर में छेद होना अनिवार्य है। वह सूक्ष्म है इससे सामान्यतः व्यवहार में नहीं आता। शास्त्र में तो नौकरों के दरवाज़ों के साथ मालिक का दरवाज़ा गिनना उचित न होने से इसे नौ-दस दरवाज़ों के साथ जोड़ा नहीं गया है।

योगी इस द्वार से निकलकर क्योंकि अर्चिरादि मार्ग पाते हैं इसलिए निश्चित ही यह नान्दन (सुखद) द्वार है॥ १७५॥

---

१. ततइति प्रथमार्थे तसि र्द्वारविशेषणम्।

यथैव स्वर्गिणां स्वर्गे गच्छतां नन्दनं वनम्। सुखहेतुस्तथा मुक्तौ गच्छतामिदमेव हि॥ १७६॥

'त्रय आवसथा' इति वाक्यार्थः

पुरमेकादशद्वारं प्राप्येन्द्रो देवराडयम्। प्रासादानात्मवासार्थं तत्र त्रीन् स चकार ह।
चक्षुष्येकं परं चित्ते तृतीयं हृदयाब्जके॥ १७७॥

त्रिष्वप्येतेषु शयनं प्राप्येन्द्रो जायया सह। पश्यत्येष त्रिधा स्वप्नानात्मज्ञानविवर्जितः॥ १७८॥

जाग्रद्वर्णनम्

यदा बाह्यार्थभोगार्थं कर्माऽऽदत्ते निरञ्जनः। अनादिमायया तस्मिन् काले द्वेधा प्रजायते॥ १७९॥

इन्द्रोपवनेन साम्यं स्पष्टयति — यथैवेति। यथा स्वर्गिणां नन्दनं वनं सुखहेतुस्तथा इदं द्वारं मोक्षं गच्छतामिति हि प्रसिद्धं श्रुतौ, 'मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणान्' (८.१२) इत्यादिगीतासु च॥ १७६॥

एवं जीवरूपेण परमात्मनः शरीरे प्रवेशमभिधाय तस्योपाध्यभिमानप्रयुक्तसंसारप्रदर्शकं 'तस्य त्रय' इत्यादि 'स्वप्नाः' (ऐ.१.३.१२) इत्यन्तं वाक्यं व्याचष्टे — पुरमित्यादिपञ्चत्रिंशद्भिः। प्रसिद्धै र्नवभि र्नाभ्या मूर्धद्वारेण च एकादशद्वारं पुरं प्राप्याऽयमात्मेन्द्रो यतो देवराट् करणदेवप्रभुरात्मवासार्थं त्रीन् प्रासादान् चकार। त्रीन् गणयति — चक्षुष्येकमिति। चक्षुरिन्द्रियगोलके प्रथमं, द्वितीयं चित्ते चित्तस्थाने हृदयकमलदलेष्विति यावत्। तृतीयं हृदयाब्जके तदन्तरित्यर्थः॥ १७७॥

त्रिष्वप्येतेष्विति। एतेषु त्रिषु प्रासादेषु शयनमहंकारलक्षणां शय्यां, 'शय्यामहं द्वादशमेक आहुः' इति भागवतात्, तां प्राप्येन्द्र आत्मा जायया स्वप्रतिबिम्बरूपगर्भधारिण्या विज्ञानशक्तिरूपया भोग्यया सहितो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभेदेन त्रिविधान् स्वप्नान् पश्यति। ननु कथमेते त्रयोऽपि स्वप्नाः? अत आह — आत्मज्ञानविवर्जितइति। यो हि यथावत् पश्यति स जाग्रदित्युच्यते, अयन्त्वात्मानमेव विस्मरन् कथं जाग्रदुच्येत? अतो यदनेनाज्ञाननिद्रागतेन दृश्यते स स्वप्न एवेति भावः॥ १७८॥

तत्र जाग्रत्संज्ञं स्वप्नं प्रपंचयति — यदेत्यादिना। बाह्यार्थाः स्थूलभोग्याः, तेषां भोगार्थं भोगनिमित्तभूतं कर्म धर्माधर्मरूपं, वस्तुतो निरञ्जनः शुद्धोऽपि अनादिमाययाऽज्ञानेनाऽऽदत्तेऽध्यासादंगीकरोति तस्मिन् काले जाग्रदवस्थासंज्ञे द्वेधा प्रजायते श्लोकोक्तप्रकारेण॥ १७९॥

अर्चिः आदि देवताओं से सूचित देवयान पथ क्रममुक्ति देता है अतः उस मार्ग का प्रापक द्वार नान्दन हो, सुखद हो यह स्पष्ट है।

स्वर्ग में जाने वाले स्वर्गवासियों के लिए नंदनवन जैसे सुखहेतु है वैसे ही मुक्ति के निमित्त ब्रह्मलोक जाने वालों के लिए यह द्वार सुखहेतु है॥ १७६॥

इस प्रकार बताया कि परमात्मा ने शरीर में जीवरूप से प्रवेश किया। उपाधियों में तादात्म्य-अभिमान से उसी का संसरण है। यह श्रुति ने 'उसके तीन आवसथ (रहने के स्थान) हैं' इत्यादि से प्रतिपादित किया है। अब पैंतीस श्लोकों द्वारा उसी श्रुतिखण्ड की व्याख्या करते हैं — देवराज (इंद्रिय-स्वामी) इस इन्द्र ने ग्यारह दरवाज़ों वाले इस पुर में पहुँचकर अपने रहने के लिए तीन महल बनाये। एक महल चक्षु में, दूसरा चित्त में व तीसरा हृदयकमल के भीतर॥ १७७॥

इन तीनों में अहंकाररूप बिछौने पर अपनी पत्नी (विज्ञानशक्ति) के साथ लेटकर आत्मा के यथार्थ अनुभव से रहित यह इंद्र तीन तरह से सपने देखता है॥ १७८॥

आत्मा के प्रतिबिम्बरूप गर्भ का धारण करने वाली होने से विज्ञानशक्ति को पत्नी कहा है। वही आत्मा की भोग्या है, वही उसके साक्षाद् दृश्यभाव को प्राप्त होती है। तीन तरह के स्वप्न जाग्रदादि तीन अवस्थायें हैं। तीनों सपने इसलिए

स्त्रीपुंसरूपो भगवान् वामदक्षिणनेत्रयोः। अधिष्ठायेन्द्रियगणमेवं भोगान् प्रपद्यते॥ १८०॥

जातोऽहं जनकोऽयं मे जननी भ्रातरस्तथा। भगिन्यो बान्धवा भृत्या दाराः पुत्राश्च पुत्रिकाः॥ १८१॥

मित्राणि शत्रवस्तद्वदुदासीना नियामकाः। ऋत्विजो गुरवस्तद्वत् स्त्रीपुंसौ च नपुंसकम्॥ १८२॥

गृहाणि भूमयो धान्यं हिरण्यं पशवस्तथा। वस्त्राण्याभरणं तद्वच्छय्या ह्येतत्सुशोभनम्॥
अशोभनं च बहुलमल्पमाराच्च दूरगम्॥ १८३॥

इमे शब्दा इमे स्पर्शा इमे गन्धा इमे रसाः। रूपाणि च तथेमानि वक्तव्यानि तथैव हि।
आदेयानि च गम्यानि त्वानन्दाः सविसर्गकाः॥ १८४॥

स्त्रीपुंसरूप इति। भगवान् षड्गुणसम्पन्नः, 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना॥' इत्युक्तगुणसम्पन्नः समष्टिरूपेण वैश्वानर उपास्यो वामदक्षिणनेत्रयोः स्त्रीपुंसरूपो भोक्तृभोग्याकारः; तत्र दक्षिणनेत्रस्थं रूपमधिकप्रकाशबलवत्त्वाद् भोक्ता पुमानिति विवक्षितः, वामनेत्रस्थं तु तद्विपरीतत्वाद् भोग्या स्त्रीत्युपास्या—इति कूर्च-ब्राह्मणे (बृ.४.२.२-३) स्पष्टम्। पुरुषस्य साक्षात् प्रकाश्या बुद्धिरेवेति सा जायापदार्थतया व्याख्यातेति बोध्यम्। एतादृशो भगवान् व्यष्टिरूपेण परिच्छिन्नमात्मानं मन्यमान इन्द्रियगणमधिष्ठाय एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण भोगान् कर्मफलस्वीकारान् प्रपद्यते प्राप्नोतीत्यर्थः। 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृता' वित्यमरः, भृतिः स्वीकारः॥ १८०॥

तत्र नानाविधं बाह्यभोगं तावदाह — जातोऽहमिति षड्भिः। अहं यतो जातोऽयं मे जनकः पिता, इयं मे जननी, इमे भ्रातर इति 'इदम्'-पदान्वयो विपरिणामेन सर्वत्र बोध्यः। शेषं स्पष्टम्॥ १८१॥

मित्राणीति। मित्राणि उपकारिणः। शत्रवोऽपकारिणः। उभयविलक्षणा *उदासीनाः।* नियामका मर्यादायां स्थापकाः पित्रुपाध्यायराजादयः। ऋत्विजो यागे वरणीयाः। शेषं स्पष्टम्॥ १८२॥

एवं चेतनशरीरेषु भोगान् दर्शयित्वा जडेष्वाह — गृहाणीति। विशेषेण बन्धहेतुं भोगमाह — एतत्सुशोभनं रमणीयमेवमशोभनमिति, अल्पं बहुलमारात् समीपम्। शेषं स्पष्टम्॥ १८३॥

ज्ञानकर्मेन्द्रियविषयभोगमाह — इमे शब्दाइति। आदेयानि पाणिग्राह्याणि। स्फुटम्॥ १८४॥

हैं कि तीनों में आत्मयथार्थबोध है नहीं। यथावत् जानने वाले को ही 'यह जगा हुआ है' ऐसा कहा जाता है। पुरस्वामी इंद्र तो स्वयं को ही भूले हुए है, इसे जगा हुआ कैसे कहा जाये? इसलिए अज्ञाननिद्रा से जो कुछ इसे दीखता है वह सपना ही है॥

उन तीन में पहले जाग्रत् नामक सपना समझाते हैं — जब यह निरंजन आत्मा स्थूल भोग्यों के भोग के लिए अज्ञानवश कर्मों को अंगीकार करता है उस समय (जाग्रदवस्था में) वह दो प्रकार का हो जाता है॥ १७९॥

वह भगवान् स्त्री व पुरुष रूप हो बायें व दायें नेत्रों में रहता है और इंद्रियसमूह का अध्यक्ष हो वक्ष्यमाण ढंग से भोग प्राप्त करता है॥ १८०॥

समग्र (अखण्डित) ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, ज्ञान और वैराग्य का सामूहिक नाम है भग, वह जिनमें है वे भगवान् कहे जाते हैं। विश्व की समष्टि वैश्वानर को यहाँ भगवान् कहा है। वे उपासना के योग्य हैं। उपासना का स्थान बायीं व दायीं आँखे हैं। वहाँ भोग्य और भोक्ता के रूप में भगवान् मौजूद हैं। दाहिनी आँख वाला रूप क्योंकि अधिक प्रकाश-बल वाला है इसलिए उसे पुरुष कहा। बायीं आँख वाला रूप उससे विपरीत है इसलिए उसे स्त्री कहा। वस्तुतस्तु बृहदारण्यक में श्रुति ने ऐसा ही विभाजन किया है अतः उपासनार्थ ऐसा ही स्वीकार्य है। बलाधिक्यादि तो समझने मात्र के लिए कहा है। किसी माध्यम के बिना जिसका प्रकाशन आत्मा करता है उस बुद्धि को ही यहाँ पत्नी कहा है। अन्यों का प्रकाशन तो वृत्ति के द्वारा होता है। समग्र ऐश्वर्यादिसंपन्न भी भगवान् व्यष्टि रूप से स्वयं को सीमित मान कर इंद्रियों से तादात्म्यवश सुख-दुःख भोगता है।

सुखायैते परे चैव दुःखायेति च मन्यते। सुखं दुःखं तथैवैतदासीदस्ति भविष्यति॥ १८५॥

विविधाध्यासाः

पुमानहं तथा स्त्री वा नपुंसकमथापि वा। मनुष्योऽहं पशुर्वाऽहमहमस्मि जरायुजः॥
स्वेदजोऽहं तथोद्भिज्जो ह्यण्डजोऽस्म्यथ वा पुनः॥ १८६॥

अन्नजातानन्तोऽन्यान् भेदांस्तद्वच्छरीरगान्। सर्वानात्मतया वेत्ति शयानो मायया स्वया॥ १८७॥

एवं बालस्तथा वृद्धः पीडितो नीरुजोऽपि वा। रूपी कुरूपी पुण्यात्मा पाप[1] इत्यादि मन्यते॥ १८८॥

[2]एवं विप्रस्तथा राजा वैश्यः शूद्रोऽथवाऽपि हि। एवं बटुर्गृही तद्वद्वनी भिक्षुरथाऽपि वा॥ १८९॥

यद्द्वारा विषया बन्धकास्तं भोगमाह — सुखायैत इति। एते सुखाय सुखार्थाः, एवं दुःखायेति। विषयफलभोगमाह - सुखं दुःखमिति। कालभोगमाह — आसीदित्यादि॥ १८५॥

एवं स्वामित्वाध्यासरूपं बाह्यं भोगं सफलमभिधाय धर्माध्यासविशिष्टतादात्म्याध्यासरूपं शरीरभोगमाह - पुमानहमिति। स्फुटम्॥ १८६॥

अन्नजातानिति। तद्वच्शरीरगानन्नजातांस्तदाहारपरिणामभूतान् सर्वान् विशेषानात्मतया वेत्ति मन्यते स्वया स्वश्रितया माययैव, न वस्तुतः, यतोऽनन्तस्त्रिविधपरिच्छेदशून्यः॥ १८७॥

शरीरधर्माध्यासं प्रपंचयति — एवमित्यादिना। बालोऽहं वृद्धोऽहमित्यहंशब्दस्य सर्वत्र सम्बन्धः। बालत्ववृद्धत्वाभ्यां युवत्वमप्युपलक्षितम्। पीडितो रुग्णः। पुण्यात्मा शास्त्रविहिताचरणवान्। पापात्मा निषिद्धाचारः। आचारः क्रिया, सा च शरीरधर्मः॥ १८८॥

वर्णाश्रमाध्यासमाह — एवं विप्र इति। स्फुटम्॥ १८९॥

विभिन्न बाह्य भोग दिखाते हैं — 'मैं पैदा हुआ हूँ, यह मेरा पिता है, यह माता है, ये भाई हैं, ये बहने हैं, ये बांधव हैं, ये नौकर हैं, यह पत्नी है, ये पुत्र हैं, ये पुत्रियाँ हैं, ये मित्र हैं, ये शत्रु हैं, ये मुझसे उदासीन हैं(मेरे हित या अहित के चिंतक नहीं हैं), ये मुझ पर नियंत्रण करने वाले हैं, ये मेरे पुरोहित हैं, ये गुरु हैं।' ऐसे ही 'ये स्त्रियाँ हैं, पुरुष हैं, नपुंसक हैं, ये घर हैं, ज़मीने हैं, धान्य हैं, धन है, पशु हैं, कपड़े हैं, गहने हैं, पलंग हैं, यह अच्छा है, बुरा है, यह अधिक है, कम है, समीप है, दूर है, ये शब्द हैं, स्पर्श हैं, गंध हैं, रस हैं, रूप हैं, ये बोलने लायक हैं, लेने लायक हैं, जाने लायक हैं, ये विसर्ग सहित आनंद हैं, ये सुख के लिए हैं, अन्य वस्तुएँ दुःख के लिए हैं' ऐसा वह प्रविष्ट देव मानता है। 'यह सुख है, यह दुःख है, यह था, यह है, यह होगा, मैं पुरुष या स्त्री या नपुंसक हूँ, मनुष्य या पशु हूँ, जरायुज उद्भिज, स्वेदज या अण्डज हूँ', तथा ऐसे ही शरीर में अन्न के कारण होने वाले अन्य सब भेदों को अपनी माया से सोया यह अनन्त देव आत्मरूप से समझता है, इन भेदों वाला मैं हूँ ऐसा मानता है॥ १८१ - १८७॥

यहाँ पहले चेतन भोग बताये फिर घर आदि जड भोग बताये, फिर इन्द्रियों के विषय रूप भोग बताये और जिनके द्वारा विषय बन्धन कर पाते हैं उन सुख-दुःख को बताया। बाह्य वस्तुओं पर अपने-पन का ही अध्यास होता है। पुरुषत्वादि वाले शरीर में तो मैं-पने का अध्यास होता है। शरीर अन्नविकार ही है। वस्तुतः सीमाहीन यह इंद्र अन्नकार्यों को 'मैं' मान लेता है यह उसी की माया से संभव है। वस्तुतः 'मैं' ऐसा होवे यह संभव नहीं।

शरीर-धर्मों के अध्यास के और उदाहरण देते हैं - ऐसे ही समझता है कि मैं बालक हूँ, वृद्ध हूँ, पीडित हूँ, नीरोग हूँ, रूपवान् हूँ, कुरूप हूँ, पुण्यात्मा हूँ, पापी हूँ इत्यादि॥ १८८॥

ऐसा भी मानता है कि मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, वैश्य हूँ, शूद्र हूँ, ब्रह्मचारी हूँ, गृहस्थ हूँ, वानप्रस्थ हूँ या संन्यासी हूँ॥ १८९॥

---

१. पापात्मेत्यादि मन्यतइति टीकापाठो भाति। २. शास्त्रापेक्षानध्यासानाह - एवमित्यादिना।

अत्रापि बहुधा देहधर्मानात्मनि मन्यते। एवमिन्द्रियसाकल्यं वैकल्यं चाऽपि मन्यते।
काणोऽस्मीत्यादिवचनैः प्रकटीकुरुते भृशम्॥ १९०॥

एकं देहं समाश्रित्य तत्परं नाभिमन्यते। अहमेतादृशो नान्यो नान्येप्येतादृशा अहम्॥ १९१॥

गौरोहमादिधियां भ्रमत्वम्

अन्योऽहंशब्दबोधाभ्यामेकार्थाभ्यां च तत्त्वतः। भिन्नार्थमात्मबोधेन रहितः प्रतिपद्यते॥ १९२॥

अत्रापीति। अत्र वर्णाश्रमाध्यासे सति तत्प्रयुक्तानवान्तरजातितद्धर्मतद्देशाचारान् बहुधा देहधर्मानात्मनि मन्यते। इन्द्रियधर्माध्यासं धर्म्यध्यासव्याप्यं दर्शयति — एवमिति। अहं सम्यग्दर्शी, अहं मन्ददर्शीत्याद्याकारेण। परकीयचित्तवर्तीन्द्रियाध्यासे हेतुं स्फुटयति — काणोस्मीति। 'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति' इति श्रुते र्वचनादध्यासोनुमेय इति भावः॥ १९०॥

'न मम देहेन्द्रियादितादात्म्याभिमान' इति यदि कश्चिद् वदेत्, तं प्रति 'अपरिच्छिन्नमात्मानं परिच्छिन्नतया मन्वानः कथमेवं ब्रवीषि' इत्युत्तरं सूचयन्नाह — एकमिति। एकं कंचिद् देहं समाश्रित्याऽभिमन्य, तत्परं तस्माद् देहाद् भिन्नं नाभिमन्यतेऽभिमानविषयं न करोति। अनेन हि — सर्वात्माऽस्मीति सर्वत्राभिमानो विधेयः, 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मी' त्यादिश्रुतेः (बृ.१.४.१०), तन्न करोति किन्तु भेददृष्टिमेव करोतीति भावः। भेददृष्टेराकारमभिनयति — अहमेतादृश इति। एतादृश ईदृग्जात्यादिविशिष्टोऽहं नान्य एतद्भिन्नजात्यादिविशिष्टो न भवामि किन्तु तद्भिन्न एवेत्यर्थः। एतादृशास्तत्तज्जात्यादिविशिष्टा येऽन्ये तेऽहं न किन्तु मद्भिन्ना एवेति यावत्॥ १९१॥

शुद्धात्मप्रतिपादकाऽहंशब्द एव देहादौ प्रयुज्यमानोऽहंगौरइत्यादिज्ञानानां भ्रमत्वमावेदयति, परत्र परशब्दप्रयोगस्यारोपव्याप्यत्वादित्याह — अन्यइति। तत्त्वतो वस्तुतः एकार्थाभ्याम् एकः केवलः सर्वान्तरात्माऽर्थोऽभिधेयः फलरूपं प्रयोजनं च ययोरहंशब्दबोधयोस्तावेकार्थौ, ताभ्याम्। अहमिति शब्दस्य शुद्धात्मैवाभिधेयः, अहमित्याकारकबोधस्य च वृत्तिरूपस्य स एव फलमिव फलम् इति। एतादृशाभ्यामहंशब्दबोधाभ्यामयमात्माऽर्थत्वेनाऽन्यः। ईदृशोऽपि अहंशब्दबोधयो र्भिन्नार्थं नानाविधं देहादिरूपमर्थं मन्यते, तत्राहंशब्दं प्रयुङ्क्ते, अहमित्यभिमन्यते च यत आत्मबोधेन रहितः, तथा च स्फुटमस्य भ्रान्तत्वमिति भावः॥ १९२॥

वर्ण–आश्रम वाला मानकर और भी बहुत तरह के देहधर्मों को (उपकुर्वाणादि एवं तत्तद्धर्मानुष्ठातृत्वादि) अपने में मानता है। ऐसे ही इंद्रियों की सकलता–विकलता को अपने में मानता है और 'मैं काणा हूँ' इत्यादि वचनों से इसे स्पष्ट व्यक्त करता है॥ १९०॥

'मैं आँख हूँ' इत्यादि रीति से इंद्रियतादात्म्य नहीं होता पर इंद्रिय के द्रष्टृत्वादि धर्मों का अध्यास अवश्य होता है। स्फुट न सही, फिर भी धर्म का अध्यास तभी होता है जब धर्मी का अध्यास हो। अतः रक्त–स्फटिक स्थल में भी सांप्रदायिकों ने अनिर्वचनीय ख्याति ही मानी है। इसीलिए संसर्गाध्यास में भी अधिष्ठान को संसर्ग से अध्यस्त कहा जाता है, तभी अन्योन्याध्यास संभव है। अन्यथा अध्यस्त का ही अध्यास माना जाता क्योंकि संसर्ग भी तो अध्यस्त ही है। अधिष्ठान का भी जो अध्यास माना है वह इस नियम को स्थापित करता है कि धर्मी के अध्यास के बिना धर्माध्यास नहीं होगा। इससे उनका निराकरण समझ लेना चाहिये जो संसर्गाध्यास को अन्यथाख्याति के रूप में स्वीकारना चाहते हैं। परमार्थतः आचार्यों ने इसीलिए घोषणा की है कि भ्रम में जो कुछ भी स्फुरित होता है वह अध्यस्त ही है। वह चाहे स्वरूप से अध्यस्त हो चाहे संसर्ग से, यह बात अलग है।

क्योंकि हम ख़ुद को देहादि से ससीम ही समझते हैं इसलिए हमें तादात्म्याभिमान नहीं है ऐसा कह नहीं सकते यह स्पष्ट करते हैं — एक शरीर में तादात्म्याभिमान (अभेदनिश्चय) कर उस शरीर से भिन्न किसी को 'यह मैं हूँ' ऐसा नहीं मानता। यों निश्चय करता है कि 'मैं ऐसा हूँ, इससे अन्य प्रकार का नहीं हूँ। जो इससे अन्य हैं वे मैं नहीं हूँ'॥ १९१॥

तात्पर्य है कि बद्ध जीव ऐसा अनुभव नहीं करता कि मैं सर्वात्मा हूँ, सब शरीरों का अखण्ड साक्षी हूँ। जीव को भेददृष्टि ही बनी रहती है।

अध्यासाद् ममत्वादिकम्

पित्रादिकमिदं मे स्यादिदं मेऽपि न चेतरत्। इदं सर्वस्य लोकस्य शयान इति पश्यति॥ १९३॥

अकारणं क्वचिच्छोकं हर्षं वा प्रतिपद्यते। क्षुत्पिपासे प्राणधर्मावात्मन्येवाऽभिमन्यते॥ १९४॥

कामादिकान् मनोधर्मान् मत्वात्मन्येष तप्यते। असंगो निर्गुणोऽनन्त आनन्दात्मा चिदात्मकः॥ १९५॥

एवमात्मन्युपाधितादात्म्याध्यासप्रयुक्तं भेददर्शनमभिधाय तत्प्रयुक्तं बाह्यगोचरं भेददर्शनमाह — पित्रादिकमिति। इदं देवदत्तमित्रादि संज्ञं मे पितृमात्रादिकं न चेतरत् तद्भिन्नं तु मे पित्रादिकं न भवतीत्यर्थः। तथा इदं गृहादिकं मे मदीयम् इतरत्तु न। इदं देवालयनदीतीरादि सर्वलोकस्य साधारणमित्यादिभेदानज्ञाननिद्रासुप्तः स्वप्नवत् पश्यतीत्यर्थः॥ १९३॥

अकारणमिति। अप्रशस्तमनिर्वचनीयं कारणं यस्य तत्तथा। तदुक्तं महाभारते — "[1]हर्षस्थानसहस्राणि शोकस्थानशतानि च। दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥' इति। प्राणतादात्म्याध्याससूचकं तद्धर्माध्यासमाह— क्षुत्पिपासेइति॥ १९४॥

मनसोऽपि तमाह — कामादिकानिति। 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति र्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव' (बृ.१.५.३) इति श्रुत्युक्तान् धर्मान् आत्मनि मत्त्वा तप्यते। वस्तुत एष एतादृश इत्याह — असंग इत्यादि॥ १९५॥

'मैं गोरा हूँ' इत्यादि ज्ञान भ्रम हैं। क्योंकि 'मैं' शब्द का सही अर्थ है शुद्ध (गौरादि गुणहीन) आत्मा, इसलिए गोरेपन से रहित जो आत्मा उसके बोधक पद का गोरेपन वाली वस्तु के लिए प्रयोग सिद्ध करता है कि जिस अनुभव से वह शब्दप्रयोग हुआ है वह भ्रम है। जैसे 'जलाता है' शब्द आग के लिए कहा जाना चाहिए, उसे यदि लोहे के लिए कहा जाये 'लोहा जलाता है' तो मानना होगा कि लोहे को आग समझा जा रहा है जो कि भ्रम है। इस बात को बताते हैं — सर्वान्तर आत्मा रूप एक अर्थ को विषय करने वाले मैं-शब्द और मैं-ज्ञान से भिन्न जो वास्तविक मैं-अर्थ है उसे आत्मज्ञान से रहित व्यक्ति देहादि विविध अर्थ समझता रहता है॥ १९२॥

मैं-शब्द प्रयोजनरूप से (तात्पर्यत:) आत्मा को विषय करता है व मैं-ज्ञान फलरूप से विषय करता है। मैं-इस वृत्तिज्ञान का आत्मा मानो फल है। जैसे घटादि ज्ञान का फल घट का अपरोक्ष स्फुरण है वैसे अहंवृत्ति होने पर आत्मा का अपरोक्ष स्फुरण होता है इसलिए फल मान सकते हैं पर क्योंकि वृत्ति के विना भी वह स्फुरता ही रहता है इसलिए फल है नहीं। अथवा अहंज्ञान का चरम प्रयोजन यही है कि उसके मार्फत हम शुद्ध परमात्मा को समझें इसलिए उसे इसका फल कहा। यद्यपि मैं-शब्द व मैं-ज्ञान हैं आत्मा के तथापि हम इनका प्रयोग करते हैं अनात्मा के लिए। कहते हैं 'मैं चला', यहाँ चला शरीर, उसे हमने मैं कह दिया। ऐसे ही हम समझते हैं 'मैं कामुक'; यहाँ कामुक है मन, उसे हमने मैं समझ लिया। अत: स्पष्ट है कि हम भ्रांत हैं।

देहादि उपाधियों से तादात्म्य होने के कारण जो भेददर्शन होते हैं वे बताकर उसी कारण से जो बाह्यविषयक भेददर्शन होते हैं उन्हे बताते हैं — 'यह मेरा पिता है, यह मेरा घर आदि है, इससे अन्य मेरा नहीं है। यह नदी-किनारा आदि सार्वजनिक है' इत्यादि सोते हुए (अज्ञानावस्थ) देखता रहता है॥ १९३॥

कभी किसी अनिर्वाच्य कारण से शोक प्राप्त करता है, कभी हर्ष। प्राणों के धर्म भूख-प्यास को स्वयं में ही मानता है॥ १९४॥

कामना आदि मानस धर्मों को स्वयं में मानकर क्लेश पाता है। वस्तुतः यह संसर्गरहित, गुणशून्य, अभिन्न, आनंदरूप व ज्ञानस्वरूप है॥ १९५॥

आकाशदि भूतों में व प्राणिसमूहों में अच्छा-बुरा आदि नाना प्रकार का निश्चय कर यह संसार में विविध सुख-

---

१. शोकस्थानसहस्राणि हर्षस्थानशतानि चेति शान्तिपर्वणि (२५.२०) मुद्रितः पाठः। हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि चेति स्वर्गारोहणपर्वणि (५.६१) पाठः।

भूतभौतिकजातं यत्तत्र नानाविधां धियम्। कुर्वाणो विविधं दुःखं सुखं वा प्रतिपद्यते॥ १९६॥
व्यापारान् विविधांस्तेषामिन्द्रियाणां द्वयात्मनाम्। भूतानां भौतिकानां च स्वात्मन्येवाऽभिमन्यते॥ १९७॥

जागरणमपि स्वप्नः

ततो जागरणं स्वप्नः सच्चिदानन्दरूपिणः। अनन्तस्यात्मनो नित्यं स्वप्नलक्षणयोगतः॥ १९८॥
यो यथा वर्तते लोके स चेत् तत्त्वं न पश्यति। विपरीतधियाऽऽविष्टः स शयान इतीरितः॥ १९९॥
आनन्दात्माऽपि तादृक्त्वाच्छयान इति कथ्यते। करणानां नोपरमात् स्वप्नो जागरणं भवेत्॥ २००॥

भूतभौतिकजातमिति। भूतान्याकाशादीनि भौतिकानि स्थावरादीनि तेषां जातं समूहस्तत्र नानाविधामिदं समीचीनमिदमसमीचीनमित्याद्याकारां धियं कुर्वाणो विविधं सुखं दुःखं वा प्रति आभिमुख्येनैव[1] पद्यते प्राप्नोति। भेददर्शनमुख्यफलं तु जन्ममृतिप्रवाहः 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (कठ २.४.१०) इति श्रुतेरिति भावः॥ १९६॥

व्यापारानिति। द्वयात्मनां ज्ञानकर्मसाधनत्वेन द्विविधानाम्। शेषं स्पष्टम्॥ १९७॥

एवं जाग्रज्ज्ञानानामध्यासत्वे व्याख्येयश्रुतौ तत्र स्वप्नपदप्रयोग उपपन्न इत्याह — तत इत्यादित्रिभिः। ततो जाग्रज्ज्ञानानामध्यासव्याप्तत्वात् नित्यं सदा सच्चिदानन्दरूपिणोऽनन्तस्य चात्मनो यदिदं जागरणं तत् स्वप्न एव। कुतः? स्वप्नलक्षणयोगतः प्रबोधाभावे सति मिथ्यावस्तुदर्शनं[2] हि स्वप्नलक्षणं, तदत्रापि वर्तते; आत्मबोधाभावाद, दृश्यमानस्य मिथ्यात्वाच्चेत्यर्थः॥ १९८॥

एतदेव स्फुटयति — यो यथेति। यः कश्चिद् यथा वर्तते सकलेन्द्रियादिसामग्रीसम्पन्नोऽपि वर्तमानश्चेद् यदि स एव तत्त्वं वस्तुयाथात्म्यं न पश्यति किन्तु विपरीतधियाऽऽविष्टो भवति तदा शयान इत्येव व्यवह्रियते लोके। तदज्ञानं च स्वप्न इति। तथा च विपरीतदर्शनं स्वप्नलक्षणं लब्धं, तच्च प्रकृतेऽपीति भावः॥ १९९॥

तदेवाह — आनन्दात्मापीति। तादृक्त्वाद् विपरीतधियाविष्टत्वाद्। अतो जागरणं यत् स्वप्न इत्युच्यते तदिन्द्रियाणामुपरमादिन्द्रियोपरमसाधर्म्येण न, किन्तु विपरीतदर्शनलक्षणं साधर्म्यमादायैवेति भावः॥ २००॥

दुःख पाता रहता है॥ १९६॥

ज्ञान व कर्म के साधन द्विविध इंद्रियों के नाना प्रकार के व्यापारों को तथा भूत-भौतिक वस्तुओं के व्यापारों को अपने में मान लेता है॥ १९७॥

क्योंकि जाग्रदवस्था के ज्ञान सदा अध्यास से व्याप्त हैं इसलिए सच्चिदानंदस्वरूप अनंत आत्मा का जो जागरण है वह भी स्वप्न ही है कारण कि स्वप्न का लक्षण उसमें भी संगत होता है॥ १९८॥

जो व्यक्ति यथायोग्य इंद्रियादि वाला हो पर वस्तु की यथार्थता न देख विपरीत निश्चय वाला हो जाये वह लोक में सोया हुआ (सपना देखता हुआ) कहा जाता है॥ १९९॥

आनंदरूप आत्मा भी इसी तरह यथार्थज्ञान से रहित और विपरीत ज्ञान वाला होने से सोया हुआ कहा जा रहा है। इंद्रियों का उपरत होना रूप समानता से जागरण स्वप्न नहीं है क्योंकि ऐसी समानता है नहीं॥ २००॥

यहाँ स्पष्ट किया कि भेददर्शन का मुख्य फल है अनवरत जन्म-मरण पाते रहना। भेददृष्टि से ही कर्मों में अभिमान कर फलभोग में अभिमान होता रहता है। सही ज्ञान न रहे और ग़लत ज्ञान हो जाये यह सपने का सीधा स्वरूप है। हमारी जाग्रदवस्था में हमें अपना सही ज्ञान नहीं है और अनंत ग़लत ज्ञान हैं। अतः कहने को जागरण होने पर भी है वह भी हमारी स्वप्नावस्था ही। इसलिए इन्द्रियों का उपराम होना व न होना, इस भेद के रहने पर भी जाग्रद् को स्वप्न समझना संगत है।

---

१. संसार एवेत्यर्थः। २. सुषुप्तावतिव्याप्तिवारणाय विशेष्यदलम्। आहार्ये मागादित्यतः सत्यन्तभागः।

स्वप्नावस्थावर्णनम्

एवं जागरणे स्वप्नान् दृष्ट्वा बहुविधान् विभुः। इन्द्राणीसहितः श्रीमान् मनःप्रासादमाविशत्॥ २०१॥
अनन्तभवसम्भूतवासनावासितं मनः। तत्तत्कर्मानुसारेण स्वात्मानं दर्शयत् सदा॥ २०२॥
ज्ञानकर्मेन्द्रियैः शून्यस्तत्र देवः सवासनः। मानसं वासनाचित्रं विलोकयति कर्मगः॥ २०३॥
तत्रात्मनि तथा दृश्ये नियतं नैव पश्यति। तत्र दृश्यो गजः क्वापि तरुर्भवति तत्क्षणात्॥ २०४॥

एवं जाग्रदवस्थां मिथ्यारूपां प्रपञ्च्य स्वप्नावस्थां प्रपंचयति — एवं जागरण इत्यादिनवभिः। मनःप्रासादमुक्तलक्षणं[1] द्वितीयम्। व्याख्यातमन्यत्॥ २०१॥

तत्रोक्तलक्षणेन्द्रेन्द्राण्योः पुरतो मनो नटवन्नानारूपाणि दर्शयतीत्याह — अनन्तेति। मनः स्वात्मानं स्वकीयं नानाविधं रूपं तत्तत्कर्मानुसारेण दर्शयद् वर्तत इति शेषः। ज्ञानाकारेण विषयाकारेण च परिणमत इति यावत्। तस्यैतादृशनिर्माण-सामर्थ्यसूचकं विशेषणम्—अनन्तेति। अनन्तभवेषु जन्मसु सम्भूता ज्ञानकर्मवासनास्ताभि र्वासितं संस्कृतम्। न केवलं स्वप्नावस्थायामेव मनः स्वात्मदर्शकं किन्तु जाग्रत्यपीत्याह — सदेति। उक्तमेतद् यद् आत्मनः साक्षाद् भोग्यं मन एव, अन्यत्तु तद्द्वारेति॥ २०२॥

प्रसिद्धजाग्रतः स्वप्नावस्थाया विशेषमाह — ज्ञानेति। ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरहितः, सवासनो जाग्रद्वासनाविशिष्टः। मानसं मनःप्रयुक्तं वासनाचित्रं वासनाकार्यं चित्रमद्भुतं कूर्चब्राह्मणे 'प्रविविक्ततर' पदेनोक्तं नाट्यं पश्यति कर्मगः स्वप्नभोगप्रदकर्मविशिष्ट इत्यर्थः। अत्र मतद्वयं बोध्यम् — मन एव स्वप्ने विषयतज्ज्ञानाकारेण परिणमत इत्येकम्। द्वितीयन्तु[2] — अज्ञानं तत्तदाकारेण परिणमते मनोनिष्ठवासना अनुसृत्येत्येतावान्मनस उपयोगः। आत्मा तु भासक एवेति। किंच, कर्तृत्वभोक्तृत्वोपाधि बुद्धिरिन्द्राणीत्वेन करणं, मनस्तु नटत्वेनेह विवक्ष्यत इत्यपि ध्येयम्। देवपदेन च स एव समष्टिरूपेण हिरण्यगर्भो, व्यष्टिरूपेण तु तैजस इति सूचितम्[3]॥ २०३॥

इस प्रकार मिथ्यारूप जाग्रदवस्था समझा कर स्वप्नावस्था के बारे में नौ श्लोकों से कहते हैं — पूर्वोक्त ढंग से जाग्रदवस्था में बहुत तरह के सपने देखकर श्रीमान् विभु (इंद्र) इन्द्राणी सहित मनोरूप महल में प्रवेश कर गया॥ २०१॥

अनन्त जन्मों में पड़ी वासनाओं के संस्कारों वाला मन उस उस कर्म के अनुसार अपने आप को सदा दिखाता रहता है॥ २०२॥

नट की तरह मन स्वप्न में इन्द्र-इन्द्राणी को विभिन्न रूप प्रदर्शित करता है। विषय और ज्ञान दोनों आकारों में मन परिणत होता रहता है। असंख्य वासनाओं से ही इसमें यह सामर्थ्य आया है। सुख-दुःख के अनुकूल परिवर्तनों का नियामक उस समय भोगोन्मुख हुआ कर्म ही है। 'सदा' से याद दिलाया कि मन जाग्रद् में भी निजरूप दिखाता रहता है क्योंकि वही आत्मा का साक्षाद् भोग्य है। स्वप्न से जाग्रत् में अंतर यह है कि जाग्रद् में आत्मा मन के द्वारा विषयसंपर्क कर लेता है जबकि स्वप्न में मन से भिन्न विषय होते ही नहीं।

जाग्रद् रूप से प्रसिद्ध अवस्था से प्रकृत स्वप्नावस्था में भेद बताते हैं — स्वप्न में भोगप्रदान करने वाले कर्मों से विशिष्ट तथा वासनायुक्त हुआ वह देव ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों से रहित हो स्वप्नावस्था में मनःप्रयुक्त वासनाकार्यभूत अद्भुत लीलायें देखता है॥ २०३॥

उस अवस्था में निज में व दृश्य में नियमित कुछ नहीं देखता। वहाँ दीखने वाला गज तत्काल कहीं पेड़ बन जाता

---

१. श्लो. १७७ तम उक्तम्। २. आद्यमतेऽस्वारस्यं वक्तुं तुकारः। तदुक्तं बिन्दुकारैः 'कः पक्षः श्रेयान्? उत्तरः। अविद्याया एव सर्वत्र अर्थाध्यास-ज्ञानाध्यासोपादानत्वेन क्लृप्तत्वाद्, मनोगतवासनानिमित्तत्वेन च क्वचिन्मनःपरिणामत्वव्यपदेशाद्' इति (पृ.३३० प्र. द्वा.)। क्वचिदिति 'स धीः स्वप्नो भूत्वे' त्यादिश्रुतौ इति तत्र व्याख्यातम्। ३. तदेतत्कूर्चब्राह्मणवार्तिके स्पष्टतरम्।

तरुश्च पर्वतः क्वापि पर्वतश्च क्वचित् तृणम्। एवं द्रष्टा क्वचिद् विप्रः शूद्रो भवति तत्क्षणात्॥ २०५॥
क्वचित् पशुः क्वचिद् देवो महाराजः क्वचित् क्षणात्। देशकालादिनियमो नात्र कश्चिद्धि विद्यते॥ २०६॥
नाडीनां विवरे स्वल्पे पश्यत्येष महोदधिम्। मेरुं चाप्यथ वा सप्तद्वीपामेतां वसुन्धराम्॥ २०७॥
रात्रौ च शयने पश्येद् वासरं सदिवाकरम्। क्वचिच्च भारते वर्षे चन्द्रार्कौ नाऽपि भक्षयेत्।
अनेनैव शरीरेण सङ्कल्पात् कुरुते रथम्॥ २०८॥

उपरतेन्द्रियत्वं जाग्रतो विशेषमभिधाय विशेषान्तरमपि दर्शयति — तत्रात्मनीति। तत्र स्वप्नावस्थायां नियतं घटो घटएव, न पट इत्येवंस्वरूपनियमः, सिंहो वन एवेत्यादिदेशनियमः, सूर्यदर्शनं दिन एवेत्यादिः कालनियमः, मृदएव घट इत्यादिनिमित्तनियमः, एतादृशनियमविशिष्टं यथा भवति तथा। स्वात्मनि दृश्ये पुरोवर्तिनि च भावान्न पश्यति किन्त्वनियतमेवेत्यर्थः। तत्र तावद् दृश्ये नियमाभावं प्रपंचयति — तत्र दृश्यइति। स्फुटम्॥ २०४॥

तरुरिति। आत्मस्वरूपे नियमाभावं दर्शयति — एवमिति॥ २०५॥ क्वचित् पशुरिति। नियमान्तराभावं दर्शयितुं प्रतिजानीते — देशेति॥ २०६॥

देशनियमाभावं स्फुटयति - नाडीनामिति। स्वप्नवहानां नाडीनां सूक्ष्माणामन्तस्तिष्ठंस्तत्रैव[१] महोदध्यादींस्त्रीन् विकल्पेन पश्यति। तथा च क्व देशनियमः? इति॥ २०७॥

कालनियमाभावं दर्शयति — रात्रौ चेति। शयने शय्यायां स्थित इति शेषः। निमित्तनियमाभावमाह — क्वचिच्चेति। भारते वर्षे खण्डे स्थितः सन्ननेनैव शरीरेण चन्द्रार्कौ नाऽपि पुरुषोऽपि भक्षयेत्। भक्षणनिमित्तं हि भक्ष्यस्य संनिहितत्वं, मुखापेक्षया स्वल्पत्वं च, भोक्तुः सामर्थ्यं च तत्सर्वमत्र नास्ति इति स्फुटम्। अन्यदुदाहरणमाह — सङ्कल्पादिति। रथस्य साधनं तक्षकाष्ठवास्यादि, तदनपेक्ष्य सङ्कल्पमात्राद् रथं कुरुते, 'अथ रथान्' (बृ.४.३.९) इत्यादिश्रुतेः। तथा च क्व नियमः? इति भावः॥ २०८॥

है, पेड़ कभी पर्वत और पर्वत कभी तिनका बन जाता है। इसी तरह देखने वाला कभी ब्राह्मण व कभी उसी क्षण शूद्र बन जाता है। कभी पशु, कभी देवता और कभी उसी समय महाराजा बन जाता है। इस अवस्था में देश काल आदि का कोई नियम नहीं है॥ २०४ - २०६॥

स्वप्न के विषय में दो मत हैं। स्वप्न में मन ही विषय और उसके ज्ञान के आकार में परिणत होता है यह कुछ लोग मानते हैं। आचार्यों का तो कहना है कि अज्ञान ही दोनों आकारों में परिणत होता है किंतु मन में स्थित वासनाओं के अनुसार, बस इतना ही उपयोग मन का है। दोनों मतों में आत्मा तो प्रकाशकमात्र है। यहाँ बुद्धि को करणरूप से और मन को नटरूप से (विषयरूप से) कहा जा रहा है। कर्तृता व भोक्तृता की उपाधि बुद्धि है जिसे रूपक में इंद्राणी कहा है। देखने वाला देव समष्टि में हिरण्यगर्भ व व्यष्टि में तैजस है। स्वप्न में वस्तुओं के स्वरूप का नियम नहीं। ऐसा नहीं कि घड़ा घड़ा ही रहेगा। वह झट से कपड़ा भी बन सकता है। ऐसे ही देश, काल, कार्यकारणभाव, कोई नियम नहीं रहते। गौडपादाचार्य ने इस विषय पर गंभीर विचार प्रस्तुत किये ही हैं।

देश व काल का अनियम हो दिखाते हैं — नाडियों के छोटे से स्थान में यह समुद्र, मेरुपर्यन्त या सात द्वीपों वाली भूमि देख लेता है॥ २०७॥

रात मे सोने पर भी सूर्यसमेत दिन देख लेता है। कभी देखता है कि भारतवर्ष में कोई मनुष्य चंद्र व सूर्य को खा रहा है। केवल इसी शरीर से अर्थात् लकड़ी आदि के बिना ही, संकल्प से रथ बना लेता है॥ २०८॥

---

१. 'अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुने'ति वैतथ्यप्रकरणादावुक्तम्। पर्वतादयो देहेऽन्तरेवोपलभ्यन्ते स्वप्ने बहिर्गन्तुमशक्यत्वादिन्द्रियैः, अन्तश्च पर्वतादयो न स्थातुमर्हन्तीति मृषात्वमेवैषामित्यर्थः। तत्रायं प्रयोगोऽदर्शि-स्वाप्ना भावाः, सत्या न भवन्ति, उचितदेशशून्यत्वाद्, रजतभुजंगादिवद्-इति।

अतो नाऽस्य विना मायां कारणं लभ्यते क्वचित्। स्वप्नो मायामयस्तेन कथ्यते वेदवादिभिः॥ २०९॥

सुषुप्तिरूपम्

इन्द्र एनं विलोक्यैव क्वचित्तमविलोक्य वा। इन्द्राण्या सहितः शीघ्रं हार्दं प्रासादमाव्रजत्॥ २१०॥
तत्रैनां सम्परिष्वज्य गताऽभेदोऽनया सह। मायाजवनिकां पश्यंस्तामप्येष न पश्यति॥
नैवात्मानं चिदानन्दं विशेषज्ञानशून्यतः॥ २११॥
आत्मनोऽनवलोकेन स्वरूपाज्ञानसत्त्वतः। अविद्यायाश्च सत्त्वेन स्वप्न एषोऽपि कीर्तितः॥ २१२॥

अस्य श्रुतिगतस्वप्नपदविवक्षितं मिथ्यात्वं दर्शयति — अतो नास्येति। वेदवादिभिः स्वप्नावस्थाप्रतिपादकश्रुतितात्पर्यविद्भिः सूत्रकारादिभिः। तथा च सूत्रं 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वाद्' (३.२.३) इति। मायामात्रं न त्वत्र परमार्थगन्धोऽपि; देशकालादिनियमः कार्त्स्न्यं तेन कार्त्स्न्येनेति भाष्योक्तसूत्रपदार्थः॥ २०९॥

अथ तृतीयं स्वप्नं सुषुप्तावस्थारूपमाह त्रिभिः — इन्द्रइति। एनं स्वप्नम्। अविलोक्य वेति जाग्रदनन्तरं स्वप्नं विलोक्यैव सुषुप्तिरिति नियमाऽदर्शनादिति भावः। हार्दं हृदवच्छिन्नाकाशरूपं तृतीयं प्रासादमिति॥ २१०॥

तत्रेति। तत्र हृदयाकाशे, एनामिन्द्राणीं भोग्यरूपां सम्परिष्वज्यानया सह गताभेदः प्राप्ताभेदो भवतीति शेषः। तत्र भोक्तृभोग्यभावो न भासत इति भावः। नन्वज्ञानरूपं भोग्यं तत्रास्त्येवेति? अत आह—मायेति। जवनिकावत्स्वकार्यवर्गाच्छादिकां मायां समष्टिव्यष्टिरूपां पश्यन्नपि साक्षिणमन्तरा ज्ञानसिद्ध्यनुपपत्तेः 'न किञ्चिदवेदिषम्' इति परामर्शानुपपत्तेश्च संभाव्यदर्शनोऽपि स्फुटं न पश्यति। अतो भोक्तृभोग्ययोरेकीभावस्तत्रोक्त इति भावः। समष्टिरूपेणेश्वरो व्यष्टिरूपेण प्राज्ञ इत्यपि बोध्यम्। ननु मायाजवनिकायाः स्फुटत्वाभावे प्रतिबन्धकाभावात् स्वरूपं जानीयात्, तथा च सुषुप्तिमात्रेण मोक्षापत्तिः? अत आह—नैवात्मानमिति। तत्र हेतुः—विशेषेति। तथा च प्रतिबन्धकाभावेऽपि शास्त्राचार्यादिसामग्र्यभावान्न स्वरूपप्रमेति भावः॥ २११॥

श्रुत्युक्तस्वप्नपदमत्राऽपि संगमयति—आत्मनइति। स्वरूपाज्ञानसत्त्वहेतोः आत्मनोऽनवलोकेनाऽप्रबोधेनाऽस्फुटाया अविद्यायाश्च मिथ्याभूतायाः साक्षिभास्यायाः सत्त्वेन एषोऽपि स्वप्नः सुषुप्तिरपि स्वप्नः श्रुतौ कीर्तितः। प्रबोधाभावे सति मिथ्यावस्तुदर्शनं स्वप्न इति लक्षणयोगादिति भावः॥ २१२॥

श्रुति ने 'स्वप्न' शब्द के प्रयोग से प्रपंच मिथ्या कहा है यह व्यक्त करते हैं — इसलिए अज्ञान के बिना इसका (स्वप्न का) कोई कारण नहीं है। अतः वेदवेत्ता स्वप्न को मायामय कहते हैं॥ २०९॥

मायामय से बताया कि स्वप्न में वास्तविकता की गंध भी नहीं है। प्रसिद्ध स्वप्न के मायामात्रत्व से यहाँ कहे तीनों स्वप्नों का मायामात्रत्व समझना चाहिये।

अब तीन श्लोकों से सुषुप्ति अवस्था रूप तीसरा सपना बताते हैं — इन्द्र इस पूर्वोक्त अवस्था को देखकर या कभी बिना देखे ही शीघ्र ही इंद्राणी सहित हृदय के भीतर होने वाले तीसरे महल में पहुँच जाता है॥ २१०॥

वहाँ इस इन्द्राणी का आलिंगन कर इसके साथ अभिन्न हो जाता है और मायारूप जवनिका (पर्दे) को देखते हुए भी उसे स्फुट नहीं देखता। विशेष ज्ञान से रहित होने के कारण चिदानंद निजरूप को भी नहीं जानता॥ २११॥

जाग्रत् के बाद नियमतः स्वप्न देखकर ही सुषुप्ति में हो ऐसा नियम नहीं है। सुषुप्ति में भोक्ता-भोग्य का भोक्तारूप से या भोग्यरूप से भान नहीं होता अतः कहा कि भोग्यरूप इंद्राणी से आलिंगित हो जाता है। मायारूप दृश्य वहाँ है तो सही पर वह अपने कार्यों को छिपाये हुए ही है। उस माया को देखते हुए भी स्फुट नहीं देखता। यदि सर्वथा न देखता तो उठकर याद न करता कि 'मैंने तब कुछ नहीं जाना', क्योंकि स्मृति तो पूर्वानुभूत की ही होती है। यदि इसे स्मृति न मानना हो तब भी अध्यस्त होने से माया को ज्ञातैकसत् ही स्वीकारना होगा। अतः सुषुप्ति में माया को जाना जाता है यह निश्चित है। तथापि उस समय 'मैं माया को जान रहा हूँ' इत्यादि कोई स्पष्ट भान होता नहीं है। यहाँ समष्टि में ईश्वर और

अपवादविचारारम्भः

त्रिस्वप्नस्त्रिगृहो देव एवं द्वारवतीस्थितः। अहंममाभिमानी स ऐक्षतेदं जनिं गतः॥ २१३॥
अहं जात इमानीह भूतानि विविधानि च। जडान्यजडरूपाणि भोक्तृभोग्यस्वरूपतः॥ २१४॥

एवमध्यारोपपरं श्रुतिग्रन्थं व्याख्यायाऽपवादपरं 'स जात' इत्यादि 'वावदिषद्' (ऐ.१.३.१३) इत्यन्तं व्याचष्टे — त्रिस्वप्न इत्यादिसप्ततिश्लोकैः। तत्र तावत्, श्रुतिगतस-इतिपदार्थभूतं पूर्वोक्तमनूद्य विचारमवतारयति। त्रयो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूपा उक्तलक्षणाः स्वप्ना यस्य स तथा। त्रयो गृहाश्चक्षुर्हृदयकमलतदन्तराकाशरूपा, वक्ष्यमाणाः पितृशरीरं मातृशरीरं पुनः पितृशरीरमित्याकारा वा, यस्य स तथा। एवमहंममाभिमानप्रयुक्तनानादुःखप्रहारैरपि प्रबोधमलभमानः। देवो द्योतनात्मकः। 'जात' पदार्थमाह — जनिं गत इति। ननु कूटस्थनित्यस्य कीदृशं जन्म? इत्यतआह — अहंममाभिमानीति। निर्विशेषप्रकाशरूपस्याहमित्याद्यभिमान एवोत्पत्तिरिति भावः। तथा च मैत्रेयिब्राह्मणेप्युक्तम् — 'स एष भूतेभ्यः समुत्थाय' (बृ.२.४.१२) इति। ननु देवस्य कथमभिमानलक्षणाऽप्युत्पत्तिः? अत उक्तं — द्वारेत्यादि। तथा च यया मायया व्यापकस्य प्रवेशः प्रयुक्तस्तयैवाभिमानोऽपीति किमनुपपन्नमिति भावः। स एवं चिरं प्रसुप्तः कृपावशेन गुरुणा कर्णे वेदान्तमहाभेर्यां प्रबोधाय ताड्यमानायां प्रबुद्ध्यमानः सन् इदं वक्ष्यमाणम् ऐक्षत — आलोचनं कृतवानित्यर्थः॥ २१३॥

आलोचनस्वरूपमाह—अहं जात इत्यादिना। येभ्यः, तानि—इति चाध्याहार्यम्। तथा च येभ्योऽहं जातो विशेषरूपेण प्रादुर्भूतस्तानीमानि भूतानि पंचाकाशादीनि मम षष्ठस्योपाधिभूतानि च जातानि सन्ति। कीदृशानि? विविधानि शरीराद्यवान्तरभेदेन विविधानि। संक्षेपतस्तु द्विविधानीत्यत आह — जडानीति। भोक्तृभोग्यस्वरूपतः — तृतीयार्थे तसिः। भोग्येन रूपेण जडानि, भोक्तृरूपेण चाऽजडानि इत्यर्थः। आत्मनि वस्तुतो भोक्तृत्वस्याऽसंभवात्तदुपाधौ प्रक्षिप्यैव-मुक्तम्। तच्च भोक्तृत्वं भूतेभ्यो जीर्णन्यासवत् तेषां सत्तया सहोपादीयमानमात्मनो द्वितीयत्वं साधयिष्यती-त्याशयः॥ २१४॥

व्यष्टि में प्राज्ञ को सौषुप्त आत्मा कहा जा रहा है। संशयादि कोई प्रतिबन्धक न होने पर भी शास्त्र आचार्य आदि सामग्री न होने से उस अवस्था में आत्मस्वरूप की प्रमा नहीं हो पाती।

सुषुप्ति को भी श्रुति ने स्वप्न कह दिया है, उसे संगत करते हुए बताते हैं — स्वरूप का अज्ञान होने से आत्मा के अदर्शन के कारण और अविद्या रहने से यह सुषुप्ति भी स्वप्न कही गयी हैं॥ २१२॥

यहाँ अज्ञानपद भावभूत अज्ञान को और अदर्शनपद उसके कारण होने वाले दर्शनाभाव को कह रहा है। वही अज्ञान स्वरूपतः अध्यस्त होने से विषयरूप से भी कहा गया है। इस प्रकार सुषुप्ति में भी यथार्थ की जानकारी न होते हुए अविद्यारूप मिथ्या वस्तु दीखती है जिससे यह भी सपना ही है। इस प्रकार अध्यारोप का प्रसंग स्पष्ट किया।

अब ऐतरेयश्रुति में आये अपवादप्रसंग की व्याख्या करते हैं — इस प्रकार तीन सपनों और तीन घरों वाला देव द्वारवती (शरीर) में स्थित है। 'मैं' और 'मेरा' ऐसा मानने वाले और पैदा हुए उस देव ने यह विचार किया॥ २१३॥

तीन अवस्थायें ही तीन सपने हैं। आँखे, हृयदकमल और हृदयान्तर्वर्ती आकाश ये तीन घर पहले कहे गये हैं। अथवा आगे भी तीन स्थान कहेंगे : पिता का शरीर, माता का शरीर और फिर पिता का शरीर। 'में-मेरा' अभिमान के कारण होने वाली भीषण दुःख की मार से भी देव सपने से उठ नहीं रहा। यहाँ देव को 'पैदा हुआ' ऐसा कहा है। यद्यपि वह निर्विशेष चेतन है तथापि देहादि में 'मैं'-अभिमान ही उसका जन्म है। माया से ही व्यापक परमेश्वर प्रवेश कर अभिमान भी कर लेता है। चिर काल सोकर कभी गुरु कृपावश जब उसके कानों के पास वेदांत की भेरी बजाता है तब आगे बताया जाने वाला विचार करता है।

देव ने जो विचार किया वह बताते हैं — मैं जिनसे उत्पन्न हुआ हूँ वे ये विविध आकाशादि भूत भोग्यरूप से जड और भोक्ता-रूप से अजड हैं॥ २१४॥

आकाशादीनि भोग्यानि स्थावरैर्जङ्गमैरपि। स्थावराणां जङ्गमानां भोक्तृता नियता न हि॥ २१५॥
जलदानादिभिर्भोग्याः स्थावरैर्जङ्गमा यतः। स्थावराणां हि भोग्यत्वं प्रसिद्धं जङ्गमैर्नृणाम्॥ २१६॥

आत्माऽद्वितीयता

भोक्तृता जडरूपस्य सर्वथा[1]नोपपद्यते। भुजेः क्रियायाः कर्तृत्वं न जडस्योपपद्यते॥ २१७॥

भूतानां भोग्यभोक्तृरूपतां स्फुटयति द्वाभ्याम् — आकाशादीनीति। तत्र आकाशादीनि बाह्यरूपाणि स्थावरजंगमकर्तृकभोगकर्मतयैव प्रसिद्धानि। स्थावरजंगमानां परस्परं यो भोक्तृभोग्यभावः स नियतो न, किन्तु कदाचित् स्थावरा भोक्तारः जंगमा भोग्याः, कदाचिज्जंगमा भोक्तारः स्थावरा भोग्या इत्यर्थः। उपकार्यत्वं भोक्तृत्वमुपकारकत्वं च भोग्यत्वमिह विवक्षितम्॥ २१५॥

एतदेवाह — जलदानादिभिरिति। जलदानादिभि र्जलप्रसेकरक्षणादिभिरुपकुर्वन्तो जंगमाः स्थावरै र्वृक्षादिभि र्भोग्याः। छायाकाष्ठादिभिरुपकुर्वन्तः स्थावराश्च जंगमै र्मनुष्यादिभिरिति प्रसिद्धमित्यर्थः॥ २१६॥

एवं भोक्तृतया भोग्यतया च प्रपञ्चस्य वर्गद्वैविध्यमुपपाद्य तच्च रूपद्वयमपि विचार्यमाणं मत्स्वरूपे पर्यवस्यत् पृथक्सत्तालक्षणं प्रपंचस्य स्वातन्त्र्यमादाय ममाऽद्वितीयत्वं बोधयतीत्याह — भोक्तृतेत्यादित्रिभिः। भोक्तृता हि भुजिधात्वर्थभोगाश्रयता, भोगश्च उपकारसाधनत्वेन ज्ञानम्। यथा राजोपकरणानि भुङ्क्ते — तान्युपकारसाधनत्वेन साक्षात्कुरुत इत्यर्थः। बुद्धिवृत्तिपर्यन्तं सर्वं चेतनस्योपकरणमेव, अभिव्यक्तिलक्षणोपकारसाधनत्वात्। अभिव्यक्तचेतनस्वरूपं तु भोक्तृभोग्यभावाभ्यां वर्जितमेव। सुखदुःखसाक्षात्कारो भोग इति लौकिकवाक्यस्याप्यत्रैवार्थे पर्यवसानम्, 'सुखदुःखतत्क्रियायाम्' (चु.उ.से.) इति धातोरच्प्रत्ययेन सुखादिसाधनत्वेन साक्षात्कार इत्यर्थलाभात्[2]। भोग्यता तु तादृशज्ञानविषयत्वम्। विषयता च चित्तादात्म्यरूपा[3]। यथा घटो ज्ञात इत्यस्य घटाकारवृत्त्यभिव्यक्तचैतन्याभिन्नसत्ताक इत्यर्थः। एवं च विषयताऽपि कल्पिततत्वमन्तरा नोपपद्यत इत्याशयेनायं ग्रन्थः। पदार्थस्तु — भोक्तृतोक्तलक्षणा जडस्यावरणरूपस्य विरोधाद् नोपपद्यते। भुजेः भुजिधात्वर्थरूपायाः क्रियायाः कर्तृत्वं स्वातन्त्र्यलक्षणं यतो नोपपद्यते न संभवतीति॥ २१७॥

भूत यद्यपि शरीर आदि भेदों से नाना प्रकार के हैं तथापि संक्षेप में जड व अजड दो प्रकार के ही हैं। आत्मा सचमुच भोक्ता हो नहीं सकता इसलिए उसकी उपाधि में ही भोक्तृत्व होगा और उपाधि भूतविकार होने से भूतरूप ही है। जैसे पुरानी धरोहर ग्रहण की जाती है ऐसे भूतों की सत्ता समेत ग्रहण किया जाता भोक्तृत्व आत्मा की अद्वितीयता सिद्ध कर देगा अर्थात् जब अपवाद द्वारा भूतों का आत्मसत्तातिरेक नहीं रहेगा तब भोक्तृत्व भी स्वतंत्र कुछ रहेगा नहीं जो आत्मा को सद्वितीय करे।

भूतों की भोग्यरूपता व भोक्तृरूपता दो श्लोकों में स्पष्ट करते हैं — आकाशादि भूत स्थावरों व जंगमों द्वारा भोग्य ही हैं। स्थावरों व जंगमों की भोक्तृता नियमित नहीं हैं, कारण कि जलसेचन आदि द्वारा जंगम प्राणी स्थावरों के भोग्य हो जाते हैं और जंगमों के भोग्य स्थावर हैं यह तो सब लोग जानते ही हैं॥ २१५ - २१६॥

यहाँ उपकार करने वाला भोग्य और जिसका उपकार करता है वह भोक्ता कहा गया है।

अब तीन श्लोकों से देव ने विचार किया कि प्रपंच के भोक्ता व भोग्य दोनों ही रूप मेरे स्वरूप में ही पर्यवसित होते हैं अतः प्रपंच की आत्मा से पृथक् सत्तारूप स्वतंत्रता न होने से मेरी अद्वितीयता ही है — जडरूप वस्तुओं की भोक्तृता सभी तरह असंगत है। भोगरूप क्रिया का कर्ता जड वस्तु नहीं हो सकती॥ २१७॥

---

१. सर्वथा जडरूपस्येत्यन्वयः। तेन चित्तादात्म्यापन्नबुद्ध्यादेर्भोक्तृता न पाषाणादेर्नापि चिन्मात्रस्येति। २. सुखमात्मधर्मस्तदुत्पादकस्य साक्षात्कार एवं दुःखेऽपि बोध्यम्। यदा सुखमात्मैव तदाप्येवम्। दुःखन्तु प्रतिकूलस्य साक्षात्कारः प्रातिकूल्यं च द्वेषविषयत्वमिति दिक्। ३. सुखदुःखयोः प्रत्यक्षत्वनियमात्।

उक्तमेतन्मयैवादौ कुतस्तस्याः फलस्य हि। भुजेः फलं प्रकाशः स्यात् प्रकाशोऽहं न चेतरः॥
इतरस्य प्रकाशत्वं मद्योगादिति चोदितम्॥ २१८॥
तस्मादहं प्रकाशः स्यां सर्वेषामिह देहिनाम्। मया न रहितं किंचित् स्वतन्त्रं वचनं वदेत्॥ २१९॥

प्रपञ्चानिर्वाच्यता

अप्यनन्ते मयि सदा भोक्तृभोग्यस्वरूपधृक्। मदज्ञानसमुत्थत्वात् प्रपञ्चो रज्जुसर्पवत्॥ २२०॥

उक्तमिति। 'अचेतनानां व्यापारे स्वातन्त्र्यं नास्ति कुत्रचिद्' (श्लो.१५४) इत्यादिग्रन्थेनेति शेषः। तर्हि भोग्यत्वमेवास्तु? इत्यत आह — कुत इत्यादि। तस्या भुजे वृंत्तिरूपायाः फलस्याऽभिव्यक्तचैतन्यरूपस्य तादात्म्यरूपमाश्रयत्वमिति शेषः। कुतः कथं संभवेद्? न कथमपीत्यर्थः। अघटितघटनापटीयसी विचारासहा च माया पूर्वं सम्बन्धोपपादिकाऽऽसीत् सा च विचारकाले पलायितेति भावः। एतदेव स्फुटयति — भुजेरिति। भुजेरन्तःकरणवृत्तिरूपायाः फलमिव फलं प्रकाशश्चैतन्यरूपः, स चाऽहमेव, 'तमेव भान्तम्' (मु. २.२.१०) इत्यादिश्रुतेः, 'यथा प्रकाशयत्येक' (गी.१३.३३) इत्यादिस्मृतेश्च। नन्वन्तःकरणस्य वृत्तिरपि प्रकाश इति चेद्? दत्तोत्तरमेतदित्याह — इतरस्येति। 'बुद्धेर्यद्यपि सार्वज्ञ्यम्' (श्लो.१६३) इत्यत्रोक्तं स्पष्टीकृतमित्यर्थः॥ २१८॥

फलितं दर्शयन् 'वावदिषद्' (ऐ.१.३.१३) इत्यन्तं वाक्यमर्थतो व्याचष्टे - तस्मादिति। सर्वेषां देहिनां समष्टिव्यष्टिरूपाणामहमेकः प्रकाशः, सर्वं च दृश्यमुत्पन्नं मदधीनम्। तथा च इह प्रपंचे किं मद्भिन्नं वावदिषत्, लेद्, वदेद् महाराजसभायां सभास्थवत् स्वतन्त्रं वाक्यमप्युच्चारयेदित्यर्थकं वाक्यं व्याख्यातमिति भावः॥ २१९॥

अस्य वाक्यस्य — मद्भिन्नं किंचिदपि कश्चिदपि किं वदेद् निरूपयितुं शक्नुयाद्? अपि तु न, तस्यानिर्वचनीयत्वाद् — इत्यर्थोऽपि संभवति। तं विस्तरेण वक्तुमुपक्रमते — अप्यनन्तइत्यादिना। अपिनाऽर्थान्तरमप्युच्यत इत्यर्थः। मयि शोधिताऽहमर्थेऽनन्ते त्रिविधपरिच्छेदहीने सर्वः प्रपञ्चः भोक्तृभोग्यरूपो मदज्ञानप्रयुक्तत्वाद् रज्जुसर्पवत् कल्पित इति शेषः। तथा च तस्य भिन्नत्वेन प्रतिपादनं दुःशकमिति भावः॥ २२०॥

मैंने यह पहले ही कहा था कि जडों में स्वतन्त्रतारूप कर्तृत्व होता नहीं, अतः भोग का फल जड में कैसे संभव होगा? भोग का फल है प्रकाश (अनावृत चैतन्य, चेतन का अनावरण) और प्रकाश केवल मैं ही हूँ, अन्य कुछ प्रकाश नहीं है। अन्यों की प्रकाशता मेरे सम्बंध से ही होती है यह कहा ही जा चुका है॥ २१८॥

इसलिए सब देहधारियों में मैं ही प्रकाश हूँ। मुझ से रहित कुछ भी स्वतंत्र नहीं है जो कोई वचन भी बोल सके॥ २१९॥

भोक्तृता कहते हैं भोग का आश्रय बनने को। उपकार के साधन रूप से जानना ही भोग करना है। जब कहते हैं 'राजा अपने उपकरणों को भोगता है' तब यही अर्थ है कि उसे यह साक्षात्कार होता है कि ये मेरे उपकार के साधन हैं। बुद्धि की वृत्ति तक सारा संसार चेतन के लिए उपकरण ही है क्योंकि उसकी अभिव्यक्तिरूप उपकार का साधन बनता है। अभिव्यक्त होने वाला चेतन स्वरूप से तो भोक्तृ-भोग्यभाव से रहित ही है। लोक में सुख-दुःख का साक्षात्कार भोग कहा जाता है। उसका भी अर्थ यही है। उपकार-साधनरूप से जिनका ज्ञान होता है वे भोग्य होते हैं। वे पदार्थ ज्ञान के विषय बनते हैं अर्थात् चेतन से तादात्म्य को प्राप्त होते हैं। 'घट जान लिया गया' का यही अर्थ है कि घटाकार वृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य से पृथक् सत्ता वाला घट नहीं रहा। अतः विषयता भी तभी संभव है जब विषय विषयी में कल्पित हो। अचेतनों की स्वतंत्रतारूप कर्तृता का निषेध श्लो.१५४ में किया था। माया से ही भोक्तृ-भोग्यभाव है, अन्यथा नहीं। वस्तुतः तो अद्वितीय शिव ही है।

श्रुति ने 'मुझ से भिन्न कौन कहेगा?' यह जो बताया उसका यह भी अर्थ है कि प्रपंच अनिर्वचनीय है अतः परमात्मा से भिन्न नहीं कहा जा सकता। इस अभिप्राय को विस्तार से समझाने के लिए उपक्रम करते हैं — मेरे अज्ञान से समुत्पन्न

अध्यस्तेऽपि च को नाम प्रपञ्च इति चिन्त्यताम्। नामरूपक्रियाणां हि समुदायात्मको न च॥ २२१॥

नामरूपक्रियात्मा प्रपञ्च इत्यस्य परीक्षा

समुदायो न भिन्नः स्यान्नाप्यभिन्न इतीरितम्। समुदायिभ्य एतद्धि पुनरत्र विचिन्त्यताम्॥ २२२॥

नामरूपक्रियाः किं स्युर्नामरूपक्रियात्मिकाः। अतद्रूपेऽप्रपञ्चत्वं तासामेव प्रसज्यते॥ २२३॥

तद्रूपत्वेऽपि किंस्वित् स्यात् तासां प्रत्येकमेव हि। त्र्यात्मकत्वमथाऽपि स्यादेकैकं चैकरूपकम्॥ २२४॥

संग्रहेणोक्तमनिर्वचनीयत्वं विस्तरेणापि स्फुटयति — अध्यस्त इत्यादिना। अध्यस्ते प्रपञ्चे श्रुतिवचनादभ्युपगतेऽपि तस्य स्वरूपादिकमपि विचार्यम्, असंभावनावारणाय, यथा श्रुत्याचार्याभ्यां बलेनाऽहं स्वीकारित इत्यनुतापो माभूदिति भावः। किं प्रपंचो नामरूपक्रियाणां समुदायरूपो वा 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म च' (बृ.१.६.१) इतिश्रुतेः? किं वा प्रत्येकरूपः? तत्र नाद्य इत्याह — नामेत्यादि॥ २२१॥

तत्र 'स किं तेभ्यो विभिन्नः स्याद्' (श्लो.१४३) इत्यादिना पूर्वमुक्तं दूषणगणं हेतुतया स्मारयति — समुदाय इति। समुदायिभ्यो भिन्नत्वपक्षेऽदर्शनम्, अभिन्नत्वपक्षे प्रत्येकं समुदायव्यवहारापत्तिरित्यादिदूषणमुक्तम्। अत्र नामादिसमुदायपक्ष एव पुन र्विचिन्त्यतां वक्ष्यमाणविधया विकल्पान्तरं क्रियतामित्यर्थः॥ २२२॥

विकल्पाकारमभिनयति — नामरूपक्रिया इति। नाम वाक्कार्यं, रूपमिन्द्रियगोचरः, क्रिया पूर्वापरीभूतात्मिका, ता नामरूपक्रियाः समुदायो यासां प्रपञ्च उच्यते, किमेता अपि नामरूपक्रियात्मिकाः, उत न? इति किंशब्दस्य 'विकल्पे किं किमुत चे' ति कोशाद् विकल्पार्थकत्वेन निषेधपक्षोऽध्याहृतः। अल्पदूषणकत्वादन्त्यपक्षं तावन्निराचष्टे - अतद्रूप इति। भावप्रधानो निर्देशः। तथा च नामरूपक्रियाणामतद्रूपत्वे नामरूपक्रियात्मकत्वाभावे तासामप्रपञ्चत्वं प्रपञ्चबाह्यत्वं प्रसज्यते। तथा च प्रपञ्चरूपाणां प्रपञ्चबाह्यत्वे व्याघातः श्रुतिविरोधश्चेति भावः॥ २२३॥

अथाद्यपक्षं दूषयितुं विकल्पयति — तद्रूपत्वेपीति। नामरूपक्रियाणां तद्रूपत्वे नामादिरूपत्वे स्वीकृतेऽपि, इदं वक्तव्यं किं तासां नामरूपक्रियाणां प्रत्येकं त्रयात्मकत्वं — नामरूपक्रियासमुदायरूपत्वं ? किं वा एकैकमेकरूपं — किं नाम नामात्मकमेव, रूपं रूपात्मकमेव क्रिया क्रियात्मिकैवेत्यर्थः॥ २२४॥

होने से भोक्तृ-भोग्यरूप धारण करने वाला यह प्रपंच मुझ अनंत में सदा वैसे ही रहता है जैसे रज्जु में सर्प। अतः वह मुझ से भिन्न नहीं कहा जा सकता॥ २२०॥

अध्यस्त होने पर भी प्रपंच है क्या — यह विचार किया जाये। नाम-रूप-क्रिया का समुदाय प्रपंच हो यह संभव नहीं॥ २२१॥

असंभावना हटाने के लिए और इस भावना को निवृत्त करने के लिए कि वेद व गुरु ने ज़बर्दस्ती मुझे अद्वैत स्वीकार कराया है, स्वयं विचार करना आवश्यक है। औपनिषद सिद्धांत की ही यह विशेषता है कि हर अधिकारी ख़ुद तत्त्व को इस जीवन में ही समझ सकता है। अंधविश्वास या मरणोत्तर आशा रखने की ज़रूरत नहीं।

नामादि का समुदाय क्यों नहीं हो सकता यह बताते हैं — यह बताया जा चुका है (श्लो.१४३) कि समुदाय समुदायियों से न भिन्न होता है, न अभिन्न। इस पर और भी सोचना चाहिये॥ २२२॥

क्या नाम-रूप-क्रियायें स्वयं नाम-रूप-क्रियात्मक हैं, या नहीं? यदि नहीं हैं तो वे ही प्रपंच नहीं रह जायेंगी॥ २२३॥

वाणी का कार्य है नाम, इंद्रिय का विषय है रूप, और क्रिया है आगे-पीछे होना। ये तीनों प्रपंच तो हैं ही। अगर प्रपंच को नामादित्रितयात्मक कहेंगे तो इन नामादि को भी नामादित्रितयात्मक होना पड़ेगा अन्यथा ये स्वयं प्रपंच के बहिर्भूत हो जायेंगे। यह श्रुतिविरुद्ध होगा व अद्वैत की हानि होगी।

आद्येऽदर्शनमेवैकमनवस्थादि चापरम्। दूषणं मूलहीनं च कल्पनं मानहानतः॥ २२५॥

प्रत्येकं त्रयात्मकत्वपक्षे दोषानाह —आद्य इति। आद्यपक्षेऽदर्शनं प्रत्येकं त्रिस्वरूपताऽनुभवाऽभाव एकं प्रथमं दूषणं गृहाणेति शेषः। न हि नाम नामात्मकं रूपात्मकं क्रियात्मकं च दृश्यत इत्यर्थः। द्वितीयमाह — अनवस्थादि चापरं दूषणमिति। अनवस्थाऽऽदिः कारणं प्रयोजकं यस्य दूषणवृन्दस्य तद् दूषणवृन्दमपरं द्वितीयं दूषणमित्यर्थः। अयं भावः— तादात्म्य द्विविधं; समवायस्थानेऽभिषिक्तम्, इतरच्च। तत्राद्ये भेदः कल्पितोऽभेदो वास्तव इत्युक्तम्। द्वितीये तु दूरस्थवृक्षादौ प्रसिद्धे भेदो वास्तवोऽभेदस्तु कल्पित इति विशेषः। तथा च वाचि स्थितस्य नाम्नो यथा घटेन तादात्म्ये भेदो वास्तवस्तद्वदत्र नाम्नि नामतादात्म्याभ्युपगमे, उद्देश्यनाम्नः सकाशाद् विधेयनाम्नो भेदाङ्गीकारे; तेनाऽपि नाम्ना नामतादात्म्यवता भवितव्यमिति तत्रान्यन्नाम, तत्रान्यदित्यनवस्था। एवं रूपक्रिययोः परै र्भिन्नत्वेन स्वीकृतयोस्तादात्म्येऽपि। नन्वनवस्थायामिष्टापत्तिरिति चेत्? तर्ह्युत्तरोत्तरागन्तुकनाम्नैव नामप्रयुक्तव्यवहारे सिद्धे पूर्वपूर्वनाम्नो वैयर्थ्यरूपो लोप एकं दूषणम्। अनेकनामविशिष्टे घटे 'केन नाम्नाऽयं व्यवहारो जनित' इति विनिगमनाऽभावो द्वितीयम्। एकत्राऽनन्तनामावगाहिप्रमाणाभावस्तृतीयमप्यापद्येतेति। तथा चोक्तं खण्डनकृद्भिः 'प्राग्लोपाऽविनिगम्यत्वप्रमाणापगमैर्भवेत्। अनवस्थितिमास्थातुरचिकित्स्या त्रिदोषता'[१] इति। तृतीयं दूषणमाह — मूलहीनं कल्पनमिति। प्रत्येकं नामादित्रितयात्मकमिति ते कल्पनं मूलहीनम्। कुतः? मानहानतः। मानैरस्या-र्थस्य त्यागादुपेक्षणादिति यावत्। न ह्यत्र प्रत्यक्षादि, न वा श्रुतिः। सा हीदं विश्वं त्रयात्मकमित्येतावदाह, न तु प्रत्येकं त्रयात्मकमिति वक्तुं शक्यं, 'यावद्वचनं वाचनिकम्' इति न्यायादिति भावः॥ २२५॥

यदि नामादि स्वयं भी नामाद्यात्मक हैं तो क्या उनमें प्रत्येक नाम-रूप-क्रियात्मक है अथवा एक-एक केवल एक-एकात्मक ही है?॥ २२४॥

अर्थात् क्या नाम केवल नामात्मक है, रूप केवल रूपात्मक व क्रिया केवल क्रियात्मक ही है?

अगर नामादि प्रत्येक नामादित्रितयात्मक हो तो क्या आपत्ति होगी यह बताते हैं — यदि प्रत्येक को नाम-रूप-क्रियात्मक कहो तो पहला दोष है कि ऐसी उपलब्धि नहीं होती (नाम कभी रूपात्मक व क्रियात्मक उपलब्ध नहीं होता, इत्यादि)। दूसरा दोष है अनवस्था आदि और तीसरा दोष है कि इस कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है॥ २२५॥

अनवस्थादि दोष यों समझने चाहिये : तादात्म्य दो तरह का होता है। एक में भेद कल्पित तथा अभेद वास्तविक होता है जैसे 'लाल घड़ा' यहाँ लाली का घड़े से तादात्म्य है अर्थात् वस्तुतः लाली घड़े से अलग नहीं है, केवल व्यवहारार्थ 'घड़े में लाली' यों घड़े और लाली का भेद कल्पित है। दूसरा तादात्म्य वह है जहाँ भेद वास्तविक और अभेद कल्पित है जैसे दूर-स्थित दो वृक्ष जब एक दीखते हैं तो उनका जो तादात्म्य भासता है उसमें अभेद ही कल्पित है। प्रकृत में नाम तो वाणी में स्थित है और उसका बाह्य घटपदार्थ से तादात्म्य है अतः यहाँ भेद वास्तविक है और नाम-नामी का अभेद कल्पित है। इसी प्रकार यदि नाम में भी नाम का तादात्म्य मानें तो दो नाम उपसिथत होते हैं एक वह जिसमें तादात्म्य है अर्थात् उद्देश्यभूत नाम और दूसरा जिसका तादात्म्य है अर्थात् विधेयभूत नाम। इन दोनों नामों में परस्पर भेद मानना ही पड़ेगा। अब जो दूसरा अर्थात् विधेयभूत नाम है उसमें भी नामतादात्म्य होगा ही अन्यथा वह नामाद्यात्मक प्रपंच न होगा। अतः विधेयभूत नाम में जिस नाम का तादात्म्य होगा वह उद्देश्य व विधेय दोनों नामों से भिन्न ही होना पड़ेगा क्योंकि विधेयरूप मानने पर आत्माश्रय व उद्देश्यरूप मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होंगे। पुनः इस तीसरे नाम में भी नामतादात्म्य चाहिये और चक्रिका से बचने के लिये वह नाम चौथा ही होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष स्पष्ट है। ऐसे ही

---

१. प्रथमपरिच्छेदे भेदखण्डने द्वितीयः श्लोकः। प्राग्लोपः पूर्वपूर्वभेदानामनुपयोगाल्लोप एको दोषः। केन भेदेन विशिष्टे को भेदस्तिष्ठतीत्यत्र विनिगमनाविरहो द्वितीयः। एकस्मिन् वस्तुनि बहवो भेदास्तिष्ठन्तीत्यत्र न किंचन प्रमाणमिति तृतीयः१ यो ह्यनवस्थामंगीकुर्यात्तन्मत एतद्दोषत्रयमापतेदेवेति श्लोकार्थः।

एकैकात्मकतायां स्यादिदमेव हि दूषणम्। नियमोऽनियमो वाऽपि न शक्यो वक्तुमञ्जसा॥ २२६॥

नाम्नोऽनिर्वचनीयता

अपि किं नाम किं रूपं का क्रियेयमिहोच्यते। शब्दो नामेति चेत् स्यात् स कोऽयमित्येव रूप्यताम्॥ २२७॥

एकैकात्मकमिति (श्लो.२२४) द्वितीयेऽपि उक्तविधमनवस्थादि दूषणमतिदिशति – एकैकात्मकतायामिति। व्याख्यातप्रायम्। किं च, नाम नामात्मकमेवेति नियमो वक्तुमशक्यः, तस्य श्रोत्रविषयत्वेन रूपत्वस्याऽपि संभवात्, पूर्वापरीभूततया क्रियात्मकत्वस्याप्युपपत्तेः। अनियमोऽपि वक्तुमनुचितः, नामत्वेनैव व्यवह्रियमाणत्वाद्। इत्याह — नियम इति। एतेनैव प्रपंचो नामादित्रयसमुदायात्मको न वा? इति विकल्पेऽन्त्या कोटिरपि समाहिता द्रष्टव्या॥ २२६॥

अथ नामादीनामेव दुर्निरूपत्वात् तत्समुदायादिरूपत्वं प्रपंचस्य दुर्निरूपमित्याह — अपि किं नामेति। स्पष्टम्। तत्र नाम विचारयति — शब्द इति। शब्दो नाम स्यादिति चेत्? सोऽयं शब्द एव क इति रूप्यतामित्यन्वयः। रूप्यतां रूपवान् लक्षणवान् क्रियतां, तस्य लक्षणं वक्तव्यमित्यर्थः॥ २२७॥

रूप व क्रिया के तादात्म्य को समझना चाहिये। अनवस्था को इष्ट मान नहीं सकते क्योंकि इस शृंखला में आने वाले अगले नाम से ही नाम के कारण होने वाला व्यवहार संभव होने से पिछले कल्पित नाम व्यर्थ हो जायेंगे। कल्पित वस्तु तो प्रयोजन साधने के लिए ही होती है। अतः निष्प्रयोजन होने पर पूर्व-पूर्व का स्वीकार ही व्यर्थ होगा और समस्त पूर्वकल्पितों का लोप होने पर अनन्तरकल्पित की स्थिति ही नहीं रह जायेगी। इसलिए उत्तरोत्तर की स्थिति के लिए यदि पूर्वकल्पितों को मान लिया जाये तो अनन्त नाम स्वीकारने होंगे, तब उनमें से किस नाम के कारण व्यवहार हो रहा है इसकी विनिगमना नहीं हो सकेगी। सभी नाम नामव्यवहार के प्रयोजक बन ही सकते हैं। तीसरी आपत्ति है कि यों अनन्त नामों में कोई प्रमाण नहीं है। उक्त अन्यथानुपपत्ति को प्रमाण नहीं कह सकते क्योंकि मायिकतारूप अन्यथा उपपत्ति है। अनवस्था मानने पर ये तीन आपत्तियाँ श्रीहर्ष ने व्यक्त की हैं। प्रश्न हो सकता है कि श्रुति ने विश्व को नामादि त्रयात्मक कहा है अतः नामादि को त्रयात्मक क्यों न माना जाये? उत्तर है कि श्रुति ने नामादि प्रत्येक को त्रयात्मक नहीं कहा इसलिए नामादि प्रत्येक त्रयात्मक मानने में कोई प्रमाण नहीं। समस्त विश्व नामादित्रयात्मक होने पर भी प्रत्येक का त्रयात्मक होना आवश्यक नहीं क्योंकि सब में होने वाला प्रत्येक में हो यह नियम नहीं जैसे 'घट' इन सब वर्णों में तो घटपदार्थबोधक सामर्थ्य है पर 'घ्' आदि प्रत्येक में वह सामर्थ्य नहीं है। इस प्रकार नामादि प्रत्येक त्रयात्मक नहीं हो सकता यह बताया।

नामादि को नामादि-आत्मक मानने पर भी यह दोष लगेगा ही यह बताते हैं — यदि नामादि प्रत्येक को केवल नामादि एक-एकात्मक मानें तो भी अनवस्थादि दोष रहेंगे ही। और भी, क्योंकि नाम भी सुना जाता है इसलिए उसमें रूप का लक्षण भी बैठ जाता है जिससे यह नियम ठीक से नहीं बन सकता कि नाम केवल नाम है, रूप नहीं। ऐसा भी नहीं कह सकते कि यह नियम है ही नहीं, क्योंकि नाम का 'नाम' ऐसा ही व्यवहार होता है, 'रूप' ऐसा उसका व्यवहार नहीं होता॥ २२६॥

यहाँ रूप का लक्षण है इंद्रिय से विषय होना। नाम भी इंद्रिय से विषय किया जाता है अतः उसे रूप भी समझा जा सकता है। ऐसे ही नाम आगे पीछे उपलब्ध होता ही है जिससे उसे क्रिया भी समझा जा सकता है। इस प्रकार प्रपंच को न तो नाम-रूप-क्रिया का समुदाय कह सकते हैं और न नामादिप्रत्येकरूप कह सकते हैं। जब स्वयं नाम आदि का ही निर्वचन संभव नहीं तो प्रपंच उनका समुदाय आदि रूप हो यह कहाँ संभव है! यह कहते हैं — और भी विचारणीय है कि इस प्रसंग में नाम रूप व क्रिया किन्हे कहा जा रहा है? यदि कहो कि शब्द को नाम कहते हैं तो पहले यही स्पष्ट किया जाये कि शब्द क्या है?॥ २२७॥

स्वस्मिन् स्वबुद्धिजनकः स चेद् वन्ध्यासुतोऽपि सः। अर्थविज्ञानजनकश्चेदसौ न ध्वनिस्तथा॥२२८॥

वर्णात्मकोऽपि नियतः सर्वेषां ज्ञानकारणम्। नाऽसौ यतो न जनयेद् बधिरादौ धियं क्वचिद् ॥२२९॥

एवं पृष्टे प्रतिवाद्युक्तलक्षणनिरसनपूर्वकं शब्दात्मकनामानिर्वचनीयत्वं साधयति – स्वस्मिन्नित्यादिसार्धपञ्चभिः। स्वस्मिन् विषये स्वबुद्धिजनकः, स्वपदाभ्यां शब्दो ग्राह्यः, बुद्धिपदेन च ज्ञानं, तयो र्विषयतासम्बन्धेन यो जनकः कारणं स शब्दः। दृश्यते हि 'उत्पन्नः शब्दः', 'अयं शब्दः' इत्याकारकशब्दबुद्धी जनयन् यथा घटः स्वविषयके घटइत्याकारके शब्दबुद्धी जनयति तद्वत्; शब्दस्य सविषयकत्वं याचितमण्डनन्यायेन ज्ञानद्वारेत्यन्यत्। तथा च स्वविषयकशब्दबुद्धिजनकत्वं शब्दलक्षणमिति चेत्? तर्हि वन्ध्यासुतादावलीकेऽतिव्याप्तिरित्याह – वन्ध्यासुतोऽपि स इति। असतो वन्ध्यासुतादेर्धर्मान्तरानभ्युपगमेऽपि अननुभावकाऽनुपाख्यादिशब्दवृत्तिविषयत्वं विकल्पज्ञानविषयत्वमत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं चेत्येते धर्मास्तान्त्रिकैरभ्युपगम्यन्त एव – इत्युक्तमद्वैतसिद्धिव्याख्याने मिथ्यात्वनिरुक्तौ ब्रह्मानन्दैः (द्र. पृ.१३७-८)। मूलकारैरपीदं वक्ष्यते 'शब्दबुद्धी असत्त्वेऽपि' (श्लो.२५८) इति श्लोकेन। तथा च विषयतासम्बन्धेन वन्ध्यासुत इत्याकारकशब्दबुद्धी स्वस्मिन् जनयति वन्ध्यासुतेऽतिव्याप्तिरिति। लक्षणान्तरं शंकते – अर्थेति। सदर्थविषयकज्ञानहेतुत्वं शब्दत्वं, नाऽलीकेऽतिव्याप्तिः, तस्याऽसत्त्वादिति। अस्य लक्षणस्य ध्वनिरूपे शब्देऽर्थविषयकबोधाऽजनकेऽव्याप्तिमाह – न ध्वनिस्तथेति। अत्र लक्षणे दोषान्तरसम्भवेपि पुरःस्फूर्तिकत्वेन प्राधान्यादव्याप्तिरेवोक्तेति ध्येयम्॥ २२८॥

ननु वर्णतादात्म्येनार्थबोधजनकत्वं शब्दलक्षणमस्तु, अस्य न ध्वनावव्याप्तिः, ध्वनेरपि वर्णव्यञ्जकस्य मीमांसकमते वर्णतादात्म्याद्, यथा जातिव्यञ्जकव्यक्तेर्जात्या तादात्म्यं तद्वद् - इत्याशंक्य; किमुक्तविधया सर्वेषां बोधजनकत्वं लक्षणं, किं वा यदीयेन्द्रियेण सम्बन्धस्तं प्रत्येव? इति विकल्प्य; तत्र नाद्य इत्याह - वर्णात्मक इति। असौ शब्दो वर्णात्मकोऽपि नियतः नियमविशिष्टः सन् सर्वेषां ज्ञानकारणं न भवति, यतः क्वचिद्बधिरादौ धियं न जनयेद् इत्यन्वयः। आदिपदेन सुप्तमूर्च्छितप्रमत्तरुग्णपरिग्रहः॥२२९॥

साढे पाँच श्लोकों में शब्द के संभावित लक्षणों का परीक्षण कर शब्दात्मक नाम अनिर्वचनीय है यह समझाते हैं – यदि कहो 'अपने को विषय करने वाले शब्द और ज्ञान का उत्पादक शब्द कहा जाता है', तब तो वन्ध्यासुत भी शब्द होने लगेगा क्योंकि वह भी स्वयं को विषय करने वाले शब्द व ज्ञान को उत्पन्न करता ही है। यदि ज्ञान में 'विद्यमानवस्तुविषयक' यह विशेषण जोड़ दें जिससे अविद्यमान वंध्यासुत व्यावृत्त हो जाये, तो भी यह लक्षण ठीक नहीं क्योंकि ध्वनिरूप शब्द ऐसा नहीं होता॥ २२८॥

वन्ध्यासुतादि में अन्य धर्म न मानने पर भी 'अननुभावक' आदि शब्द व वृत्ति की विषयता, विकल्परूप ज्ञान की विषयता और अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता, ये धर्म उनमें मानने पड़ते हैं। यह बात लघुचंद्रिका में व्यक्त की है। स्वयं आत्मपुराण में (१.२५८) भी यह स्पष्ट किया जायेगा। इसलिए 'वन्ध्यासुत' इस शब्द व ज्ञान को विषयता सम्बन्ध से खुद में उत्पन्न करने वाले वन्ध्यासुत में शब्दलक्षण की अतिव्याप्ति उचित है। यद्यपि घट में भी अतिव्याप्ति कही जा सकती थी तथापि शब्द की तुच्छता स्पष्ट करना मुख्य अभिप्राय होने से अलीक में ही उसे दिखाया है। इस प्रसंग में सर्वत्र यह याद रखना चाहिये कि सभी दोषों को दिखाने का प्रयोजन है भेद को मिथ्या या सद्भिन्न बताना। उक्तलक्षण में ही परिष्कार कर जों दूसरा लक्षण कहा उसका अर्थ है कि जिस अपने विषय में शब्द व ज्ञान उत्पन्न करे वह 'अपना' अर्थात् वह खुद विद्यमान वस्तु होनी चाहिये। अतः वंध्यासुत चाहे अपने विषय में शब्द-बुद्धि उत्पन्न कर ले फिर भी क्योंकि वह विद्यमान वस्तु नहीं है इसलिए लक्षण उसमें नहीं जायेगा। किंतु यह लक्षण ध्वनि में अव्याप्त है। नगाड़े आदि की आवाज़ को ध्वनि कहते हैं। वह भी शब्द तो है ही क्योंकि लोक में वह भी शब्द ही कहाता है किंतु वह किसी विद्यमान-वस्तु-विषयक ज्ञान का उत्पादक नहीं होता। ध्वनि का ज्ञान तो श्रोत्रेन्द्रिय से होगा। उस ध्वनि से किस विद्यमान वस्तु का ज्ञान होगा?

न चेन्द्रियस्य सम्बन्धाज्ज्ञानहेतुरितीरिते। स्वस्ति तस्मै भवेद्यस्माद् धूमोप्येवं नृणामिह॥२३०॥

न च श्रोत्रस्य सम्बन्धो विशेषस्तस्य कारणम्। तस्मिन्ननुगते धर्मे ह्यस्त्यसावप्यवारितः॥२३१॥

द्वितीयमनूद्याऽतिव्याप्त्या दूषयति- न चेन्द्रियस्येति। वर्णात्मकत्वे सति इन्द्रियसम्बन्धाज्ज्ञानहेतुः शब्दः - इति त्वया लक्षण ईरिते सत्यपि, तस्मै शब्दाय स्वस्ति खण्डनभयात्संरक्षणं न च भवेदित्यन्वयः। कुतः? यतो धूमोप्येवं स्ववाचके शब्दतादात्म्यवत्त्वे सति एव सती[1]न्द्रियसम्बन्धाद् नृणां वह्न्यादिज्ञानहेतुः, तथा च तत्रातिव्याप्तिरिति भावः॥२३०॥

नन्विन्द्रियपदेन श्रोत्रमेव विवक्षितमतो न धूमेऽतिव्याप्तिः? इत्याशंक्य, तथापि शब्दत्वजातावतिव्याप्तिरित्याह- न च श्रोत्रस्येति। श्रोत्रस्य सम्बन्धो ग्राह्यत्वरूपो विशेषः धूमादिनिष्ठेन्द्रियसम्बन्धाद्विलक्षणः तस्य शब्दसंरक्षणस्य कारणं प्रयोजकं न च सम्भवति। तत्र हेतुः - तस्मिन्नित्यादि। हि यस्मात् तस्मिन् शब्देऽनुगते सर्वत्र तादात्म्यसम्बन्धेन वर्तमाने धर्मे जातिरूपेऽपि असौ विशेषोऽस्ति। कीदृशः? अवारितः केनाऽपि रोद्धुमशक्यः। तथा च स्फुटाऽतिव्याप्तिरिति भावः। अत्र यद्यपि गुणपदनिवेशे जातावतिव्याप्तिर्न सम्भवति तथापि गुणत्वानिर्वचनीयत्वस्याकाशनिर्वचनप्रसंगे वक्ष्यमाणत्वाच्छ्रोत्रग्राह्यत्वांशो दूषित इति ध्येयम्॥२३१॥

घटशब्द तो श्रोत्रेंद्रिय से सुना जाकर घटपदार्थ का ज्ञान कराता है, ऐसे नगाड़ा आदि की ध्वनि नियमतः किसी विद्यमान वस्तु का ज्ञान नहीं कराती। यदि कहो ध्वनि स्वयं विद्यमान वस्तु है और अपना ज्ञान करा देती है अतः अव्याप्ति नहीं तो भी घटादि में अतिव्याप्ति तो रहेगी ही। अतः यह लक्षण भी ठीक नहीं।

वादी कह सकता है कि शब्द उसे कहते हैं जो वर्ण से तादात्म्य वाला होकर अर्थज्ञान का उत्पादक हो। ध्वनि वर्ण को अभिव्यक्त करती है और वर्णों से तादात्म्य वाली है ऐसा मीमांसक मानते ही हैं। जैसे जाति को व्यक्त करने वाले व्यक्ति का जाति से तादात्म्य होता है ऐसे वर्ण-व्यंजक ध्वनि का वर्ण से तादात्म्य होता है। इस लक्षण पर प्रश्न उठता है कि क्या शब्द सभी को अर्थज्ञान कराता है या जिसकी इंद्रिय से सम्बद्ध होता है उसे ही ज्ञान कराता है? सभी को ज्ञान कराने वाला मानने पर दोष देते हैं - यदि कहो 'जो वर्णात्मक होते हुए सब में ज्ञान उत्पन्न करे वह शब्द है' तब भी लक्षण असंगत है क्योंकि जिसे शब्द कहा जाता है वह भी बहरे आदि को कभी बोध नहीं कराता॥२२९॥

अब दूसरे विकल्प पर दोष देते हैं- अगर लक्षण यों बनायें 'जो वर्णात्मक होते हुए इंद्रिय के सम्बंध से ज्ञानजनक हो वह शब्द है' तो भी शब्दलक्षण की रक्षा नहीं हो सकती क्योंकि धूम भी इस तरह का होते हुए लोगों को ज्ञान करा देता है॥२३०॥

धूम पदार्थ व धूम शब्द का तादात्म्य है अतः धूमपदार्थ को वर्णात्मक कहना उचित ही है। तथा चक्षुरिन्द्रिय के संबंध से धूमपदार्थ वह्निरूप विद्यमान वस्तु का ज्ञान भी कराता है। एवं च यह लक्षण धूमद्रव्य में है जो शब्द का अलक्ष्य है, फलतः अतिव्याप्ति दोष है।

यदि उक्त लक्षण में इंद्रियपद से केवल श्रोत्रेन्द्रिय कहें तब अतिव्याप्ति न होगी यह भी नहीं है क्योंकि फिर भी शब्दत्वजाति में अतिव्याप्ति होगी ही यह बताते हैं- यह भी नहीं कह सकते कि 'वर्णात्मक होते हुए श्रोत्र सम्बंध से ज्ञानजनक को शब्द कहते हैं' क्योंकि यह लक्षण शब्द में अनुगत शब्दत्व धर्म में भी जायेगा॥२३१॥

जाति की वर्णात्मकता पूर्ववत् तादात्म्य द्वारा समझनी चाहिये। प्रत्यक्ष के विषयों की जाति व अभाव का प्रत्यक्ष मानने वालों के लिए ही उत्तर दिया है, स्वमत से नहीं। स्वमत में जातिरूप न सही, धर्मरूप शब्दत्व का श्रोत्रसंबंध मान सकते हैं इस अभिप्राय से मूल में जाति न कहकर धर्म ही कहा है। यद्यपि इस लक्षण में यदि गुण भी जोड़ दिया जाये अर्थात् ज्ञानजनक गुण को शब्द कहते हैं ऐसा कह दिया जाये, तो शब्दत्व में अतिव्याप्ति हट सकती है, तथापि गुण स्वयं

---

१. सति ज्ञानहेतुरित्यन्वयः। सति सद्वस्तुनि विषयइत्यर्थः।

अस्य तत्त्वे ध्रुवं तस्य रूपं रूपत्वमाप्नुयात्। यथा ककारे कत्वं स्यात् शब्दे वा शब्दता यथा॥
तथा घटादिषु प्रायो दृश्यते नामसंगतिः[१]॥२३२॥

रूपक्रिययोर्दुर्निरूप्यता

यथा नाम तथा रूपक्रिये अपि सुदुर्भणे। अपि क्रिया न रूपेण विहीना गृह्यते क्वचित्॥२३३॥

यथा घटेन हीना न गृह्यते पृथुबुध्नता। ततो नेयं पृथग्रूपा रूपरूपवदीरिता॥२३४॥

ननु जातिव्यक्त्योस्तादात्म्याज्जातेरपि नामत्वमस्तु–इतीष्टापत्तिमाशंक्याह– अस्य तत्त्व इति। अस्याऽनुगतधर्मस्य जातिरूपस्य तत्त्वे शब्दात्मकनामत्वे स्वीकृते सति तस्य शब्दस्य रूपं स्वरूपं रूपत्वं रूपभावमाप्नुयाद्। इन्द्रियग्राह्यत्वेन हि जात्यादिकं रूपत्वेन श्रुतौ विवक्षितम्। अधुना शब्दनिष्ठजातेरपि नामत्वाभ्युपगमे नामरूपयो र्भेदव्यवहारलोपापत्तिरिति भावः। ननु जातिरनुगता, शब्दस्त्वननुगत इति स्पष्टो भेदः? इत्याशंकावारणाय शब्दस्याप्यनुगमं सर्वत्र दर्शयति– यथा ककार इति। शब्दसंगतिः शब्दसम्बन्धः। तथा च रूपात् पृथङ्नाम निर्वक्तुमशक्यमिति भावः॥२३२॥

एवं नाम्नोऽनिर्वचनीयत्वं प्रसाध्य रूपक्रिययोरपि तदतिदिशति–यथा नामेति। सुदुर्भणे दुःखेन भणितुं निर्वक्तुं शक्ये। तत्र क्रियाया उक्तलक्षणरूपाद् यदि भेदं कश्चिद् विवेकेनानुभवगोचरं कुर्वीत तदा लक्षणमपि प्रणयेत्, तदेव तु न सम्भवति इत्याह–अपि क्रियेति॥२३३॥

दृष्टान्तमाह–यथा घटेनेति। पृथुबुध्नता पृथुर्विशालो बुध्नो मूलभागो यस्य स पृथुबुध्नः, बुध्नपदमुदरोपलक्षणं, परिशेषात् स्वल्पमुखः, तस्य भावस्तत्ता। तथा च यथा घटस्वरूपं पृथुबुध्नता घटात् पृथङ्नानुभूयते तथा पूर्वापरीभूतदण्डादिस्वरूपा क्रियेति भावः। 'मूलं बुध्नोऽङ्घ्रिरस्त्रियाम्' इत्यमरः। फलितमाह–तत इति। रूपरूपवद् रूपस्य स्वरूपवद्, यथा रूपं रूपान्न पृथक् तद्वदित्यर्थः॥२३४॥

अनिर्वाच्य है यह आकाश के लक्षण के प्रसंग में क्योंकि स्पष्ट कर देंगे इसलिए यहाँ उस पद का निवेश नहीं किया। स्वयं जो अनिर्वचनीय है वह दूसरे के निर्वचन में कैसे कारगर होगा?

कोई पूछे कि जाति-व्यक्ति का तादात्म्य होने से शब्दत्वजाति में शब्द का लक्षण जाये तो क्या हानि है? तो उत्तर देते हैं- यदि अनुगत धर्म को नाम ही मान लिया जाये तब तो शब्द अर्थात् नाम भी रूपात्मक हो जायेगा क्योंकि जाति आदि को रूपप्रपंच में ही माना जाता है। इंद्रियग्राह्य को यहाँ रूप कहा और जाति आदि इंद्रियग्राह्य हैं ही। यदि कहें कि अननुगत होते हुए जो उक्त लक्षण वाला हो वह शब्द है तब भी यह लक्षण सही नहीं होगा क्योंकि शब्द भी अनुगत होता है: जैसे ककार में कत्व होता है या जैसे शब्द में शब्दता होती है वैसे ही घटादि में प्रायः नामसम्बंध होता ही है॥२३२॥ हर प्रमेय वाच्य होने से नाम का रूप में अनुगम है ही।

नाम की अनिर्वचनीयता की तरह रूप व क्रिया को भी अनिर्वचनीय जान लेना चाहिये यह सूचित करते हैं- जैसे नाम ऐसे ही रूप और क्रिया का भी निर्वचन संभव नहीं। क्रिया भी रूप के बिना कहीं नहीं मिलती॥२३३॥

जैसे घट से अतिरिक्त पृथुबुध्नता (मोटे पेट वाला-पना) न मिलने से वह घट से भिन्न नहीं ऐसे क्रिया भी रूप से अतिरिक्त मिलने वाली न होने से वैसे ही रूप से पृथक् स्वरूप वाली नहीं है जैसे खुद रूप रूपसे पृथक् स्वरूप वाला नहीं है॥२३४॥

नाम से पृथक् कर रूप का भी निर्वचन संभव नहीं यह स्पष्ट करते हैं- क्योंकि सारा ही रूप ऐसा ज्ञान उत्पन्न करता

१. शब्दसंगतिरिति टीकापाठो भाति।

रूपं हि सकलं यस्माज्जनयेन्नामतो धियम्। तस्मान्न वस्तुतस्तत्स्यान्नरे तीक्ष्णाग्रशृङ्गवत्॥२३५॥

रूपस्य वन्ध्यासुततुल्यता

न चास्तिप्रत्ययस्तत्र जायमानो निवार्यते। अस्ति वन्ध्यासुतो नैवं प्रत्ययो नरि नास्त्यसौ॥२३६॥

न चासाविन्द्रियै र्जन्य इत्येतद् भावकारणम्। न हि गन्धधियः क्वापि चक्षुरादिस्तु कारणम्॥२३७॥

अथ नामतः पृथगनिर्वचनीयतां रूपस्य स्फुटयति– रूपं हीति। यस्मात् सकलं रूपमिन्द्रियगोचरात्मकं नामतो नामपक्षपातिनीं धियं जनयेत् तस्माद् रूपं वस्तुतो वास्तवं न स्यात् किन्तु विकल्पमात्रं तदित्यर्थः। 'वाचारम्भणम्' (छां. ६.१.४) इत्यादिश्रुतिरप्यनुकूला। ज्ञानस्य नामपक्षपातित्वं हरिणाप्युक्तम् 'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥' इति। नामत इति तसिः 'देवा अर्जुनतोऽभवन्' इतिवद् बोध्यः। तत्र दृष्टान्तः– नर इत्यादि। पर्वतशृंगवत् स्थूलं शृंगं शिर एव, अत उक्तं तीक्ष्णाग्रेति॥२३५॥

नन्वलीके नृशृंगवन्ध्यासुतादौ 'अस्ती'त्याकारकं ज्ञानं नास्ति, अस्ति तु रूपे, अतः कथं साम्यमुच्यते? इत्यत आह– न चास्तीति। तत्र नृशृंगादौ। उदाहरणमाह–अस्तीति। 'वन्ध्यासुतोऽस्ति' एवम् इत्याकारको असौ प्रत्ययो नरि पुरुषे नास्ति इति न, किन्त्वस्त्येव। सांख्यैर्विकल्परूपस्य, नैयायिकादिभिराहार्यज्ञानरूपस्य स्वीकारादिति भावः॥२३६॥

ननु रूपज्ञानवन्ध्यासुतज्ञानयो र्न साम्यम्, इन्द्रियजन्यत्वतदजन्यत्वाभ्यां विशेषाद्? इत्याशंक्य; किं सर्वेन्द्रियजन्यत्वं विशेषः, किं वा एकैकेन्द्रियजन्यत्वम्? इति विकल्प्य, तत्र नाद्य इत्याह– न चासाविति। असौ रूपप्रत्ययः। इत्येतत् सर्वेन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्वम्। भावकारणं सत्ताप्रयोजको विशेष इति न च वक्तव्यं हि यतो गन्धधियश्चक्षुरादिः कारणं न किन्तु घ्राणमेव। तथा च विशेषकल्पनेन रूपसत्तां साधयितुमिच्छतस्तव गन्धादिसत्ताऽपि गता, एवं च वृद्धिमिच्छतो मूलहानिरिति भावः॥२३७॥

है जो नाम से रूषित होता है इसलिये रूप वैसे ही वास्तविक नहीं है जैसे पुरुष पर तीखी नोक वाला सींग॥२३५॥

पूर्व में कह चुके हैं कि अलीक स्वविषयक ज्ञान उत्पन्न करता ही है। अतः नृशृंग स्वविषयक ज्ञान उत्पन्न करता ही है। वह ज्ञान विकल्पात्मक होने से नाम से रूषित ही रहता है। एवं च व्याप्ति सूचित होती है कि नाम से रूषित बुद्धि का उत्पादक असत् होता है। रूप भी जो ज्ञान उत्पन्न करता है वह नाम से रूषित होता ही है। स्वयं श्रुति ने सभी कार्यों को नाम के आधार पर रहने वाला कहा है। वाक्यपदीय में भी माना है कि ऐसा कोई ज्ञान नहीं होता जिसमें शब्द का अनुगम न हो।

रूप को 'है' समझा जाता है पर नृशृंग को 'है' नहीं समझा जाता अतः नामरूषित ज्ञानोत्पादकता समान होने पर भी दोनों में वैषम्य है। तात्पर्य है कि पूर्वोक्त व्याप्ति से यही प्रयोग बनेगा कि रूप, असत् है, नामरूषित ज्ञानोत्पादक होने से, नृशृंग की तरह। इसमें 'है-इस आकार के ज्ञान का विषय न होना' उपाधि है। नृशृंग में उपाधि व साध्य का सामानाधिकरण्य है और रूप में उपाध्यभाव से साध्याभाव है अतः वह असत् नहीं सत् ही है। इस समस्या का समाधान करते हैं– नृशृंग के विषय में भी 'है' ऐसे ज्ञान का निषेध नहीं कर सकते। 'वन्ध्यासुत है' ऐसा सुनकर मनुष्य को 'वन्ध्यासुत है' ऐसा ज्ञान नहीं होता यह नहीं कह सकते!॥२३६॥

सामग्री के अनुसार ही ज्ञान होना पड़ता है अन्यथा घटशब्द से पटज्ञान होने लगेगा और सारी व्यवस्था चौपट हो जायेगी। अतः 'वंध्यासुत है' इस शब्द से यही ज्ञान मानना होगा कि वंध्यासुत है। इससे अन्य कोई ज्ञान इस शब्द से मान नहीं सकते। स्मरण रखना चाहिये कि शब्द से अलीकाकार ज्ञान मानने वालों के पक्ष में ही यह दोष दे रहे हैं। वंध्यासुत शब्द से कोई ज्ञान होता ही नहीं ऐसा मानने वाले के पक्ष में नहीं। उसे तो पहले यह समझाना पड़ेगा कि शब्द से अत्यंत असत् का ज्ञान हो सकता है।

अथैकेन्द्रियबोध्यत्वं गन्धादे र्नासतस्तथा। तर्ह्यस्तु नरि शृंगस्य मनसा[1] बोधनं तव॥२३८॥

न हि नेत्राद्यगम्यत्वे न ग्रहः सुखदुःखयोः। वन्ध्यासुतो नरे शृंगं दुःखं वैरिणि वा सुखम्[2]॥२३९॥

द्वितीयं विशेषमनूद्य वन्ध्यांसुतेऽपि तस्य सत्त्वमाह— अथैकेन्द्रियेति। गन्धादेरस्तीति शेषः। तर्हि—एतस्मिन् विशेषेऽभ्युपगते सति तवैव मते मनसेन्द्रियेण नृशृंगस्य बोधनमस्तु, कः प्रतिबध्नाति, त्वं च किमपलपसि? एवं चायमपि विशेषो नास्तीति भावः॥२३८॥

ननु मनस इन्द्रियपारतन्त्र्यं वन्ध्यासुतज्ञाने प्रतिबन्धकम्? इत्याशंक्य; तत्पारतन्त्र्यस्य कादाचित्कत्वेन सुखादिज्ञानान्यनेकानि साधयतो मनसो वन्ध्यासुतज्ञाने को भारः? इत्याशयेनाह— न हीति। नेत्राद्यगम्यत्वे सति सुखदुःखयो र्ग्रहो न इति न, किन्तु मनसा ते गृह्येते एवेत्यर्थः। तथा च वन्ध्यासुतो, नरे शृंगमपि ज्ञायतामिति शेषः। ननु कथमसद् ज्ञायेतेत्यत्राह—दुःखमित्यादि। वा-शब्द इवार्थे। यथा वैरिणि वर्तमानं दुःखं सुखरूपेणाऽसदपि सुखमिति ज्ञायते तद्वदिदमपि ज्ञायताम्। प्रसिद्धं हि लोके—वैरी दुःखितोऽपि सुखीति मन्यत इति॥२३९॥

रूप का ज्ञान इंद्रियजन्य है जबकि वंध्यासुत का ज्ञान इंद्रियजन्य नहीं, अतः दोनों की समानता नहीं; यह शंका होने पर विकल्प उठता है कि क्या रूपज्ञान की विशेषता यह है कि वह सब इंद्रियों से उत्पन्न होता है या यह है कि एक-एक इंद्रिय से उत्पन्न होता है? इनमें प्रथम पक्ष बनता नहीं यह कहते हैं- रूपज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न होता है अतः रूप सद्वस्तु है यह भी कहना उचित नहीं क्योंकि कभी भी गंधज्ञान में चक्षु आदि कारण नहीं होते॥२३७॥

एवं च सर्वेन्द्रियजन्यता यदि रूपज्ञान की मान कर रूप को सत् मानना चाहें तो क्योंकि रूप, रस आदि का ज्ञान सब इंद्रियों से नहीं होता इसलिए रूप सत् नहीं हो पायेगा।

अब द्वितीय कल्प का निराकरण करते हैं- यदि कहो कि किसी एक इंद्रिय से ज्ञेयता गंधादि में है जबकि असत् वन्ध्यासुतादि में ऐसा नहीं; तो यह भी कहना अनुचित है क्योंकि तुम्हे मनरूप इन्द्रिय से नर में सींगरूप असद् वस्तु का बोध हो सकता है॥२३८॥

अतः इन्द्रियजन्य बोध का विषय होना भी असत् से रूप की विलक्षणता बनती नहीं।

शंका हो सकती है कि मन बहिरिन्द्रियों के सहारे ज्ञान करता है, वन्ध्यासुत बहिरिन्द्रिय का विषय नहीं अतः मन से वन्ध्यासुत का ज्ञान न हो सकेगा। समाधान है कि किन्ही स्थलों में मन भले ही बहिरिन्द्रियों के पराधीन हो, परन्तु सुख आदि बहुतेरे ज्ञान मन बहिरिन्द्रियों से स्वतंत्र रहकर भी साध लेता है, अतः वन्ध्यासुत का ज्ञान होना उसके लिए कौन मुश्किल है? इस अभिप्राय से कहते हैं- नेत्रादि बहिरिन्द्रिय के अविषय होने पर भी जैसे मन से सुख-दुःख का ग्रहण हो ही जाता है वैसे मन से वन्ध्यासुत, नृशृंग, तथा दुश्मन के दुःख को सुख जाना जा सकता है॥२३९॥

दुश्मन चाहे दुःखी हो, हमें लगता है उसे बड़ा सुख है। तत्काल में वह ज्ञायमान सुख अविद्यमान वस्तु ही है। अतः असद्विषयक ज्ञान हुआ करता है यह स्पष्ट करने के लिये अंतिम उदाहरण है। सुखादि की मनोग्राह्यता वादिदृष्ट्या जाननी चाहिये।

लोकप्रसिद्ध है कि नाम व रूप परस्पर स्वतंत्र नहीं होते, इससे भी निश्चय होता है कि रूप नाममात्र है, यह बताते

---

१. बोधमात्रे मनसो हेतुत्वादसतश्च शब्दतो बोधे मनोहेतुताया अनिराकार्यत्वात्।

२. नन्वस्वतन्त्रं बहि र्मन इत्युपगमात्सुखादेरान्तरत्वान्मनोग्राह्यत्वं समस्ति नैवमसत इति चेत्? तर्ह्यस्तु वन्ध्यासुतोऽप्यान्तरः, का नो हानिः। आन्तरत्वे स्वतादात्म्येन बोधोऽहं सुखीतिवत्स्यादित्याशंक्य, इन्द्रियाग्राह्योऽपि मनोग्राह्यतां स्वतादात्म्यं विनोपदर्शयति- दुःखं वैरिणीति। वैरिनिष्ठ-सुखमान्तरमपि तस्य नेतरस्येन्द्रियग्राह्यमथापि मनसा ज्ञायते, तथाऽसदपि ज्ञायतामित्यर्थः। न च सखं नाऽसदिति वाच्यं, यन्नास्ति तदसदित्येव मया स्वीकारादिति भावः।

प्रवृत्त्यादावृते शब्दं न बोधोऽस्ति[१] विचारिणाम्। एवं शब्दादयः सर्वे सन्ति नैव निरूपिताः॥२४०॥

महाभूतमिथ्यात्वम्

न च तद्व्यतिरिक्तानि सन्ति भूतानि वै क्वचित्। तथा हि नभ इत्येतत् किं नाम भवतो मतम्॥२४१॥

अवकाशस्त्वसौ कस्माद् भवेद् वन्ध्यासुतो न ते। न च शब्दगुणत्वेन तस्य वन्ध्यासुताद् भिदा॥२४२॥

गुणगुणिताऽसम्भवः

गुणो हि गुणिनो भिन्नो नाऽसौ तस्य गुणो मतः। यथा घटात् पटो भिन्नो घटस्य न घटो भवेत्॥
अभिन्नोऽपि गुणो न स्याद् गुणो यद्वद् गुणो न हि॥२४३॥

एवं सति रूपं नाममात्रमिति लोकप्रसिद्धमव्यतिरेकं दृष्ट्वाऽपि निश्चीयत इत्याह— प्रवृत्त्यादाविति। प्रवृत्त्यादौ प्रवृत्तिपूर्वकाले, इच्छाद्वारा प्रवृत्तिकारणीभूतो यो बोधो विचारवतां स शब्दं विना नास्ति, किन्तु शब्दावगाह्येव दृष्टः। अतः सहोपलम्भान्नामरूपयोरभेदः सिद्ध इति भावः। प्रपंचव्यापिकानां नामरूपक्रियाणामनिर्वचनीयत्वविचारमुपसंहरति— एवमिति। स्पष्टम्॥२४०॥

अथ तद्व्याप्यपञ्चभूतानामनिर्वचनीयत्वं स्फुटयितुमुपक्रमते— न च तद्व्यतिरिक्तानीति। ताभ्यो नामरूपक्रियाभ्यः पृथग्भूतानीत्यर्थः। तत्र ज्येष्ठमाकाशं विचारयति— तथा हीति। किं किंस्वरूपमित्यर्थः॥२४१॥

नन्ववकाशरूप आकाशः प्रसिद्ध एव? इत्याशंक्य; एवं सति आवरणाभावाधिकरणं यत्किंचिदस्ति तदाकाशमिति लक्षणमागतं, तच्च वन्ध्यासुतेऽपि गच्छति, अलीकेऽपि अभावसम्बन्धस्य तान्त्रिकैः स्वीकृतत्वाद्— इत्याशयेनाह— अवकाश इति। ते तव कल्पनाविषय आकाश अवकाशरूपश्चेत् तर्हि वन्धयासुत एव कस्मान्नावकाशो भवेत् तस्याप्यवकाशत्वसंभवादिति भावः। शब्दगुणकत्वेन विशेषमाशंक्य तद्विघटनं प्रतिजानीत—नचेति॥२४२॥

तत्र हेतुतया भिन्नस्याऽभिन्नस्य वा गुणत्वासंभवमाह— गुणो हीति। गुणिनो भिन्नश्चेद् गुणः तर्हि तस्य गुणिनो गुणो न मतः न सम्मतः। भिन्नत्वेन प्रसिद्धयो र्गुणगुणिभावाऽदर्शनाद्। उदाहरणम्—यथेति। घटाद् भिन्नः पटो घटस्य घटो, घट्यत उपसर्जनीभूयोपकुरुत इति घटो गुणः, तथाभूतो न स्यात्। तथा अभिन्नोऽपि न गुणः स्याद्, यद्वद् यथा गन्धस्य गुणस्य तस्मादभिन्नो गन्धो गुण इति न व्यवह्रियत इत्यर्थः। कल्पितभेदेन गुणगुणिभावस्तु 'यादृशो यक्षस्तादृशो बलिः' इति न्यायेन कल्पितमेवाकाशं साधयेन्न परमार्थमिति भावः॥२४३॥

हैं—विचारकों की दृष्टि में, प्रवृत्ति से पूर्व जो ज्ञान होता है वह शब्द से अतिरिक्त नहीं होता। इस प्रकार शब्दादि सभी अनिर्वचनीय ही हैं॥२४०॥

इच्छा-संकल्पादिपूर्वक जहाँ प्रवृत्ति होती है वहाँ प्रवृत्ति से जो फल निष्पन्न होगा उसका ज्ञान प्रवृत्ति का कारण बनता है। जैसे घट बनाने की प्रवृत्ति का कारण होगा घट की इच्छा और उसका कारण होगा घट का ज्ञान। उपस्थित या पूर्वदृष्ट घट का ज्ञान कारण मान नहीं सकते क्योंकि न उसकी इच्छा है और न उसके लिए प्रवृत्ति। अतः भावी घट का ज्ञान ही कारण मानना होगा। भावी घट अभी है ही नहीं अतः उसका ज्ञान विषयहीन ही होगा। अतः वह ज्ञान वस्तुशून्य है किंतु शब्द से रूषित है। इस प्रकार नाम, रूप और क्रिया तीनों का कोई निर्वचन संभव नहीं यह स्पष्ट हुआ।

अब नामादि से व्याप्त पाँचों महाभूतों की अनिर्वचनीयता स्पष्ट करना आरंभ करते हैं— नामादि से पृथक् महाभूत भी कहीं नहीं होते। तथा हि— आप निर्वचनवादी के मत में नभ का क्या स्वरूप है?॥२४१॥

---

१. नन्वेवं ज्ञानं साकारतां व्रजेद्? मैवम्। ज्ञानं विषयाकांङ्क्षि, न तस्य सत्त्वमेवाभिलषति न वाऽसत्त्वाय द्रुह्यति, ततश्चाऽसदपि वस्तु ज्ञानविषय इति न ज्ञानसाकारतापत्तिरिति।

भेदाभेदौ न कुत्रापि दृश्येते न्यायचक्षुषा। सत्त्वे तयो र्द्वयो र्दोष उक्तस्तव बलाद् भवेत्॥२४४॥

अपि भेदस्तथाऽभेदो वस्तुनी चेद् वृथा वचः। इदं भिन्नमभिन्नं वा वस्तुनी इति नोचितम्॥२४५॥

न घटो घट इत्येवं पटो वा पट इत्यपि। उच्यते पुनरुक्तेन दोषेणाकुलितं क्वचित्॥२४६॥

ननु परमार्थयो र्भेदाभेदयोः समुच्चयः सांख्यादिसंमतोऽस्तु? इत्याशंक्याह— भेदाभेदाविति। न्यायचक्षुषा 'विरुद्धयो र्न समावेश' इति न्यायानुगृहीतबुद्धिनेत्रेण। दुराग्रहेण सत्त्वे समावेशे स्वीकृते तु तयो र्भेदाभेदयोः प्रत्येकं यो दोषो वर्णितः स तव बलाद् भवेद् आपद्येतेत्यर्थः। यथा प्रत्येकमृगयादिव्यसनदोषो व्यसनद्वयांगीकार इति भावः॥२४४॥

किं च यदा भेदाभेदयोरेवानिर्वचनीयत्वं तदा किमुत तन्निर्वाह्यानाम्? इत्याशयेन; भेदाभेदौ किं वस्तुनः स्वरूपमेव, किं वा ततः पृथग्? इति विकल्प्य, तत्र नाद्य इत्याह— अपि भेद इति। वस्तुनी वस्तुस्वरूपाभिन्ने इति चेत्? तर्हि इदं ते वचो वृथा व्यर्थं समाधानासमर्थमिति यावत्। तत्र पुनरुक्तिप्रसंगं हेतुमाह— इदं भिन्नमित्यादि। तथा सतीत्यादिः। तथा सति, 'इदं फलं वृक्षाद् भिन्नम्, इदं द्रव्यं सतोऽभिन्नं, ते इमे वस्तुनी' इति वाक्यं नोचितं स्याद्, भिन्नाऽभिन्नवस्तुपदानां प्रवृत्तिनिमित्तभेदाभावाद् 'घटः कलश' इति वाक्यवदिति भावः॥२४५॥

पुनरुक्तिं दृष्टान्तेन स्पष्टयति— न घट इति। स्पष्टम्॥२४६॥

यदि कहो 'जो क्रिया आदि में रुकावट न करे वह आकाश है' तब वन्ध्यासुत भी आकाश हो जायेगा। यह नहीं कह सकते कि शब्दगुण वाला होने से आकाश वंध्यासुत से विलक्षण है क्योंकि गुण ही सिद्ध होता नहीं। यदि गुण गुणी से भिन्न हो तब वह गुण ही नहीं होगा जैसे घट से भिन्न पट घट का गुण नहीं होता। और यदि गुण गुणी से अभिन्न होगा तब भी गुण नहीं बन सकेगा जैसे गुण से अभिन्न गुण गुण का गुण नहीं होता!॥२४२-२४३॥

यदि कल्पित भेद मानकर गुण-गुणि-भाव कहें तब कल्पित आकाश ही सिद्ध होगा, वास्तविक नहीं।

सांख्य आदि वादियों को स्वीकृत भेद-अभेद का वास्तविक समुच्चय क्यों न हो? इसका उत्तर देते हैं— युक्ति की दृष्टि से भेद व अभेद् दोनों इकट्ठे कहीं नहीं दीखते। यदि उन्हें एकत्र मान भी लें तो दोनों ही पक्षों के दोष प्राप्त हो जायेंगे॥२४४॥

'दोनों पक्ष' अर्थात् गुण-गुणी का भेद-पक्ष व उनका अभेद-पक्ष।

जब भेद-अभेद का ही निर्वचन संभव नहीं तो उनसे जिनका निर्वाह होगा उन गुणगुणिभावादि का व उसके द्वारा महाभूतादि का निर्वचन सुतरां असंभव है इस आशय से विकल्प करते हैं कि भेदाभेद क्या वस्तु का स्वरूप होते हैं या वस्तु से पृथक् होते हैं? वे वस्तु का स्वरूप होते हैं यह कहना अनुचित है यह बताते हैं— यदि भेद और अभेद को वस्तु-स्वरूप ही कहो तो यह तुम्हारा कथन व्यर्थ है क्योंकि तब 'यह भिन्न वस्तु है', 'वह अभिन्न वस्तु है' यह बोलना असंगत होने लगेगा॥२४५॥

तात्पर्य है कि भिन्न शब्द और वस्तुशब्द पर्याय हो जायेंगे। ऐसे ही अभिन्न शब्द भी वस्तुशब्द का पर्याय हो जायेगा। फलतः 'यह भिन्न है' कहो और 'यह वस्तु है' कहो एक ही अर्थ होगा। जबकि ऐसा होता नहीं है। भेद-अभेद को वस्तु का स्वरूप मानने पर भिन्न-शब्द, अभिन्न-शब्द और वस्तु-शब्द तीनों का प्रवृत्तिनिमित्त एक ही होगा जिससे यह वाक्य अनुचित होने लगेगा कि 'यह फल वृक्ष से भिन्न है, यह द्रव्य सत् से अभिन्न है, वे ये दो वस्तुयें हैं' इत्यादि।

भिन्न आदि व वस्तु शब्द से पुनरुक्ति होगी यह उदाहरण से कहते हैं— 'घट घट है' या 'पट पट है' यह पुनरुक्तिदोष वाली बात कहीं नहीं बोली जाती॥२४६॥

ऐसे ही 'भिन्न वस्तु' यह भी कहने योग्य न होगा यह अभिप्राय है।

भेदाभेदप्रसिद्ध्यर्थं भेदाभेदौ परौ यदा। ब्रूषे किञ्चित् तदा तत् स्याद् वचनं बकबन्धनम्॥२४७॥

वाय्वग्निवारिभूमीनामेवमेव गुणा न हि। तदभावे च तासां स्याद् वन्ध्यापुत्रसमानता॥२४८॥

अपि दोषादिमूढानां नभो नैवावकाशकृत्। न वायुः स्पर्शकृन्नाऽपि वह्निः पाकादिकारणम्॥२४९॥

भेदाभेदयोः पृथक्त्वरूपे द्वितीयपक्षेपि भेदाभेदधारास्वीकारेऽनवस्थादोषभयेन प्रथमभेदाभेदनिर्वाहार्थं स्वीकृतयोर्भेदाभेदयो[1] र्वस्तुमात्रत्वमेव वक्तव्यम्। तथा च प्रथमभेदाऽतिक्रमेण भेदान्तरप्रतिपादने व्यर्थः प्रयास इत्याह– भेदाभेदप्रसिद्ध्यर्थमिति। परौ प्रथमभिन्नौ यदा ब्रूषे तदा यत् किंचित् ते वचनं तद् बकबन्धनं स्याद् इत्यन्वयः। यथा कश्चिद् बकं ग्रहीतुमिच्छन्नेवमुपायं कल्पयेत्– अस्यातपे स्थितस्य मत्स्यैकाग्रचेतसः शिरसि नवनीतं प्रक्षिपामि, तस्मिन् द्रवीभूते नेत्रयोः पतितेऽन्धीभूतमेनं बध्नामि– इति, तथैव च तं बध्नीयात्। तस्य प्रयासो यथा व्यर्थः, तस्य शिरसि नवनीतप्रक्षेपाय समीपगमनकाल एव बन्धसंभवात्; तथा तव भेदाभेदान्तरं कल्पयित्वा पुनर्वस्तुस्वरूपतामभ्युपगच्छत इति भावः॥२४७॥

एवं गुणत्वाऽनिर्वचनीयत्वेनाऽऽकाशमिथ्यात्वसिद्धौ अन्यत्रापि तदतिदेशेनाह– वाय्वग्नीति। गुणं विना गुणिमिथ्यात्वं च 'वायुना हृतगन्धा भूः सलिलत्वाय कल्पते' इत्यादिना पुराणे स्पष्टम्॥२४८॥

किं चाकाशादीनामवकाशदानादिकं यल्लोकप्रसिद्धं लक्षणं, तत् किं सर्वान् प्रति, किं वा यं कंचित् प्रति? तत्राद्येऽसंभवं स्पष्टयति– अपि दोषादीतिद्वाभ्याम्। दोषो धातुवैषम्यम्। आदिपदेन योनिस्वभावादिपरिग्रहः। तै मूढानां जडीकृतानामित्यर्थः॥२४९॥

तब कहोगे कि भेदाभेद को वस्तु से पृथक् ही मान लो। किंतु यह कहना भी ठीक नहीं यह बताते हैं– भेद व अभेद को वस्तु में सिद्ध करने के लिए यदि अन्य भेद व अभेद मानो तब भी असंगत है क्योंकि वह बकबंधन की तरह ही होगा!॥२४७॥

यह अभिप्राय है: इस पक्ष में भेद को वस्तु (भेद वाले धर्मी) से भिन्न अर्थात् भेद वाला माना है। यह दूसरा भेद भी भिन्न मानना होगा। इस प्रकार पूर्वोक्त (श्लो.२२५) रीति से अनवस्थादि प्राप्त होंगे। इससे बचने के लिए अगर दूसरे भेद को वस्तु का स्वरूप ही मानें तब यह किस्सा चरितार्थ होगा– बगुला पकड़ने का उपाय कोई बताये कि बगुले के माथे पर मक्खन रख दो और उसे धूप में खड़ा कर दो। जब गर्मी से मक्खन पिघलेगा तब उसकी आँखों में आयेगा व वे बंद हो जायेंगी, तब उसे पकड़ लेना। इस उपाय में व्यर्थ-प्रयास का विधान है, क्योंकि जब मक्खन रखेंगे तभी उसे पकड़ सकते हैं। ऐसे ही दूसरे भेद की जो व्यवस्था करनी है वह पहले ही भेद की क्यों न कर ली जाये? वह व्यवस्था हो नहीं सकती यह पूर्वविकल्प की परीक्षा में बता चुके हैं।

इसलिए गुणत्व का निर्वचन न हो पाने से आकाश का निर्वचन नहीं हो सकता। ऐसे ही अन्यत्र समझना चाहिये यह बताते हैं– इसी प्रकार वायु, अग्नि, जल और भूमि, इनके भी गुण भेदेन और अभेदेन अनिर्वाच्य हैं। गुणों के अभाव में उनकी भी वंध्यासुत से समानता निश्चित है। वंध्यासुत भी तो गुणरहित ही है॥२४८॥

गुण के बिना गुणी मिथ्या होता है यह इस पुराणवचन से स्पष्ट है जिसमें कहा है कि वायु से अपहृत गंध वाली भूमि सलिल ही रह जाती है।

---

१. नाप्याद्यभेदः स्वपरनिर्वाहक इति निस्ताराय स्यात्, भिन्नश्चेद्धर्मिणो भेदस्तदाऽऽत्मानं भिन्नं च धर्मिणो भेदेन निर्वाहयेद्, भिन्न एव तु धर्मिणो भेदोऽद्यापि न सिद्ध इति कुतः स्वपरनिर्वाहकत्वम्। तदुक्तमनुभूतिस्वरूपाचार्यैः 'स्वपरनिर्वाहकत्वं च परिभाषामात्रं, व्यावृत्त्यसिद्धौ स्वपरविभागस्यैवाऽसम्भवादि'ति (मां.टिप्प.४.५३)।

न तृषां शमयेन्नीरं पृथिवी नैव धारयेत्। एवमन्येषु धर्मेषु व्यभिचारो महानिह॥२५०॥

प्रपञ्चस्य वन्ध्यापौत्रतुल्यता

दृश्यन्ते तेन भूतानि स्वप्नभूतसमानि ह। नभआदीनि भूतानि यदाऽसन्ति तदा कथम्।
तज्जः प्रपञ्चः सत्यः स्याद् वन्ध्यासुतसुतो यथा॥२५१॥

मायाऽसिद्धिः

प्रपञ्चस्य ततो जन्म माययाऽपि न सम्भवेत्। न हि वन्ध्यातनूजस्य माययापि जनि र्भवेत्।
सतां मायाविमुख्यानां जन्म दृष्टं हि मायया॥२५२॥[1]

न तृषामिति। व्यभिचारः सर्वत्राननुगमरूपः। शेषं स्पष्टम्॥२५०॥

द्वितीये, दृष्टिसमसत्ताकत्वेन स्वप्नपदार्थवन्मिथ्यात्वं प्रबोधेऽसत्त्वं च स्पष्टमित्याह– दृश्यन्त इति। पंचभूतमिथ्यात्वे सिद्धे तत्कार्यप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं सुतरां सिद्धमित्याह– नभआदीनीति। असन्ति सत्ताहीनानि; वन्ध्यासुतस्यालीकत्वात् तत्कार्यं तत्पुत्रो यथाऽसंभाव्यसत्ताकस्तद्वदित्यर्थः। शेषं स्पष्टम्॥२५१॥

एवं पंचभूतानां सकार्याणामात्मातिरेकेणाऽसत्त्वं प्रतिपाद्य तत्कारणतया प्रसिद्धाया मायाया अज्ञानप्रकृत्त्यादिपदैः प्रसिद्धाया अपि तथात्वं वक्तुं, किं मायायाः कार्यान्यथानुपपत्त्या सिद्धिः? किं वा श्रुत्या? किमथवाऽनुभवाद्? इति; तत्र न प्रथम इत्याह– प्रपञ्चस्येति। तत उक्तविधयाऽसत्त्वाद्। दृष्टान्तो– न हीति। ननु लोकेभूमिंस्थो नटः कथमसद्रूपान्तरमाकाशारूढं दर्शयति? कथं वा घटोत्कचादयोऽसतीः सेना निर्मिमाणाः श्रूयन्त इतिहासे? अत आह– सतामिति। मायाविषु मुख्यानां सतामेव जन्म नानारूपेण प्रादुर्भावो मायया निमित्तभूतया दृष्टं, न तु माया तत्र परिणाम्युपादानं, किन्तु मायाविषयीभूतो मायाव्यात्मैव तत्तद्रूपेण भासत इत्युक्तमेव[2]। तथा च न असज्जनने[3] तस्याः सामर्थ्यं दृष्टं येन सा स्वतन्त्रा कल्प्येतेति भावः॥२५२॥

और भी; आकाश का लोकप्रसिद्ध लक्षण कहा था 'जो जगह देता है'। क्या सभी को जगह दे वह आकाश है, या जिस किसी को जगह देने से आकाश हो जायेगा? यदि सभी को जगह देनी आवश्यक हो तब लक्षण ग़लत हैं यह बताते हैं– दोष आदि से मोह में पड़े लोगों के लिए नभ रुकावट न करने वाला नहीं होता (बल्कि उन्हें नभ में ही 'यह रुकावट कर रहा है' ऐसी प्रतीति होती है)। उन्हें वायु स्पर्श करने वाला नहीं होता, वह्नि उनके लिए पाक आदि का कारण नहीं होता, जल प्यास नहीं बुझाता, पृथ्वी धारण नहीं करती। इसी तरह अन्य धर्मों में भी व्यभिचार है॥२४९-२५०॥

नशे आदि में सभी को ये प्रतीतियाँ हो सकती हैं। अन्यथा भी प्रतिबंधकादि होने पर ये वस्तुएँ स्वकार्य सिद्ध नहीं कर पाती यह सर्वानुभवसिद्ध है॥

'जिस किसी को जगह देने से आकाश हो जाये' यदि यह मानें तब भी स्वप्न के पदार्थों की तरह मिथ्या ही होगा यह कहते हैं– इसलिए महाभूत निश्चय ही स्वप्नसिद्ध महाभूतों की तरह मिथ्या हैं। जब नभ आदि भूत ही असत् हैं तब उनसे उत्पन्न प्रपंच सत् क्योंकर होने लगा? क्या असत् वन्ध्यासुत का पुत्र सत् होता है?॥२५१॥

महाभूतों के कारणरूप से प्रसिद्ध माया, जिसे अज्ञान, प्रकृति आदि शब्दों से भी कहा जाता है, वह भी मिथ्या ही है यह बताना है। अतः विकल्प उठाते हैं कि माया की सिद्धि क्या कार्यों की अन्यथानुपपत्ति से होती है? या कि श्रुति

---

१. 'असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते। वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वाऽपि जायते'॥३.२८॥ 'धर्मा य इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्त्वतः। जन्म मायोपमं तेषां सा च माया न विद्यते'॥४.५८॥ इत्यादिकारिकावचांसि स्मर्तव्यानि। 'मायेत्यविद्यमानस्याख्येत्यभिप्राय' इति तत्र भाष्यम्।
२. अज्ञातात्मातिरेकेण नाज्ञानं किंचिदिष्यते वेदान्तिना इति वार्तिकादौ व्यक्तम्। ३. असतः प्रतीति र्न वार्यते, तस्य वास्तवं जन्मैव निराक्रियत इति ज्ञेयम्।

मायाया अपि विश्वस्य जनिनाशाऽस्तिहेतुता। श्रूयते सापि नास्त्येव मायाया अप्यसत्त्वतः॥२५३॥

सच्चिदानन्दरूपं स्वं यदा[१]ऽसौ नावगच्छति। तदेमां कल्पयत्येष शिशुः स्वं राक्षसं यथा॥२५४॥

शयानो बालकः क्वापि स्वदेहज्ञानवर्जितः। स्वदेहं राक्षसं मत्त्वा बिभेत्याकुलितेन्द्रियः॥२५५॥

आनन्दात्माऽहमप्येवं सच्चिद्रूपं निजं वपुः। विस्मृत्यैनां[२] कल्पितवान् आत्मनैवाऽऽत्मनि स्वयम्॥२५६॥

द्वितीयं निराचष्टे– मायाया इति। अस्तीति भावप्रधानो निर्देशः। अस्तित्वं स्थितिः। श्रूयते **'मायान्तु प्रकृतिं विद्याद्'** **(श्वे.४.१०) इत्यादिवाक्यैरिति शेषः।** सा जनिनाशास्तिहेतुताऽपि नास्त्येव तदाश्रयभूताया मायाया अप्यसत्त्वादित्यर्थः। **श्रुत्या तु साऽद्वैते बुद्ध्यवतारणायानूदितैवेति भावः॥२५३॥**

न तृतीयः; विचारविमुक्तप्रमत्ताद्यनुभवस्याऽकिञ्चित्करत्वाद्, विचारसहकृतप्रमारूपानुभवागमने तु तस्याः पलायनादित्याह–सच्चिदानन्दरूपमिति। स्वमात्मानमसावविवेक्यात्मा नावगच्छति **नानुसन्धत्ते तदेमामेष नित्यापरोक्षः** कल्पयति–**अहमज्ञ इत्यादि मन्यते। विचारकालेऽविवेकिदशायाः परोक्षत्वादसाविति प्रयोगः। दृष्टान्तः–शिशुरिति॥२५४॥**

दृष्टान्तं स्फुटयति–शयान इति। **स्पष्टम्॥२५५॥**

से? अथवा क्या अनुभव से? इनमें पहला पक्ष ग़लत है यह कहते हैं– अतः असत् होने से प्रपंच का जन्म माया से भी नहीं हो सकता। वन्ध्यासुत की उत्पत्ति माया से भी नहीं होती। मायावी आदि विद्यमान वस्तुयें ही माया से नाना रूप के प्रतीत होते हैं॥२५२॥

अतः किसी सर्वथा अविद्यमान (असत्) वस्तु को उत्पन्न करने की सामर्थ्य माया में भी स्वीकार्य न होने से उसे कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं माना जा सकता।

माया श्रुतिसिद्ध है इस पक्ष का निराकरण करते हैं– जगत् की सृष्टि- स्थिति–नाशहेतुता माया से होती है ऐसा जो शास्त्रों में सुना जाता है वह भी तात्पर्यतः नहीं है क्योंकि माया ही असत् है॥२५३॥

अद्वैत समझाने के लिए ही श्रुति ने माया का अनुवाद किया है यह तात्पर्य है।

अनुभव से माया की सिद्धि है यह भी नहीं कह सकते। अविचारशीलों के अनुभव पर तो भरोसा किया नहीं जाता और विचारपूर्वक प्रमाण से तो माया भाग ही जाती है, यह कहते हैं– जब वह जगत्स्रष्टा आत्मा ही अपने सच्चिदानंदरूप को नहीं समझता है तब वह इस अज्ञानरूप माया की वैसे ही कल्पना किये होता है जैसे शिशु खुद को ही राक्षस समझ लेता हैं॥२५४॥

सोया हुआ (अर्थात् सोकर तुरन्त उठा हुआ) बालक अपने देह के यथावत् ज्ञान से रहित होता है। ऐसे समय कभी वह अपने देह को ही राक्षस मानकर व्याकुल इंद्रियों वाला हो डरता है॥२५५॥

इसी प्रकार आनन्दरूप मैं आत्मा अपने सच्चिद्रूप शरीर को भूलकर अपने में खुद ही इसकी (माया की) कल्पना किये हुए हूँ॥२५६॥

---

१. अज्ञानकाल एवाहम्ब्रह्मेति ज्ञानस्याभावः। अज्ञानस्यानादितयाऽसावभावोप्यनादिः। नाहं मां ब्रह्म जान इत्यनुभूतिर्ज्ञानाभावं चेद्विषयीकुर्यात्तदाऽनेनाभावेन तत्समनियतमज्ञानं ज्ञायत एवेति भावः। तस्माद्यदा तदेति समानकालिकत्वमुभयोरुच्यते। प्रयोजिका त्वविद्या प्रयोज्यश्चाभावइति ज्ञेयम्। न च ज्ञानाभावादन्यदज्ञानं मास्त्विति शंक्यम्, ज्ञानमात्राभावो, ज्ञानविशेषाभावो, ज्ञानसामान्याभावो, ज्ञानप्रागाद्यभावो, ज्ञानभेदो वाऽज्ञानमिति विकल्पानां दुस्तरत्वादित्यन्यत्र विस्तरः।

२. स्मृतिरिह ज्ञानम्। विरुद्धं ज्ञानं विस्मृतिः विक्षेप इत्यर्थः। अविद्यायां विक्षेपो ज्ञापकहेतुरास्ते। अध्यासस्याविद्याव्याप्यत्वाद्यदाऽध्यासस्तदाऽविद्येति नियमादध्यासः किमित्यविद्यां न बोधयेत्। एतेन क्त्वाप्रयोगो व्याख्यातः। यद्वा विस्मृत्य अविज्ञाय अज्ञानेनेत्यर्थः। एनां विक्षेपरूपिणीं मायां कल्पितवान् पश्यामीत्यर्थः।

तत एषाऽपि नास्त्येव मयि निर्द्वयरूपिणि। नैषा मत्तो विभिन्नाऽस्ति[१] बालकादिव राक्षसः॥२५७॥

शब्दबुद्धी असत्त्वेऽपि भवेतां वस्तुनो यतः। वन्ध्यासुते हि दृष्टत्वाद् नैतयो र्मानता ततः॥२५८॥

बुद्धिपरीक्षा

अपि शब्दोऽत्र नास्त्येतदुदितं हि मया पुरा। बुद्धिश्च नाम केयं स्याद् इदं तावद् विचार्यताम्॥२५९॥

दार्ष्टान्तिके उपसंहरति— आनन्दात्मेति। एवमहमानन्दात्मा भूमा सच्चिद्रूपं निजं वपुः स्वरूपं विस्मृत्यैनां मायां कल्पितवानस्मीति शेषः। आत्मनैव विवर्तोपादानभूततयाश्रयेण, आत्मनि स्वविषयिकाम्। स्वयमिति पदेनेतरनिरपेक्षता सूचिता। विस्मृत्येति पदेन विस्मरणस्यापि तत्प्रयुक्ततया तस्या अनादिता सूचिता॥२५६॥

फलितमाह— तत इति। एषा मयि नास्त्येव। तत्र हेतुगर्भविशेषणम्— निर्द्वयेत्यादि। अद्वये द्वितीयावकाशो बाधित इति भावः। तर्हि कथमस्या भानम्? अत आह— नैषेत्यादि। तथा चाऽज्ञाते मय्येव मायादिपदै र्व्यवहार इति भावः॥२५७॥

ननु शब्दज्ञानयो र्बलेन स्वतन्त्रैव माया कुतो न स्याद्? इत्याशंक्य; स्यादेवं यदि शब्दो ज्ञानं च प्रमाणरूपे स्याताम्, इमे तु न तथा—इत्याह—शब्दबुद्धी इति। वस्तुनोऽसत्त्वेपीत्यन्वयः। मानता प्रमाणवत् स्वविषयसाधनक्षमता। अत्र यद्वक्तव्यं तच्छब्दनिरूपण उक्तमिति॥२५८॥

नन्वेवं प्रबुद्धेन भवता सम्राजाऽशेषकार्याधिकृतेषु सत्तापहरणेन दण्डितेष्वपि लोकविप्लवहेतू शब्दो मन्त्रिस्थानीया बुद्धिश्च दण्डनीयौ? इत्याशंक्य; तर्हि शब्दस्योपमर्दितत्वाद् बुद्धिमेव विचारदण्डेन प्रहरामीत्याह—अपि शब्द इति। श्लोकादावपिशब्दो वाक्यान्तरारम्भसूचकः प्रायो बोध्यः। उदितं नामविचारे। केयं किंस्वरूपा—किं बोधरूपाऽबोधरूपा[२]

इसलिए अद्वितीय मुझमें माया भी है नहीं। जैसे बालक से राक्षस पृथक् नहीं वैसे यह भी मुझ से अलग नहीं है॥२५७॥

आत्मविषयक अज्ञान का विवर्तोपादानरूप आश्रय भी आत्मा है। आत्मा में अज्ञानरूप कल्पना किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखती जबकि कार्यों की कल्पना अज्ञान की अपेक्षा रखती है। आत्मा की सच्चिद्व्यापक स्वरूपता का 'भूलना' भी माया से ही है और यह माया व 'भूलना' अनादि है। 'भूलने' से यहाँ सही जानकारी का अभाव समझना चाहिये। माया तो भूलने का प्रयोजक भावभूत अज्ञान है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि विवरणादि में अनुभव, श्रुति आदि को अज्ञान में प्रमाण माना है पर अज्ञान को स्वीकारा मिथ्या ही है। प्रकृत प्रसंग का अभिप्राय भी उसे मिथ्या बताने में है। मिथ्यारूप से अनुभवादिगम्य हो तो प्रकृत में भी कोई आपत्ति नहीं।

'माया' इत्यादि शब्दों के और 'मैं अज्ञ हूँ' इत्यादि ज्ञान के आधार पर ही स्वतंत्र माया क्यों न मानी जाये? इस शंका को हटाते हैं— वस्तु न होने पर भी क्योंकि शब्द और ज्ञान की प्रवृत्ति वन्ध्यासुतादि में देखी गयी है इसलिए शब्द व ज्ञान की प्रामाणिकता नहीं कि इनके आधार पर अज्ञान कोई सद्वस्तु सिद्ध हो जाये॥२५८॥

प्रश्न होता है कि आप श्री देव सम्राट् की तरह स्वतंत्र हैं और पूर्वोक्त विचार से काफी रहस्य समझ चुकने से संसार कार्यों के सभी अधिकारियों को आपने सत्ता हटा लेने से पदच्युत कर दिया है अतः लोक में सारे विप्लवों के हेतुभूत शब्द और ज्ञान को भी कोई दण्ड क्यों नहीं देते? उत्तर है कि शब्द का तो नाम के विचार में प्रायः नाश कर ही दिया

---

१. अभिन्नापि नास्तीत्यनुसंधेयम्। न चानयोरेकतरेण भाव्यमिति नियमः सर्पस्य रज्जो र्भिन्नाभिन्नतया दुर्निरूप्यत्वेनोभयविलक्षणत्वस्यावश्याभ्युपेयत्वात्। ततश्च भेदपक्षस्याभेदपक्षस्य च दोषा नैवावतरन्ति।

२. अबोधरूपेति। स्वतोऽबोधरूपाऽपि परतस्ताभ्रभसमर्था इत्यर्थः। न चैवं घटादिसमता विरुद्ध्यते। घटोऽपि बुद्धिसम्बद्धः सन् स्फुरत्येव। ततश्चेतरसम्बन्धाद्बोधसामर्थ्यं, स्वतस्तदभाव उभयोः समानम्।

यदि बोधो घटादेः स्याद् घटादिस्तर्हि चेतनः। तथात्वे च परापेक्षा स्फुरणे नास्य संभवेत्॥२६०॥

विपर्ययः प्रसज्येत प्रसिद्धौ भोक्तृभोग्ययोः। बुद्धिमान् हि भवेद् भोक्ता घटादिश्च तथैव सः॥२६१॥

बोधो नेन्द्रियधर्मः

न चेन्द्रियाणां बोधोऽयं दृश्यते नियतः क्वचित्। न हि चक्षु र्विजानाति शब्दं रूपं तथेतरत्॥२६२॥

वा? अन्त्ये घटादिसमायास्तस्या न स्वातन्त्र्यशंका[1]। आद्येऽपि स बोधो धर्मरूपो वा, सर्वाधिष्ठानधर्मिरूपो वा? यदि धर्मरूपः, तदा तस्य बुद्धिरूपताऽपि संभाव्येत[2]। द्वितीये तु बोधस्य मत्स्वरूपत्वात् स्वातन्त्र्यक्षमं बुद्धेः स्वरूपमेव दुर्वचमिति निर्णयाय इदं वक्ष्यमाणं बोधस्वरूपमेव तावत् प्रथमं विचार्यताम्। बोधस्वरूपनिर्णयेनैव बुद्धेरपि गतिः स्फुटीभविष्यतीति भावः॥२५९॥

तत्र तावद् बोधस्य धर्मरूपतापक्ष इदं विचार्यम्– किं बोधो विषयधर्मः? किं वा ज्ञानकरणेन्द्रियधर्मः? किं वाऽऽत्मधर्मः? किं वा बुद्धेरेव? इति विकल्प्य; तत्र नाद्य इत्याह– यदि बोध इति द्वाभ्याम्। यदि बोधो घटादे र्विषयस्य धर्मः स्यात् तर्हि घटादिश्चेतनः स्याद् बोधस्यैव चेतनत्वप्रयोजकत्वाद्। इष्टापत्तौ दोषमाह– तथात्व इति। तथात्वे चेतनत्वेऽस्य घटादेः स्फुरणे भाने परापेक्षा न स्याद्, दृश्यते च परापेक्षा, अतो न घटादिधर्मो बोध इत्यर्थः॥२६०॥

दोषान्तरमाह– विपर्यय इति। भोग्यस्य घटादेर्भोक्तृत्वेन प्रसिद्धिः स्यात् परिशेषादन्यस्य भोग्यतया इत्यर्थः। तदुपपादयति– बुद्धिमानिति। बुद्धिमान् बोधवान् हि भोक्ता उक्तलक्षणभोगाश्रयो भवेत् संभवेत्। घटादिरपि तथैव बोधवानेवेत्यर्थः॥२६१॥

द्वितीयं निराचष्टे– न चेन्द्रियाणामित्यादिषड्भिः। इन्द्रियाणि हि बोधस्यावरणाभिभावकान्तःकरणवृत्त्युत्पादक-तयोपकरणानि। उपकरणानान्तु सामर्थ्यनियमो दृष्टः, यथा सुखोपकरणानां वैदिकानां लौकिकानां च येन येन याव-

है, अब विचाररूप दण्ड से बुद्धि पर भी प्रहार करता हूँ– किं च, यह मैंने पहले ही कह दिया है कि अनुभूति क्षेत्र में शब्द कोई वास्तविक निर्वाच्य वस्तु नहीं है। बुद्धि (ज्ञान) क्या है? यह अब सोच लेना चाहिये॥२५९॥

बुद्धि क्या है अर्थात् इसका स्वरूप क्या है? क्या यह ज्ञानरूप है या अज्ञान-रूप? अज्ञानरूप हो तो घट आदि की तरह यह स्वतंत्र नहीं हो पायेगी। यदि ज्ञानरूप मानें तो भी वह ज्ञान कोई धर्म है या सब के अधिष्ठानभूत धर्मी आत्मा का स्वरूप है? यदि ज्ञान धर्मरूप हो तब बुद्धि भी धर्मरूप ही होगी और यदि ज्ञान आत्मरूप हो तब तो मुझसे स्वतन्त्र बुद्धि नामक वस्तु का निर्वचन हो नहीं पायेगा। ये सब विचार करने चाहिये यह आशय है।

ज्ञान को धर्म मानने पर भी प्रश्न होगा कि क्या वह विषय का धर्म है? या ज्ञान के करणभूत इंद्रियों का? या आत्मा का? अथवा बुद्धि का ही धर्म है? विषयधर्म तो नहीं हो सकता यह बताते हैं– बोध (ज्ञान) यदि घटादि विषय का धर्म हो तब घटादि चेतन होंगे और वैसा होने पर उनके स्फुरण के लिए उनसे अन्य किसी देवदत्तादि की अपेक्षा न होगी। (क्योंकि चेतन देवदत्तादि को स्वस्फुरणार्थ किसी अन्य की जरूरत नहीं पड़ती)॥२६०॥

घट को बोधधर्मक मानने पर भोक्ता व भोग्य की प्रसिद्धि में विपरीतता आ जायेगी क्योंकि भोक्ता वही होता है जो बोधवाला हो। घट भी बोधवाला होने पर भोक्ता हो जायेगा॥२६१॥

प्रसिद्धिविरोध से अनुभवविरोध समझना चाहिये।

---

१. स्वातन्त्र्येति। स्वतन्त्रसत्ताकत्वशंकेत्यर्थः। सत्ताऽस्वातन्त्र्ये च रज्जुसर्पादिवन्मिथ्यात्वमिति भावः।

२. बुद्धिर्धर्मरूपिण्येव स्यादित्यर्थः।

अपि क्वापि पुरः पश्चाच्चक्षू रूपं न बोधयेत्। तथा श्रोत्रादिकं क्वापि शब्दाद्यपि न बोधयेत्॥२६३॥

अपि बोधः कथं नाम भवेदिन्द्रियगोऽधुना। नहीन्द्रियेषु कुत्राऽपि बोधः किन्त्वर्थगो हि सः॥२६४॥

द्यावद् आवरणाभिभावकमुत्पाद्यते तावत्तावत् फलमाविर्भवतीति, न तु अभिव्यंग्यं[1] लब्धवतस्तथा नियमो दृष्टः, ब्रह्मविदा युगपत् सर्वानन्दानुभवात्। तथा चायमर्थः–अयं बोध इन्द्रियाणां च **धर्मो न यतः** क्वचिन्नियतो दृश्यते। **यदीमानि स्वयं बोधधर्मकाणि स्युस्तदा सर्वं प्रकाशयेयुः। न चावरणेन व्यवस्था, जडेष्वावरणाभावाद्, आवरणस्य [2]प्रकाशरूपबोधसामानाधिकरण्याभावाच्च। आत्मनि तु बोधरूप आवरणमित्यन्यत्। नियमं स्पष्टयति–** न हीत्यादि। चक्षुः शब्दं न जानाति किन्तु रूपमेव, इतरत् श्रोत्रं रूपं न जानाति किन्तु शब्दमेवेति। **अतो ज्ञायते नैषां धर्मो बोधः किन्तु एतानि तदभिव्यक्त्युपकरणानि, व्यवस्थाशालित्वादिति** भावः। **यद्वा–नियतो यत्रेन्द्रियं तत्र बोध इत्येतादृश-व्याप्तिनिरूपणशाली सन् बोध इन्द्रियसम्बन्धी क्वचिन्न दृश्यते[3], अतो न तेषां धर्मः। यो यस्य धर्मो भवति स सदा तत्र दृश्यते, यथा वह्नावुष्णस्पर्शः। शब्दस्तु मीमांसकमते नित्योऽभिव्यञ्जकाऽसान्निध्यान्न दृश्यत इत्यन्यत्। नियमाभावं स्फुटयति–** न हीत्यादि। **शब्दसान्निध्ये बधिराणां चक्षुःसत्त्वेऽपि न बोधो दृष्टः, एवमन्धानां रूपसान्निध्येऽपि। तथा चैतान्युपकरणान्येव, न बोधधर्मकाणीति भावः॥२६२॥**

अपि क्वापीति। क्वापि **कस्मिंश्चिद् देशे मनोऽनवधानकाले वा** चक्षुः पुरः **स्थितं पश्चाद् वा गतं** रूपं न बोधयेत्[4]। तथा श्रोत्रादिकं **स्वविषयम्। एषा व्यवस्था बोधधर्मकत्वबोधपक्षे नोपपद्यते, उपपद्यते तूपकरणपक्षे, उपकरणस्य प्रयोजकाधीनत्वादिति भावः॥२६३॥**

बोध इंद्रियों का धर्म नहीं यह कहते हैं– यह बोध इन्द्रियों में भी कहीं नियमित नहीं दीखता। चक्षु शब्द को व श्रोत्र रूप को नहीं जानते॥२६२॥

बोधरूप होने पर घट तक पहुँची चक्षु को घट के रसादि का भी ज्ञान होना चाहिये। संनिकर्ष वही है जो रूपदर्शन के लिए है। आवरण का अभिभव (या नाश) करने वाली अंतःकरणवृत्ति के उत्पादकं होने से इंद्रियाँ बोध के उपकरण हैं। उपकरणों में सामर्थ्य का नियम देखा जाता है। जिस उपकरण से जितना आवरण हटता है उतना ही फल प्रकाशित होता है। इन्द्रियों द्वारा आवरण हटाये जाने पर बोध फल है अतः जिस इंद्रिय से जितना आवरण हटता है उतना ही बोध प्रकाशता है। जिसकी अभिव्यक्ति होती है उस फल को जो प्राप्त हो जाता है उसके लिए आवरण हटने के अनुसार प्रकाशित होना रूप नियम नहीं रह जाता। जैसे ब्रह्मवेत्ता को सारा ही आनंद एक साथ भासता है। अतः बोध यदि इंद्रियधर्म होता तो इंद्रिय को भी युगपत् सर्वबोध हो जाता। आवरण से भी युगपत् सर्वबोध न होने की व्यवस्था नहीं बना सकते क्योंकि न तो जडों में आवरण होता है और न जहाँ प्रकाशरूप बोध हो वहाँ आवरण होता है। आत्मा में तो धर्मरूप बोध न होने से आवरण टिक जाता है। इन्द्रियों के बिना भी ज्ञान का अनुभव होने के कारण भी उसे इंद्रियधर्म नहीं कह सकते।

तथा किसी स्थल पर उपस्थित चक्षु भी आगे-पीछे की चीज़ें नहीं देखती। ऐसे ही श्रोत्रादि भी सभी शब्दादि को प्रकाशित नहीं करते॥२६३॥

---

१. आत्मस्वरूपभूतमानन्दमिति शेषः। प्रकृते च बोधमिति।

२. प्रकाशो जन्यज्ञानम्। बोधरूपेत्वात्मनीत्यन्वयः। बोधवत्यबोधासंभवेपि बोधेऽबोधसंभवइत्यर्थः।

३. वहिरिन्द्रियाभावेऽपि स्वापादौ बोधदर्शनान्नासाविन्द्रियधर्मइत्यर्थः। इंद्रियधर्मत्वे पुनः कस्य स भवेदित्यनियमोऽपि ज्ञेयः। रूपज्ञानं चक्षुर्धर्मः शब्दज्ञानं श्रोत्रधर्म इत्यादि व्यवस्थेति चेदेवमपि ज्ञानमात्रं कस्य धर्मः स्याद्धर्म्यनुगममन्तरा धर्मानुगमानुपपत्तेश्चक्षुरादेश्च व्यावृत्ततया ज्ञानधर्मी कश्चिदनुगतो वाच्यः स च न वक्तुं शक्य इति दिक्।

४. यत्र चक्षुर्गतं तत्रैव देशे पुरतः पश्चाद्वा यद्रूपं तत्र पश्यति, चक्षुषो बोधरूपत्वे दर्शनमेव युक्तम्। उपकरणत्वे तु संयोगाद्यपेक्षया दृष्ट्यदृष्टीइत्यदोष इति भावः।

यद्यन्यत्र स्थितो[२] बोधो वस्त्वन्यद्धि प्रकाशयेत्। बोधो घटस्थितः कस्मात् पटं नैव प्रकाशयेत्।
यथा कथंचिदत्रापि सम्बन्धं को निवारयेत्॥२६५॥

अपि सम्बन्धसाम्ये हि चक्षुषस्तु घटादिना। कस्माद्रसादिकं तस्य बोधे न प्रतिभाति नः॥२६६॥

इन्द्रियधर्मत्वपक्ष एव दोषान्तरमाह– अपि बोध इति द्वाभ्याम्। बोधो हि स्फुरणात्मा, स च 'घटः स्फुरति' इत्याद्यनुभवेन विषयसम्बंधो भाति। इन्द्रियेषु परोक्षेषु तु स्थितौ किं मानमिति भावः[१]॥२६४॥

ननु नैयायिकादिनये यथाऽऽत्मस्थितो बोधो घटादीन् विषयीकरोति तथेन्द्रियगोऽपि करिष्यति, सम्बन्धिद्वयस्वरूपात्मिकाया विषयतायाः सम्बन्धत्वसंभवादिति चेद्? मैवं वोचः। तेषां भावानवबोधादित्याह– यद्यन्त्रेति। यद्यन्यत्र स्थितो बोधोऽन्यद्वस्तु प्रकाशयेत् तर्हि घटस्थितो घटाकारवृत्त्याऽभिव्यक्तस्तादात्म्यसम्बन्धेन घटे स्थितो बोधः कस्मात् पटं न प्रकाशयेत्। न च सम्बन्धाभाव इत्याह– यथेति। यथाकथंचित् संबन्धं त्वदभिमतविषयतारूपं को वारयेत्। तस्मान्नैयायिकादिभि बौद्धादीनामनधिकारिणां पुरतो गौणी विषयताऽऽविष्कृता। तेषामन्तरभिमता तु अभिव्यक्तचित्तादात्म्यरूपाऽतिप्रसंगहीनाऽद्वैतबोधोपयोगिनीह प्रपंच्यत इति भावः। यदाहुरुदयनाचार्याः–

'न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्तिवृत्तिस्तद्बाधके[३] बलिनि वेदनये जयश्रीः।

नो चेदचिन्त्यमिदमीदृशमेव विश्वं तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः'॥ (आत्मत.बाह्या.श्लो.१ पृ.५२९ कलकत्ता) इति। दीधितिकारोऽप्याह–

'न्यायमधीते सर्वस्तनुते कुतुकान्निबन्धमप्यत्र।

अस्य तु किमपि रहस्यं केचन वै जानते सुधियः॥' इति॥२६५॥

अत्रैव दोषान्तरमाह– अपि सम्बन्धसाम्ये हीति। चक्षुर्निष्ठबोधेन घटादिभानस्वीकारे भवन्मते चक्षुषो यथा घटादिना संयोगरूपः सम्बन्धस्तथा घटनिष्ठरूपवद्रसादिनाऽपि संयुक्तसमवायलक्षणसम्बन्धसम्भवात् तस्य घटस्य रसादिकं कस्मान्नोऽस्मान् प्रति न भातीति वक्तव्यम्। अस्मन्मते तु यदाकारवृत्त्यभिव्यक्तचित्तादात्म्यरूपा विषयता यत्र तस्यैव भानमिति व्यवस्था वक्तुं शक्यत इति भावः॥२६६॥

और अब यह भी बताओ कि बोध इन्द्रिय में कैसे होगा? इन्द्रियों में कहीं बोध नहीं होता किन्तु अर्थगत होता है॥२६४॥

यदि अन्यत्र स्थित बोध अन्य वस्तु को प्रकाशित करे तो घटस्थित बोध पट को क्यों न प्रकाशित कर दे? चाहे जैसा सम्बन्ध यदि प्रकाशनार्थ आवश्यक हो तो घटस्थित बोध और पट के बीच वह संबंध मानने से कौन रोकता है?॥२६५॥

अभिप्राय यह है कि बोध का तो विषय से सम्बंध होता है, इंद्रियाँ तो परोक्ष हैं, उनमें बोध है इसमें क्या प्रमाण? इन्द्रियों में बोध हो तो विषय का प्रकाशन भी संभव न हो क्योंकि जहाँ बोध होगा वहीं न प्रकाशन करेगा। अतः विषय में स्थित बोध ही मानना पड़ेगा। नैयायिक विषयता रूप सम्बंध से जो व्यवस्था बनाते हैं वह भी केवल बौद्धों को समझाने

---

१. प्रकाशात्मा बोधः स्वीयमाधारमेव कथं न प्रकाशयेत्? अनुभूयते हि नैजेन बोधेन निजप्रकाशनम्। न हि अहमस्मीत्यननुभवन् घटमनुभवति कश्चित्। तथा चेन्द्रियाणां प्रात्यक्ष्यं दुर्वारं बोधस्य प्रत्यक्षत्वादिन्द्रियाविषयत्वात्। न च तानि तथा, इति न स तद्धर्म इति संक्षेपः।

२. अन्येन सम्बद्धइत्यर्थः। बोध आत्मनि, प्रकाशयति तु घटमिति तार्किकाः। तन्न संगच्छते, अन्यत्र स्थितो दीपो नान्यत्र स्थितमर्थं प्रकाशयितुमलं, काश्यां स्थितेनायोध्यायाः प्रकाशनप्रसंगात्। न च तत्र प्रकाशो गच्छतीति बोधोपीह गच्छेत्, गुणस्य तस्य गुणिनं हित्वा गत्ययोगाद्गुणिनश्चात्मनो व्यापकतयाऽगतेः। ततश्च तन्मते विषयविषयिसम्बन्धोऽसंभवीति मधुसूदनाद्याचार्यैः सुव्यक्तम्। अथकथं महर्षिभिरसंगतमताविष्कारः? इत्याशंक्य, नास्तिका आत्मानं तावन्मन्वीरंस्ततः शनै र्बोधरूपं सर्वाधिष्ठानमपि श्रुत्या ज्ञास्यन्तीति करुणया तेषां प्रवृत्तिरित्युत्तरं टीकायां व्यक्तम्। उदयनादे र्वेदान्तश्रद्धालुतां गौडब्रह्मानन्दादयोप्यूचिर इति।

३. तद्बाधने– इति मुद्रिते बौद्धधिक्कारे पाठो युक्तश्च।

ततो घटादिसंस्थश्चेद् बोधस्तेन प्रकाशनम्। तेषां भवति नाऽत्राऽसावित्येतत् प्रागुदीरितम्॥२६७॥

बोधो नात्मनो बुद्धेर्वा धर्मः

अत एव[2] न मय्येष मम तेनाऽप्रतीतितः। न बुद्धेरपि सा यस्माद् बोधादव्यतिरेकिणी॥२६८॥

इन्द्रियेषु ज्ञानाभावमुपपत्तिं दर्शयन्नुपसंहरति– तत इति। ततोऽन्यनिष्ठस्य **अन्योपकारकत्वासंभवात्, संभवे** वाऽतिप्रसंगापाताच्च। चेद् यदि घटादिसंस्थो घटादिसम्बद्धो बोधः स्यात्तदा तेन **बोधेन** तेषां घटादीनां प्रकाशनं भवति उपपद्यते, परन्तु तस्य **घटादिभिरधिष्ठानत्वेन**[1] तादात्म्यलक्षण एव सम्बन्धो वाच्यः, असौ बोधः, अत्र घटादिषु धर्मत्वेन न तिष्ठति, तेषां भोक्तृत्वप्रसंगाद् इत्येतत् प्रागुदीरितं **'यदि बोधो घटादेः'** (श्लो.२६०) इत्यादिनोक्तमित्यर्थः॥२६७॥

आत्मधर्मो बोध इति तृतीयपक्षं निराचष्टे– अत एवेति। अतोऽन्योपकारकत्वाभावापाताद्, एवमपि **आत्मन्यपि धर्मरूपतया बोधो न वर्तत इत्यर्थः। ननु मास्त्वन्योपकारः, आत्मनस्तु व्यवहाराय आत्मधर्मो बोधोऽस्तु? इत्यत आह**– मम तेनाऽप्रतीतितः इति। यदि मम धर्मो बोधस्तदा मम ततो भिन्नस्य जडत्वमापद्येत। न च घटादिवन्मयि बोधेनोपकारः शक्यः, घटादीनां बोधे कल्पितानामधिष्ठानत्वेन प्रकाशनेऽपि मम निरधिष्ठानत्वाद्, बोधस्य ममाधिष्ठानत्वे च तस्यैवात्मत्वापातात्। मद्भिन्नस्य धर्मरूपबोधस्य प्रकाशरूपत्वेऽपि पुत्रपाण्डित्येन पितृपाण्डित्यवद् मम तेन प्रतीति र्न स्यादिति भावः। बुद्धिधर्मो बोध इति चतुर्थं निराचष्टे– न बुद्धेरिति। बुद्धेरपि धर्मो बोधो न संभवति, यस्मात् सा बुद्धिः बोधादव्यतिरेकिणी–पृथग्भावो व्यतिरेकस्तद्रहिता। बोधतादात्म्येन हि सा बुद्धिर्ज्ञानपदव्यवहारपदवीमारूढा; बोधस्य धर्मतया ततः पृथग्भावस्वीकारे तु सा ज्ञानत्वाद् भ्रश्येदिति भावः॥२६८॥

के लिए ही है। गंभीरता से विचार करें तो वह भी संबंध सिद्ध नहीं होता। इसीलिए स्वयं नैयायिकों ने माना है कि परम सिद्धांत वेदनय ही है।

घटादि से चक्षु का एक-सा सम्बन्ध होने पर भी घट का बोध होने पर उसके रस आदि का बोध क्यों नहीं होता?॥२६६॥

इन्द्रिय में बोध होता तो रसादि का बोध भी होना चाहिए था। वह होता नहीं अतः इंद्रिय में बोध नहीं है। हमारे मत में तो यह व्यवस्था है कि जिस आकार की वृत्ति से अभिव्यक्त चेतन से तादात्म्य रूप विषयता जिसमें होगी उसी का भान होगा। अतः रूपाकार वृत्ति होने पर रस का भान नहीं होगा।

इन्द्रियों में ज्ञानाभाव का सोपपत्ति उपसंहार करते हैं– यदि बोध घटादि से सम्बद्ध हो तब तो उनका प्रकाशन संभव है किंतु यह पहले कह चुके हैं कि घटादि में धर्मरूप बोध है नहीं॥२६७॥

घटादि से बोध का यही सम्बंध संभव है कि घटादि बोध में कल्पित होवें, अन्य कोई नहीं। अतः घटादि-विषयक बोध के लिए इन्द्रिय धर्मरूप बोध को स्वीकारना सर्वथा असंगत है यह भाव है।

बोध आत्मा का धर्म है इस पक्ष का निषेध करते हैं– अन्यस्थित बोध द्वारा अन्य का उपकार करना असंभव होने से धर्मरूप से बोध मुझ आत्मा में भी नहीं है क्योंकि वैसा होने पर उससे मेरा प्रकाशन असंभव होगा। बुद्धि का भी धर्म बोध नहीं क्योंकि वह तो बोध से अभिन्न है॥२६८॥

बोध यदि आत्मा का धर्म हो तो धर्मी आत्मा बोध से भिन्न होने के कारण जड होगा। तब घटादि की तरह ही बोध आत्मा का उपकार नहीं कर पायेगा। घटादि तो बोध पर कल्पित हैं अतः उनका प्रकाशन हो भी जायेगा पर मैं तो

१. अधिष्ठानत्वेन हेतुना तस्य बोधस्य घटादिभिः सम्बन्ध इति योजना।
२. एवमिति टीकापाठो भाति।

अपि बुद्धे र्यदा बोधस्तदा केयं ततः पृथक्। अबोधरूपतः साऽपि घटादे र्न विशिष्यते॥२६९॥

बोधैक्यबहुत्वविचारः

अपि बोधो जगत्येकोऽप्यथ वाऽनेक एव सः। एकत्वे वासना-मान-स्मृत्यादीनां भिदा कुतः॥२७०॥

अनेकत्वेऽपि तस्य स्याद् भेदः क इति रूप्यताम्। बोधाद् बोधान्तरे भेदो न भवेद् बोधरूपतः॥२७१॥

अबोधरूपतो भेदे न भवेद् बोधगो हि सः। घटादे र्न हि भेदेन नभो नानाविधं भवेत्॥२७२॥

एवं सति तस्या घटादिसमत्वापत्तिरित्याह– अपि बुद्धेरिति। बुद्धे धर्मो यदा बोधस्तदेयं बुद्धिः ततो बोधात् पृथग् भिन्ना सती का किंस्वरूपा? अधुना बोधभिन्नत्वादेव बोधरूपा वक्तुं न शक्या, परिशेषादबोधरूपत्वांगीकारे तस्या घटादिसमत्वेन मयि कल्पिताया मदधीनसिद्धिकत्वे न स्वातन्त्र्यशंकेति सिद्धं मदिष्टमित्याशयेनाह– अबोधरूपत इति। भावप्रधानो निर्देशः। स्पष्टम्॥२६९॥

ननु बुद्धिरपि बोधात्मिकाऽस्तु, बोधानामनेकत्वाद्? इत्याशंकावारणाय बोधस्यात्मैकस्वरूपतावधारणाय च बोधस्वरूपे विचारान्तरमारभते–अपि बोध इति। एकत्वपक्षे ज्ञानभेदव्यवहारानुपपत्तिं समाधास्यमानां दोषतया प्रसंजयति– एकत्व इति। वासनाः संस्काराः, ते च विनश्यदवस्थज्ञानजाताः प्रतियोगिभेदाधीनभेदाः। मानपदेन भावव्युत्पत्त्या करणव्युत्पत्त्या च प्रमाणां फलानां तद्भेदाधीनभेदकानां प्रमाणानां च ग्रहः। स्मृतिः प्रसिद्धा। आदिपदेनाऽ-प्रमाणग्रहणम्॥२७०॥

अनेकत्वेऽपीति। अनेकत्वपक्षेऽपि इति रूप्यतां विचार्यताम्। इति किम्? तस्य बोधस्य भेदः कः कीदृशः– किं स्वरूपप्रयुक्तः, किं वोपाधिप्रयुक्तः? तत्र नाद्य इत्याह– बोधादिति। बोधान्तरे बोधरूपेऽवकाशे भेदो न स्याद् न तिष्ठेत्। कुतो? बोधरूपतः बोधस्वरूपाऽविशेषादित्यर्थः॥२७१॥

द्वितीय इष्टापत्तिमाह– अबोधरूपत इति। अबोधरूपादुपाधे र्हेतोश्चेद् भेदः, तर्हि उपधेयबोधगतो न भवेद्; उपाधिनिष्ठभेदस्य तत्रारोपेण भानोपपत्तेः, बोधोपाधिबुद्धेश्च ज्ञानत्वपदवीदानेन संस्कारादिभेदनिर्वाहाच्च। न चारोपितं स्वरूपं स्पृशतीति वाच्यं, मृगतृष्णया मरुभूमेरार्द्रीकरणादर्शनादिति भावः। उपाधिभेदेनोपधेयस्वरूपभेदाभावे दृष्टान्तमाह–घटादेरिति। स्पष्टम्॥२७२॥

निरधिष्ठान हूँ, मेरा बोध कैसे होगा? मुझ से भिन्न धर्मरूप बोध प्रकाशात्मक हो तो भी मैं तो प्रकाशत्मक न हो पाऊँगा! क्या पुत्र के पाण्डित्य से कोई पिता पण्डित होता है! इस प्रकार बोध की आत्मधर्मता का निरास किया। बुद्धिधर्मता भी बोध की नहीं क्योंकि बोध और बुद्धि अत्यंत अभिन्न हैं।

बुद्धि का धर्म यदि बोध हो तो उस धर्म से भिन्न वह धर्मिणी बुद्धि किस स्वरूप वाली होगी? बोध-भिन्न होने से वह भी घटादि के समान ही होगी॥२६९॥

और घटादितुल्य होने पर उन्हीं की तरह मुझ आत्मा पर कल्पित होगी जिससे अद्वैत ही पुष्ट होगा।

यह कहा जा सकता है कि बोध तो अनेक हो सकते हैं अतः बुद्धि भी बोधरूप हो क्या हानि है? इसका समाधान करने के लिए और यह निश्चित करने के लिए कि बोध केवल आत्मा का ही स्वरूप है आगे विचार प्रवृत्त करते हैं– और भी विचारणीय है : जगत् में बोध एक है या अनेक? यदि एक है तो वासना, प्रमाण, स्मृति आदि का भेद कैसे?॥२७०॥

यदि बोध अनेक हैं तो बताओ बोध का भेद कैसे होगा? बोध से तो बोध इसलिए भिन्न नहीं हो सकता कि वह बोधरूप है॥२७१॥

यदि अबोधरूप किसी उपाधि से बोध का भेद कहो तो वह भेद बोध का नहीं उपाधि का ही होगा। घटादि के भेद

अपि बोधस्त्वबोधोऽसौ बोधान्तरमपेक्षते। यदि नाऽयं भवेद् बोधो घटवद् बोधशून्यतः॥२७३॥

बोधस्वप्रकाशता

अपि बोधो न चाऽज्ञातो व्यवहारस्य कारणम्। यथा घटस्तथा चायमबोधो घटवद् भवेत्॥२७४॥

बोधबोधे भवेन्नूनमनवस्थादिकं परम्। अबोधे जगदान्ध्यं च तस्मान्नासौ विचारिते॥२७५॥

किंच बोधभेदाङ्गीकारे—ते च बोधाः परस्परसापेक्षाः, निरपेक्षा वा? अन्त्ये, एकेनैव सर्वनिर्वाहात् किं भेदेन! आद्ये तु, प्रकाश्यस्याऽबोधत्वापत्तिं स्फुटयति— अपि बोध इति। बोधो यदि स्वभानाय बोधान्तरमपेक्षते तर्हि असौ अबोध एव। तत्र अनुमानं दर्शयति— नायमिति। अयम् इतरसापेक्षो बोधो न बोधः बोधत्वाभाववान्। तत्र हेतुः— बोधशून्यतः भानशून्यत्वाद् घटवदिति॥२७३॥

एवं बोधस्यैकतां प्रसाध्य तस्य स्वयम्प्रकाशतां साधयितुमिदं विचार्यम्— किमज्ञातः स सर्वव्यवहारकारणं, ज्ञातो वा? तत्र नाद्य इत्याह— अपि बोध इति। अज्ञातत्वमपि ज्ञानविषयत्वाभावरूपं द्विविधम्—स्वयम्प्रकाशतारूपं वा, जडत्वे सति चित्सम्बन्धहीनत्वं वा? तत्र प्रथमस्य सिद्धान्तता तृतीयश्लोके वक्ष्यते। द्वितीयमिह श्लोके निरस्यति। तथा चायमर्थः। अयमेकतया साधितो बोधोऽज्ञातः सन् व्यवहारस्य कार्यस्य कारणं[1] यथा घटोऽज्ञातोऽपि जलाद्याधारहेतुस्तद्वद् न। तथा चायमबोधो जडत्वेन बोधशून्यः सन् घटसमो भवेदिति॥२७४॥

ज्ञातत्वपक्षे पूर्वदोषसमुच्चितं दोषमाह— बोधबोध इति। बोधस्य बोधे ज्ञातत्वपक्षेऽबोधरूपत्वापत्तिदोषापेक्षया परं द्वितीयमनवस्थादिकं च बोध्यमित्यर्थः। एतत्साधकस्यापि ज्ञातस्यैव साधनक्षमत्वादेवं तत्साधकस्यापीति भावः। ननु बोधबोधो नैवास्तु? इत्यत आह—अबोध इति। तस्माद् आन्ध्यापत्तिभयाद् असौ अबोधो[2] नाभ्युपेय इति शेषः। विचारित इति पदमुत्तरान्वयि॥२७५॥

से नभ भिन्न नहीं हो जाता॥२७२॥

उपाधि में होने वाले भेद का आरोप हो जाने से ही बोध के भेद के अनुभव की व्यवस्था बन जाती है। ज्ञान नित्य होने पर भी बुद्धिवृत्ति के नाशादि से संस्कारादि बनने में रुकावट नहीं। आरोपित कभी स्वरूप का स्पर्श नहीं करता, मिरगी का जल कभी रेगिस्तान को गीला नहीं करता। अतः उपाधिभेद से बोध सचमुच भेद वाला नहीं होगा।

यदि बोध के भेद माने जायें तो क्या वे एक-दूसरे की अपेक्षा रखने वाले होंगे या नहीं? यदि उन्हें एक-दूसरे की अपेक्षा न हो तो एक ही बोध से सारा निर्वाह हो जाने से भेद मानना व्यर्थ होगा। जब किसी भी व्यवहार के लिए बोध को बोधांतर की अपेक्षा नहीं तो सारा ही व्यवहार एक ही बोध क्यों नहीं सिद्ध कर लेगा? अतः बोधभेद मानने के लिए बोधों को परस्पर सापेक्ष मानना होगा किंतु तब जो बोध का विषय बनेगा वह अबोध ही हो जायेगा। फलतः या सर्वथा बोध रह ही नहीं जायेगा और या एक ही अनपेक्ष बोध बचेगा। यही स्पष्ट करते हैं— यदि एक बोध दूसरे बोध की अपेक्षा करेगा तो अबोध ही हो जायेगा क्योंकि बोध सापेक्ष होने से जो कोई भी बोधरहित होता है वह वैसे ही बोध नहीं होता जैसे घट॥२७३॥

यह नियम है कि जिसे बोध की अपेक्षा होती है वह बोध नहीं होता। ऐसा न मानने पर अनवस्थादि दोष होंगे तथा श्रुति व अनुभव का विरोध होगा।

इस प्रकार बोध एक है यह समझाया। अब यह बताना है कि बोध स्वयम्प्रकाश है। अतः यह विचार करना चाहिये

---

१. वाक्यान्ते पठितो नकार इहान्वेति। यथाऽज्ञातो घटो न निर्वाहक एवमज्ञातो बोधोप्यनिर्वाहक इत्यर्थः।

२. बोधस्याबोधो नेष्टः। स्वप्रकाशतयाऽबोध्यत्वेऽपि जाड्यरूपोऽबोधो न बोधस्यांगीकार्यो जगदान्ध्यापत्तेरित्यर्थः।

तदानन्त्यम्

स चेत् स्वयंप्रकाशः स्याद् अहमेव न चापरः। तथा चाऽनित्यता नैव मम सत्तैकरूपिणः॥२७६॥

आदावन्ते च यन्नास्ति तदनित्यमितीरितम्। अस्म्यहं सर्वदा यस्माद् अहमेव न चाऽपरः॥२७७॥

यदेकत्र भवेत्तत्स्याद् आधाराज्जगतोऽपि च। भिन्नं तेनाप्यनित्यत्वं तस्य स्याद् घटवद् बलात्।
अहं न कुत्रचित् तेन मम कस्मादनित्यता॥२७८॥

ननु प्रकारान्तरासंभवात् तस्य स्वयंप्रकाशतामभ्युपगच्छामीति चेद्? ओमित्याह– स चेदिति। विचारिते सति सोऽद्वितीयो बोधः स्वयंप्रकाश एव मुक्तिपथमवतरतीति चेत्? तर्हि स्याद् एवमस्त्वित्यर्थः। ननु तव तादृशस्य तस्यांगीकारे को लाभ इति चेत्? तस्य मद्भिन्नत्वे मद्दृश्यतया स्वप्रकाशताहानिभयेन मत्स्वरूपान्तः प्रवेशे भूमानन्दलाभ इत्याह– अहमेवेति। ननु भूमानन्दलाभेऽपि तस्य क्षेमचिन्ताऽवशिष्यत इति चेद्? नेत्याह– तथा चेति। स्पष्टम्॥२७६॥

भूमानन्देऽनित्यताऽभावमेव स्फुटयति–आदाविति। अनित्यलक्षणं पूर्वार्धे। अहं सर्वदाऽस्मि तस्मान्नाऽनित्य इति शेषः। सर्वदा सत्त्वमेव कुतः? इत्यत आह–अहमेवेति। यद्यहं न स्याम् तर्हि कः स्याद्, इतराभावादिति भावः॥२७७॥

कि बोध क्या अज्ञात रहते हुए सारे व्यवहार का कारण बनता है या ज्ञात रहते हुए? अज्ञात रहते हुए कारण नहीं हो सकता यह कहते हैं– अज्ञात घट की तरह अज्ञात बोध तो व्यवहार का कारण होगा नहीं। घट की तरह अज्ञात होने पर वह अबोधरूप ही हो जायेगा॥२७४॥

अज्ञातता कहते हैं ज्ञानविषयता के न होने को। वह भी दो तरह से होती है; या तो स्वयम्प्रकाशता होने पर ज्ञान-विषयता नहीं होती और या जडता के रहते चेतन का सम्बंध न होने पर ज्ञानविषयता नहीं होती। बोध की स्वयम्प्रकाशता से अज्ञातता तो सिद्धांतपक्ष है यह स्वयं स्पष्ट करेंगे। दूसरी प्रकार की अज्ञातता का निरास इस श्लोक में है। तात्पर्य है कि स्वयम्प्रकाश न मानने पर अज्ञात बोध को व्यवहारनिर्वाहक नहीं मान सकते।

अब यदि कहो कि ज्ञात बोध ही निर्वाहक है तब भी दोष है यह बताते हैं– बोध का बोध मानने पर अनवस्था आदि भी दोष होंगे। बोध का अबोध मानने पर जगत् में कोई बोध ही न होगा। अतः यह पक्ष ठीक नहीं॥२७५॥

बोध का बोध मानने पर बोधविषयतावश बोध में अबोधतापत्ति होगी ही साथ ही अनवस्थादि होंगे यह अर्थ है। इस आपत् से बचने के लिए यदि बोध का बोध न मानो तो जगदान्ध्यप्रसक्ति है क्योंकि स्वयम्प्रकाशता तुम्हें स्वीकार्य नहीं।

अतः बोध को स्वयम्प्रकाश ही समझना होगा यह कहते हैं– यदि विचार करने पर बोध को स्वयम्प्रकाश मानो तो वह मैं ही हूँ, और कोई नहीं। सत्ता ही एकमात्ररूप है जिसका उस मेरी अनित्यता नहीं है॥२७६॥

जो बुद्धि का भी विषय न हो और अपने अपरोक्ष व्यवहार के योग्य हो उसे स्वयम्प्रकाश चित्सुखाचार्य ने कहा है। ऐसा स्वयम्प्रकाश केवल आत्मा ही है अतः वही बोध है। आत्मातिरिक्त बोध किसी तरह उपपन्न नहीं।

व्यापक आनन्दरूप आत्मा में अनित्यता नहीं है यह स्पष्ट करते हैं– प्रतीति से पूर्व व पश्चात् जो नहीं होता वह अनित्य कहा जाता है। क्योंकि मैं सर्वदा हूँ इसलिए मैं ही नित्य हूँ, और कोई नहीं॥२७७॥

मैं सदा हूँ क्योंकि मेरे न होने में कभी कोई प्रमाण हो नहीं सकता। न होना स्वप्रकाश तो है नहीं, ससाक्षिक ही होगा और साक्षी मैं ही हूँ। अतः नित्य आत्मा का अपलाप जडमति सौगतादि से अतिरिक्त कोई भी विचारशील प्राणी नहीं कर सकता।

वस्तु, देश और काल, तीनों सीमाओं से रहित होने से अपनी नित्यता कहते हैं– जो वस्तु किसी एक स्थान या काल में होती है वह अपने आधार से और बाकी जगत् से भिन्न होती है तथा भिन्न होने से घट की तरह कार्य होने से उसकी

अपि देशस्तथा कालस्ताभ्यामुत्पादितं च यत्। तयोः स्थितं जडं सर्वं सदसत्त्वादि धर्मभृत्।
मय्येव तदहं नात्र कुत्राप्यस्मि व्यवस्थितः॥२७९॥

यथा मणिगणाः सूत्रे पृथिव्यां पांसवो यथा। अब्धौ यद्वद्धि नीराणि वह्नौ वा तम उद्धृतम्॥२८०॥

एवमनित्यत्वाभावे वस्तुपरिच्छेदाभावं हेतुतयाऽभिधाय, तत्र देशकाल-परिच्छेदाभावौ तथात्वेनाह—यदेकत्रेति। यद् वस्तु एकत्र कारणरूपेऽन्यत्र वा देशे काले वा स्याद् वर्तेत, तद् वस्तु तस्मादाकारात्[१] तथा जगतश्च भिन्नं स्याद् व्यवह्रियेत; तेन भेदेन च विकारत्वसाधनद्वारा घटवद् अनित्यत्वं स्याद् अनुमीयेत बलाद् व्याप्तिपक्षधर्मतारूपाद्। 'यावद्विकारन्तु विभागो लोकवद्' (ब्र.सू.२.३.७) इति सूत्राद्। विभागो भेदो विकारत्वस्य कार्यत्वस्य व्याप्य इति सूत्रार्थः। मयि तु कुत्रचिद् वृत्तित्वाभावादनित्यत्वसंभावना नास्तीत्याह—अहमिति॥२७८॥

किं च देशकालावेव स्वसम्बद्धपदार्थैः सह मामाधारं कुरुतः। श्रुतिश्च 'स भूमा कुत्र स्थितः? स्वे महिम्नि' (छां.७.२४.१) इत्याकारा ममाधारनिषेधनपरा। तथापि ये ममाधारं कल्पयन्ति ते किं मिथ्याभियोगदोषाद् न बिभ्यति? इत्याह— अपि देश इति। ताभ्यां देशकालाभ्याम्। तयो र्देशकालयोः। सत्त्वं कार्यात्मना स्फुटत्वम्। असत्त्वं कारणात्मनाऽस्फुटत्वम्। तत् तस्मात् सर्वस्य मदाधारकत्वाद्। अत्र देशादौ। शेषं स्पष्टम्॥२७९॥

नानाविधप्रपञ्चस्याऽद्वितीयात्मन्याधारे स्थितौ नाना दृष्टान्तानाह—यथा मणिगणा इति द्वाभ्याम्। तत्र स्थूलप्रपञ्चस्य सूत्रात्मनि वृत्तौ दृष्टान्तः प्रथमः। द्वितीयस्तु सूक्ष्मप्रपञ्चस्य कारण ईश्वरोपाधौ वृत्तौ। यथा पांसवो रेणवः पृथिवी-सामान्यस्य विशेषाः पृथिवीसामान्ये स्थितास्तद्वद् मयि सति कारणे सूक्ष्मशरीराणीत्यर्थः। तृतीयस्तु शक्तिरूपाणाम-व्याकृतानां ब्रह्मणि नामरूपे विहाय स्थितौ। 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे' (मु.३.२.२८) इत्यादिश्रुत्यनुरोधात्। चतुर्थस्तु भावाद्वैतमते, पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तिपक्षे वा प्रपञ्चाभावोऽविद्यानिवृत्तिश्च पृथग्भूता ब्रह्मणि तिष्ठतीति स्वीकारात् तयोः स्थितौ दृष्टान्तः। उद्धृतम् ऊर्ध्वं धृतं दीपादिशिखाग्रे भासमानं तमः श्यामतारूपं यथा वह्नौ स्थितं तद्वदित्यर्थः। यद्वा तमस उद्धृतम् उत्कर्षेण हृतं—हरणं, भावे क्तः, ध्वंस इति यावत्; स यथा वह्नौ भावरूपे सामानाधिकरण्येन पृथक् स्थित इत्यर्थः। अथवा जडत्वेन विलक्षणस्यापि सृज्यस्य सर्गकाले धारण ऊर्ध्वं तमोदधानोऽग्नि र्दृष्टान्त इति॥२८०॥

अनित्यता निश्चित है। मैं कहीं नहीं हूँ, अतः मेरी अनित्यता क्योंकर होगी?॥२७८॥

अवृत्ति होने से ही आत्मा कहीं नहीं है। वस्तु अपने आधार से भिन्न होती है। आत्मा अद्वितीय होने से उसका आधार असंभव है। देश व काल दोनों आत्मा पर आधारित हैं अतः आत्मा को कहीं अर्थात् किसी देश में व कभी अर्थात् किसी काल में नहीं कहा जा सकता। इसी तरह उसे कुछ अर्थात् किसी वस्तु में सीमित नहीं कह सकते। देश-काल-वस्तु उसमें हैं, वह उनमें नहीं। गीता में स्पष्ट किया है 'न चाहं तेष्ववस्थितः'। इसलिए आत्मा की व्यापकता यों प्रकट की जाती है कि आत्मा कहीं नहीं है, कभी नहीं है और कुछ नहीं है! स्वयम्प्रकाश देशाद्यधिष्ठान होने से वह अलीक नहीं है यह तो स्पष्ट है।

अपने से सम्बद्ध पदार्थों समेत देश व काल ही मेरा आधार हो सकते थे पर श्रुति ने स्पष्ट किया है कि मेरा कोई आधार है नहीं। यही बताते हैं- देश, काल और उनसे उत्पन्न, उनमें स्थित कार्यत्व कारणत्व आदि धर्मों वाला जो कुछ भी है वह मुझमें ही है अतः मैं कहीं भी देशादि में स्थित नहीं हूँ॥२७९॥

अद्वितीय आत्मरूप आधार में नानाविध प्रपंच स्थित है यह विविध दृष्टांतों से समझाते हैं- जैसे धागे में मणियाँ रहती हैं, पृथिवी-सामान्य में धूल आदि पृथ्वी-कार्य रहते हैं, समुद्र में जल रहता है, वह्नि पर धृत अँधेरा रहता है, वायु

१. आधारादिति युक्तं पठितुम्।

वायौ यद्वद् गन्धतृणं यथा नभसि वा घनः। यथा सुहृदि दुष्टत्वं दुर्जने साधुता यथा।
यथा स्वात्मनि रक्षस्त्वं मय्येवं सकलं जगत।।२८१।।

आत्मनः सच्चिदानन्दता

स्वप्रकाशसुखं चाहं न दुःखं मयि किंचन। न हि दुःखं जगत्यस्मिन्न जातु विद्यते क्वचित्।।
जायमानं जडं दृष्टं जडं न मयि वस्तुतः।।२८२।।

वायाविति। स्थितिकाले धारणे दृष्टान्तोऽयम्। गन्धश्च तृणानि च तेषां समाहारो गन्धतृणम्। प्रलये धारणे दृष्टान्तस्त्वाकाशः प्रावृषि प्रादुर्भूय कालान्तरे प्रलीय स्थितस्य मेघस्य धारणात्। एवमात्मनस्तत्पदार्थतया प्रपञ्चधारकत्वं स्फुटीकृत्य त्वंपदार्थतया जीवत्वकर्तृत्वादिधारणे दृष्टान्तत्रयमाह— यथा सुहृदीत्यादिना। स्वात्मनि बालकशरीरे रक्षस्त्वं राक्षसत्वमधस्तादुक्तम्। अथवा विवेकवतां दृष्ट्याऽऽत्मनः सकलप्रपञ्चधारणे दृष्टान्तत्रयमिदमिति बोध्यम्।।२८१।।

एवमात्मनः सच्चिदद्वितीयतायामनावृतायां सत्यां निरतिशयानन्दो मया लब्धः स्वयं चोपनतो दुःखाभाव इत्याह— स्वप्रकाशेति। ननु तव सर्वात्मकस्य जगति वर्तमानेन दुःखेन कथं न सम्बन्धः? इत्याशंक्य; मम सच्चिदानन्दघनस्य स्वरूपविचारे जगत एव जडस्य बाधादित्याशयेनाह— न हीत्यादि। जातु कदाचिदपि क्वचिद् देशे जगत्यपि दुःखं नास्ति। तत्र हेतुः—न हि दुःखमिति। हि यस्माद् दुःखपदार्थ एव त्रैकालिकात्यन्ताभावप्रतियोगी। एतदेव कथम्? अत आह—जायमानमिति। दुःखं हि जायमानं जन्यं प्रसिद्धम्। जन्यत्वं च जडत्वव्याप्यम्। जडस्य च मयि चिद्घने नावकाश इति कथं कश्चिदपि दुःखसत्त्वं प्रतिपादयेदिति भावः।।२८२।।

में सगंध तिनका रहता है, आकाश में बादल रहते हैं, सुहृत् में कल्पित दुष्टता रहती है, दुर्जन में साधुता रहती है, अपने शरीर में 'यह राक्षस है' ऐसी बुद्धि होती है, वैसे ही सारा जगत् मुझमें रहता है।।२८०-२८१।।

दृष्टान्तों के विशेष प्रयोजन ये हैं: स्थूल प्रपंच सूत्रात्मा में रहता है इसके लिए प्रथम उदाहरण हैं। सूक्ष्म प्रपंच ईश्वरोपाधिभूत कारण में रहता है इसके लिए दूसरा उदाहरण है। नाम-रूप छोड़कर शक्तिरूप अव्याकृत के ब्रह्म में रहने के लिए तीसरा दृष्टांत है। प्रपंचाभाव और अविद्यानिवृत्ति ब्रह्म में रहती है इसमें चौथा दृष्टांत है। वह्नि अर्थात् दीपशिखा के अग्रभाग में श्यामता दीखती ही है। अथवा दृष्टांत का स्वरूप है कि अँधेरे का ध्वंस एकाधिकरण-वृत्तिता से वह्नि 'पर' रहता है, जहाँ वह्नि होगी वहीं अंधेरे का ध्वंस रहेगा ही। अथवा अपने ऊपर अँधेरे का धारण करने वाली आग इस बात में दृष्टांत है कि परमात्मा पर उससे अत्यंत विलक्षण जड जगत् सृष्टिकाल में स्थित रहता है। स्थितिकालिक धारण में पाँचवा दृष्टांत है। प्रलयकालिक धारण में छठा दृष्टांत है क्योंकि बरसात के बाद विलीन हुए मेघ को आकाश धारण करता है। अंतिम तीन दृष्टांत जीवत्व, कर्तृत्व आदि के धारण में हैं। अथवा विवेकी की दृष्टि से सारा प्रपंच आत्मा में कैसे धृत है इसमें ये तीन दृष्टांत हैं।

इस प्रकार आत्मा की सत्-चिद्-अद्वितीयता अनावृत हो जाने पर मुझे निःसीम आनंद प्राप्त हो गया दुःख खुद समाप्त हो गया, यह कहते हैं— मैं स्वयम्प्रकाश सुख हूँ, मुझमें कोई दुःख नहीं है क्योंकि इस जगत् में ही कभी कहीं दुःख नहीं है। दुःख उत्पन्न होने वाला अतः जड देखा गया है और मुझमें वस्तुतः जड कुछ हो नहीं सकता।।२८२।।

यह वेदांतरहस्य है कि यदि दुःख होगा तो आत्मा उससे बच नहीं सकता। इसलिए दुःख है ही नहीं यह तथ्य स्पष्ट कर लेना चाहिये। अन्य दर्शन द्वैत को रखकर आत्मा को दुःख से बचाना चाहते हैं जो असंभव है। कुछ हद तक तो द्वैत के रहते दुःख से बचा जा सकता है पर पूरी तरह दुःख से छूटने के लिए दुःख का समापन करना अनिवार्य है। यह समापन प्रत्येक दुःख हटाने से तो होना संभव नहीं। इसके लिए तो दुःख के कारण को ही मिटाना होगा तभी विद्यमान और विलीन दोनों तरह के दुःख समाप्त होंगे। दुःखहेतु आत्माज्ञान ही है अतः उसे हटाने से ही दुःखनिवृत्ति हो सकती है।

सुखं नैवं जायमानं दृश्यते क्वापि तत्त्वतः। जातं चेदसुखं तत्स्याद् दुःखवज्जन्मयोगतः॥२८३॥

विषयसुखपरीक्षा

न हि वैषयिकं नाम सुखं किंचन विद्यते। किन्तु दुःखे हि विभ्रान्त्या सुखधी र्जायते नृणाम्॥२८४॥

कामसुखस्य भ्रमनिर्वाह्यता

न हि चर्मणि दुर्गन्धे मांसले रुधिरोक्षिते। विण्मूत्रगन्धसङ्घाते मृदुस्पर्शेऽपि पिच्छिले॥
नारीयोनौ च भेदोऽस्ति विना भ्रान्तिं नृणामिह॥२८५॥

नन्वेवं सति सुखेऽपि दुःखन्यायः प्रसक्तः? इत्यतो वैलक्षण्यं सुखे स्फुटयति– सुखं नैवमिति। एवं दुःखवत् सुखं जायमानमुत्पत्तिमत् केनापि तत्त्वतो न दृष्टमिति। मूढास्तु सुकृतविपाकसमयेऽन्तःकरणवृत्तिमानन्दात्मप्रतिबिम्बग्राहिणीं सुखमिति मत्त्वा जायमानतामनुभवन्तु नामेति भावः। ननु सा वृत्तिरेवास्तु मुख्यं सुखमिति चेद्? न, मानविरोधादित्याह– जातमिति। जन्यं, दुःखात्मकं, जनिमत्त्वाद्, दुःखवद् इत्यनुमानम्। 'नाल्पे सुखमस्ती'ति (छां.७.२३.१) श्रुति श्चात्र बाधिकेति भावः॥२८३॥

एवं 'वावदिषद्' (ऐ.१.३.१३) इत्यन्तवाक्यतात्पर्यार्थं प्रपंचबाधपूर्वकं सच्चिदद्वितीयानन्दात्मज्ञानं प्रपंच्य तदुत्तरवाक्यं फलपर्यवसायिस्वरूपसाक्षात्काराभिनयपरं व्याख्यातुं तन्निष्ठोपयोगिवैराग्याय विषयसुखदुःखरूपतां स्फुटयति ऊनत्रिंशच्छ्लोकैः। किं विषयफलं सुखं, तत्साधनत्वेन विषया एव वा सुखपदार्थः? इति विकल्प्य; तत्र नाद्य इत्याह– न हि वैषयिकमिति। वैषयिकं विषयेभ्य आगतं तत्फलम्। कथं तर्हि तथा व्यवहारः? अत आह– किन्त्विति। दुःखे त्रिगुणान्तःकरणपरिणामरूपे सुखमित्याकारा नृणां धी र्जायते। तस्या हेतुस्तु पूर्वभ्रमः संस्कारद्वारेति सापि भ्रम इति सूचयति–विभ्रान्त्येति॥२८४॥

न द्वितीयः, अयोग्यत्वेन भ्रमनिर्वाह्यत्वाद्– इति वक्तुं प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायमभिप्रेत्य कामसुखस्य भ्रमनिर्वाह्यतां तावत् स्पष्टयति– न हि चर्मणीत्यादिना। मांसले प्रचुरमांसवति। पिच्छिले स्निग्धे। विण्मूत्रगन्धानां संघातो यत्र तथाभूते। एतादृशे मण्डूकादिचर्मणि उपमाने नारीयोनौ च विशेषो नास्ति। भ्रान्ते र्गतिस्त्वनिर्वाच्येत्याह– विना भ्रान्तिमिति। अश्लील-पदप्रयोगोऽत्र प्रस्तावे वैराग्यद्वारा शान्तरसपोषकत्वान्न दोषः। तथा चोक्तं मम्मटेन 'वक्त्राद्यौचित्यवशाद् दोषोऽपि गुण' इति। उदाहृतं च प्रकाशकृता–यथा शमकथासु 'उत्तानोच्छूनमण्डूकपाटितोदरसन्निभे। क्लेदिनि स्त्रीव्रणे सक्तिरकृमेः कस्य जायते॥' इति॥२८५॥

दुःख से सुख विलक्षण है यह स्पष्ट करते हैं- सुख वस्तुतः कहीं भी उत्पन्न होता हुआ नहीं दीखता। यदि सुख उत्पन्न हो तो वह भी जन्मसंबंध वाला होने से दुःख की तरह सुखेतर ही होगा॥२८३॥ पुण्य फलदायी होने पर अन्तर्मुखी मनोवृत्ति आनन्दात्मा के प्रतिबिम्ब का ग्रहण करती है उसे ही मूढ लोग सुख उत्पन्न हो गया ऐसा मानते हैं। वह वृत्ति सुख नहीं हो सकती क्योंकि जन्यत्व और दुःखात्मकत्व की व्याप्ति है। श्रुति ने भी अल्प में सुख का निषेध किया है।

इस प्रकार प्रपंच का बाध करते हुए सत्य, चित्, अद्वितीय, आनन्द, व्यापक, ज्ञानरूप आत्मा का प्रतिपादन किया। अब फल में पर्यवसित होने वाला स्वरूप-साक्षात्कार बताना है। किंतु उस साक्षात्कार में निष्ठा के लिए वैराग्य अनिवार्य है। अतः पहले उन्नीस श्लोकों द्वारा विषयसुख की दुःखरूपता बतायेंगे।

क्या विषय का फल सुख है या उसका साधन होने से विषय ही सुख है? विषयफल सुख नहीं यह कहते हैं- वैषयिक सुख नाम की कोई चीज नहीं है किंतु लोगों को भ्रम से दुःख में ही ' यह सुख है' ऐसी प्रतीति हो जाती है॥२८४॥

एक तो सुख के लिए विषय नियत नहीं जो उनका फल सुख होवे। दूसरी बात है कि सुषुप्ति आदि में विषय के

स्तनयोश्च स्फिजो नृणां निर्लोम्नो नास्ति वै भिदा। अनिर्गतश्मश्रुमुखं पुंसां स्त्रीणां च वै समम्॥२८६॥
नपुंसकानां स्त्रीणां च नास्ति भेदो विना धियम्। पुरुषाणां वधूनां च शरीरे क्वापि नो भिदा॥२८७॥
चतुर्विंशतितत्त्वानां समुदायः शरीरकम्। जन्तुमात्रस्य तत्त्वेतत् पुरैवास्माभिरीरितम्॥२८८॥
सर्वेषां हृदये चाहमहंप्रत्ययशब्दयोः। अनाधारः सर्वगश्चिदानन्दात्मा व्यवस्थितः॥२८९॥
एवं व्यवस्थिते तत्त्वे कामग्रहवशं गताः। पुरुषाश्च स्त्रियश्चेति कल्पयित्वा परस्परम्॥
पिबन्ति लालां मुखजां मलांश्चाददतेऽपि च॥२९०॥

स्तनयोरिति। स्त्रीणां स्तनयोः तथा नृणां पुरुषाणां स्फिजोः कटिगतमांसपिण्डयो र्भिदा नास्ति, विना भ्रान्तिमित्यनुषज्यते। शेषं स्पष्टम्॥२८६॥

नपुंसकानामिति। धियं कल्पनाम्। वधूनां नारीणाम्। स्फुटम्॥२८७॥

भेदाभ्युपगमेऽपि– किं तत्त्वानां भेदः? किं वाऽऽत्मनः? इति विकल्प्य; तत्र नाद्य इत्याह– चतुर्विंशतीति। दशेन्द्रियाणि, भूतानि, पञ्च प्राणास्तथैव चान्तःकरणचतुष्कं चैवं चतुर्विंशतितत्त्वानि। एतेषां समुदायः तत् प्रसिद्धं जन्तुमात्रस्य शरीरमित्येतत् पुरैव 'अपि देह' इत्यादिना (श्लो. १३९) अस्माभिरीरितम्॥२८८॥

न द्वितीय इत्याह—सर्वेषामिति। सर्वेषां हृदये चाहं व्यवस्थितोऽभिव्यक्तः। कीदृशः? अहंप्रत्ययशब्दयो र्विषयतावाच्यतात्मकसम्बन्धाभ्यां सम्बन्धीति शेषः। अनाधार इत्यादि स्पष्टम्॥२८९॥

बिना भी सुख रहता है। अतः सुख को विषयफल नहीं मान सकते।

विषय भी सुख नहीं, भ्रम से ही उनमें 'सुख' ऐसा व्यवहार हो जाता है। सुखों में प्रधान है रतिसुख जिसका विषय नारी है। वह सुखरूप नहीं, भ्रम से ही उसे सुख मानते हैं यह विस्तार से समझायेंगे। स्त्री के प्रति पुरुष सुखरूप से भासता है, वह भी भ्रम ही है यह स्वयं समझ लेना चाहिए अर्थात् पुरुषावयवादि भी सुखरूप नहीं यह आलोचन कर लेना चाहिये। इस प्रसंग में अश्लील पदादि का प्रयोग होगा किंतु वह वैराग्य द्वारा शांतरस का पोषक है अतः दोष नहीं है। साहित्याचार्यों ने माना है कि प्रकरण के औचित्य के अनुसार प्रसिद्ध दोष भी गुण हो जाता है। जैसे वीरादि रस के प्रसंग में क़ठोर वर्णों का प्रयोग गुण होता है। जिस प्रकार प्रमुख पहलवान को पछाड़ देने पर छोटे पहलवान सामने नहीं आते उसी प्रकार रति सुख को भ्रममात्र रूप सिद्ध कर देने पर अन्य सुखों में सुखदृष्टि नहीं बन पायेगी इस आशय से वर्णन करते हैं– दुर्गन्ध व प्रचुर मांस वाले, खून से लथपथ, विष्ठा व मूत्र के आधार, कोमल स्पर्श वाले व चिकने मेढक आदि के चर्म में और नारियों के गुह्यांग में कोई अंतर नहीं है। केवल पुरुषों के भ्रम से एक को घृणित और दूसरे को रमणीय माना जाता है॥२८५॥

मनुष्यों के लोमहीन नितम्बों में और स्त्रियों के स्तनों में कोई भेद नहीं है। जिसमें अभी दाढ़ी नहीं आयी ऐसे पुरुषमुख और नारीमुख भी समान ही हैं॥२८६॥

भ्रांत निश्चय से अतिरिक्त नपुंसकों व स्त्रियों में कोई भेद नहीं है। पुरुषों व स्त्रियों के शरीर में कोई अंतर नहीं॥२८७॥

सभी जन्तुओं का शरीर दस इंद्रियाँ, पाँच प्राण, चार अंतःकरण और पाँच महाभूत इन चौबीस तत्त्वों का समुदाय है। यह बात पहले बता चुके हैं॥२८८॥

सब हृदयों में मैं ही अभिव्यक्त हूँ। 'मैं' इस ज्ञान का विषय और 'मैं' इस शब्द का बोध्य मैं ही (देव ही) बनता हूँ। मेरा कोई आधार नहीं। मैं सर्वव्यापक हूँ, ज्ञान व आनन्द रूप हूँ॥२८९॥

आस्फालयन्ति चान्योन्यं गात्राण्युन्माददूषिताः। मेषा इव पिशाचा वा यद्वद्धरविनोदकाः॥२९१॥

एवं हि कुर्वतामेषां हृदि कामो हसन्निव। गात्रेभ्यो निर्गतो नैव विनिर्गच्छति कर्हिचित्॥२९२॥

ग्रहाविष्टा यथा क्वापि ग्रहोद्रेकात् परस्परम्। ताडयन्ति स्फिजो मत्ताः संमुखा विमुखा अपि॥२९३॥

एवमिति। एवम् उक्तविधया तत्त्व आत्मानात्मनोः स्वरूपे व्यवस्थिते तत्त्वाधिक्यभयादिव विशेषमनंगीकृत्य स्थिते सत्यपि, कामरूपग्रहस्य ग्रहवदुन्मादादिहेतो र्वशं गताः पुरुषाः स्त्रियश्च 'इयं स्त्री, अयं पुरुषः' इत्येवं कल्पयित्वा परस्परं मुखजां लालां पिबन्ति मलांश्च गृह्णन्तीत्यर्थः। 'वसा शुक्र-मसृङ्-मज्जा कर्णविण-मूत्र-विण-नखाः। श्लेष्मा-ऽश्रु-दूषिका[1] स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः'॥२९०॥

आस्फालयन्तीति। आस्फालयन्ति गात्राणि अभिघाताख्यसंयोगवन्ति कुर्वन्तीत्यर्थः। कर्तृविशेषणम्– उन्मादेति। दृष्टान्तद्वयमाह–मेषा इत्यादिना। कीदृशाः पिशाचाः? हरस्य शंभो र्विनोदका हासजननोद्यताः॥२९१॥

एवं हीति। एवं कुर्वतां तेषां गात्रेभ्योऽङ्गेभ्यः कामो निर्गतो भवति कर्हिचिन्नैव निर्गच्छतीत्यन्वयः। 'कामः स्मरेच्छयो रेतसि च' इति कोशात् कामस्य रेतोरूपेण निर्गमने हेतुमुत्प्रेक्षते– हृदि हसन्निवेति। शरीरान्तःस्थितदेवसभामध्यगतः कामः शम्भुप्रीत्यर्थमिवारब्धनाट्यप्रयुक्तं जनानां वैकृतमीक्षित्वा हास्यवेगादिव निर्गच्छंतीति। दृश्यन्ते हि सभायामागतहास्यवेगासहने बहिर्गच्छन्तोऽन्यथा च तत्रैव तिष्ठन्त इति। एतेन कामशास्त्रस्य लालाप्रभृतीन् भावान् अधरामृतादिपदैरभिदधतो लोकभ्रान्त्यनुवादरूपोपहासेन लोकानां वैराग्यजनने परमतात्पर्यमिति सूचितम्। प्रसिद्धमेतत्– भ्रान्त्यनुवादं श्रुत्वा विवेकिनस्ततो विरज्यन्त–इति॥२९२॥

ननु मास्तु तत्र सुखरूपः पुरुषार्थः, कामोपशान्तिरूपो दुःखध्वंसस्तु स्फुटः? इत्याशंक्य; 'नान्यसाधनमन्यत्र क्षमत' इति न्यायाच्छ्रममात्रसाधनस्य कुतो दुःखध्वंसहेतुत्वमित्याह–ग्रहाविष्टा इत्यादिपञ्चभिः। यथा ग्रहाविष्टा ग्रहोद्रेकाद् ग्रहसम्बन्धिबलाद् मत्ता विकृतचित्ताः सन्तः परस्परं संमुखा अभिमुखा विमुखाः पराङ्मुखाश्च स्फिजः कटिप्रोथान् ताडयन्ति॥२९३॥

आत्मा-अनात्मा का स्वरूप यों होने पर भी पुरुष व स्त्री कामनारूप ग्रह के वशीभूत हो आपस में भेद की कल्पना कर एक दूसरे के मुख की लार चाटते हैं और अन्य मल भी ग्रहण करते हैं॥२९०॥

मानो नशे या पागलपन से प्रेरित हो एक-दूसरे के शरीरों को आपस में वैसे ही रगड़ते हैं जैसे लड़ते हुए मेढ़े या शिवजी को प्रसन्न करने के लिए पहलवानी आदि करते हुए पिशाच॥२९१॥

ऐसा करते हुए इनके शरीर से काम मानो हँसते हुए निकल जाता है पर सर्वथा कभी नहीं निकलता॥२९२॥

सभा में जोर से हँसी आने से जैसे व्यक्ति बाहर चला जाता है वैसे कामना रेतोरूप से बाहर निकल जाती है। मूर्खतापूर्ण प्रवृत्तियाँ ही कामदेव की हँसी का हेतु हैं। प्रसिद्ध है कि भ्रान्तावस्था का स्वस्थावस्था में विचार करने पर मनुष्य पुनः भ्रान्ति से बचता है। इसीलिए काम चेष्टाओं की अविचार-रमणीयता और वास्तविक घृणितता का यहाँ वर्णन है।

कोई कहे कि सुखरूप पुरुषार्थ न होने पर भी कामना की उपशान्ति रूप दुःखनिवृत्ति तो होती है, इसी से ये प्रयास उचित क्यों न हों? तो इसका उत्तर है कि साधन अपने साध्य से भिन्न को सिद्ध नहीं करता। उक्त प्रयास तो थकावट के उपाय हैं, दुःख कैसे निवृत्त करेंगे? यह बात पाँच श्लोकों से समझाते हैं– ग्रहों से आविष्ट व्यक्ति जैसे ग्रह के कुपित हो जाने पर मानो पागल होकर आगे-पीछे से एक दूसरे के नितम्बों पर प्रहार करते हैं ऐसे ही कामवशीभूत युगल करते हैं॥२९३॥

---

१. आँखों का कीचड़।

संप्राप्य तु श्रमं पश्चादासते सुखिता इव। अनिर्मुक्तग्रहास्तद्वत् कामिनः सर्वजन्तवः॥२९४॥

भोगो न कामनाशकः

न हि मैथुनधर्मेण कामनाशः क्वचिद्भवेत्। न हि कामे विनष्टेऽपि प्रवृत्तिस्तत्र दृश्यते॥२९५॥

किन्तु यावच्छ्रमं तत्र प्रवर्तन्ते परस्परम्। श्रान्ता अपि निवर्तन्ते सुखं नैवात्र किंचन॥२९६॥

मल्लयो र्युद्ध्यतो र्यद्वच्छ्रमोत्पत्तौ निवर्तनम्। स्त्रीपुंसयो र्ग्राम्यधर्मे तद्वन्नात्रास्ति वै सुखम्॥२९७॥

मैथुनसुखस्य सुखान्तरसमता

रेतसो निर्गमे यावत् सुखं तावद्धि विद्यते। विण्मूत्रयो र्विसर्गेऽपि ततो नात्यधिकं पुनः॥
रतशब्दो विसर्गेऽत्र त्वया किं न प्रयुज्यते॥२९८॥

सम्प्राप्येति। त एव श्रमं प्राप्य अनिर्मुक्तग्रहा अपि सुखिता इवासते सुखप्राप्तवन्निर्व्यापारास्तिष्ठन्ति, तद्वत् कामिनोऽपि अनिर्मुक्तकामग्रहाः सन्तः श्रमेण सुखितवदवभासन्त इत्यर्थः॥२९४॥

तत्र ययातिवाक्यं स्मारयति–न हीति। तथा चोक्तं ययातिना 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥' इति। किं च प्रवृत्तिरेवेच्छाकार्यं स्वकारणस्याऽनिवृत्तिं दर्शयति–इति व्यतिरेक-मुखेनाह– न हि काम इति। येषां कामो विनष्टस्तेषान्तु पुनः प्रवृत्ति र्न दृष्टा, अतः प्रवृत्तिरेव कामलिंगमिति भावः॥२९५॥

ननु संसारिणोऽपि कामनाशवन्तो निवृत्तिमत्त्वाद्– इति सत्प्रतिपक्ष इति चेद्? न, निवृत्तेः कामनाशाभाववत्त्वेन निश्चितेषु मल्लादिषु अपि वर्तमानत्वेन व्यभिचारित्वादित्याह– किन्त्विति द्वाभ्याम्। न च फललाभेन निवृत्तिरिति शंक्यम्, लब्धफलानां साधनोपेक्षादर्शनाद् अत्र तु तद्व्यतिरेकादिति सूचयितुमुक्तं– सुखं नैवात्र किंचनेति॥२९६॥

दृष्टान्तेन व्यभिचारं स्फुटयति–मल्लयोरिति। ग्राम्यधर्मे रते। स्पष्टम्॥२९७॥

एवं ग्राम्यधर्मादौ वस्तुतः सुखाभावेऽपि विपर्ययेण दुःखमेव सुखमिति मन्यमानं प्रत्येवं वाच्यं यदन्यथापि त्वदभिमतसुखलाभे किमर्थोऽयमनर्थसार्थकर आरंभाडम्बरः, 'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेद्' इति न्यायाद्? इत्याशयेनाह– रेतसइति। तावद्विण्मूत्रयो र्विसर्गेऽपि विद्यत इत्यन्वयः। कीदृशं तद्? नात्यधिकं किंचिदधिकमनुता-पाभावादिति भावः। ननु रतजन्यं सुखं कथं विसर्गमात्रं जनयेद्? अत आह– रतशब्द इति। अत्र विण्मूत्रप्रतियोगिक-विसर्गे किं न प्रयुज्यते, अत्रापि प्रयोगे किं बाधकमित्यर्थः। सुखानुकूलव्यापारत्वं प्रवृत्तिनिमित्तमादायैव हि कोशकारैः 'निधुवनं रतम्' इत्यादौ रतशब्दः प्रयुक्तः, त्वयापि तदनतिक्रमादिति भावः॥२९८॥

बाद में थकान पाकर मानो सुखी होकर रुक जाते हैं जैसे ग्रह से छूटे लोग। सब कामनाग्रस्त जन्तु यों ग्रहपीडितों की तरह आवेशदशा में प्रवृत्त होकर श्रान्तदशा में सुखी की तरह हो जाते हैं। यही इनका भोगचक्र है॥२९४॥

ययाति ने भी कहा है– मैथुनसमाचरण से कभी कामना का नाश नहीं होता क्योंकि कामना नष्ट हो जाने पर उसी ओर प्रवृत्ति होनी नहीं चाहिये जबकि मैथुनादि में पुनः पुनः प्रवृत्ति दीखती है॥२९५॥

तात्कालिक प्रवृत्तिरहितता से कामनाश नहीं समझा जा सकता। होता इतना ही है कि जब तक थक नहीं जाते तब तक आपसी क्रीडा की प्रवृत्ति करते हैं और थक जाने पर कुछ समय के लिए निवृत्त हो जाते हैं। इस सब में कोई सुख नहीं हैं॥२९६॥

जैसे लड़ते हुए पहलवान थकने पर निवृत्त हो जाते हैं वैसे स्त्री–पुरुष भी थकने पर ही ग्राम्य–धर्म से निवृत्त होते हैं। कुश्ती की तरह इसमें भी कोई सुख नहीं॥२९७॥

अपि वायोः सशब्दस्य विसर्गेऽस्ति हि यत् सुखम्। न तद् देववधूमात्रसम्पर्केऽपि हि विद्यते॥
कस्मात् तदर्थं यागादि भ्रान्तै र्न क्रियतेऽधुना॥२९९॥

शरीरं, सम्बन्धः, प्रजा वा न सुखहेतुः

अपि नाम सुखं चेत् स्याद् नारी न नरमाव्रजेत। नरोप्येवं ततो नात्र सुखं देहेऽस्ति कस्यचित्॥३००॥

स्त्रीपुंसयो र्न योगोऽपि सुखकारणमिष्यते। रत्यन्ते स तयोरेव सन्तापाय यतो भवेत्॥३०१॥

न च प्रजाया उत्पत्तौ सुखं भवति कर्हिचित्। कस्माद् मत्कुणकीटादेरुत्पादान्न सुखं हि नः॥३०२॥

किं चैतादृशसुखस्यातिसौलभ्यात् तत्कामनयाऽऽचरणेन न कर्माणि वञ्चनीयानि, तेषामन्तःकरणशुद्धौ विनियोगार्हत्वात्। अभिनिवेशेन तत्कामनयैवाचरणे तु प्रतिबन्दी समाधेया त्वयेत्याह– अपि वायोरिति। वायोरपानाख्यस्य। मात्रशब्दः कात्स्न्यार्थकः। संपर्कः संयोगः। यागादि यागदानप्रभृति। शेषं स्पष्टम्॥२९९॥

किं च सुखस्य विषयजन्यत्वाभ्युपगमे किं स्त्रीपुंसयोः शरीरं कारणं, किं वा तयो र्योगः, किं वा प्रजोत्पत्तिः, किमथवा सजातीयप्रजोत्पत्तिः?–इति विकल्प्य; तत्र नाद्य इत्याह– अपि नामेति। देहे सुखं नाम प्रसिद्धं स्याद् उत्पद्येत चेत् तर्हि नारी न नरं व्रजेद् एवं नरोपि न नारीं व्रजेत्। फलितमाह– तत इत्यादि॥३००॥

न द्वितीय इत्याह– स्त्रीपुंसयोरिति। रत्यन्ते ग्राम्यधर्मान्ते तयोः स्त्रीपुंसयोः सन्तापाय अनुतापाय। अत एवोक्तं शिष्टैः 'भोजनान्ते श्मशानान्ते मैथुनान्ते च या मतिः। सा मतिः सर्वदा चेत् स्यान्नरो नारायणो भवेत्॥' इति॥३०१॥

अब बताते हैं कि ग्राम्यधर्म के तुल्य सुख अनायास भी मिलता रहता है– रेतस् के निकलने में जितना सुख है उतना ही विष्ठा व मूत्र त्यागने में है, मलत्याग से अधिक सुख रेतस्त्याग में नहीं। तब मलविसर्ग के लिए रतशब्द का प्रयोग क्यों नहीं कर लेते। रत और मलत्याग समान कोटि के है॥२९८॥

किं च शब्दयुक्त अधोवायु छोड़ने में जो सुख होता है वह सारी देवकन्याओं के सम्पर्क में भी नहीं होता। तब भ्रांत लोग वायुत्याग के लिए यागादि क्यों नहीं करते?॥२९९॥

तात्पर्य है कि याग करने चाहिये चित्तशुद्धि द्वारा मोक्ष के लिए। स्वर्ग के लिए याग करना तो पादने के लिए याग करने के समान है। जैसे पारस पत्थर से मलभाण्ड (टट्टी का गमला) बनाया जाये वैसा ही यागादि शुभकर्मों से स्वर्गीय विषयभोग प्राप्त करना है।

आगे विचार होता है कि यदि सुख को विषयजन्य मानें तो क्या उसका कारण स्त्री-पुरुष के शरीर हैं, या उनका सम्बन्ध, या प्रजा की उत्पत्ति या सजातीय प्रजा की उत्पत्ति? शरीरों को कारण नहीं कह सकते यह बताते हैं– अगर नारी सुख होती तो नर के पास न जाती और पुरुष सुख होता तो स्त्री के पास न जाता। अतः किसी के शरीर में सुख नहीं है॥३००॥

जब स्वयं में सुख नहीं तो सुख उत्पन्न कैसे करेंगे, बालू में तेल नहीं तो वह तेल उत्पन्न भी नहीं कर सकती, यह अभिप्राय है॥

शरीरों का संबंध सुखकारण है यह भी नहीं कह सकते यह बताते हैं– स्त्री-पुरुष का संयोग भी सुख का कारण नहीं क्योंकि रतिसमाप्ति पर वह संयोग ही दोनों के संताप का कारण बनता है॥३०१॥

इच्छानिवृत्ति के अनंतर संयोग सुखकर न हो असुविधाजनक होता है। शिष्टों में प्रसिद्ध है कि भोजन, शवदाह और मैथुन इन तीनों की समाप्ति के समय जो बुद्धि बनती है वह यदि हमेशा रहे तो नर नारायण ही हो जाये। तात्पर्य यही है

न वा समानजातीयसमुत्पादात् सुखं भवेत्। प्रजावन्तो हि दृश्यन्ते प्रजया पीडिताः स्वया॥३०३॥

भोजनं न सुखकारणम्

एवमन्नोदके नैव सुखकारणमीरितम्। भुक्तपीतान्त एते हि यतो दुःखस्य कारणम्॥३०४॥

यथा हि ज्वलतो वह्ने र्भवेत् काष्ठस्य संचयः। क्षिप्तस्तत्र क्षणं प्रौढज्वालानां विनिवारणम्॥३०५॥

न तृतीय इत्याह– न च प्रजाया इति। मत्कुणकीटः प्रसिद्धः।[१] आदिपदेन यूकादिपरिग्रहः। तेषामपि प्रकर्षेण जनिशालित्वेन प्रजापदार्थत्वाविशेषादिति भावः। यद्येवं स्यात्तर्हि उत्तमाश्रमस्थैरप्यनुभूयेत प्रजासुखमिति सूचनाय न[२] इति पदं प्रयुक्तमिति॥३०२॥

न चतुर्थ इत्याह– न वेति। समानजातीयत्वं मनुष्यत्वादिना। प्रतिकूलायाः प्रजायाः पीडाहेतुत्वं प्रसिद्धम्, अनुकूलाया अपि योगक्षेमचिन्ताद्वारेत्यवधेयम्॥३०३॥

एवं कामसुखहेतुतयाऽभिमतानां कारणतामयोग्यत्वव्यभिचारादिभिर्निरस्य अथ रसनाविषयस्याऽपि कारणत्वायोग्यतां स्फुटयति– एवमन्नोदके इति। अन्नं चोदकं चान्नोदके। पूर्वार्द्धे प्रतिज्ञा, उत्तरार्द्धे व्यभिचाररूपो हेतुः कारणत्वाभावे दर्शितः। भुक्तं च पीतं च ते तयोरन्ते, भावे क्तः भोजनपानान्ते हि परिवेषणं सिंहनादेन निवारयंतस्तत्र दुःखसाधनताज्ञानाधीनं द्वेषं सूचयन्तीति प्रसिद्धम्। एवमन्यदप्युदाहरणमूह्यम्॥३०४॥

कथं तर्हि लौकिकाः सुखहेतुतामन्नोदकयो र्व्यवहरन्ति? इत्याशंक्य; क्षुत्तृषयोः सहनक्षमतां भ्रान्त्या सुखमित्यभिमन्य तज्जनकतया–इति गृहाणेत्याह– यथा हीत्यादिपंचभिः। यथा काष्ठसंचयः वह्निपुंजे क्षिप्तः सन् ज्वलतो वह्नेः प्रौढज्वालानां विनिवारणमुपशमसाधनं भवेद् इत्येको दृष्टान्तः॥३०५॥

कि इन कर्मों के तुरंत बाद कुछ देर तक इनकी तुच्छता का ख्याल बना रहता है, तात्कालिक वैराग्य की स्थिति होती है।

प्रजा की उत्पत्ति से सुख नहीं यह जताते हैं– प्रजा की उत्पत्ति में भी सुख नहीं है, यदि हो तो खटमल आदि की उत्पत्ति से हमें सुख क्यों नहीं होता?॥३०२॥

न यह कह सकते हैं कि सजातीय प्रजा की उत्पत्ति से सुख होता है यह बताते हैं– यह भी नहीं कि अपनी समान जाति वाले को उत्पन्न करने से सुख होता हो क्योंकि सन्तति वाले लोग अपनी संतान से पीडित देखे जाते हैं॥३०३॥

आज्ञा आदि न मानने वाले पुत्रादि दुःख देते हैं यह प्रसिद्ध ही है। अनुकूल रहने वाले पुत्रादि के भी भरण–पोषण के लिए क्लेश उठाना ही पड़ता है। अतः प्रजा सुख की जगह दुःख ही देती है।

इस प्रकार काम–सुख के जो हेतु प्रसिद्ध हैं वे सुख नहीं यह स्पष्ट किया। अब बताते हैं कि रसना के विषय भी सुख नहीं हैं– इसी तरह अन्न–पान भी सुख के कारण नहीं हैं क्योंकि खाने–पीने की समाप्ति पर वे ही दुःख के कारण हो जाते हैं॥३०४॥

भोजन भरपेट कर चुकने के बाद परोसने वालों को गरजकर मना किया जाता है जिससे पता चलता है कि अब भोजन से उसे द्वेष हो गया है क्योंकि वह जानता है कि यदि और खायेगा तो उसे दुःख होगा।

तब लोग खान–पान को सुख का कारण क्यों मानते हैं? इसका उत्तर देते हैं– जैसे अत्यधिक लकड़ी वह्निपुंज पर डाल दी जाये तो केवल कुछ देर के लिए बड़ी लपटों को रोक देती है, आग को समाप्त नहीं करती; या जैसे वायु से सुखायी जाती गीली ज़मीन पर पानी छिड़कना क्षण भर के लिए ही रूखापन हटाने का उपाय है; इसी तरह पेट में होने वाले अग्नि व प्राण जन्तुओं में लगातार भूख–प्यास पैदा करते रहते हैं। देह में डाले गये अन्न–जल से लोग क्षण भर किसी

१. खटमल इति हिन्दी। २. शंकरानन्दानाम्।

यथा वा सरसं देशं वायो रूक्षं हि कुर्वतः। क्षणं तद्वारणोपायस्तत्र नीरावसेचनम्॥३०६॥

एवं जठरगावेतावग्निप्राणावहर्निशम्। क्षुत्पिपासे जनयतो जन्तूनामनिवारितौ॥३०७॥

अन्नोदकाभ्यां क्षिप्ताभ्यां देहस्यान्तः क्षणं नृभिः। यथाकथंचित् सुकरा क्षान्तिः स्यात् क्षुत्पिपासयोः॥३०८॥

क्षुत्तृषोः क्षणमात्रं या शान्तिः प्राणाग्निरोधनात्। तस्यां सुखमिति भ्रान्ता वदन्त्यल्पधियो नराः॥३०९॥

शब्दादेश्च न सुखोपजनिः

एवं शब्दादिलाभेऽपि सुखं नैव प्रजायते। किन्तु स्वात्मन औत्सुक्यनिवृत्तिः स्यात् क्षणं नृणाम्॥३१०॥

ततो न जायते किंचित् सुखं विषयतो नृणाम्। किन्तु दुःखेषु सुखधीः क्रियते भ्रान्तबुद्धिभिः॥३११॥

द्वितीयं दृष्टान्तमाह– यथा वेति। सरसं रसेन सहितमार्द्रमिति यावद्, ईदृशं देशं स्थलविशेषमंगनप्रभृति; रूक्षं कुर्वतो वायोः 'षष्ठी चानादरे' (२.३.३८) इत्यत्र षष्ठी, रूक्षं कुर्वन्तं वायुमनादृत्य यद् नीरावसेचनं तत् तद्वारणोपायः रूक्षीकरणवारणोपायः क्षणं यथा भवतीत्यर्थः॥३०६॥

दार्ष्टान्तिकमाह–एवमिति त्रिभिः। जठरगौ शरीरान्तःस्थितौ अग्निप्राणौ जन्तूनां क्षुत्पिपासे जनयतः इत्यन्वयः। अत्र प्राणस्य 'आपोमयः प्राणः' (छां.६.५.४) इति श्रुत्युक्तजलतादात्म्याद् 'आप एव तदशितं नयन्ते' (छां.६.८.३) इति श्रुतेः क्षुद्धेतुत्वं, 'तेज एव तत्पीतं नयते' (छां.६.८.५) इति श्रुते र्वह्नेस्तृषाहेतुत्वमिति बोध्यम्॥३०७॥

अन्नोदकाभ्यामिति। नृभिर्देहस्यान्तः क्षिप्ताभ्यामन्नोदकाभ्यां करणाभ्यां क्षुत्पिपासयोः क्षान्तिः सहनं यथाकथंचित् सुकरा सुखेन कर्तुं शक्या स्यादित्यन्वयः॥३०८॥

क्षुत्तृषोरिति। स्पष्टम्॥३०९॥

एतन्न्यायमन्यत्राप्यतिदिशति– एवं शब्दादीति। सुखस्य वस्तुगतिं स्फुटयति– किन्त्विति। औत्सुक्यस्य अभिलाष-प्रयुक्तचित्तचाञ्चल्यस्य क्षणं निवृत्ति र्जायते, तामेव चित्तदशां मूढाः सुखमिति मन्यन्ते। बुधास्त्वेवं जानन्ति–चित्तस्य निर्मलस्यापि कामनाभिश्चलत्वदशायामात्मप्रतिबिम्बग्रहणाऽयोग्यस्य अभिलाषशान्तौ सत्यां यस्य परमानन्दात्मनः प्रतिबिम्बेन सुखवद्भानं स एव मुख्यं सुखमिति। इत्थं च मूढाः क्षणिकसुखाः, विद्वांसस्तु नित्यानन्दा इति सिद्धम्॥३१०॥

फलितमाह– ततो नेति। दुःखेषु हेयतया दुःखरूपान्तःकरणपरिणामेषु। स्फुटमन्यत्॥३११॥

तरह भूख-प्यास को कुछ आराम से सहन कर पाते हैं॥३०५-३०८॥

भूखादि सहने का सामर्थ्य पा जाने को ही भ्रम से लोग सुख मान बैठते हैं। प्राण भूख का और वह्नि प्यास का हेतु है यह छांदोग्य में स्पष्ट है।

प्राण व अग्नि के उपशम से भूख-प्यास की क्षण भर होने वाली शांति को अल्पबुद्धि वाले भ्रान्त लोग सुख समझते हैं॥३०९॥

ऐसे ही अन्य विषय भी सुख नहीं यह बताते हैं– इसी प्रकार शब्दादि के संपर्क से भी सुख नहीं होता किंतु क्षण भर के लिए अपनी उत्सुकता निवृत्त होती है जिसे भ्रम से लोग सुख समझ लेते हैं॥३१०॥

जानकार तो यह जानते हैं कि चित्त स्वभाव से चाहे निर्मल हो फिर भी जब चंचल होता है तब आत्मसुख का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर पाता नहीं। कामना से ही वह चंचल होता है। कामना का उपशम होने पर जब वह शांत होता है तब उसमें आत्मानंद का प्रतिबिम्ब पड़ता है जो सुख की तरह प्रतीत होता है। वस्तुतः तो आत्मा ही सुख है जिसके प्रतिबिम्बमात्र से चित्तवृत्ति सुख लगती है। कामनिवृत्ति विषय से होने के कारण भ्रम सहज है कि विषय से सुख हुआ।

जनिनाशाल्पताद्याश्च दोषा विषयजा नृणाम्। फले तस्मिन् कथं नाम सुखधी र्धीमतां भवेत्॥३१२॥

अनन्तआत्मैव सुखम्

ततो न जायते किंचित् सुखं क्काऽपि कथंचन। आनन्दात्मा ततोऽहं स्याम् सत्प्रकाशैकरूपवान्॥३१३॥

तस्य सुखत्वासंभवं प्रकारान्तरेणाप्याह– जनिनाशाल्पताद्या इति। तस्मिन् फले धीपरिणामरूपे फले जनिनाशाल्पताद्या उत्पत्तिध्वंसपरिच्छिन्नत्वाद्याः, आद्यपदेन परिणामादिग्रहः, एते दोषाःसन्ति। कीदृशा दोषाः? विषयजा विषयेभ्यो जाताः प्रादुर्भूताः स्त्रक्चन्दनादिविषयसम्बन्धजन्मादिभिस्तत्प्रयुक्तसुखजन्मादेः सुज्ञानत्वात्। विषयजे–इति पाठे तु फलविशेषणं स्फुटम्। एवं च धीमतां विवेकिनां नृणां तस्मिन् सुखधीः कथं स्यात्? सा न संभवतीत्यर्थः। सुखपदे हि व्युत्पाद्यमाने शोभनानि प्रसन्नानि खानीन्द्रियगोलकानि येनेत्यर्थो लभ्यते। विषयसुखे विचार्यमाणे तु मनोगोलकं हृदयमेव दोषचिन्तया तप्तं भवतीति कथं तत् सुखं स्याद्? इति भावः। तथा चात्र भगवतः पतञ्जलेः सूत्रम्– 'परिणामतापसंस्कारदुःखै र्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (२.१५)[१] इति॥३१२॥

एवं सांसारिकसुखस्य दुःखरूपतां प्रतिपाद्य प्रकृतविचारस्य आत्मस्वरूपानन्दस्य परिपूर्णताबोधकतया प्रकृतोपयोगं दर्शयन् 'स एतमेव' इत्यादि 'अपश्यद्' (ऐ.१.३.१३) इत्यन्तं वाक्यम् आत्मानं तततमं पूर्णतमं महावाक्यार्थभूतं साक्षात्कृतवानित्यर्थकं व्याचष्टे–ततो नेत्यादिषोडशभिः। तत उक्तयुक्ते र्यत् सुखं तद् न जायते, यच्च जायते तद् दुःखमेवेति पूर्वार्द्धार्थः। ततः सुखस्य जन्मादिविकारराहित्याद् आनन्दात्माऽऽनन्दरूपोऽहं स्याम्। कीदृशः? सत्प्रकाशैक-रूपवान्। भावप्रधानो निर्देशः, सत्प्रकाशैकत्वैः रूपवान्; सत्प्रकाशैकत्वानि मम स्वरूपलक्षणानि तद्बोधकैः सर्व-महावाक्यगतपदैरहमेव प्रतिपाद्यः। स्यामिति संभावनायां लिङ्, लक्षणैक्यात्तत्त्वंपदार्थयोरैक्यं मया बाधकाऽदर्शनात् संभाव्यते। यद्यत्र अनुपपत्तिं कश्चिन्मन्यते स स्वाशयं प्रकाशयतु–इति भावः॥३१३॥

यह समझकर विवेकी तो कामना पर विजय पाते हैं ताकि मन चंचल न हो और नित्य ही आनंद बना रहे। मूर्ख लोग कामना–निवृत्ति से सुख समझकर कामनायें बढ़ाते हैं और उनकी पूर्ति के उपाय ढूँढते रहते हैं। सोचते वे हैं कि अधिक कामना निवृत्त होगी तो अधिक सुख होगा जैसे समझते हैं कि ज्यादा भूख लगेगी तो खाने से ज्यादा सुख होगा; किंतु होता इस प्रक्रिया में दुःख ही है क्योंकि कामना के अनुपात में विषय मिलते नहीं। इसलिए बुद्धिमान् को विषयों से वैराग्य करना चाहिये।

सुख–विचार का निष्कर्ष बताते हैं– अतः लोगों को विषयों से कुछ भी सुख होता नहीं है किंतु भ्रांत मति वाले लोग दुःखों को ही सुख मान बैठते हैं॥३११॥

प्रकारान्तर से बताते हैं कि विषय सुख नहीं हो सकते– जन्म,नाश, अल्पता आदि विषयजन्य दोष विषयसुखरूप फल में अवश्य होते हैं। ऐसे सदोष सुख में बुद्धिमानों को सुखबुद्धि कैसे हो सकती है?॥३१२॥

सुख–शब्द का अवयवार्थ करें तो तात्पर्य होता है कि जिससे 'ख' अर्थात् इंद्रियगोलकें 'सु' अर्थात् प्रसन्न होवें। किंतु विषयसुख का जब विचार करते है तब मन का गोलक हृदय दोषचिंता से परितप्त होने लगता है अतः विषयसुख को सुख कहना ही अनुचित है।

प्रकृत विचार का मुख्य तात्पर्य है आत्मा के स्वरूपभूत आनंद की परिपूर्णता स्थापित करना। इसके बाद श्रुति ने बताया है कि उस देव ने महावाक्य के अर्थभूत सर्वथा पूर्ण आत्मा का दर्शन किया। उस प्रसंग को व्यक्त करते हैं– अतः किसी भी तरह कोई सुख उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि जन्मादि विकारों से रहित ही वस्तुतः सुख है इसलिए सत्–चिद्–

---

१. परिणामो रागः, सुखानुशयित्वात् कर्मप्रेरणया कर्माशयवृद्ध्या दुःखहेतुः। सुखप्रतिबंधकेषु द्वेषस्तापदुःखं, तदप्यकार्यादौ प्रवर्तयेद्। रागद्वेषयोः संस्कारा अप्येवं दुःखहेतवः। गुणाः सत्त्वादयस्तेषां वृत्तयः प्राबल्यदौर्बल्ये, एकस्य प्राबल्येऽपरयो र्दौर्बल्यम्। तस्मात्सत्त्ववृद्ध्या सुखमिति तद्विरोधि दुःखमनुपदं स्यादेवेत्येतदपि दुःखमेव। एवं त्रिधा दुःखमेव सुखमपीति भावः।

नामभेदो नार्थभेदप्रयोजकः

न हि प्रकाशसुखयोः सत्ताया अपि भेदधीः। जायते धीमतां क्वापि नामान्तरसमीरणात्॥३१४॥

पिता पुत्रः पतिर्भ्राता यथैकस्मिन्नरे पृथक्। शब्दास्तद्वदिमे शब्दाः सदाद्या मयि कीर्तिताः॥३१५॥

इतरव्यावृत्तिः शब्दार्थः

असन्नाऽहं भवाम्यस्मात् सच्छब्दो मयि वर्तते। न हि वन्ध्यासुतस्येव रूपं मम कथंचन॥३१६॥

जडं नाऽहं भवाम्यस्मात् प्रकाशाख्या मयि स्थिता। घटादेरिव मे रूपं नान्यबोध्यं कथंचन॥३१७॥

नन्वनुपपत्त्यन्तराऽभावेऽपि त्वत्प्रतिपादकसदादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभेद एव तव स्वगतभेदमापादयिष्यति, तथा च कथं तव तततमत्वमिति चेद्? न। लोकेप्यनेकपदप्रतिपाद्यवस्तुनो भेदादर्शनेन तादृशनियमाऽदर्शनादित्याह– न हीति द्वाभ्याम्। नामान्तरै र्भिन्नपदैः समीरणात् प्रतिपादनात् सत्तादीनां भेदधी र्विवेकिनां न जायत इत्यर्थः॥३१४॥

अत्र दृष्टान्तमाह–पितेति। दार्ष्टान्तिकमाह–तद्वदिति॥३१५॥

यदा लोके धर्मिसमानसत्ताकेतरनिरूपितधर्मभेदो न धर्मिभेदमापादयति तदा किमुत कल्पितेतरव्यावृत्तिरूप-प्रवृत्तिनिमित्तभेदः–इत्याशयेन सदादिशब्दानामसदादिव्यावृत्तिपरत्वं स्फुटयति– असन्नाहमित्यादिना। अहमसन्न भवामि किन्त्वसद्विलक्षणः। अस्माद्, ल्यब्लोपे पञ्चमी, इममर्थमादाय सच्छब्दो मयि वर्तते प्रवर्तते। असद्वैलक्षण्यं स्पष्टयति–न हीति। एवमुत्तरत्रापि॥३१६॥

जडं नाऽहमिति। अन्यबोध्यं परप्रकाश्यम्। स्फुटमन्यत्॥३१७॥

अद्वितीयस्वरूप मैं ही वस्तुतः आनंद हूँ॥३१३॥

सद्रूपता आदि मेरे स्वरूपभूत लक्षण हैं। सत्त्वादिबोधक महावाक्यगत पदों का प्रतिपाद्य मैं ही हूँ। सत्त्वादि यद्यपि प्रसिद्ध हैं परमेश्वर के लक्षण रूप से तथापि वे मुझमें पूरी तरह घटते हैं। अतः समान लक्षण होने से परमेश्वर से मेरा अभेद है। सद् होने से मुझमें विकार नहीं। चित् होने से मुझमें प्रकाश का अव्यभिचार है। अप्रकाशमान हो तो सुख भी व्यर्थ ही है। अद्वितीय होने से भूमता व निरतिशयता का लाभ है॥

सद् आदि विभिन्न प्रवृत्ति-निमित्तोंवाले शब्दों से प्रतिपाद्य होने पर भी मुझमें स्वगत भेद नहीं। लोक में भी एक ही वस्तु भिन्न शब्दों से बोध्य देखी जाती है, यह कहते हैं– नामान्तरों से कथनमात्र के कारण विवेकियों को कहीं भी ज्ञान सुख और सत्ता में भेदनिश्चय नहीं होता। जैसे एक पुरुष के विषय में पिता, पुत्र, भाई, पति आदि अनेक शब्द प्रवृत्त होते हैं वैसे ही ये सद् आदि शब्द अकेले मुझे विषय करते हैं॥३१४-३१५॥

लोक में तो धर्मी की समान सत्ता वाले अन्य व्यक्ति आदि से निरूपित धर्मों का भेद भी धर्मी में भेद प्राप्त नहीं कराता। देवदत्त की तुल्य सत्ता वाला उसका पुत्र होता है जिससे निरूपित पितृत्व धर्म देवदत्त की अखण्डता समाप्त नहीं करता। तब कल्पित जो अन्य हैं उनसे व्यावृत्त करने वाले विभिन्न प्रवृत्तिनिमित्तों से मुझमें भेद कैसे होगा? अर्थात् पितृत्व, भ्रातृत्व आदि वास्तविक धर्मों वाला भी धर्मी देवदत्त एक ही होता है। मुझे तो सत्यादि शब्द किसी वास्तविक धर्म के कारण कहते भी नहीं। वे तो इतना ही बताते हैं कि कल्पित जो असत्यादि उनसे मैं भिन्न हूँ। अतः मुझमें भेद की संभावना ही कहाँ है? इस बात को स्पष्ट करते हैं– मैं असत् नहीं होता इसलिए सत्-शब्द मुझे विषय करता है। वन्ध्यासुत की तरह मेरा रूप किसी प्रकार नहीं होता॥३१६॥

मैं जड नहीं होता इसलिए मेरा नाम चित् (प्रकाश) है। मेरा स्वरूप घटादि की तरह परप्रकाश्य किसी तरह नहीं है॥३१७॥

दुःखं नाऽहं भवाम्यस्मात् सुखशब्दोऽपि विद्यते। प्रतिकूलोऽन्यशेषो वा नाऽहिः स्त्र्यादिः स कथ्यते॥३१८॥

एवमात्मादिशब्दाश्च वर्तन्ते मयि सर्वदा। सच्चिदानन्दरूपेऽस्मिन् सर्वभेदविवर्जिते॥३१९॥

सदादिपदानामर्थोऽभिन्नः

न प्रकाशः सुखादन्यः प्रतिकूलस्तथा भवेत्। अन्यशेषोऽथवा यद्वत् सर्पो वा ललनादिकम्॥
अनुकूलतमत्वेन स्वात्मनो नोभयं हि सः॥३२०॥

दुःखं नाहमिति। यो भावः प्रतिकूलो भवति यथा अहिः सर्पः, यो वा अन्यशेषोऽन्यार्थो[1] यथा स्त्र्यादिः स सुखपदेन न कथ्यते किन्तु स दुःखपदार्थ एव। तद्वैलक्षण्यबोधनाय मयि सुखशब्दः प्रवृत्त इत्यर्थः॥३१८॥

एतं न्यायमन्यत्राप्यतिदिशति– एवमिति। अहमनात्मा कस्यापि स्वरूपभिन्नो न भवामीति बोधनाय आत्मशब्दो मयि वर्तत इति दिशा बोध्यमित्यर्थः। आदिपदेन एकाऽद्वितीयाऽस्थूलाऽनण्वह्रस्वादिशब्दग्रहः। एतावांस्तु विशेषः– सदादिशब्दा विधिमुखेन प्रथमं बोधयित्वा पश्चाद् व्यावृत्तिं बोधयन्ति, अद्वितीयादिशब्दास्तु साक्षाद् व्यावृत्तिं प्रतिपाद्य अर्थात् स्वरूपम्–इति। ननु कियन्ति पदानि विचारकाल उपसंहार्याणीति जिज्ञासापूरणाय आत्मानं विशिनष्टि– सच्चिदानन्देत्यादि। तथा चेदृशं प्रमेयं यावद्भिः पदै र्निश्चीयते तावन्ति उपसंहार्याणीति भावः॥३१९॥

एवं सदादिपदानां व्यावृत्तिपरत्वेन अविरोधं प्रतिपाद्य अथ युक्तितोऽपि सदादिशब्दार्थानां भेदो न संभवतीत्याह– न प्रकाश इत्यादिना। प्रकाशस्य सुखाद् भेदो न संभवति[2], सुखाद् भेदे हि प्रतिकूलत्वं दुःखतत्साधनसर्पादिवत् स्याद्। अथवा परैः सुखसाधनत्वाभिमतललनादिवदन्यशेषः स्यादित्यर्थः। सः प्रकाशस्तूभयं प्रतिकूलोऽन्यशेषो वा न, तत्र हेतुः–अनुकूलतमत्वेन। तत्रानुकूलत्वं स्रक्चन्दनादेः प्रसिद्धम्। अनुकूलतरत्वं सुखत्वाभिमतान्तःकरणवृत्तेः। अनुकूल-तमत्वं तु तत्प्रकाशस्य आत्मस्वरूपभूतस्य भासमानानन्दस्य पुरुषार्थतया तदुपपादकत्वाद्। अतो नोभयं प्रकाशे संभवतीति भावः॥३२०॥

मैं दुःख नहीं होता अतः सुख शब्द भी मुझे विषय करता है। प्रतिकूल साँप आदि तथा अपने शत्रु आदि किसी अन्य के लिए होने वाले स्त्री आदि पदार्थ कभी अपने लिए सुख नहीं कहे जाते॥३१८॥

मेरा स्वभाव उनसे विपरीत है; न मैं प्रतिकूल हूँ और न किसी अन्य के लिए हूँ। यह बताने के लिए मुझे सुख कहा जाता है।

इसी तरह सब भेदों से रहित सच्चिदानन्दरूप मुझे आत्मा आदि शब्द भी विषय करते हैं॥३१९॥

आत्मा अर्थात् स्वरूप। मैं किसी के भी स्वरूप से भिन्न नहीं हूँ इसलिए आत्मा कहा जाता हूँ। एक, अद्वितीय, अस्थूल आदि पदों का भी इसी रीति से प्रयोग है। पदों के स्वभाव से इतना अंतर अवश्य है कि सद् आदि शब्द पहले विधिमुख से बोध कराकर बाद में व्यावृत्ति का ज्ञान कराते हैं जबकि अद्वितीयादि शब्द साक्षात् व्यावृत्ति बताकर अर्थतः स्वरूप में पर्यवसित होते हैं। अभिप्राय है कि इतरव्यावृत्ति वाला होने पर भी आत्मा सद् आदि तो है ही। सत्य शब्द का लक्ष्य होने पर भी है वह सत्य ही। केवल निषेधमुख वाले शब्द होते तो शंका हो सकती थी कि आत्मा शून्यादि की तरह कुछ है ही नहीं। आखिर अलीक भी तो द्वितीय-रहित आदि कहा ही जा सकता है! इसलिए विधिमुख वाले शब्दों से बताया। इनसे उसमें सधर्मता का भ्रम न हो जाये इसलिए इन्हे भी इतरव्यावृत्तिपरक माना। हर हालत में दोनों तरह के शब्दों से निर्धर्मक सद् आदि रूप का बोध होना चाहिये। शास्त्र में यद्यपि बहुतेरे पद आत्मपरक हैं तथापि उक्त स्वरूप

---

१. देवदत्तापेक्षयाऽन्यो यज्ञदत्तस्तच्छेषो यः स्त्र्यादिपदार्थः स देवदत्तस्य सुखं न भवति किन्तु यज्ञदत्तादेः शत्रुत्वे दुःखायैव देवदत्तस्य भवतीत्यर्थः।

२. सुखं प्रकाशाभिन्नं प्रकाशं विनानुपलब्धेरतश्च प्रकाशोपि सुखाभिन्नोऽनुसन्धेयः। प्रकाशस्य च सदाऽद्वेष्यत्वात्प्रियतया सुखत्वं स्फुटम्। नच दुःखप्रकाशो द्वेष्यस्तत्रापि दुःखस्यैव द्वेष्यत्वौचित्येन प्रकाशस्यातथात्वात्। अतो जडतां हित्वा दुःखप्रकाशमपि वष्टि अंगसंज्ञाहीनो रोगीति दिक्।

नात्मा प्रकाशरूपात् स्याद् अन्योऽसौ सर्वबोधवित्। तथात्वे घटवत् स स्याद् अनात्माऽऽत्मा न तादृशः॥३२१॥
सुखं च न प्रकाशेन व्यतिरिक्तं कथंचन। न ह्यप्रकाशमानस्य सुखस्य सुखतेष्यते॥३२२॥
स्वातिरेकिप्रकाशेन प्रकाश्यं न सुखं भवेत्। अहिरज्ज्वादिवत् तस्मात् सुखमेवावबोधनम्॥३२३॥

ननु मास्तु सुखप्रकाशयो र्भेदः, तयो र्धर्म्यात्मा तु ततः पृथगस्तु? इत्याशंक्य; तयोरात्माऽभेदेऽनुमानं दर्शयित्वा विपक्षे पूर्वं प्रपञ्चितं दोषं प्रसञ्जयति– नात्मेति। आत्मा प्रकाशरूपात् प्रकाशस्वरूपाद् भिन्नो न–इति प्रतिज्ञा। तत्र केवलव्यतिरेकिहेतुगर्भं विशेषणं सर्वेत्यादि। सर्वेषां बोधानां धीवृत्तीनां प्रकाशक इति तदर्थः। यत्र प्रकाशभेदाभावाभावः[१] तत्र न सर्वबोधवित्त्वं, यथा बुद्ध्यादीति उदाहरणम्। तदनुकूलं तर्कमाह– तथात्व इत्यादिना। तथात्वे प्रकाशभिन्नत्वे स आत्मा प्रकाश्यत्वेन अनात्मा स्याद् यथा घटः, आत्मा तु तादृशो न भवतीत्यर्थः॥३२१॥

पूर्वमुक्ते प्रकाशस्य सुखादभेदे युक्तिं सुखस्य तदभेदसाधनमुखेन स्फुटयति– सुखं चेति। स्पष्टम्॥३२२॥

ननु प्रकाशमानता दीपेन घटस्येव भिन्नेन प्रकाशेनाऽपि संभवति? इत्याशंक्य; तथा स्वीकारे दोषमाह– स्वातिरेकीति। स्वस्मादतिरेको भेदो यस्य तथाभूतेन प्रकाशेन सुखं प्रकाश्यं न भवेद् न संभवेत्। तत्र व्यतिरेके दृष्टान्तः–अहिरज्ज्वादिवदिति। अहिः प्रातिभासिकत्वेन प्रसिद्धः, रज्जुस्तु व्यावहारिकत्वेन, तावादी येषां प्रातिभासिकानां व्यावहारिकाणां च ते तथा, तद्वत्। तेषां दृश्यानां कल्पितचित्तादात्म्येन विषयतया भानसंभवेऽपि 'यो वै भूमा तत्सुखम्' (छां.७.२३) इति श्रुते र्भूमरूपसुखस्य सर्वात्मकस्य कल्पितत्वं न संभवति, शून्यवादापत्तेः, निरधिष्ठानभ्रमायोगाच्चेति भावः। तस्मात् सुखमेवावबोधनं सुखप्रकाशयोरभेद एवेत्यर्थः॥३२३॥

वाला आत्मा जितने भी पदों से निश्चित प्रमित हो जाये उतने ही पदों का विचार साधक के लिए पर्याप्त है।

अब समझाते हैं कि युक्ति से भी सद् आदि शब्दों के अर्थ में भेद नहीं है– प्रकाश (ज्ञान) सुख से पृथक् नहीं है। वैसा हो तो वह प्रतिकूल हो जाये जैसे साँप या अन्यशेष हो जाये जैसे स्त्री आदि। क्योंकि आत्मा अनुकूलतम है इसलिए वह न प्रतिकूल है न अन्यशेष। अतः सुख से अनन्य ही है॥३२०॥

स्रक् चंदन आदि को अनुकूल कहते हैं। जो अंतःकरणवृत्ति सुख मानी जाती है वह अनुकूलतर है। वृत्ति का भी प्रकाश जो आत्मा का स्वरूपभूत भासमान आनंद है वह अनुकूलतम है। वही पुरुषार्थ है और सर्वत्र अनुकूलता का उपपादक है।

सुख व प्रकाश भी भिन्न नहीं और आत्मा भी उनसे भिन्न नहीं। यह समझाते हैं– आत्मा प्रकाशस्वरूप से भिन्न नहीं है क्योंकि वह सब बुद्धिवृत्तियों का प्रकाशक है। यदि आत्मा प्रकाशस्वरूप से भिन्न होता तो घट की तरह अनात्मा होता। आत्मा अनात्मा है नहीं अतः प्रकाशभिन्न भी नहीं है॥३२१॥

सुख भी किसी तरह प्रकाश से भिन्न नहीं है क्योंकि अप्रकाशमान (अज्ञायमान) सुख की सुखरूपता स्वीकारी नहीं जाती॥३२२॥

घट से भिन्न दीपक से घट प्रकाशता है; ऐसे सुख भी अपने से भिन्न प्रकाश से प्रकाशमान हो सकता है, इस शंका को हटाते हैं– सुख अपने से भिन्न प्रकाश से प्रकाश्य नहीं हो सकता जैसे साँप रस्सी आदि होते हैं। इसलिए सुख ही ज्ञान है॥३२३॥

साँपादि दृश्य हैं अतः प्रकाश्य हैं। सुख द्रष्टा का स्वरूप है। अतः प्रकाश्य नहीं हो सकता। वह प्रकाश्य होगा तो

---

१. आत्मा प्रकाशभेदाभाववान् सर्वबोधवित्त्वाद् व्यतिरेके बुद्ध्यादिवदिति प्रयोगो विवक्षितः। तस्माद्यत्र न सर्वबोधवित्त्वं तत्र प्रकाशभेदाभावाभाव इति दर्शनीयमेव।

आत्मा सुखप्रकाशाभ्यां भिन्नो नैव कथंचन। सुखप्रकाशयो[१] र्भेदेऽनात्मता घटवद् भवेत्॥३२४॥

आत्मानन्दप्रकाशाश्च न सत्ताव्यतिरेकिणः। व्यतिरेके भवेत् तेषां वन्ध्यासुतसमानता॥३२५॥

आनन्दात्मप्रकाशेभ्यः सत्ता न व्यतिरेकिणी। व्यतिरेके भवेदेषा घटवन्नात्मरूपिणी॥३२६॥

अनात्मत्वे च साऽपि स्याद् वन्ध्यापुत्रसमा बलात्। तस्मात् सच्चित्स्वरूपोऽहमानन्दात्मा परः पुमान्॥३२७॥

अनन्तो देशकालादिभेदगन्धविवर्जितः। उक्ते मयि यतो विश्वमध्यस्तं स्रजि सर्पवत्॥

सदसद्देशकालादिशब्दप्रत्ययगोचरः॥३२८॥

एवं प्रकाशानन्दयोरभेदे सिद्धे साधितप्रकाशाभेदस्यात्मनः सुखादभेदः सिद्धः, तदभिन्नाऽभिन्नस्य तदभिन्नत्वमिति न्यायादित्याह— आत्मा सुखप्रकाशाभ्यामिति। प्रकाशपदं दृष्टान्तार्थम्—यथा प्रकाशादभिन्नस्तथा सुखादपीत्यर्थः। प्रकाशाऽभिन्नसुखाद्भेदे तु जडत्वाद् घटवद् अनात्मत्वं स्यादित्याह—सुखेत्यादि। स्पष्टम्॥३२४॥

सिद्धाभेदानाम् आत्माऽऽनन्दप्रकाशानां सत्पदार्थादभेदं साधयति—आत्मानन्देति। यदेव सर्वाधिष्ठानं स्वस्मिन् कल्पितेषु संसर्गाध्यासेन प्रकारतया भासमानं सत्, परैस्तत्त्वानवबोधात् सत्ताजातिरित्यभिमतं, स एव सत्पदार्थः— इति सूचनाय सत्ता पदं प्रयुक्तम्। विपक्षे दण्डमाह—व्यतिरेक इति। सतो भिन्नमसदिति प्रसिद्धेरिति भावः॥३२५॥

एवं सत्तायास्तेभ्यो भेदे दुःखत्वानात्मत्वजडत्वानामापत्त्या घटादिसमत्वापत्तिरित्याह— आनन्दात्मेति। स्पष्टम्॥३२६॥

अनात्मत्वे को दोषः? इत्यत आह—अनात्मत्व इति। आत्मा हि स्वरूपं, तद्भिन्नत्वे स्वरूपबहिष्कारादसत्त्वापत्तिरिति भावः। फलितमाह— तस्मादिति। परः पुमान् तत्पदार्थः। सामानाधिकरण्येन वाक्यार्थानुभवः सूचितः॥३२७॥

एवं च त्रिविधपरिच्छेदराहित्याद् अनन्तपदार्थाऽभेदोऽपि सिद्ध इत्याह—अनन्त इति। अत एव सर्वाधिष्ठानत्वं ममैवासीदित्याह— उक्त इति। उक्त उक्तरूपे। तथा च सर्वशब्दानां सर्वज्ञानानां विषयप्रदातृत्वेन अहमेवोपजीव्य इत्याह— सदसदिति। सदसच्छब्दौ कार्यकारणवाचकौ। शेषं स्पष्टम्॥३२८॥

मिथ्या होने लगेगा और फिर प्रकाशक कौन रहेगा। आनन्दात्मा ही तो सर्वप्रकाशक है।

आत्मा किसी तरह सुख व प्रकाश से भिन्न नहीं है, वैसा होने पर वह भी घट की तरह अनात्मा ही हो जायेगा॥३२४॥ आत्मा, आनन्द और प्रकाश सत्ता से पृथक् नहीं हैं। यदि वे सत्ता से पृथक् हों तो वन्ध्यासुत के समान असत् हों॥३२५॥

अन्य वादियों की दृष्टि में सत्ता जाति है क्योंकि वे सत्स्वरूप अधिष्ठान को समझ नहीं पाते। है सत् में घटादि पर लगता है कि घट में सत्ता है। यही सत्ता का घट में प्रकारतया भान है। वेदांत में तो सत्ता आदि स्थलों में प्रकृत्यर्थ से अतिरिक्त ही प्रत्ययार्थ नहीं होता।

सत्ता भी आनन्द, आत्मा और प्रकाश से भिन्न नहीं है। यदि वह उनसे भिन्न हो तो घट की तरह अनात्मरूप हो जायेगी। तथा अनात्मा अर्थात् निःस्वरूप होने पर वह भी बलात् वन्ध्यापुत्र के समान असत् ही होगी। इसलिए सद्रूप व चिद्रूप मैं आनन्द, आत्मा परम पुरुष हूँ॥३२६-३२७॥ इस प्रकार महावाक्य के अर्थ का अनुभव यहाँ सूचित किया।

तीनों तरह के परिच्छेद न होने से अनन्त-शब्द के अर्थ से भी मेरा अभेद है यह कहते हैं— देशकालादि के भेद की गंध से भी रहित मैं अनन्त हूँ। उक्त स्वरूप वाले मुझमें क्योंकि संसार वैसे ही अध्यस्त है जैसे माला में साँप इसलिए कार्य, कारण, देश, काल आदि शब्दों का व ज्ञानों का विषय मैं ही हूँ॥३२८॥

---

१. सुखप्रकाशयोरिति प्रतियोगितायां षष्ठी। सुखप्रकाशप्रतियोगिको भेद आत्मनि चेत्स्यादात्मैवानात्मा भवेदित्यर्थः।

'इदमदर्शम्' इत्यस्यार्थः

तत एवाहमात्मानं दृष्टवानस्मि बोधतः। अत्यन्तं विस्तृततमं यदर्थं देहमागतः॥३२९॥

'तस्मादिदन्द्रः' इत्यादिवाक्यार्थः

इदं यस्मादयं देवो दृष्टवानात्मबोधतः। इदन्द्रनामा तेनाभूदानन्दात्मा परः पुमान्॥३३०॥

इदन्द्रं सन्तमेतं तमिन्द्रमित्यूचिरे सुराः। प्रत्यक्षं हि द्विषन्त्येते पूज्यनामग्रहं यतः॥३३१॥

पूर्ववाक्यार्थमनुवदन् 'इदमदर्शम्' (ऐ.१.३.१३) इत्यंशं कथमविषयस्य आत्मनो दर्शनकर्मत्वमिति शंकां निराकुर्वन् व्याचष्टे– तत एवेति। यतः सर्वे शब्दाः सर्वाणि च ज्ञानानि मद्गोचरावरणनिवृत्त्या मदभिव्यक्तिसंपादनेन वा मदेकगोचराणि, जडेष्वावरणकृत्याभावाद् मदतिरेकेण तेषां दुर्निरूप्यत्वाच्च, तत एव उपपादितसम्बन्धाद् वेदान्तवाक्यात् तज्जन्यबोधतो वृत्तिरूपादविषयमप्यात्मानमहं दृष्टवानतोऽस्मि कृतकृत्योऽहमहो– इत्यर्थः। अत्र अस्मीति पदमहंपदेनाक्षेपादपि प्रतीयमानं निरर्थकं सति कृतकृत्यत्वे लाक्षणिकं सद् आश्चर्यं व्यंजयति। आश्चर्यत्वोपपादकमात्मविशेषणं विस्तृततममिति। ततमं परिपूर्णमित्यर्थः। अनादिकालादारभ्य परिच्छिन्नमात्मानं मन्यमानस्य परिपूर्णात्मज्ञानात् किमन्यच्चित्रमिति भावः। कृतकृत्यत्वोपपादकं विशेषणं– यदर्थमित्यादि। यदर्थम् अतिसंकटे प्रवेशः कृतस्तदद्य सिद्धम्, इतः किमन्यत्कृतकृत्यत्वमित्याशयः॥३२९॥

'तस्मादिदन्द्र' इत्यादि 'देवा' (ऐ.१.३.१४) इत्यन्तं वाक्यं व्याचष्टे–इदं यस्मादिति चतुर्भिः। 'इदमस्तु सन्निकृष्टम्' इत्युक्तेः इदंशब्दोऽपरोक्षवाचको दर्शनक्रियाविशेषणम्। तथा च अयं देव आत्मा यस्मादात्मबोधतः आत्मसम्बन्धिनो गुरुवेदान्तवाक्यजन्यज्ञानाद् इदम् अपरोक्षं यथा भवति तथा स्वरूपं दृष्टवान्, तेन हेतुना इदन्द्रसंज्ञकः सन् आनन्दात्मा परः पुमानभूद्, 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवती' (मुं.३.२.९[१]) ति श्रुतेः। इदंपदपूर्वकदृशधातो र्ड्रट्प्रत्यये सति 'इदन्द्र'-नामनिष्पत्ति र्बोध्या॥३३०॥

तस्य व्यवहारस्तु इन्द्रपदेनैव कार्य इत्याह– इदन्द्रमिति। तमेतमिदन्द्रं सन्तं सुरा देवा वह्न्याद्याः, देवभाविनो मनुष्या वा इन्द्रमिति परोक्षं नाम कृत्वा ऊचिरे कथितवन्तः। नाम्नः परोक्षत्वं रूपान्तरकरणेन स्वरूपाच्छादनम्। हि

अविषय आत्मा के विषय में ज्ञान कैसे? इस समस्या का समाधान करते हुए बोलते हैं– जिसके घटक पदों का अन्वय उपपन्न किया जा चुका है उस वेदांतवाक्य से उत्पन्न ज्ञान से मैंने आत्मा को जान लिया है। जिस प्रयोजन से मैं देह में आया था उसे मैंने पूरा कर लिया है, अत्यन्त विस्तृततम आत्मा को जान लिया है॥३२९॥

सारे शब्द व ज्ञान आत्मविषयक आवरण को निवृत्त करते हैं। अभिव्यक्त तो आत्मा स्वयं है। अतः वह शब्दादि का अविषय रहते हुए ही उनके कारण भास जाता है। अन्य विषयों का ज्ञान न रहे व पूर्णानंदात्मा भासे यही आत्मा के विषय में ज्ञान कहा जाता है। घटादि की तरह तद्विषयक ज्ञान नहीं होता। यहाँ व्यापकतम आत्मदर्शन से आश्चर्य भी व्यक्त किया है। अनादि बद्ध को यह बोध होना आश्चर्य ही है। यही कृतार्थता है।

इस दर्शन से ही देव को इन्द्र कहते हैं यह बताते हैं– क्योंकि इस देव ने आत्मज्ञान से आत्मा का अपरोक्ष दर्शन किया इसलिए आनंदरूप परम पुरुष 'इदन्द्र' नाम वाला हुआ॥३३०॥

गुरु व वेदांत से जन्य ज्ञान से अपरोक्ष स्वरूप देखने के कारण यह इदन्द्र है। 'इदम्' अर्थात् अपरोक्ष और 'द्र' अर्थात् देखने वाला। जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है यह श्रुति ने कहा है अतः यह देव इदन्द्र होने पर ब्रह्म ही हुआ।

फिर भी उसे कहना इंद्र ही चाहिये यह बताते हैं– इदन्द्र होते हुए उस परमेश्वर को देवताओं ने इंद्र कहा क्योंकि

---

१. ब्रह्म वेदेति मुण्डकपाठः।

परोक्षप्रियास्ततस्तेन वह्न्याद्याः कथिता नृभिः। देवव्रतं सदाऽऽर्येषु दृश्यते त्वधुना नृषु॥३३२॥

पित्राचार्यादिनामानि न वदन्ति नराः क्वचित्। एवं नार्योऽपि पत्यादे र्भाषन्ते नाम नैव हि॥

किन्तु नामान्तरेणैव व्यवहारं प्रकुर्वते॥३३३॥

द्वितीयोध्यायः

एवमात्मा भवद्भ्योऽत्र कथितो ह्यधिकारिणः[1]। शब्दप्रत्ययबोध्योऽयं नैवंरूपः स्वरूपतः॥३३४॥

यस्माद् एते देवाः प्रत्यक्षम् उक्तपरोक्षविपरीतं नामग्रहं द्विषन्ति। दृश्यते हि महतामाचार्यादिपदैरभिधाने प्रसादः, साक्षाद् देवदत्तादिपदाभिधाने तु द्वेष इति। एतेन यदा देवाः प्रत्यक्षं द्विषन्ति, किमुत तदा परमेश्वरः– इति सूचितम्। नारायणादिनामग्रहे तु अनेकप्रत्यक्षश्रुतिविहिते नाऽयं न्यायः, अर्थवादगतलिंगस्य श्रुतितो दुर्बलत्वादित्यवधेयम्॥३३१॥

परोक्षप्रिया इति। ततो देवैः परमेश्वरस्य इन्द्रपदेन व्यवहारात् तेन स्वयमपि प्रत्यक्षाभिधानद्वेषेण च वह्न्याद्या देवाः पूज्याः परोक्षप्रियाः कथिता नृभिः विवेकिभिः। व्याख्येयश्रुतिगतमिवपदं प्रसिद्धिद्योतकं हि-पदं[2] च व्याकुर्वन्नैहलौकिकेषु सन्मार्गवर्तिलोकरूपेषु देवेषु नियमत्वेन परोक्षप्रियत्वस्यानुगममाह–देवव्रतमिति। 'नियमो व्रत' मित्यमरः। आर्येषु नृषु देवव्रतमधुनाऽपि दृश्यते–इत्यन्वयः॥३३२॥

उदाहरति–पित्राचार्येति। स्पष्टम्॥३३३॥

एवमैतरेयचतुर्थाध्यायं सनकाद्युपदेशविधया व्याख्याय, पूर्वोक्ततात्पर्यप्रदर्शनपूर्वकमुत्तराध्यायमवतारयति इतिहासघटकैः एवमात्मेत्यादिभि विंशतिश्लोकैः। सनकादयोऽधिकारिणः प्रत्यूचुः–भोऽत्र आत्मज्ञानेऽधिकारिणः एवं 'तथापि शस्त्रसिद्धेन' (श्लो.५३) इत्यादि त्रिपञ्चाशत्तमश्लोकप्रतिज्ञातेन अध्यारोपापवादन्यायेन एतावता ग्रन्थेन भवद्भ्य आत्मा कथितः। कीदृशः? शब्दप्रत्ययाभ्यां वेदान्तवाक्यतज्जन्यवृत्त्यात्मकज्ञानाभ्यां विषयीकृतः, अन्यथा

देवता लोग पूज्य के प्रत्यक्षनाम के ग्रहण से द्वेष करते हैं॥३३१॥

लोक में भी गुरु आदि का नाम न लेकर 'आचार्य जी' आदि कहते हैं। भगवन्नाम के तो संकीर्तन का विधान होने से 'महादेव' आदि नाम ग्रहण करना दोषावह नहीं प्रत्युत अनंत फलप्रद है।

क्योंकि देवताओं द्वारा परमेश्वर का इन्द्र-शब्द से व्यवहार किया गया और वे स्वयं भी प्रत्यक्षनाम के ग्रहण से द्वेष करते हैं इसलिए विवेकी लोगों द्वारा वह्नि आदि देव 'परोक्षप्रिय' कहे जाते हैं। देवताओं का परोक्षप्रियत्व नियम आर्य मनुष्यों में अब भी सदा देखा जाता है॥३३२॥ पिता, आचार्य आदि के नाम लोग कहीं नहीं लेते। इसी प्रकार नारियाँ भी पति आदि के नाम नहीं लेती किंतु अन्य नाम से ही व्यवहार चलाया जाता है॥३३३॥

उपनिषत्क्रम में दूसरा अध्याय

इस प्रकार ऐतरेय के आरण्यकक्रम से चौथे और उपनिषत्क्रम से पहले अध्याय को सनकादि के उपदेश के ढंग से समझाया। अब अगले अध्याय की भूमिका बनाते हुए पूर्व विचार का तात्पर्य बताते हैं और कथा का क्रम भी चलाते हैं– सनकादि बोलेः इस प्रकार आप अधिकारियों को आत्मा के विषय में समझा दिया है। यह आत्मा औपनिषद शब्द व तज्जन्य ज्ञान से बोध्य होते हुए भी स्वरूपतः शब्द और ज्ञान का विषय नहीं है॥३३४॥

---

१. अत्राधिकारो न साधनचतुष्टयसम्पत्तिः, ऊर्ध्वं वैराग्यस्योपदेशात् 'तत्सर्वं व्यर्थतां प्राप्तमिति (श्लो. ३४७) च स्वस्यानधिकारख्यापनात्। कस्तर्हि? अधिकारयोग्यता मनुष्यतादि ह्यत्राधिकारः। अधिकारिणो बोधजनकं शास्त्रमिति न्यायादनधिकारिणां नापरोक्षतयाऽपरोक्षमप्यात्मानं तज्ज्ञापयति तमेव चाधिकारिणां कृते तदेव शास्त्रं तथा ज्ञापयतीति सर्वमनाकुलम्।

२. 'परोक्षप्रिया इव हि देवा' इति श्रुतौ पाठः।

माययैवात्मनो बोधः

को नामैनं महात्मानमवाङ्मनसगोचरम्। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥
वदेद्वा शृणुयाद्वाऽपि विना मायामुदीरिताम्॥३३५॥

आश्चर्योऽस्य भवेद्वक्ता वक्ति वाचामगोचरम्। श्रोताऽपि च तथाऽऽश्चर्यः शृणोतीन्द्रियदूरगम्॥३३६॥

लब्धाऽऽश्चर्यतमो भूयः कुशलेनानुशासनात्। आत्मनो मनसोऽगम्यं साक्षात् तं कुरुते कथम्॥३३७॥

शब्दार्थज्ञानतादात्म्याध्यासव्याप्यशब्दप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। भवद्भिस्तु स आत्मा स्वरूपत एवंरूपो विषयरूपो न बोध्यः किन्तु वेदान्ततात्पर्यज्ञानद्वारेणाऽविषयतयैवाऽवसेयः। शृंगग्राहिकान्यायेन तु तं कोऽपि निर्देष्टुं नार्हतीति भावः॥३३४॥

ननु भवन्तः शक्ताः साक्षादेव तं बोधयन्तु—इति शंकामालक्ष्याहुः—को नामैनमिति। एनं पूर्वं प्रतिपादितं महात्मान-मद्वितीयमात्मानम् उदीरिताम् अध्यारोपापवादात्मिकां मायां विना को वा वदेत् को वा शृणुयाद् इत्यन्वयः। तस्याविषयस्य विषयतयाऽभिधानेऽप्रमाणत्वापत्तिः—इत्याशयेन 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (तै.२.९.१) इति तैत्तिरीयश्रुतिं स्मारयति—अवाङ्मनसगोचरमिति। केनवाक्यमत्रार्थे पठति—अविज्ञातमित्यादि। विजानतां तत्त्वविदामविज्ञातमिति मतं, तस्याविषयत्वाद्; अविजानतां बुद्ध्याद्यात्मदर्शिनां भ्रान्तानां मते तु तद् ब्रह्म विज्ञातमिति प्रसिद्धं, बुद्ध्यादेर्ज्ञानविषयत्वाद्—इति तदर्थः। शक्त्याऽभिधानं तु शक्तेः शक्यनिरूप्यत्वेन दत्तोत्तरमिति भावः॥३३५॥

विषयबोधनसामग्र्याऽविषयतत्त्वस्य तात्पर्येण बोधनमेव दुष्करतया परमाश्चर्यमिति बुद्ध्यध्वमिति सूचयितुम् 'आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः' (कठ.१.२.७) इति कठवाक्यमर्थतः पठति—आश्चर्योऽस्येति द्वाभ्याम्। वागविषयस्य वाचा बोधनाद् अस्य अद्वितीयात्मनो वक्ताऽऽश्चर्यः। अतीन्द्रियस्य श्रवणेन श्रुताम्नायतात्पर्यावधारणरूपेण विषयीकरणाद् श्रोता, श्रुतौ लब्धृपदेनोक्तः, आश्चर्य इत्यर्थः॥३३६॥ लब्धेति। आत्मनो ज्ञानमेव प्राप्तिरिति सूचनाय ज्ञातेति वक्तव्ये लब्धेत्युक्तम्। कुशलेन आचार्येण अनुशासनाद् अयमात्मनो लब्धा साक्षात्कर्ता स आश्चर्यतमोऽत्याश्चर्यः, वदनश्रवणयोराश्चर्यतायाः साक्षात्कारेण फलेनैव जायमानेन स्फुटीकरणात्। अन्यथा निरर्थकवक्तृश्रोतॄणां प्रायशो दृष्टेः काश्चर्यतेति भावः। लब्धुराश्चर्यतां स्पष्टयति—मनस इत्यादि। मनसोऽगम्यस्य संस्कृतमनसा गोचरीकरणं चित्रमित्यर्थः॥३३७॥

वाणी और मन के अविषय इस अद्वितीय आत्मा को अध्यारोप-अपवाद रूप माया के बिना कौन बोल या सुन सकता है जो आत्मा जानकारों को अविज्ञात है और न जानने वालों को विज्ञात है!॥३३५॥

जैसे सींग पकड़ कर गायादि को सामने लाकर दिखा सकते हैं ऐसे आत्मा को नहीं। गुरु चाहे सनकादि ही क्यों न हों, आत्मा को विषयरूप से उपस्थित करने में अक्षम ही होंगे। बल्कि वैसे बताना होगा ही गलत क्योंकि वह विषय है नहीं। केनोपनिषद् में स्पष्ट किया है कि जो जानकार हैं वे उसे विषयरूप से नहीं ही समझते हैं। जो तो बुद्धि आदि को ही आत्मा समझने वाले भ्रांत लोग हैं वे अवश्य मानते हैं कि आत्मा ज्ञानविषय है, क्योंकि उन्हें समझ आने वाला 'आत्मा' तो विषय है ही।

आत्मतत्त्व अविषय है अतः विषयों का बोध कराने वाली सामग्री से उसका तात्पर्यवृत्ति से जो बोध होता है वह एक आश्चर्य ही है। कठश्रुति के अनुसार यह बताते हैं—अद्वितीय आत्मा का वक्ता आश्चर्य है जो वाणी के अविषय के बारे में बोलता है। इसी तरह आत्मा का श्रोता भी आश्चर्य है जो इन्द्रियों के अविषय को सुन लेता है! कुशल आचार्य द्वारा पुनः पुनः उपदेश से जो आत्मा को प्राप्त कर लेता है वह सबसे बड़ा आश्चर्य है। मन से अगम्य का वह साक्षात्कार कैसे कर लेता है यह आश्चर्य है॥३३६-३३७॥

मननावश्यकता

ततो भवन्तो युक्तिज्ञा वेदवादरतास्तथा। बुद्ध्या स्वया विमृश्यैनं संगच्छत दिशाऽनया॥३३८॥

वैराग्यमतीवावश्यकम्

न चाऽविरक्तै र्विज्ञातुं सुशक्योऽसौ महेश्वरः। तस्माद्विरक्तिं भो धीराः! सम्पादयत मा चिरम्॥३३९॥

विरक्तेरपि चोपाय उक्तो दोषावलोकनम्। सर्वस्य वस्तुजातस्य नितरां प्रीतिकारिणः॥३४०॥

तत इति। तत इतोऽग्रेऽस्माभिर्वक्तुमशक्यत्वाद् अनया दिशाऽविषयात्मतत्त्वं संगच्छत संप्राप्नुत। अस्माभिस्तु दिक्प्रदर्शनमात्रं कृतं, यथा रामेश्वरं प्रति यियासवे दक्षिणा दिक् प्रदर्श्यते तद्वदित्यर्थः। ननु कथं तर्हि तद् वयं प्राप्नुमः? इत्यतो युक्तिज्ञा इति। यतो भवन्तो युक्तिज्ञाः सन्ति ततो मननेन असंभावनां निराकृत्य जानीतेति भावः। अपूर्वे कथं युक्तिप्रसरः? इत्यत उक्तम् वेदवादरता इति। यथा धर्मोऽपूर्वोऽपि मीमांसान्यायैरवधारितस्तथाऽयमपि निर्धार्यतामिति भावः। तथा चोक्तं वाशिष्ठे–'उपदेशक्रमो राम व्यवस्थामात्रपालनम्। ज्ञप्तेस्तु कारणं शुद्धा शिष्यप्रज्ञैव केवला॥' इति॥३३८॥

मननादपि पुरस्ताद् वैराग्यदृढीकारे यत्नो विधेय इत्याहुः–न चाविरक्तैरिति। 'योग्यं योग्येन सम्बद्ध्यत' इति न्यायाद् अविरक्तैः सविषयैरविषयो महेश्वरः कथं ज्ञेयः स्यादिति भावः। अर्थस्तु स्फुटः॥३३९॥

वैराग्यमेव कथं द्रढयितव्यम्? अत आहुः–विरक्तेरपीति। प्रीतिकारिणः सुखसाधनतया मतस्य वस्तुजातस्य सर्वस्य वस्तुनो यद् नितरां दोषावलोकनं स एव विरक्तेरुपायः। स च 'न हि वैषयिकं नाम' (श्लो.२८४) इत्यादिनोक्तः॥३४०॥

वाणी का अविषय भी तात्पर्य समझने से जान लिया जाता है। आत्मा की प्राप्ति उसे जान लेना ही है। कहने और सुनने की आश्चर्यता तभी है जब उनका फल साक्षात्कार होवे, अन्यथा निरर्थक बात को कहने-सुनने वाले आश्चर्य नहीं होंगे। मन से अगम्य आत्मा को भी शास्त्र-आचार्य उपदेशादि से संस्कृत मन से विषय कर लेना भी आश्चर्य ही है।

क्योंकि इससे आगे हम कुछ बता नहीं सकते इसलिए वेद-विचार में लगे रहने वाले तथा युक्ति के जानकार आप लोग हमारे द्वारा बतायी इस दिशा में अपनी बुद्धि से विचार कर आत्मतत्त्व को प्राप्त कीजिये॥३३८॥

जिस तरह इन्द्रियादि से अज्ञात धर्म का मीमांसा के न्यायों से पता लग जाता है उसी तरह वेदान्तों के मनन से असंभावना हटने पर आत्मा का पता लग जाता है। वशिष्ठ महर्षि ने कहा है कि ज्ञान का प्रमुख कारण शिष्य की प्रज्ञा है, उपदेश तो केवल व्यवस्था या रीति का पालन करने के लिए ही किया जाता है। अभिप्राय इतना ही है कि उपदेश सुनकर मननादि न करे तो ज्ञान नहीं होगा अतः मननादि करना चाहिये।

किंतु मनन से भी पहले वैराग्य दृढ करने की कोशिश करनी चाहिये यह सनकादि कहते हैं– वैराग्यरहित लोगों द्वारा वह महेश्वर जाना नहीं जा सकता। इसलिए हे बुद्धिमानों! आप लोग अपने वैराग्य को दृढ करने के लिए यत्न कीजिये, इसमें विलम्ब न कीजिये॥३३९॥

नियम है कि जो सम्बंध के योग्य हों उन्ही का परस्पर संबंध सुख-हेतु होता है। वैराग्यहीन तो सविषय होते हैं, लगातार विषय-चिन्तन तत्पर होते हैं। महेश्वर हुए अविषय, विषयमात्र से भिन्न। अतः रागी का उनसे सम्बंध कभी सुखकर नहीं होगा।

वैराग्य कैसे दृढ किया जाये यह बताते हैं–विरक्ति का भी उपाय है प्रसन्न करने वाली सब वस्तुओं में विशेषरूप से दोषदर्शन करना॥३४०॥

दुःखद का दोष तो स्पष्ट ही हो जाता है। सुखद भी सदोष है यह शास्त्रानुसारी विचार से बारम्बार मन में आलोडित

इत्यादिश्य महात्मानो लोकशोकापहारिणः। तत्रान्तर्दधिरे सर्वे पश्यतामधिकारिणाम्॥३४१॥

ऋष्यन्तर्धानानन्तरं साधकोद्गारः

गतेषु तेषु सर्वेषु सनकादिषु ते द्विजाः। संहृष्टमनसः सर्व इदमूचुः परस्परम्॥३४२॥

अहो भाग्यमहो भाग्यमस्माकमधिकारिणाम्। अभवन् गुरवो येषां सनकाद्या मुनीश्वराः॥३४३॥

सर्वभूतसमा एते कामक्रोधविवर्जिताः। अन्तर्बहिश्चरा नृणां यद्वदेष प्रभञ्जनः॥३४४॥

परोपकारनिरताः स्वयं क्लेशसहिष्णवः। मौनिनः परदोषेषु दोषलेशविवर्जिताः॥३४५॥

आत्मविज्ञानसम्पन्नाः शरत्सागरसन्निभाः। निश्चला विमलात्मानः[1] पूर्णेन्दुसमवर्चसः॥३४६॥

इत्यादिश्येति। महात्मानः सनकाद्याः, लोकानां शोकमपहर्तुं शीलं येषान्ते तथा। पश्यतामधिकारिणाम् अनादरे षष्ठी–तान् पश्यतः पुनः प्रष्टुमिच्छतोऽनादृत्येत्यर्थः॥३४१॥

गतेष्विति। ते द्विजा अधिकारिणः संहृष्टमनसो दुर्लभगुरुलाभात्॥३४२॥

एतादृशो गुरवो दुर्लभा अपि मिलिता यद्वैराग्यं विनाऽस्माकं ज्ञानोत्पादे न क्षमा बभूवुस्तद्वैराग्यमेव तावत् सम्पादनीयमित्याशयेन गुरुमहिमानं वर्णयन्ति–अहो भाग्यमिति। स्पष्टम्॥३४३॥

सर्वभूतसमा इति। विषमेष्वपि सर्वेषु भूतेषु समाः। प्रभञ्जनो वायुः॥३४४॥

परोपकारेति। परदोषेषु मौनिन इत्यन्वयः। स्वयं च सर्वदोषविवर्जिताः॥३४५॥

करने से वैराग्य होता है। यह विवाद व्यर्थ है कि संसार सदोष है या नहीं। महेश्वर की प्राप्ति के लिए वैराग्य अनिवार्य है और उसके लिए दोषदर्शन। अतः संसार चाहे जैसा हो, मुमुक्षु को तो दोषदर्शन करना ही चाहिए।

इतना उपदेश कर लोगों के शोक का निवारण करने वाले सनकादि सब महात्मा अधिकारियों के अन्य प्रश्नों की प्रतीक्षा किये बिना वहीं तिरोहित हो गये॥३४१॥

उन सब सनकादि के चले जाने पर प्रसन्न मन वाले वे सब द्विज आपस में यों बोले–॥३४२॥

जिन हमारे सनकादि मुनिश्रेष्ठ गुरु हुए उन हम अधिकारियों का भाग्य श्रेष्ठ है, (अतः वैराग्यार्थप्रयत्न ही हमारा कर्तव्य है)॥३४३॥

ये सनकादि सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखते हैं। ये कामना और क्रोध से रहित हैं। लोगों के आंतर विचार और बाह्य आचारों से ये पूर्ण परिचित रहते हैं। जैसे यह वायु समभाव से सबके भीतर व बाहर रहती है वैसे सनकादि सबके भीतर प्रविष्ट होते हैं, अत्यंत घनिष्ठ होते हैं, किंतु बाहर बने रहते हैं, निःसंग बने रहते हैं। अत एव वायु की तरह सदा शुद्ध बने रहते हैं॥३४४॥

ये आचार्य दूसरों का उपकार करने में तत्पर रहते हैं। स्वयं तितिक्षु होने से हर तरह के क्लेश सह लेते हैं। अन्यों के दोषों के विषय में मौन रहते हैं (पैशुन्यशून्य हैं)। स्वयं इनमें स्वल्प भी दोष नहीं है॥३४५॥

अज्ञान, भ्रम व लालच आदि पुरुषसुलभ दोषों से अस्पृष्ट रहते हुए ये परमात्मा के अनुभव से संपन्न हैं। शरदृतु में जैसे सरोवरादि प्रशांत होते हैं ऐसे ये हमारे गुरु हमेशा प्रशांत रहते हैं। इनके निश्चय में कभी परिवर्तन नहीं आता। मन इनका निर्मल है। इनकी कांति शरदीय पूर्णचन्द्र के सन्निभ शीतल वे आह्लादकारी है॥३४६॥

---

१. अविद्यासंस्कारकर्मभिः मलो जायते, तत्त्रितयाभावादिमे निर्मलाइत्यर्थः। ज्ञानक्रियाशक्त्याच्छादको दोषो मल इति विद्यारण्यास्तादृशदोषहीना इति वार्थः।

एतैरस्माकमादिष्टमात्मज्ञानं महात्मभिः। तत्सर्वं व्यर्थतां प्राप्तं बधिरेष्विव गीतकम्॥३४७॥
आत्मबोधो न कोऽप्यत्र संजातो वचनात् परम्। ज्ञानमात्रं समुत्पन्नं वाक्यार्थेऽध्ययने यथा॥३४८॥
यष्टारश्चाऽपि भोक्तारो वयं केऽनात्मरूपिणः। इति संशय एवायमस्मानापतितो महान्॥३४९॥
भ्रमतीह मनोऽस्माकं मुक्तात्मानः कथं वयम्। न ह्यहंशब्दबोधाभ्यां लक्षिताः स्मः कथंचन॥
अतोऽत्राऽप्रतिपत्ति र्नो जायते सुदृढा द्विजाः॥३५०॥

अप्रतिपत्तिविप्रतिपत्तिविप्रलिप्सादिपुरुषदोषविवर्जिता इम इत्याहुः—आत्मविज्ञानेति। शरदृतुकालिकसागरवदक्षुब्धाः। मोक्षधर्मेषु वृत्रेन्द्रसंवादे शुद्धसात्त्विकतया शुक्लवर्णत्वेन निरूपिता इति सूचनाय विशेषणम्—पूर्णेन्दुसमवर्चस इति। वर्चःपदं कान्तिवाचकम्॥३४६॥

एतैरिति। एतैः एतादृशैः अस्माकं हिताय आदिष्टम् उपदिष्टं बधिरान् प्रति श्रावितं गीतमिव व्यर्थतां प्राप्तमस्मद्दोषादिति शेषः॥३४७॥

व्यर्थतायां हेतुं फलपर्यन्तबोधाजननं दर्शयन्ति—आत्मबोध इति। आत्मसाक्षात्कारः कोऽपि न जातः परं तु एतेषां वचनाद् वाक्यार्थगोचरं परोक्षज्ञानमात्रं समुत्पन्नम्। तत्र दृष्टान्तः—अध्ययने यथा। व्युत्पन्नानामापाततः अर्थगोचरं ज्ञानं यथा जायते तद्वदित्यर्थः॥३४८॥

मधुररसानुभवहेतुरपि गुडो यथा पित्तोद्रेकिणां तिक्तानुभवं जनयति तद्वत् प्रमाजनकेनाऽपि एतेषां वाक्येन अस्मद्दोषात् संशयो जनित इत्याहुः—यष्टार इति। यष्टारो यागकर्तारः। भोक्तारस्तत्फलस्येति शेषः। एतादृशा वयं के? उक्ताद्द्वितीयात्मरूपता तु न संभाव्यत इत्याहुः— अनात्मरूपिण इति। इति इत्याकारकः। आपतितः प्राप्तः॥३४९॥

भ्रमतीहेति। इह तदुक्ते भ्रमति नावतिष्ठते। असंभावनामभिनयति—मुक्तात्मानः कथं वयमिति। वयं कर्तृभोक्तृरूपाः। नन्वहंशब्दस्य लक्षणया शुद्धं प्रतिपद्यध्वम्? इत्यत आहुः—न हीत्यादि। मुख्यार्थेऽनुपपत्तिरेव बाह्यप्रवणे चेतसि नावतरतीति भावः। फलितमाह—अत इति। अत्र प्रमेयेऽप्रतिपत्तिरसंभावना॥३५०॥

इन महात्माओं द्वारा हमें आत्मज्ञान का उपदेश दिया गया किंतु वह सब वैसे ही व्यर्थ हो गया जैसे बहरे के सामने गाया गीत!॥३४७॥

कारण, कि हमें आत्मसाक्षात्कार बिल्कुल नहीं हुआ। किंतु उनके वचन से सिर्फ़ इतना ज्ञान हुआ कि शास्त्र के मत में संसार अनुत्पन्न है और आत्मा नित्यमुक्त है। जैसे अध्ययन करने पर व्युत्पत्ति वाले को वाक्यार्थ का आपात ज्ञान हो जाता है ऐसे हमें सनकादिवचन से केवल आपातज्ञान हुआ है॥३४८॥

'हम याग करने वाले और फल भोगने वाले हैं। हम परमात्मरूप होने वाले कौन होते हैं?'—यह महान् संशय ही हमें हुआ है॥३४९॥

गुड मीठा लगना चाहिये पर पित्त बढ़ जाये तो तीता लगता है। ऐसे ही शिष्य में दोष हो तो जिस उपदेश को प्रमा उत्पन्न करनी चाहिये वह संशय उत्पन्न करके ही रह जाता है।

उनके द्वारा बताये विषय में हमारी बुद्धि स्थिर नहीं हो रही है। हम नित्यमुक्त कैसे हो सकते हैं? हम किसी भी तरह 'मैं' शब्द और 'मैं' ज्ञान के लक्ष्य नहीं हो सकते, वाच्य व विषय ही हो सकते हैं। इसलिए हमें इस विषय में अत्यधिक असंभावना हो रही है॥३५०॥

शब्द के मुख्य अर्थात् शक्य अर्थ में कोई अनुपपत्ति हो तभी लक्षणा से अर्थ समझना पड़ता है। महावाक्य में तो

विज्ञायैवं महात्मानो मतिमन्तः समूचिरे। अनुक्ता अपि चोपायं विरक्तिं ज्ञानसिद्धये॥३५१॥

विरक्तावपि चोपायं दोषालोकं हि वस्तुनः। विचारयत भोस्तस्मात् को दोषोऽत्र शरीरके॥३५२॥

विरक्तये दोषविचारः

इति संचिन्त्य ते सर्व एतान् दोषान् प्रपेदिरे। मिलिता हि महात्मानः कृतात्मानोऽग्निहोत्रिणः॥३५३॥

जीवस्य गत्यागती

सायं प्रात हुते ह्येते अग्निहोत्राहुती उभे। अप्प्राये सूक्ष्मतां प्राप्ते अग्नेराकाशमागते॥३५४॥

अत एव तैः सर्वज्ञैः वैराग्यरूप उपाय उपदिष्ट इत्याहुः— विज्ञायैवमिति। महात्मानः **सनकाद्या एवम् उक्तविधामसंभावनां** विज्ञायानुक्ता अपि **अपृष्टा अपि** ज्ञानसिद्धय उपायं विरक्तिमूचिरे—**इत्यन्वयः॥३५१॥**

विरक्तावपीति। **पूर्वार्धे ऊचिर इत्यनुषंगः। उत्तरार्धे** तस्मादित्यादिः। **शेषं स्पष्टम्॥३५२॥**

इति संचिन्त्येति। एतान् **वक्ष्यमाणान् पञ्चमाध्यायेन श्रुत्यर्थाभ्यां प्रतिपादितान्। तेषां विचारे योग्यतासूचनाय विशेषणानि**—महात्मान **इत्यादीनि।** कृतात्मानः **परिष्कृतान्तःकरणाः।** अग्निहोत्रिण **इति वक्ष्यमाणोपयोग्यपि॥३५३॥**

एवमेभि विंशतिश्लोकैः (३३४-३५४) पंचमाध्यायसंगतिं प्रदर्श्य, अथ अविद्यया संसरतो जीवस्य उपाधितादात्म्येन नानादुर्दशाप्रदर्शकं पञ्चमाध्यायं व्याकुर्वन् 'पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भ' (ऐ.२.१) इत्यादिवाक्यं तावद्व्याचष्टे—सायमित्यादिचतुस्त्रिंशच्छ्लोकैः। अत्र 'अयम्' इति पदेन संसारी, उपाधितः पृथगात्मानमबुध्यमानः, आहुतीनां सूक्ष्मावस्थारूपादृष्टसंपृक्तसूक्ष्मशरीरेण परलोकगमनागमनशालिना तादात्म्याध्यासवान् जीवो विवक्षित इति बोधयितुं पंचाग्निविद्यावाक्यप्रसिद्धां तथा 'ते इमे आहुती उत्क्रामतस्ते अन्तरिक्षमाविशत' ( ) इत्याद्यग्नि-होत्रप्रकरणगतवाक्यप्रसिद्धां चाहुतिं सम्पृक्तस्य गतागतिं प्रकटयति चतुर्भिः। सायं प्रात हुते **ते** अग्निहोत्राहुती उभे। **कीदृश्यौ ते आहुती? अप्प्राये जलप्रधानदुग्धादिपरिणामतया जलप्रधाने। होमानन्तरं सूक्ष्मरूपेण अग्नेः सकाशाद्** आकाशमागते **प्राप्ते। 'ते अन्तरिक्षमाविशत' इति श्रुतेरित्यर्थः॥३५४॥**

परमात्मा से अभेद अनुपपन्न होने से जीववाचक पद की शुद्ध में लक्षणा हो यह संगत है। किंतु हमें अपना जो स्वानुभव है वह तो मैं शब्द व मैं ज्ञान के वाच्यरूप में ठीक ही लग रहा है। बाह्य की ओर ही दृष्टि होने से हम साक्षी को समझ ही नहीं रहे। अतः हम 'मैं' के लक्ष्य हैं यह समझना हमारे लिए मुश्किल हो गया है। इतना मान सकते हैं कि उसका लक्ष्य कोई होगा जो परमात्मा से अभिन्न होगा, पर हम ही वह हैं, यह नहीं जान पा रहे हैं।

सनकादि महात्माओं ने हमारी ऐसी असंभावनामय बुद्धि को समझकर बिना पूछे ही ज्ञानसिद्धि का उपायभूत वैराग्य हमें बताया। निश्चय ही वे स्थिर निश्चय वाले हैं (अतः हमें आत्मबोध हो सकता है इसे दृढ जानकर ही उन्होंने उपेयोपदेश के अनन्तर उपायोपदेश किया)॥३५१॥

विरक्ति का भी उपाय है वस्तुओं के दोषों का अवलोकन। हे द्विजों! इसलिए आप लोग इस शरीर में होने वाले दोष का विचार कीजिये॥३५२॥

यह सोचकर उन सब शुद्ध मन वाले अग्निहोत्री महात्माओं ने मिलकर इन दोषों को समझा—॥३५३॥

सायं-प्रातः होम की गयी ये दोनों अग्निहोत्र आहुतियाँ जलप्रधान हैं। ये सूक्ष्मता पाकर अग्नि से आकाश को प्राप्त होती हैं॥३५४॥

अविद्या से उपाधितादात्म्यवश विभिन्न दुर्दशायें पाता हुआ जीव संसृत होता रहता है अतः अविद्यानिवृत्ति करनी

आत्मना व्यापिनाऽस्माकं सदा सर्वत्र संयुते। असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहेत्यन्त्याहुतिस्तथा॥
अस्मान् गृहीत्वा निर्यान्ति द्युपर्जन्यधरानरान्॥३५५॥
जीवः स्वर्गात् परिभ्रष्टः सुकृती दुष्कृती पुनः। नरकाच्च ततो भूयो निजकर्मानुसारतः॥
नानाविधानां जन्तूनां योनीः प्राप्नोत्यनिच्छया॥३५६॥

आत्मनेति। पुनः कीदृश्यौ ते उभे आहुती? अस्माकं कर्मिणां प्रमातृणाम् आत्मना जीवेन व्यापकेन सम्बद्धे। एकजीववादाभिप्रायेण 'आत्मना' इत्येकवचनम्। अत्र आहुत्योः सूक्ष्मतया कारणाज्ञानतादात्म्येन जीवोपाधित्वं, कार्याकारपरिणतयोस्तु प्रमात्रुपाधित्वमिति बोध्यम्। एवमन्तरिक्षगते सायं प्रातराहुती तथा असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा इति मन्त्रेण हुता अन्त्या अन्ते प्रेतशरीरदाहकाले भवा तृतीया चाहुतिः, एतास्तिस्र आहुतयः अस्मान् कर्मिणो गृहीत्वा क्रमेण पंचाग्नीनां मध्ये प्रथमं द्युलोकं सोमरूपं स्वर्लोकमग्निं, ततः सुकृतोपभोगानन्तरं पर्जन्यं मेघं द्वितीयमग्निं, ततो वृष्टिद्वारा धरां पृथिवीं तृतीयमग्निं, ततोऽन्नद्वारा नरं पुरुषं चतुर्थमग्निं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। अत्र आहुतीनां स्वातन्त्र्याभिधानं कर्मप्राधान्यवादिकर्मिदृष्ट्यानुवादि 'ते इमे आहुती' इत्यादिश्रुत्यनुसारेण। वस्तुतस्तु करणाभिमानिदेवानां तत्र तत्र नयने स्वातन्त्र्यं बोध्यं, पंचाग्निविद्यावाक्यादिति॥३५५॥

तत्र स्वर्लोकाद भूमिलोकं प्रति पर्जन्यद्वारा गमनेऽयमवान्तरो विशेषो बोध्य इत्याह–जीव इति द्वाभ्याम्। कश्चिज्जीवः क्रमेण प्रोद्भूतसुकृतदुष्कृतकः। स च प्रथमं सुकृती प्रोद्भूतसुकृतो भोगेन सुकृतक्षये स्वर्गात् परिभ्रष्टो भवति। पुनः दुष्कृती प्रोद्भूतदुष्कृतो यमयातनाभोगानन्तरं नरकाच्च परिभ्रष्टः सन् ततः तदनन्तरं 'रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्यन्ते' (छां.५.१०.७) इति श्रुत्युक्तप्रकारेण निजकर्मानुसारतः तत्काले प्रादुर्भूतकर्मानुसाराद् नानाविधानां जन्तूनां योनीः प्राप्नोति अनिच्छया स्वातन्त्र्यराहित्येनेत्यर्थः॥३५६॥

चाहिये यह इस प्रसंग का प्रयोजन है। उपाधि से स्वयं को भिन्न न जानने वाला ही संसारी है। परलोक-गमनादि जिस सूक्ष्म शरीर का होता है वह आहुतियों की सूक्ष्मावस्थारूप अदृष्ट से युक्त होता है। उस शरीर से तादात्म्याध्यास के कारण हम अपना संसरण मानते हैं। अग्निहोत्र सभी वैदिक कर्मों में प्राथमिक है अतः उसी की आहुतियों का उल्लेख कर दिया। क्योंकि कर्मों में जल (या द्रवपदार्थ) प्रधान होता है इसलिए आहुतियाँ जलप्रधान हैं। वेद में बताया है कि होम के बाद आहुतियाँ अग्नि को छोड़कर सूक्ष्मरूप से आकाश को प्राप्त हो जाती हैं। इन प्रसंगों में यथाशास्त्र मति रखनी चाहिये, अधिक कुतर्क नहीं करना चाहिये क्योंकि ये विषय इंद्रियादिगम्य तो हैं नहीं कि हम इनका निर्धारण कर सकें। शास्त्र से ही इनका पता लगता है अतः जैसा वह बताये वैसा मानकर अनुष्ठानादि में लगना चाहिये और मनःशुद्धि के बाद अध्यात्मनिष्ठा में लगना चाहिये। इन विषयों पर सूक्ष्मेक्षिका से कोई लौकिक था पारलौकिक पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होगा।

वे आहुतियाँ और कैसी हैं यह कहते हैं– हमारे व्यापक आत्मा से ये सदा सर्वत्र सम्बद्ध रहती हैं। 'वह स्वर्ग लोक के लिए आहुति है' इस मंत्र से दी गयी अंतिम आहुति तथा वे दोनों आहुतियाँ हम कर्मकर्त्ताओं को लेकर द्यु, पर्जन्य (मेघ), धरा व पुरुष इन अग्नियों के प्रति ले जाती हैं॥३५५॥

यहाँ जीव को व्यापक मानकर कहा गया है अतः एक जीववाद अभिप्रेत है। इस मत में जीव की उपाधि अविद्या है, मन नहीं। मन से उपहित तो अनेक प्रमाता हैं, क्योंकि मन अनेक है। अविद्या एक है अतः जीव एक है। आहुतियों का भी कारण तो अज्ञान है ही अतः अपने कारण के तादात्म्य से वे जीव की (अविद्या वाले की) उपाधि बन जाती हैं और अपने कार्याकार से वे मनोयुक्त हो प्रमाता की उपाधि बन जाती हैं। अतः प्रमातृतादात्म्यापन्न जीव को भोग होना संगत हो जाता है। यद्यपि आहुतियों को केवल प्रमात्रुपाधि मानने पर भी जीव का प्रमातृद्वारा उनसे सम्बंध हो सकता था तथापि उन्हें जीवोपाधि मान लेने से गमनागमन में उन्हें जाने वाला नहीं मानना पड़ेगा यह लाघव हो जाता है। प्रमात्रुपाधि न मानें तो मन के बिना भी आहुतियों का फल भोगने की आपत्ति होगी। अतः दोनों की उपाधि मानने की व्यवस्था है। मरने पर

सुकृती सुकृतं सर्वं[1] स्वर्गे लोकेऽनुभूय सः। वृष्ट्या सहैतमायाति लोकमन्नाद्यपूरितम्॥३५७॥

पुंशरीरे जीवप्रवेशः

उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यामन्नेन सह मूर्च्छितः। देहे रेतःसिचोऽन्तः स प्रविशत्यवशः पुनः॥३५८॥

रज्जुबद्धो घटो यद्वत् कूपे प्रविशति क्षणात्। कर्मबद्धस्तथा जन्तुः पितु र्देहं समाविशेत्॥३५९॥

राजभृत्यै र्यथा दोषी शृङ्खलाबन्धगात्रकः। कारागृहं प्रवेश्येत हृतसर्वस्वबान्धवः॥३६०॥

एवं जन्तुः स्वकर्माख्यशृङ्खलाभिः सुयन्त्रितः। नीयते पितृगात्रं तदेकाकी त्यक्तबान्धवः॥३६१॥

केवलसुकृतभोगवतस्तु स्वर्गान्नरकयोनिव्यवधानं विनैव भूलोकप्राप्तिरित्याह—सुकृतीति। स एतं लोकमायातीत्यन्वयः। कीदृशं लोकम्? अन्नाद्यपूरितम्। अन्नं च तदाद्यं च तेन पूरितम्। ओषधिद्वाराऽन्नं भूत्वा आद्यरूपेण भक्ष्यरूपेण भक्षकं यातीति भावः। यद्वा, अन्नस्य आद्याः कारणीभूता ओषधयः ताभिः पूरितम्। 'अत्ताद्ये'ति पाठे—अत्तारश्च आद्यमन्नं च तैः पूरितमित्यर्थः॥३५७॥

एतावता श्रुतिगताऽयमिति पदार्थं व्याख्याय पुरुषगर्भताप्रतिपादनोपयोगिनं पुरुषशरीरे तस्य प्रवेशमाह—उभाभ्यामिति। उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां मानुषशरीरप्राप्तिनिमित्ताभ्यां प्रयुक्तस्तथा अन्नेन सह मूर्च्छितः 'मूर्छा मोहसमुच्छ्राययोः' (भ्वा.प.से.) इति धातोः कर्तरि क्तः, अन्नेन सह ओषधिभ्यो वृद्धिं प्राप्त एकलोलीभावं गत इति यावत्। यद्वा, मूर्च्छितः मूढः सन् अन्नेन सह रेतःसिचो रेतः सेचकस्य पुरुषस्य देहेऽन्तः स विशति अवशः परतन्त्रः॥३५८॥

तत्र दृष्टान्तमाह—रज्जुबद्ध[2] इति। स्पष्टम्॥३५९॥

दृष्टान्तान्तरमाह—राजभृत्यैरिति। दोषी कृतापराधः॥३६०॥

दार्ष्टान्तिकमाह—एवं जन्तुरिति। नीयत ईश्वरप्रयुक्तैः करणाभिमानिदेवैरिति शेषः॥३६१॥

शरीर जलाते समय दी गयी अंतिम आहुति सहित अग्निहोत्राद्याहुतियाँ कर्मियों को क्रमशः ले जाती हैं। सोमरूप स्वर्लोक में पुण्यभोग की समाप्ति पर मेघादि द्वारा पुरुष पर्यन्त लाती हैं। यद्यपि ले जाना आदि करते हैं देवता, जड आहुतियाँ नहीं, तथापि कर्म को ही प्रधान मानने वाले आहुतियों को ही ले जाने वाला समझें यह उचित ही है।

बादल द्वारा स्वर्ग से भूमि पर आने में यह विशेषता है––सत्कर्मा व दुष्कर्मा जीव स्वर्ग व नरक से पुनः पुनः आकर निजकर्मों के अनुसार नाना प्रकार के जन्तुओं की योनियाँ स्वातन्त्र्यरहित हुआ प्राप्त करता है। सत्कर्मा स्वर्ग में केवल पुण्यों का फल भोगकर वृष्टिसहित अन्न के कारणीभूत ओषधियों से भरपूर इस लोक में आता है॥३५६–३५७॥

पुण्य-पाप दोनों हों तो स्वर्ग–नरक दोनों प्राप्त होते हैं तदनंतर स्वकर्मानुसार ही योनि मिलती है। किंतु इससे भिन्न, जिसके पाप फलोन्मुखी नहीं होते वह स्वर्ग से सीधे ही इस लोक में आता है।

ऐतरेय में कहा है कि जीव पहले पुरुषगर्भ में जाता है। इस विषय को कहते हैं–पुण्य व पाप दोनों द्वारा अन्न से एक हुआ रेतस् का सिंचन करने वाले पुरुष के देह में वह जीव परतंत्र हुआ प्रवेश करता है॥३५८॥

रस्सी से बँधा घड़ा जैसे झट कुए में घुस जाता वैसे कर्म से बँधा जंतु पिता के देह में प्रविष्ट हो जाता है॥३५९॥

जैसे बेड़ियों से बंधे शरीर वाला दोषी, राजा के नौकरों द्वारा सर्वस्व से व बांधवो से वियुक्त किया जाकर कारागृह

---

१. कर्मणः फलोपभोगेन क्षये सकर्मण एवावरोहः कृतात्ययाधिकरणे (३.१.२.८) निश्चित इति यदनुभूयते स्वर्गे लोके तत्सर्वं सुकृतमेवेत्यर्थो, न तु सर्वं सुकृतमनुभूयेति।

२. रज्ज्वाकृष्ट इति दृष्टांतो ज्ञेयो, न तूपरिष्टाद्रज्जुबद्धस्तादृशबंधनस्य झटिति कूपप्रवेशे विनियोगाभावाद्।

अन्धकूप इवाभाति पितुर्देहः शरीरिणः। सर्पोपमैः कृमिगणै र्निवीतोऽतिभयङ्करैः॥३६२॥

जाठरो जातवेदाश्च पितुस्तं जठरं गतम्। सन्तापयति कारास्थं धनार्थे किङ्करा यथा॥३६३॥

संशोषयति तं प्राणः पितु र्जठरगं भृशम्। व्याधितं दुर्बलं यद्वन्महावातो महागिरौ॥३६४॥

क्षुत्पिपासार्तिसम्पन्नं पितरं स्त्रीसमं स्वकम्। अन्नगर्भार्थिनं त्वास्ययोनिच्छिद्रेण गच्छति॥३६५॥

कालः पुमान् पिता चास्य पिता माता तथा भवेत्। संयोगस्त्वनयो ग्राम्यधर्मो गर्भस्य कारणम्॥३६६॥

प्रवेष्टव्यपितृशरीरमेवालोचने भयहेतुतया दुःखदमित्याह—अन्धकूप इवेति। निवीतो व्याप्तः। शरीरिणो जन्तोः॥३६२॥

पितृदेहस्य कृमिगणैरन्धकूपसाम्येऽपि वह्निवायुकृतोपद्रवात् ततो विशेषोपीत्याह—जाठर इति द्वाभ्याम्। तं जन्तुं, कारास्थं बन्धनागारगतं, किङ्करा राजपुरुषाः॥३६३॥

संशोषयतीति। महागिरौ हिमालये। अत्र तस्य जन्तो र्मूर्च्छितत्वेऽपि वैराग्याय तथा वर्णनमुचितमेव 'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्' (छा.५.१०.६) इति श्रुत्यनुसाराद्; 'अतः' अन्नभावाद्, दुःखेन निष्प्रपतितुं निष्क्रमितुं शक्यमिति लुप्ततकारकश्रुत्यर्थः॥३६४॥

अथ गर्भतां साधर्म्येणोपपादयति—क्षुत्पिपासेति। स्त्रीसमं स्वकं स्वीयं पितरमास्ययोनिच्छिद्रेण—अलोमकत्वेन योनिसमानमुखच्छिद्रेण गच्छति प्रविशति। 'स मुखाच्च योने र्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत् तस्मादेतदुभयमलोम-कमन्तरतोऽलोमका हि योनिः' (बृ.१.४.६) इति श्रुतिरलोमकत्वेन साम्ये मूलम्। कामजार्तिमत्या गर्भार्थिन्या च स्त्रिया साम्योपपादकं पितु र्विशेषणद्वयं; क्षुत्तृषोरन्नपानकामनारूपत्वात्, जीवप्रविष्टान्नस्य च गर्भवदिष्यमाण-त्वादिति॥३६५॥

ननु पितुः स्त्रीसमत्वे गर्भाधायकः पुमांस्तद्व्यापारश्च वक्तव्य इत्यत आह—काल इति। 'कालः कलयतामहम्' (गी.१०.३०) इति स्मृतेः काल ईश्वरो मायोपाधिः सर्वस्रष्टा पुमान् पिता चास्य जीवस्य भवेत्। अनयोः कालपित्रोः संयोगः सम्बन्धः गर्भकारणत्वेन ग्राम्यधर्मसमो बोध्य इति॥३६६॥

में प्रविष्ट किया जाता है, ऐसे निजकर्मरूप शृंखला से नियंत्रित, बान्धवों से वियुक्त, अकेला जन्तु पिता के शरीर में ले जाया जाता है॥३६०-३६१॥

विचार करें तो जिसमें प्रवेश होता है वह पितृशरीर ही भयहेतु है, दुःखप्रद है यह बताते हैं—पिता का शरीर प्रवेश करने वाले जंतु को अंधेरे कुँए की तरह लगता है तथा सर्पों के समान अतिभयंकर कृमियों से व्याप्त दीखता है॥३६२॥

पिता के पेट में गये जंतु को जाठर अग्नि वैसे ही तपाती है जैसे धन के लिए कैदी को राजभृत्य तपाते हैं॥३६३॥

उसे प्राण अत्यधिक सुखाता है जैसे हिमालय पर स्थित व्याधिपीडित दुर्बल व्यक्ति को तेज़ हवा सुखाती है॥३६४॥

हालाँकि उस अवस्था में प्राणी मूर्च्छित होता है अतः इन अनुभवों को नहीं कर पाता फिर भी क्योंकि इन स्थितियों से गुज़रता तो है ही इसलिए वैराग्य के लिए इनका बीभत्स वर्णन उचित है।

पिता के शरीर में रहना भी गर्भ में रहने के समान है यह दिखाते हैं— भूख-प्यास की आर्ति वाले और अन्नरूप गर्भ के प्रार्थी अतः स्त्रीसदृश अपने पिता में उसके मुखरूप योनिच्छिद्र से जंतु प्रवेश करता है॥३६५॥

इसका पिता है कालपुरुष और पिता माता है। काल व पिता का सम्बन्ध वह मैथुन है जो पिता में स्थापित होने वाले गर्भ का कारण है॥३६६॥

चतुर्थाग्नि-प्रवेश स्थल में पिता तो मातृस्थानीय है और काल है पितृस्थानीय। काल से मायोपाधिक ईश्वर ही समझना

तत्र दुःखानि

जननीजठरे यावद् दुःखं सोऽनुभविष्यति। तावदेव समाप्नोति जन्तु र्जठरगः पितुः॥३६७॥

मुखमेष पुरः प्राप्य दन्तैर्भिन्नात्मगात्रकः। मुखगन्धावृतघ्राणः कथंचित् कण्ठमाव्रजेत्॥३६८॥

कण्ठे श्लेष्माविलः स्वल्पमार्गे व्याकुलितेन्द्रियः। कृमिवच्चेष्टते जन्तुः शक्तिहीनोऽतिदुःखितः॥३६९॥

गरुडस्य मुखे मत्स्यो यद्वच्चलति सर्वतः। आत्मनो मुक्तिमिच्छन् सन्नेवं कण्ठे जनः सदा॥३७०॥

कण्ठात् कथंचिन्निर्मुक्तो योनियन्त्रोपमात् पुमान्। पित्ते विष्ठारसाकारे हृदि देशे पतत्यसौ॥३७१॥

यथा तैले सुसन्तप्ते त्वचमुत्पाट्य निःक्षिपेत्। श्लेष्माशयादयं पित्तमेवं पतति दुःखितः॥३७२॥

एवं साधर्म्यान्नरै गर्भतामुपपाद्य दुःखलाभेनापि साम्यं दर्शयितुं प्रतिजानीते—जननीजठर इति। तावदेव न न्यूनमित्यर्थः। तत्राष्टममासादौ चेतनालाभे जन्मान्तरस्मृत्यादिना दुःखभूयस्त्वम्, अत्र तु दन्तचर्वणादिना धातुप्रवेशेन च तद्भूयस्त्वमिति साम्यमेवेति भावः॥३६७॥

एतदेव स्पष्टीकरोति—मुखमेष इत्यादिना। एषोऽन्नतादात्म्यशाली जन्तुः पुरः प्रथमं मुखं प्राप्य दन्तै र्भिन्नानि आत्मसम्बन्धीनि गात्राणि यस्य स तथाभूतो, मुखसम्बन्धिदुर्गन्धेनाऽऽवृतमाक्रान्तं घ्राणं यस्य एवंभूतश्च सन् कथंचित् खेदेन गलविवरं गच्छेदित्यर्थः॥३६८॥

कण्ठविवरे क्लेशं स्फुटयति—कण्ठ इति। स्वल्पमार्गे कण्ठे जन्तुरतिदुःखितः कृमिवच्चेष्टत इत्यन्वयः। तत्र हेतुतया विशेषणानि योज्यानि। श्लेष्माविलः कफव्याप्तः॥३६९॥

दृष्टान्तमाह—गरुडस्येति। स्पष्टम्॥३७०॥

एवं कण्ठप्रान्तगतकफस्थानरूपकफाश्रयप्राप्तिदुःखमभिधाय ततोऽधस्तनपित्ताशयप्राप्तिदुःखं दर्शयति—कण्ठात् कथंचिदिति। योनियन्त्रोपमाद् योनियन्त्रसमानादित्यर्थः। एतेन यत् स्त्रीगर्भे प्रसवकाले दुःखमनुभूयते तद् अत्र प्रवेशकाल इति सूचितम्। ततो निर्मुक्तः पित्ते हृद्देशे स्थिते पतति। कीदृशे पित्ते? विष्ठारसाकारे विष्ठाद्रवसमानाकारे॥३७१॥

चाहिये। पिता का तादृश काल में होना ही काल व पिता का सम्बन्ध है।

पितृशरीर व गर्भ में दुःख की भी समानता बताते हैं—माता के गर्भ में वह जितने दुःख का अनुभव करेगा उतना ही दुःख पिता के पेट में जाने वाला जन्तु पाता है॥३६७॥

मातृगर्भ में आठवें महीने में चेतना आ जाने पर जन्मांतरों की स्मृति आदि से दुःखबहुलता है तो पितृगर्भ में चबाये जाने आदि की व धातुओं में प्रवेश करने की दुःखबहुलता है।

पितृशरीर के कष्टों को स्पष्ट करते हैं—यह पहले पिता के मुख को प्राप्त होता है। वहाँ पिता के दाँतों से इसका शरीर छिन्न-भिन्न हो जाता है। पिता के मुख की दुर्गन्ध से अपिहित घ्राण वाला वह जन्तु किसी तरह कण्ठ में पहुँचता है॥३६८॥

कण्ठ में वह कफ से घिर जाता है तथा छोटे से कण्ठमार्ग में फँसा व्याकुल इन्द्रियों वाला हो जाता है। शक्तिहीन वह अतिदुःखित जन्तु वहाँ छोटे कीट की तरह कुल-बुलाता है॥३६९॥

गरुड के मुँह में फँसा मच्छ जैसे हर ओर हिलता हुआ छटपटाता है वैसे यह जंतु कण्ठदेश से छूटना चाहते हुए सदा छटपटाता है॥३७०॥

अब पित्ताशय में पहुँचने का दुःख बताते हैं—योनियन्त्र के समान कण्ठ से किसी तरह छूटा वह जनिष्यमाण पुरुष विष्ठारस के समान रूप वाले हृदयदेशस्थ पित्त में जा पड़ता है॥३७१॥

पित्तात् प्राणाग्निसन्तप्तादितश्चेतश्च धावतः। मर्कटादिव दुःखानि प्राप्नोत्येष जनो हृदि॥३७३॥
अधः क्वचित् क्वचिच्चोर्ध्वं क्वचित्तिर्यक् क्वचित् पुनः। पित्त एवैति गतिमांस्तप्त तैले यथा जलम्॥३७४॥
एवं पित्ताशये स्थित्वा पुनरायाति मारुतम्। पुरीतद्दुर्गमध्यस्थं नाभिपर्वतनिर्गतम्॥३७५॥
वास्याभिरिव सर्वाङ्गैश्छिन्नै र्विह्वलितेन्द्रियः। वाताशये निपतति तृणं यद्वत् प्रभञ्जने॥३७६॥
तस्मिन्नग्निसमस्पर्शे वायौ रूक्षेऽतिदुःसहे। स्थित्वा कालात् प्रयात्येष जाठरं जातवेदसम्॥३७७॥

तद्दुःखे दृष्टान्तमाह—यथा तैल इति। उत्पाट्य उद्धृत्य दूरीकृत्य इति यावत्। पतति योगं प्राप्नोति॥३७२॥

पित्तादिति। प्राणेन उदराग्निना च सन्तप्तात् प्राणाग्न्यभिघातेन मर्कटवद् धावतश्च पित्ताद् हेतोः, तं प्राप्येति वा, हृदि देश एष जनो दुःखानि प्राप्नोतीति॥३७३॥

अधइति। एति भ्रमति॥३७४॥

एवमिति। मारुतं वाताश्रयम्। पुरीतद् अन्त्रम्, तदात्मकदुर्गमध्यगतम्। नाभीति। नाभिरूपात् पर्वतान्निर्गतम्, पर्वतेभ्यो हि गुहामुखैर्वायुर्निर्गच्छतीति प्रसिद्धम्॥३७५॥

वास्याभिरिति। तत्रान्नस्य पाकाय वायुना शोषणपूर्वकं विकीर्णभावः क्रियते सोऽत्र काष्ठतक्षणसाधनवास्याकरण-कच्छेदनत्वेन उत्प्रेक्षितः। यद्यपि आशया अष्टौ[1] आयुर्वेद उक्ताः, तथाप्यत्र त्रय एव दर्शिताः, उपयोगादिति॥३७६॥

वायुनाऽन्नविकिरणफलं जठराग्निप्राप्तिं दर्शयति—तस्मिन्निति। अग्निसमस्पर्शे जाठराग्निसन्निधानादिति शेषः। कालात् कंचित् कालमनुभूय॥३७७॥

जैसे चमड़ी उधेड़ कर तपे तेल में कोई डाला जाये वैसे ही यह श्लेष्माशय से दुःखित हुआ पित्त में गिर जाता है॥३७२॥

प्राण व आग के सन्ताप से बंदर की तरह इधर-उधर हिलते पित्त में पड़कर हृदयस्थान में यह जंतु दुःख पाता है॥३७३॥

तपे तेल में पानी की तरह वह पित्त में कभी नीचे, कभी ऊपर, कभी तिरछे और कभी फिर नीचे आता जाता रहता है॥३७४॥

इस तरह पित्ताशय में रहकर वह उस वायु के क्षेत्र में पहुँचता है जो पुरीतद्-रूप किले में स्थित है और नाभिरूप पर्वत से बहती है॥३७५॥

वसूले से सारा शरीर छिल जाये इस तरह हवा के थपेड़ों से उसका देह फट जाता है जिससे वह विह्वल इन्द्रियों वाला हो जाता है। तूफान में तिनके की तरह वह जंतु वाताशय में गिर पड़ता है॥३७६॥

पच सके इसलिए कौक्षेय वायु अन्न को सुखाती और बिखेरती है जिससे अन्न से संपृक्त जीव का देह भी छिलता है। यद्यपि वैद्यकशास्त्र में आशय आठ हैं तथापि प्रकरणोपयोग से यहाँ तीन का ही वर्णन किया।

इसके बाद जठराग्नि में पहुँचना दिखाते हैं—आग के समान उष्ण स्पर्श वाली उस रूखी दुःसह हवा का कुछ समय अनुभव कर यह जीव जठर स्थित अग्नि की ओर बढ़ता है॥३७७॥

वहाँ वह पकता है किंतु पकने से भी मरता नहीं। पकने से तीन प्रकार के हुए अन्न में मध्यमभाग रूप से त्वचा, रक्त,

---

१. कफ-पित्त-वात-पक्व-आम-रक्त-मूत्र-गर्भाशया अष्टौ प्रसिद्धाः। तत्र कफाशये स्नेहजनिः। आमाशये श्लेष्मा जायते। पक्वाशये पचनं भवति। गर्भाशयस्तु स्त्रीष्वेवेति।

तत्र पाकोऽस्य भवति म्रियते न च तेन सः। त्रिधाभूते ततस्तस्मिन्नन्ने मध्यमभागतः॥३७८॥

त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जारूपाणि गच्छति। पूर्वं पूर्वं ततः प्राप्य परं परमतो व्रजेत्॥
पूर्वमन्नरसो भूत्वा समानानुग्रहात् पुमान्॥३७९॥

एकैकस्मिन् यदत्रास्य दुःखं तद् दुःसहं भृशम्। किमु षड्धातुदुःखानि दुःसहानि नृणामिह॥३८०॥

केशाग्रशतभागेभ्यः सूक्ष्मा नाड्यः सहस्रशः। अयमन्नरसो भूत्वा ताभि र्धावति वै त्वचम्॥
शरीरव्यापिनीं सर्वकेशलोमावृतां बहिः॥३८१॥

आसां प्रवेशे गमने निर्गमे च त्वचस्तथा। प्राप्तौ भवति यद् दुःखं तत् स्मृतौ मोह एति नः॥३८२॥

त्वचो रुधिरमायाति लाक्षारससमं हि सः। दर्शने यस्य मोहोऽयं भीरूणामिह दृश्यते॥३८३॥

तत्रेति। पाको रूपान्तरापत्तिः। तेन पाकेन। ततः पाकात्। तस्मिन्नन्ने त्रिधाभूते—उत्तममध्यमाधमभावं गते सति तत्र उत्तमभागे मनोरूपेण परिणते, अधमभागे पुरीषतां च गते सति मध्यमभागतः मध्यमभागरूपेणासौ त्वगादिरूपतां गच्छतीत्युत्तरेणान्वयः। अत्र 'अन्नमशितं त्रेधा विभज्यते' (छां.६.५.१) इत्याद्या छान्दोग्यषष्ठगता श्रुतिरनुसन्धेया॥३७८॥

त्वगसृगिति। तत्रायं क्रमो बोध्य इत्याह—पूर्वं पूर्वमिति। पूर्वं प्रथमम् अन्नरसो भूत्वा ततो धातूनां मध्ये पूर्वं पूर्वं प्राप्य समानानुग्रहात् समानाख्यवायुबलात् परं परं व्रजेदित्यन्वयः॥३७९॥

ननु तथाभावे प्रकृते किमागतम्? अत आह— एकैकस्मिन्निति। अस्य जन्तोः एकैकस्मिन् अत्र धातुप्रवेशे यदा दुःसहदुःखं संभाव्यते तदा किमुत सर्वसमुच्चय इत्यर्थः। दुःखवर्णनं तु प्रकृतमेवेति भावः॥३८०॥

एतदेव प्रपञ्चयंस्त्वक्प्रवेशदुःखं स्फुटयति—केशाग्रेति द्वाभ्याम्। सहस्रशः 'द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयादभिनिःसृता नाड्यः' (द्र.बृ.२.१.१९) इत्यादिस्मृतौ प्रसिद्धाः ताभिस्त्वचं धावति प्रथममिति शेषः। कीदृशीं त्वचम्? शरीरव्यापिनीं तथा बहिः केशलोमावृताम् इति॥३८१॥

आसामिति। आसां नाडीनां प्रवेशे तन्मार्गेण गमने ताभ्यो निर्गमे च तथा त्वचः प्राप्तौ यद् दुःखं भवति तत् स्मृतौ सत्यां नोऽस्मान् प्रति मोहो वैचित्यम् एति प्राप्नोतीत्यर्थः॥३८२॥

त्वचो रुधिरप्राप्तिदुःखमाह—त्वच इति। अयं स्पष्टः। भीरूणां भयशीलानाम्॥३८३॥

मांस, मेदा, हड्डी व मज्जा रूपों को प्राप्त करता है। पहले अन्नरस बनकर समानवायु के प्रभाव से पहले पूर्व व तदनंतर उत्तर धातु बनता जाता है॥३७८-३७९॥

खाये अन्न के तीन हिस्से हो जाते हैं : उत्तम भाग मन बन जाता है और अधम भाग विष्ठा, मध्यम भाग ही त्वचा आदि भाव को प्राप्त होता है। पहले त्वचा बनता है, फिर रक्त इत्यादि क्रम है।

अन्न की यह गति भले ही हो, प्रकृत में क्या अंतर पड़ता है? यह कहते हैं—इनमें प्रत्येक धातु बनने में अत्यधिक असह्य दुःख होता है तब छहों धातु बनने में जो दुःख होते हैं उनकी असह्यता का क्या कहना?॥३८०॥

बाल की नोक के सौवें टुकड़े से अधिक सूक्ष्म हजारों नाडियाँ पितृशरीर में होती हैं। यह पैदा होने वाला जीव अन्नरस बनकर उनमें बहकर त्वचा-रूपता को प्राप्त होता है। त्वचा सारे शरीर में फैली होती है व बाहरी ओर प्रायः केश लोमों से आवृत रहती है॥३८१॥

इन नाडियों में प्रवेश, गमन व निकलने में तथा त्वचारूपता की प्राप्ति में जो दुःख होता है उसकी याद आने पर हम घबरा जाते हैं॥३८२॥

ततो मांसं सुनिबिडं शाल्मलीसुमनःसमम्। मूर्च्छितश्च क्वचिद् भीतः क्वचिद् विह्वलितेक्षणः॥३८४॥

ततो मेदोऽतिधवलं चूर्णकूटसमं पुनः। मांसान्निपतितो वह्निप्राणाभ्यां घृतवद् व्रजेत्॥३८५॥

ततः शरीरशालायाः स्थूणाभूतान्यनेकधा। अस्थीनि याति गर्भस्थो मृद्यथा दारुसंचयम्॥३८६॥

अस्थ्नामन्तस्ततस्तेषां मज्जानं साररूपिणीम्। प्रयाति काष्ठगं यद्वन्नीरमन्तः शनैः शनैः॥३८७॥

एवं स्थितेऽथ कालेन कामवह्निः पितु र्यदा। हृदि याति तदा मज्जा सारं मुञ्चति[1] सर्वतः॥३८८॥

मांसप्रवेशदुःखं स्फुटयति– ततो मांसमिति। सुनिबिडम् अतिघनम्। शाल्मलीवृक्षपुष्पसमवर्णम् एति इत्यनुषंगः। तत्र संभावितां प्रवेष्टु र्दशां विशेषणै र्दर्शयति– मूर्च्छित इत्यादिना॥३८४॥

चतुर्थधातुप्रवेशमाह– ततो मेद इति। ततो मांसान्निपतितः सन् मेदो व्रजेद् इत्यन्वयः। कीदृशं मेदः? चूर्णेत्यादि। वर्णेन गोधूमादिचूर्णसमम्। निपतने हेतू वह्निप्राणौ। आयुर्वेदे रुधिरादिमध्येप्यग्निस्थितिप्रतिपादनेन वह्नेश्चलन-हेतुत्वमविरुद्धं, तप्यमानजलादौ दर्शनात्। घृतवद् घृतं यथा चूर्णं प्रविशति तद्वत्॥३८५॥

पञ्चमधातुप्रवेशं दर्शयति– ततः शरीरेति। तदनन्तरं शरीरात्मकगृहस्य स्थूणानिभानि अनेकधा षष्ट्यधिकशतत्रय-संख्यया स्मृतौ गणितानि अस्थीनि पुंगर्भस्थो जन्तुः याति। कथम्? यथा मृत् काष्ठसमूहमिति॥३८६॥

षष्ठधातुप्राप्तिमाह– अस्थ्नामिति। तेषामस्थ्नामन्तः स्थितां साररूपिणीं सारं रेतोरूपचरमधातुं रूपवन्तं कर्तुं शीलं यस्यास्तां तथा, मज्जानं शनैः शनैः याति। किमिव? काष्ठलग्नजलवत्॥३८७॥

एवं जीवस्य पुंशरीरे गर्भतोपपादकं प्रवेशमभिधाय तत्र तस्य रेतोरूपेण गर्भवत् स्थितिप्रतिपादकं 'यदेतद्रेत' इत्यादि 'बिभर्ति' (ऐ.२.१) इत्यन्तं व्याचष्टे–एवं स्थित इत्यादिसप्ताधिकपञ्चाशद्भिः। एवम् उक्तविधया मज्जासाररूपेण

त्वचारूपता के अनंतर वह जीव खून में पहुँचता है। खून पिघली लाख के समान है। डरपोक लोगों को जिस खून को देखकर ही बीभत्सा होती है उस खूनरूपता को वह प्राप्त करता है यह कितना अधिक कष्ट है॥३८३॥

तदनंतर वह सेमल की फूल की तरह रंग वाले अतिघने मांस में पहुँचता है। कभी डरा हुआ व कभी विह्वल दृष्टि वाला वह मानो वहाँ मूर्छित हो जाता है॥३८४॥

फिर अतिश्वेत नमक आदि की ढेरी के समान मेदा को प्राप्त होता है। वह्नि व प्राण द्वारा मांस से वह घी की तरह निकलकर मेदा को प्राप्त होता है॥३८५॥

आयुर्वेद में रुधिर आदि में भी अग्नि का होना कहा है अतः यहाँ भी उसे बता दिया। घी जैसे किसी चूर्ण में घुस जाता है ऐसे यह मेदा में घुसता है।

अब पाँचवे धातु में प्रवेश का वर्णन करते हैं– तदुत्तर वह हड्डियों को पहुँचता है। हड्डियाँ अनेक प्रकार की हैं व शरीररूप मकान के खम्भों की तरह हैं। पितृगर्भस्थ जीव उन्हें प्राप्त होता है जैसे मिट्टी लकड़ी समूह में पहुँचती है॥३८६॥

घर बनाते समय लकड़ी का जाल बनाकर उस पर मिट्टी का लेप किया जाता है। कच्ची दीवार आदि में यह ढंग है। तदनुसार उदाहरण है।

छठे धातु की प्राप्ति बताते हैं– तदनन्तर उन हड्डियों में स्थित साररूप मज्जा को वह जीव प्राप्त होता है जैसे लकड़ी पर पड़ा पानी धीरे-धीरे अंदर जाता है॥३८७॥

---

१. जायमानजीवविशिष्टं सारमित्यर्थः। तेन जीवरहितसारोत्पत्तिरन्यदान्येषां च भवन्ती न विरुद्ध्यते।

पिता बीजं न सहते

आमस्तकं तथाऽऽपादमङ्गादङ्गाद्धि सर्वतः। मज्जारसो विनिर्याति दुःसहो जनकेन सः॥३८९॥

दशमे मासि यद्वत् स्याद्गर्भिण्या दुःसहस्तथा। गर्भ एष प्रथमतो जनकेनाऽपि दुःसहः॥३९०॥

आर्द्रो वनस्पति र्यद्वत् सहते न हि कोटरे। वह्निं तथास्य जनकः सहते न कथञ्चन॥३९१॥

यथाऽभिचारदुष्टस्य न मनो निश्चलं भवेत्। एवं कामाग्नितापेन न भवेन्निश्चलं मनः॥३९२॥

मज्जारसो रेत इति कामाग्निर्निर्गतः सदा। स्थितिं न कुरुते क्वाऽपि देहे पारसो यथा॥३९३॥

जीवे स्थिते सति कालेन निमित्तेन कामवह्निः तापकत्वेन द्रावकत्वेन च वह्निसमः कामः हृदि मनसि याति प्रादुर्भवति। मज्जा क्रर्त्री॥३८८॥

'सर्वत' इति विवृणोति–आमस्तकमिति। अभिविधावाङ्। आपादमितिच्छेदः। तस्य सन्निहितप्रसवकगर्भवन्नानोप-द्रवकारितां प्रपंचयितुं प्रतिजानीते– दुःसह इति॥३८९॥

तत्र दृष्टान्तमाह– दशम इति॥३९०॥

दृष्टान्तान्तरमाह– आर्द्र इति। आर्द्रो द्रावणार्हरसः। कोटरो वृक्षान्तश्छिद्रम्। वह्निमिति पूर्वार्धान्वयि॥३९१॥

तृतीयं निदर्शनं दर्शयति–यथाऽभिचारेति। अभिचारो नाम शत्रुणा कृतमदृष्टद्वारा तच्छत्रुबाधकं कर्म, तेन दुष्टस्य प्रकृतिविपरिणामं गतस्य। दार्ष्टान्तिके मनःपदेन तदायतनं[1] चरमधातु र्ग्राह्यः॥३९२॥

नारीगर्भस्य चालकः प्रसूतिहेतुर्वायुः, अत्र तु कामो वायुसख इत्यवान्तरविशेषेऽपि मातुरन्तरस्थिरत्वं व्यामोहकत्वं च समानमित्याह–मज्जारसइति। मज्जाशब्दष्टाबन्तोऽपि, 'मज्जोक्ता मज्जया सहे' ति द्विरूपकोशात्। निर्गतो द्रुतः। पाररसः पारदः॥३९३॥

गर्भ की तरह रेतोरूप से पुरुषशरीर में स्थिति बताने वाले श्रुतिखण्ड का संग्रह करते हैं– इस तरह मज्जा-साररूप से स्थित जीव पितृदेह में रहता है। तब कालरूप निमित्त से कामरूप वह्नि जब पिता के मन में पहुँचती है तब मज्जा अपने सार का परित्याग करती है॥३८८॥

मस्तक से पैर पर्यन्त सभी अंगों में स्थित मज्जा से मज्जारस निकलता है जिसे सहन करना पिता के लिए मुश्किल होता है॥३८९॥

जैसे दसवे महीने में गर्भिणी को गर्भ असह्य होता है उसी प्रकार यह प्राथमिक गर्भ पिता द्वारा भी सहन करना कठिन होता है॥३९०॥

जैसे हरी वनस्पति अपने कोटर में आग को सहन नहीं करती वैसे जनिष्यमाण जीव का पिता भी उस मज्जारस को किसी तरह सहन नहीं करता॥३९१॥

जैसे अभिचार कर्म के विषयभूत व्यक्ति का मन निश्चल नहीं होता ऐसे कामाग्नि के ताप से मन निश्चल नहीं हो पाता॥३९२॥

शत्रु द्वारा किया वह कर्म जो अदृष्ट द्वारा उसके शत्रु को पीडा दे या मार दे, अभिचार कहलाता है। जिसे पीडा देने के लिए इसे करते हैं उसका मन अस्थिर हो जाता है। जो यह कहा कि मन निश्चल नहीं हो पाता, वहाँ मन शब्द से रेतस् समझना चाहिये।

---

१. 'रेतएव यस्यायतनः हृदयं लोको मनोज्योति'रिति शाकल्यसंवादे (बृ.३.९.१७) रेतआयतनत्वं प्रसिद्धम्।

कामवशाद्व्यामोहः

श्लेष्मणस्तु समुद्रेकाद् यथा मधुरतां व्रजेत्। निम्बादिः कामजोद्रेकाद् नारीदेहस्तथा सुखम्॥३९४॥

मुखं दुर्गन्धनीराढ्यं चन्द्रवद्भाति कामिनः। अक्षिणी मलसम्पूर्णे पद्मपत्रोपमे यथा॥३९५॥

कटाक्षा वामनेत्राणां नरकग्राममार्गणाः। पुष्पाणीव प्रमत्तस्य कामिनो भान्ति सर्वदा॥३९६॥

नासिका श्लेष्मणो मार्गः पयोवद् भाति कामिनः। अधरः पायुसदृशो मधुरो भाति कामिनः॥३९७॥

केशास्तमःसमा अस्या नेत्राप्यायनकारिणः। मांसग्रन्थी स्तनौ तद्वद्धेमकुम्भौ सुपूरितौ॥
अमृतेनेव निर्भातः कामिनो निजदोषतः॥३९८॥

तस्य व्यामोहकत्वं व्यामोहकार्यविपर्ययप्रदर्शनेन स्पष्टयति—श्लेष्मण इति। दृष्टान्ते मधुरताकारेण परिणाम्यज्ञानस्य कफोद्रेकः क्षोभकः, प्रकृते तु कामकृतरेतउद्रेक इति। सुखमितिपदम् अभेदाध्यवसानेन तत्साधने प्रयुक्तम्॥३९४॥

विपर्ययमेव प्रपञ्चेन दर्शयति—मुखमित्यादिसप्तभिः। दुर्गन्धेन नीरेणाढ्यं हर्षविरोधिग्लानिजननार्हम्, आह्लादकत्व-लक्षणचन्द्रसाधर्म्याऽनर्हमिति यावत्। एवमुत्तरत्राऽपि विशेषणभावो बोध्यः॥३९५॥

कटाक्षा इति। नरकग्रामस्य नरकसमूहस्य जनकतया सम्बन्धिनो मार्गणा विषलिप्तबाणाः स्मृतौ दुर्गतिहेतुतया प्रसिद्धाः, एतेऽपि तत्समा हर्षहेतुपुष्पसमत्वं नार्हन्तीति भावः॥३९६॥

नासिकेति। पयोवद् दुग्धवत्॥३९७॥

केशाइति। तमोऽन्धकारः, तद्वत् श्यामतया नेत्रशक्तिप्रमोषार्हाः। आप्यायनं तृप्तिः। मांसग्रन्थी इति। अमृतेन सुपूरितौ-इत्यन्वयः। निर्भातः भासेते इत्यर्थः॥३९८॥

नारीगर्भ से प्रसूति का हेतु बनता है वायु जबकि पुरुष गर्भ को कामरूप आग बाहर निकालती है, इतना भेद होने पर भी समानता है यह बताते हैं– रेतोरूप मज्जारस के निकलने में कामना ही आग का कार्य करती है। वह रस देह में वैसे ही कभी देर तक स्थित नहीं होता जैसे कच्चा पारा॥३९३॥

रेतस् मोहकारी होता है यह दिखाते हैं–श्लेष्मा बढ़ने से जैसे नीम आदि मधुर लगता है वैसे ही कामनावश हुए रेतोवर्धन से नारीदेह सुखमय प्रतीत होता है॥३९४॥

दृष्टांत में अज्ञान के माधुर्याकार में परिणत होने में कफ का बढ़ना सहायक है व प्रकृत में कामवश हुआ रेत-अधिक्य। 'कामवश हुआ' इसलिए कहा कि ऊर्ध्वरेतसों में ऐसा विपर्यय नहीं होता।

भ्रम का ही वर्णन करते हैं– बदबू वाले द्रवों से भरा मुँह कामी को चाँद की तरह लगता है। कीचड़ भरी आँखें पद्मपत्र की तरह लगती हैं॥३९५॥

नरकसमूहप्रापक विषैले बाणों के समान जो सुंदर नेत्र वाली स्त्रियों के कटाक्ष होते हैं वे प्रमत्त कामुक को हमेशा पुष्पों की तरह प्रतीत होते हैं॥३९६॥

श्लेष्मा के निःसरण की मार्गभूत नासिका कामी को दूध जैसी पवित्र और मुँह से छूने योग्य लगती है। पायु के समान रूप वाला अधर उसे मधुर प्रतीत होता है॥३९७॥

अँधेरे के समान स्त्रियों के बाल कामुक के नेत्रों की तृप्ति के कारण बनते हैं। इसी तरह मांसग्रन्थि रूप स्तन अमृतभरे स्वर्णकलश कामी को अपने दोष के कारण प्रतीत होते हैं॥३९८॥

कुतिया या सुअरी के पेट की तरह स्त्री का पतला या मोटा पेट, जो होता तो विष्ठा मूत्रादि का संग्रह-स्थान है, सदा

उदरं मांसलं चास्या निर्मांसमथवा पुनः। श्वसूकरोदराकारं विण्मूत्राद्यालयः परम्॥
भाति कामग्रहार्तस्य सदानन्दस्य कारणम्॥३९९॥

स्फिजौ पायुनदीतीरभूते विष्ठानुलेपिते। पीवरे जघनं रम्यं निर्भात इति कामिनः॥४००॥

भगन्दरसमा योनि र्मूत्रगन्धविदूषिता। कामिनः स्वर्गसदृशी प्रतिभाति विमोहतः॥४०१॥

एवमूर्वादिकौ पादावस्थिस्थूणौ च मांसलौ। स्वर्णरम्भासमौ भातः कामिनो निजदोषतः॥४०२॥

पुरुषस्य यथा कामान्नारी भात्यमृतोपमा। नार्या अपि तथा कामात् पुमानमृततां व्रजेत्॥४०३॥

एवं कामाग्निजे पित्ते कामिनः कुपिते सति। वेत्ति धर्मं न चाऽधर्मं रात्रिं वा वासरं तथा॥४०४॥

उदरमिति। मंसलं प्रचुरमांसम्, तद्विपरीतं निर्मांसम्। शुनां सूकराणां चोदरसमानम्। सदा यदा यदा दोषोदयस्तदा तदेत्यर्थः॥३९९॥

स्फिजाविति। कटिमांसपिण्डात्मकौ स्फिजौ पायुरूपनद्यास्तीरसमाने पीवरे च इदं रम्यं जघनमिति आकारेण भासेते इत्यर्थः। स्फिक्शब्दः स्त्रीलिङ्गः॥४००॥

भगन्दरेति। स्फुटम्॥४०१॥

एवमूर्वादिकाविति। ऊरू आदी ऊर्ध्वदेशतया घटकौ ययोस्तौ तथा। पादशब्देनात्र ऊरुप्रभृति नखाग्रपर्यन्तोऽपरकायो विवक्षितः॥४०२॥

न केवलं कामो वायुसखतया पुंगर्भचालकत्वेन पुंमात्रे विविधविकारे हेतुः किन्तु पुंगर्भेण आधारीकरिष्यमाणायाः स्त्रियोऽपीत्याह—पुरुषस्येति। अमृतताम् अमृतवत्प्रियताम्॥४०३॥

कामरूप ग्रह से पीडित के आनंद का हेतु बनता है॥३९९॥

पायुरूप नदी के किनारेरूप व विष्ठा से सने मोटे नितंब कामी को 'ये रमणीय जघन हैं' इस तरह दीखते हैं॥४००॥

मूत्र की दुर्गन्ध से पूर्ण व भगन्दररोगग्रस्त गुदद्वार के समान योनि कामुक को विमोह के कारण स्वर्ग की तरह सुख-हेतु प्रतीत होती है॥४०१॥

इसी तरह जाँघ से शुरु होने वाले पूरे पैर जो हड्डीरूप खम्भों से व मांस से युक्त हैं कामुक को स्वदोषवश स्वर्णमय कदलीस्तम्भ के समान लगते हैं॥४०२॥

जैसे पुरुष को कामनावशात् नारी अमृत की तरह सुखद लगती है वैसे ही कामना से नारी के लिए पुरुष भी अमृत हो जाता है॥४०३॥

अर्थात् वायु के मित्र रूप से कामाग्नि केवल पुरुषगर्भ के निःसंरणार्थ पुरुष में ही विकार नहीं करती, वह गर्भ जिसमें धारण किया जाना है उस स्त्री को भी विमुग्ध कर देती है।

कामना की दोषरूपता अनुमानगम्य भी है: कामना, दोष है, क्योंकि स्वाभाविक कार्य का प्रतिबंधक है और विपरीत कार्य कराती है; जहाँ-जहाँ स्वाभाविक कार्य का प्रतिबंधकत्व अथवा विपरीत कार्य-आरंभकत्व होता है वह दोष हुआ करता है, जैसे शंख की सफेदी के भान का प्रतिबंधक पित्त या केले का उत्पादक जले बाँस का बीज। मुखादि में चन्द्रादिभानरूप विपरीत कार्य कामना से होता है यह बता चुके हैं। अब कहते हैं कि सभी प्रमा-करणों की शक्ति का प्रतिबंध भी कामना करती है- इस तरह कामी के कामरूप अग्नि से उत्पन्न पित्त के कुपित हो जाने पर वह धर्म को, अधर्म को, रात को, दिन को, अपने को, पराये को, उपकारक को, स्नेहवान् मित्रादि को मानो जानता ही नहीं। देखते हुए

आत्मानं च परं चैव सुहृन्मित्रादिकं तथा। पश्यन्नप्यन्धवत् स स्याच्छृण्वन् स बधिरोपमः॥४०५॥

जिघ्रन्निव घ्राणदोषी रसयन् रसनां[1] विना। त्वग्दोषीव स्पृशन् वक्ति पण्डितोऽपि जडो यथा॥४०६॥

आदत्ते कुणिवत् सर्वं पाणिमानपि कामभृत्। पादयोरप्यवैकल्ये पङ्गुवद्याति सर्वतः॥४०७॥

उदरस्याप्यथाध्माने पायुना न विसर्जयेत्। नीरोगोप्यथवा क्वापि मुञ्चन्नपि न मुञ्चति॥४०८॥

सप्राणोऽपि मृतप्राणो दरिद्र इव भूतिमान्। प्रभुश्च भृत्यवद्भाति कामग्रहसमावृतः॥४०९॥

कामो दोषः औत्सर्गिककार्यप्रतिबन्धकत्वाद्, विपरीतकार्यारम्भकत्वाच्च, यत्र यत्र एतद्धेत्वन्यतरत् तत्र दोषत्वं, यथा पित्ते शंखश्वेतिमभानप्रतिबन्धके, यथा वा दग्धवेत्रबीजे कदलीजनके–इत्यनुमानमभिप्रेत्य; पूर्वं मुखादौ चन्द्रादिभ्रमजनकत्वप्रदर्शनेन अन्त्यहेतोरुपपादितत्वाद्, आद्यहेतुं स्पष्टीकुर्वन् सर्वप्रमाकरणशक्तिप्रतिबन्धं प्रदर्शयन्नाह– एवं कामाग्निज इति। एवम् उक्तविधया विपरीतज्ञानजननेन कामाग्निजे ततः प्रादुर्भूते पित्ते पित्तवदुन्मादादिहेतौ पुंगर्भे कुपिते विरुद्धकार्यमारभमाणे सति योग्यकार्यप्रतिबन्धोऽपि दृश्यत इति शेषः। यतः प्रमाणै र्धर्मादिज्ञाने जननीयेऽपि तदा न जन्यत इत्याह–वेत्तीत्यादि॥४०४॥ आत्मानमिति। पूर्वार्द्धं पूर्वान्वयि। सुहृत् प्रत्युपकारानपेक्षः, मित्रं स्नेहवान्। स्पष्टदोषेष्वपि नार्यवयवेषु दोषाऽदर्शनाच्चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियशक्तिप्रतिबन्धं दर्शयति–पश्यन्नपीत्यादिना॥४०५॥

जिघ्रन्निवेति। दुर्गन्धं जिघ्रन्नपि घ्राणरोगिवन्न जिघ्रतीत्यर्थः। रसयन्नपि रसनया व्याप्रियमाणोऽपि रसनं विना यथा कश्चिद्भवति तद्वद् दृश्यत इति शेषः। स्पृशन्नपि त्वग्दोषीव भवति। कर्मेन्द्रियवैकल्यं स्पष्टयति– वक्तीत्यादिना। पण्डितोऽपि जडो यथा वक्ति तथा वक्तीति॥४०६॥

आदत्त इति। कुणि र्हस्तरोगी तद्वत्, संकुचितहस्त इति यावत्। शेषं स्पष्टम्॥४०७॥

उदरस्येति। पायुव्यापारप्रतिबन्धोऽत्र द्विधा–उदरस्य आध्माने मलविसर्गाकांक्षाजनके सत्यपि नीरोगोपि अयं कामी न विसर्जयेद्–इत्येकः। द्वितीयस्तु अथवेत्यादिनोक्तः। मुञ्चन्नपि मलोत्सर्गं कुर्वन्नपि तत्फलशरीरमलदर्शनोत्थवैराग्याभावान्न मुंचतीवेति॥४०८॥

भी वह अंधे जैसा होता है और सुनते हुए भी बहरे जैसा होता जाता है॥४०४-४०५॥

स्पष्ट दोष वाले नारी-अवयवों के दोष नहीं देखता अतः अंधा आदि ही है। ज्ञानेन्द्रियों के व कर्मेन्द्रियों के तथा मन आदि के प्रतिबंध यहाँ बता रहे हैं।

जैसे सदोष घ्राणेन्द्रिय वाला सूँघता है वैसे कामी भी सूँघता है अर्थात् नासिका से गंधसम्बन्ध होने पर भी कामी दुर्गंध से निवृत्त नहीं होता मानो उसे दुर्गन्ध आयी ही न हो। रसनेन्द्रिय के बिना खाने वाले की तरह कामी खाते हुए भी स्वाद नहीं ले पाता। सदोष त्वगिन्द्रिय वाला जैसे कुछ छूता है ऐसे कामी छूता है पर स्पर्श के याथार्थ्य को ग्रहण नहीं करता। पण्डित होता हुआ भी कामी कामोद्रेकदशा में मूर्ख की तरह बोलता है॥४०६॥

हाथवाला होते हुए भी कामवान् व्यक्ति लूले की तरह हर वस्तु पकड़ता है और पैरों के अविकल रहते हुए भी हर ओर लंगड़े की तरह चलता है॥४०७॥

वायु से पेट फूलने पर भी नीरोग होने पर भी वायु निकालता नहीं। प्रतिदिन मलोत्सर्ग करते हुए भी मल देखकर जो देह से वैराग्य होना चाहिये वह उसे नहीं होता अतः मानो उसने मल छोड़ा ही न हो॥४०८॥

बलवान् होता हुआ भी कामी निर्बल हो जाता है। ऐश्वर्यशाली होते हुए भी वह दरिद्र की तरह हो जाता है। मालिक

---

१. रसनमिति टीकापाठः प्रतीयते।

बुद्धिमानपि दुर्बुद्धिः समना निर्मना इव। निरहङ्कारवद्भाति साहङ्कारस्वरूपवान्॥
अचित्त इव चित्तेऽस्मिन् स्थिते कामी प्रजायते॥४१०॥

एवं शोच्यतमामेतामवस्थां सद्भिर्गर्हिताम्। प्रयाति गर्भधृक् कामी कामज्वरवशो नरः॥४११॥

स तदा ललनां नेत्रैः पिबत्यविरतं सदा। कर्णाभ्यामपि तामेव शृणोत्येकाग्रमानसः॥४१२॥

जिघ्रत्येतामयं कामी घ्राणेनाकुलितेन्द्रियः। आस्वादयत्यमुष्याः स रसं रसनया मुहुः॥४१३॥

स्पृशत्येनां सर्वगात्रैः स्पर्शनेनादृतो हि सः। वक्ति चैतां सुखकरीं वचनेन स कामभृत्॥४१४॥

बलैश्वर्यप्रभुत्वानां प्रतिबन्धं दर्शयति–सप्राण इति। सप्राणो बलवानपि नष्टबलो भवति। भूतिरैश्वर्यं, सम्पदिति यावत्, तद्वानपि दरिद्र इवेति। प्रभुश्चेत्यादि स्पष्टम्। उदाहरणमपि प्रसिद्धम्॥४०९॥

अन्तःकरणचतुष्टयव्यापारप्रतिबन्धं स्फुटयति–बुद्धिमानपीति॥४१०॥

फलितमाह– एवमिति। शोच्यतमां शोचितुं पश्चात्तापगोचरीकर्तुं योग्याम्। अत एव सद्भिः सुधीभि र्विगर्हिताम्॥४११॥

नन्वेवं कामेनेतरत्र सर्वेन्द्रियव्यापारप्रतिबन्धः किमर्थं क्रियत इति चेत्? शृणु; महामोहो हि प्रत्यगात्मानं मोहनिगडैर्बध्वा स्वयं राज्यं चिकीर्षति, तेन च विवेकाद् बिभ्यता कामः प्रधानमन्त्रित्वेऽभिषिक्तः, स च प्रभुं महामोहमाश्वासयन्निवेदं निवेदयति– श्रीमद्भिः कुतस्त्रस्यते? यत्र विवेकाशा स पुरुषो मया बीभत्सेऽपि नारीदेहे सहेन्द्रियैः सकलैः प्रवणः क्रियत इति यत्प्रतिज्ञातं तत्परिपूरणाय–इति। एतदभिप्रायेण कामिनः सर्वेन्द्रियव्यापारं कामिनीसंज्ञके संघाते दर्शयति– स तदेत्याद्यष्टभिः। पिबति पेयदुग्धादिवच्चक्षुर्द्वारान्तःप्रवेशयतीवेत्यर्थः। तां शृणोति तच्छब्दस्यापि संघातान्तर्भावविवक्षणादिति भावः। एवमुत्तरत्रापि बोध्यम्॥४१२॥

होते हुए भी नौकर की तरह प्रतीत होता है। कामरूप ग्रह से आविष्ट की यों दुर्गति होती है॥४०९॥

बुद्धिमान् भी कामी दुर्बुद्धिवत् हो जाता है। विचारशील होने पर भी वह विचार करने में असमर्थ-सा हो जाता है। अहंकारी होने पर भी निरहंकार जैसा लगता है। इस चित्त के रहते हुए ही वह विस्मृतिशील हो जाता है॥४१०॥

कामरूप ज्वर के वश में हुआ गर्भधारी कामुक नर उक्त प्रकार से विद्वानों द्वारा निन्दित, अत्यंत शोचनीय अवस्था को प्राप्त होता है॥४११॥

प्रश्न होता है कि काम इस प्रकार सभी इंद्रियों के व्यापार प्रतिरुद्ध करता क्यों है? उत्तर यह है : महामोह प्रत्यगात्मा को मोह की बेड़ियों में बाँधकर स्वयं राज्य करना चाहता है। किंतु उसे विवेक से डर लगता है इसलिए वह काम को अपना प्रधान-मंत्री बना लेता है। काम अपने मालिक महामोह को आश्वस्त करता हुआ कहता है, 'आप क्यों डरते हैं? जहाँ विवेक की संभावना हो सकती है उस पुरुष को मैंने सकल इंद्रियों समेत बीभत्स स्त्री शरीर की ओर उन्मुख कर दिया है जिससे अब विवेक की आशा नहीं।' कामी की सारी इन्द्रिय-चेष्टायें कामिनी के शरीर को ही विषय करती हैं। यह अब आठ श्लोकों से दिखाते हैं– उस समय वह निरन्तर बिना ऊबे ललना को आँखों से पीता है अर्थात् यों देखता है मानो आँखों द्वारा उसे अपने भीतर करना चाहता हो। एकाग्रचित्त हो कानों से भी उसे ही सुनता है॥४१२॥

यह कामी अनियंत्रित इंद्रियों वाला हुआ घ्राण से स्त्री को सूँघता है। रसना से पुनः पुनः वह उसके रस का आस्वादन करता है॥४१३॥

वह स्पर्शेन्द्रिय द्वारा सावधानी से उसे सारे शरीर से छूता है। वह कामी इस सुखकारी को ही वचन द्वारा बोलता है॥४१४॥

आदरपूर्वक बार-बार हाथों से उसे ही पकड़ता है। पैरों से कामी कामिनी की ओर ही जाता है मानो वह देव या

आदत्ते च तथैवैनां हस्ताभ्यामादृतो मुहुः। गच्छत्येनामयं कामी पद्भ्यां देवगुरूपमाम्॥४१५॥
प्रवर्तते त्वयं कामी विसर्जयितुमप्ययमूम्। पायुना किन्त्वशक्यत्वात् कर्मणोऽस्मान्निवर्तते॥४१६॥
मनसापि स्मरत्येष ललनां निजदैववत्। धियापि प्रमिणोत्येनामात्मानमिव योगभृत्॥४१७॥
चिन्तयत्येष ललनां कामी विष्णुमहर्निशम्। योगारुरुक्षु र्यद्वत् स विशुद्धधिषणो नरः॥४१८॥
आत्मानमपि तामेव मनुते कामदीपनात्। यतोऽनया भर्त्सितोऽपि तामेव बहु मन्यते॥४१९॥

नारी नरं मर्कटवद् नर्तयति

साप्येनं कामुकं स्वस्य क्रीडामृगसमं नरम्। नर्तयत्यनिशं दीनं नरो यद्वद्धि मर्कटम्॥४२०॥
क्वचिदेनं मानयति विविधैरुपचारकैः। भर्त्सयत्यपि कुत्रापि कर्णबाणैः सुदुःसहैः॥४२१॥

जिघ्रतीति स्फुटम्॥४१३॥ स्पृशत्येनामिति। आदृतः, आदिकर्मणि (पा.३.४.७१) कर्तरि क्तः, आदरं कुर्वन्नित्यर्थः। एवं ज्ञानेन्द्रियतत्परत्वं प्रदर्श्य कर्मेन्द्रियाणां दर्शयति– वक्तीत्यादिना॥४१४॥

आदत्त इति स्फुटम्॥४१५॥ पायुव्यापारनिवृत्तिं तस्याशक्यत्वाद् दर्शयत्युपहासाय– प्रवर्तत इति। पायुनेति पूर्वार्धान्वयि। अस्मात् पायुसम्बन्धिनः॥४१६॥

अन्तःकरणचतुष्टयव्यापारं दर्शयति– मनसेति। प्रमिणोति निश्चिनोति॥४१७॥

चिन्तयतीति। योगारुरुक्षु र्विशुद्धधिषणश्च नरो यद्वद्विष्णुं चिन्तयति तथा एष कामी ललनां चिन्तयतीत्यन्वयः॥४१८॥

आत्मानमिति। मनुतेऽभिमन्यते। तत्र हेतुः– यत इत्यादि॥४१९॥

नन्वेवंभावे को दोष इति चेत्? तिष्ठन्तु श्रुतिस्मृत्यभियुक्तप्रसिद्धा दोषाः, लौकिकानेव तावदवधारय–इत्याशयेन, नरस्य सतः क्रीडामृगत्वलाभ इत्यादीन्नारीपारतन्त्र्यप्रयुक्तान् दोषान् दर्शयितुं तदुपयुक्तान् नारीदोषान् स्पष्टयति– साप्येनमित्यादिषोडशभिः। सा नारी नर्तयति स्वाभिप्रायानुसारेण चालयति। एतेन नार्या 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' (मनु.९.३) इत्यादिनिषेधोल्लंघित्वरूपो दोषः सूचितः॥४२०॥

गुरु हो॥४१५॥

कामी तो पायु से कामिनी का विसर्जन करने को भी तैयार हो जाता है पर क्योंकि वैसा किया नहीं जा सकता इसलिए उसे करता नहीं॥४१६॥

मन से भी अपने इष्टदेव की तरह यह कामुक ललना को सोचता है। जैसे योगी आत्मविषयक निश्चय करता है ऐसे कामी बुद्धि से स्त्रीनिश्चय ही करता है॥४१७॥

चित्तसंयम चाहने वाला जैसे रात-दिन विष्णु का चिंतन करता है वैसे यह व्यक्ति ललना का ही चिंतन करता है। अंतर इतना है कि विष्णुचिंतक तो विशुद्ध चित्त वाला है जबकि वह कामी नर अत्यन्त अशुद्ध चित्त वाला है॥४१८॥

कामना की उद्दीसता के कारण स्त्री को ही अपना आत्मा मानता है क्योंकि उसके द्वारा निंदित होकर भी उसे ही अत्यधिक मान देता है॥४१९॥

ऐसा होने में दोष क्या है? श्रुति, स्मृति व शिष्टों में प्रसिद्ध दोष छोड़ दें तो भी लौकिक दृष्टि से ही ऐसा होना सदोष है क्योंकि पुरुष होकर भी इस स्थिति का व्यक्ति स्त्री की क्रीडावस्तु बना रहता है। स्त्री की परतंत्रता से होने वाले दोष दिखाने के लिए नारीदोषों को स्पष्ट करते हैं– जैसे आदमी बंदर को नचाता है ऐसे वह स्त्री भी कामुक अतएव दीन नर को दिन-रात यों नचाती है मानो वह उसके खेलने के लिए पाला हुआ कोई जानवर हो॥४२०॥

देहप्राणेभ्य एतेभ्यो नाथ! त्वमधिको मम। इति क्वापि वदत्येनं क्वाप्येनं कस्त्वमीरयेत्॥४२२॥

कुरुते वचनं क्वापि क्वापि नैव करोति सा। याचते द्रविणं क्वापि स्वयं क्वापि प्रयच्छति॥४२३॥

पुरुषान्तरसंसक्ता क्वापि सुप्तं निपातयेत्। पतिं स्वकीयं कुत्रापि वंचयेद्वचनादिना॥४२४॥

एवं पत्यादिभिश्चान्यान् स्वानिष्टान् पुरुषानपि। घातयत्यात्मनो नारी साध्वी त्वायतनेष्विह॥४२५॥

तान् वाऽन्यैर्हि बलोपेतै र्घातयेत् स्नेहमागता। क्वचित् परस्य सङ्केतं कृत्वाऽन्यस्मै प्रदर्शयेत्॥४२६॥

साधूनपि क्वचिन्नारी विडम्बयति संसदि। पितरं भ्रातरं पुत्रं ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्॥
अप्यल्पे हि स्वकार्ये सा वधूर्हन्ति न संशयः॥४२७॥

तमेव दोषं स्फुटयन्ननवस्थितस्वभावतां दर्शयति– क्वचिदिति त्रिभिः। उपचारकैः, स्वार्थे कः, सेवाप्रकारैरित्यर्थः। कर्णबाणैः कर्णवत्प्रत्यङ्मुखशूकयुक्तबाणसमैः। सुदुःसहैः अत्यन्तं सोढुमशक्यै र्वाक्यैरिति शेषः॥४२१॥

देहेति। पादत्रयेणैकं वाक्यम्। क्वाप्येनं कामुकं, कस्त्वं–'को भवसि? न जाने त्वाम्' इति ईरयेद् इति चतुर्थपादार्थः॥४२२॥

कुरत इति। स्फुटम्॥४२३॥ पुरुषान्तरेति चतुर्भिः साहसरूपं दोषं प्रपंचयति। क्वापि सुप्तं स्वकीयं पतिं निपातयेद् घातयेदिति॥४२४॥

एवमिति। पत्यादिभिः पतिप्रभृतिप्रयोज्यकर्तृभिः स्वानिष्टान् स्वस्य द्वेषविषयान्। साध्वी तथात्वेन प्रसिद्धाऽपि, तथा चासतीनां किमु वाच्यमिति भावः॥४२५॥

तान्वेति। तान् स्वानिष्टान्। अन्यैः परपुरुषैः। वाशब्देनासतीत्वं द्योत्यते। स्नेहमागता ईषद्गता। स्नेहस्येषद्भावं स्फुटयति– क्वचिदित्यादिना॥४२६॥

कभी नाना प्रकारों से स्त्री उसे इज़्ज़त देती है और कभी अत्यन्त असह्य तीखे वाग्बाणों से उसकी निंदा करती है॥४२१॥

कभी कहती है 'हे नाथ! देह व प्राणों से भी आप मेरे लिए अधिक मूल्यवान् हैं।' कभी कहती है 'तुम हो कौन? मैं तुम्हें कुछ नहीं मानती'॥४२२॥

कभी उसकी आज्ञा मान लेती है व कभी वह चाहे जितना कहता रहे मानती ही नहीं। कभी उससे धन मांगती है जब उसके पास कमी होने से वह दे नहीं सकता। जब नर को कोई आवश्यकता नहीं तब उसे स्वयं अपना धन निवेदित करती है॥४२३॥

यदि स्त्री अन्य पुरुष में आसक्त हो तो सोये पति को मार डालती है। कभी अपने पति को गलत बात आदि द्वारा धोखा दे देती है॥४२४॥

इसी प्रकार अपने अनिष्ट पुरुषों को साध्वी नारी भी पति आदि द्वारा मरवा देती है। लोक में साध्वी स्त्रियों के घरों में जब यह स्थिति है तब कुलटाओं के वहाँ क्या स्थिति होगी यह स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये॥४२५॥

अथवा अपने अनिष्ट व्यक्तियों को अन्य बलवानों द्वारा मरवा देती है। कभी दूसरे से थोड़ा स्नेह हो जाये तो उसे मिलने आदि का संकेत देकर किसी अन्य को भी संकेत दे देती है और प्रथम व्यक्ति भटकता रहता है॥४२६॥

कभी नारी सभा में साधुओं पर भी मिथ्या आरोप लगाकर उन्हे उपहासास्पद बना देती है। अपने थोड़े से काम के लिए वह बाप, भाई, पुत्र या विद्वान् ब्राह्मण को मार देती है इसमें संशय नहीं॥४२७॥

नारीसङ्गे दोषः

सङ्गे वध्वा भवेद् दुःखमिह जन्मनि निश्चितम्। मृतस्य नरकस्तद्वत् कोऽस्याः संगं समाचरेत्॥४२८॥

आसक्ता वा विरक्ता वा वधूं र्हन्ति न संशयः। आसक्ता यदि सा स्वस्य तदान्यस्त्रीगमादिना॥
कुपिता विषदानादिप्रयोगेण निपातयेत्॥४२९॥

यदान्यस्य तदा स्वस्य मात्रादिद्वारतो नरम्। निपातयति सा नारी लोकद्वयभयङ्करी॥४३०॥

विरक्ता हि यदा स्वस्य सैनं कामज्वरातुरम्। एकान्ते विविधै र्वाक्यै र्भर्त्सयित्वा न चाव्रजेत्॥४३१॥

कार्यान्तरं समुत्पाद्य व्रजेद्वा पुरुषान्तरम्। एनं कामातुरं त्यक्त्वा शयने स्वैरचारिणी॥४३२॥

जानीयाद्यदि चेद्भर्ता बलवान्निशि सा हि तम्। हन्ति स्वयमशक्ता चेदन्यै र्वा घातयत्यपि॥४३३॥

साधूनपीति। विडम्बयति मिथ्याभिशापेनोपहासयोग्यान् करोतीत्यर्थः। पितरमित्यादि स्फुटम्॥४२७॥

तस्याः संगद्वारा लोकद्वयदुःखहेतुतैव महान् दोष इत्याह— सङ्ग इति। सङ्ग आसक्ततारूपे सति निश्चितं प्रसिद्धं नरकः प्रसिद्धः स्त्रीभावनाप्राप्तिरूपश्च॥४२८॥

राजप्रभृतयो विरक्ता एव घ्नन्ति, डाकिनी तु अनुरक्तैव; नारी तूभयथेति महान् दोष इत्याह— आसक्तेति। तत्राद्यं स्फुटयति— आसक्ता यदीति। यदि सा नारी आसक्ता स्वस्य स्वकीया भवति तदान्यस्त्रीगमनादिना कुपिता सती विषादिना मारयेदिति॥४२९॥

यदान्यस्येति। यदाऽन्यस्य परकीया आसक्ता स्यादित्यनुषंगः। तदा सा स्वकीयसम्बन्धिद्वारेण हन्तीति प्रसिद्धमेतत्— व्यभिचारिणीमातृप्रभृतयो यतन्ते परपुरुषं हन्तुमिति॥४३०॥

अथ स्वकीयापरकीयाभेदेन विरक्ताया विविधदुःखहेतुतां स्फुटयंस्तत्राद्यायाश्चरितमाह— विरक्ता हीति त्रिभिः। सा स्वकत्वे सति विरक्ता॥४३१॥

कार्यान्तरमिति। समुत्पाद्य दर्शयित्वा॥४३२॥ जानीयादिति। जानीयात् परपुरुषगमनमिति शेषः। सा तं स्वयं हन्ति, अशक्ता चेदन्यै र्घातयतीत्यन्वयः॥४३३॥

स्त्रीसंग से इस जन्म में निश्चय ही दुःख होता है और मरकर भी अवश्य नरक प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में कौन इसका संग करे?॥४२८॥

राजा आदि को हमसे प्रेम न हो तब हमारी हानि करते हैं, डाकिनी को यदि प्रेम हो जाये तभी हमारी हानि करेगी पर नारी तो दोनों हालतों में हानि ही करती है यह बताते हैं— आसक्त हो चाहे विरक्त, स्त्री अवश्य मारती है। यदि स्त्री अपनी हो और आसक्त हो तब पुरुष के अन्यस्त्रीगमन आदि से कुपित हो विषप्रदान आदि द्वारा वह उसे मार देती है॥४२९॥

यदि स्त्री अन्य की हो किंतु अनुरक्त हो तो जब उसका अभीष्ट परपुरुष उसके अनुकूल नहीं होता तब उस नर को अपनी माता आदि द्वारा वह नारी मरवा देती है। ऐसी नारी दोनों लोकों के लिए भयहेतु है॥४३०॥

यदि अपनी पत्नी अपने से ही विरक्त हो तो वह कामज्वर से आतुर अपने पति की विविध वाक्यों से एकांत में भर्त्सना करती है व उसके निकट नहीं आती॥४३१॥

या वह अन्य कार्य बताकर अन्य पुरुष के पास चली जाती है, कामातुर अपने पति को पलंग पर अकेला छोड़ देती है। स्वैरिणियों का यह आचार है॥४३२॥

यदि उसका पति बलवान् हो और उसका रहस्य जान जाये तो वह उसे रात में मार डालती है और अगर खुद न

परस्य तु विरक्ता चेत् सद्योमरणकारणम्। एकान्ते मां याचितवानित्युक्त्वा मारयेन्नरम्॥४३४॥

एवं नारीषु दोषा हि सन्ति स्वासु परासु च। अनन्ता ह्यनुभूयन्ते कामिभिस्ते ह्यहर्निशम्॥४३५॥

नार्या दुःखकरो नरः

यद्वन्नारी दुःखकरी कामिनः पुरुषस्य हि। नार्या अपि च कामिन्याः पुमान् दुःखकरस्तथा॥४३६॥

वस्तुत उभयोः काम एव दुःखकरः

ततो दुःखकरः कामो न नारी न नरोऽपि च। एवं विज्ञाय मतिमान् कामं शत्रुमिमं त्यजेत्॥४३७॥

कामनिवारणप्रक्रिया

सङ्कल्पाज्जायते कामः सङ्कल्पो गुणबोधनात्। गुणबोधस्य नाशः स्याद् दोषाणामवलोकनात्॥४३८॥

विरक्तपरकीयाचरितमाह—परस्य त्विति। स्फुटम्॥४३४॥

दृष्टदोषानुपसंहरति—एवमिति। स्फुटम्॥४३५॥

अनवस्थितस्वभावत्वादिभि र्दोषैः कामुकं प्रति दुःखहेतुता न नार्या एव किंतु कामुकीं प्रति नरस्यापीत्याह—यद्वदिति। एतादृशदोषशालिन्या नार्या अपि दुःखहेतुत्वे न नारीत्वमेतावद्दोषशालित्वं वा प्रयोजकम्, अकामितायास्तथा दुःखहेतुताऽदर्शनात्, तादृशनारीत्वरहितपुरुषस्यापि सकामनारीं प्रति दुःखदर्शनाच्च। तस्मादनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकशालित्वात् तद्धेतोरिति[1] न्यायाच्च काम एव दुःखहेतुरिति भावः॥४३६॥

उक्तव्याप्तिदर्शनेन संभावितार्थानि श्रुतियुक्त्यभियुक्तवाक्यानि स्मारयति— तत इति। तथा च श्रुतिः 'काममय एवायं पुरुषः' (बृ.४.४.५) इत्याद्या। स्मृतिरपि 'काम एष क्रोध एष' (गी.३.३७) इत्याद्या।

'कामकिंकरतां प्राप्य जनो नो कस्य किंकरः। एवं कामं परित्यज्य जनोऽसौ कस्य किंकरः॥'

इत्यभियुक्तवचनं च। फलितमाह—एवमिति॥४३७॥

ननु कथं कामो हेयः? इत्याशंक्य, तन्मूलनिकृन्तनेन—इति वक्तुं तन्मूलपरम्परां तन्निवृत्त्युपायं चाह—सङ्कल्पादिति। संकल्पो रमणीयत्वाध्यासः। गुणबोधो रमणीयत्वप्रयोजकगुणाध्यासः। दोषाणामुक्तलक्षणानाम्॥४३८॥

मार पाये तो अन्यों से उसका वध करा देती है॥४३३॥

यदि परकीय स्त्री पहले किसी पर अनुरक्त हो उससे विरक्त हो जाये तो वह तुरंत मृत्यु का कारण होती है। 'इसने एकांत में मुझसे अनुचित प्रार्थना की— ऐसा कहकर वह पुरुष को मार देती है। प्राणवियोग न हो तो उससे भी भयंकर अपयश तो हो ही जाता है॥४३४॥ इस तरह स्वकीय-परकीय सभी नारियों में अनंत दोष हैं जो कामियों द्वारा रात-दिन अनुभव किये जाते हैं॥४३५॥

जिस प्रकार कामी पुरुष के लिए नारी दुःखदायी है उसी प्रकार कामिनी नारी के लिए पुरुष दुःखदायी होता है॥४३६॥ अभिप्राय है कि नर या नारी नहीं कामना ही दुःख का हेतु है। यों समझकर बुद्धिमान् को चाहिये कि इस कामरूप शत्रु का परित्याग करे॥४३७॥ भगवान ने भी काम को पापमय व शत्रु कहा है। अन्यत्र भी बताया है कि कामुक व्यक्ति सबका दास है, निष्काम व्यक्ति किसी के परतंत्र नहीं।

शंका होती है कि कामना कैसे छोड़ी जाये? उत्तर है कि कामना का मूल काट देने से वह छूट जाती है। यह समझाने के लिए उसकी कारण-परंपरा और उसे हटाने का उपाय बताते हैं— वस्तु में रमणीयता का भ्रम होने से कामना

---

१. तद्धेतोरेवास्तु हेतुत्वं किन्तेनेति।

दोषाणामवलोकेन मोहोऽयं जगदान्ध्यकृत्। अतत्त्वे तत्त्वधीहेतुस्तृष्णाबीजं विनश्यति॥४३९॥
तस्मिन्नष्टे स्वयं कामो निर्मूल इव पादपः। विनश्यति क्षणादस्मिन्नष्टे क्रोधोऽपि नश्यति॥४४०॥
इच्छाविघाते सत्येष क्रोधो द्वेषाभिधो नृणाम्। जायतेऽनिच्छतः केन क्रोध उत्पद्यते पुनः॥४४१॥
विवेकवह्निना दग्धे कामक्रोधे समूलके। संसारे भगवानेष आनन्दात्मा प्रसीदति॥४४२॥

दोषावलोकस्य गुणबोधविरोधित्वं हेयत्यागपूर्वकं वस्तुयाथात्म्यदर्शनेन गुणबोधमूलमोहविघटकतया दर्शयति– दोषाणामिति। दोषाणामवलोकेन मोहो विनश्यतीत्यन्वयः। मोहस्यावरणशक्तिमाह–जगदान्ध्यकृदिति। विक्षेपशक्तिं दर्शयति– अतत्त्व इत्यादि। अतस्मिंस्तद्धर्महीने च तत्तद्धर्माध्यासहेतुरित्यर्थः। पुनः कीदृशो मोहः? तृष्णाया विस्तृतकामस्य विटपिनो बीजसमानः। एतेन कामतरो र्गुणबोधोऽङ्कुरः, संकल्पो मूलम्, अज्ञात आत्मा च विवर्तोपादानं क्षेत्रमिति सूचितम्॥४३९॥

ततः किम्? अत आह– तस्मिन्निति। तस्मिन् मोहे नष्टे कामः स्वयं पृथङ्निवृत्तिसाधनयत्नानपेक्षो नश्यति, अङ्कुरद्वारा मूलप्रयोजकबीजाभावे पादप इवेति। रागात्मककामनिवृत्तौ द्वेषनिवृत्तिः सहैव भवति नान्तरीयकत्वादित्याह– अस्मिन्नित्यादि॥४४०॥

क्रोधनाशस्य कामनाशनियतत्व उपपत्तिं दर्शयति– इच्छाविघात इति। इच्छा काम एव केनचिद् विघाते प्रतिरोधे कृते सति क्रोधो जायते क्रोधरूपेण परिणमत इत्यर्थः। अनिच्छत इच्छामकुर्वतः॥४४१॥

नन्वेवं कामे जिते किं भवति? इत्यत आह– विवेकेति। कामेति समाहारद्वन्द्वः। संसार इहैव शरीरे। एष भगवान् आत्मा महावाक्यार्थः। प्रसीदति प्रादुर्भवतीति। एतमर्थं श्रुतिरपि दर्शयति–

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥' (बृ.४.४.७) इति॥४४२॥

का उदय होता है। वह भ्रम इसलिए होता है कि ऐसा निश्चय हुआ रहता है कि उस वस्तु में गुण हैं। उस वस्तु में दोष देखने से वह निश्चय समाप्त होता है॥४३८॥

वस्तु में दोष देखने से उसमें गुण है यह ज्ञान कटता है। सदोष होने से छोड़ने योग्य का त्याग कर वास्तविकता की जानकारी होती है जिससे वह मोह समाप्त होता है जिसके कारण संसार में गुणवत्ता दीखती है। यह समझाते हैं– विषयों में दोषदर्शन करने से कामना का बीजभूत यह मोह क्रमशः विनष्ट हो जाता है। यह मोह ही जगत् को अन्धा बनाये हुए है। जो जैसा नहीं उसे वैसा दिखाना इस मोह का ही सामर्थ्य है॥४३९॥ कामनारूप वृक्ष का अंकुर है गुणज्ञान, मूल है संकल्प और जमीन है विवर्तोपादान अज्ञात आत्मा।

मोहनाश का फल बताते हैं– उस मोह के नष्ट हो जाने पर कामना स्वयं तुरन्त वैसे ही नष्ट हो जाती है जैसे मूल के प्रयोजकीभूत बीज के न होने पर वृक्ष नहीं होता। कामना नष्ट हो जाने पर क्रोध भी नष्ट हो जाता है॥४४०॥

मोह हटा चुकने पर कामना हटाने के लिए अलग प्रयास नहीं करना पड़ता। रागरूप काम हटने के साथ ही द्वेषरूप क्रोध हटना भी स्वाभाविक है।

कामना हटने से क्रोध हटना निश्चित क्यों है? यह स्पष्ट करते हैं– कामना ही किसी के द्वारा प्रतिरुद्ध होने पर द्वेषनामक क्रोध बन जाती है। जो कामना न करे उसे फिर क्रोध किस कारण होगा?॥४४१॥

कामना पर विजय पाने का फल बताते हैं–विवेकरूप वह्नि से काम व क्रोध के सकारण जल चुकने पर इस शरीर में रहते हुए ही यह जीव आनन्दात्मक भगवान् रूप से प्रादुर्भूत हो जाता है॥४४२॥

काम! जानामि ते मूलं सङ्कल्पात् किल जायसे। सङ्कल्पे तु मया त्यक्ते कथं त्वं मयि जायसे।।४४३।।

पञ्चमाग्नावाहुतिः

इति विज्ञानशून्योयं गर्भी कामग्रहाकुलः। प्राचा ग्राव्णाऽहिनेवात्र दष्टो वेत्ति न किञ्चन।।४४४।।

कामग्रहसमावेशादुपस्थाहेश्च भक्षणात्। रेतोगर्भेण खिन्नः सन् गर्भं तं मोक्तुमिच्छति।।४४५।।

आत्मनः सारमात्मानं सर्वाङ्गेभ्यः पृथक् कृतम्। वोढुं शक्तो यदा नाऽयं नारीयोनौ तदा क्षिपेत्।।४४६।।

अयमेव कामहानोपाय इत्यत्र स्मृतिवाक्यं पठति–कामेति। उक्तोऽर्थः।।४४३।।

इति विज्ञानेति। इतिशब्देन पूर्वोक्ता कामस्यानर्थमूलता तन्निवृत्त्युपायश्च परामृश्यते। अयं पूर्वोक्तो गर्भी रेतोमयगर्भयुतः।

विज्ञानशून्यत्वे हेतुः–कामग्रहेति। विज्ञानाभावं हेत्वन्तरेणाप्याह–प्राचेति। बृहदारण्यकेऽष्टमाध्याये चतुर्थब्राह्मणे वाजपेयदृष्टि[1] ग्राम्यधर्मे विहिता। तत्र च नारीरहस्यांगे सोमाभिषवणफलकभावना, पुरुषरहस्यांगे चोपलभावनोक्ता। तदभिप्रायेण प्राचेति विशेषणम्। तथा च प्राचा ग्राव्णा सोमाभिषवोपलदृष्टिविषयेण मेहनेन अहिनेव सर्पसमानेन दष्टो दंशफलं व्यामोहं नीतः सन् किञ्चन न वेत्ति न जानातीत्यर्थः।।४४४।।

'तद्यदा' इत्यादि 'प्रथमम्' (ऐ.२.१.) इत्यन्तं व्याचष्टे–कामग्रहेति चतुर्दशभिः। उपस्थाहेरिति कर्तरि षष्ठी, उपस्थाहिना भक्षणाद् दंशनादित्यर्थः। मोक्तुं त्यक्तुम्।।४४५।।

आत्मन इति। आत्मनः शरीरस्य सारम्, अतएव आत्मानं रेतोरूपं सर्वाङ्गेभ्यः पृथक् कृतं यदा वोढुं न शक्तो भवति तदा नारीयोनौ क्षिपेदिति।।४४६।।

अज्ञान-निवृत्ति होने पर जो पहले जीवरूप से प्रतीत होता था उसकी आनंदात्मक भगवद्रूपता अनावृत हो जाती है। बृहदारण्यक में भी घोषणा की गयी है कि मन में होने वाली सारी कामनायें समाप्त हो जाने पर जीव अमर हो जाता है तथा जीवित रहते हुए ही ब्रह्मानंद पाता है।

कामनिवृत्ति का यही उपाय स्मृतिकारों ने भी बताया है। वे कहते हैं– हे काम! मैंने तुम्हारे मूल को जान लिया है। निश्चित ही तुम संकल्प से, रमणीयता के भ्रम से उत्पन्न होते हो। मेरे द्वारा संकल्प अर्थात् उक्त भ्रम छोड़ दिया जाने पर तुम मुझमें क्यों कर उत्पन्न होगे?।।४४३।।

इस बात को न समझने वाला अतएव कामग्रह से आकुल यह गर्भी पुरुष ऊपरी पत्थर रूप साँप से मानो डसे हुए की तरह हेय-अहेय आदि कुछ भी समझ नहीं पाता।।४४४।।

बृहदारण्यक में बताया है कि ग्राम्यधर्म में वाजपेय दृष्टि करनी चाहिये। वाजपेय में सोमलता का अभिषव किया जाता है, उसे निचोड़ा जाता है। इसके लिए किसी बर्तन पर लता को पत्थर से रगड़ते हैं। जिस आधार पर लता रखते हैं उसकी दृष्टि तो योनि में करनी चाहिये और जिस पत्थर से लता रगड़ते हैं उसकी दृष्टि शिश्न में करनी चाहिये। इसे ध्यान में रखकर यहाँ 'ऊपरी पत्थर' कहा है। इन विधानों से ग्राम्यधर्म करें तो कामना क्षीण होगी क्योंकि अनुष्ठानकाल में मन की एकाग्रता इन दृष्टियों पर होगी न कि क्षुद्रसुख में। जैसे साँप से डसा व्यक्ति कुछ नहीं समझ पाता वैसे शिश्न द्वारा प्रेरित पुरुष कोई विचार नहीं कर पाता।

पिता के शरीर से माता के शरीर में जाने का वर्णन करते हैं– कामनारूप ग्रह के समावेश से और उपस्थरूप साँप के डसने से रेतोरूप गर्भ से परेशान हुआ पुरुष उस गर्भ का परित्याग करना चाहता है।।४४५।।

सब अंगो से निकले रेतोरूप अपने सार को ढोने में जब यह समर्थ नहीं होता तब नारी की योनि में उसका प्रक्षेप

१. इह प्रसङ्गे वाजपेयोपासनोपन्यासस्तथाविधानामपि कर्मणां फलं तथैव हेयं यथा ग्राम्यधर्मस्य फलमिति सूचयितुम्।

प्राचो ग्राव्णो विनिर्गत्य तेजोऽस्यात्मस्वरूपकम्। निषेक्तु र्योनिमायाति वध्वास्तद् ग्राम्यधर्मतः॥४४७॥
यथा भारातुरो जन्तुस्त्यक्ते भारे सुखी भवेत्। गर्भसन्त्यागतो गर्भी तद्वत् सुखमवाप्नुयात्॥४४८॥
ग्रहाविष्टो यथा जन्तु र्ग्रहनिर्गमतः सुखम्। अवाप्नोति तथा गर्भी रेतसो निर्गमात् सुखम्॥४४९॥
अजीर्णमशनं यद्वत् कृत्वा प्राणान्तमापदम्। निर्गच्छति तथा रेतो बलक्षयकरं नृणाम्॥४५०॥
अतीसारो यथा नृणां सर्वतेजोपहारकः। रेतसो निर्गमस्तद्वद् बलवीर्यापहारकः॥४५१॥

ब्रह्मचर्यप्रशंसा

अस्यावस्थानतः पुंसामोजो नामाष्टमी दशा। भवत्ययं यया जन्तुस्तेजस्वी सन् हि जीवति॥४५२॥
अस्य संस्थापने नृणां जरा वैरूप्यकारिणी। मृत्युश्च न भवेच्छीघ्रं बलं चेह न नश्यति॥४५३॥

प्राचो ग्राव्णो विनिर्गत्येति। अस्य निषेक्तुरात्मस्वरूपकं स्वल्पार्थे कः, स्वल्पं स्वरूपं तेजो रेतो वध्वाः स्त्रियाः योनिमायातीत्यन्वयः॥४४७॥

तस्य निर्गमं स्त्रीगर्भनिर्गमवन्मातुः सुखत्वाभिमतहेतुतया दृष्टान्ताभ्यामाह– यथेति द्वाभ्याम्। स्पष्टम्॥४४८॥

ग्रहाविष्ट इति। ग्रहः पिशाचादिः॥४४९॥

वस्तुतस्तु रेतोनिर्गमे महती हानिरिति दर्शयति– अजीर्णमिति। अजीर्णम् अपरिपक्वमशनं भुक्तान्नं प्राणान्तं यथा भवति तथा आपदं कृत्वा निर्गच्छति तथा रेतो निर्गच्छति। अजीर्णान्नरेतसो र्निर्गच्छतोः साधर्म्यमाह–बलेत्यादि॥४५०॥

दृष्टान्तान्तरमाह–अतीसार इति। स्फुटम्॥४५१॥

रेतोनिर्गमे हानिं स्फुटयंस्तद्व्यतिरेकरूपब्रह्मचर्यफलं दर्शयति–अस्येति। पुंसामिति कर्तरि षष्ठी। अस्य रेतसोऽवस्थानतो निरोधात् सप्तमधातुरूपरेतस ओजःसंज्ञाऽष्टमी दशा भवति। ओजो नाम पीतवर्णं हृद्गतं जीवनिवासभूतं वासिष्ठादौ प्रसिद्धं, तत्फलमाह–ययेत्यादि॥४५२॥ फलान्तराण्याह– अस्येति। अस्य रेतसः सम्यक्स्थापने जराऽभावो मृत्युपरिभवो बलोत्कर्षश्च फलानि बोध्यानि॥४५३॥

करता है॥४४६॥

निषेक्ता का (रेतःसेचन-कर्ता का) आत्मस्वरूप तेज ऊपरी पत्थर से अर्थात् शिश्न से ग्राम्यधर्मरूप क्रिया द्वारा निकल कर वधू की योनि में आ जाता है॥४४७॥

जैसे भार से दुःखी व्यक्ति भार छूट जाने पर सुखी हो जाता है उसी प्रकार गर्भी पुरुष रेतोगर्भ के त्याग से सुख प्राप्त करता है॥४४८॥

ग्रह से आविष्ट जंतु जैसे ग्रह निकल जाने से सुखी होता है वैसे ही रेतस् निकल जाने से पुरुष सुखी होता है॥४४९॥

वस्तुतः तो रेतस् निकलने सें महान् हानि होती है यह बताते हैं– न पचा हुआ भोजन जैसे लगभग प्राणान्त की आपत्ति का कष्ट देकर शरीर से निकलता है वैसे वीर्य भी असह्य कष्ट देकर शरीर से निकलता है। गैर पचे भोजन और वीर्य दोनों के निकलने से लोगों के बल का क्षय होता है॥४५०॥

जैसे अतिसार (पेचिस) लोगों का सारा बल समाप्त कर देता है वैसे रेतोनिर्गम भी बल समाप्त कर देता है॥४५१॥

वीर्य के निरोध से लोगों में ओज नाम की आठवीं दशा तैयार होती है जिससे जन्तु तेजस्वी होकर जीता है॥४५२॥

पुरुष यदि वीर्य का पात न होने दे तो शरीरादि को विरूप करने वाली जरा शीघ्र नहीं आती। मृत्यु भी शीघ्र नहीं

परलोके ब्रह्मलोक अधस्ताद् ब्रह्मचारिणाम्। कीर्तिश्च विपुला लोकद्वयं तेषां भवेत् सदा॥४५४॥

अस्य बन्धनतो योगाः खेचरत्वं वदन्ति हि। ऐश्वर्यं चाष्टधा नृणामणिमादिकमेव हि॥४५५॥

यथेक्षुदण्डो निःसारः पीडितस्तद्वदेव हि। पुमान् भवति निःसारो वधूबाहुनिपीडनात्॥४५६॥

आत्मनश्चोद्धतं तेजस्तस्यामेष निषिंचति। आयुर्बलकरं मूढो मोहितो मायया स्वया॥४५७॥

प्रथमं जन्म

एवमस्य निषिक्तस्य रेतसो योनिमण्डले। नृगर्भनिर्गमाख्यं तत्प्रथमं जन्म गद्यते॥४५८॥

योनौ नानाविधावस्था दुःखशोकसहस्रशः। गर्भोपनिषदि प्रोक्ताः प्राप्नोत्येष सहस्रशः॥४५९॥

'य एतं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति तेषामेवैष ब्रह्मलोक' (छां.८.४.३) इति श्रुतिमनुरुध्याह—परलोक इति। परलोके ब्रह्मचारिणां ब्रह्मलोके भवति अधस्ताद् मानुषे लोके विपुला कीर्तिश्च भवति, तेन तेषां ब्रह्मचारिणां लोकद्वयं सिद्धं भवेद् इति॥४५४॥

अस्येति। अस्य रेतसो बन्धनतो निरोधविशेषात् नृणां मध्ये योगाः—अर्शाद्यच्—योगविदः खेचरत्वम् आकाश-गमनक्षमत्वं प्राप्नुवन्ति, तथा अणिमाद्यैश्वर्यं व्रजन्तीति॥४५५॥

एवं व्यतिरेकद्वारा सूचितां रेतोविसर्गे हानिं साक्षादप्याह—यथेक्षुदण्ड इति। यथा पीडित इक्षुदण्डो निःसारो भवति तद्वत् पुमान् वधूबाहुनिपीडनाद् निःसारो भवति इत्यन्वयः॥४५६॥

'कथम्? इत्यत आह—आत्मन इति। आत्मन उद्धतं प्रगल्भम्। उद्धृतमिति पाठे—अंगादंगान्निःसृतम्। आयुर्बलकरम् अपि तेज एष मूढो विपरीतदर्शी तस्यां वध्वां निषिंचति त्यजति यतः स्वाश्रितमायया मोहित आवृत इति॥४५७॥

एवमिति। रेतसः तत्संपिण्डितजीवस्य वक्ष्यमाणजन्मद्वयापेक्षया प्रथमं जन्म बोध्यमिति॥४५८॥

'तत्स्त्रिया' इत्यादि 'भवती'त्यन्तं (ऐ.२.२) व्याचष्टे—योनावित्यादिसप्तभिः। योनौ गत एष जन्तु नानाविधाः सहस्रशोऽवस्थाः प्राप्नोतीत्यन्वयः। कीदृशीरवस्थाः? दुःखशोकानां सहस्रैः प्रत्येकं व्याप्ता इति शेषः। वीप्सायां शस्।

आती व बल भी जल्दी नहीं घटता॥४५३॥

मृत्यु तो सभी को प्रारब्धानुसार आयेगी पर मृत्युतुल्य नाना व्याधियाँ जो शारीरिक दुर्बलता से होती हैं वे ऊर्ध्वरेता को नहीं होती। प्रारब्धवश भवितव्य दुःख उसे प्रकारांतर से भले ही हो जाये। ऐसे ही बुढ़ापा यथाकाल आना ही है. उसके कारण शरीर-मन में विकृतता नहीं आती यह समझना चाहिये। वस्तुतः तो ब्रह्मचर्य के विधान में तात्पर्य है।

रेतोनिरोध से उभयलोकलाभ बताते हैं– ब्रह्मलोक नामक पर लोक में व उससे नीचे मनुष्यलोक में ब्रह्मचारियों की बहुत कीर्ति होती है। अतः उनके इहलोक व परलोक दोनों सदा सुधरे रहते हैं॥४५४॥

योगी लोग कहते हैं कि वीर्यनिरोध से खेचरता (आकाश गमन का सामर्थ्य) प्राप्त होता है। ऐसे ही आठ प्रकार का ऐश्वर्य भी मिलता है॥४५५॥

जैसे निचोड़ा हुआ ईख का दण्ड निःसार हो जाता है वैसे कामिनी की भुजाओं में फँसने से मानो उनके द्वारा निचोड़ा जाने पर पुरुष भी निःसार हो जाता है॥४५६॥ यह मूढ पुरुष अपने अज्ञान से मोहित हुआ आयु व बल देने वाले अपने प्रगल्भ तेज को कामिनी में सींचता है॥५५७॥

इस प्रकार योनिस्थल में इस रेतस्त्याग को 'पुरुष के गर्भ से निकलना' नामक उसका प्रथम जन्म कहा जाता है॥४५८॥

जायायाः पतिपाल्यता

यस्मादेष वधूगर्भे गर्भरूपेण गर्भभृत्। प्रविशत्यत एवेयं रक्षणीयात्मरक्षिका॥४६०॥

वस्त्रैर्धान्यैश्च वसुभि र्दोहदाकांक्षितैरपि। प्रदानेन तथान्यैश्च यानै र्नानाविधैस्तथा॥४६१॥

स्नानशय्यासनाद्यैश्च व्यापारोपरमैरपि। औषधादेश्च सेवातो दुष्टस्य च विवर्जनैः॥४६२॥

पुनः कीदृशीः? गर्भोपनिषदि प्रोक्ताः गर्भोपनिषदुक्तास्ववस्थासु काश्चित् पुंगर्भभावे वर्णिताः, स्त्रीगर्भान्तर्भोग्यास्तु इतोऽग्रे नवमश्लोकमारभ्य वक्ष्यन्ते। शुक्रशोणितसंयोगानन्तरमग्निपित्तवाय्वाशयक्रमेण हृदयदेशप्राप्तिपर्यन्तभवास्तु इहैवानुसन्धेयाः। एतेन मातृशरीरतादात्म्यापत्त्या स्तनादिवत् तां गर्भो न हिनस्तीति सूचितम्॥४५९॥

'पति र्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम्। तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते॥'[1]

इति मन्त्रमर्थतः पठन् जायायाः पतिपाल्यत्वं 'भावयितव्या' (ऐ.२.३) पदार्थमाह—यस्मादिति। यस्मादेष गर्भभृत् गर्भाधायकः पुमान् गर्भरूपेण वधूगर्भे प्रविशति अत एव हेतोः इयं जाया रक्षणीया यत आत्मनः आत्माभिमानविषयशरीरसारस्य पुमंशस्य रक्षिकेति॥४६०॥

कैः साधनै रक्षणीया? अतस्तानि दर्शयति—वस्त्रैरिति द्वाभ्याम्। वसुःभि र्धनैः। दोहदाकांक्षितैः—दोहदो गर्भलक्षणेऽभिलाष इति हैमः; तथा च दोहदेन चतुर्थमासादौ हृदयदेशगतगर्भप्रयुक्तगर्भिणीसम्बन्ध्यभिलाषेण विषयीकृतैः पदार्थैरित्यर्थः। तददाने हि दोष उक्तः सुश्रुते—

'येषु येष्विन्द्रियार्थेषु दौहृदे चावमानना। प्रजायेत सुतस्यार्तिस्तस्मिंस्तस्मिंस्तदिन्द्रिये॥'

इति। दौहृदे—उक्तविधया द्विहृदयगर्भिणीच्छायाम्। द्विहृदयशब्दस्य दुहृद्भावः पृषोदरादित्वात्। शेषं स्फुटम्॥४६१॥ स्नानेति। उपरमो निवृत्तिः। दुष्टस्य अपथ्यस्य॥४६२॥

योनि में हजारों दुःखों व शोकों से व्याप्त नाना प्रकार की अवस्थायें हजारों तरह से यह प्राप्त करता है जो गर्भोपनिषद् में बतायी गयी हैं॥४५९॥

शास्त्रों में कहा है कि पति ही गर्भ बनकर पत्नी में घुस जाता है और उसमें नवीन बनकर दसवें महीने में पैदा होता है। क्योंकि पति स्वयं उसमें प्रविष्ट है और गर्भधारण से पत्नी पति का ही धारण कर उसे नवीनता प्रदान कर रही है, इसलिए पति का कर्तव्य है उसका पालन करना। यह बताते हैं— क्योंकि यह गर्भधारी पुरुष गर्भरूप से वधू के गर्भ में प्रवेश करता है इसलिए गर्भरूप से प्रविष्ट अपना (= पति का) रक्षण करने वाली यह स्त्री पति द्वारा रक्षा के योग्य है॥४६०॥

वस्त्र, धान्य व धन के प्रदान से, दोहदकालिक इच्छायें पूरी कर, तथा अन्य नानाविध यानों में घुमाकर, स्नान के उपकरण देकर, अभीष्ट शय्या देकर, आसन आदि की व्यवस्था कर, उसे आराम देकर अर्थात् कार्य न कराकर, दवा आदि देकर, अन्य सेवा करा कर और कुपथ्य न देकर गर्भिणी का संरक्षण पति को करना चाहिये॥४६१-४६२॥

गर्भधारण के चौथे मास के प्रारंभ में गर्भिणी को जो इच्छायें होती हैं उन्हें दोहदकालिक इच्छा कहते हैं। उस समय स्त्री में दो हृदय होते हैं, अपना व बालक का। उन इच्छाओं के तिरस्कार से उत्पन्न होने वाला बालक भी प्रभावित होता है। सुश्रुत ने तो कहा है कि जिस इंद्रिय से संबद्ध इच्छा की उस समय अवहेलना होगी, पुत्र के उस इंद्रिय में रोग होगा। आधुनिक शरीर के व मन के वैज्ञानिकों को इस तथ्य का परीक्षणपूर्वक सत्यापन करना चाहिये।

पत्नी का पालन युक्तिसंगत बताते हैं—लोक में भी यह नीति देखी गयी है कि दुष्ट व्यक्ति भी अपना उपकार करने

---

१. गर्भाधानपद्धत्यादौ दृश्यते।

अपि लोके नयो दृष्ट उपकारकरे जने। उपकारकरो दृष्टो दुर्जनोऽपि च वै जनः॥४६३॥

इयं चोपकरोत्यस्य गर्भिणो गर्भधारणात्। यतोऽस्य दुःखदं रेतः स्वात्मन्येवानया धृतम्॥४६४॥

अप्यस्य जननी जाया गर्भिणस्तत्प्रवेशतः। यस्मात् पुनर्नवो भूत्वा तस्यामेष प्रजायते॥४६५॥

निषेककालमारभ्य स्वार्तवेनैकतां गतम्। स्वदेहवद् दधात्येषा यावद्योनिविनिर्गमम्॥४६६॥

मातृगर्भे दुःखानि

योनिप्रवेशे जठरे कृमिविष्ठादिदूषिते। अनुभूयातिदुःखानि योनिद्वाराद् बहि र्व्रजेत्॥४६७॥

एतद्दुःखभयात् सर्वो ब्रह्मज्ञानं समिच्छति। करोति धर्ममव्यग्रः शास्त्रोक्तं सर्वदा पुमान्॥४६८॥

दुःखं हि मरणे नृणां नरकानुभवे तथा। प्रसिद्धं तत्कोटिकोटिगुणितं योनियन्त्रके॥४६९॥

तस्याः पालनं न्याय्यमपीत्याह—अपि लोक इति। लोकेऽयं नयो न्यायो मर्यादेति यावत्, दृष्टः। कोऽसौ नयः? यद् दुर्जनोऽपि जनः उपकारकरे जन उपकारकरो दृष्ट इति॥४६३॥ तं नयं प्रकृते योजयति—इयमिति। इयं जाया अस्य गर्भिणः रेतोगर्भवतः॥४६४॥

तमेव मन्त्रार्थं हेतुतया स्मारयति—अप्यस्येति। अस्य गर्भिणी जाया जननी भवतीत्यन्वयः। तत्र हेतुः—तत्प्रवेशत इत्यादि॥४६५॥

'तं स्त्री'त्यादि 'बिभर्ति' (ऐ.२.३) इत्यन्तं व्याचष्टे—निषेकेति। निषेको गर्भाधानम्। आर्तवं रजः, तेनैकतां तादात्म्यं गतं पुमंशमिति शेषः। दधाति धारयति पोषयति चेत्यर्थः॥४६६॥

श्रुतौ स्त्रीकर्तृकगर्भधारणोक्त्या सूचितानि दुःखानि वक्तुमुपक्रमते—योनिप्रवेश इति। योनिः प्रवेशसाधनद्वारं यस्य तत्तथा तस्मिन् जठरे तानि दुःखानि पोषयन्त्या जनन्या अन्येन वा दुर्निवार्याणीति भावः॥४६७॥

तद्दुःखनिवृत्तौ क उपाय इति चेद्? ब्रह्मज्ञानमेवेत्याह—एतदिति। एतद्दुःखं गर्भदुःखम्। सर्वो मुमुक्षु र्ब्रह्मज्ञानाधिकार-लब्धये च धर्मं करोतीत्याह—करोतीति। अव्यग्रोऽनलसः॥४६८॥

किंविधं गर्भदुःखम्? अत आह—दुःखमिति। प्रसिद्धमिति पूर्वान्वयि॥४६९॥

वाले का उपकार करता है। और यह स्त्री गर्भी पुरुष के गर्भ का धारण कर उसका उपकार करती है क्योंकि उसे दुःख देने वाला रेतस् इसने अपने में धारण कर लिया है॥४६३-४६४॥

गर्भी पुरुष का उसमें प्रवेश होने से जाया (पत्नी) उसकी (पति की) माता भी हो जाती है क्योंकि फिर नया होकर यह उसमें पैदा होता है॥४६५॥

इस दृष्टि से गृहस्थ को भी धर्मज संतान के लिए ही ग्राम्यधर्म करना चाहिये, उसके अनन्तर नहीं। ऋतुगमन का विधान भी परिसंख्यापरक मानना चाहिये। निवृत्तिपरायण गृहस्थों के लिए ऐसा समझना उचित है।

गर्भाधान काल से निज शोणित से तादात्म्य को प्राप्त पुमंश का यह स्त्री अपने देह की तरह धारण करती है जब तक कि वह योनि से बाहर नहीं निकल जाता॥४६६॥

योनि में प्रवेश करने पर, और कीड़ों तथा मल आदि से संकुल पेट में अत्यधिक दुःखों का अनुभव कर जीव योनिद्वार से बाहर निकलता है॥४६७॥

इस दुःख के भय से सब लोग ब्रह्मज्ञान चाहते हैं तथा आलस्य न कर व्यक्ति सदा शास्त्रोक्त कर्म करता है॥६६८॥

गर्भदुःख किस प्रकार का है यह बताते हैं—लोगों में मरण व नरकानुभव का जो दुःख प्रसिद्ध है उससे करोड़ गुणित करोड़ गुणा दुःख($१०^{१४}$) योनियंत्र में होता है॥६६९॥

निर्गमश्च प्रवेशश्च मरणार्तिशतैः समः। योनौ मात्रुदरे वासो नरकावासतोऽधिकः॥४७०॥

तत्र दुःखान्यनन्तानि प्राप्यन्ते देहधारिभिः। उक्तान्यपि हि यान्यत्र संमोहं जनयन्ति नः॥४७१॥

विष्ठामूत्रगृहे वासात् पूयासृक्चर्चितान्तरे। कफपित्तादिचित्राढ्ये मांसभित्तौ सुदुःसहे॥४७२॥

कृमिसर्पशताकीर्णे व्याधिवृश्चिकपूरिते। मातृप्राणमहावातविनिःसारितबन्धने॥४७३॥

अन्तर्वह्न्यावर्धदग्धे संकीर्णस्वावकाशके। सुदुःसहमिदं दुःखं प्रसिद्धं हि विवेकिनाम्॥
स्मर्यतेऽपि च कैश्चिद्धि नरैर्जातिस्मरैरिह॥४७४॥

गर्भदुःखान्यनन्तानि न शक्यानि कथंचन। वक्तुं जन्मशतेनापि दिङ्मात्रमुदितं तव॥४७५॥

गर्भोपनिषदाप्येवं दिङ्मात्रं तस्य कथ्यते। साकल्येन च को नाम वक्तुमीष्टे कथंचन॥४७६॥

निर्गमश्चेति। तत्रेति शेषः। आर्तिः पीडा॥४७०॥

तत्रेति। तत्र मातुरुदरे। अत्र आधानकालेऽपि। संमोहं विह्वलताम्॥४७१॥

गर्भदुःखोत्कर्षं संभावयति—विष्ठेति। विष्ठामूत्रगृहे जनन्युदरे वासाद् यद् दुःखं तद् इदं दुःसहमिति तृतीयेनान्वयः। तस्य दुष्टगृहसाम्योपपादकानि विशेषणानि दश। पूयासृग्भ्यां चर्चितं लिप्तमन्तरं मध्यं यस्य तस्मिन्। नानावर्णकफादि-धातुमयैश्चित्रैराढ्ये। मांसमयी भित्तिः कुड्यं यस्य तस्मिन्। अतएव सुदुःसहे॥४७२॥ कृमीति। उदरकृमय एव सर्पास्तेषां शतैराकीर्णे। व्याधय एव वृश्चिकास्तैः पूरिते। मातृप्राणमहावायुना विनिःसारितानि चालितानि बन्धनानि नाडीरज्जवो यस्य तस्मिन्, तृणांगारतुल्य इति यावत्॥४७३॥ अन्तरिति। अन्तर्वह्निः जाठरो यस्य, अत एव अर्धदग्धे क्षुत्काल उदरदाहात्। संकीर्णः संकुचितः स्वस्य गर्भस्यावकाशो यत्र तस्मिन्। कीदृशं दुःखम्? विवेकिनां श्रवणमननशालिनां प्रसिद्धं निश्चयगोचरः। विशेषतस्तु योग्यनुभवगम्यं तदित्याह—स्मर्यत इति। जातीः पूर्वजन्मानि स्मरन्तीति जातिस्मरा योगिनस्तैरिति॥४७४॥

अस्माभिस्तु वर्णयितुमशक्यानि गर्भदुःखानीत्याह—गर्भेति। दिङ्मात्रम् उपलक्षणमात्रम्॥४७५॥

गर्भोपनिषदेति। स्फुटम्॥४७६॥

योनि से निकलना और उसमें प्रवेश सैकड़ों मरणदुःखों के समान है। माता के पेट में व योनि में रहना नरक में रहने से भी अधिक कष्ट है॥४७०॥

वहाँ देहधारियों को अनन्त दुःख प्राप्त होते हैं। वे दुःख तथा जो दुःख आधानकाल में होने वाले बताये गये हैं उन्हें सुनने से भी हम विह्वल हो जाते हैं॥४७१॥

मलमूत्रपूर्ण घर में रहने से होने वाला कष्ट दुःसह है। वह घर पीप व रुधिर से लीपा गया है। कफ पित्त आदि से उसमें चित्र बनाये गये हैं। उसकी दीवारें मांसमयी हैं। कृमि-रूप सैकड़ों साँपों से वह संकुल है। व्याधिरूप बिच्छुओं से वह भरा है। उसे यथास्थान रखने वाली नाडियाँ माता के प्राणरूप महावात से लगातार हिलायी जाती हैं। उस घर में आग जलती रहती है जिससे वह आधा जला हुआ है। वहाँ जगह भी बहुत कम है। विवेकियों में ऐसे स्थान में रहने का दुःख प्रसिद्ध है तथा इसे सहना अशक्य है। कुछ जातिस्मर लोगों को वह दुःख याद भी आता है॥४७२-४७४॥ गर्भदुःख अनन्त हैं। सौ जन्मों में भी उनका पूरा वर्णन किसी तरह नहीं किया जा सकता। यहाँ आपको थोड़ा-बहुत बता दिया है॥४७५॥

गर्भोपनिषद् द्वारा भी इसी तरह गर्भदुःख का कुछ अंश ही बताया गया है। उसे पूरी तरह कौन बता सकता है?॥४७६॥

अत्राज्ञानं भवेत् पूर्वं सर्वदुःखकरं नृणाम्। क्षुत्पिपासोत्थसन्तापोऽनीश्वरत्वं च देहके॥४७७॥
अनेकभवदुःखानां स्मृतिश्चातीव दुःसहा। जनन्या अपि सम्बाधः सर्वपापकरो हि सः॥४७८॥

जननीदुःखम्

एवं नानाविधैर्दुःखैः परिभूतं प्रभञ्जनः। कलिलादिक्रमेणैव सम्पन्नावयवं नरम्॥४७९॥
त्यक्तगर्भासनं काले जरायुपटवर्जितम्। इतश्चेतश्च धावन्तं मण्डूकसदृशं शिशुम्॥४८०॥
पाणिभ्यामपि पादाभ्यां गात्रस्य चलनेन च। जननीजठरस्यान्तर्भेदायेव समुत्थितम्॥४८१॥
कुक्षौ कदाचिद्धावन्तं कदाचिद्धृदयेऽपि च। जनन्या योनियन्त्रेऽपि मर्कटोपममर्भकम्॥४८२॥

तंत्र प्राधान्येन कानिचिद् दुःखसाधनान्यनुवदति–अत्रेति। अत्र गर्भेऽज्ञानं मूर्च्छा पूर्वं प्रथममष्टौ मासानिति यावत्। कीदृगज्ञानम्? सर्वाणि दुःखानि करे यस्य, हस्तामलकवत् स्पष्टदुःखम्; मूर्च्छा हि दुःखावधिः। क्षुदिति। स्वस्य मातुश्च क्षुत्पिपासाभ्यां जातः सन्तापः। अनीश्वरत्त्वम् असामर्थ्यम्॥४७७॥

अनेकेति। भवो जन्म। नवममासे स्मृत्वा हि एवं वदति–'आहारा विविधा भुक्ताः पीताश्च विविधाः स्तनाः। मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा॥ यदि योन्याः प्रमुच्येयं तत्प्रपद्ये महेश्वरम्॥'(गर्भ.४)

इति। जनन्या इति। सम्बाधः पीडा वक्ष्यमाणा॥४७८॥ अथ जननीदुःखं जननकाले जायमानजन्तुदुःखं च स्फुटयितुं 'सोऽग्र एव' (ऐ.२.३.) इत्यादिवाक्यगत-जन्मपदार्थमाह–एवमित्यादिसप्तभिः। एवं नानाविधैर्दुःखैः परिभूतम् एनं प्रभञ्जनो बहिर्द्वारं नयतीति षष्ठेनान्वयः। कलिलादीति। 'एकरात्रेण कलिलं सप्तरात्रेण बुद्बुदमर्धमासेन पिण्डं मासेन काठिन्यं मासद्वयेन शिरः तृतीयमासेन पादप्रदेशः चतुर्थेनाङ्गुलीजठरकटिप्रदेशाः पञ्चमेन पृष्ठवंशः षष्ठेन मुखनासिकाक्षिश्रोत्राणि सप्तमेन जीवसंयोगोऽष्टमेन सर्वाङ्गपरिपूर्तिः नवमेन ज्ञानपूर्णतया पूर्वजातिस्मृतिः' (गर्भ.३.अर्थतः) इति गर्भोपनिषदुक्तप्रकारेण सम्पन्नाः परिपूर्णा अवयवा यस्य तमिति॥४७९॥

त्यक्तेति। त्यक्तं गर्भासनं कुण्डलीकृतपृष्ठग्रीवत्वे सति सङ्कुचितपाणिपादत्वे च सति कुक्षिन्यस्तशिरस्कत्वरूपं येन स तथा तम्। काले प्रसूतिसंनिधिकाले। जरायुरूपेण पटेन वर्जितं त्यक्तमिति॥४८०॥

पाणिभ्यामिति। भेदायेति 'भाववचनाश्च' (पाणि.३.३.११) इति तुमर्थे घञ्; तथा च पाण्यादिभिर्जननीजठरभेदाय जननीजठरं भेत्तुमिवान्तः समुत्थितमुद्यतमित्यर्थः॥४८१॥

कुक्षाविति। पुनः कीदृशम्? जननीकुक्षिहृदययोनियन्त्रेष्वनियतभ्रमणं कपिसममर्भकं स्वल्पशरीरम्॥४८२॥

वहाँ दुःख होने के कुछ प्रधान कारण दिखा देते हैं–गर्भ में पहले स्पष्ट दुःख वाली मूर्छा रहती है। भूख–प्यास से उत्पन्न संताप और अपने शरीर पर अनियन्त्रण–ये दो परेशानियाँ भी वहाँ लोगों को रहती हैं॥४७७॥

अनेक जन्मों के दुःखों की अत्यन्त असह्य स्मृतियाँ भी वहाँ गर्भस्थ को होती हैं। सब पाप करने के तुल्य माता को पीडा पहुँचाना भी गर्भस्थ शिशु करता है॥४७८॥

गर्भोपनिषत् में बताया है कि नवे महीने में गर्भस्थ को पूर्वदुःख स्मरण आते हैं और वह संकल्प करता है कि 'मैंने विविध आहार खाये, विविध स्तनों का पान किया, माता, पिता व बांधव मैंने अनेक देख लिये। इस प्रवृत्तिपरिणाम में दुःख ही मिला। अब यदि मैं इस योनि से छूटकर बाहर निकला तो अशुभहन्ता मोक्षप्रद महेश्वर की ही शरण लूँगा, संसार के चक्कर में नहीं पड़ूँगा।' किंतु जन्मते ही वह इस संकल्प को भूलकर पुनः पूर्ववत् संसार में ही पड़ा रहता है।

अब जन्म के विषय में कहते हैं– इस प्रकार नाना प्रकार के दुःखों से परेशान इस जंतु को प्रभंजन वायु योनिद्वार से बाहर निकालती है। उस जन्तु के कलिल आदि क्रम से सब अवयव संपन्न हो जाते हैं। प्रसूतिकाल निकट होने पर वह

स्वशरीरे विनिःक्षिप्य कृताधोदेशमस्तकम्। जननीं बहुधा क्लेशैः क्लेशयन्तं जुगुप्सितम्॥४८३॥

विक्रोशन्तं च सर्पेण ग्रस्तमण्डूकवद्भृशम्। बर्हिद्वारं नयत्येनं भुजगो मूषकं यथा॥४८४॥

क्रकचाग्रसहस्रेभ्यः कर्कशाद्योनियन्त्रकात्। स्वल्पच्छिद्राद्विनिष्क्रम्य भूमौ पतति कीटवत्॥४८५॥

व्रणे भृशं प्रकुपिते सकीटे यादृशी व्यथा। ततोऽधिकतमा स्त्रीणां योनियन्त्रे गतेऽर्भके॥४८६॥

यद्वदन्तः स्थिते सर्पे जठरस्य व्रणे भवेत्। दुःखं तद्वद्गर्भिणीनां गर्भधारणतो भवेत्॥४८७॥

पूतिव्रणविभेदेन सर्पादे र्निर्गमे हि यत्। सुखं भवति नारीणां गर्भमोक्षेऽपि तत्सुखम्॥४८८॥

मलमूत्रनिरोधेन दुःखं यावन्नृणां भवेत्। ततोऽधिकतमं दुःखं स्त्रीणां गर्भस्य धारणे॥४८९॥

स्वशरीर इति। पुनः कीदृशम्? स्वशरीरे स्वशरीरमध्ये विनिःक्षिप्य; कृतमधोदेशे मस्तकं येन स तथा तम्, विनिःक्षेपकर्मताऽपि मस्तकस्यैव। जननीमित्यादि स्फुटम्॥४८३॥

विक्रोशन्तमिति। सर्पेण ग्रस्तमण्डूकवद् भृशं विक्रोशन्तं द्वाराद्बहि र्बहिर्द्वारं। नयते र्द्विकर्मकत्वम्॥४८४॥

क्रकचेति। क्रकचः काष्ठविदारणसाधनम्। स्फुटम्॥४८५॥

जननीसम्बाधं स्पष्टयति–व्रण इत्यादिदशभिः। प्रकुपिते परिपाकातिशयं गते व्रणे सकीटे कीटव्याप्ते सति यादृशी व्यथा भवति तत इत्यादि स्फुटम्॥४८६॥

गर्भधारणदुःखे दृष्टान्तमाह–यद्वदिति। जठरस्यान्त र्व्रणे सर्पे स्थिते सति यद्वद् दुःखमित्यन्वयः॥४८७॥

व्यतिरेकेणापि तदाह–पूतीति। पूयपूरिततया दुर्गन्धिव्रणस्य विभेदेन विदारणेन ततः सर्पादेः कीटस्य निर्गमे यत्सुखं दुःखाभावो भवति तन्नारीणां गर्भमोक्षेपीति॥४८८॥

जंतु गर्भासन खोल देता है व जरायुरूप पट से रहित हो जाता है। वह शिशु मेढक की तरह इधर से उधर दौड़त रहता है। हाथ-पैरों द्वारा तथा शरीर के चलने से वह जननी के जठर को अंदर से मानो फोड़ने के लिए तैयार होता है। वह कभी कोख में तो कभी हृदय में दौड़ता है। बन्दरसदृश वह बालक माता की योनि में भी दौड़ता है॥४७९-४८२॥

'कलिल आदि' गर्भ की वृद्धि की स्थितियाँ गर्भोपनिषदादि में प्रसिद्ध हैं।

अपने शरीर के मध्यभाग में अपना सिर लगाकर तथा मस्तक को नीचे की ओर कर जननी को बहुत क्लेशों से दुःखी करता हुआ वह बालक घृणित होता है। सर्प से ग्रस्त मेढक की तरह अत्यधिक रोते हुए उस बालक को प्रभंजन वायु उसी तरह योनि द्वार से बाहर निकालती है जैसे साँप मूषक को निगलता है॥४८३-४८४॥

आरे की हजारों नोकों से अधिक कर्कश तथा छोटे से छिद्र वाले योनियंत्र से निकलकर वह जीव भूमि पर कीट की तरह गिर पड़ता है॥४८५॥

कीटयुक्त पके फोड़े में जैसी पीड़ा होती है उससे अत्यधिक पीडा स्त्रियों को योनि में होती है जब वहाँ जायमान बालक आ जाता है॥४८६॥

जैसे पेट में फोड़ा हो और उसमें कीड़े पड़ जायें तो दुःख होता है, वैसे गर्भधारण से गर्भिणियों को दुःख होता है॥४८७॥

बदबू वाले फोड़े के फूटने से व कीड़े के निकलने से जो सुख होता है वही सुख नारियों को गर्भ निकल जाने से होता है॥४८८॥

जितना दुःख लोगों को मल-मूत्र के निरोध से होता है उससे अत्यधिक दुःख गर्भ का धारण करने में स्त्रियों को

सुखं यथा विसर्गे स्यात्तयोश्चिरनिरुद्धयोः। गर्भिण्या गर्भमोक्षेऽपि तथा तज्जायते सुखम्।।४९०।।

विंशत्यङ्गुलमात्रश्चेद् दीर्घः सास्थिः कृमिः श्वसन्। वितस्तिमात्रो विस्तारात् तावांश्च परिणाहतः।।४९१।।

अस्माकं जठरे यावत् तस्यावस्थानतो भवेत्। दुःखं तावद्भवेत्स्त्रीणां गर्भधारणतः सदा।।४९२।।

प्रसवदुःखम्

विनिर्गमे पायुमार्गाद्यावदस्माकमापतेत्। दुःखं तस्य भवेत्तावद् गर्भिण्या गर्भमोक्षणात्।।४९३।।

जायमानस्य दुःखम्

षोडशाङ्गुलकच्छिद्राद् वर्तुलात् क्रकचाद्यथा। निर्गमे नो भवेद् दुःखं तथा जन्तोश्च गर्भतः।।४९४।।

एवमेतदनौपम्यं दुःखं जन्तोः प्रजायते। समातृकस्य गर्भान्तस्तद्वन्निःसरणेऽपि च।।४९५।।

एवमेष विनिष्क्रान्तो लोकसन्ततिहेतुतः। गर्भात् स्वदर्शनेनैव पितुरानन्ददो भवेत्।।४९६।।

दृष्टान्तान्तरमाह—मलेति।।४८९।।

तदेव व्यतिरेकेणाह—सुखमिति। तयोः मलमूत्रयोः।।४९०।।

अभूतोपमया गर्भप्रतिबन्धदुःखं संभावयति—विंशतीति द्वाभ्याम्। श्वसन् श्वासयुतः। परिणाहो विशालता।।४९१।। धारणं प्रतिबन्धः। तस्य तादृशकृमेः।।४९२।।

जनन्याः प्रसवदुःखमभिनयति—विनिर्गम इति। तस्य तादृशकृमेः अस्माकं पुरुषाणां पायुमार्गाद्विनिर्गमे यावद् दुःखमापतेत् प्रसज्येत तावद् गर्भिण्याः प्रसव इत्यर्थः।।४९३।।

जायमानजन्तो र्दुःखं स्फुटयति—षोडशाङ्गुलकेति। षोडशांगुलकं छिद्रं मध्यावकाशो यस्य तादृशं वर्तुलं क्रकचं यदि भवेत् तन्मध्येन च अस्माकं निर्गमो भवेत् तत्कालीनदुःखसमं जायमानस्य दुःखमिति।।४९४।।

गर्भदुःखवर्णनमुपसंहरति—एवमिति। समातृकस्य मात्रा सहितस्य। गर्भान्तः गर्भमध्ये। निःसरणे गर्भान्निर्गमे।।४९५।।

होता है।।४८९।।

लम्बे समय तक रोके मल–मूत्र का विसर्ग करने पर जैसे सुख होता है ऐसे गर्भिणी को गर्भमोचन करने पर होता है।।४९०।।

काल्पनिक उपमा से भी गर्भप्रतिबंध का दुःख बताते हैं—केवल बीस अंगुल लम्बा, बित्ता भर चौड़ा, इतना ही मोटा, हड्डी सहित, साँस लेता कीड़ा हमारे पेट में हो तो उसके वहाँ रहने से जितना दुःख होता है उतना दुःख स्त्रियों को गर्भधारण करने से हमेशा होता है।।४९१–४९२।।

माता को होने वाले प्रसवदुःख का वर्णन करते हैं—वह कीड़ा जब हमारे पायुमार्ग से निकले तो जितना हमें कष्ट होगा, उतना कष्ट प्रसवकाल में स्त्री को होता है।।४९३।।

पैदा होते जंतु का दुःख बताते हैं—सोलह अंगुल के गोल छिद्र वाले आरे के बीच से निकलने में हमें जैसा दुःख होगा वैसा गर्भ से निकलते हुए जंतु को होता है।।४९४।।

इस प्रकार यह अतुलनीय दुःख गर्भ में रहते व उससे निकलते समय माता सहित जायमान प्राणी को होता है।।४९५।।

ऐतरेय में कहा है कि जन्म से पूर्व ही पित पुत्र का संस्कारादि करता है तथा क्योंकि पुत्र उसी का रूप है इसलिए

पुत्रसंस्काराः पितुरेव

तं कुमारं पिता जातमङ्के वा स्वस्य वा भुवि। संस्थाप्य जातकर्मादि कुरुते हृष्टमानसः॥४९७॥

यदिदं सत्क्रियाजातं कुरुते स्वकुमारके। तत्सर्वं स्वस्य जनकः कुरुते नात्र संशयः॥४९८॥

द्वितीयं जन्म

यस्मात् पुन र्नवो भूत्वा जायायां जायते हि सः। पौत्रादिना प्रजातन्तुरनेन च वितन्यते॥४९९॥

स्वर्गस्यापि भवेद्धेतुः पुत्रः किंचास्य कारणम्। लोकस्य तस्य विजयः प्रजासन्ततितो यतः॥

एतदस्य भवेज्जन्म द्वितीयं पितृजन्मतः॥५००॥

'सोऽग्र एव' इत्यादि 'प्रतिनिधीयते' (ऐ.२.३-४) इत्यन्तं व्याचष्टे—एवमेष इति। एष गर्भस्थः पितुरात्मा गर्भाद्विनिष्क्रान्तः प्रादुर्भूतः। **किमर्थम्? लोकसन्ततिहेतुतः लोकानां सन्तत्यै प्रवाहाविच्छेदाय। अत एव सः स्वदर्शनेन** पितुरानन्ददो भवेदिति॥४९६॥

तं कुमारमिति। पिता तं जातं कुमारं स्वस्याङ्के भुवि वा संस्थाप्य **संस्कुरत इति॥४९७॥** यदिदमिति। यदिदं **सत्क्रियाणां संस्काराणां जातं वृन्दं श्रुतिगताग्रपदद्वयमध्ये प्रथमाग्रपदसूचितं गर्भसम्बन्धि, यच्च जन्मकालवाचि-द्वितीयाग्रपदोत्तराधिपदसूचितं जन्मोत्तरभावि तत्सर्वं संस्कारजातं** स्वस्य एव जनकः कुरुते संघातादात्मनः पृथग्भावा-ज्ञानादित्युक्तम्॥४९८॥

पुत्रे स्वपदप्रयोगे हेतुतया 'पति र्जायाम्' इत्याद्युक्तमन्त्रार्थं स्मारयति—यस्मादिति। स एष पिता। विनियोक्ष्यमाणस्य संस्कारान् संस्कारफलं विनियोगं दर्शयन् पितृकार्यकरत्वरूपं पितृप्रतिनिधित्वं स्पष्टयति—पौत्रादिनेति। पित्रा कार्यं प्रजासन्ततिमेव सुतः पौत्रादिरूपेण तनुत इत्यर्थः॥४९९॥ स्वर्गस्यापीति। पुत्रः सन्मार्गवर्ती। **'अयं लोकः पुत्रेण जय्यः' (बृ.१.५.१६) इति श्रुतिमनुरुध्याह—किं चेति। विद्याकर्मपुत्रै र्जय्यानां देवपितृमनुष्यलोकानां मध्येऽस्य मनुष्यलोकस्य** कारणं साधकः पुत्रः। तत्र हेतुः—तस्येत्यादि। विजयो वशीकारः। **एतेन एतल्लोकजयाय पुत्रो, न मोक्षाय, 'न प्रजया धनेन' (महा.१०.५) इत्यादिश्रुतिविरोधादिति सूचितम्।** एतदिति। एतद् मातृतो जन्म **पितृजन्मापेक्षया** द्वितीयं जन्म। **तृतीयन्तूत्तरत्र वक्ष्यते॥५००॥**

वह संस्कार वस्तुतः अपना ही है। इसी तरह संसार संतत चलता है। माता के शरीर से निकलना जीव का द्वितीय जन्म है। तदनन्तर शास्त्रोक्त कर्मों में पुत्र को पिता प्रतिनिधि बना देता है जब पिता का मरणकाल होता है। इस प्रसंग का वर्णन आरंभ करते हैं– इस प्रकार गर्भ से निकला हुआ यह जीव क्योंकि लोकप्रवाह का विच्छेद नहीं होने देता इसलिए अपने दर्शन से ही पिता को आनंद देने वाला होता है॥४९६॥ पैदा हुए उस बालक को पिता अपनी गोद में या भूमि पर रख प्रसन्न मन वाला हुआ जातकर्म आदि संस्कार करता है॥ ४९७॥

अपने पुत्र के जो संस्कार पिता करता है वे सब अपने ही संस्कार करता है इसमें संदेह नहीं, क्योंकि पुनः नया होकर पत्नी में वह खुद ही उत्पन्न होता है। पुत्र के द्वारा पौत्रादि को उत्पन्न कर वही प्रजातन्तु का विस्तार करता है॥४९८-४९९॥ सन्मार्गगामी पुत्र स्वर्ग का भी कारण होता है क्योंकि पुत्ररहित व्यक्ति सद्गति प्राप्त नहीं कर सकते। साथ ही पुत्र इस लोक में भी विजय का कारण होता है कारण कि इस लोक का जय प्रजासन्तति से होता है। माता के गर्भ से निकलना पिता से हुए जन्म की अपेक्षा इस जन्तु का दूसरा जन्म है॥ ५००॥

पुत्र से लोकद्वय का वशीकार कह कर स्पष्ट किया कि मोक्षमार्ग में पुत्र का कोई विनियोग नहीं। श्रुति ने कहा ही है कि कर्म, पुत्र व धन से अमरता नहीं मिलती बल्कि त्याग से मिलती है। पिता के शरीर से निकलना पहला जन्म है

मानुष्यं दुर्लभम्

अनेन जन्मना स्वर्ग इतरस्यापि गम्यते। दुर्लभं बत मानुष्यं जन्मकोटिशतैरपि॥
अपि देवा इदं जन्म समिच्छन्ति हि सर्वदा॥ ५०१॥

तत्रापि भारते वर्षे भवेच्चेदधिकारकृत्। अचिकित्सस्य भैषज्यं भवेद् दोषाष्टकस्य हि॥ ५०२॥

अचिकित्स्यं दोषाष्टकम्

इच्छा द्वेषो भयं मोहः क्षुत्तृण्निद्रा तथैव च। विण्मूत्रबाधा चेत्येतदचिकित्स्यं हि देहिनाम्॥५०३॥

एतादृशं जन्म लब्ध्वा परमपुरुषार्थः साधनीयो, न वृथा क्षुद्रकामाय वञ्चनीयमिति प्रसंगसंगत्या दर्शयति–अनेनेति। अनेन मानुषेण जन्मना इतरस्य पामरस्य अपि स्वर्गो गम्यते बुद्ध्यते सत्संगादिभिरित्यर्थः। 'इतरः पामरो भिन्न' इति विश्वः। यद्वा स्वर्गः परलोकः, अनास्थाद्योत्यपिशब्दात् स्वस्य गम्यतेऽनुमीयते। इतरश्चेति पाठे–स्वर्गो लोक इतरश्च लोको लभ्यत इत्यर्थः। सर्वलोकसाधनमिदं जन्मेति भावः। दुर्लभमित्यादि स्फुटम्। अपि देवा इति। देवा अपीदं समिच्छन्तीत्यन्वयः। वस्तुतस्तु पुण्येभ्यः पुण्यानि सन्ति कर्माणि कर्तुमेव पित्रा पुत्रः प्रतिनिधिः क्रियते इति श्रुत्यंशार्थं स्फुटयितुमाह–अनेनेति। अनेन पितुरात्मभूतस्य पुत्रस्य जन्मना सत्कर्महेतुना इतरस्य पितुः अपि स्वर्गो लक्ष्यते किमुत स्वस्य ! अत्र च पुण्यान्येव विधेयानीत्याह–दुलर्भमित्यादिना॥५०१॥ तत्रापि अन्तर्भूतसर्वकर्मफलं सर्वानर्थनिवृत्तिसाधनं ब्रह्मात्मविज्ञानमेव सम्पाद्यं, 'न चेदवेदीन्महती विनष्टिः' (केन.२.५) इति श्रुतेरित्याह–तत्रापीति। अधिकारं साधनचतुष्टयं करोति सम्पादयति तथा। ईदृशं जन्म चेत् स्यात्तदा अचिकित्सस्य दुष्करापनयनसाधनस्य दोषाष्टकस्य संसारज्वरोपद्रवाष्टकसमस्य वक्ष्यमाणस्य भैषज्यं ब्रह्मविद्याद्वारा निवृत्तिसाधनं भवेदिति॥५०२॥

दोषाष्टकं दर्शयति–इच्छेति। मोहोऽविद्या। देहिनां त्रैगुण्याभिमानिनाम्॥५०३॥

व माता के शरीर से निकलना दूसरा जन्म है। तीसरा आगे बतायेंगे।

इतने कष्ट से मिला जन्म पाकर परम पुरुषार्थ मोक्ष सिद्ध करना चाहिये, तुच्छ कामनाओं की पूर्ति में समय गवा नहीं देना चाहिये यह बात प्रसंगवश बता देते हैं– इस जन्म से अर्थात् पुत्र के मातृगर्भ-निर्गमन से पिता का भी स्वर्गमन जान लिया जाता है क्योंकि पुत्राहित्यरूप स्वर्गप्रतिबन्धक की निवृत्ति प्रत्यक्ष हो जाती है। अरबों जन्मों में भी मनुष्य जन्म की प्राप्ति दुर्लभ है। देवता भी इस जन्म की सदा इच्छा करते हैं। उसमें भी यदि भारतवर्ष में जन्म हो और उत्पन्न व्यक्ति अधिकार प्राप्त कर ले तो वह जन्म ही उस ला-इलाज रोग की दवा हो जाता है जिस रोग में आठ दोष हुआ करते है॥ ५०१-५०२॥

अथवा 'इस जन्म से' का अर्थ है मनुष्य जन्म से। मनुष्य होने पर सत्संगादि से सन्मार्ग पर चल कर स्वर्ग-प्राप्ति होती है। मूलस्थ 'इतरस्य' से 'पिता का' न समझकर 'पामर का' समझना चाहिये। अर्थात् पामर भी सत्संगादि से स्वर्ग जा सकता है क्योंकि वह भी मनुष्य है और इसी योनि में कर्माधिकार माना गया है। स्वर्ग ही नहीं अन्य उत्तम लोकों की प्राप्ति भी मनुष्य कर्म व उपासना से कर सकता है। किंतु 'इस जन्म' से द्वितीय जन्म और 'इतरस्य' से पिता अर्थ समझना प्रसंग के सर्वाधिक अनुकूल लगता है। मनुष्यजन्म दुर्लभ है। यद्यपि दुर्लभत्वोक्ति पुरुषार्थप्रयास में प्रेरणा के लिए अर्थवाद है तथापि मनुष्योचित गुणों से युक्त व्यक्तियों के जन्म को ही दुर्लभ मान लेने से आधुनिकों की शंका हट जाती है कि आजकल मनुष्यों की संख्या बढ़ क्यों रही है। अथवा 'इस जन्म' इत्यादि का यह अर्थ है: श्रुति ने कहा है कि पुण्यों के लिए अर्थात् पुण्यभूत सत्कर्म करने के लिए ही पिता द्वारा पुत्र अपना प्रतिनिधि बनाया जाता है अतः 'इस जन्म से' अर्थात् पिता के आत्मरूप पुत्र के सत्कर्म के कारणभूत जन्म से पिता का भी स्वर्ग लक्षित होता है तो अपने (= पुत्र के) स्वर्ग का क्या कहना? इसलिए इस जन्म में पुण्य संपादन ही करे यह बताने के लिए दुर्लभता कही है। केनोपनिषद् कहती है

सात्त्विका मोक्षमिच्छन्ति राजसा विषयानपि।[1] तामसा विषयानेव नेच्छाशून्योऽस्ति कश्चन॥५०४॥

विषयान् सात्त्विको द्वेष्टि राजसो वैरिणोऽपि च। तामसो वैरिणः शुद्धानिति द्वेषात्मकं जगत्॥५०५॥

सात्त्विकस्य भयं मोहाद् राजसस्य यमादपि। तामसस्य च राजादेः केवलादिति भी र्नृषु॥५०६॥

सात्त्विकस्यात्मनोऽज्ञानं विद्यादे राजसस्य च। तामसस्य च सर्वत्र मोह एवं व्यवस्थितः॥५०७॥

क्षुत्तृण्निद्राश्च सर्वेषां भूतानामेकरूपतः। स्थावरव्यतिरिक्तानां बाधा विण्मूत्रयोरपि॥५०८॥

तत्रेच्छानुगमं दर्शयति– सात्त्विका इति॥५०४॥

द्वेषानुगममाह–विषयानिति। शुद्धान् सज्जनान्॥५०५॥

भयानुगमं स्फुटयति–सात्त्विकस्येति। मोहात् प्रमादात्॥५०६॥

सात्त्विकस्यात्मन इति। सात्त्विकस्यात्मनोऽज्ञानं वर्तते तज्जिज्ञासादर्शनादिति शेषः॥५०७॥

क्षुत्तृण्निद्रानुगममाह– क्षुदिति। एकरूपतः समानरूपेण सात्त्विकत्वादिप्रयुक्तविशेषनैरपेक्ष्येणेति यावत्। विण्मूत्रबाधां स्थावरपर्युदासेनाह–स्थावरेति॥५०८॥

कि यहीं यदि आत्मा को नहीं जान लिए तो महान् विनाश होगा। अतः जिसके अन्तर्गत सभी शुभ कर्मों का फल आ जाता है, सारे अनर्थों की निवृत्ति के उपाय उस परमेश्वर–जीव–अभेद–अनुभव का ही सम्पादन मनुष्य को करना चाहिये। 'अधिकार' से साधनचतुष्टय समझने चाहिये। संसार ही ला–इलाज रोग है क्योंकि उक्त अभेदज्ञान से अतिरिक्त उसकी निवृत्ति का कोई उपाय नहीं। जीव अपने स्वरूप में अर्थात् स्व में स्थित नहीं रहकर अनात्मा अर्थात् अस्व में ही तादात्म्यवश स्थित रहकर कामनादिवश उसी का चिंतन करता रहता है अतः संसार अस्वास्थ्य है। दुःखहेतु होने से भी संसार रोग है।

संसाररोग के आठ दोष बताते हैं– इच्छा, द्वेष, भय, मोह (अज्ञान), भूख, प्यास, नींद और मल–मूत्र सम्बन्धी परेशानी, ये आठ दोष देहधारियों के लिए ऐसे हैं कि इनका उपचार नहीं किया जा सकता॥५०३॥

इच्छादि सब में हैं यह दिखाते हैं– सात्त्विक लोग मोक्ष चाहते हैं, राजस लोग विषय भी चाहते हैं। तामस तो केवल विषय ही चाहते हैं। पर कोई देहधारी सर्वथा इच्छा से रहित नहीं है॥५०४॥

सात्त्विक लोग विषयों से द्वेष करते हैं, राजस लोग वैरियों से भी द्वेष करते हैं तथा तामस लोग वैरियों से एवं शुद्ध वस्तुओं व सज्जनों से द्वेष करते हैं। इस प्रकार प्राणियों में द्वेष भी व्यवस्थित है॥५०५॥

सात्त्विक व्यक्ति को ज्ञानसाधना में असावधानी रूप प्रमाद से भय लगता है, राजस व्यक्ति यम से भी डरता है तथा तामस व्यक्ति को केवल राजा आदि से भय लगता है। अतः भय भी लोगों में व्याप्त है॥५०६॥

सात्त्विक को केवल आत्मा का अज्ञान होता है, राजस को विद्या (अर्थात् ज्ञानोपाय) आदि का भी अज्ञान होता है एवं तामस को हर विषय में अज्ञान होता है। इस तरह मोह सबमें नाना प्रकार से स्थित है॥५०७॥

सात्त्विक को आत्मा का अज्ञान न होता तो वह उसकी जिज्ञासा क्यों करता? अतः उसमें भी अज्ञान है ही।

---

१. राजसः स्वर्गं तामसो वैषयिकसुखं वष्टि। एवं नरकमैहिकं च दुःखं तत्कारणं च द्विष्ट इत्यादि ज्ञेयमुत्तरत्र (श्लो. ६६८ आदौ) तथा वर्णनात्। केचिद्राजसा विषयानपीत्यस्य प्राधान्येन मोक्षं गौणतो विषयांश्चाभिलषन्तीति व्याचिख्यासन्ति। एवं यमादपीत्यत्राप्यपिना राजसस्य प्रमादाद्भयमित्याहुः। तथा विद्यादिरित्यत्र विद्यापदमात्मविद्यापरमूचुरादिना विद्यासाधनानि कथं विधेयानीत्यस्याज्ञानं जगदुः। सात्त्विकाः शोधिततत्त्वमर्था अपि वाक्यार्थानभिज्ञा राजसास्तु पदार्थावपि न विदन्तीति भावः।

अथवा सर्वजन्तूनां बाधा विण्मूत्रयो र्ध्रुवा। स्थावरा अपि दृश्यन्ते यतो निर्यासमोक्षिणः॥५०९॥

तज्जयहेतुः

इति दोषाष्टकं सर्वैरचिकित्स्यं हि देहिभिः। विना ब्रह्मात्मताज्ञानं देहित्वाभावकारणम्॥५१०॥

स्वेदजश्चाण्डजो वापि जन्तु र्वा स्याज्जरायुजः। उद्भिज्जोऽपि न सन्त्यज्य दोषाष्टकमिदं स्थितः॥५११॥

एवमेतद्धि मानुष्यं दोषाष्टकजयाय हि। भवत्येवं स्थिते मन्दास्तेनैव विजिता नराः॥५१२॥

बाल्यदुःखानि

तथा हि जातमात्रोऽयं स्तन्यमिच्छति मानवः। कुर्वन्नानाविधान् शब्दान् शयानो धरणीतले॥५१३॥

वस्तुतः स्थावरेष्वपि विण्मूत्रबाधानुगम इत्याह—अथवेति। ध्रुवा निश्चिता। निर्यासश्चिक्कणवृक्षरसो गुग्गुल-प्रभृतिः॥५०९॥

पूर्वोक्तमनुवदन् दोषाष्टकजयसाधनं दर्शयति—इतीति। ब्रह्मात्मताज्ञानं विनाऽचिकित्स्यम् इत्यन्वयः। ब्रह्मात्मताज्ञानस्य तन्निवर्तकत्वे हेतुगर्भं विशेषणम्—देहित्वेति। देहित्वस्य त्रैगुण्याभिमानस्याभावकारणं मशकानां धूमवन्निवृत्ति-साधनमिति॥५१०॥

दोषाष्टकानुगमनं पुनर्द्रढयति—स्वेदजश्चेति॥५११॥

दोषाष्टकवर्णनं प्रकृते योजयति—एवमिति। एवम् उक्तविधया ब्रह्मविद्याधिकारसम्पादनद्वारा एतन्मानुष्यं दोषाष्टकजयाय भवति हि प्रसिद्धमेतत्। एवं स्थिते निर्णीतेऽपि मन्दा नरास्तेनैव दोषाष्टकेन विजिता वशीकृताः॥५१२॥

नृणां दोषाष्टकविजयप्रदर्शनमुखेन बाल्ययौवनवार्द्धक्यानि निरूपयिष्यन् बाल्ये तदनुगममाह—तथाहीति। तथाहि दोषानुगमः प्रदर्श्यत इत्यर्थः। स्तन्येच्छया इच्छा क्षुत्तृड्रूपा स्पष्टेति भावः॥५१३॥

सात्त्विकादि भेद के बिना सबमें होने वाले दोष बताते हैं—सभी प्राणियों की भूख, प्यास व नींद समानरूप वाली होती है। पेड़ आदि स्थावरों से भिन्न प्राणियों में मल-मूत्रसम्बन्धी परेशानी भी एक-सी रहती है॥५०८॥

वस्तुतः स्थावरों में भी मलादिकष्ट है यह कहते हैं— अथवा मल-मूत्र संबंधी परेशानी स्थावर समेत सभी जंतुओं को निश्चित होती है क्योंकि गोंद आदि निर्यास निकालने वाले स्थावर भी देखे जाते हैं॥ ५०९॥

आठ दोषों पर विजय पाने का उपाय बताते हैं— ये आठ दोष सभी देहधारियों के लिए अपरिहार्य हैं। 'मैं देही हूँ' इस निश्चय का समापन करने वाले अद्वैत-निश्चय के बिना इन दोषों का उन्मूलन संभव नहीं॥५१०॥

जैसे मच्छर भगाने के लिए धुआँ उपाय है ऐसे त्रिगुणात्मक देहादि में तादात्म्य अभिमान समाप्ति का अकेला उपाय ब्रह्मज्ञान है।

स्वेदज, अण्डज, जरायुज व उद्भिज्ज कोई भी जंतु इन दोषों को छोड़कर नहीं रह सकता॥५११॥

इस प्रकार विवेकादि द्वारा यह मनुष्य जन्म इन आठ दोषों पर विजय पाने में समर्थ है। यह बात शास्त्रादि में प्रसिद्ध है। ऐसा होने पर भी मन्द बुद्धिवाले लोगों पर वे दोष ही विजय पा लेते हैं॥५१२॥

परमात्मज्ञान के अधिकार का अर्थात् विवेकादि साधनों का सम्पादन करने से ही मानव जन्म उक्त दोषों का निवारण करने में सक्षम होगा। साधन न करना रूप मंदतावश मनुष्य भी यदि इन दोषों वाला ही बना रहकर अपना जन्म विफल कर देता है तो इससे अधिक खेद की क्या बात होगी?

बाल्य आदि अवस्थाओं में इन दोषों की स्थिति दिखाते हैं—पैदा होते ही मानव दूध चाहता है और रोना-चिल्लाना

इत आरभ्य दुःखानि ह्येतदन्तानि नित्यशः। प्राप्नोत्येष जनो मन्दो दोषाष्टकविदूषितः॥५१४॥
यथा गर्भे तथा बालो नाङ्गनां हि प्रभु र्भवेत्। शक्तो भवति नैवायं मत्कुणादे र्निवारणे॥५१५॥
कण्डूतावप्यशक्तोऽयमङ्गानामातुरो भृशम्। नेच्छया ह्यन्नपानादि प्राप्नोत्येषोऽतिदुःखितः॥५१६॥
अवैशद्येन कण्ठस्य वदन्नपि वदेन्न सः। उच्चैः स्वरेण जननीमाह्वयत्येव दुःखितः॥
श्रुत्वा वाक्यं तथैवापि तत्रायात्यथवा न वा॥ ५१७॥
एवं विण्मूत्रलेपेन मुखलालादिनाऽपि च। दिग्धमङ्गं सुतस्यैषा प्रक्षालयति वा न वा॥५१८॥
वृथा हसत्ययं बालो बिभेति च तथा वृथा। रोदित्येष वृथा तद्वद् विष्ठाद्यप्यत्ति मोहितः॥५१९॥

इत इति। इतः स्तनपानेच्छादुःखमारभ्य यानि दुःखानि प्राप्नोति तानि सर्वाणि एतदन्तानि एतस्मिन् दोषाष्टके कारणत्वपर्यवसानं येषां तानि तथाभूतान्येवेति। उत्तरोत्तरदोषाष्टकं प्रति पूर्वपूर्वसंस्काराणां हेतुतामाह—दोषाष्टकेति। विदूषितः संस्कृतः॥५१४॥

इच्छाद्वेषदुःखप्रयोजकमशक्तत्वं दर्शयति—यथेति। नाङ्गानां प्रभु र्यथेच्छं प्रवर्तनशक्तो न भवेदिति॥५१५॥

कण्डूताविति। कण्डूतौ कण्डूयने॥५१६॥ अवैशद्येनेति। कण्ठस्य अवैशद्येन वाग्वादिनीनाड्याः कफव्याप्तत्वकृतेन वदन्नपि न वदेद् विफलत्वादिति। किंचिद् वैशद्ये जातेप्याह—उच्चैरिति। आह्वयति आकारयति। श्रुत्वेत्यादेः सात्वित्यादिः॥५१७॥

द्वेषप्रयोजकं मालिन्यं दर्शयति—एवमिति। दिग्धं क्लिन्नम् एषा जननी॥५१८॥

भयमोहयोः प्रयोजकमव्यवस्थितस्वभावत्वं दर्शयति—वृथेति। अत्ति भक्षयति॥५१९॥

आदि नाना शब्द करते हुए पृथ्वी पर लेटा रहता है॥५१३॥

स्तन्येच्छा से लेकर जितने भी दुःख मंद जन को होते हैं उन सब का मूल हेतु उक्त आठ दोष ही हैं। पूर्व संस्कारों से ये दोष मनुष्य पर आक्रमण करते रहते हैं॥५१४॥

इच्छा, द्वेष और भय तो स्पष्ट ही संस्कारवश होते हैं। अज्ञान अनादि होने पर भी कार्याविद्यारूप भ्रम संस्कारसापेक्ष होता है। भूखादि भले ही भौतिक हों पर वे अवांछनीय हैं यह तो संस्कार से ही पता चलता है। अथवा भूखादि भी द्विविध हैं : एक तो शरीर की आवश्यकतारूप और दूसरे इच्छारूप। शरीर को जरूरत न होने पर भी समयादिवश जो भूखादि लगते हैं उन्हें संस्कार की अपेक्षा है ही।

अशक्ति के कारण बच्चे को दुःख होता है यह कहते हैं—जैसे गर्भ में वैसे पैदा होने के बाद भी बालक अपने अंगों का नियंत्रण नहीं कर पाता। यह खटमल आदि हटाने में भी असमर्थ होता है॥५१५॥

अपने अंगों पर खुजली भी यह नहीं कर पाता अतः काफी परेशान रहता है। क्योंकि इसे स्वेच्छा से अन्न-जल आदि नहीं मिलते इसलिए यह अतिदुःखित रहता है॥५१६॥

बोली साफ न होने से कुछ कहता हुआ भी कुछ कहता हो ऐसा नहीं लगता। वह दुःखी होकर केवल ऊँचे स्वर से माँ को पुकारता है। उसकी आवाज़ सुनकर भी वह कभी आती है पर कभी नहीं भी आती॥५१७॥

इस तरह विष्ठा तथा मूत्र के लेप से और मुँह की लार आदि से पुत्र के गीले शरीर को माता कभी धोती है और कभी कार्यान्तरवश नहीं भी धोती॥५१८॥

व्यवस्थित स्वभाव वाला न होने से बालक को भय व मोह होता है यह दिखाते हैं—यह बालक व्यर्थ हँसता व डरता

वक्तुं गन्तुं तथाऽऽदातुमिच्छत्येष पुनः पुनः। न शक्नोति ततः क्लेशं महान्तं प्रतिपद्यते॥५२०॥

जननीं जनकं वाऽपि भ्रातरं वाऽपि राक्षसम्। पिशाचीं वाप्यभेदेन बालो जानाति मोहितः॥५२१॥

एवं बाल्ये स दुःखानि कोटिशोप्यनुभूय च। तत्रैवावान्तरावस्थां कौमारीं प्रतिपद्यते॥५२२॥

कुमारदुःखानि

जानुभ्यामपि हस्ताभ्यां गच्छत्येष शनैः शनैः। अपि चार्थान्तरप्रासं वर्णजातं वदत्यसौ॥५२३॥

श्ववच्छङ्कित एवायं स्वगृहादिप्रवेशने। सर्वेभ्यश्च बिभेत्येष मात्रादिभ्यो विमोहितः॥५२४॥

इङ्गितादि न वेत्त्येष पशोरप्यधमस्तथा। अथ कालेन पद्भ्यां स व्रजत्यत्यन्तचञ्चलः॥
वक्ति वाचा विशदया हितं स्वस्मै न वेत्त्यसौ॥ ५२५॥

इच्छादुःखमभिनयति—वक्तुमिति॥५२०॥ मोहं स्फुटयति—जननीमिति। स्फुटम्॥५२१॥

एवमिति। यद्यपि 'बाल्यमापञ्चमाब्दाद्' इति श्रीधरैरेकादशे व्याख्यातं तथाप्यत्र उत्तरश्लोकानुगुण्याद् आषोडशाब्दाद् बाल्यावस्थां व्यापिकां विवक्षित्वा दन्तजननप्रभृत्यवस्था तद्व्याप्या कौमारी विवक्ष्यते, अवस्थात्रितयस्य विवक्षणादिति ग्रन्थकर्तुराशयो लक्ष्यते। तत्रैव बाल्य एव। अवान्तरां व्याप्याम्॥५२२॥

जानुभ्यामिति। शनैः शनैरित्यनेन त्वरया जिगमिषायामपि तदपूर्त्या इच्छादुःखं सूचितम्। एवमुत्तरत्रापि दुःखहेतुदोषानुगम ऊह्यः। अपि चेति। अशक्त्या उच्चार्यमाणत्वाद् अर्थान्तरं विवक्षितार्थाद्भिन्नमर्थं प्रासं बोधयदिति यावत्। एतादृशं वर्णसमूहं वदति॥५२३॥

श्ववदिति। श्वा कुक्कुरः। शङ्कितः शंकाव्याप्तः॥५२४॥

इङ्गितेति। इंगितमभिप्रायसूचिकाङ्गचेष्टा। अथेति। विशदया स्पष्टया। तथापि स्वहितं न वेत्ति॥५२५॥

है। ऐसे ही यह व्यर्थ रोता है और विवेकरहित हुआ विष्ठा आदि भी खा लेता है॥५१९॥

यह बार-बार बोलना, चलना व पकड़ना चाहता है पर बोल आदि सकता नहीं जिससे महान् क्लेश पाता है॥५२०॥

माँ, बाप, भाई, राक्षस या पिशाची को अविवेकी बालक एक जैसा ही समझता है। हितकारी व अहितकारी को पहचान नहीं पाता॥५२१॥

इस प्रकार बाल्य में करोड़ों दुःखों का अनुभव कर बाल्य की ही कौमारी नामक अवांतर अवस्था वह बालक पा जाता है॥५२२॥

कुछ लोग पाँच वर्ष तक बाल्यावस्था मानते है पर प्रकृत ग्रंथकार सोलह बरस तक बाल्य ही है ऐसा मान रहे हैं।

घुटनों व हाथों से यह धीरे-धीरे चलता है। वह ऐसे वर्ण-समूहों का उच्चारण करता है जिनसे ऐसा अर्थ समझ आये जिसे वह बोलना चाहता नहीं॥५२३॥

जाना जल्दी चाहता है, जा पाता नहीं अतः दुःखी होता है। ऐसे ही जो बताना चाहता है वह न बता पाने का कष्ट भोगता है।

बच्चा अपने घर आदि में घुसते हुए भी कुत्ते की तरह शंकालु बना रहता है। अविवेकी होकर यह माता आदि सबसे डरते हुए रहता है॥५२४॥

यह इशारे आदि नहीं समझता अतः पशु से भी अधम है। कुछ समय बाद वह पैरों से चलता है तब अत्यन्त चंचल हो जाता है॥५२५॥

पितृभ्यामपि चान्येन बन्धुना हितकारिणा। बालेन बलिना वापि ताड्यते भर्त्स्यते हि सः॥५२६॥
श्ववदेष वृथा याति स्थानात् स्थानान्तरं प्रति। उन्मत्तवत् समादत्ते वक्ति चायं वृथैव हि॥५२७॥
धूलिधूसरसर्वाङ्गः श्रमेण महता वृतः। स्नेहद्वेषौ वृथैवायं बालैरन्यैः करोति हि॥५२८॥
गृहे स्वेऽविद्यमानं च याचते राजवच्छिशुः। तदलाभे न भुङ्क्तेऽसौ कदाचिच्च प्ररोदिति॥ ५२९॥
एवं नानाविधं दुःखं कौमारे त्वनुभूय सः। यौवनं दुःखकोटीनामाकरं प्रतिपद्यते॥५३०॥

यौवनं दुःखाकरम्

अत्र स्त्रीपुंसभेदेन दुःखानि विविधानि सः। प्राप्नोत्यनीश्वरो जन्तुः कर्मपाशवशङ्गतः॥५३१॥
जन्तुर्भवति चेन्नारी तदा पत्यादितो भयम्। अस्वातन्त्र्यं तथा नित्यं व्यापारश्च महान् गृहे॥५३२॥
पुरुषाणां यथैवेच्छा कामिनां हि वधूं प्रति। एवं वधूजनस्यापि कामिनं पुरुषं प्रति॥५३३॥
पत्यादिभिः कुलेनैष धर्मलोपेन चापरः। निरुद्धः स्त्रीजनः कालं शृङ्खलाबद्धवन्नयेत्॥५३४॥

पितृभ्यामिति। भर्त्स्यते दुर्वाचा धर्ष्यते॥५२६॥ श्ववदिति॥५२७॥ धूलीति॥५२८॥

गृह इति। अविद्यमानमितिच्छेदः॥५२९॥ यौवनावस्थां दोषाष्टकशालितया वर्णयितुमुपक्रमते—एवमिति। आकरम् उद्भवस्थानम्॥५३०॥ अत्रेति। अत्र यौवने स जन्तुः स्त्रीपुंसभेदेन स्त्रीभावेन पुंभावेन च अवच्छिन्नानि दुःखानि प्राप्नोतीत्यन्वयः। यतोऽनीश्वरः। 'अनीशया शोचति मुह्यमानः' (मुं.३.१.२) इति श्रुतेः, अनीशयाऽसामर्थ्येन॥५३१॥

तत्र नारीभावदुःखं स्पष्टयति—जन्तुरिति चतुर्भिः। पत्यादितः पतिप्रभृतिबान्धवेभ्यः॥५३२॥

पुरुषाणामिति। वधूं नारीम्॥५३३॥

माता-पिता द्वारा, अन्य हितकारी बंधु द्वारा या बलवान् बालक द्वारा वह डाँटा व मारा जाता है॥५२६॥

कुत्ते की तरह व्यर्थ ही यह एक से दूसरी जगह जाता है। पागल की तरह चीज़ें पकड़ता है। व्यर्थ बोलता रहता है॥५२७॥

सारा शरीर धूल से धूसरित कर लेता है और कोई कायदे का काम किये बिना ही थक कर चूर हो जाता है। अन्य बच्चों से बिना मतलब राग-द्वेष कर लेता है॥५२८॥

अपने घर में न होने वाली चीज़ यों माँगता है जैसे राजा आज्ञा करता है। वस्तु न मिलने पर भोजन भी छोड़ देता है और कभी रो भी पड़ता है॥५२९॥

ये आठ दोष यौवन में भी रहते हैं यह बताते हैं– इस प्रकार बाल्यावस्था में अनेक प्रकार के दुःख भोगकर वह युवावस्था पाता है जो करोड़ों दुःखों का उत्पत्तिस्थान है॥५३०॥

यहाँ वह स्त्रीभाव व पुरुषभाव के भेद से विविध दुःख पाता है। कर्म के पाश में स्थित जंतु सर्वथा असमर्थ रहता हुआ जीवन व्यतीत कर देता है॥५३१॥

उत्पन्न हुआ जीव यदि नारी हो तो उसे पति आदि से भय रहता है, हमेशा परतंत्रता रहती है और प्रतिदिन घर में बहुत काम रहता है॥५३२॥

कामी पुरुषों को जैसे स्त्री की क़ामना रहती है वैसे स्त्रियों को भी कामी पुरुष की इच्छा बनी रहती है॥५३३॥

पति आदि द्वारा अथवा कुल से एवं कोइ-कोई धर्महानि के भय से नियंत्रित हो स्त्रियाँ वैसे ही समय बिताती हैं जैसे

पुरुषाणामसम्प्राप्त्या प्राप्तानामप्यनिच्छया। पुत्रेच्छयापि गर्भेण नारी दुःखार्णवे पतेत्।।५३५।।

पुरुषस्य सदा भीतिः शास्त्रज्ञस्य यमादितः। पित्रादिभ्यश्च मूढस्य राजादिभ्यश्च धीमतः।।५३६।।

अस्वातन्त्र्यं च पुंसः स्याद् धनादिरहितस्य हि। वध्वा यथा यौवने स्यात् प्राप्त्यप्राप्त्योर्नरस्य हि।। ५३७।।

यौवनं प्रथमो दोषो नराणां कर्मवर्तिनाम्। तत्रापि च कुलं विद्या धनं चेति त्रिदोषता।।५३८।।

कुलविद्याधनोत्थे हि त्रिदोषे यौवनज्वरे। न पश्यामः प्रतीकारं मरणादपरं नृणाम्।५३९।।

पत्यादिभिरिति। एष प्रायो दृश्यमानो वधूजनः पत्यादिभिः कुलेन वा निरुद्धः, अपरः कश्चिदेव धर्मलोपेन आलोचितेन निरुद्धः सन् शृंखलाबन्धनबद्धवत् कालं नयेदिति।।५३४।।

नार्याश्चतुरः प्रधानदुःखहेतून् दर्शयति—पुरुषाणामिति। अनिच्छयाऽरोचनेन।।५३५।।

पुंसो यौवनस्थस्य दुःखं स्फुटयति—पुरुषस्येति। यमादितः। यमः प्रसिद्धः, आदिपदेनेश्वरः 'यमो वैवस्वतो राजा यस्तवैष स्थितो हृदि' (मनु. ८.९२) इत्यत्रोक्तः; तद्विदश्च गृह्यन्ते। धीमतो व्यापारकुशलस्य।।५३६।।

अस्वातन्त्र्यमिति। अस्वातन्त्र्यं पराधीनता। वध्वा यथेति। इच्छाऽनिच्छाप्रयुक्तं दुःखमिति शेषः।। ५३७।।

यौवनमिति। प्रथमो दोषो ज्वरसमः प्रधानदोषः। त्रिदोषता कुपितधातुत्रयसमेत्यर्थः।।५३८।।

कुलेति। कुलविद्याधनैः मंदजनकैरुत्तिष्ठति अनर्थाय उद्यतं भवति इति तत्तथा, तस्मिन् यौवनज्वरे सति प्रतीकारं तच्छमौषधं न पश्यामः।।५३९।।

जंजीरों से बँधा व्यक्ति।।५३४।। इष्ट पुरुषों की उपलब्धि न होने से, प्राप्त पुरुषों में रुचि न होने से, पुत्रप्राप्ति की इच्छा से व गर्भधारण आदि से नारी दुःखसमुद्र में पड़ी रहती है।।५३५।।

इस प्रसंग में स्त्री के दुःखों का वर्णन इस बात का द्योतक है कि ग्रंथकार मानते हैं कि संसार की दुःखमयता का विचार कर वैराग्य-प्राप्तिपूर्वक अध्यात्मबोध स्त्रियों को भी प्राप्त करना चाहिये। वस्तुतः सीधे ही वेद से स्त्रियों को ज्ञान होना मुश्किल है क्योंकि उन्हे वेद पढ़ने की इजाजत नहीं है, इसीलिए कारुणिक आचार्य शङ्करानन्दस्वामी ने उपनिषदों का यह विस्तृत व्याख्यान रचा है जिसे स्त्री भी पढ़ सकती तथा इसी से अद्वैत-साक्षात्कार पाकर मुक्त हो सकती है। अन्यथा इस प्रसंग में स्त्रीदुःखवर्णन का कोई औचित्य नहीं।

अब पुरुष को यौवन में होने वाले दुःखों को स्पष्ट करते हैं– उत्पन्न जीव यदि पुरुष हो तो शास्त्रज्ञ पुरुष को हमेशा यम आदि से भय रहता है, मूर्ख को पिता आदि से और बुद्धिमान् को राजा आदि से भी भय रहता है।।५३६।।

'यम आदि' के आदि से ईश्वर, धर्म, शिष्ट सब समझने चाहिये। सज्जन को अंतर्यामी से भी भय होता है। शास्त्रकारों ने कहा है कि हृदय में स्थित अन्तर्यामी ही धर्मराज है। यदि अन्तरात्मा से कोई विवाद न हो अर्थात् कुछ ऐसा किया या सोचा न हो जिसे अंतरात्मा धिक्कारती हो, तो किसी प्रायश्चित्त की जरूरत नहीं।

धनादिरहित पुरुष को स्वतंत्रता न रहने से भय होता है। स्त्री की तरह पुरुष को भी इष्ट स्त्रियों की अप्राप्ति से तथा प्राप्त स्त्रियों में अरुचि से दुःख होता रहता है।।५३७।।

कर्मनिरत लोगों में जवानी प्रधान दोष है। जैसे रोग में कफादि दोषों का कुपित होना कारण है ऐसे कुल, विद्या और धन, ये तीन दोष अविवेकी युवक के दुःख का कारण होते हैं।।५३८।।

कुल, विद्या और धन से अनर्थफलकतया यौवनरूप ज्वर उपस्थित होने पर उसकी शांति का उपाय मृत्यु से अतिरिक्त हमें नहीं दीखता।।५३९।।

जवानी रूप बुखार के कारण अत्यधिक अविवेकी हुआ जंतु व्यर्थ गाता, व्यर्थ चेष्टायें करता और व्यर्थ हँसता है।

यौवनज्वरसम्मूढो जन्तु र्गायति वल्गति। हसत्यपि क्षिपत्यन्यान् वृद्धान् पितृसमानपि।।५४०।।
युद्ध्यत्यास्फोटयत्युच्चै र्नृत्यत्यपि च धावति। अहङ्करोति दुर्दान्तः श्वसित्येष मुहुर्मुहुः।।
दुश्चेष्टा विविधा एवं यौवने कुरुते पुमान्।। ५४१।।
एवं हि कुर्वतस्तस्य जन्तो र्यौवनवर्तिनः। यौवने तृप्तिहीनस्य कार्याकार्यमजानतः।। ५४२।।
वधूजनगृहीतान्तर्मानसस्य दुरात्मनः। परस्वस्यापहारार्थं नित्यमुत्कण्ठितस्य च।।
उच्छास्त्रवर्तिनः शीघ्रं कालो याति महानयम्।। ५४३।।
गृहक्षेत्रकलत्रादावासक्तं दुर्धियं नरम्। युवमण्डूकमभ्येति कालसर्पोऽतिदारुणः।।५४४।।

जरादुःखम्

अहर्निशं हि दुःखानामाकरं चिन्तयावृतम्। युवानमार्तमभ्येति पिशाची श्वित्रिणी जरा।।५४५।।
तस्याः सङ्गमदुष्टोऽयं श्वेतो भवति सर्वतः। कुरूपः शक्तिहीनश्च दुःखशोकसमावृतः।।५४६।।

सन्निपातज्वरसाम्यं यौवनस्य प्रपञ्चयति–यौवनेति। संमूढोऽनवस्थितचित्तः। वल्गति विविधा गती र्दर्शयति। क्षिपति मत्तगजवत् पातयतीति।। ५४०।।

युद्ध्यतीति। अनुदात्तेत्त्वलक्षणात्मनेपदस्यानित्यत्वात् साधु। आस्फोटयति युद्ध्यमानं विशीर्णं करोति, स्फुटिर् विशरणे (चु.उ.)। दुर्दान्तो निरंकुशः। दुश्चेष्टा इति।५४१।। एवमिति। कार्याकार्यं विहितप्रतिषिद्धं, समाहारद्वन्द्वः।।५४२।। वधूजनेति। मानसस्यान्तः अन्तर्मानसं; वधूजनेन गृहीतमन्तर्मानसं यस्य स तथा तस्य। स्वं धनम्। शास्त्रमुत्क्रम्य वर्तमानस्य। एतादृशस्य जन्तोः अयं जरावधिः महान् कालो यातीतिद्वयोरन्वयः।।५४३।।

गृहेति। यौवनस्थमण्डूकसमम्। अभ्येति उपसर्पति।।५४४।।

अहर्निशमिति। चिन्तया दूतीसमयावृतम्। आर्तं कामार्तसमम्। श्वित्रं श्वेतकुष्ठं तद्वती।।५४५।।

तस्या इति। तस्या जरायाः।।५४६।।

पिता के समान जो वृद्ध हों उन्हें भी धक्का देकर गिरा देता है। उन्हें दुर्वचनों से भी पीड़ित करता है।।५४०।।

पुरुष युवावस्था में अनेक दुश्चेष्टायें बार-बार करता है जैसे अकस्मात् लड़ बैठना, प्रतिद्वन्द्वी के हाथ-पैर आदि तोड़ डालना, अत्यधिक अहंकार करना, निरंकुश हो यों हुंकारादिपूर्वक साँस छोड़ना कि संमुख व्यक्ति अपना तिरस्कार समझे।।५४१।। यौवनावस्था में स्थित ऐसा करते हुए, जवानी में अतृप्त, कर्तव्य-अकर्तव्य को न जानने वाले, अन्य के धन को सदा हस्तंगत करने के लिए उत्सुक, स्त्रियों द्वारा नियंत्रित मन वाले, सदोष चित्त वाले एवं अशास्त्रीय मार्ग पर चलने वाले उस जंतु का मूल्यवान् समय जल्दी ही बीत जाता है।।५४१-५४३।। घर, खेती, पत्नी आदि में आसक्ति वाले, सदोष बुद्धि वाले, युवा पुरुष रूप मेढक के पास कालरूप भयंकर साँप आ जाता है।।५४४।।

अब अगली दशा का वर्णन करते हैं- दिन-रात दुःखों की उत्पत्ति का हेतु, चिंताओं से घिरे जवान के पास श्वेतकुष्ठ वाली जरारूप पिशाची आ जाती है।।५४५।।

जैसे नायिका पहले दूती भेजती है ऐसे जरा पहले चिंतायें भेजती है। जवानी समाप्त होते-होते पुरुष को दुनिया भर की चिंतायें लग जाती हैं। अधिक चिन्ताकुल को बुढ़ापा जल्दी आता भी है। चिंता का अर्थ है अपरिहार्य परिस्थिति के संभावित फलों से भयभीत होना। परिहार के उपाय सोचना व करना, यह तो विमृश्यकारिता है। जिन स्थितियों पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं उनसे क्या अनिष्ट हो सकता है इस सोच से दुःखी रहने का अर्थ है चिंता करना। बुढ़ापे से देह में

अपि विस्मृतिशील: सन् पात्रं परिभवस्य च। भवत्यहर्निशं मन्दः कासश्वासाकुलाननः॥ ५४७॥

तदा कृतान्यनेकानि दुष्कृतानि स यौवने। स्मरन्निन्दति चात्मानं कष्टं बत मया कृतम्॥५४८॥

पुत्रादयोऽपि तं नैव मन्यन्ते जरठं जनाः। अपि विद्याधनै र्युक्तं किमु मूर्खं च निर्धनम्॥५४९॥

यामवस्थां पुरा बाल्ये प्राप्तवांस्तां पुन र्जनः। प्राप्नोति वृद्धतां प्राप्य निन्दया सहितामिह॥५५०॥

बालं नैव विनिन्दन्ति शक्तिहीनं मलावृतम्। वृद्धं तु तामसं दृष्ट्वा निन्दन्ति प्राकृता जनाः॥५५१॥

एवं नानाविधं दुःखं जन्तुः सर्वोऽपि सर्वदा। वृद्धत्वे समवाप्नोति कालपाशवशं गतः॥५५२॥

इच्छा हि महती वृद्धे विषयाप्तावशक्तितः। न किञ्चिद्विषयं वृद्धः प्राप्नोतीन्द्रियसंक्षयात्॥५५३॥

अपीति। परिभवस्य अनादरस्य पात्रं भवति॥५४७॥

तदेति। यौवने कृतानीत्यन्वयः॥५४८॥ पुत्रादयइति। मन्यन्त आद्रियन्ते॥५४९॥

यामिति। यामवस्थां पारतन्त्र्यलक्षणां बाल्ये प्राप्तवान्, ताम् एवावस्थां वृद्धतां प्राप्य पुनः प्राप्नोति, निन्दामात्रं तु विशेष इति॥५५०॥ निन्दासाहित्यं स्फुटयति–बालमिति। तामसं मालिन्यादितमोगुणलक्षणवन्तम्। प्राकृताः पामराः॥५५१॥

एवमिति॥ ५५२॥ इच्छा हीति। अशक्तितः। इन्द्रियसंक्षयान्न किञ्चिद्विषयं प्राप्नोतीत्यन्वयः॥ ५५३॥

विवर्णता आती है, केशों में सफेदी आती है अतः बुढ़ौती को श्वेतकुष्ठ वाली कहा।

बुढ़ौती आने से क्या होता है यह कहते हैं–बुढ़ौती के संगम से सदोष हुआ यह प्राणी हर तरफ से सफेद हो जाता है, केश–लोमादि में सफेदी व त्वचा में विवर्णता आ जाती है। कुरूप और शक्तिरहित हुआ बुड्ढा दुःख व शोक से घिर जाता है। (असुविधा से दुःख और पीडा से शोक समझना चाहिये)॥४४६॥

विस्मरणशील हुआ दिन–रात परिभव का पात्र बनता है, सब उसकी हँसी उड़ाते हैं। खाँसी व श्वासरोग के कष्ट से उसका मुख सदा आकुल रहता है॥५४७॥

तब वह जवानी में किये दुष्कर्मों को याद कर अपनी ही निंदा करता है और सोचता है कि 'हाय! मैंने बुरा किया।'॥५४८॥

उस बुड्ढे को लोग व उसके पुत्रादि भी कोई संमान नहीं देते। विद्या व धन से सम्पन्न वृद्ध को भी पुत्रादि लोगों से मान नहीं मिलता तो मूर्ख व निर्धन वृद्ध को उसकी प्राप्ति असंभव है इसमें कहना ही क्या?॥५४९॥

जिस परतंत्र अवस्था को पहले बाल्यकाल में पा चुका है, बुढ़ापे में पुनः उस परतंत्र स्थिति को प्राप्त करता है किंतु साथ में निंदा और जुड़ जाती है। शक्तिहीन व मैल से युक्त बच्चे की कोई निंदा नहीं करता लेकिन मलिनता आदि तमोगुणी लक्षण वाले बुड्ढे को देख पामर लोग उसकी निंदा करते हैं॥५५०–५५१॥

इस प्रकार काल के पाश में फँसे सब जंतु वृद्ध होने पर हमेशा नाना प्रकार के दुःख प्राप्त करते हैं॥५५२॥

विषयप्राप्ति की सामर्थ्य न होने से वृद्ध में इच्छा अत्यधिक होती है किंतु इंद्रियाँ जीर्ण हो जाने से वह किसी तरह विषय को सही तरह प्राप्त कर नहीं पाता॥५५३॥

यहाँ आचार्य ने यह मनोवैज्ञानिक तथ्य प्रकट किया है कि असमर्थता से इच्छा बढ़ती है। असमर्थता चाहे प्रकृत में बुढ़ापे से हो और चाहे अन्य कारणों से हो। अतः इच्छा पर विजय पाने के लिए सामर्थ्य जुटानी चाहिये। सामर्थ्य होने पर ख़ुद–ब–ख़ुद वह इच्छा दब जायेगी। अनुभव में भी आता है कि जब तक कोई विशेष वस्तु पा न सकें तब तक उसे

स्नेहश्च वृद्धस्य तथा वर्धते स्वजनं प्रति। दुर्जनं प्रति द्वेषश्च न च कार्ये क्षमावुभौ॥५५४॥

पुत्रस्य प्रतिनिधितया स्थापनम्

यौवने जनितं पुत्रं द्वितीयं देहमात्मनः। नानाविधेभ्यः पुण्येभ्यः प्राप्तं संसारसागरे॥५५५॥

वेदाध्ययनयज्ञानां भूतानां हि सुखस्य च। स्वयं सामि कृतस्यापि स्वेन वाप्यकृतस्य च॥५५६॥

कर्तारं मानुषे लोके प्रतिभूसदृशं द्विजम्। ततः संस्थाप्य जनको मुमूर्षति जरावृतः॥५५७॥

स्नेहश्चेति। उभौ स्नेहद्वेषौ कार्य उपकारापकारात्मके क्षमौ नेति॥५५४॥

एतावता ग्रन्थेन 'सोऽस्यायम्' इत्यादि 'प्रतिनिधीयते' (ए.२.४) इत्यन्तमंशं पुण्यानि कर्तुं पुत्रः पित्रेहलोके प्रतिनिधिरवस्थाप्यत इत्यर्थपरतया व्याकुर्वता ग्रन्थकृता प्रसंगानुप्रसंगेन बाल्ययौवनवार्द्धकानि प्रदर्शितानि। अथ तमेव श्रुत्यंशं पुण्येभ्यइति हेतुपंचम्यन्तं मत्त्वा व्याकरोति–यौवन इति त्रिभिः। ततः पुत्रम् अस्मिन् लोके संस्थाप्य जनको मुमूर्षति मर्तुमिच्छतीति तृतीयेनान्वयः। कीदृशं पुत्रम्? आत्मनो जनकस्य द्वितीयं देहम्। पुनः कीदृशम्? नानाविधेभ्यो देवाराधनादिभेदभिन्नेभ्यः पुण्येभ्यो हेतुभ्यः प्राप्तम्॥५५५॥

पित्रा स्वयं कर्तव्येषु अध्ययनादिकर्मसु पुत्रो नियोज्यत इत्याकारं 'प्रतिनिधीयत' इति पदार्थं स्पष्टयति–वेदेति। षष्ठ्यन्तानां कर्तारम् इत्युत्तराद्यपदेनान्वयः। तथा च वेदाध्ययनयज्ञानां पित्रा कर्तव्यानां कर्तारं, तथा भूतानां पंचयज्ञैस्तर्पणीयानां सुखस्य कर्तारम्, अपि च स्वयं पित्रा सामि अर्द्धं यत्कृतं कूपतटाकादि तस्य कर्तारं, स्वेन वा यन्न कृतं तस्यपि कर्तारम् इत्यर्थः॥ ५५६॥

कर्तारमिति। प्रतिभवति तत्कार्ये तद्वद्भवतीति प्रतिभूः; यथा व्यवहारे प्रतिभूः स्वाऽसन्निधौ स्वकार्यकरः स्थाप्यते तत्समम्। द्विजम् इति वेदाध्ययनाद्युपक्रमानुरोधेनोक्तम्। ततोऽवस्थात्रयभोगानन्तरं मुमूर्षति मर्तुमिच्छति, यतो जरया वृतः॥ ५५७॥

बारम्बार चाहते हैं पर जब वह अपने अधीन होकर उपस्थित हो जाये तब उसकी ओर दृष्टि ही नहीं जाती! इसीलिए साहित्यिकों ने विप्रलम्भ पर बल दिया है।

असमर्थता से अन्य दोष भी बढ़ते हैं यह बताते हैं– वृद्ध का अपने लोगों के प्रति स्नेह भी बढ़ जाता है और जिसे वह दुर्जन समझता है उसके प्रति द्वेष भी बढ़ जाता है किंतु उसके स्नेह व द्वेष उपकार या अपकार करने में असमर्थ होते हैं॥ ५५४॥

द्वितीय जन्म के दुःखों के प्रसंग में बाल्यादि के दुःखों का भी वर्णन इसलिए किया था कि मानव देह की दुर्लभ प्राप्ति का सदुपयोग करने की प्रेरणा मिले। मूल प्रकरण यह है कि पुत्र को पिता सत्कर्मों के लिए अपना प्रतिनिधि बनाता है। यह श्लोक ५०२ तक कहा था। अब पुनः उसी प्रसंग को आगे बढ़ाते हैं– जवानी में उत्पादित व अपने ही दूसरे शरीर के समान पुत्र को म्रियमाण व्यक्ति अपना प्रतिनिधि बनाकर छोड़ जाता है। संसारसागर में अवलंबरूप से नानाविध पुण्यों के फलस्वरूप पुत्र प्राप्त होता है। अपने द्वारा किये वेदाध्ययन व यज्ञों का कर्ता अब पुत्र को नियुक्त कर देता है। इसी तरह प्राणियों के सुख के लिए किये जाने वाले पंचयज्ञों का कर्ता भी पुत्र को बना देता है। स्वयं जो काम अधूरे किये रहते हैं तथा चाहकर भी जिन्हें कर नहीं पाया, उन सबका अब पुत्र को कर्ता बना देता है। इस प्रकार मनुष्य लोक में प्रतिनिधि की तरह अपने द्विज पुत्र को स्थापित कर बुढ़ापे से घिरा पिता मरने को तैयार होता है॥५५५-५५७॥

यह विषय शतपथ ब्राह्मण में भी वर्णित है। वैध शिक्षा वाले पुत्र से ही यह आशा की जा सकती है कि वह पिता के नियम निभायेगा। क्योंकि यहाँ पिता-पुत्र की एकता का स्पष्ट वर्णन किया इसलिए पुत्र को इस योग्य बनाना पिता का ही उत्तरदायित्व हो जाता है और पिता के नियमों को चलाते रहना पुत्र का भी स्वार्थ ही हो जाता है। परम्परानिर्वाह के

प्रयाणम्

परलोकयियसायां वृद्धस्यायं महान् रथः। कालसारथिना सज्जीक्रियते सूक्ष्मदेहकः॥५५८॥

पुण्यपापरथाङ्गाढ्यो दुःखपाथेयपूरितः। प्राणदुष्टहयै र्युक्तो बुद्धिकाष्ठविनिर्मितः॥
कासश्वासौघघोषाढ्यो हिक्कादुर्मार्गशब्दनः॥ ५५९॥

वृद्धत्वेनातिदुःखानि स एवमनुभूय हि। शरीरं दुःखनिकरं हातुं नेच्छति मोहितः॥५६०॥

बन्धून् स्मरति

तदा पुत्रकलत्रादीन् स्मरत्येषोऽतिदुःखितः। त्रासश्च मरणोद्वेगाद् महान् वेपथुकृद्भवेत्॥५६१॥

बान्धवा अपि ते सर्वे तिष्ठन्ति परिवृत्य हि। हिंसास्थानगता यद्वत् पशवः सामि हिंसितम्॥५६२॥

अथ 'अस्यायम्' इत्यादि 'प्रैति' (ऐ.२.४) इत्यन्तमष्टाचत्वारिंशद्भि र्व्याकरिष्यंस्तदर्थं 'यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायाद्' (बृ.४.३.३५) इति बृहदारण्यकषष्ठगतवाक्यार्थमुपसंहरति–परलोकेति द्वाभ्याम्। वृद्धस्य परलोकयियासायां गमनेच्छायां सत्याम् अयं सूक्ष्मदेहरूपो महान् रथः कालरूपेण सारथिना सज्जीक्रियते सामग्रीसम्पन्नः क्रियत इत्यर्थः॥५५८॥ रथत्वमुपपादयति–पुण्येति। पुण्यपापे एव रथांगे चक्रे, ताभ्यामाढ्यः। दुःखमेव पाथेयं पथि भोग्यं शम्बलापरपर्यायं, तेन पूरितः। प्राणाः प्राणप्रधानेन्द्रियाण्येव दुष्टाश्वास्तै र्युतः। बुद्धिरूपेण काष्ठेन रचितः। कासश्वासयोरोघः प्रवाहः स एव घोषो दूरे श्रूयमाणध्वनिस्तेन सम्पन्नः। हिक्का प्रसिद्धा, तया दुष्टं यथा भवति तथा मार्गे शब्दनः शब्दकरः, नन्द्यादित्वाल्ल्युः॥५५९॥

वृद्धत्वेनेति। स जन्तु र्यस्य रथः सज्जीकृतः। हातुं त्यक्तुं, यतो मोहितोऽध्यासग्रस्तः॥५६०॥

तदेति। तदा मरणसन्निधौ। उद्वेगः क्षोभः। वेपथुः कम्पः॥५६१॥

लिए यह तादात्म्यनिश्चय अनिवार्य है अन्यथा स्वतंत्र व्यक्तित्व स्वीकारने पर सम्प्रदाय की हानि ही होती है। यहाँ श्रुति ने पुण्यों का ही उल्लेख किया है। अतः पिता के द्वेष आदि एवं पाप आदि का निर्वाह करना पुत्र का कार्य नहीं। पिता भी पुत्र को अपने दुष्कर्मादि के लिए प्रतिनिधि न बनाये यह स्पष्ट होता है। अतः पितृनियमों का परिपालन होने पर भी पुत्र का पुरुषार्थ होता ही है।

आगे ऐतरेयक में कहा है कि पिता का बुड्ढा शरीर कृतकृत्य हुआ मरता है। लौकिक व शास्त्रीय कर्तव्य वह निभा चुका है। ऐसे पिता का पुत्र आगे उसके नियमों का पालन करेगा। पितृशरीर तो अब कुछ करने में समर्थ नहीं। इस अंश की व्याख्या के प्रसंग में मरने का वर्णन करते हैं। इसके लिए बृहदारण्यक के कुछ वाक्यों का भी संयोजन करते हैं– वृद्ध का जब परलोक जाने का समय उपस्थित होता है तब यह सूक्ष्मशरीररूप महान् रथ कालरूप सारथी द्वारा सजाया जाता है॥ ५५८॥

पुण्य व पाप रूप पहियों से वह शोभता है। रास्ते के उपयोग के लिए दुःखरूप पाथेय से वह भरा-पूरा रहता है। प्राण-प्रमुख इंद्रियाँ उस रथ के सदोष घोड़े होते हैं। बुद्धिरूप लकड़ी से वह रथ निर्मित होता है। खाँसी व साँस के प्रवाहरूप घोष से वह संपन्न होता है। हिचकी ही मार्ग में होने वाला बुरा शब्द है॥ ५५९॥

वृद्ध होने से इस प्रकार अत्यंत दुःखों का अनुभव करके भी दुःखनिधि शरीर को वह छोड़ना नहीं चाहता क्योंकि वह अहन्ता-ममता के अध्यास से ग्रस्त रहता है।५६०॥ तब अतिदुःखित हुआ वह पुत्र, पत्नी आदि को याद करता है। मरण के क्षोभ से इसे कँपा देने वाला त्रास होता है॥ ५६१॥

ऐसी स्थिति में उसे कोई बचा नहीं पाता यह बताते हैं– सब बांधव भी उसे घेर कर बैठ जाते हैं, जैसे बूचड़खाने

मरणकालिकदुःखम्

द्वासप्ततिसहस्राणि वृश्चिका एकहेलया। यथा दशन्ति गात्रेषु पुच्छैः सूच्यग्रसन्निभैः॥
तथा तज्जायते दुःखं मुमूर्षो र्देहमोचने॥ ५६३॥

हस्तौ पादौ क्षिपन्तं च भूमिष्ठं गतचेतनम्। स्वजनास्तं हि शोचन्ति काकाः काकं यथातुरम्॥५६४॥

ग्रामसूकरवच्छब्दान् मुञ्चन्तं मृत्युलुब्धकः। बध्वा नयति तं दूरे बान्धवानामदर्शनम्॥५६५॥

कालपाशवशं प्राप्तो जन्तुर्न गमने क्षमः। वागुराभिरिवाबद्धः कपोत इव दीनधीः॥५६६॥

पुत्रक्षेत्रादिबडिशं भक्षणार्थमुपागतम्। जन्तुमत्स्यं नयत्येष मृत्युधीवर उग्रधीः॥ ५६७॥

मुमूर्षुं मृगपोताभं संसारवनमध्यगम्। हन्ति व्याधिशरेणैव मृगयुः कालसंज्ञकः॥५६८॥

तदा तं रक्षितुं कोऽपि न शक्नोतीत्याह—बान्धवा इति। परिवृत्य वेष्टयित्वा। दृष्टान्तमाह—हिंसेति। सामि हिंसितं हन्यमानमिति यावत्। ते यथा रक्षितुमशक्तास्तद्वदिति॥५६२॥

तत्कालभवदुःखमुपमया स्पष्टयति—द्वासप्ततीति। द्व्यधिकसप्ततिसहस्रपरिमिता वृश्चिकाश्चेद् एकहेलया एकव्यापारेण, एकदैवेति यावत्। पुच्छै र्दशेयुः तज्जन्यदुःखसमं तावन्नाडीकदेहान्निष्क्रमणे दुःखमित्यर्थः॥५६३॥

हस्ताविति। क्षिपन्तं विशस्तपशुवत् त्वरया चालयन्तम्। आतुरं बन्धनादिना दुःखितम्। एतावदेव तेषां शक्यमिति भावः॥ ५६४॥

मृत्युरूपो लुब्धको व्याधः तं दूरे नयति। कीदृशं तम्? नीयमानग्रामसूकरवत् शब्दान् मुञ्चन्तं क्रोशन्तमिति यावत्। बान्धवानामदर्शनं यथा भवति तथा—इति नयनक्रियाविशेषणम्॥५६५॥

कालेति। जन्तुः दीनधीः कपोत इव भवतीति शेषः। यतो गमने यथेच्छया व्यापारे न क्षमः। तत्र हेतुः—कालेत्यादि॥ ५६६॥

रूपकान्तरमाह—पुत्रेति। पुत्रक्षेत्राद्यैहलौकिकभोग्यजातमेव बडिशं प्रच्छन्नं स्वभक्षकवधसाधनं तद्भक्षणाय मर्त्यलोकात्मकह्रदमुपागतं जन्तुरूपमत्स्यं मृत्युरूपो धीवरो हन्तीति। भक्षधातो र्भोगार्थेऽपि प्रयोगः 'तं देवा भक्षयन्ति' (छां.५.१०.४) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धः। श्लेषस्य रूपकांगस्यानुकूलः—तं स्वर्गगतं देवा भक्षयन्ति भोगसाधनं कुर्वन्तीति—श्रुत्यर्थः। एतेन अहन्ताममताहीनानां विदुषां न मृत्युरिति सूचितम्॥५६७॥

मुमूर्षुमिति। मृगपोतो मृगबालकस्तत्समम्। ज्वरादिव्याधिरूपेण बाणेन। मृगयुः व्याधः॥५६८॥

में गये पशु आधे मरे पशु को देख उसे देखते हुए स्वयं की भी वैसी गति की कल्पना करते हुए स्थित रहते हैं॥५६२॥

दृष्टांत से तब का दुःख बताते हैं– बहत्तर हज़ार बिच्छू सुई की नोक की तरह के अपने डंकों से इकट्ठे ही शरीर के तत्तत् स्थान पर डसें तो जैसा दुःख हो, देह छोड़ने पर मुमूर्षु को वैसा ही दुःख होता है॥५६३॥ भूमि पर पड़े अचेतन उस व्यक्ति के सम्बन्धिजन हाथ-पैर पटकने वाले और सुअर की तरह कराहने वाले उस मरते व्यक्ति पर वैसे ही शोक व्यक्त करते हैं जैसे आतुर कौवे पर अन्य कौवे। मृत्युरूप बहेलिया उसे बाँध कर दूर ले जाता है जहाँ बांधवों का फिर कभी दर्शन भी नहीं मिलता॥५६४-५६५॥ काल के फन्दे में फँसा जंतु अन्यत्र कहीं वैसे ही नहीं जा सकता जैसे जाल में फँसा बेचारा कबूतर॥५६६॥ पुत्र क्षेत्र आदि बडिश को (मछली पकड़ने के काँटे पर लगे मांस आदि को) खाने के लिए आये जन्तुरूप मछली को यह मृत्युरूप क्रूर मछुवा ले जाता है॥५६७॥ जो मछली बडिश खाती है वह तुरंत काँटे में अटक जाती है। काँटा अपना भोग करने वाले की मृत्यु का हेतु है। ऐसे ही पुत्रादि समस्त भोग अपना भोग करने वाले

प्रस्विन्नवदनं दीनं हिक्काशतसमावृतम्। निरीक्ष्य करुणामेति न मृत्यु र्निष्ठुराशयः॥ ५६९॥

हा पुत्र! हा कलत्रेति भृशं शब्दसहस्त्रकम्। मुञ्चन्तं चोरवत् कालो जन्तुं पांथं निहन्त्यसौ॥५७०॥

श्लेष्मावरुद्धकण्ठं तं भूरिघुर्घुरशब्दकम्। हन्ति कालः स्वकार्यार्थी मेषं सूनाप्रभु र्यथा॥५७१॥

बान्धवेषु भृशं शब्दान् मुञ्चत्सु यमकिङ्कराः। नयन्त्येनं यथा राजभृत्या जातापराधकम्॥५७२॥

द्वासप्ततिसहस्त्राणां नाडीनामिह बन्धनम्। शरीरे च्छिद्यते तस्य मृत्युना जनघातिना॥५७३॥

मृत्युः कालकुठारेण च्छिनत्त्यस्याङ्गबन्धनम्। यथा प्रकुपितः कश्चिद्धालिकः कदलीवनम्॥५७४॥

प्रस्विन्नेति। प्रस्विन्नं ग्लानं मुखं यस्य तम्। हिक्कानां शतेन असंख्यातहिक्काभिरिति यावत्, समावृतम् आक्रान्तम्। ईदृशं दृष्ट्वाऽपि मृत्युः दयां न प्राप्नोति यतो निष्ठुराशयः। लोकेपि क्रूराशया दीनेषु नानुगृह्णन्ति इति प्रसिद्धम्। मृत्युपक्षे निष्ठुरायां प्रजाहननरूपायां वृत्तौ प्रजापतेराग्रहात् शेतेऽधिकृतो भवतीति निष्ठुराशय इत्यर्थः। प्रसिद्धमेतन्मोक्षधर्मेषु– एतदधिकारनिवृत्तयेऽनेकार्बुदसमास्तपस्यतेऽपि मृत्यव एतमधिकारं प्रजापति र्ददाविति॥५६९॥

हा पुत्रेति। इति इत्थं शब्दगणं मुञ्चन्तं जन्तुरूपं पान्थं कालः चोर इव हन्तीति॥५७०॥

श्लेष्मेति। श्लेष्मा कफः। कालस्य स्वकार्यं जननमरणसामानाधिकरण्यसंरक्षणम्। सूना पशुवधस्थानं तस्य प्रभुरध्यक्षः। मेषम् मेडकमिवेति॥ ५७१॥

बान्धवेष्विति। क्रोशतो बान्धवाननादृत्य एनं जन्तुं नयन्ति यमकिङ्कराः। दृष्टान्तो–यथेत्यादि॥५७२॥

द्वासप्ततीति। नाड्यो हि स्वान्तर्गतं प्राणं धारयन्त्यस्तं बध्नन्तीव, तद्बन्धनं मृत्युना च्छिद्यते॥५७३॥

के नाश के उपाय हैं। जो तो अपने अभोक्तृत्व को जानकर विषयभोग नहीं करता, वह मृत्यु के काँटे में फँसता नहीं यह यहाँ सूचित है। मरकर स्वर्ग जाने पर भी देवताओं का भोग्य बनना पड़ता है यह द्योतित करने के लिए 'खाने के लिए' ऐसा कहा। यहाँ मृत्युकालिक दुःख मृत्यु से भय उत्पन्न कर उससे बचने के एकमात्र उपाय ब्रह्मज्ञान के लिए तत्पर होने के उद्देश्य से कहा गया है अतः मूर्छादि में व झटके आदि से होने वाली मृत्यु के प्रसंग से इस वर्णन को सदोष बताना मूर्खता होगी।

मृत्यु को व्याधे के रूपक से कहते हैं– संसाररूप वन में स्थित मृगशावकसदृश मुमूर्षु को कालनामक व्याध बीमारीरूप बाण से मार डालता है॥५६८॥ ग्लानियुक्त मुख वाले, सैकड़ों हिचकियों से परेशान, नष्टप्राय मुमूर्षु को देखकर भी निष्ठुर मन वाला मृत्यु भी करुणा नहीं करता॥५६९॥ मृत्यु को प्रजापति की आज्ञा से ही प्रजाहननरूप निष्ठुर काम करना पड़ता है। महाभारत में बताया है कि अरबों वर्ष तक मृत्यु ने तप किया ताकि इस क्रूर कार्य से छुटकारा मिल सके पर प्रजापति ने उन्हें ही इस कार्य के योग्य समझा व इसमें लगाये रखा। ठीक ही है, रागद्वेष से अस्पृष्ट यमाचार्य से अतिरिक्त और किसे यह अधिकार दिया जाये?

मरते हुए का ही और वर्णन करते हैं– हाय बेटे! हाय प्रिये! इत्यादि हजारों ध्वनियाँ बार-बार करने वाले जन्तु को वह काल वैसे ही मारता है जैसे पथिक को वह चोर जो वध किये बिना लूटना गलत मानता है॥५७०॥ कफ से रुँधे गले वाले और अत्यधिक घुर्घुर् शब्द करते हुए उस जंतु को निज कार्य का निष्पादन करने के लिए काल मार डालता है। जैसे कसाईघर का मालिक अपना कार्य करने के लिए भेड़ आदि मारता है वैसे काल भी कर्तव्यनिर्वाहार्थ प्राणियों को मारता है॥५७१॥ जिस प्रकार अपराधी को राजपुरुष ले जाते हैं उसी प्रकार बांधवों के रोते बिलखते रहते ही यमदूत इस प्राणी को ले जाते हैं॥५७२॥ इस शरीर में बहत्तर हज़ार नाडियों का बंधन है जो जनघातक मृत्यु द्वारा काट दिया जाता है॥५७३॥ जैसे कोई क्रुद्ध हलवाहा अपना खेत बचाने के लिए केले का जंगल काट डालता है वैसे कालरूप फरसे से मृत्यु इस जंतु

पादाग्रात् केशपर्यन्तं सर्वतो रोमकूपके। कार्यन्ते वेदनास्तत्र मृत्युना दुःसहा नृणाम्॥५७५॥
कोट्यर्धसहितास्तिस्त्रः कोट्यः सूच्यः सुतीक्ष्णकाः। यादृक् शरीरिणः कुर्युस्तादृग् दुःखं मृतौ नृणाम्॥५७६॥
क्रकचै र्बहुधा च्छेदादङ्गानां जीवतो यथा। तथा भवति तद्दुःखं मरणे सर्वदेहिनः॥५७७॥
पादाग्रात् केशपर्यन्तं त्वच उत्पाटने यथा। जीवतो हि भवेद् दुःखं तथा दुःखं मृतौ नृणाम्॥५७८॥
तप्ततैलप्रवेशेन दुःखं यादृङ्नृणां भवेत्। जीवतां तादृगेवात्र दुःखं स्याद् मरणे नृणाम्॥५७९॥
नवानामपि च्छिद्राणां रोधाद्यादृङ्नृणां भवेत्। दुःखं तादृङ्मृतौ तस्माद् भवेद् वाऽप्यधिकं पुनः॥५८०॥
एवमेतदनौपम्यं दुःखं दुर्मार्गवर्तिनाम्। यथा नरकजं दुःखं तादृग्वाऽपि ततोऽधिकम्॥५८१॥
मुमूर्षु र्मूर्च्छामभ्येति क्वचित् क्वापि प्रबुद्ध्यते। बिभेति च भृशं दृष्ट्वा दारुणान् यमकिङ्करान्॥५८२॥
विण्मूत्रे च क्वचिन्मुञ्चेदश्रूण्यपि च वा क्वचित्। क्वचिच्छब्दं महानादं दृष्ट्वाऽसौ यमकिङ्करान्॥५८३॥

मृत्युरिति। मृत्यु र्देवः कालेन आयुरन्त्यक्षणेन कुठारेण अस्य जन्तोः अङ्गबन्धनम् अङ्गैः प्राणसम्बन्धमनायासेन च्छिनत्ति। अनायासेन च्छेदने दृष्टान्तः—यथेति। हालिकः हलवहनकर्ता क्षेत्ररक्षायै सकंटकवृक्षच्छेत्तृत्वेन प्रसिद्धः॥५७४॥

पादाग्रादिति। पादाग्रमारभ्य मृत्युना प्रयोजककर्त्रा, कालेन बन्धच्छेदकर्त्रा प्रयोज्येन वेदनाः पीडाः कार्यन्त इति॥ ५७५॥

मरणकालिकदुःखमुपमानैरभिनयति— कोट्यर्धेत्यादिपञ्चभिः। एतावत्यः सूच्यः शरीरे युगपद् लग्ना यादृशं दुःखं कुर्युः तावदत्र बोध्यमित्यर्थः॥ ५७६॥

क्रकचैरिति। जीवतोऽङ्गानां छेदाद् इत्यन्वयः॥५७७॥ पादाग्रादिति। जीवतस्त्वच उत्पाटन इति सम्बन्धः॥५७८॥ तप्तेति। जीवताम् इति पूर्वान्वयि॥५७९॥ नवानामिति। छिद्राणां प्राणद्वाराणां रोधात् प्रतिबन्धाद् यादृग्दुःखं तादृग्दुःखं मृतौ संभाव्यते तस्मादधिकं चेति॥५८०॥

एवमिति। दुर्मार्गवर्तिनां पापिनां यथा नरकदुःखं तादृग् अत्र भवति ततोधिकं चेति॥५८१॥

मुमूर्षुरिति। क्वचित् क्षण इति शेषः॥५८२॥ विण्मूत्रे इति। नादो ध्वनिः॥५८३॥

के अंगों से प्राणसम्बंध को काट डालता है॥५७४॥ पैर के पंजे से सिर पर्यंत हर ओर जो रोमकूप हैं उनमें मृत्यु द्वारा वेदना करायी जाती है जो लोगों के लिए असह्य होती है॥५७५॥

उपमानों से मरण के समय का दुःख व्यक्त करते हैं—साढ़े तीन करोड़ नोकीली सुइयाँ चुभने पर देहधारी को जैसा दुःख दें, मरने पर वैसा दुःख होता है॥५७६॥ जीवित व्यक्ति को आरियों से कई तरह काटे जाने पर जैसा दुःख होता है, मरते समय सभी को वैसा दुःख होता है॥५७७॥ जीवित व्यक्ति की चमड़ी पैर के पंजे से सिर पर्यंत उधेड़ने पर जैसा दुःख होता है, वैसा मरते काल में होता है॥५७८॥ जीवित मनुष्यों को तपे तेल में घुसने पर जिस तरह का दुःख होता है उसी तरह का दुःख यहाँ मरते हुए लोगों को होता है॥५७९॥ आँखें, कान, नासिकायें, मुख, पायु व उपस्थ, नवों छिद्रों को बंद कर देने से जैसा दुःख लोगों को होता है वैसा या उससे भी अधिक मरणकालिक दुःख होता है॥५८०॥ विषयोपभोग के लिए कुमार्ग पर चलने वालों को इस प्रकार यह निरुपम दुःख वैसा ही होता है जैसा नरक से, या उससे भी अधिक होता है॥५८१॥ मरता हुआ व्यक्ति कभी मूर्छित हो जाता है व कभी होश में आ जाता है। भयंकर यमदूतों को देखकर वह अत्यधिक भयभीत होता है॥५८२॥ भयभीत वह जंतु उन विकराल मुख वाले, बीभत्स बालों वाले, चाबुक फाँसी आदि हाथ में लिए लम्बे-चौड़े कालदूतों को देखकर काँप उठता है। कभी जोर से चिल्लाता है, मुँह से फेन गिराता है व हर

अतिदीर्घान् करालास्यान् कालान् बर्बरकेशकान्। कशापाशादिहस्तांस्तान् दृष्ट्वा वेपथुमान् भवेत्॥५८४॥
मुखेन फेनं वमति मलान् मुञ्चति सर्वतः। भयप्राप्तमना जन्तु दृष्ट्वा तान् यमकिङ्करान्॥५८५॥

यमभटकृतभर्त्सनम्

त एनं भर्त्सयन्त्यादावागत्य पुरतो भटाः। धिक् त्वां मनुष्यदेहस्थं पापिनं स्वात्मघातकम्॥
येन त्वया शरीरेऽस्मिन् न कृतं स्वहितं क्वचित्॥ ५८६॥
अयं शत्रुरिदं मित्रमुदासीनस्त्वयं मम। इत्यादिबुद्धिमोहेन भवता वञ्चितो भवान्॥५८७॥

जीव एव स्वशत्रुः

शत्रुस्त्वमेव भवतो नान्यः कोऽपि हि विद्यते। येन त्वया नैव कृतमात्मनो बन्धमोचनम्॥५८८॥
आत्मनः प्रतिकूलं यः कर्मणा मनसा गिरा। परस्य कुरुते स्वस्य सोऽत्र शत्रुरितीरितः॥५८९॥

अतिदीर्घानिति। 'बर्बरः केशविन्यासे'– इति विश्वः; भयप्रदविन्यासशालिकेशयुतान्। कशा अश्वादिताडनसाधन- तया प्रसिद्धा। तान् यमकिंकरान्। वेपथुः कम्पः॥५८४॥ मुखेनेति। स्पष्टम्॥५८५॥

त एनमिति। ते यमस्य भटाः। पुरतः सम्मुख आगत्य एनं पूर्वोक्तं पापिनम् आदौ भर्त्सयन्ति वक्ष्यमाणविधया दुर्वाक्यै विंध्यन्तीत्यर्थः। पश्चाद् नयन्ति इति आदि-पदेन व्यज्यते। भर्त्सनवाक्यान्याह–धिक् त्वामित्यादिना। स्वात्मानं विपरीतदर्शनेन हन्ति–असन्तमिव कुरुत इति–स तथा तम्। तथा चोक्तं भागवते 'नृदेहमाद्यं सुलभम्' इत्यादि। एतदेव स्फुटयति– येनेति। अस्मिन् मानुषे स्वहितं निःश्रेयसात्मकं मुख्यम्, अभ्युदयात्मकं गौणमिति॥५८६॥

आत्महननप्रयोजकं दर्शयन्ति–अयं शत्रुरिति। इत्यादिबुद्धिरूपेण मोहेन विपर्ययेण भवता पूर्वसंस्कारै जीयमानेन भवान् वञ्चितः प्रतारितः। त्वया शास्त्ररूपसुहृदुक्त्या प्रमादो न जित इति भावः॥५८७॥

एवं च प्रमादशत्रो र्विनाशसामग्रीसंनिधानं लब्ध्वापि तमविनाशितवतस्तवैव स्वशत्रुतेत्याहुः–शत्रुरिति। भवतस्तव। गीतास्वप्युक्तम् 'अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवद्' (गी.६.६) इति॥५८८॥

एतदेव स्पष्टयति–आत्मन इति। यद् आत्मनः प्रतिकूलम् अपमानादि भासते तदेव परस्य परत्वेनाभिमतस्य यः कुरुते स मूढः स्वस्य शत्रुरित्युक्तः। अत्र विवेकिव्यवहारे॥५८९॥

छिद्र से मलत्याग करता है॥५८३–५८५॥ वे याम्य सैनिक आकर पहले उसकी भर्त्सना करते हैं 'तुझ आत्महत्यारे (अपना नुकसान करने वाले) पापी को धिक्कार है जिसने इस मनुष्य देह में स्थित होकर भी कभी अपना हित नहीं किया। यह शत्रु है, यह मित्र है, यह उदासीन है, यह मेरा है इत्यादि असम्यग् निश्चयों से तुमने अपने को ही धोखा दिया है। तुम ही अपने शत्रु हो जिसने अपने बन्धन की निवृत्ति के लिए कोई प्रयास नहीं किया, दूसरा कोई तुम्हारा शत्रु नहीं'॥५८६–५८८॥ भागवत में भी कहा है कि नृदेह पाकर भी जो परमात्मज्ञान न पाये वह आत्मघाती है। राग–द्वेषादि मोह से ही हम अपना शत्रु बनते हैं। पूर्वार्जित रागादिसंस्कार हमें ठग लेते हैं क्योंकि उनसे हमें लगता है कि लाभ होगा पर होती हानि ही है। शास्त्र व गुरु जो सच्चे सुहृद् उनकी बात न मानने से हम प्रमादी ही बने रहते हैं। प्रमाद हटाने के उपाय मौजूद होने पर भी हम उनका प्रयोग न कर स्वयं से ही शत्रुता करते हैं। भगवान् ने भी कहा है कि शरीर–मन पर नियंत्रण न रखने वाला आत्मा स्वयं का ही शत्रु है॥

इसे ख़ुद स्पष्ट करते हैं– विवेकी लोग कहते हैं कि अपना शत्रु वही है जो कर्म, वाणी और मन द्वारा अन्य लोगों से वह व्यवहार करता है जो स्वयं को प्रतिकूल लगे॥५८९॥ अपने साथ दूसरों द्वारा किया जो व्यवहार हम अपने प्रतिकूल समझते हैं वही यदि हम अन्यों से करें तो हम अपने शत्रु हैं ऐसा विवेकी कहते हैं।

जीवतो बलिनो भीतिः परपीडाकरस्य हि। जन्तो मृतस्य चास्मत्तः कस्तां कुर्वीत बुद्धिमान्॥५९०॥

पित्रोरुच्चार एष स्याद् देहः सर्वशरीरिणाम्। प्रत्यक्षो मूत्रविष्ठादिपूरितोऽतिजुगुप्सितः॥५९१॥

विनाशी च कृतघ्नश्च परिणामसहस्रवान्। अस्वाधीनः सदा दुःखकारी स्वार्थविनाशकः॥५९२॥

अतो भेदबुद्धिरनर्थकारित्वान्न कार्या 'सर्वं तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ.२.४.६) इति श्रुतेरित्याहुः— जन्तोरिति। परपीडाकरस्य जन्तो जीवतस्तु बलिनः सकाशाद् भीतिः मृतस्य तु अस्मत्तो यमकिंकरेभ्यो भीतिः। अतः तां भेदबुद्ध्या परपीडां कः कुर्वीत इति॥५९०॥

राजपुरुषा हि अपराधं स्मारयित्वा कृतागसं बध्वा नयन्तीति प्रसिद्धं तथैतेऽपि भेदबुद्धिरूपमपराधं स्मारयित्वा महानर्थहेतुं देहात्माभिमानं शुद्धात्मविस्मृत्या कृतं स्मारयन्तस्तदनौचित्यार्थं देहदोषांस्तत्रात्माभिमानस्य अनर्थकरत्वं तज्जन्यानर्थं च दर्शयन्ति—पित्रोरिति त्रिभिः। पित्रो र्मातापित्रोः। उच्चारो मलम्। एष मानुषादिः। तदुक्तम्—

'यदन्तरस्य देहस्य बहिः स्याच्च तदेव चेत्। दण्डग्रहा वारयेयुः शुनः काकांश्च मानवाः॥' इति॥५९१॥

विनाशी चेति। षड् देहविशेषणानि। कृतघ्नः शतं वर्षाणि सेवितोऽपि जहातीति। परिणामोऽन्यथाभावस्तदवान्तरभेद-सहस्रवान्। स्वार्थस्य पुमर्थस्याभिमानद्वारा विनाशकः॥५९२॥

अनर्थकारी होने से भेदबुद्धि नहीं करनी चाहिये। बृहदारण्यक ने कहा है कि जो सब को अपने से अलग़ समझता है उस सबसे वह त्यक्त हो जाता है। इस बात को यमदूत कहते हैं— 'दूसरों को पीडा पहुँचाने वाला व्यक्ति जब तक जीवित रहता है तब तक उनसे भय खाता है जो अपनी अपेक्षा अधिक बलवान् हैं और मरकर हम यमदूतों से डरता है। अतः कौन बुद्धिमान् भेदबुद्धिप्रयुक्त परपीडा करेगा?'॥५९०॥ स्वयं को कोई पीडा नहीं देता। दूसरे को स्वयं से भिन्न समझता है अतः पीडा देता है। 'उस देह में भी मैं ही हूँ' ऐसा समझे तो कभी पीडा दे सकता नहीं। इतना याद रखना चाहिये कि जैसे मुख व गुदा दोनों को मैं समझने पर भी दोनों से व्यवहार हम उनके अनुकूल ही करते हैं, एक के लिए उचित व्यवहार दूसरे से नहीं करते; ऐसे ही सभी शरीरों से हम वही व्यवहार करेंगे जो उनसे किया जाना उचित है। दूसरा उससे पीडित हो यह हमारा दोष नहीं। हम उसे पीडित करने के लिए न करें, धर्मबुद्धि से करें यह हमारा कर्तव्य है। अतः भेदबुद्धि का हटना शास्त्रीय मर्यादा को तोड़ता नहीं। बल्कि स्वकीय अंग से हम वह व्यवहार कभी नहीं करते जिसे हम हानिकर समझते हैं, परकीय अंग से भले ही कर दें। ऐसे ही सब शरीरों को अपना समझने पर कभी शास्त्रविरुद्ध आचार हम नहीं कर सकते क्योंकि जानते हैं कि उससे हमारे ही दूसरे शरीर को हानि होगी। इस रहस्य को न जानने वाले ही तत्त्वज्ञ को यथेष्टाचारी समझते हैं।

प्रसिद्ध है कि अपराधी को बाँधकर ले जाते समय राजपुरुष (पुलीस वाले) उसे उसके अपराध को याद दिलाते हैं। ऐसे ही यमदूत जीव को याद दिला रहे हैं कि तूने भेदबुद्धिरूप अपराध किया, महान् अनर्थ के हेतुभूत देहात्माभिमान को पाला, शुद्धात्मा को तू भूले रहा इत्यादि। इन अपराधों की अनुचितता बताने के लिए देह-दोष, देह में अभिमान की दुःखफलकता व अभिमान से होने वाले अनर्थों को बताते हैं—'सब देहधारियों का यह शरीर प्रत्यक्ष ही माता-पिता का मल है। मूत्र, विष्ठा आदि से भरा यह देह स्पष्ट ही अतिघृणित है'॥५९१॥ शास्त्रकारों ने कहा है कि इस पतली सी चमड़ी से ढका सामान यदि भीतर की बजाय बाहर होता तो मनुष्य को हमेशा दण्डों से कुत्ते और कौवों को भगाते रहना पड़ता! नीचे से कुत्ते मांसादि खाने आते और ऊपर से कौवे।

यमकिंकर आगे कहते हैं—'यह शरीर विनाशी, कृतघ्न व हज़ारों परिवर्तनों वाला है। देहाभिमान करने वाले के अधीन यह नहीं रहता। अभिमानादि से यह परम पुरुषार्थ का विनाशक अतः सदा दुःखदायी है'॥५९२॥ सौ बरस तक इसकी सेवा करो फिर भी साथ छोड़ देता है अतः कृतघ्न है। परिणाम तो प्रायः प्रतिदिन दीखते हैं। अभिमानी की इच्छा

इमं देहं समाश्रित्य भवता दुष्कृतं कृतम्। एतद्दुःखान्यनन्तानि प्राप्स्यन्ति त्वामहर्निशम्॥५९३॥

देहोपभोगसिद्ध्यर्थं पुत्रदारधनादिकम्। आश्रित्य भवता किञ्चिन्न कृतं सुकृतं बत॥५९४॥

अपि क्लेशो हि भवति सुकृतस्य समर्जने। स्वल्पः सोऽपि न चात्रास्ति परमात्मविचिन्तने॥५९५॥

अपि चेन्निर्गुणं ब्रह्म ज्ञातुं नैव भवान् क्षमः। कस्मादुपासनं तस्य न कृतं सुखदं त्वया॥५९६॥

अपि पापकृतो यावत् क्लेशस्ते समभूदिह। तस्य लेशोऽपि सुकृते न भवेत् स्वर्गदे नृणाम्॥५९७॥

इममिति। समाश्रित्य आत्माभिमानगोचरीकृत्य। दुष्कृतमिति जातिपरो निर्देशः। तदुक्तं भगवता व्यासेन– 'सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः। शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते॥' इति। एतद्दुःखानि एतस्य दुष्कृतस्य कार्यभूतानि दुःखानि॥५९३॥

अहन्त्वाभिमानकृतममत्वाभिमानरूपमपराधं विहिताकरणप्रतिषिद्धाचरणहेतुं स्मारयन्ति–देहोपभोगेति। आश्रित्य ममत्वाभिमानगोचरीकृत्य। बतेति खेदे। सुकृतं न कृतं दुष्कृतं च कृतमिति शेषः॥५९४॥

'स्मर्तव्यः सततं विष्णु र्विस्मर्तव्यो न जातुचित्। सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः॥' इति विष्णुपुराणोक्तरीत्या परमात्मन ऐक्यज्ञानरूपं मुख्यस्मरणं तस्य स्वरूपभूतत्वेन अतिसुकरं कुतो न कृतमिति महत्तवाग इत्याहुः–अपि क्लेश इति। सुकृतार्जने स्वल्पः क्लेशः शरीराद्यायासोऽपि भवति। आत्मबोधे तु सोऽपि न इति, तस्य साक्षादपरोक्षत्वादिति। वदन्ति हि शिष्टाः–कुसुममर्दनादपि आत्मबोधसुकरतामिति॥५९५॥

मुख्याशक्तौ गौणमपि त्वया नानुष्ठितमित्याहुः–अपि चेदिति॥५९६॥

उपासनाऽशक्तावपि द्रव्यव्ययायासादिसाध्यादधर्मादतिसुकरं धर्मार्जनमेव कुतो न कृतमित्याहुः–अपि पापकृत इति। स्वर्गदे सुकृते नामकीर्तनादिरूपे॥५९७॥

के अनुसार यह कार्य नहीं करता बल्कि विपरीत ही रहता है। मोक्षार्थ व धर्मार्थ यत्न में प्रमुख प्रतिबंधक देह के सुखादि का ही विचार है अतः यह प्रतिबंधक है।

और भी–'इस देह को अपना स्वरूप समझकर तुमने पाप किया है जिसके फलस्वरूप तुम्हे दिन-रात अनन्त दुःख प्राप्त होंगे॥५९३॥ देह के उपभोग की वस्तुओं की प्राप्ति के लिए पुत्र, पत्नी, धन आदि में ममता कर तुमने कोई अच्छा काम नहीं किया, बल्कि कई गलत काम ही किये। यह खेद की बात है'॥५९४॥

विष्णुपुराण में कहा है कि सदा भगवान् का स्मरण करना चाहिये, कभी उन्हें भूलना नहीं चाहिये। 'भगवान् की स्मृति रखो' इस विधान के ही शास्त्रोक्त सब विधान नौकर हैं तथा 'भगवान् को भूलो मत' इस निषेध के ही सब निषेध दास हैं। भगवान् का मुख्य स्मरण तो उनके अभेद का ज्ञान ही है क्योंकि सर्वदा सर्वथा अविस्मरणपूर्वक स्मरण तभी संभव है जब भगवान् प्रत्यङ्मात्र हों। प्रत्यग्रूप होने से यह स्मरण अति सुकर भी हो जाता है। यह न करने से जीव ने बड़ा दोष किया यह कहते हैं–'यदि पुण्य बटोरने में क्लेश होता है तो परमात्मा के विचार में तो वह क्लेश थोड़ा भी नहीं होता, वही तुमने क्यों नहीं कर लिया?'॥५९५॥ यद्यपि पुण्यकर्मापेक्षया भगवत्तत्त्वानुभवपूर्वक उसमें निष्ठारूप सतत स्मरण कोटि-कोटि गुणा अधिक मुश्किल है तथापि अध्यात्मप्रसंग में उसके लिए प्रेरणा देने के लिए उसे अति सरल कहना उचित ही है। वस्तुतस्तु आत्मनिष्ठा सर्वायासपरित्यागरूप है जबकि कर्म व उपासना आयास रूप हैं यह अभिप्राय है।

मुख्य स्मरण करने की सामर्थ्य नहीं थी तो गौण स्मरण ही क्यों नहीं कर लिया? यह कहते हैं–'यदि तुम निर्गुण ब्रह्म को जानने में समर्थ नहीं थे तो तुमने सगुण ब्रह्म की ही सुखद उपासना क्यों नहीं की?'॥५९६॥

यदि उपासना भी नहीं कर सकते थे तो धर्म ही कर लेते। खर्च, आयास आदि से होने वाले पापकर्मों से तो वह

परदोषास्त्वया यद्वत् सावधानेन निश्चिताः। सर्वदैव तथात्मा किं क्षणमात्रं न निश्चितः॥५९८॥

यथा परविनाशार्थमुद्यमो भवता कृतः। तथा स्वल्पोऽपि कस्मान्न स्वर्गमोक्षकृते कृतः॥५९९॥

इदं त्वया कृतं पापमेकान्ते बलतस्त्विदम्। इति ते मर्मसदृशं पापं सर्वे वदन्ति हि॥
अपि चैवं वदन्त्येनं पापिनं स्ववशं गतम्॥ ६००॥

तिष्ठतु बाह्योपकरणसापेक्षः प्रयासः, मनोमात्राधीनः क्षणमात्रानुष्ठानेऽपि महाफलः स्वात्मचिन्तनात्मकोऽपि कुतो न कृत इत्याहुः—परदोषा इति। यद्वत् त्वया सावधानेन परदोषाः सर्वदैव निश्चिता निर्णीताः तथाऽऽत्मा क्षणमात्रं कुतो न निश्चित इत्यन्वयः। क्षणमात्रात्मचिन्तनफलमप्युक्तम्—

'स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले दत्ता च सर्वावनिर्यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च सम्पूजिताः। संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयाद्॥' इति। 'क्षणमेकं क्रतुशतस्य' इति श्रुतिरपि॥५९८॥

यदि त्वं स्थावरवन्निरुद्यमोऽभूः तर्हि त्वां नेत्थमुपालभेमहि, त्वं तु शक्तः सन् निषिद्धमनुपदिष्टमपि कृतवान् विहितं तु स्वल्पमपि नानुष्ठितवान् इति दण्ड्योऽसीत्याहुः—यथेति। परस्य शत्रो र्विनाशार्थं स्वर्ग-मोक्षयोः कृते सिद्धये, कृञो भावे क्विप्, कस्मान्न कृत इति॥५९९॥

लौकिकशास्तृभ्यो राजादिभ्यो गोपितं वा प्रकाशं वा सर्वं ते कृतं साक्षिभ्यो विद्म इत्याहुः—इदमिति। इदं पापं त्वयैकान्ते कृतम् इदन्तु बलतः प्रकाशं कृतम्, इति ते पापं सर्व आदित्यादयः साक्षिणो वदन्ति हि प्रसिद्धमेतत्। यथाहुः—

सरल था। यह कहते हैं– 'पाप करने वाले तुम्हे यहाँ जितना क्लेश हुआ, नामकीर्तनादि स्वर्गप्रद कर्म में लोगों को उसका थोड़ा अंश भी क्लेश नहीं होता'॥५९७॥ अर्थात् यदि पुण्य भी कर लेते तो यह गति न होती।

बाह्य उपकरणों से साध्य कर्म न सही, क्षण भर भी करने पर महान् फल देने वाले और केवल मन से किये जाने वाले स्वात्मचिंतन को क्यों नहीं किया? यह कहते हैं– 'जिस प्रकार तुमने दूसरों के दोषों का सावधानी से सदा निर्णय किया उस प्रकार क्षण भर के लिए भी आत्मविषयक निःशंक निर्णय क्यों नहीं किया?'॥५९८॥ क्षणभर आत्मविचार का बड़ा फल बताया है। शास्त्रकार कहते हैं : जिसका मन ब्रह्मविचार में क्षण भर के लिए भी स्थिर हो जाये उसने मानो सारे तीर्थों के जल में स्नान कर लिया, सारी भूमि का दान कर दिया, हज़ारों यज्ञ कर लिए, सब देवों को पूज लिया, अपने पितरों को मुक्त करा दिया और त्रिलोकी में पूज्य भी हो गया। यद्यपि श्लोक ५९५ में भी परमात्मविचार न करने के लिए डाँटा जा चुका है तथापि वहाँ तत्पदार्थचिंतन न करने का दोष कहा था और यहाँ त्वम्पदार्थ का विचार न करने का दोष कहा है।

यदि तू वृक्षादि की तरह सर्वथा निठल्ला ही रहता तो हम तुझे यों उलाहने न देते। तू तो सामर्थ्य वाला होकर विधिबोधित सत्कर्म थोड़े भी नहीं कर पाया और जिन्हे करने का किसी ने तुझे उपदेश नहीं दिया उन निषिद्ध कर्मों को करता रहा। इसलिए तू दण्ड के योग्य है। यह कहते हैं– 'जैसे दूसरों के विनाश के लिए तुमने यत्न किया वैसे स्वर्ग व मोक्ष के लिए थोड़ा भी उद्यम क्यों नहीं किया?'॥ ५९९॥

लोक में शासन करने वाले राजा आदि से छिपाकर या खुले में जो कुछ तूने किया वह सब साक्षियों से हमें पता चल चुका है यह बताते हैं–तुम्हारे द्वारा यह पाप रहस्य में और यह प्रकाश में किया गया, इस प्रकार आदित्यादि सब कर्मसाक्षी तुम्हारे पाप बताते हैं जो वैसे ही तुम्हारे दुःख के हेतु हैं जैसे मर्मस्थान बींधे जाने पर दुःखहेतु होते हैं।' चौदह साक्षी नीतिकारों ने बताये हैं : सूर्य, चंद्र, वायु, अग्नि, द्युलोक, भूमि, जल, हृदय, यम, दिन, रात, प्रातःसंध्या, सायंसन्ध्या और धर्म। मनुष्य के किये को ये जानते हैं।

भर्त्सनोपसंहारः

मत्तो न बलवान् कश्चिल्लोकेऽस्मिन् विद्यते पुमान्। एवं प्रवृत्तं को वा मां शिक्षयेदिति दुर्धिया॥६०१॥

विचार्य बहुशो दर्पात् प्रवृत्तः पापकर्मणि। भवानुझ्झितमर्यादो लोकशोककरः सदा॥६०२॥

तस्य ते दुर्धियो नित्यं लोकोपद्रवकारिणः। शासितारो वयं प्राप्तास्त्वत्तोऽपि बलवत्तमाः॥६०३॥

त्वत्कृतं सकलं विद्मो दुष्कृतं यमकिङ्कराः। वासरादिभिरत्यर्थं श्रावितं यमसंसदि॥६०४॥

वासरेणससूर्येण कथितं दिवसे कृतम्। चन्द्रादिना तथा रात्र्या कथितं निश्यनुष्ठितम्॥
सन्ध्ययोरपि सन्ध्याभ्यां सर्वदा भूतपञ्चकैः॥ ६०५॥

वासराद्या यमचराः सर्वैः सहचराः सदा[1]। त्वादृशा यान् न जानन्ति मोहिता देवमायया॥६०६॥

'आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम्॥' (महाभा.१.९८.११)

इति। कीदृशं पापम्? मर्मसदृशम्–मर्माण्यपि भिद्यमानानि दुःखयन्ति पापमपि भिद्यमानं प्रकाश्यमानं दुःखयतीति साम्यम्। अपि चैवमिति। किं च ते यमकिंकराः स्ववशं प्राप्तं पापिनमेवं वक्ष्यमाणविधयाऽपि वदन्ति इति॥६००॥

पुन र्यद्वदन्ति तदाह–मत्त इति षड्भिः। अहं बली को वा मम शिक्षक इत्याकारया दुर्धिया दुर्बुद्ध्या बहुशो विचार्य इत्युत्तरेणान्वयः॥६०१॥ विचार्येति। दुर्विचारं कृत्वा दर्पाद् भवान् पापकर्मणि प्रवृत्तः। उझ्झितमर्यादः उझ्झिता त्यक्ता मर्यादा येन स तथा। लोकेति। लोकैः शोच्य इति यावत्। जीवन्मृतत्वादिति भावः। भागवतेऽप्युक्तम्–'स एष जीवन् खलु संपरेतो वर्तेत योऽत्यन्तनृशंसितेन' इति॥६०२॥ तस्येति। तस्य उक्तविशेषणवतः दुर्धियः लोकोपद्रवकारिणश्च ते शासितारो दण्डयितारो वयमिति॥६०३॥ त्वत्कृतमिति। वयं यमकिङ्करास्त्वत्कृतं सकलं दुष्कृतं विद्मः। कीदृशं दुष्कृतम्? वासरादिभिः कर्मणां साक्षिभि र्यमसभायां श्रावितं निवेदितम्॥६०४॥ वासरादिश्रावितत्वमेव प्रपंचयति– वासरेणेति। ससूर्येण दिनेन दिवसे भवत्कृतं कथितम्। निश्यनुष्ठितं तु चन्द्रादिना रात्र्या च कथितम्। आदिपदेन आदित्यचन्द्रा-वित्यादिमनुश्लोकोक्ताः (मनु. ८.८६) अत्रानुक्ता गृह्यन्ते। सन्ध्ययोरिति। सन्ध्ययोः सायंप्रातरात्मकयोः कृतं सन्ध्याभ्यां कथितम्। सर्वदा सर्वत्र काले यद्यत्त्वया कृतं तद् भूतपञ्चकैः उक्तम्, भूतानां प्रत्येकं पंचकानि स्वसम्बन्धेन पंचीकृतत्वात् तैरिति। यद्वा, पंचयन्ति स्वसम्बन्धेन विस्तारयन्ति इति पंचका भूताभिमानिदेवास्तैरित्यर्थः॥ ६०५॥

ननु मया रहसि कृतं कथं वासराद्यै र्ज्ञातम्? अत आहुः– वासराद्या इति। यमचराः यमस्य राज्ञः चरा गूढपुरुषाः। सर्वैः प्राणिभिः सहचरा विचरन्तः॥६०६॥

अपने फन्दे में फँसे इस प्राणी को यमदूत इस प्रकार भी बोलते हैं–॥६००॥ 'इस लोक में मुझसे अधिक बलवान् कोई व्यक्ति नहीं अतः यों दुष्कार्य में प्रवृत्त मुझे कौन दण्डित कर सकता है?–इस दुर्बुद्धि से बहुत तरह के दुर्विचार कर तुम दर्पवश पापकर्म में लगे। मर्यादाओं का त्याग कर तुम सदा ऐसे रहे कि विवेकियों ने तुम्हारे जीते जी हीं तुम्हे मरे तुल्य मान तुम्हारे लिए शोक कर लिया था॥६०१-६०२॥ सदोष बुद्धि वाले तुमसे भी अधिक बल वाले हम आ पहुँचे हैं। हमेशा लोगों को परेशान करने वाले तुम्हे हम दण्ड देंगे॥६०३॥ हम यमभट तुम्हारे किये सब पापों से परिचित हैं। दिन आदि कर्मसाक्षियों द्वारा यमसभा में वे पाप सुना दिये गये हैं॥६०४॥ सूर्य समेत दिन ने वह सब बता दिया है जो तुमने दिन में किया। जो तुमने रात में किया उसे चन्द्रादि ने बता दिया है। सन्ध्या समय में किये को दोनों संध्याओं ने बता दिया।

---

१. मनइन्द्रियदेहा भौतिकाः कर्म च सकलं तैरेव करोति जन इति तद्रूपेण स्थितानि भूतानि कर्मकालएव तज्जानन्ति, तथा च तेभ्यो न किंचिन्निलीनमिति ध्येयम्। अत्र सर्वत्र वासराद्यभिमानिनो गृह्यन्ते।

इत्यादिवचनान्युक्त्वा बद्ध्वा पाशैः सुदारुणैः। कशादिभिश्च सन्ताड्य नयन्ति यमकिङ्कराः॥६०७॥

त्यक्तस्य देहस्य दशा

तस्मिन् द्वारवतीनाथे पुर्यास्तस्या गते सति। रथेन कालयुक्तेन क्षणमात्रादनन्तरम्॥६०८॥
पुरीं द्वारवतीं सर्वां स्वदत्तामग्निसागरः। अदर्शनं नयत्येष सर्वेषामिह देहिनाम्॥६०९॥
यदा द्वारवतीनाथो जहात्येनां यदृच्छया। तदाऽतिशोभनाप्येषा विधवेव न शोभते॥६१०॥
क्लेशेनापि न शक्नोति सार्जुना बन्धुता पुरः। वध्वादि दुर्जनाऽऽभीरै र्हृतं रोद्धुं कथञ्चन॥६११॥

इत्यादीति। स्पष्टम्॥६०७॥

अथ अस्माल्लोकाद् उत्क्रम्य पुन र्जायमानस्तृतीयं जन्म अनुभवति इत्यर्थकं 'स इत' इत्यादि 'जन्म' (ऐ.२.४) इत्यन्तं वाक्यं व्याकरिष्यन् त्यक्तशरीरदशां, तद्बन्धुदशाः, उत्क्रान्तस्य पारलौकिकी र्दशाश्च वर्णयति—तस्मिन्नित्याद्यूनत्रिंशच्छ्लोकैः। तस्मिन् द्वारवतीनाथे प्रवेशग्रन्थोक्तरीत्या (श्लो. १७३) देहरूपद्वारवतीपतौ पुरुषे तस्या देहद्वारवत्याः पुर्याः सकाशात् क्षणमात्राद् गते सति। केन? कालसारथियुक्तेन रथेन सूक्ष्मदेहात्मना। अनन्तरम् अग्निसागरः तां पुरीमदर्शनं नयतीत्युत्तरेणान्वयः॥६०८॥ पुरीमिति स्वदत्तां स्वेनाग्निना द्युपर्जन्यभूमिपुरुषयोषारूपेण दत्ताम्। विस्तृतत्वेन अग्निसागरयोः साम्यम्॥६०९॥ यदेति। एनाम् पुरीम्॥६१०॥

क्लेशेनेति। यथा प्रसिद्धद्वारवतीनाथे गते सति अवशिष्टा सार्जुना अर्जुनेन पार्थेन सहिता बन्धुता बन्धुसमूहः दुर्जनाभीरैः हृतं वध्वादि परिग्रहं रोद्धुं रक्षितुं न शशाक तथाऽत्र श्लेषबलेन साम्यम्। तथाहि— उत्क्रान्तस्य द्वारवतीपतेः सम्बन्धि वध्वादि दुर्जनरूपैराभीरैः हृतं पुरः संमुखेऽपि रोद्धुं क्लेशेनापि प्रार्थिता बन्धुता न शक्नोति। कीदृशी बन्धुता? सार्जुना, 'तृणमर्जुनम्' इत्यमरः, गृहीततृणा; तृणच्छेदनेन सम्बन्धपरित्यागशीलेति यावत्। यद्वा, सार्जुना अर्जुनेन नेत्ररोगेण सहिता, यतः पश्यन्त्यपि न पश्यतीति; 'अर्जुनं तु तृणे नेत्रगदे च' इति विश्वः॥ ६११॥

पाँचों भूतों ने (उनके अभिमानिदेवताओं ने) हर समय किये कर्मों का लेखा-जोखा दे दिया है॥६०५॥ दिन आदि यमराज के गुप्तचर हैं जो सदा सब के साथ विचरते हैं किन्तु महादेव की माया से मोहित तुम जैसे लोग उन्हें गुप्तचर के रूप में नहीं जानते'॥६०६॥ इस तरह के असह्य वचन कहकर और भयानक पाशों से बाँधकर एवं कोड़े आदि से मारते हुए यमदूत पापी प्राणी को ले जाते हैं॥६०७॥

अब तीसरा जन्म बताना है। इस लोक से मर कर जब पुनः उत्पन्न होता है तब प्राणी को तीसरे जन्म का अनुभव होता है। ऐतरेय में कहा है कि पिता वृद्ध शरीर से जाकर स्वर्ग, नरक या भूलोक में जो पुनः उत्पन्न होता है वह इसका तीसरा जन्म है। इस वाक्य की व्याख्या करेंगे। पहले बताते हैं कि छोड़े गये शरीर की मरने के बाद क्या दशा होती है, बन्धुओं की क्या स्थिति है और खुद को परलोक में कैसी व्यवस्था मिलती है। पहले शरीरदाह बताते हैं—कालयुक्त रथ द्वारा द्वारकानाथ (जीव) जब उस पुरी से (शरीर से) चला जाता है तब तुरन्त ही अग्निरूप सागर अपने द्वारा दी हुई उस पुरी को ऐसा कर देता है कि वह दीखे नहीं। सभी देहधारियों के देह का यही हाल होता है॥६०८-६०९॥ काल सारथि वाला सूक्ष्मदेह रथ है और तादात्म्याध्यास से जीव का गमन है। प्रसिद्ध द्वारका सागर से मिली थी व अंत में सागर में डूब गयी थी। यह शरीर भी अग्नि द्वारा दिया गया है। देहजन्म में हेतुभूत पाँच अग्नियों का वर्णन किया ही जा चुका है। अथवा आहुति ग्रहण करने से ही अग्नि की कारणता है। इसीलिये अंत में शरीर अग्नि में ही विलीन हो जाता है। नाश की जगह अदर्शन परिणामवाद की दृष्टि से कह दिया है।

जब द्वारकानाथ कालानुसार इस देहपुरी को छोड़ देता है तब यह वैसे ही शोभित नहीं होता जैसे सुन्दर होने पर भी विधवा शोभित नहीं होती॥६१०॥ अर्जुनयुक्त बन्धुसमूह कोशिश कर भी दुर्जन अहीरों द्वारा चुरायी गयी यादव वधुओं

निर्गमद्वारफलम्

येन द्वारेण सम्प्राप्तः पुरीं द्वारवतीं प्रभुः। तेनैव चेद् व्रजेद् ब्रह्मलोकं पाति[1] न संशयः॥६१२॥

चक्षुरादिभिरुत्क्रम्य सुकृती स्वर्गमेत्यसौ। अपरो दुष्कृतं कृत्वा प्रयाति यमसादनम्॥६१३॥

बन्धुदशा

यं विना नैव दाराद्या भुञ्जते कवलं पुरा। अदन्त्यस्मिन् गते सर्वे आकण्ठं स्वादु बान्धवाः॥६१४॥

यं पुरा शयने शुभ्रे मृदौ केशादिवर्जिते। शाययन्ति क्षिपन्त्येनं ज्वलिते जातवेदसि॥६१५॥

यं पुरा मृदुलस्पर्शा गन्धपुष्पकरा अपि। स्पृशन्तो भयमायान्ति काष्ठैस्तीक्ष्णैः स्पृशन्ति तम्॥६१६॥

वाजिना वा शिबिकया यं गजेन रथेन वा। नयन्ति तं नयन्त्येते बद्ध्वा काष्ठेन काष्ठवत्॥६१७॥

प्रसंगात्तत्तद्द्वारनिर्गमनफलं दर्शयति– येनेति। येन द्वारेण एकादशेन अधस्तादुक्तेन सम्प्राप्तः प्रविष्टो न संशयः। 'शतं चैका' (छा. ८.६.६) इत्यादिश्रुतेः, 'मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणम्' (गी. ८.१२) इत्यादिस्मृतेश्चेति॥६१२॥

चक्षुरादिभिरिति। सुकृती चेदिति शेषः। अपरः सुकृतिभिन्नः दुष्कृतं पुरतः कृत्वा चक्षुरादिभिः अपि उत्क्रामन् यमसादनं यातीति। तथा चैकादशद्वारभिन्नद्वारोत्क्रमणे सुकृतदुष्कृतयो र्यत्प्रबलं तदधीना गतिरिति॥६१३॥

तद्बन्धूनां दशाः स्फुटयति– यं विनेत्यादिना। दाराद्या बान्धवाः पुरा जीवनकाले यं विना कवलम् अपि ग्रासमपि न भुञ्जते, अस्मिन् परलोकं गते सति आकण्ठं स्वादु अदन्तीत्यन्वयः॥६१४॥

यमिति। शाययन्ति स्वापयन्ति। जातवेदसि वह्नौ॥६१५॥

यं पुरा मृदुलेति कोमलहस्तस्पर्शकाः। तं चितागतम्॥६१६॥

वाजिनेति। वाजिनाऽश्वेन। शिबिका नृयानम्॥६१७॥

आदि को रोक सकने में किसी तरह समर्थ नहीं होता! [प्रकृत में अर्थ यह है–] वधू आदि दुर्जनों द्वारा पहले मानो अपने वश में किये गये जंतु को वे सब बन्धु जो हाथ में तिनका लिये रहते हैं, तब नहीं बचा पाते जब वह मर रहा होता है॥६११॥ यहाँ श्लेष का प्रयोग किया गया है। भारतादि में वर्णित है कि श्रीकृष्ण के द्वारका छोड़ देने पर यादव स्त्रियों को अर्जुन अपनी संरक्षकता में ले जा रहा था और मार्ग में आभीरों ने उन्हें लूट लिया। स्त्रियों को अर्जुन भी नहीं बचा पाया। 'अर्जुन' तिनके को भी कहते हैं। श्मशान से लौटते समय ऐसी रीति है कि बंधुजन तिनका तोड़कर फेंकते हैं जो इसका द्योतक है कि मृत व्यक्ति से उनका सम्बन्ध समाप्त हो चुका। नेत्र के रोगविशेष को भी अर्जुन कहते हैं। बंधुलोग भी मृत प्राणी की तरह ही मूर्ख हैं, देखते हुए भी नहीं देखते, इसलिये भी वे अर्जुनयुक्त समझे जा सकते हैं।

प्रसंगवश जीव जिन दरवाजों से निकलता है उनका फल बताते हैं– प्रभु जिस शिरोमार्ग से द्वारवती पुरी में आया था, यदि जाता भी उसी से है तो निःसंदेह वह ब्रह्मलोक जाता है॥६१२॥ सत्कर्म करने वाला व्यक्ति चक्षु आदि दरवाजों से जाकर स्वर्ग प्राप्त करता है। अन्य दुष्कर्मी पुरुष (अधोद्वारों से जाकर) नरक प्राप्त करते हैं॥६१३॥ पाप-पुण्य के प्राबल्यवश ही ग्यारह से अतिरिक्त मार्गों से भी निष्क्रमण होता है।

अब बन्धुओं की दशा स्पष्ट करते हैं– पहले जिसके बिना पत्नी आदि एक कौर अन्न भी नहीं खाते, उसके चले जाने पर वे लोग ही पेट भर कर स्वादिष्ट आहार खाया करते हैं॥६१४॥ पहले जिसे साफ, कोमल, केशादिरहित बिस्तर पर सुलाते थे उसे ही जलती हुई आग में फेंक देते हैं॥६१५॥ पहले कोमल स्पर्श वाले और गंध-पुष्पादियुक्त हाथों वाले

---

१. यातीति पाठः संभाव्यते।

मङ्गलैरपि वादित्रैः प्रयाणं कुरुते हि यः। स प्रयात्यधुना स्त्रीणां सशोकै रोदनैः सह॥६१८॥
यस्याग्रतो नयन्त्येते दधिलाजादि मङ्गलम्। त एव तस्य पुरतो नयन्त्यग्निं सधूमकम्॥६१९॥
पुत्रभार्यादिकं पूर्वं यः क्षणं न विमुञ्चति। त्यक्त्वा सर्वं प्रयात्येष विरक्तो न पुनर्व्रजेत्॥६२०॥
यं विना क्षणमात्रं हि न पुरा स्थातुमीशते। तं विना बान्धवाः सर्व आसते निर्वृताशयाः॥६२१॥
यः पुरा जनवक्त्राब्जभास्करोऽभूत् सुरोपमः। तस्य सन्दर्शने स्नानं स्पर्शने च प्रकुर्वते॥६२२॥
पादाग्रान्निर्गतं यस्य नीरं मूर्द्धनि बिभ्रति। तस्य संस्पर्शतः स्नानं स्पर्शं नैव प्रकुर्वते॥ ६२३॥
एवं प्रत्यक्षदोषेऽपि जनः संसारशूलके। पतितो वेत्ति नो दुःखं मोहितो देवमायया॥६२४॥

पारलौकिकदशा

एवं शरीरं सन्त्यज्य गच्छत्येषोऽतिदुःखितः। क्षुत्पिपासापरिश्रान्तो भर्त्सितो यमकिङ्करैः॥६२५॥
अनेकशतकोटीनां योजनानि यमालयम्। स्वल्पेनैव हि कालेन नीयते यमकिङ्करैः॥६२६॥
पाशबद्धो यथा च्छागस्ताडितश्च कशादिभिः। नीयते राजभृत्याद्यै र्बलादेवमसावपि॥६२७॥

मङ्गलैरिति। वादित्रैः पटहादिवाद्यैः॥६१८॥ यस्याग्रत इति। एते बन्धुजनाः॥६१९॥ पुत्रेति। एष सर्वं त्यक्त्वा प्रयाति, विरक्तः तु पुन र्न व्रजेद् एकवारमेव गच्छेदिति 'न स पुनरावर्तते' (छां. ८.१५.१) इति श्रुतेः, अयन्तु विना वैराग्यं पुनः पुनरेवं गच्छति म्रियत इति भावः॥६२०॥ यं विना क्षणमात्रमिति। निर्वृताः सुखिता आशया येषां ते तथा॥६२१॥ यः पुरेति। जनानां वक्त्राण्येवाब्जानि तद्विकासने भास्करः। सुरोपमः देवसमः। तस्य सन्दर्शने स्पर्शने च स्नानं प्रकुर्वते॥६२२॥

पादाग्रादिति। यस्य पादाग्राद् निःसृतं नीरं मूर्द्धनि बिभ्रति धारयन्ति जनाः तस्य संस्पर्शतः स्नानं प्रकुर्वते, वशतस्तु स्पर्शं नैव प्रकुर्वत इति॥६२३॥

फलितमाह-एवमिति। नो वेत्ति गणयति॥६२४॥

पारलौकिकी दशाः स्फुटयति-एवं शरीरमिति॥६२५॥

जिसे छूने में भी डरते थे, वे तीखी लकड़ियों से उसे कठोरतापूर्वक गोदते हैं॥६१६॥ जिसे हाथी, रथ या घोड़े से ले जाते थे उसे लकड़ियों से बाँधकर लकड़ियों की तरह ढोकर ले जाते है॥६१७॥ जो मांगलिक वाद्यों से प्रयाण किया करता था वह अब स्त्रियों के शोकयुक्त रोने की अमांगलिक ध्वनि से महाप्रयाण कर जाता है॥६१८॥ जिसके संमुख ये पुरोहितादि दही, लाजा आदि मंगल वस्तुयें उपस्थित करते थे वे ही उसके आगे-आगे धुएँ समेत आग लेकर चलते हैं॥६१९॥ जो पहले पुत्र पत्नी आदि को क्षणभर के लिये भी नहीं छोड़ता था वह उन सबको छोड़कर चला जाता है किन्तु विरक्त न होने से पुनः देहान्तर प्राप्त करता है॥६२०॥ बान्धव लोग जिसके बिना क्षणभर भी रह नहीं सकते थे वे उसके बिना ही प्रसन्नता से रहते हैं॥६२१॥ जो पहले देवता के समान था, अब उसे देखने व छूने पर लोग स्नान करते हैं॥६२२॥ जिसके पैर के पंजे से स्पृष्ट जल पुत्रादि माथे लगाते रहे, उसका स्पर्श होने पर अब स्नान करते हैं और जहाँ तक हो सके स्पर्श करते ही नहीं॥६२३॥ इस तरह प्रत्यक्षसिद्ध दोष वाले संसाररूप शूल पर पड़ने पर भी जीव उसकी दुःखमयता का निश्चय नहीं बनाये रखता क्योंकि देवमाया से मोहित हुआ रहता है॥६२४॥

अब पारलौकिक दशा स्पष्ट करते हैं-इस प्रकार शरीर छोड़कर अत्यंत दुःखी हो यह जाता है। मार्ग में यह भूख-प्यास से परेशान रहता है व यमदूतों की फटकार सुनता रहता है॥६२५॥ यमालय सैकड़ों कोटि योजन दूर है। फिर भी

अत्र दुःखान्यनेकानि मृतानां यमशासनात्। भवन्ति तानि को नाम वक्तुं श्रोतुं च वा क्षमः।।६२८।।

दंष्ट्रिणां सूकरादीनां काकगृध्रादिपक्षिणाम्। उपद्रवो महान् मार्गे यमराजपुरस्य हि।।६२९।।

चोराश्च शतशस्तत्र घ्नन्ति तं राक्षसोपमाः। शस्त्रैर्नानाविधै नैव म्रियते सोऽपि दुष्कृतात्।।६३०।।

पूयविष्ठादिपूर्णानां नदीनामपि लङ्घनम्। निमज्जनं च तत्रैव क्वचिन्नक्रादितो भयम्।।६३१।।

वह्निशस्त्रजलेलानां वायोश्चापि विकारतः। यमालये हि नरका दुःखदाः पापकारिणाम्।।६३२।।

अनेककल्पपर्यन्तमसिपत्रवनादिषु। क्रूरेषु नरकेष्वेव दुःखान्याप्नोति दुष्कृती।।६३३।।

प्रसिद्धा नरकास्ते हि पुराणेषु विपश्चितः। भृशं दुःखकरा नृणां पापिनां परजन्मनि।।६३४।।

एवं स नारकं दुःखमनुभूयाथ कालतः। दुष्कृती बीजतां प्राप्य लोकमेतं पुन र्व्रजेत्।।६३५।।

सुकृती च तथा स्वर्गे ह्यनुभूय सुखं महत्। सुकृतान्ते पतत्यस्मिन् लोके पर्जन्यधारया।।६३६।।

अनेकेति। योजनानि विस्तृतं यमालयं यमकिङ्करैः एष स्वल्पेन कालेन नीयत इत्यन्वयः।।६२६।। दृष्टान्तमाह- पाशबद्धइति। छागोऽजः। एवमसौ जन्तुः।।६२७।।

अत्रेति। अत्र यमालये।। ६२८।। दंष्ट्रिणामिति। स्पष्टम्।। ६२९।। चोराश्चेति। दुष्कृताद् भोग्याद्धेतोः।। ६३०।। पूयेति।। ६३१।। वह्नीति। इला पृथ्वी। एतेषां तथा वायोः, चकाराद् आकाशतमसोश्च विकारतः नरकरूपेण परिणामात्।। ६३२।। अनेकेति।। ६३३।। ननु ते नरका अपि वर्णनीयाः? अत आह– प्रसिद्धा इति। परजन्मनि मानुषजन्मतो भिन्नजन्मनि।। ६३४।।

दुष्कृतगतिमुपसंहरति–एवं स नारकमिति। कालतः कालानुसारतः। बीजताम् अन्नभावम्। एतं मानुषम्।।६३५।।

सुकृतिनो गतिमाह– सुकृतीति। सुकृतान्ते सुकृतभोगान्ते। पर्जन्यधारया पूर्वोक्तनीत्या।।६३६।।

यमदूत इसे जल्दी ही वहाँ पहुँचा देते हैं। (अर्थात् बहुत तेज दौड़ने का इसे कष्ट होता है)।।६२६।। राजकर्मचारियों द्वारा जैसे लावारिस बकरा रस्सी से बाँधकर व कोड़े आदि से पीटा जाता हुआ फाटक आदि में बंद करने के लिये बलपूर्वक ले जाया जाता है वैसे वह पापी जीव यमदूतों द्वारा ले जाया जाता है।।६२७।। मृत लोगों को यमपुर में यम की आज्ञा से अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं, उन सबको कहने-सुनने में कौन समर्थ है?।।६२८।। मार्ग में दाढों वाले सुअर आदि का तथा कौवा, गीध आदि पक्षियों का बहुत उपद्रव होता है।।६२९।। जाते हुए जीव को राक्षसतुल्य सैकड़ों चोर नानाविध शस्त्रों से मारते हैं, पर वह मरता नहीं क्योंकि उसे पाप का बहुत फल भोगना बाकी है।।६३०।। पीप, मल आदि की नदियाँ लाँघना, उन्ही में डूबना और कभी मकर आदि से भय–यह मार्ग की स्थिति है।।६३१।। आग, शस्त्र, पानी, पृथ्वी और वायु के विकारों से अनेक नरक यमालय में निर्मित हैं जहाँ पापी दुःख भोगते हैं।।६३२।। पापी पुरुष अनेक कल्पों तक असिपत्रवन आदि क्रूर नरकों में यातनायें पाते रहते हैं।।६३३।। हे बालाखिल्यो! नरक पुराणों में प्रसिद्ध हैं। मनुष्यादि जन्म के अनन्तर प्राप्य नारक जन्म में वे नरक लोगों को अत्यधिक दुःख देते हैं।।६३४।। इस प्रकार वह पापी कालानुसार नरक में होने वाले दुःख भोगकर अन्न का रूप ले पुनः मनुष्यलोक में आता है।।६३५।।

अब पुण्य करने वालों की गति बताते हैं–ऐसे ही पुण्यकर्मा व्यक्ति स्वर्ग में महान् सुख भोगकर पुण्य क्षीण होने पर बादल आदि परंपरा से इस लोक में आ पड़ता है।।६३६।। वैराग्यरोत्पादन में अनुपयोगी होने से पुण्यफल का वर्णन नहीं किया। बादलादि पाँच अग्नियों के प्रसंग में कह चुके हैं।

श्लोक ६०८ से जिस वाक्य का अर्थ बताने के लिये भूमिका रची, उस वाक्य पर विचार करते हैं–मनुष्य लोक

तृतीयं जन्म

अमुं लोकं हि संप्राप्य पूर्ववत् पुण्यपापतः। जायते विविधो जन्तुः पितृमात्रादितः सदा॥६३७॥

जातस्यास्य तृतीयं स्याज्जन्म पुत्रमपेक्ष्य हि। उक्तं जन्मद्वयं चैवं घटीयन्त्रमिवाव्रजेत्॥६३८॥

निरन्तरं संसरणम्

मृतो जातः शिशुस्तद्वद् युवा वृद्धः पुन र्मृतः। जन्तु र्भ्रमति संसारे यावदात्मावबोधनम्॥६३९॥

वारा यथा भास्करादे र्वर्तन्ते च्छेदवर्जिताः। एवं जन्मादयो भावा जन्तूनां छेदवर्जिताः॥६४०॥

यथा प्राप्य नवं वासः पूर्वं वासः परित्यजेत्। एवं जन्तुः परं भावं प्राप्य पूर्वं परित्यजेत्॥६४१॥

'स इतः' (ऐ.२.४) इत्यादि वाक्यं व्याचष्टे– अमुमिति। अमुं मानुषम्। पूर्ववद् अन्नभावेन। पुण्यपापानुसारेण पुनः पितृमातृद्वारा जायत इति॥६३७॥ जातस्येति। पुत्रमपेक्ष्य तद्रूपेण उक्तं जन्मद्वयमपेक्ष्य इदं पितुः जन्म तृतीयं वक्तव्यम्। किमिति पितृरूपेण तृतीयमुक्तम्– इति शंकामभिप्रायाविष्करणेन वारयति– उक्तमिति। उक्तं जन्मद्वयं, चकारात् तृतीयं जन्म च, एतत्त्रयं घटीयन्त्रमिव इति सूचनाय तथोक्तिः। एवं हि पुत्रस्य अपि तृतीयं जन्म बोधितमेवेति श्रुत्याशयः॥६३८॥

एतमाशयं स्फुटीकुरुते– मृत इत्यादिना। तत्त्वज्ञानं विना जन्मधारा न विच्छिद्यत इति भावः॥६३९॥ वारा इति। यथा रवीन्द्वारज्ञगुरुसितशनिवारधारा[1] न विच्छिद्यत तथाऽज्ञस्य जन्मादयोपि॥६४०॥

नैरन्तर्ये दृष्टान्तान्तरमाह– यथेति। भावं परिणामम्। जन्तुः अविवेकी॥६४१॥

पहुँचकर वह पुण्य-पापानुसार पहले की तरह पिता, माता आदि से पैदा होता है। सब विविध जंतुओं की भोगसमाप्ति पर कर्मसंग्रहार्थ मनुष्य योनि में इसी तरह उत्पत्ति होती है।६३७॥ 'पहले की तरह' अर्थात् पूर्व में जिस तरह मनुष्य लोक में पैदा हुआ था उसी तरह। अथवा अन्न, पिता आदि क्रम जो पहले बता चुके हैं उस क्रम से– यह अर्थ है। नवीन कर्म मानवदेह में ही अर्जित हो सकता है। अन्य सब भोगयोनियाँ हैं। अतः कर्म एकत्र करने के लिये सभी जंतुओं को मानव शरीर मिलता ही है।

यह तीसरा जन्म है यह कहते हैं– उत्पन्न हुए इस प्राणी का जन्म पुत्ररूप से पिता का तीसरा जन्म कहा जाना चाहिये। पूर्वोक्त दो और यह तीसरा, ये तीन जन्म रेहट की तरह लगातार चलते रहते हैं॥६३८॥ पिता के शरीर से निकलना प्रथम जन्म है। माता के गर्भ से निकलना दूसरा जन्म है। अपने पुत्र पर सारा भार छोड़कर मरणानन्तर पुनः होने वाला जन्म तीसरा है। यद्यपि यों तीसरा जन्म पिता का प्रतीत होता है तथापि पिता-पुत्र की एकात्मता होने से व पुत्र का भी ऐसे ही तीसरा जन्म होने से यह कथन संगत है। एवं च ऊर्ध्वरेता आदि का भी तीसरा जन्म उपपन्न हो जाता है। पुत्ररूप से उत्पत्ति को ही प्रथम मानें तो उनके तीन जन्मों की व्यवस्था कठिन होगी।

इसी आशय को और स्पष्ट करते हैं– मरता है, पैदा होता है, बच्चा होता है, इसी तरह जवान और वृद्ध होकर फिर मर जाता है। जब तक आत्मा के याथात्म्य का अप्रतिबद्ध निश्चय न हो जाये तब तक जंतु इसी तरह संसार में भ्रमण करता है॥६३९॥ रवि, सोम आदि वार जैसे बिना व्यवधान प्रवृत्त होते हैं इसी तरह जंतुओं के जन्मादि भावविकार बिना रुके चलते रहते हैं॥६४०॥ जैसे व्यक्ति स्नानादि के अनंतर ताजा कपड़ा पहनकर पुराना कपड़ा उतार देता है ऐसे ही जंतु उत्तरभावी परिणाम प्राप्त कर पूर्वभावी परिणाम का त्याग कर देता है॥६४१॥

---

१. आरो मङ्गलः, ज्ञो बुधः, सितः शुक्रः। सृष्ट्यारम्भो रविवासरे मध्याह्ने बभूवेति वारगणनं तत एवारभ्यत इति ज्ञेयम्।

तमो यथा प्रयात्येतत् तेजः सम्प्राप्य वै तथा। मृति र्जनिं हि सम्प्राप्य स्वयमस्तं प्रयाति हि॥६४२॥

तेजसस्तमसो वापि यद्वदेकं न सन्त्यजेत्। जगदेवं नरं मन्दं मृति र्वा जनिरेव वा॥६४३॥

'तदुक्तमृषिणे' त्यस्यार्थः

तस्मादेतत् समग्रं हि दुःखं देहादिकं नृणाम्। विनाऽऽनन्दात्मविज्ञानं दुःखकारणनाशनम्॥६४४॥

प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे भावा ऋते चितिशक्तेरिति सिद्धान्तात् परिणममानोपाधितादात्म्याभिमानवतां निरन्तरे जनिमृती इति सूचकं लक्षणार्थशतृप्रत्ययान्तं 'प्रयन्ति' ति पदं दृष्टान्तेन व्याकरोति–तम इति द्वाभ्याम्। यथा तमोऽन्धकारः तेजो दीपादिलक्षणं सम्प्राप्यास्तं व्यवहाराभावरूपं लयं प्रयाति, तथा मृतिः मरणावस्था जनिम् उत्तरदेहाभिमानात्मिकां प्राप्यैव समाप्ता भवतीति। यद्यपि देवयानपितृयानप्रतिपादकश्रुत्यादिभ्यो लोकान्तरे गत्वा जन्मलाभो निर्धारितः, तथापि 'सविज्ञानो भवति' (बृ.४.४.२) इत्यादिश्रुतेः मरणकाले भाविशरीराकारं विज्ञानं जायते तदेव शरीरान्तरग्रहणमित्यभिप्रायेण नैरन्तर्यव्यपदेशः॥६४२॥ ननु तयोरस्तु नैरन्तर्यं, चेतनस्य किम्? अत आह– तेजस इति। तेजसस्तमसश्चानयोः एकम् अन्यतरद्यथा जगद् मानुषादिलोकं न त्यजेद् एवं मन्दम् अज्ञं कार्यकारणाज्ञानशालिनं नरं पुरुषं वस्तुतः परिपूर्णमपि मृतिजन्मनोरन्यतरद् न जहातीत्यज्ञस्य[1] तत्प्रसंगो दुर्वार इत्यर्थः॥६४३॥

योऽयं नानाऽनर्थसंकुलः संसारो दर्शितः स पूर्वं प्रपंचिताद्वितीयाऽऽनन्दात्मप्रबोधे स्वप्नवद् विलीयते–इत्यभिनीय मन्त्रेण दर्शितमित्यर्थकं 'तदुक्तम्' (ऐ.२.५) इत्यादिवाक्यं व्याचष्टे–तस्मादिति। तस्माद् मन्दत्वस्य संसारव्याप्यत्वाद् एतत् समग्रं दुःखमानन्दात्मविज्ञानं विना एव तदुदयात्प्रागेव प्रतिभातीति शेषः। कीदृशं दुःखम्? देहादिकं देहाः कारणादिशरीराणि तत्प्रभृति; आदिपदेन तदवस्था जाग्रदादयो गर्भप्रवेशाद्या जन्मत्रयलक्षणाश्च ग्राह्याः। कीदृशमात्मज्ञानम्? दुःखानां कारणस्य प्रयोजकस्याज्ञानस्य विरोधीति॥६४४॥

महर्षियों ने बताया है कि चिदात्मा से भिन्न सभी वस्तुयें निरन्तर बदलती रहती हैं। हममें तो परिवर्तन संभव नहीं पर हमारी देहादि उपाधियाँ बदलती ही चली जाती हैं। उनमें तादात्म्याभिमान होने से ही हमारा परिवर्तन, हमारा जन्म-मरण होता है। परिवर्तन के इस नैरंतर्य को दो श्लोकों से दिखाते हैं–दीपक आदि प्रकाश पाकर जैसे अँधेरा चला जाता है वैसे भाविदेहाभिमानरूप जन्म पाकर मरणावस्था समाप्त हो जाती है। जैसे जगत् में तेज या तम में से एक अवश्य रहता है ऐसे ही वस्तुतः अनंत होने पर भी अज्ञानी जीव को मरण व जन्म छोड़ते नहीं॥६४२-६४३॥ नवीन शरीर में तादात्म्याभिमान से अतिरिक्त जन्म का लक्षण संभव नहीं। ऐसे ही तादृश अभिमान की ऐसी निवृत्ति कि उस देह में वह पुनः न हो अर्थात् तादात्म्याभिमान के प्रागभाव के असमानाधिकरण तादात्म्याभिमानध्वंस को ही मृत्यु जानना चाहिये। यद्यपि उत्तरायणादि मार्ग में जाने वालों को लोकांतर में जाकर जन्म की प्राप्ति शास्त्रों में कही है तथापि बृहदारण्यक में बताया है कि मरते समय भाविशरीर के आकार का विज्ञान उत्पन्न हो जाता है। उसी को यहाँ शरीरांतर की प्राप्ति मानकर कह दिया है कि जन्म व मरण एक के बाद एक होते चलते हैं। अज्ञानी के जन्म-मरण ध्रुव हैं। ज्ञानी का न जन्म है न मृत्यु।

इसलिये दुःख के कारणभूत अज्ञान के नाशक आनंदरूप आत्मा के विज्ञान के न होने से ही लोगों को यह देहादि समग्र दुःख प्रतीत होता है॥६४४॥

आगे उपनिषद् कहती है कि संसार की दुःखमयता और ज्ञान से उसका निवारण ऋषि ने भी मंत्र द्वारा बताया है। मंत्र में कहा है कि वामदेव नामक मैंने माता के गर्भ में रहते हुए ही इन देवताओं के सब जन्मों को यथाक्रम जान लिया था। औपनिषद ज्ञान से पूर्व लोहमय सैकड़ों शरीरों ने मुझे मोक्ष से नीचे ही रोके रखा था। ज्ञान से उन सबको तोड़कर

---

१. जन्ममरणयोरेकसत्त्वेऽपरसत्त्वध्रौव्याज्ज्ञानिनो नैकस्य निवृत्तिरित्युभयोरेव निवृत्ति र्जायते। अतो वैयासिकं वचः 'अजातं नैव गृह्णाती'ति।

एवं तेषां प्रवृत्तेऽस्मिन् विचारे ह्यधिकारिणाम्। विरक्तावपि जातायां स्वात्मन्यप्यविचारिते॥६४५॥
उपदेशे स्मृतिपथमानीते मुनिजे सति। तेषामन्यतमः कश्चिद्वामदेवो ममार ह॥६४६॥
स ह्यसाक्षात्कृतात्मत्वाद् गर्भे मातुः प्रविष्टवान्। गर्भे स शयनं प्राप्तः पूर्वसंस्कारसंस्कृतः॥६४७॥
नवमे मासि सम्पन्ने बोधे जातीः स्मरत्ययम्। जन्तुः सर्वोऽपि तस्मिन् हि काल एष प्रबुद्धवान्॥६४८॥
प्रबुद्ध्य च मुनीन् सर्वान् स्वसखीनधिकारिणः। इदन्तत्र स्थितो वाक्यमुक्तवानात्मवित्तमः॥६४९॥

अथ 'गर्भे नु' (ऐ.२.५) इत्यादिमन्त्रं श्रौतार्थतात्पर्यार्थौ प्रदर्शयन् व्याकरोति— एवं तेषामित्यादिना एवमादिवच (श्लो.६८४) इत्यतः पूर्वग्रन्थेन। एवं पुंगर्भप्रवेशग्रन्थमारभ्यप्रदर्शितप्रकारेण तेषां सनकादिशिष्याणाम् अधिकारिणां दोषविचारे प्रवृत्ते सति तत्फलभूतायां विरक्तौ च जातयां सत्यां स्वात्मनि विरक्तिफलभूतविचारगोचरीकर्तुमिष्टेऽपि अविचारिते सति परन्तु विचारारंभाय सनकादिमुनिज उपदेशे स्मृतिपथमानीते च सति तेषामधिकारिणाम् अन्यतमो वामदेवो ममार ह—इति द्वयोरन्वयः॥६४५॥

उपदेशइति। व्याख्यातम्॥६४६॥

स हीति। स वामदेवः श्रवणे जातेऽपि जन्मान्तरारम्भककर्मरूपभाविप्रतिबन्धेन मननादिविरोधिना न साक्षात्कृत आत्मा येन स तथा, तस्य भावस्तस्माद् मातु गर्भे पुंगर्भभावद्वारा प्रविष्टवान्। प्रविष्टश्च गर्भे नवमासान् शयनम् अवस्थितिं प्राप्तः। तथाभावे हेतुं दर्शयति— पूर्वेति। तत्त्वसाक्षात्कारे हि ज्ञानकर्मसंस्कारा दग्धबीजभावतां यान्ति स चास्य प्रतिबन्धान्न जात इति भावः॥६४७॥ नवमे मासीति। बोधे सम्पन्ने नियतिवशादुत्पन्ने सति अयं सर्वोऽपि जन्तुः पूर्वा जातीः जन्मानि स्मरति इति गर्भोपनिषदादौ प्रसिद्धम्। वामदेवे विशेषमाह—तस्मिन्निति। एष वामदेवः प्रबुद्धवान् पूर्वजातिस्मृतिकाले प्रतिबन्धकदुरितशान्तौ सनकाद्युक्तस्मृत्या मननिदिध्यासनसंपत्त्याऽऽनन्दात्मानं साक्षात्कृत-वानित्यर्थः॥६४८॥ प्रबुद्ध्य चेति। प्रबुद्ध्य आनन्दात्मानं साक्षात्कृत्य तत्र गर्भ एव स्थितः सन् इदं वक्ष्यमाणं वाक्यं स्वसखीन् यैः सह श्रवणं संसारदुःखालोचनं च कृतवांस्तानेव मुनीन् अधिकारिणः प्रति उक्तवान्, यत आत्मवित्तमः अतिशयेन आत्मविदिति॥६४९॥

मैं वैसे ही मुक्त हो गया जैसे बाज-पक्षी जोर से उड़कर जाल तोड़ता व मुक्त हो जाता है। इस मन्त्र का अक्षरार्थ और तात्पर्यार्थ बताने के लिये श्लोक ६८४ तक का ग्रन्थ है। इसी का अवतरण कराते हैं—इस प्रकार उन अधिकारियों के इस विचार के प्रवृत्त होने पर तथा फलतः वैराग्य हो जाने पर भी स्वात्मा का विचार न हो पाया अतः उसके लिये उन्होंने सनकादि मुनियों द्वारा दिया उपदेश याद किया। इतना होने पर उनमें से एक वामदेव नामक साधक मर गया॥६४५-६४६॥ क्योंकि उसने आत्मा का परमात्मरूप से साक्षात्कार नहीं कर लिया था इसलिये उसने माता के गर्भ में प्रवेश किया। नौ महीने तक वह वहाँ पड़ा रहा। प्रतिबंधकवशात्, श्रवण हो चुकने पर भी उसे वह ज्ञान नहीं हो पाया था जिससे पूर्वार्जित कर्म समाप्त हो जाते हैं। अतः अज्ञ हुआ ही वहाँ रहा॥६४७॥ गर्भ में नौ महीने रह जाने पर सभी लोग अपने पूर्व जन्म याद करते हैं। उस समय वामदेव ने अपने पूर्व जन्म में किये श्रवण को याद किया और प्रतिबंधक समाप्त हो जाने से उसे तभी साक्षात्कार उत्पन्न हो गया॥६४८॥ गर्भवास तक के दुःख का कर्म ही उसके ज्ञान का प्रतिबंधक था। उस कर्म को भोग लेने पर ज्ञान हो गया। मनन-निदिध्यासन भी वह गर्भ में कर ही पाया क्योंकि बाह्य विक्षेप थे नहीं और श्रवण का स्मरण हो ही गया था जिससे उसे याद आया कि इस बार चूकना पुनः संसार में जकड़ देगा। अतः उसे साक्षात्कार हो गया। अथवा मनन तो वह पूर्व जन्म में कर ही चुका था और निदिध्यासन विज्ञानरूप से ज्ञान के बाद रह गया अतः श्रवण के स्मरण से ही उसे साक्षात्कार हो गया। श्रुतितात्पर्यनिश्चय ही श्रवण है। उसकी स्मृति भी वैसी ही होगी। जैसे कण्ठीकृत श्लोकादि का स्मरण पूर्वकालिकत्वादि से अनुविद्ध नहीं होता ऐसे श्रवण का स्मरण भी 'अद्वैत श्रुतितात्पर्य है' बस इतना

वामदेववचांसि

अहं हि भवतां पूर्वजन्मन्यल्पतमः स्थितः। इदानीमहमेवात्र नान्यं पश्यामि कंचन॥६५०॥

मया सर्वा दिशः पूर्णाः[१] प्रदिशश्च नभस्तथा। मनुः पूर्वमहं तद्वत् सूर्योऽप्यासं महेश्वरः॥

लोकापालास्तथा सर्वे मद्रूपा प्रभवोऽपि हि॥६५१॥

स्वेदजानि तथा यानि ह्युद्भिज्जान्यण्डजानि च। जरायुजानि भूतानि मत्तो नान्यानि कानिचित्॥६५२॥

ब्रह्माद्याः स्थावरान्ता ये जन्तवोऽनेककर्मिणः। ते सर्वे मम देहाः स्युरानन्दात्मस्वरूपिणः॥६५३॥

अहमिति। भवतां युष्माकमन्यतमोऽहम् इतः पूर्वजन्मनि परिच्छिन्नदेहात्माभिमानेन अल्पतमः अत्यन्तपरिच्छिन्नः स्थितोऽभूवमिति शेषः। इदानीं विद्यावस्थायामेकोऽद्वितीयः अहमेव अस्मि इति एवकारव्यावर्त्यमाह– नान्यमिति। अन्यं पृथग्भूतम्। तथा च श्रुतिः 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूद्' (बृ.४.१५.५) इत्यादि॥६५०॥ स्वस्य सर्वात्मतां दर्शयति– मयेत्यादिना। प्रदिशः अग्न्यादिकोणाः। मनुः स्वायम्भुवादिः अहम् एव आसम् इति, तथाऽऽदित्यः, कीदृशः? महेश्वरः, बुद्धिप्रेरकत्वादिति।

लोकपाला इति। प्रभवः शक्तिसम्पन्नाः। सर्वे लोकपाला इन्द्राद्या अहमेव॥६५१॥

न केवलमुत्कृष्टा एव मदात्मानः, किन्तु 'ब्रह्म दाशा ब्रह्मेमे कितवाः' (पैप्पलाद.८.९.१०) इत्यादिश्रुतिभ्योऽपकृष्टा अपीत्याह– स्वेदजानीति द्वाभ्याम्। स्पष्टम्॥६५२॥ ब्रह्माद्या इति। ब्रह्मपदेन आदिजीवस्य हिरण्यगर्भस्य ग्रहः। अनेकेति, नानाविधकर्मशालिनः। कर्मधारयान्न मत्वर्थीयः इति नियमस्तु प्रायिकः, 'असुब्वतः' इति भाष्योक्तेः। तन्नियमाभ्युपगमे तु– अविद्यमानमज्ञानेनावृतमेकं तत्त्वं येषान्तेऽनेकास्ते च ते कर्मिणश्चेति विग्रहः। ते जन्तवो मम आनन्दात्मस्वरूपिण आनन्दाभिन्नात्मना स्वरूपिणः, प्रकृत्यादित्वात् तृतीयान्तं पूर्वपदम्। देहाः रूपाणीति॥६५३॥

ही होता है। अतः एव यह प्रमाण ही है जिससे प्रमा उत्पन्न होना सुसंगत है। प्रमा व प्रमाण का अव्यवधान होना आवश्यक है। शब्दरूप शास्त्र तो गौण प्रमाण है, मुख्य तो शाब्दवृत्ति प्रमाण है। अतः स्वानुभवादर्श में (श्लो.२०) कहा है 'धीवृत्त्यवच्छिन्नचितिः प्रमाणं तत्साधनत्वादितरत्प्रमाणम्'। वह मुख्य प्रमाण स्मृतिरूप भी होना संभव ही हैं। इसलिये श्रवण से साक्षात्कार मानना ही युक्तिसंगत है। यदि निदिध्यासन को आपरोक्ष्य का हेतु मानें तो वामदेवादि स्थल में अश्रुत निदिध्यासन की कल्पना करनी पड़ेगी जो गत्यंतर रहते अनुचित है।

आनन्दस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार कर गर्भ में रहते हुए ही उस ब्रह्मविद्वरिष्ठ ने अपने मित्र अधिकारी मुनियों से यह कहा–॥६४९॥ 'पूर्व जन्म में मैं आप में से एक था तथा स्वयं को अत्यंत परिच्छिन्न समझता था। अब मैं ही यहाँ हूँ जिससे निश्चय है कि मुझसे अतिरिक्त और कुछ नहीं है॥६५०॥ सारी दिशायें, विदिशायें और आकाश मुझसे भरा-पूरा है। मैं पहले मनु था और ऐसे ही सब बुद्धियों का प्रेरक सूर्य भी मैं ही हूँ। शक्तिसम्पन्न सब लोकपाल मेरे ही रूप हैं'॥६५१॥

पैप्पलादशाखा की श्रुति में दास आदि निम्न उपाधिवाला चेतन भी परमात्मा कहा गया है। अतः वामदेव कहते हैं कि मनु, सूर्यादि उत्कृष्ट रूप ही मेरे नहीं, अपकृष्ट रूप भी मेरे ही हैं–'स्वेदज, उद्भिज्ज, अण्डज व जरायुज सभी जंतु मुझसे पृथक् नहीं हैं॥६५२॥ अनेक कर्म करने वाले ब्रह्मा से पौधों पर्यन्त जो जंतु हैं वे सब आनन्दात्मरूप मेरे ही शरीर हैं॥६५३॥

ऐसा होने पर भी मेरा कोई जन्मादि विकार नहीं यह कहते हैं–'इन्द्रियों समेत यह देह ही उत्पन्न होता है, रहता

---

१. रज्ज्वा पन्नग इवेति शेषः।

जायतेऽस्ति विवृद्धश्च परिणाम्यथ नाशवान्। विनष्टश्चाऽपि देहोऽयं सेन्द्रियो नाहमत्र हि॥६५४॥
अहं जानामि देवानां वागादीनामनेकशः। जन्मानि न ममैकं[1] च सुखं दुःखं च यच्छति॥६५५॥
इदानीमात्मविज्ञानसम्पन्नं सर्वसाक्षिणम्। न स्पृशन्तीह वागाद्याः सशरीरा इमे सुराः॥६५६॥
कारागृहसमाः पूर्वमयसा क्लेशकारिणा। निर्मिता बहवः पुर्यो मम बन्धनहेतवः॥६५७॥
यथा श्येनं महाकायं दुर्ग्रहं पाशकैरपि। एवं मां दुर्ग्रहं सर्वास्ता अरक्षन् समन्ततः॥६५८॥
अहमज्ञानपाशांस्तान् कामक्रोधादिकीलकान्। सपुरान् ब्रह्मविज्ञानतुण्डेनैनान् व्यनाशयम्॥६५९॥

तथात्वे षड्भावविकारप्रसक्तिं निषेधति—जायत इति। नाशवान् अपक्षयवान् इति। भावविकारवान् सेन्द्रियो देह एव नाहं; कुतः? इत्यत आह— अत्र हीति। यतः अत्र साक्षादपरोक्षे मयि ते कल्पिताः; न हि कल्पितधर्मा अधिष्ठानं स्पृशन्तीति भावः॥६५४॥ अहमिति। वागादीनां देवानामनेकशो विश्वानि सर्वाणि जन्मानि जानामि। तेषां मध्य एकम् अपि मम तेभ्यः पृथग्भूतस्य सुखं दुःखं च न यच्छति ददाति करोतीति यावत्॥६५५॥

तत्राध्यासाभावं हेतुतयाऽऽह— इदानीमिति। इदानीं वागाद्याः सुरा अध्यात्माधिदैवभेदभिन्ना मां सर्वसाक्षिणं पूर्ववद् न स्पृशन्ति। तत्र हेतुगर्भं विशेषणम्— आत्मेति। तथा च कथं तदीया जन्मादयो विकृतं कुर्युरिति भावः॥६५६॥

'शतं म' (ऐ.२.५) इत्याद्यंशं व्याकरोति—कारागृहेति। कारागृहसमा बहवः पुर्यः चतुरशीतिलक्षशरीराणि आसन्निति शेषः। कीदृश्यः? क्लेशकारिणाऽयसा लोहवद् दुर्भेद्येन कृष्णेन चाज्ञानेन निर्मिता मद्बन्धनप्रयोजनकाः॥६५७॥

अज्ञानलोहमयपुरीणां बन्धकत्वं स्फुटयन् 'अधः श्येन' इत्याद्यंशं व्याकरोति— यथेत्यादित्रिभिः। यथा लोके महाकायं श्येनं क्रौंचादिघातकत्वेन प्रसिद्धं बलिष्ठत्वेन, पाशकैः कुत्सितैः पाशै र्दुःखेन ग्रहीतुं शक्यम्, आयसैः पुरैः पञ्जररूपै रुन्धन्ति तथाऽज्ञानलोहमय्यस्ताः सर्वाः पुरो माम् अद्वितीयत्वे सति सर्वान्तरत्वेन दुर्ग्रहम् अरक्षन् परिच्छेदा-भिमानरूपपाशै र्निरोधं नीतवत्य इत्यर्थः॥६५८॥

अहमिति। अहं तान् एतान् अज्ञानपाशान् विपर्ययरूपपाशान् सपुरान् पूर्भिः सहितान् ब्रह्मविज्ञानरूपेण तुण्डेन चञ्चुना व्यनाशयम्—खण्डितवानस्मि। कीदृशानज्ञानपाशान्? कामक्रोधादिरूपाणि कीलकानि दृढत्वहेतुशङ्कवो येषान्ते तथा तानिति॥६५९॥

है, बढ़ता है, बदलता है और नाशवान् है। यही नष्ट होता है, मैं नहीं, क्योंकि मुझमें ये विकार केवल कल्पित हैं॥६५४॥ वाणी आदि देवों के सभी जन्मों को मैं जानता हूँ। उनमें से एक भी जन्म मुझे सुख या दुःख नहीं देता॥६५५॥ वाणी आदि की हर उत्पत्ति आत्मा से प्रकाशित होने पर भी उसके लिये विक्षेपकर नहीं। अतः देवादि शरीर एक ही आत्मा के होते हुए वह उनसे अस्पृष्ट ही है।

इसमें कारण है अध्यास न होना। यह बताते हैं–'शरीर सहित वाणी आदि ये अध्यात्म व अधिदैव देवता आत्मज्ञानयुक्त सर्वसाक्षी मुझे अब स्पर्श नहीं करते॥६५६॥

'लोहमय सैकड़ों शरीरों ने' इत्यादि जो मंत्रभाग था उसे बताते हैं–पहले इन्होंने क्लेशकारी लोहे से कारागृह की तरह बंधन की हेतुभूत बहुत सी पुरियाँ मेरे लिये बनायी थीं॥६५७॥ जैसे कमजोर रस्सियों से पकड़ा न रखा जा सकने वाला दीर्घकाय बाज पक्षी लोहे की जंजीरों से बाँध कर रखा जा सकता है ऐसे कठिनाई से पकड़ा रखे जा सकने वाले मुझे उन सब पुरियों ने हर ओर से पकड़े रखा था'॥६५८॥ अद्वितीय व सर्वांतर होने से आत्मा का बंधन मुश्किल है। 'मैं परिच्छिन्न हूँ' इस अभिमानरूप पाश से ही चौरासी लाख पुरियाँ मुझ आत्मा को बाँध सकती हैं।

---

१. एकमपि जन्म तद्वत्त्वेन प्रतीयमानमप्यतद्वन्तं न मां बाधत इत्यर्थः। यद्वा सामान्ये क्लीबत्वमुपेत्य देवेष्वेवैक एकमित्युच्यते।

यथा गृहे निरुद्धः सन् श्येनो वज्रसमाननः। अधो भित्त्वा विनिर्गच्छेत् तद्वदेता अहं पुरः॥६६०॥

वामदेवस्य तात्पर्यम्

भवतामात्मविज्ञानकारणं कथितं पुरा। विरक्ति र्देहपुत्रादौ यदेतद्धि विनिश्चितम्॥६६१॥

मम यस्मादिदं ज्ञानं सनकादेः प्रसादतः। जातं विचारे युष्माकं समाने मरणे सति॥६६२॥

नाहं बिभेमि संसारान्न कालान्नापि मृत्युतः। सर्वमेतन्मयि यतः स्थितं स्रजि यथा फणी॥६६३॥

यथा गृह इति। यथा गृहे निरुद्धः श्येनो दुर्भेदभेदकत्वेन वज्रसमं हीरकसममाननं मुखं यस्य स तथा। अधः पञ्जराधोदेशं भित्त्वा विनिर्गच्छेत् तथा अहम् एताः पुरोऽधो भित्त्वा जवसा वेगेन निर्गतोऽस्मीति। अत्र सर्वशरीर-रूपपुराणामधोदेशः सत्सामान्यम्, इदं रजतमिति भ्रमेऽपि भासमानेदंपदार्थवद् आधारसंज्ञकम्, तस्य भेदनं नाम प्रमावृत्त्याऽऽवरणांशविमोकः। एतदभिप्रायेणोक्तं वार्तिककारैः–

'अपामार्गलतेवासौ विषमो हि भवभ्रमः। प्रत्यग्दृशां विमोक्षाय निबन्धाय बहि र्दृशाम्॥' (१.४.२७) इति॥६६०॥

एवं मन्त्रस्य श्रौतार्थं प्रपंच्य तात्पर्यार्थं प्रपंचयति–भवतामित्यादिना। यद् देहपुत्रादौ विरक्तिरूपं भवतामात्मविज्ञान-कारणम् उक्तं सनकाद्यैरिति शेषः। एतद् विरक्तेः कारणत्वं विनिश्चितं मया फलदर्शनेन निर्धारितम्॥६६१॥

फलजनकतामेवाह– ममेति। यस्मान्ममेदं वक्ष्यमाणस्वरूपं ज्ञानं जातम्। तत्र मुख्यः प्रयोजकस्तु गुरोरनुग्रह इत्याह– सनकादेः प्रसादत इति। प्रतिबन्धापगमस्तु द्वारमित्याह– मरणे सतीति। मरणकालमुपलक्षयति– विचार इति। विचारो-पलक्षितकाल इत्यर्थः। कीदृशे विचारे? युष्माकं समाने युष्माभिः सहानुष्ठित इति यावत्। भवतां प्रतिबंधवशादनुत्पत्तावपि न कारणत्वापकर्ष इति भावः॥६६२॥

ज्ञानस्वरूपं प्रपंचयति– नाहमित्यादिना। द्वितीयाद्धि भयं, द्वितीयत्वं तु स्रजि कल्पितफणिनः स्रज इव मत्तः सर्वस्य न संभवति, अतोऽद्वितीयोऽस्मीति भावः॥६६३॥

पाशों व पुरियों का नाश बताते हैं–'काम क्रोध आदि खूटियों से बँधे उन अज्ञानपाशों को तथा उन पुरियों को मैंनें ब्रह्मानुभव की चोंच से नष्ट कर दिया है॥६५९॥ जैसे हीरे की तरह कठोर मुँह वाला बाज यदि पींजरे में बंद हो तो उसकें तले को तोड़कर उससे बाहर निकल जाता है, ऐसे मैंने पुरियों का नीचे से भेदन किया और उनसे निकल गया'॥६६०॥ प्रत्यक् की ओर बढ़ना ही पुरियों के बंधन के शैथिल्य और अंततः समापन का उपाय है। 'नीचे से' अर्थात् अधिष्ठानभूत सत्सामान्य के ज्ञान से। संसार के अधिष्ठान के ज्ञान से ही मोक्ष हो सकता है। इस दृष्टि से संसार हमारा बहुत बड़ा उपकारक है। अतः वार्तिक में भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा है कि संसाररूप भ्रम अपामार्ग-लता की तरह विषम है। अपामार्ग को सीधा कर शरीरादि से चिपका दो तो आगे बढ़ता जाता है, उल्टा कर दो तो छूट कर गिर जाता है। ऐसे ही जो अनात्मा की ही ओर दृष्टि वाले हैं उनके लिये संसार बंधन का ही कारण बनता है और जो प्रत्यगात्मा की ही ओर दृष्टि वाले हैं उनके मोक्ष का कारण बन जाता है।

वामदेववचन का तात्पर्य स्पष्ट करते हैं–'देह पुत्र आदि से वैराग्य आत्मानुभव का कारण है, ऐसा जो आप लोगों को सनकादि ने कहा था उसका मैंने फलदर्शन से निर्धारण कर लिया है (अर्थात् अनुभव कर लिया है कि वैराग्य होने पर ही आत्मनिश्चय होता है) क्योंकि आप लोगों की तरह विचार करते हुए मरने के अनंतर वैराग्य के कारण मुझे सनकादि की कृपा से आत्मज्ञान हुआ है॥६६१-६६२॥ ज्ञान में मुख्य प्रयोजक गुरु की कृपा है व प्रतिबंधक हटना द्वारकारण है। आप लोगों का प्रतिबंध अभी है अतः ज्ञान नहीं हुआ, गुरुकृपारूप कारण तो आपके पास है, यों प्रोत्साहन में तात्पर्य है।

अपने निश्चय का प्रदर्शन करते हैं–'संसरण, काल व स्वयं मृत्यु से भी मैं अब डरता नहीं क्योंकि ये सब मुझमें वैसे ही स्थित हैं जैसे माला में साँप॥६६३॥ मृत्यु के आत्मस्वरूप मेरा मृत्यु करेगी क्या? वह किसी भी तरह स्वयं अपने को

किं करिष्यति मे मृत्युः मृत्योरात्मस्वरूपिणः। न ह्यसावात्मनाऽऽत्मानं हन्तुमीष्टे कथंचन॥६६४॥
अपि मृत्युस्तथा जन्म बाल्यं यौवनमेव वा। जरा वाऽपि न मे किंचिद् देहे यस्माद्धि दृश्यते॥६६५॥
अन्यस्य सुखदुःखाभ्यां नान्यो भवति तादृशः। अन्योऽहं देहतस्तस्मात् कस्मादेतद्भवेन्मम॥६६६॥

ज्ञानिनो न दोषाष्टकम्

दोषाष्टकमिदं नित्यं न स्पृशेद्धि कथंचन। आत्मानं मनआदिभ्यो मामन्यं सुखरूपकम्॥६६७॥
मोक्षः स्वर्गस्तथा चान्यत् सुखजातमिह स्थितम्। मन इच्छति नाहं तदिच्छाम्यानन्दरूपभृत्॥६६८॥

अमृतोऽस्मीत्युपपादयति– किं करिष्यतीति। मृत्यु में ममाधेयतया सम्बन्धि, मन्निष्ठमिति यावत्, किं स्वव्यापारजन्यफलं करिष्यति? न किमपीति। कीदृशस्य मे –मृत्योरात्मस्वरूपिण आत्मभूतस्य। आत्मभूतस्य कर्मत्वे कर्मकर्तृत्वविरोधं दर्शयति–न हीति। असौ मृत्युः। ईष्टे शक्तो भवति। 'तस्य ह देवा नाऽभूत्या ईशत आत्मा हि तेषां भवति' (बृ.१.४.१०) इति श्रुतेरिति॥६६४॥

किं च मृत्युः जन्मादिव्याप्यः, जन्मादिकं च देहत्वव्याप्यं; मयि तु 'अकायमव्रणम्' (ई.८) इत्यादिश्रुतिभ्यो देहविविक्ते देहत्वलक्षणव्यापकनिवृत्तौ तद्व्याप्यनिवृत्ति र्न्यायसिद्धा इति वदन् विजरोस्मीत्यपि दर्शयति– अपि मृत्युरिति। मृत्युप्रभृति न मे किंचिद् यस्मादेतत्सर्वं देहे दृश्यत इत्यन्वयः॥६६५॥

विशोकोऽस्मीति प्रपंचयति– अन्यस्येति। तादृशः सुखदुःखोपलक्षितशोकमोहवान्। एतत् सुखादिकम्॥६६६॥

ननु दोषाष्टके सति कथं विशोकता? इत्याशंक्य; तस्य साक्षिभास्यमनःप्रभृतिधर्मत्वाद् न तद्भासके साक्षिणि प्रसंगः, न हि पंकमालिन्यं रविं स्पृशतीत्याह– दोषाष्टकमिति। इदम् इच्छाद्वेषभयमोहक्षुत्तृण्निद्राविण्मूत्रबाधा चेत्युक्तं (श्लो. ५०३) दोषाष्टकं मां सुखरूपकमात्मानं कथंचन न स्पृशेत्। तत्र हेतुगर्भमात्मविशेषणम्– मनआदिभ्योऽन्यमिति। तत्र इच्छाद्वेषभयमोहा मनोधर्माः, क्षुत्तृषौ प्राणस्य, निद्रा इन्द्रियाणां[१], विण्मूत्रबाधा शरीरस्य इति मनआदिभिन्नं कथं दोषाष्टकं स्पृशेदिति भावः॥६६७॥

एतदेव नवभिः प्रपंचयन्निच्छायास्तावन्मनोधर्मतामाह– मोक्ष इति। मोक्षः स्वर्गस्तथा इह स्थितं वैषयिकं सुखमेतत्त्रयं यथाक्रमं सात्त्विकं राजसं तामसं च मन एव इच्छति, अहं तु निस्त्रैगुण्यो न तदिच्छामि। 'आप्तकाममात्मकाममकामम्' (बृ४.३.२१) इत्यादिश्रुतयोऽपि इच्छां निषेधन्तीत्याशयेन आत्मविशेषणमाह– आनन्दरूपभृदिति॥६६८॥

नहीं मार सकती'॥६६४॥ श्रुति ने कहा ही है कि आत्मवेत्ता क्योंकि देवताओं का भी आत्मा है इसलिये देवता भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकते।

जैसे धूम वहीं होगा जहाँ आग हो वैसे मृत्यु उसी की होगी जो पैदा हुआ है। पैदा होना इत्यादि शरीर का ही होता है। श्रुति ने आत्मा को शरीर से रहित बताया है। फलतः मेरा जन्म ही नहीं तो मृत्यु कैसे हो सकती है? यह दिखाते हुए अपनी अजरता भी बताते हैं–'मृत्यु, जन्म, बाल्यावस्था, जवानी और बुढ़ापा ये मेरे कुछ भी नहीं हैं क्योंकि ये सब शरीर में ही दीखते हैं॥६६५॥ अन्य के सुख-दुःख से कोई अन्य सुखी-दुःखी होता नहीं। शरीर से मैं अन्य हूँ अतः ये मृत्यु आदि मेरे कैसे होंगे?'॥६६६॥

प्रश्न होता है कि पूर्वोक्त आठ दोषों के रहते अपनी सुख-दुःख रहितता कैसे कह सकते हैं? उत्तर है कि वे दोष उस मन के धर्म हैं जो मुझ साक्षी से प्रकाशित होता है। कीचड़ में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से कहीं सूर्य से कीचड़ की गंदगी का स्पर्श होता है? ऐसे ही वे दोष मुझे छू नहीं सकते। यह बताते हैं- 'मन आदि से भिन्न, आनंदरूप मुझ आत्मा को

१. कानि स्वपन्तीत्यस्य एतत्सर्वं मनस्येकीभवतीति तुरीयप्रश्ने निद्रेन्द्रियाणामिति निरणायि।

अज्ञानं नरकं वापि दुःखं चान्यत्ससाधनम्। मन एव हि तद् द्वेष्टि नाहं द्वेष्मि कथंचन॥६६९॥

अनाप्तकामो भिन्नो यः स द्वेष्टि न पुनः परः। अहं सर्वस्वरूपः सन् कस्माद् द्वेष्मीह किंचन॥६७०॥

भयमोहौ च मनसो न मे स्यातां कथंचन। अद्वितीयस्य सर्वात्मबोधैकवपुरात्मनः॥६७१॥

यो द्वितीयं विजानाति प्रतिकूलकरं तथा। स एव हि जनो लोके विमुह्यति बिभेति च॥६७२॥

नाऽहं द्वितीयं जानामि शत्रुं मित्रं तथा परम्। तस्य मे केन वा स्यातां भयमोहावकारणौ॥६७३॥

द्वेषस्यापि त्रिविधविषयस्य त्रिगुणमनोधर्मतामाह– अज्ञानमिति। अन्यद् ऐहलौकिकं प्रतिकूलवेदनीयं, सज्जना अपि तामसस्य [१]तथेति न पूर्वविरोधः॥६६९॥

आनन्दरूपताऽपि द्वेषाभावहेतुरित्याह– अनाप्तकाम इति। भिन्नो भेददर्शी। परः अभेददर्शी॥६७०॥

भयमोहयो र्मनोधर्मत्वमात्मधर्मत्वासंभवहेतुप्रदर्शनेन स्फुटयति– भयेति। मनसो धर्माविति शेषः। न मे धर्मौ। तथा चाहं न तयो र्धर्मीत्यर्थादागतम्। तत्र च हेतुभूते आत्मविशेषणे इति न हेतुसाध्ययो वैंय्यधिकरण्यम्। भयाभावेऽद्वितीयत्वं हेतुः, मोहाभावे च चिन्मात्रत्वम्। सर्वात्मा चासौ बोधः सर्वात्मबोधः, एकं च तद्वपुः स्वरूपं, तदेकवपुः; सर्वात्मबोध एकवपु र्यस्य स तथा; स चासावात्मा च तस्येति विग्रहः। अत्र महावाक्यार्थसूचनान्निरावरणत्वं बोधितं तच्च मोहप्रयोजकतमोविरोधीति॥६७१॥

किं च विषादात्मकमोहस्य भयस्य च भिन्नत्वेन ज्ञाने प्रतिकूलकारणत्वज्ञानं हेतुः, तच्च मयि नास्तीत्याह– यो द्वितीय इति द्वाभ्याम्। यः कश्चिद् द्वितीयं जानाति तथा तमेव द्वितीयं प्रतिकूलकरं जानातीति योजना। स एव इत्यादि स्पष्टम्॥६७२॥ नाऽहमिति। अहं तु द्वितीयम् एव न जानामि, तस्य प्रतिकूलत्वादिज्ञानाभावो व्यापकभेदज्ञानाभावादेव सिद्ध इत्याशयेनाह– शत्रुमित्यादि। परम् उदासीनम्। अकारणौ –उक्तकारणहीनौ॥६७३॥

ये इच्छा आदि आठ दोष कभी किसी तरह छू नहीं सकते॥६६७॥ मोक्ष, स्वर्ग व इस लोक में विद्यमान जो अन्य सुखसूह हैं उन सबको सात्त्विकादि भावों वाला मन चाहता है। आनंदरूप मैं इन्हे नहीं चाहता॥६६८॥ अज्ञान, नरक व दुःख और उसके साधन, इनसे मन ही द्वेष करता है। मैं किसी तरह द्वेष नहीं करता॥६६९॥ जिस भेददर्शी की सब कामनायें निवृत्त नहीं हो चुकी, वह द्वेष करता है। उससे विलक्षण अभेददर्शी द्वेष नहीं करता। सर्वस्वरूप हुआ मैं अपने में कल्पित किसीसे क्योंकर द्वेष करूँ?'॥६७०॥ रागमूलक होने पर भी द्वेष का अवलम्ब है भेदबुद्धि। साधनावस्था में विषयसौन्दर्य से राग वा विपर्यय से द्वेष होने पर विलक्षण दृष्टि के अभ्यास से उन भावों की निवृत्ति पूर्व ग्रन्थ में प्रदर्शित की थी। सिद्धस्थिति में निज से अतिरिक्त कुछ उपलब्ध न होने से राग-द्वेष की प्राप्ति ही नहीं है। अभ्यासदशा में व्यवहार-प्रतिबंधकता इष्ट ही है क्योंकि मुमुक्षु लोकव्यवहार की अनुकूल विवृद्धि का पक्षपाती ही नहीं। सिद्ध तो अव्यवहार्य होने से व्यवहारलोप स्वतः सिद्ध है। लोकसंग्रहार्थ व्यवहार अज्ञों को उपलब्ध हो तो कोई आपत्ति भी नहीं।

भय व मोह भी मेरे नहीं यह कहते हैं–'भय और मोह मन के धर्म हैं। ये किसी भी तरह मेरे धर्म हो नहीं सकते। डर दूसरे से ही लगता है, मैं हूँ अद्वितीय, मुझसे दूसरा कोई है नहीं। सर्वस्वरूप ज्ञान ही जिसका एकमात्र स्वरूप है उस मुझ आत्मा का धर्म मोह कैसे हो सकता है?॥६७१॥ मोह का प्रयोजक है अज्ञान और ज्ञान का अज्ञान से कोई संबंध नहीं, फलतः ज्ञानरूप मेरा मोहसम्बंध दूरनिरस्त है। यहाँ ज्ञान से निरावरण ज्ञान समझना चाहिये क्योंकि सर्वस्वरूप कहकर उसकी अपरिच्छिन्नता मुखतः कह दी है। भय न होने में अद्वितीयता हेतु है तथा मोह न होने में ज्ञानरूपता।

'अमुक मेरे प्रतिकूल कुछ कर सकता है' ऐसा ज्ञान भय का कारण है। विषादरूप मोह भी अपने से भिन्न कुछ है

---

१. तथेति प्रतिकूलत्वोक्तिः। पूर्वेति। तामसो वैरिणः शुद्धानिति पूर्वम् (श्लो.५०५) न्यगादि, शुद्धान् सज्जनानित्यर्थः।

क्षुधा तृषा च तद्वन्मे प्राणशून्यस्य कर्हिचित्। मा स्यातां यत एते द्वे दृश्येते प्राणसङ्गते॥६७४॥

निद्रा च मनसः क्वापि वागादे र्नित्यमेव हि। इन्द्रियादिविहीनस्य मम केन भवेद्धि सा॥६७५॥

विण्मूत्रबाधा देहस्य नाऽशरीरस्य कर्हिचित्। अकायोह्यव्रणश्चाहं मम केन भवेद्धि सा॥६७६॥

आत्मनोऽविषयता

वचसां व्यवहारेण[1] भवतामेतदीरितम्। मया स्वात्मस्वरूपं तन्नेदृशं वस्तुतः क्वचित्॥६७७॥

क्षुत्पिपासयोः प्राणधर्मत्वादात्मन्यसंभवमाह– क्षुधेति। एते क्षुधातृषे सङ्गते सम्बद्धे मे प्राणशून्यस्य मा स्यातां न संभवत इत्यर्थः॥६७४॥

निद्राया धर्मिप्रदर्शनपूर्वकमात्मनि व्यतिरेकमाह– निद्रा चेति। निद्रा हि कारणे लयरूपा सा च मनसः क्वापि यदा स्वप्नं न पश्यति तदैव प्रसिद्धा, इन्द्रियाणान्तु नित्यमेव स्वप्नदर्शनेऽदर्शने च। मम त्वजस्य[2] मनस इन्द्रियेभ्यश्च भिन्नस्य न सा संभवतीत्याह– इन्द्रियादीति॥६७५॥

अष्टमं दोषं श्रुतिसिद्धं शरीरभेदवत्त्वान्निरस्यति- विण्मूत्रेति॥६७६॥

नन्वद्वितीयामृताजाजरविशोकत्वै र्निषेधमुखेनैवात्मानं किमभिदधासि, सखिभ्योऽस्मभ्यं विधिमुखेन शृंगग्राहिकान्यायेन प्रदर्शय–इत्याशंकां वारयन्नविषयतामाह– वचसामिति। यदेतद् भवतां हिताय वचसां व्यवहारेण स्वात्मस्वरूपमीरितं तद्वस्तुत ईदृशम् इदंप्रत्ययगोचरनिभं विषयरूपं वस्तुतो न भवतीत्यन्वयः। निषेधवाक्यान्यपि तात्पर्यवृत्त्यैव बोधयन्तीति भावः॥६७७॥

यह मानने पर ही होता है। मैं न भिन्न जानता हूँ तो प्रतिकूल करने वाला कैसे जानूँगा? अतः इनकी मुझमें संभावना नहीं यह कहते हैं–'जो समझता है कि मुझसे भिन्न कोई या कुछ है तथा वह भिन्न व्यक्ति या वस्तु प्रतिकूल अनुभव कराने वाली है वही व्यक्ति संसार में मोह वाला और भयवाला होता है। मुझसे भिन्न कोई शत्रु, मित्र या उदासीन भी है ऐसा मैं समझता नहीं अतः भेदबुद्धिरूप कारण न होने पर कार्यभूत भय व मोह होंगे क्यों?'॥६७२–६७३॥ मोह से प्रेमादि भी जानने चाहिये। अथवा विचित्रता या विक्षिप्तमनस्कता समझ सकते हैं। अथवा अविवेक ही समझ सकते हैं। दो होने पर ही विवेक की प्रसक्ति है व तभी अविवेक होगा। टीकाकार ने तो मोह से विषाद लिया है। दुःख से पृथक् इसे संताप समझना चाहिये। सुख से विरोधी दुःख की तरह हर्ष का विरोधी विषाद है।

भूख–प्यास प्राण के धर्म होने से आत्मा के नहीं यह बताते हैं–'भूख व प्यास क्योंकि प्राण से सम्बद्ध ही उपलब्ध हैं इसलिये प्राणरहित जो मैं उसके ये धर्म नहीं हैं'॥६७४॥

निद्रा किसका धर्म है यह बताते हुए आत्मा में नींद भी नहीं यह कहते हैं–'निद्रा कहते हैं कारण में विलय को। वागादि इन्द्रियों की निद्रा तो प्रतिदिन स्वप्न व सुषुप्ति में होती है तथा मन की निद्रा केवल सुषुप्ति में होती है। मैं इन्द्रियादि से रहित हूँ अतः निद्रा मेरी कैसे हो सकती है?'॥६७५॥ कारणरहित होने से भी आत्मा का विलय संभव नहीं।

शरीरभिन्न होने से आठवें दोष का भी स्वयं में निषेध करते हैं–'विष्ठा व मूत्र सम्बन्धी बाधा होती है देह को वे शरीररहित मुझे कैसे होंगी? मैं तो स्थूल–सूक्ष्म शरीरों से रहित ही हूँ'॥६७६॥ मूलकार ने जो 'अव्रण' कहा है उससे स्थूलदेह लक्षित करना चाहिये। ईशश्रुति का अनुसंधान है।

महर्षि वामदेव के साथियों ने पूछा : अद्वितीय, अमर, अजन्मा, अजर, निःशोक आदि शब्दों से केवल यह क्यों बता

---

१. उपदेशपरम्परैवेयम्। 'न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्याद्' इति श्रुतिः (के.३)। इहापि पूर्वं (श्लो. ५२–५३) सनकादय एवमूचुः। तथाऽयमपि वक्ति। २. अजस्येति कारणाभावातत्र लयो दूरापास्तइति भावः।

इन्द्रियैरखिलै र्गम्यं नैतद् बाह्यैस्तथान्तरैः। धीवृत्तेरप्यविद्यायाः साक्षिभूतमवस्थितम्॥६७८॥

आनन्दात्मस्वरूपं सत् प्रकाशैकस्वभावकम्। देशकालस्वरूपोत्थभेदगन्धविवर्जितम्॥६७९॥

अविषयतामेव स्फुटयति– इन्द्रियैरिति। एतद् आत्मतत्त्वम् अखिलै र्बाह्यैरिन्द्रियैः चक्षुराद्यै र्गम्यं न, तथा आन्तरै र्मनोबुद्धिचित्ताहंकारैः गम्यं नेति। ननु वेदान्तवाक्यजन्यबुद्धिवृत्ते र्विषयो भविष्यत्येव, तथा जडगोचराया अविद्यायाश्च? इत्याशंक्याह– धीवृत्तेरित्यादि। ब्रह्माकारवृत्तेः चिद्भास्यत्वमेव विषयत्वम्। तदुक्तं योगभाष्ये– 'न च पुरुषप्रत्ययेन बुद्धिसत्त्वात्मना पुरुषो दृश्यते, पुरुष एव तं प्रत्ययं स्वात्मावलम्बनं पश्यति' इति। 'विज्ञातारमरे केन विजानीयाद्' (बृ.२.४.१४) इति। परन्तु बुद्धिवृत्तिस्तस्य विषयत्वस्य अनुपयोगिन्यपि प्रतियोगित्वेनोपचाराद् व्यवह्रियते, एवम-विद्यायामपि बोध्यम्॥६७८॥

विधिरूपोपदेशानामप्यार्थिकेतरव्यावृत्तिबोधेनैव प्रसरलाभ इत्याशयेन विधिरूपेण विशेषणद्वयमाह– आनन्दात्मेति। दुःखानात्माऽसज्जडानेकविलक्षणमित्यर्थः। तादृशस्वभावत्वे त्रिविधपरिच्छेदराहित्यलक्षणमद्वितीयत्वमुपक्रमोक्तं हेतु-तयोपसंहरति– देशेति। स्वरूपं वस्तु। गन्धो लेशः॥६७९॥

रहे हो कि तुम क्या नहीं हो; निषेध से ही क्यों अपना वर्णन कर रहे हो? हम तो मित्र हैं, हमें विधिमुख से सीधे भी बताओ कि तुम क्या हो। जैसे सींग पकड़ कर गाय सामने कर देते हैं 'यह है गाय', ऐसे अपना स्वरूप बताओ। इस प्रश्न का निवारण करते हुए महर्षि वामदेव अपनी अविषयता कहते हैं–'मैंने आप लोगों को वाणी द्वारा निजात्मा का यह दोषाष्टकशून्य आदि स्वरूप बताया है। वस्तुतः वह ऐसा नहीं कि उसे 'यह' इस तरह समझा जा सके॥६७७॥ बाह्य व आंतर इन्द्रियों द्वारा यह विषय नहीं किया जा सकता। बुद्धिवृत्ति और अविद्या के भी साक्षिरूप से स्थित इस आत्मा को कोई विषय कर नहीं सकता'॥६७८॥ निषेधवाक्य भी सीधे ही आत्मबोध नहीं करते, तात्पर्यवृत्ति से ही करते हैं। द्वैतादि के अभाव वाला भी आत्मा नहीं है, वह उससे उपलक्षित ही है। तब भावधर्मों से भी तो उपलक्षित है, तो विधिमुख से क्यों नहीं कहते? उत्तर है कि कहते ही हैं। सत्य ज्ञान आदि उसे बताते ही हैं, महावाक्यों में विधिमुख से उपदेश है। प्रकृत में तो वामदेव का आशय है कि भावधर्म से कहने पर कहीं ये द्विजलोग आत्मा को सधर्मक न मान बैठें। निषेधमुख से कहने पर यदि अभाववान् समझेंगे तो भी अभाव को अधिकरणरूप ही मानेंगे अतः द्वैतापत्ति न होगी। प्रश्न हो सकता है कि अविद्या का और ब्रह्मविद्या का विषय उसे कैसे कहते हैं? उत्तर है कि ब्रह्माकार चित्तवृत्ति चेतन से प्रकाशित होती है, बस इसी का नाम है चेतन का ब्रह्मविद्याविषय होना। योगभाष्य में भी माना है कि बुद्धि की सात्त्विक वृत्तिविशेष जो पुरुषाकार होती है, उससे पुरुष नहीं दीखता बल्कि वह वृत्ति पुरुष को दीखती है। पुरुष उसकी ज्ञानता को अपने सहारे होने वाला जानता है। श्रुति ने भी कहा है कि जानने वाले को किस साधन से जानोगे? अर्थात् किसी साधन से नहीं जान सकते। पुरुष में जिस विषयता का व्यवहार है उसमें बुद्धिवृत्ति का कर्तृत्वेन उपयोग नहीं प्रत्युत वह तो विषयता का प्रतियोगी ही बनती है अर्थात् वह स्वयं विषय की जाती है। अतः आत्मा की विद्याविषयता मात्र औपचारिक है। ऐसे ही अविद्या भी स्वयं चिद्भास्य है, उसका विषय चित् नहीं। जैसे घटाकारवृत्ति की विषयता होने पर घट भासता है ऐसे पुरुषाकारवृत्ति होने से पुरुषमात्र भासता है, इस समानता से उपचार हो जाता है। चेतन में आविद्यिक विषयता मानने में कोई हानि न होने से वृत्तिविषयता मान भी ली जाती है; चिद्भास्यता सर्वथा नहीं है। अथवा वृत्तिविशिष्ट में ही वृत्तिविषयता तथा अविद्याविशिष्ट में ही अविद्याविषयता होने से शुद्ध की तो अविषयता ही रहती है, यह निरापद मन्तव्य है। इस दृष्टि से वेदान्तजन्य साक्षात्कार होते समय शुद्ध नहीं है पर क्योंकि वह साक्षात्कार स्व-समेत समस्त द्वैत का निवर्तक ही उत्पन्न होता है इसलिये तदनन्तर शुद्ध ही है यह समझना चाहिए।

विधिरूप उपदेश भी अर्थात् तो इतर की व्यावृत्ति करने से ही आत्मा को बताते हैं। 'सत्य' का अर्थ ही है 'अबाधित'। एवं च विधिशब्द भी निषेध शब्दों के समान हो जाते हैं। इस आशय से कहते हैं– 'आत्मा आनंद और चेतन स्वरूप है। असत्– जड– अनेक से विलक्षण इसका स्वभाव है। देश–काल और वस्तु कृत भेद का लेश भी आत्मा में नहीं

वामदेवस्योपदेशः

अतो भवन्तो मुनयः सनकाद्यैरुदाहृतम्। विचार्य स्वयमेवैनमवगच्छन्तु मा चिरम्॥६८०॥

अतोऽत्र भवतां मद्वन्मा भूज्जन्मान्तरं क्वचित्। अहं हि मम दृष्ट्याऽस्मि देहादिपरिवर्जितः॥

अधुना भवतां दृष्ट्या गर्भे तिष्ठामि सङ्कटे॥ ६८१॥

यादृगेव पुरास्माभि र्गर्भे दुःखं विचारितम्। अधुनाऽनुभवाम्येतत् तावद्वापि ततोऽधिकम्॥६८२॥

अत इति। अतः ममैतादृशज्ञानजनकत्वेन गुरूपदेशस्य[१] ज्ञानं प्रति परिपुष्कलकारणताया निर्धारणाद्। उदाहृतम् उपदिष्टम्। अवगच्छन्तु जानन्तु। एनम् आनन्दात्मानम्। न चास्माकमपि भाविप्रतिबन्धभयाद् विचारे प्रवृत्तिर्दुःशकेति वाच्यम्, भाविप्रतिबन्धस्य अदृष्टरूपस्य दृष्टद्वारेणैव प्रतिरोधकत्वाद्, न अदृष्टं दृष्टमन्तरा करोतीति न्यायात्, तदभावस्तु वर्तमानप्रतिबन्धाभावेन सुज्ञानः। तदुक्तम् 'न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्। यं हि रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम्॥' तस्मात् 'प्रतिबन्धो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः। प्रज्ञामान्द्यं, कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः'॥ (पंचद. ध्यान.४३) इति। वर्तमानप्रतिबन्धपरिहारेण विचारयतेति भावः॥६८०॥

विचाराप्रवृत्तिरेव प्रतिबन्धलक्षणं, तां परिहरत, अन्यथा पुनर्जन्मप्रसंगादित्याह— अतोऽत्रेति। अत्र संसारे। ननु विचारे प्रवर्तामहे परन्तु तव तत्त्वविदोऽपि गर्भवासदुःख[२]मालोच्य फले संशयः प्रवृत्तिं प्रतिबध्नातीत्याशंक्य; स्वदृष्ट्या दुःखाभावमाह— अहमिति। आदिना इन्द्रियादीनां तद्धर्मदुःखादीनां च ग्रहः॥६८१॥

'प्रारब्धनाशात्प्रतिभासनाशः' (वराहोप.२.६९) इत्यादिश्रुतेः प्रारब्धेन भासमानत्वेऽपि बाधितत्वेन स्वप्नदुःखवद् न व्यामोहकत्वमित्याह— यादृगेवेति द्वाभ्याम्। अस्माभिः सनकादिशिष्यै र्मिलितैः॥६८२॥

है'॥६७९॥ यह स्मरण रखना चाहिये कि अर्थात् इतरव्यावृत्ति करने से पूर्व विधिशब्द भावरूप से भी उपस्थिति कराते हैं। इतना अवश्य है कि वे भी शक्ति से आत्मा को नहीं कहते, पर लक्षणा से भावतया आत्मस्वरूप बताते ही हैं। इसीलिये कल्पतरुकार ने स्पष्ट किया है कि ब्रह्म चाहे सत्यपद का लक्ष्य हो फिर भी सत्यता छोड़ता नहीं। धर्मरूप सत्यता न सही, सद्रूप सत्यता ब्रह्म की अक्षुण्ण रहती है। इसी से आचार्यों ने कहा है कि आनन्द, अनुभव और सत्यता, ये ब्रह्म रूप होने पर भी उसके धर्मरूप से अवभासित होते हैं।

वामदेव ने द्विजों को कर्तव्य बताया-'अतः सनकादि द्वारा बताये गये इस आत्मा को आप मुनि लोग स्वयं समझ लीजिये, विलम्ब मत कीजिये'॥६८०॥ द्विजों को यह नहीं सोचना चाहिये कि वामदेव की तरह हमारा भी कोई भाविप्रतिबंध होगा इसलिये विचार में प्रवृत्ति नहीं कर सकते। अदृष्टरूप भाविप्रतिबंध किसी दृष्ट हेतु द्वारा ही प्रतिबंध कर पाता है। वर्तमान प्रतिबंध यदि न हो तो दृष्ट द्वार उपलब्ध न होने से भाविप्रतिबंध अकिंचित्कर हो जायेगा। इसलिये कहा है कि पशुपालक की तरह देवता दण्डा लेकर रक्षा करने नहीं आते, वे तो जिसकी रक्षा करना चाहते हैं उसे सही बुद्धि दे देते हैं। वर्तमान प्रतिबंध ध्यानदीप प्रकरण में कहे गये हैं: विषयों में आसक्ति, प्रज्ञा की मन्दता, कुतर्क और शास्त्रविपरीत बात का दुराग्रह। अतः इन्हें हटाने की कोशिश करनी चाहिये, भाविप्रतिबंधक की चिंता नहीं।

विचार में प्रवृत्त न होना ही प्रतिबंधक समझो। इसलिये विचार करो अन्यथा बारम्बार जन्मादि ही मिलेंगे। यह कहते हैं- 'अतः आप लोगों का संसार में कहीं भी पुनः जन्म न हो इसके लिये प्रयास कीजिये। मैं अपनी दृष्टि से देहादिरहित हूँ। आप लोगों की दृष्टि में मैं संकटग्रस्त गर्भ में स्थित हूँ॥६८१॥ गर्भ में जैसे दुःखों का पहले वैराग्यार्थ विचार काल में हमने निर्धारण किया था वैसे या उससे भी अधिक दुःख का मैं यहाँ अनुभव कर रहा हूँ॥६८२॥ फिर भी सर्वात्मज्ञानरूप

---

१. गुरूपदेशस्येति वैराग्यादेरुपलक्षणमधिकारं विनोपदेशस्य फलाजनकत्वादिति ज्ञेयम्। २. जीवन्मुक्तदुःखाद्यवलोकनमपि संशयहेतु र्जायते तदप्येवमहेतुस्तत्रेति विचारणीयम्।

तथापि मम सर्वात्मबोधपूर्णेन्दुसेवया। दुःसहो गर्भचण्डांशुः सन्तापं न करोति हि॥६८३॥

जन्मानन्तरं वामदेवस्य जीवन्मुक्तता

एवमादिवचस्तूक्त्वा मुनीनां प्रत्ययाय हि। वामदेवो विनिर्गम्य गर्भाल्लोकमिमं ययौ॥६८४॥

सनकादिसमः सोऽपि लोकद्वयगतस्पृहः। आरब्धकर्मनिर्वाणं कुर्वन्नुद्यमवर्जितः॥६८५॥

इहामुत्र च संप्राप्तान् भोगान् भुक्त्वाऽतिनिर्मलः। आरब्धकर्मणो नाशे त्वमृतं ब्रह्म सोऽभवत्॥६८६॥

तृतीयाध्यायः

वामदेवस्य वचनं गर्भस्थस्य महात्मनः। श्रुत्वा ते विस्मयाविष्टा अब्रुवन्नधिकारिणः॥६८७॥

तथापीति। सर्वात्मबोध एव पूर्णेन्दुः तस्य सेवया। गर्भ एव चण्डांशुः ग्रीष्ममध्याह्नार्कः॥६८३॥

'स एवम्' इत्यादि 'समभवद्' (ऐ.२.६) इत्यन्तं वाक्यं ज्ञानस्य अव्यभिचारिफलत्वाद् वामदेवेन तत्फलं लब्धमित्यर्थकं व्याचष्टे– एवमादीति त्रिभिः। प्रत्ययो विश्वासः श्रद्धातिशयरूपः। गर्भाद् निष्क्रम्येति सम्बन्धः। इदं (इमम्?) प्रत्यक्षागमसिद्धं भूप्रभृतिसत्यलोकान्तं ययौ तत्र विचचार॥६८४॥ सनकादीति। जीवन्मुक्तः। लोकद्वयाद् गता निवृत्ता स्पृहा इच्छा यस्य स तथा। निर्वाणमन्तम्॥६८५॥ इहेति। इह मानुषे। अमुत्र स्वर्गे। अतिनिर्मलः पुण्यानामप्युपभोगेन क्षपितत्वात्। अत्र यद्यपि भाष्यकारैरिदं वाक्यं मूर्द्धस्वर्गशब्दयोः कदाचिदप्यधोभावशून्य-परमार्थवस्तुपरत्वमादाय विदेहमोक्षपरतया व्याख्यातं, तथाप्येतै र्ब्रह्मविदो लोकेऽपि निरतिशयोत्कर्ष इति सूचने प्रवृत्तिविशेषकरत्वलोभेन जीवन्मुक्तिपरतयाऽपि व्याख्यातमित्यविरोधः॥६८६॥

एवमैतरेयपंचमं व्याख्याय षष्ठं व्याख्यातुं शिष्टाधिकारिणां विचारे प्रवर्तकं वामदेवे फलदर्शनेन अधिका-रिणामुत्कण्ठातिशयवैराग्यदार्ढ्यं च वर्णयति– वामदेवस्येत्यादिसप्तदशभिः। विस्मयाविष्टा आश्चर्यदर्शनेन द्रुतचित्ता अब्रुवन् परस्परमिति शेषः॥६८७॥

पूर्णचन्द्र के सेवन से गर्भरूप असह्य प्रचण्ड सूर्य मुझे कोई सन्ताप नहीं दे रहा'॥६८३॥ द्विज मुनियों को प्रश्न हो सकता था कि ज्ञान होकर भी जब वामदेव गर्भ में है तब ज्ञान का क्या फायदा? इसके उत्तर के लिये वामदेव ने स्पष्ट किया कि स्वदृष्टि से वे गर्भ में नहीं, आरोपित दृष्टि से ही हैं। श्रुति ने कहा है कि प्रतिभास की निवृत्ति प्रारब्ध की समाप्ति से होती है पर बाधित होने से प्रतिभास दुःखादि का हेतु नहीं बनता। मन की दुःखाकारवृत्ति नहीं रुकती पर उससे आत्मा का तादात्म्य नहीं होता, मैं दुःखी नहीं होता।

ऐतरेय में आगे कहा है कि मन्त्र में कहे ढंग से आत्मतत्त्व को जानकर उस शरीर के नाश के बाद वामदेव सारे संसारबंधन से छूटकर इन्द्रियों के अविषय, मोक्षरूप स्वर्ग में सारे आनन्द पाकर अमर हुए। ज्ञान होने पर मोक्ष मिलता ही है। अतः यही नियम दिखाते हुए कहते हैं–मुनियों को विश्वास दिलाने के लिये इस प्रकार के वचन कहकर वामदेव गर्भ से निकलकर इस लोक को प्राप्त हुए॥६८४॥ वामदेव भी सनकादि के समान ही थे। मुक्तों में स्वरूपगत कोई अंतर होता भी नहीं। दोनों लोकों के लिये उन्हें कोई अभिलाषा नहीं थी। प्रारब्ध कर्म की भोग से समाप्ति करते हुए वे कोई उद्यम किये बिना जीवन व्यतीत करते थे॥६८५॥ मानुष व स्वर्ग लोक में प्राप्त भोगों को भोगकर प्रारब्ध समाप्तकर वे अत्यन्त निर्मल वामदेव अमृत ब्रह्म हो गये॥६८६॥ इस प्रसंग में वामदेव के विदेह कैवल्य को ही भगवान् भाष्यकार ने मुखतः कहा है। फिर भी उन्होंने वामदेव की जीवन्मुक्ति सूचित की है '–अमृतः समभवदात्मज्ञानेन पूर्वमाप्तकामतया जीवन्नेव सर्वान् कामानाप्त्वेत्यर्थः।' अतः शंकरानंद स्वामी ने यहाँ स्पष्ट रूप से दोनों का वर्णन कर दिया।

विस्मिताधिकारिवचनम्

अहो अयं वामदेवो निर्गतोऽस्मत्समूहतः। गोभ्यः पङ्के निमग्नेभ्यो यथा गौः पुण्यकर्मतः॥६८८॥
पाशै र्वापि निबद्धेभ्यः पक्षिभ्यः क्वचिदण्डजः। यथा प्रयाति तान् हित्वा वामदेवस्तथा हि नः॥
कामक्रोधादिभि र्बद्धान् हित्वा सर्वान् गतोऽधुना॥ ६८९॥
यथा राष्ट्रादिभङ्गेषु स्वबन्धून् परिहाय हि। निःस्नेहो याति मनुजस्तद्वदेव गतोऽधुना॥६९०॥
यद्वत् पान्थेषु गच्छत्सु निधिं कश्चिदवाप्नुयात्। वामदेवस्तथाऽस्मासु लब्धवान् स्वात्मबोधनम्॥६९१॥
गुरुशुश्रूषणे यद्वद् बहूनां कश्चिदेव हि। प्राप्नोति महतीं विद्यां तथाऽस्माकमयं पुमान्॥६९२॥
मन्त्रादीनां यथा सिद्धि र्बहुष्वेकस्य जायते। अस्मद्विचारजा सिद्धिस्तथा जाता महात्मनः॥६९३॥
मृगाणां मृगयुव्रातवृतानां कश्चिदेव हि। याति तद्वद्वामदेवो गतोऽस्माकं च दुःखिनाम्॥६९४॥

तेषां वाक्यानि उत्कण्ठासूचकानि निबध्नाति– अहो इत्यादिना। तत्र दृष्टान्तः पङ्कमग्नगोसमूहात् पुण्यविशेषेण एको निर्गच्छन् गौः इत्याह– गोभ्य इति॥६८८॥

दृष्टान्तान्तराणि दर्शयति– पाशैरित्यादिपंचभिः। तथा नः अस्मान् हित्वा वामदेवो गत इति॥६८९॥

यथेति। राष्ट्रादीनां भंगेषु उपद्रवेषु प्रसक्तेषु। आदिपदेन नगरादिग्रहः। स्वबन्धून् मोहेन राष्ट्रादीन् अत्यजतः परिहाय निःस्नेहो गच्छति यथा, तथा वामदेवो गत इति॥६९०॥

यद्वदिति। पान्थेषु गच्छत्सु कश्चिद् अन्यतमः। निधिं भूमिगतं धनम्॥६९१॥

गुरुशुश्रूषण इति। गुरुशुश्रूषणे प्रवृत्तानां बहूनां मध्ये कश्चिदेव विद्यां प्राप्नोति तथाऽस्माकमयं वामदेवः, अतः स एव पुमान् पुरुषः, वयन्तु फलालाभात् क्लीबनिभा इति भावः॥६९२॥

मन्त्रादीनामिति। बहुषु जपादौ प्रवृत्तेषु एकस्य अन्यतमस्य महात्मनो वामदेवस्य॥६९३॥

उपनिषत्क्रम में तीसरा अध्याय

इस प्रकार आरण्यक्रम से पाँचवे अध्याय की व उपनिषत्क्रम से दूसरे अध्याय की व्याख्या कर अगले अध्याय के व्याख्यान में प्रवृत्त होते हैं। पहले यह वर्णन करते हैं कि वामदेव को फलसिद्धि हुई देखकर बाकी अधिकारियों को मोक्ष की तीव्र उत्कण्ठा हुई तथा वैराग्य भी दृढ हुआ। गर्भस्थित महात्मा वामदेव के वचन सुनकर वे अधिकारी लोग आश्चर्यचकित हो गये और आपस में यों कहने लगे–॥६८७॥ अहो आश्चर्य है! यह वामदेव हमारे समूह से निकल गया है। कीचड़ में फँसी गायों के समूह से जैसे कोई गाय पुण्यवश कीचड़ से निकल जाती है वैसे अज्ञानपंक में पहले हमारे साथ फँसा वामदेव अब निकल गया है॥६८८॥ अथवा पाशों से बँधे या जाल में फँसे पक्षिसमूह से जैसे कोई पक्षी अन्य पाशबद्धों को छोड़कर उड़ जाता है वैसे काम क्रोध आदि पाशों से बँधे हम लोगों को छोड़कर वामदेव चला गया॥६८९॥ जैसे राष्ट्र आदि में विप्लव आदि की स्थिति होने पर कोई नागरिक अपने बंधुओं को छोड़कर स्नेहरहित हो देशान्तर को चला जाता है वैसे ही वामदेव निर्मोह हो चला गया है॥६९०॥ जिस प्रकार रास्ते चलते पथिकों में से कोई यात्री मार्ग में कही गड़ी निधि पा जाता है उसी प्रकार हममें से एक वामदेव ने निज आत्मा का ज्ञान पा लिया है॥६९१॥ गुरुसेवा में तत्पर बहुत से विद्यार्थियों के मध्य कोई एक विद्या प्राप्त करता है, उसी तरह हम लोगों में यह वामदेव हो गया। अतः वह ही पुरुष निकला, हम लोग तो फल न मिलने से नपुंसक के समान रह गये॥६९२॥ जप-तप में लगे हुए बहुतों में से किसी एक को ही सिद्धि मिलती है। इसी प्रकार विचार से उत्पन्न होने वाली सिद्धि वामदेव को प्राप्त हो गयी है॥६९३॥

अहो अस्य महत्पुण्यं वामदेवस्य धीमतः। गर्भे स्थितस्य यज्ज्ञानं जातं नास्माकमत्र हि॥६९५॥

अस्मान् गर्भस्थितो वाक्यमुक्तवान्त बहि र्गतः। तेन मान्यमहे नास्य स्नेहः किन्तु कृपैव हि॥६९६॥

बन्धून् सर्वानुपेक्ष्यासौ पितरं मातरं तथा। जातमात्रो गतः क्वापि जडोन्मत्तपिशाचवत्॥६९७॥

तेषां निर्वेदः

अहो वयं व्यतिक्रान्तकालाः किंचिदबोधनाः। हितं स्वेभ्यो यतो नात्माविज्ञानमिह साधितम्॥६९८॥

मृगाणामिति। मृगयुव्रातेन व्याधसमूहेन वृतानां सर्वतो निरुद्धानां मध्यात् कश्चिदेव याति क्षेमेणेति शेषः॥६९४॥

अहो इति। अत्र सर्वसामग्रीसम्पन्नेऽपि लोके स्थितानामिति शेषः॥६९५॥

तस्य च गर्भसङ्कटे स्थितस्यापि अस्मद्बोधनप्रवृत्तौ करुणैव प्रयोजिका, न स्नेह इत्याहुः— अस्मानिति। स्नेहेन चेदुपदेशे प्रवृत्तिः स्यात् तर्हि बहि र्गत्वा बन्धूनपि उपदिशेदिति तत्कालेऽस्मदुपदेशे प्रयोजनं तु विचारितगर्भदुःखसंवादो ज्ञानबलेन दुःखस्य सुसहताबोधनं चेति करुणयैव तस्य प्रवृत्तिरिति भावः॥६९६॥

स्नेहाभावं स्फुटयति— बन्धूनिति। यतः असौ वामदेवः जातमात्र एव क्वापि बन्ध्वलक्षितदेशे गतः तेन नास्य स्नेह इत्यनुषंगः। किं कृत्वा ? बन्धूनित्यादि। बध्नन्ति स्नेहेनेति बन्धवः। ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन पित्रोः पृथङ्निर्देशः। अलक्षितगमने दृष्टान्तः— जडेत्यादि। द्वन्द्वः कर्मधारयो वा॥६९७॥

अत्र 'तत्त्वज्ञानाऽऽपदीर्ष्यादे र्निर्वेदः स्वावमाननम्' इत्युक्तलक्षणो निर्वेद उत्कण्ठापरिपोषितः प्रतिपिपादयिषितः, तद्धेतुरीर्ष्या पूर्वं दर्शिता; तत्स्वरूपं स्वावमानं दर्शयति— अहो इत्यादिना। अहो वयं किंचित् स्म[1] क्लीबवद् अवमानपात्रं स्म[1]। यतः व्यतिक्रान्तकाला व्यर्थंगतसमयाः। एतत् कुतः? इत्यत आहुः— अबोधना इति। नन्द्यादित्वाल्ल्युः, अज्ञा इत्यर्थः। ननु स्वर्गादिसाधनविदां कथमज्ञत्वम्? मुख्यस्वहिताज्ञानादित्याहुः— हितमित्यादि। यतः स्वेभ्यो हितम् आत्मज्ञानरूपं न साधितमित्यन्वयः। स्वेभ्य इति पदमात्मवाचकं हितपदयोगेन षष्ठ्यर्थे चतुर्थ्यन्तम्॥६९८॥

व्याधों के समूहों से चारों तरफ घिरे हुए मृगों के मध्य से कोई एक-आध मृग निकल जाता है। उसी तरह हम दुःखियों में वामदेव निकल गया॥६९४॥ सर्वसामग्रीसम्पन्न लोक में स्थित हम लोगों को ज्ञानपरिपाक न हुआ, किंतु बुद्धिमान् वामदेव का महान् पुण्य था जिससे उसे गर्भ में स्थित होते हुए ही ज्ञाननिष्ठा हो गयी॥६९५॥ वह गर्भरूप संकट में स्थित था फिर भी हमें उपदेश देने के लिये प्रवृत्त हुआ। करुणा ही इसमें प्रयोजक है, स्नेह नहीं॥६९६॥ स्नेह से यदि उपदेश देता तो गर्भ से बाहर आकर बंधु-बांधवों को भी उपदेश देता। उस समय हमें उपदेश देने में इसका प्रयोजन तो हम लोगों ने गर्भदुःखों का जो विचार किया था उसका संवाद देना था। ज्ञान के बल से दुःख को अनायास सहन किया जा सकता है यह बोध इसने कराया।

वामदेव को स्नेहपाश ने बाँधा नहीं यह स्पष्ट करते हैं— यह वामदेव पैदा होते ही माता, पिता व अन्य बंधुओं की उपेक्षा कर अलक्षित स्थान की ओर वैसे ही चला गया जैसे कोई मूर्ख, उन्मत्त या पिशाच कहीं भी चल देता है॥६९७॥ ज्ञानी का आचार जड आदि की तरह होता है यह शास्त्र में प्रसिद्ध है। जो स्नेह से बाँधते हैं उन्हें बन्धु कहते हैं। यद्यपि माता-पिता भी बंधु हैं तथापि उनमें विशेष होने से उनका पृथक् उल्लेख है। जैसे कहते हैं 'संन्यासी तथा ब्राह्मणों को बुलाओ।' संन्यासी ब्राह्मण ही होंगे। अतः 'ब्राह्मणों को बुलाओ' कहने से भी काम चलता। किन्तु संन्यासियों में किसी वैशिष्ट्य के कारण उनका पृथक् उल्लेख किया जाता है।

स्वयं को तत्त्वज्ञान न होने की आपत्स्थिति में अन्य ज्ञानी से ईर्ष्या होती है जिससे वस्तुतः वैराग्य और निज की

---

१. स्मः— इति स्यादुभयत्र।

दुःखानि विविधान्यत्र भुक्तानि शतशोऽपि हि। अस्माभिः स्वर्गलोकेऽपि सुखं नैवाप्तमण्वपि॥६९९॥
तत्रैश्वर्यं सातिशयं देवानां वशवर्तिता। पतनं च तथा स्वर्गे ह्यचिकित्स्या त्रिदोषता॥७००॥
भूमेः स्वर्गं ततो भूमिं पुनस्तं नरकं क्वचित्। उपर्यधः संचरामः पारावतसमा वयम्॥७०१॥
यथा पारावतीं दृष्ट्वा नभःस्थः स भुवं पतेत्। भूमिष्ठश्च नभः क्वापि दिशोऽपि च दिगन्तरम्॥७०२॥
एवं विषयतृष्णार्ता वयमुच्चावचानि च। शरीराणि हि संप्राप्ता दुःखशोककराणि हि॥७०३॥

ननु तत्त्वज्ञानं हिततममिति वक्तव्यं चेत् स्यादेवं यदि विवेकिदृष्ट्या हितपदप्रयोगार्हं स्वर्गादिकं स्यात्, तस्य तु दुःखतैव 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' इति भगवत्पतञ्जल्युक्तेरित्याशयेनाहुः– दुःखानीति। अत्र संसारे स्वर्गलोकेऽपि अण्वपि स्वल्पमपि सुखं न लब्धमिति॥६९९॥

स्वर्गस्य सन्निपातज्वरसाम्यं दोषत्रयवत्तया आहुः– तत्रेति। सातिशयत्वपारतन्त्र्यपतनानि ईर्ष्याभयशोकहेतुतया त्रयो दोषाः॥७००॥

स्वात्मावमाननरूपो निर्वेदो लोके द्विधा दृष्टः–'मया हितं किं नाचरितम्' इत्येकः, 'असाधुव्यर्थानिष्टजनकान्यतरत् किमाचरितम्' इत्याकारोऽपरः। तत्राद्य उक्तः। द्वितीयमाह– भूमेरित्यादित्रिभिः। भूमेः भूमिलोकं विहाय स्वर्गं संचरामो गच्छामः, ततः स्वर्गाद् भूमिं, ततः पुनस्तं स्वर्गं, क्वचिद् दुष्कृतोदये नरकम् इति उपर्यधः संचरामः पारावतसमाः कपोतसमाः। अत्र कपोतो भ्रमणांशे दृष्टान्तः, कपोतभ्रमणस्य द्रष्टृहर्षजनकत्वेऽपि अस्मद्भ्रमणस्य महात्मनां शोकहेतुत्वेन व्यतिरेकस्यापि विवक्षितत्वादिति॥७०१॥ दृष्टान्तं स्पष्टयति-यथेति। नभःस्थः आकाशगतः सः पारावतः। पतेद् गच्छेत्॥७०२॥

दार्ष्टान्तिके योजयति– एवमिति। अत्र पारावतीसमाः विषयाः, देवादिस्थावरान्तशरीराणि पतनकर्मदेशसमानि, साम्योपपादको धर्मो दुःखेत्यादिनोक्तः, कपोतं प्रत्यपि भूम्यादेस्तथात्वात्॥७०३॥

अवमानना ही पुष्ट होती है। ईर्ष्या तो बता चुके, अब अपनी अवमानना वे मुनि करने लगे यह बताते हैं–अहो कष्ट है कि हमने व्यर्थ समय गँवाया और बिना किसी विशेषता के अज्ञानी ही रह गये क्योंकि हमने अपने हितकारी आत्मज्ञान को प्राप्त नहीं किया॥६९८॥ स्वर्गादि के साधन जानने पर भी अपना हित करने वाले मुख्य ज्ञान के बिना अज्ञानी ही रह गये।

यदि तत्त्वज्ञान को हिततम कहना है तो मानना पड़ेगा कि विवेकियों की दृष्टि में स्वर्ग हित है, किंतु पतंजलि आदि ने तो उसे भी दुःख ही माना है। अतः वह हित नहीं तो तत्त्वज्ञान के लिये तम-प्रत्यय क्यों? इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हैं–हमने विविध सैकड़ों दुःख यहाँ भोगे हैं। स्वर्ग में भी हमने थोड़ा भी सुख नहीं पाया। वहाँ ऐश्वर्य है किन्तु अपने से अधिक ऐश्वर्य वहाँ दीखता है जिससे ईर्ष्यादुःख वहाँ बना रहता है। इन्द्रादि देवताओं के वश में रहना पड़ता है जिससे भयदुःख रहता है। वहाँ से पतन निश्चित है अतः शोकदुःख भी होता रहता है। यों वहाँ तीन दोष हैं जिनका प्रतिकार नहीं॥६९९-७००॥

लोक में निज-अवमानना दो प्रकार की देखी गयी है। एक तो 'मैंने हित क्यों नहीं साधा?' यह अपनी अवमानना है। दूसरा ढंग है यह सोचना कि गलत, व्यर्थ या अनिष्टकारी काम क्यों कर लिया? उपनिषद् भी इन दो तापों से छूटना ज्ञानी के लिये कहती है अर्थात् उसे यह ताप नहीं होता कि मैंने अच्छा क्यों नहीं किया और बुरा क्यों कर लिया। इनमें प्रथम का वर्णन तो हो चुका। अब दूसरे ढंग की अवमानना दिखाते हैं– भूमि से स्वर्ग को, वहाँ से भूमि को, पुनः वहाँ से उस प्रसिद्ध नरक को, इस प्रकार ऊपर-नीचे हम वैसे ही संसरण करते हैं जैसे कबूतर॥७०१॥ कबूतर को उड़ता देख तो कम से कम लोगों को प्रसन्नता होती है। हमारे संसरण से तो हमें ही नहीं महात्माओं को भी शोक ही है।

जैसे कबूतरी को भूमि पर देखकर आकाशस्थित कबूतर पृथ्वी पर आ जाता है और भूमि पर स्थित यदि नभ में उसे

'कोऽयमात्मे' त्यस्यार्थः

एवं विचार्य ते सर्वे मीमांसामात्मबोधिनीम्। चक्रुरुत्पन्नवैराग्या जातश्रद्धा गुरूत्तरे॥७०४॥

कोऽयमात्मा द्विजश्रेष्ठा यं वयं ज्ञातुमुद्यताः। गुरुभिश्चोपदिष्टाः स्मो वामदेवेन चाधुना॥७०५॥

देहोऽयं सेन्द्रियग्राम एकस्तावत् प्रतीयते। शास्त्रतश्चापरः कश्चित् कोऽनयोरात्मशब्दभाक्॥७०६॥

देहो नात्मा

देहस्य नात्मता युक्ता जनिमृत्यादियोगतः। घटवत् स्वात्मनस्तत्त्वे कः कुर्यादुद्यमं नरः॥७०७॥

एवमात्मविचारश्रद्धातिशयप्रयोजकं वैराग्यमुपवर्ण्य विचारारम्भप्रतिपादकं 'कोऽयम्' इत्यादि 'उपास्महे' (ऐ.३.१) इत्यन्तं व्याचष्टे– एवमित्यादिद्वाभ्याम्। विचार्य वैराग्योपयोगिनं विचारं कृत्वा उत्पन्नवैराग्या गुरूत्तरे गुरुभिः सनकाद्यैर्दत्त उत्तरे–उपदेशे जातश्रद्धाः च सन्त आत्मबोधिनीं मीमांसां विचारं चक्रुरिति॥७०४॥ श्रद्धाप्रयुक्तगुरुवाक्यस्मरणानुकूलचिन्तामभिनयति– कोऽयमिति। एवं चिन्तायां कृतायां तेषां वाक्यस्मृति र्जातेति ध्वन्यते॥७०५॥

उपदेशे स्मृते च तत्प्रदर्शितौ द्वौ भावौ स्मृतौ– उपलभ्यतोपलंभकरणताभ्यां प्रसिद्धो जडो भावः कार्यकरणात्मैकः, उपलब्धा च द्वितीयो यस्य मूर्द्धद्वारेण प्रवेश उक्तः; तयोः क आत्मेत्यर्थकं 'कतर' (ऐ.३.१) इत्यादि षडक्षरं वाक्यं व्याचष्टे– देह इति। इन्द्रियाणामान्तरबाह्यकरणानां ग्रामेण समूहेन सहितोऽयं देहः संघात एकः प्रतीयते, किमयमात्मा, किं वा शास्त्रतो यः सम्यक् प्रतीयत उपलब्धा सच्चिदानन्दाद्वयरूपोऽपरो भावः स आत्मा– इत्यर्थः॥७०६॥

तत्र प्रथमकोटिघटकदेहस्यानात्मतां स्फुटयति– देहस्येत्याद्यष्टभिः। देहो नात्मा जन्मादिमत्त्वाद् घटवद्– इति पादत्रयार्थः। विपक्षे कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसंगलक्षणं तर्कमाह– स्वात्मन इति। स्वात्मनस्तत्त्वे देहरूपत्व उद्यमं वेदार्थानुष्ठानगोचरं को नरः कुर्यात्? आमुष्मिकफलभोक्तुरभावादिति भावः॥७०७॥

देखता है तो ऊपर की ओर उड़ जाता है, तथा एक से दूसरी दिशा में उसी तरह भटकता रहता है, वैसे ही विषयों की तृष्णा से पीडित हम भी दुःख व शोक देने वाले अनेक अच्छे-बुरे शरीरों में जाते रहे हैं॥७०२-७०३॥ दृष्टान्त में कबूतरी दार्ष्टांत में विषय हैं। दृष्टांत में भूमि और आकाश दार्ष्टान्त में विविध शरीर हैं। कबूतर से जीव की समानता दुःख शोक पाना हैं। इस प्रकार वैराग्य का वर्णन हुआ जो आत्मविचार में श्रद्धावृद्धि का प्रयोजक है।

तृतीयाध्याय का आरंभ श्रुति ने जिज्ञासुओं के इस विचार से किया है 'यह आत्मा कौन है जिसकी हम उपासना कर रहे हैं?' इसी विचार को दिखाते हैं–यों सोचकर उन सबने आत्मा का ज्ञान कराने वाला विचार प्रारंभ किया। वामदेव की स्थिति देख व उपदेश सुन उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो ही गया था और सनकादि गुरुओं द्वारा दिये उत्तर में उन्हें श्रद्धा भी हो गयी थी॥७०४॥ विचार करते हुए वे बोले–'हे उत्तम ब्राह्मणों! यह आत्मा कौन है जिसे हम जानने को उद्यत हुए हैं तथा जिसका उपदेश पहले गुरुओं ने और अब वामदेव ने हमें दिया है?'॥७०५॥

उपदेश याद आने पर उसमें बताये जड व चेतन दो पदार्थ उन्हें उपस्थित हुए। एक तो जड राशि जो उपलब्ध होती है तथा उपलब्धि कराती है अर्थात् कार्य और करण। दूसरा पदार्थ है चेतन जिसका मूर्द्धा से प्रवेश हुआ। उन दोनों में आत्मा कौन सा है? यह विचार उन्होंने किया–एक तो इंद्रियसमूहयुक्त यह शरीर आत्मा प्रतीत होता है, और शास्त्र से कोई दूसरा ही आत्मा ज्ञात होता है। इनमें से कौन वस्तुतः आत्मशब्द का अर्थ है?॥७०६॥

देह तो आत्मा नहीं हो सकता यह आठ श्लोकों से कहते हैं–जन्म-मृत्यु आदि विकारों वाला होने से देह आत्मा हो यह संगत नहीं जैसे इन विकारों वाला घट आत्मा हो यह संगत नहीं। यदि निजात्मा देहरूप हो तो कौन व्यक्ति परलोकार्थ कर्म करेगा?॥७०७॥ जिसका जन्म होता है उसका नाश निश्चित है और नष्ट वस्तु का कोई स्वरूप रहता नहीं।

जातस्य हि ध्रुवो नाशो नष्टस्यास्ति न किंचन। पुण्यं वा पातकं वापि व्यर्थं वेदोदितं ततः॥७०८॥
अपि देहस्य नैक्यं हि दृश्यते बालवृद्धयोः। ततो लोकेऽपि कर्म स्याद् व्यर्थं यत् क्रियतेऽधुना॥७०९॥
न ह्यन्यः कुरुते कर्म फलमन्यश्च विन्दति। विना स्वाम्यादिसम्बन्धं न चासौ बालवृद्धयोः॥७१०॥
अपि देहात्मतायां स्याद् नायं बोधः कथंचन। योऽहं बालः पुरा वृद्धः स एवास्म्यधुना स्थितः॥७११॥
भेदः प्रत्यक्षतो यस्माद् दृश्यते बालवृद्धयोः। भिन्नयोरेकताज्ञानं न यथा पितृपुत्रयोः॥७१२॥
अपि देहो जडो न स्याच्चेतनो घटवत् सदा। साम्येऽपि यदि चैतन्यं देहस्य न घटस्य किम्॥७१३॥
इन्द्रियाधारता नास्ति घटस्येति मतं यदि। आसनानां समाधार आसनादिस्तथा न किम्॥७१४॥

चतुर्थपादार्थं स्फुटयति-जातस्येति त्रिभिः। स्पष्टम्॥७०८॥ न केवलं शास्त्रोक्तकर्मणामेव वैयर्थ्यरूपो दोषः किन्तु लौकिककर्मणामपि, तत्रापि बालादिकृताध्ययनादिफलस्य युववृद्धाभ्यां भोगायोग्यत्वाद् अवस्थाभेदेन शरीरात्मनो[1] भिन्नत्वादित्याह–अपि देहस्येति। स्पष्टम्॥७०९॥ व्यर्थत्वं स्पष्टयति– न हीति। अन्यकृतफलमप्यन्यो भुंक्ते, यथा सेवककृतयुद्धफलं राजा, यथा वा पितृकृतवैश्वानरेष्टिफलं पुत्रः, पुत्रकृतगयाश्राद्धफलं च पिता; परन्तु तत्र स्वामित्वपुत्रत्वपितृत्वाद्यन्यतरः सम्बन्धः प्रयोजकः, इह तु सोऽपि नास्तीत्याह– विनेति॥७१०॥

किं च देहस्यात्मत्वे बालवृद्धात्मैक्यानुसन्धानं न स्याद् भिन्नयोस्तथाऽननुभवादित्याह– अपि देहात्मतायामिति द्वाभ्याम्। अयम् उत्तरार्द्धोक्तः॥७११॥ भेद इति। स्नेहस्यापि तथानुभवाऽनुपपादकत्वसूचनाय पितृपुत्रदृष्टान्तः। एतेन बालदृष्टं वृद्धो न स्मरेद् अन्यदृष्टस्य अन्येन स्मरणायोगादतिप्रसंगोपि सूचितः॥७१२॥

देहस्य अनात्मतायामनुमानान्तरमाह– अपि देहो जड इति। देहो नात्मा जडत्वाद् घटवत्। विपक्षे दोषमाह– साम्येपीति। जडत्वेन घटसाम्येऽपि यदि देहस्य चैतन्यम् इष्यते तर्हि घटस्य अपि तत्स्यादित्यर्थः॥७१३॥

अतः वेदोक्त पुण्य-पाप सब व्यर्थ होंगे क्योंकि मरकर उन्हें भोगने वाला कोई न होगा॥७०८॥

केवल शास्त्रीय ही नहीं, लौकिक कर्म भी अव्यवस्थित होंगे। शरीर रूप आत्मा तो बदलता रहता है। बाल्यशरीर युवावस्था में नहीं रहता। अतः बचपन में पढ़ा जवानी आदि में काम नहीं आयेगा! इससे भी देह आत्मा नहीं है यह कहते हैं-बालक व वृद्ध का देह विभिन्न दीखता है अतः लोक में भी अभी किया जाने वाला कर्म (आगे के लिये) व्यर्थ होगा॥७०९॥ जहाँ मालिक-नौकर आदि सम्बन्ध न हों वहाँ ऐसा नहीं होता कि कर्म कोई करे और फल दूसरा भोगे। बालक व वृद्ध में ऐसा कोई सम्बन्ध है नहीं॥७१०॥ सूक्ष्मेक्षिका करने पर भी समानाभिमानित्व ही संबंध हो सकेगा जो पुनः भ्रमरूप ही होने से सिद्धान्तानुसारी ही है।

यदि देह आत्मा हो तो बुड्ढे को यह न लगे कि मैं ही बच्चा था यह बताते हैं– और भी, देह ही यदि आत्मा होता तो ऐसा ज्ञान न होता कि जो मैं पहले बालक था वही मैं अब बुड्ढा हुआ हूँ, क्योंकि बाल व वृद्ध के शरीरों में भेद प्रत्यक्ष ही दीखता है एवं भिन्न वस्तुओं की एकता का ज्ञान प्रमा नहीं हो सकता जैसे बाप व बेटे के अभेद की प्रमा नहीं हो सकती॥७११-७१२॥ जैसे बाप को बेटे से स्नेह होता है ऐसे हमें शरीर से स्नेह होता है, इससे भी हमारा शरीर से भेद पता चलता है।

देह अनात्मा है इसमें और अनुमान दिखाते हैं-जड देह वैसे ही चेतन नहीं हो सकता जैसे घड़ा। जडतारूप समानता होने पर भी यदि देह चेतन हो, तो घड़ा चेतन क्यों न हो जाये?॥७१३॥

यदि कहो कि देह तो इन्द्रियों का आधार है, घड़ा नहीं, इससे देह चेतन होवे, घड़े के चेतन होने की संभावना नहीं;

१. शरीररूपात्मनइत्यर्थः।

नापीन्द्रियाण्यात्मा

अपीन्द्रियाणां चैतन्यं प्रत्येकं न हि दृश्यते। अन्धादीनां यतो ज्ञानं शब्दादौ विद्यते स्फुटम्॥७१५॥

रूपाज्ञानं च नास्त्यत्र शब्दादे रूपबोधनात्[१]। एवमोष्ठादिचलनाच्छब्दज्ञानं च जायते॥७१६॥

नन्विन्द्रियाधारता देहस्य घटाद्विशेषः, ततो देह एव चेतनो न घट इति चेद्? न, घटस्यापि विषयत्वेन इन्द्रियाधाररूपाद्याधारत्वेन इन्द्रियाधारत्वात् परम्परयाऽऽधारोऽप्याधार एव, अन्यथा पर्यंके शयानः प्रासादे शेत इति न व्यवह्रियेत, इत्याशयेन परमतानुवादपूर्वकं निराचष्टे– इन्द्रियेति। आसनानां चैलाजिनकुशानां समाधारः स्थण्डिलरूपः आसनादिः आसनेष्वादिः प्रथमगण्यः किं न, किन्तु आसनमेव, 'समे शुचौ शर्करावह्निबालुकाविवर्जिते' (श्वे.२.१०) इत्यादिश्रुतौ देशस्यापि तथात्वबोधनात्। तथा इन्द्रियाणां विषयतयाधारभूतरूपाद्याधारो घटोऽपि कथं न इन्द्रियाधारः, तथा च तस्यापि चैतन्यापत्तिरिति भावः॥७१४॥

किं च इन्द्रियाधारतया देहस्य चैतन्यं प्रत्याशा तदा भवेद् यदि इन्द्रियाणां चैतन्यं विकल्पं सहेत, तदेव तु नास्ति। तथा हि– किमेकैकमिन्द्रियं चक्षुराद्यन्यतरच्चेतनम्? किं वा तेषां समुदायः? तत्र नाद्य इत्याह– अपीन्द्रियाणामिति। यदि चक्षुरेव प्रत्येकपदेन गृह्यते, तदा अन्धस्य किमपि ज्ञानं न स्यात्; न च तथा दृश्यते। एवं बधिरादावपि बोध्यमिति व्यभिचारमाह– अन्धादीनामिति॥७१५॥

तो यह भी उचित नहीं। इन्द्रियों का विषय घट होता ही है अतः विषयरूप से वह उनका आधार है ही। यह भी नहीं कि परंपरा से जो आधार हो वह आधार ही न हो क्योंकि पलंग पर सोने पर भी महल में तो सोते ही हैं! इस आशय से समझाते हैं–यदि कहो कि घट में इन्द्रियों की आधारता न होने से वह चेतन नहीं जबकि देह में इन्द्रियाँ हैं अतः वह चेतन है; तो यदि आधारता होने मात्र से चैतन्य होवे तो आसनों का आधार भूतल क्यों चेतन न हो जाये?॥७१४॥ यहाँ यह विकल्प है: क्या आधार होने से चैतन्य होता है या इन्द्रियाधार होने से? प्रथम का निरास तो उक्त रीति से हो गया। द्वितीय के निरास के लिये उत्तरार्द्ध का अर्थ है कि आसनों का आधारभूत भूतल क्या आसन नहीं होता? अर्थात् वह भी आसन ही होता है यद्यपि साक्षाद् उसपर बैठा नहीं जाता, कपड़ा, मृगचर्म, कुश आदि के व्यवधान से ही बैठा जाता है। ऐसे ही विषयता के व्यवधान से घट इन्द्रियों का आधार है ही, तब वह आत्मा क्यों नहीं? यदि साक्षाद् आधार होना आवश्यक मानो तब भी किस इन्द्रिय का आधार होना चाहिये यह विनिगमना नहीं हो सकेगी तथा सुषुप्त देह को तुम्हे जड मानकर जला देना पड़ेगा। यदि कदाचित् साक्षाद् आधार होने से काम चलाना चाहो तो शव भी चेतन होने लगेगा।

किं च, इन्द्रियों का आधार होने से देह को चेतन बनने की तब आशा होती जब इन्द्रियाँ चेतन होती। पर वही सिद्ध नहीं होता। क्या प्रत्येक इन्द्रिय चेतन है या उनका समुदाय चेतन है? प्रत्येक चेतन नहीं यह बताते हैं–इन्द्रियों में प्रत्येक की चेतनता तो लगती नहीं क्योंकि अंधे आदि को शब्दादि का स्पष्ट ज्ञान होता ही है॥७१५॥ अतः अंधा भी चेतन होने से आँख की ही चेतनता नहीं मान सकते। ऐसे ही बहरे आदि के चैतन्य से कानादि चैतन्य का प्रत्याख्यान हो जाता है। सब इन्द्रियाँ स्वतन्त्र चेतन भी हो नहीं सकती क्योंकि तब शरीर का मन्थन ही हो जायेगा, एक पूर्व की ओर खींचेगा दूसरा पश्चिम की ओर! साथ ही यह अनुभवविरुद्ध होगा।

यह भी नहीं कह सकते कि अंधे को रूपज्ञान नहीं होता, क्योंकि वह सुनता है और शब्द का स्वरूप ही तो 'रूप' है। ऐसे न मानो तो शब्द प्रपंच के अंतर्गत नहीं रहेगा क्योंकि प्रपंच नाम–रूप–क्रियात्मक माना जा चुका है। यही बताते

---

१. इदं नीलमित्यादिशब्दाद्रूपज्ञानसम्भवाच्चक्षुर्मात्रग्राह्यत्वं रूपस्य न वक्तुमुचितम्। न च जात्यन्धस्य तादृशशब्दान्न बोध इति शक्यं गदितुं, त्वगादिना वस्तु गृह्णन्तं प्रतीदं नीलमिति वचनाद्बोधसंभवादन्यच्च वस्तु गृह्णन्तं प्रतीदं पीतमिति कथनेऽनन्तरं विविक्तव्यवहारस्यापि सम्भवात्। यद्वा रूपाज्ञानमित्यत्र रूपपदं स्वरूपपरमित्यनवद्यम्। एवं शब्दस्यापि न श्रोत्रमात्रग्राह्यताऽतो लिखितदर्शने शब्दं पश्यामीति लेखने च शब्दं लिखामीत्यबाधितो लोकव्यवहारः संगच्छते।

अपीन्द्रियाणामात्मत्वे प्रत्येकं नात्मता भवेत्। प्रधानगुणभावोऽयं समानां नोपपद्यते॥७१७॥
सर्वेषामात्मता चेत्स्यादेकस्मिन् हि गते सति। निरात्मकमिदं देहं भवेन्नैवं च दृश्यते॥७१८॥
न चावशिष्टान्यात्मानो ग्रामे यद्वन्महाजनाः। पूर्ववद् विषयावाप्ति र्भवेद् नासौ हि दृश्यते॥७१९॥
न ह्येकस्मिन् मृते ग्रामे विषयावाप्तिसंक्षयः। प्रत्युत क्वचिदाधिक्यं विषयेष्विह दृश्यते॥७२०॥

न च रूपज्ञानमन्धस्य नास्तीति वाच्यं, शब्दस्वरूपस्यैव रूपत्वाद्, अन्यथा प्रपंचबहिर्भावापात इत्यर्थस्य 'नामरूपक्रियाः किं स्युः' (श्लो.२२३) इत्यादिना प्रपंचितत्वादित्याह– रूपाज्ञानमिति। एवं श्रोत्रादिकं विनापि ज्ञानं दृश्यत इति सोदाहरणमाह– एवमिति। आदिपदेन पृष्ठसंयुक्तकरस्याक्षरलेखकस्य ग्रहः॥७१६॥

किं च चक्षुरादेरन्यतरस्य चेतनत्वे तस्यैव प्रधानत्वं वाच्यं स्यात्, तत्तु न वक्तुं शक्यं, विनिगमनाविरहादित्याह– अपीन्द्रियाणामिति॥७१७॥

समुदाय इन्द्रियाणामात्मेति पक्षमनूद्य निरस्यति– सर्वेषामिति। यथा सहस्रतन्तुकपटादेकतन्त्वपाये सहस्रतन्तुकपटो नश्यति इति नैयायिका मन्यन्ते, तथैकेन्द्रियापाये तत्समुदायरूप आत्मा नष्ट इति देहस्य निरात्मकत्वापत्तिरित्यर्थः। देहशब्दः क्लीबोऽपि 'देहःक्लीबपुंसोः' इत्यमरोक्तेः॥७१८॥

ननु यथा ग्रामे प्रधानपुरुषा ये सन्ति तेषु मृतेषु प्रधानपुरुषता अवशिष्टेषु तिष्ठति, तद्वदत्रापि एकेन्द्रियनाशेऽवशिष्टेष्विन्द्रियेष्वात्मता स्याद् इत्याशंक्य; दृष्टान्ते पूर्ववद् व्यवहारो दृश्यते, इह तु पूर्ववद् विषयदर्शनरूपव्यवहाराभावान्नैवमित्याह– न चेति। यद्वद् ग्रामे मृतेभ्योऽवशिष्टमहाजनाः प्रधानपुरुषा व्यवह्रियन्ते तद्वद् अवशिष्टानि इन्द्रियाणि आत्मान इति न च वाच्यं, तथा सति पूर्ववद् विषयावाप्तिः स्याद् असौ तु न दृश्यत इत्यन्वयः॥७१९॥

दृष्टान्ते तु पूर्ववद् व्यवहारो दृश्यत इत्याह– न हीति। विषयो विवादविषयः तस्यावाप्तिः निर्णयायोपस्थितिः तस्या हानि र्न दृश्यते प्रत्युत विपरीतं क्वचित् प्रधानपुरुषाणां शिष्टताधिक्य आधिक्यं ग्रामान्तरविषयेष्वपि निर्णयरूपम् इह दृष्टान्ते दृश्यते॥७२०॥

हैं– अंधे को रूपज्ञान नहीं ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि उसे शब्दादि के रूप का ज्ञान होता ही है। इसी प्रकार ओष्ठ आदि के चलने से (बहरे को) शब्दज्ञान भी हो जाता है॥७१६॥

चक्षु आदि में से कोई एक चेतन होता तो उसकी प्रधानता होती पर ऐसा कुछ है नहीं यह कहते हैं–किंच, इन्द्रियाँ यदि आत्मा हों तो एक शरीर में प्रत्येक इन्द्रिय आत्मा हो यह संभव नहीं। इन्द्रियरूप से समान वस्तुओं में प्रधानता–गौणता उपपन्न नहीं॥७१७॥ एक देह में नाना चेतन अनुभवविरुद्ध हैं व शरीर का विदारण करने वाले हो जायेंगे। अतः किसी एक इन्द्रिय को आत्मा मानने पर किसे मानें यह निर्णय संभव नहीं।

इन्द्रिय-समूह आत्मा है इस मत का निरास करते हैं– यदि सब इन्द्रियों का समुदाय आत्मा हो तो एक इन्द्रिय निकल जाने पर शरीर आत्मरहित हो जाये किन्तु ऐसा होता नहीं॥७१८॥ अंशनाश से अंशिनाश तर्कवेत्ता मानते हैं अतः यह उपपत्ति दी। अंशनाश से केवल न्यूनता मानने वाले मत में चैतन्य की न्यूनता का अननुभव ही उपपत्ति है।

गाँव में जो प्रधान पुरुष होते हैं उनके मर जाने पर बचे हुए लोगों में प्रधानपुरुषता रहती ही है, ऐसे एक इन्द्रिय नष्ट होने पर बची इन्द्रियों में आत्मता क्यों नहीं रहेगी? इसका उत्तर देते हैं कि दृष्टान्त में तो व्यवहार पहले की तरह चलता रहता है जबकि इन्द्रियस्थल में नहीं चलता–यह भी नहीं कह सकते कि जैसे गाँव में एक महाजन के मर जाने पर महाजनत्व समाप्त नहीं होता किन्तु बचे हुए श्रेष्ठ व्यक्तियों में रहता है, वैसे एक इन्द्रिय निकल जाने पर बची इन्द्रियों में आत्मता रह जायेगी। क्योंकि वैसा हो तो पहले की तरह ही विषयदर्शनादि व्यवहार होना चाहिये जो होता नहीं॥७१९॥ गाँव में तो एक मुखिया मर जाने पर ऐसा होता है कि नये मुखिये का कार्य बढ़ भी जाता है॥७२०॥ (इसी तरह आँख

हानिश्चेत् कुत्रचिद् दृष्टा नैवासौ नियता यतः। एवमन्धेऽपि कस्मान्न रूपसाक्षात्क्रिया क्वचित्॥७२१॥

इन्द्रियेभ्यः परश्चेत् स्यादात्मा स्वेन्द्रियसाधनः। करणानामभावाद्धि युक्तं तस्मिन्नदर्शनम्॥७२२॥

न हि प्रदीपे[1] नष्टेऽस्मिंश्चक्षुष्मानपरः पुमान्। विलोकयति मण्यादि विनाशेन विवर्जितः॥७२३॥

न च प्रदीपवच्छक्यमिन्द्रियं हि परं नृभिः। आदातुं कर्मवशगैः शरीरान्तरचारिभिः॥७२४॥

ननु दृष्टान्ते कुत्रचिद् हानिरपि दृश्यत इति चेत्? तर्ह्यत्रापि तत्साम्याभ्युपगमे केषांचिदन्धानां दर्शनापत्तिरित्याह– एवमिति। कुत्रचिद् हानि र्दृष्टा चेत् तथापि असौ व्यवहारहानिः नियता यतो न दृष्टा तत एव तव नेष्टव्यवस्थासाधिका, क्वचिदन्धे रूपज्ञानापत्तेरित्यर्थः॥७२१॥

इन्द्रियेभ्यः पृथगात्मस्वीकारे तु व्यवस्थोपपद्यत इत्याह– इन्द्रियेभ्य इति। स्वानि स्वकीयानि इन्द्रियाणि साधनानि विषयदर्शनोपकरणानि यस्यात्मनः स तथा, तस्मिन्नात्मनि। अदर्शनं विषयाणामिति शेषः॥७२२॥

उपकरणनाश उपकरणवतस्तदुपकरणभिन्नत्वेन तदुपकरणनाशेन अविनष्टस्य तदुपकरणसाध्यक्रियाऽभावो दृष्ट इत्युदाहरति– न हीति। प्रदीपे विलोकनोपकरणे नष्टे चक्षुष्मानपरः पुमान् मण्यादिकं न विलोकयति न सम्यक् पश्यति। न च पुंसोऽपि नाशः प्रदीपभिन्नत्वादित्याह– विनाशेन विवर्जित इति॥७२३॥

नन्वस्तु तर्हि प्रदीपसाम्यमिन्द्रियाणां, तदुपकार्यो देह एव चात्मा– इत्याशंक्य; तव मते प्रदीपविनाशे प्रदीपान्तरवच्चक्षुर्नाशे चक्षुरन्तरं सम्पाद्येत। न च अदृष्टरूपकारणवैकल्यात् तथा न शक्यत इति वाच्यम्, भवन्मतेऽदृष्टकारणजन्मान्तराभावाद्–इत्युत्तरश्लोकेन वक्तुम् आस्तिकमते प्रदीपवद् उपादानं न संभवति, अदृष्ट-पारतन्त्र्याभ्युपगमाद् इत्याह– न चेति। परं विद्यमानेभ्यो भिन्नम्। पूर्वपरदेहत्यागोपादानयो र्मध्ये मूर्च्छाभ्युपगमाद् अपि नेयमापत्तिरास्तिकमत इति सूचयति– शरीरेति॥७२४॥

फूट जाने पर दीखना बंद नहीं होना चाहिये बल्कि कभी ऐसा भी होना चाहिये कि अंधे को अधिक दीखने लगे!) कहीं यदि यह भी दीखता हो कि किसी के मरने पर उसका कार्य बंद हो जाये तो भी यह निश्चित नहीं कि सर्वत्र मृत्यु होने पर कार्य रुकता ही हो। ऐसे ही कभी किसी अंधे को भी दीखना चाहिये।७२१॥ मुखिया मरने पर उसका काम कभी रुकता है, कभी और अच्छा होता है ऐसे ही आँख फूटने पर कभी दीखे कभी न दीखे, कभी और अच्छा दीखे। जबकि होता नियमतः यही है कि नहीं दीखता। अतः बची इन्द्रियों में आत्मता नहीं।

इन्द्रियों से भिन्न आत्मा मानने से व्यवस्था बन जाती है यह कहते हैं– यदि निज इन्द्रियाँ रूप साधनों वाला आत्मा इन्द्रियों से भिन्न हो तब यह संगत है कि करण न होने से वह देख न पाये॥७२२॥ दीपक बुझ जाने पर उससे भिन्न जो आँखों वाला पुरुष है वह तो नष्ट होता नहीं पर मणि आदि को देख भी नहीं पाता॥७२३॥ अतः निश्चित होता है कि साधननाश होने पर क्रिया नहीं हो पाती जबकि क्रिया करने वाला स्थित रहता है। ऐसे ही चक्षुरादि का नाश होने पर आत्मा के रहते ही दर्शनादि न हो यह तभी संगत है जब दीपक से पुरुष की तरह इन्द्रियों से आत्मा पृथक् हो।

इन्द्रियाँ प्रदीप की तरह साधन मात्र रहें पर उनसे उपकृत होने वाला देह आत्मा होवे, क्या हानि है? यही हानि है कि जैसे एक दिया नष्ट हो जाने पर दूसरा दिया ला सकते हैं ऐसे चक्षु नष्ट हो जाने पर दूसरी चक्षु लाकर दर्शन हो जाये! ऐसा होता नहीं। आस्तिकमत में यह आपत् नहीं, चार्वाकों के यहाँ ही है यह बताते हैं–कर्मवशंगत शरीरान्तरगामी लोगों द्वारा बुझे दीप की जगह नया दीप जलाने की तरह एक इन्द्रिय नष्ट होने पर अन्य इन्द्रिय ग्रहण करना संभव नहीं, किन्तु

---

१. रूपदर्शनोपकरणतया प्रसिद्ध इत्यर्थः। चार्वाकोपि दीपस्य करणतामभ्युपगच्छतीति युक्तमुदाहरणम्। इह च प्रकरण इन्द्रियेति मनोव्यावृत्तपरं मनआत्मवादिनामुत्तरत्र (श्लो.७३५) परीक्षणात्। इन्द्रियाणि चेह नातीन्द्रियाणि सूक्ष्माण्युच्यन्ते प्रत्यक्षवादिना तथा विधानामनंगीकार्यत्वात्किन्तु प्रातिस्विककार्यनिर्वर्तका देहावयवविशेषा एवेति ज्ञेयम्।

येषान्तु न भवेदात्मा शरीरादपरो नृणाम्। इन्द्रियान्तरमादातुं शक्यं तै र्हि प्रदीपवत्॥७२५॥

ग्रामे यद्वन्मृते तस्मिन् समर्थे हि महाजनाः। समर्थमपरं तस्य कार्य आददते क्षणात्॥७२६॥

यथा प्रजाश्च राजानं पूर्वस्मिन् हि मृते सति। स्वीकुर्युरपरं तद्वदिन्द्रियाणीन्द्रियान्तरम्॥७२७॥

ऐकमत्यं न चेत्तेषां क्रिया काचिन्न सिद्ध्यति। ग्रामादौ न भवेत् कार्यमैकमत्यं विना क्वचित्॥७२८॥

इन्द्रियाणां न चैतन्यं तेन सम्भाव्यते क्वचित्। किन्तु व्यापारमात्रं हि रूपादीन् प्रति दृश्यते॥७२९॥

चेतनाधारता तेन देहस्यास्ति न काचन। ततो घटस्य देहस्य वैषम्यं केन ते भवेत्॥७३०॥

येषामिति। येषां चार्वाकाणां मत इति शेषः॥७२५॥

न केवलमयं देहात्मवाद एव प्रसंगः किन्तु इन्द्रियात्मवादेऽपि, जन्माभावेन अदृष्टकारणनैरपेक्ष्याद् विनष्ट-शिष्टेन्द्रियैस्तादृशस्य सम्पादनापत्तेः इति सदृष्टान्तमाह– ग्राम इति द्वाभ्याम्॥७२६॥ यथेति। स्पष्टम्॥७२७॥

नन्विन्द्रियाणि कुर्युरेवैवं यद्यैकमत्यं स्यादिति चेत्? तर्हि भिन्नात्मनामिन्द्रियाणामैकमत्याभावे, दर्शनादिक्रियाऽपि न स्यादिति सदृष्टान्तमाह– ऐकमत्यमिति। ऐकमत्यं समाननिश्चयः॥७२८॥

फलितमाह- इन्द्रियाणामिति। तेन इष्टानुपपत्त्यनिष्टप्रसंगरूपतर्केण सम्भाव्यते बुद्धावारोहयितुं शक्यते। किन्तु रूपादीन् प्रति इन्द्रियाणां व्यापार एव दृश्यते, प्रकाशकत्वं तु कस्यचिदन्यस्यैव, तेन एतानि करणानि एव न तु आत्मान इति॥७२९॥

जिनके मत में शरीर से अन्य आत्मा नहीं है उन्हें तो अन्य इन्द्रिय ग्रहण कर सकना चाहिये क्योंकि उनके मत में कर्मवशता तो है नहीं॥७२४-७२५॥ आजकल आँख आदि का प्रत्यारोपण होता है। आस्तिक मत में तो वहाँ भी इन्द्रिय का नहीं गोलक का ही प्रत्यारोपण होता है। इन्द्रिय तो सूक्ष्मदेह के अंगरूप से हर जीव के साथ ही बनी रहती है। पाप-प्रारब्धवश तब तक गोलकदोष से कार्य नहीं कर पाती। प्रारब्ध-समाप्ति पर प्रत्यारोपण सफल होता है तो कार्य कर लेती है। प्रारब्ध न समाप्त हुआ हो तो प्रत्यारोपण भी विफल होता दीखता है तथा इन्द्रिय काम नहीं कर पाती। नास्तिक (देहात्मवादी) मत में प्रत्यारोपणवैफल्य को यादृच्छिक मानना पड़ेगा जो असंगत है।

देहात्मवाद ही नहीं, इन्द्रियात्मवाद में भी यह दोष आता है क्योंकि नष्ट होने पर इन्द्रिय का पुनः जन्म होता नहीं यह सार्वजनिक अनुभव है तथा अदृष्ट कारण की अपेक्षा उस मत में भी है नहीं। अतः एक इन्द्रिय नष्ट होने पर बची इन्द्रियों से उस इन्द्रिय का काम क्यों नहीं होता आदि दोष उस मत में भी बने रहेंगे। यही स्पष्ट करते हैं– जिस तरह गाँव में किसी समर्थ व्यक्ति के मर जाने पर महाजन लोग किसी अन्य समर्थ पुरुष को उसके कार्य पर नियुक्त कर देते है या जैसे पूर्व राजा मर जाने पर प्रजा नवीन राजा स्वीकार लेती है, उसी तरह एक इन्द्रिय नष्ट हो जाने पर अन्य इन्द्रियों को चाहिये कि किसी को उसके कार्य पर नियुक्त करें॥७२६-७२७॥ ऐसा होता नहीं अतः इन्द्रियाँ जड ही होनी चाहिये।

अगर कहो कि इन्द्रियाँ ऐसा कर तो लें पर उनमें ऐकमत्य स्थापित न हो पाने से वे नहीं कर पाती, तब तो दर्शनादिक्रिया भी न हो पायेगी, यह कहते हैं– यदि कहो कि इन्द्रियों में एकमतता न होने से उक्त नियुक्ति नहीं हो पाती, तो वह भी नहीं कह सकते। यदि एकमतता न हो तो कोई भी क्रिया सही ढंग से नहीं हो सकती। गाँव आदि समूहों में ऐकमत्य के बिना कोई कार्य होता नहीं॥७२८॥ अतः इन्द्रियसमुदाय का कार्य भी ऐकमत्य से ही होता है।

फलितार्थ बताते हैं– अतः इन्द्रियाँ चेतन हैं यह कभी संभव नहीं। देखा केवल इतना जाता है कि रूप आदि विषयों के प्रति उनका व्यापार है॥७२९॥ अतः वे केवल करण सिद्ध होती हैं। प्रकाशक तो उनसे विलक्षण ही है।

इस प्रकार जो देह को घट से भिन्न कहना प्रारंभ किया था (श्लो.७१४) वह निरस्त हुआ यह निगमन करते हैं–

भूतमेलनान्न देहे चैतन्यम्

न जायतेऽत्र चैतन्यं भूतपंचकमेलनात्। घटेऽपि मिलितं ह्येतत् कस्मात्तत्र न जायते॥७३१॥

न च वायोरभावोऽस्ति स्तिमिता वायवो यतः। सन्ति सर्वत्र नभसि[१] तन्नभोऽस्ति घटेऽपि हि॥७३२॥

अपि संयोगतो वायो दृश्यते न च चेतना। घटे मृते तथा देहे तस्माद्यत्किंचिदीरितम्॥७३३॥

चेतनानां समाधाराद् गौणी तस्यात्मता मता। इन्द्रियाणां न चैतन्यं नातस्तेष्वपि सा भवेत्॥७३४॥

तथा च चेतनाधारत्वेन देहस्य घटाद् विशेष उक्तो निरस्त इत्याह– चेतनेति। तेन शरीराधिकरणकानामिन्द्रियाणां चेतनत्वाभावोपपादनेन॥७३०॥

ननु यथा गुडदधिसंयोगे पीनसस्य नाशशक्तिरभिव्यज्यते यथा च ताम्बूले खादिरादियुते रागशक्तिः, एवं भूतसमुदाये शरीरे ज्ञानशक्तिः सैव च घटाद्विशेष इत्याशंक्य; घटेऽपि तथाभावान्नैवं वक्तुं शक्यमित्याह– न जायत इति। एतत् भूतपंचकम्। न जायते चैतन्यमिति शेषः॥७३१॥

घटे वाय्वभावमाशंक्य निराचष्टे– न चेति। घटे वायोरभावोस्तीति न वाच्यं यतः सर्वत्र नभसि वायवः स्तिमिताः सन्ति तत् च नभो घटेऽपि अस्ति इत्यन्वयः। स्तिमिता आर्द्रचूर्णवत् परस्परमिलितावयवाः। अत एव शब्दनित्यत्ववादिनो मीमांसका आहुः–वक्तृमुखोद्गता हि वायवीयाः संयोगविभागाः प्रसरन्तः स्तिमितवाय्वपसारणेन शब्दं व्यंजयन्ति, तदभावात् सतोऽपि शब्दस्याऽग्रहणम्–इति। नभस्वानिति नामापि वायोराकाशेन नित्ययोगमाख्याति। अनुभूयते च व्यजनचालनेन घनीभावापचय इति॥७३२॥

प्रत्यक्षमात्रप्रमाणवादिनं प्रति प्रत्यक्षविरोधमप्युदाहरति– अपि संयोगत इति। घटे तथा मृते देहे वायोः संयोगतोऽपि व्यजनादिना विहितात् चेतना ज्ञानं न दृश्यते, तस्माद् एतद् भूतमिलनेन चैतन्यलाभपरम् ईरितं त्वद्वचनं यत्किंचित् तुच्छमित्यर्थः। तस्माच्छरीरस्य न मुख्यात्मतेति सिद्धम्॥७३३॥

इन्द्रियाणां चैतन्याभावप्रतिपादनफलं च शरीरस्य तदाधारतया गौणात्मतानिरास इन्द्रियाणां च मुख्यात्मतानिरास इत्याह–चेतनानामिति। समाधाराद् धारणात् तस्य देहस्य गौणी आत्मता मता चेत् साऽपि दुर्लभा यत इन्द्रियाणां न चैतन्यं मतं तेषु इन्द्रियेषु अपि सा आत्मता न भवेदिति॥७३४॥

इसलिये देह में चेतन-आधारता नहीं है। तब तुम्हारे मत में घट से देह में क्या अंतर होगा?॥७३०॥

गुड व दही मिलाने से पीनस रोग की दवा बन जाती है, अकेले गुड या दही में उस रोग को हटाने की सामर्थ्य नहीं। ऐसे ही पान में कत्थादि मिलकर जो लाली होती है वह पान, कत्था आदि अकेले किसी में नहीं है। ऐसे ही भूतों के समुदाय इस शरीर में ज्ञानशक्ति है। यही उसका घट से अंतर है। इस मत का खण्डन करते हैं– 'पाँच भूतों के मिल जाने से शरीर में चैतन्य उत्पन्न हो जाता है' यह भी उचित नहीं क्योंकि पाँच भूत तो घट में भी मिले हैं, वहाँ क्यों नहीं चैतन्य पैदा हो जाता?॥७३१॥ यह नहीं कह सकते कि घट में अन्य महाभूत होने पर भी वायु नहीं है क्योंकि निश्चल वायु आकाश में सर्वत्र है और वह आकाश घट में है ही॥७३२॥ और ऐसा भी नहीं कि अन्य भूतों के समूह से वायु का संबंध हो जाने पर चेतना आ जाती है, क्योंकि घट या मृतदेह से वायुसंबंध होने पर भी उनमें चेतना उपलब्ध होती नहीं। अतः भूतों के मिलने से चेतना उत्पन्न होती है, यह अतितुच्छ मत है॥७३३॥ चेतन इन्द्रियों का आधार होने से देह की

---

१. नभोऽनंगीकर्तृमतेऽपि स्थानमवकाश इति किंचित्स्वीकार्यमेव तस्यैवेह नभोवाचोक्तेरदोषः। न च वस्त्वभावः स्थानमिति स्वीकारादभावस्य च भाववाय्वनधिकरणत्वान्नोक्तव्याप्तिरिति वाच्यं, वायोरधिकरणे वाच्येऽभावात्मको न कुत आधारो भवेत्? सर्वत्र वायुरिति च लौकिक-प्रतीतिरबाधितेह मानमपि तत्स्वीकार इति दिक्।

मनआत्मतानिरासः

हृदये यद्यपि ज्ञानं दृश्यते सर्वदेहिनाम्। तथापि देहवत्तस्य नात्मता मांसरूपतः॥७३५॥

प्राणानात्मता

प्राणोऽपि न भवेदात्मा वायुत्वाद् बाह्यवायुवत्। प्राणस्यादर्शनान्नैव मृत्युः स्यान्नियतो नृणाम्॥७३६॥

स्थावराणां भवेन्मृत्यु र्न तस्यादर्शने क्वचित्। जंगमेष्वपि मूर्च्छादौ प्राणः क्वापि न लभ्यते॥
म्रियन्ते नैव ते तत्र प्राणो नात्मा भवेत्ततः॥ ७३७॥

निर्गमाद्यस्य मृत्युः स्यात् स आत्मेति वृथा वचः। अपि निर्गमतो वह्ने र्मृत्यु र्दृष्टो हि देहिनाम्॥
भवतां नात्मता तस्य प्राण आत्मेति वादिनाम्॥७३८॥

चार्वाकाश्चतुर्विधा देहेन्द्रियमनःप्राणात्मवादभेदात्, तत्राद्यौ निरस्तौ। तृतीयमते च मनःपदेन मनोनिवासो हृदयदेशो विवक्षितः प्रत्यक्षमात्रप्रमाणकत्वाद्, इति तं निरस्यति– हृदय इति। हृदयदेशोऽनात्मा मांसरूपत्वान्मृतशरीरवदिति प्रयोगः॥७३५॥

प्राणात्मवादिनं प्रत्याह– प्राणोऽपीति। नन्वदर्शनेन मृत्युप्रयोजकत्वमात्मलक्षणमिति चेद्? न। अदर्शनं हि प्रत्यक्षमात्रप्रमाणकेन प्रत्यक्षाविषयत्वमेव वाच्यं, तथा च स्थावरप्राणेऽव्याप्तिरित्याह– प्राणस्येति। प्राणस्यादर्शनाद् नृणां मृत्यु र्नियतो भवेत्– इति प्राणात्मत्वोपपादनाय न वाच्यं यतः स्थावराणां तस्य प्राणस्य अदर्शनेऽपि क्वचिद् मृत्यु र्न दृष्ट इति॥७३६॥

जङ्गमप्राणेप्येतल्लक्षणस्य नानुगम इत्याह– जंगमेष्वपीति। ते जंगमाः। तत्र मूर्च्छादौ। तत उक्तलक्षणस्याप्यनुपपत्तेः॥७३७॥

अथ निर्गमेण मृत्युप्रयोजकत्वमित्यस्तु लक्षणमिति चेद्? न, तथापि जठराग्नौ व्यभिचारादित्याह– निर्गमादिति। वह्नेरपि निर्गम इत्यन्वयः। न चेष्टापत्तिः प्रतिज्ञाहान्यापत्तेरित्याह– भवतामित्यादिना। तस्य वह्नेः॥७३८॥

गौण आत्मरूपता वादी को इष्ट थी किन्तु क्योंकि इन्द्रियाँ चेतन नहीं होती इसलिये जब वे ही आत्मा नहीं तब उनका आधार होने से देह आत्मा क्योंकर होने लगा?॥७३४॥

देह, इन्द्रिय, मन और प्राण, इन्हें आत्मा मानने वाले चार्वाकों के चार सम्प्रदाय हैं। देहात्मवादी व इन्द्रियात्मवादी चार्वाकों का तो खंण्डन कर चुके। अब मनआत्मवाद का विचार करते हैं। चार्वाकमत में प्रत्यक्ष ही प्रमाण है अतः अतीन्द्रिय मन की वे बात नहीं कर सकते। मन के निवासस्थान हृदय को ही मन कहना पड़ेगा। यही मानकर कहते हैं– यद्यपि सब लोगों को हृदय में ज्ञान होता है जिससे लगता है कि हृदय आत्मा होगा, तथापि देह की तरह मांसरूप होने से वह आत्मा हो नहीं सकता॥७३५॥ हृदय से चाहे नाभि से दस अंगुल ऊपर का स्थल समझें चाहे मस्तिष्क समझें, देहरूपता उभयत्र समान है।

अब प्राण को आत्मा कहने वाले के प्रति बोलते हैं–प्राण भी आत्मा नहीं क्योंकि बाह्य वायु की तरह वह वायु ही है। लोगों को यह निश्चय भी नहीं कि प्राण की उपलब्धि न होने पर भी उनकी मृत्यु अवश्य है क्योंकि वृक्षादि स्थावरों में कहीं प्राण का प्रत्यक्ष न होने पर भी उनकी मृत्यु प्रमित नहीं होती। ऐसे ही सर्पादि कुछ जंगमों में भी ग्रीष्मादि कालों में प्राण उपलब्ध नहीं होता तथा गहरी मूर्छा में भी प्राण का प्रत्यक्ष नहीं होता, पर उस दशा में भी देही मरता नहीं। अतः प्राण का आत्मा होना नामुमकिन है॥७३६-७३७॥ चार्वाक प्रत्यक्षसिद्ध प्राण ही स्वीकार सकता है। स्थावरों में प्राण प्रत्यक्ष है नहीं। वैज्ञानिक भी कार्यानुमान से ही उनमें प्राण मानते हैं। फिर भी उनमें जीवन का अपलाप संभव नहीं क्योंकि वृद्धि

निर्गमो हि यथाऽस्पर्शात् प्राणस्येहानुमीयते। तथाऽग्नेरपि संस्पर्शाच्छीतलादनुमीयते॥७३९॥

अग्निप्राणौ न च स्यातामात्माऽनेकात्मता भवेत्। तथात्वे सा च नो युक्ता प्रत्यभिज्ञाद्यभावतः॥७४०॥

अपि मृत्युः सदा[1] दृष्टो निर्गमे रुधिरस्य हि। तव तस्यात्मता नेष्टा प्राणवह्न्यात्मवादिनः॥७४१॥

न च प्राणनिर्गमः प्रत्यक्षत्वेन विशेषयितुं शक्यः, अनुमेयतया वह्निनिर्गमेन समत्वादित्याह– निर्गमो हीति। यथा प्राणस्य निर्गमोऽस्पर्शाद् नासिकाद्यग्रधृतहस्तादिना स्पर्शाभावज्ञानाद् अनुमीयते तथाऽग्नेरपि निर्गमः शीतलात् स्पर्शाद् अनुमीयत इति। प्रयोगस्त्वेवम्–एतच्छरीरात् प्राणो निष्क्रान्तः, योग्यत्वे सति अनुपलभ्यमानस्पर्शकत्वाद् व्यतिरेके जीवत्प्राणवत्; इदं शरीरं निष्क्रान्ताग्निकं, शीतलस्पर्शकत्वाद, व्यतिरेके जीवच्छरीरवत्॥७३९॥

अग्निप्राणसमुदायोऽस्त्वात्मा–इत्याशंक्य निराचष्टे– अग्निप्राणाविति। अग्निप्राणौ द्वौ समुदायभावेन एक आत्मा न च स्यात्, समुदायदुर्निरूपतायाः प्रपंचितत्वात्; किन्तु तथात्वे तथाभावांगीकारेऽनेकात्मताऽऽत्मनो द्वित्वं स्यात्, न चेष्टापत्तिरित्याह– सा चेत्यादिना। साऽनेकात्मता न योग्या, प्रत्यभिज्ञाद्यभावापातात्, 'नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः' इति न्यायात्। आदिपदेन य एवाहमद्राक्षं स एव स्पृशामीत्याद्यनुसन्धानं गृह्यते॥७४०॥

किं च निर्गमेन मृत्युप्रयोजकत्वं लक्षणं रुधिरेऽतिव्याप्तमित्याह– अपि मृत्युरिति द्वाभ्याम्। तव प्राणवह्न्योरात्मत्ववादिनः। तस्य रुधिरस्य। आत्मता नेष्टेति॥७४१॥

आदि जीवन प्रत्यक्ष है। कुछ बाह्य मत वाले जीवन और चेतना को परस्पर स्वतन्त्र मानते हैं। किन्तु वृक्षों में चेतना भी है यह प्रयोगशील विचारकों ने स्थापित किया है। अतः जीवन व चेतना की स्वतन्त्र उपलब्धि का स्थल नहीं मिलता। जड पर्वतादि में भी वृद्धि आदि प्रत्यक्ष होते हैं, अतः वृद्धि से वृक्षों में जीवन कैसे सिद्ध होगा? चेतनवादी के मत में तो वहाँ भी चेतना है ही। जडत्व व्यवहार तो सामान्यतः चेतनाऽनुपलब्धि से होता है जैसे लोक में पशु को चेतन और घास आदि को जड कह देते हैं और जानवर मारने वाले को ही जीवघाती कहते हैं, घास काटने वाले को नहीं।

जिसका निकलना मृत्यु का प्रयोजक हो वह चेतन है, यह लक्षण माने तो क्या दोष है? यही दोष है कि यह लक्षण जठराग्नि में भी है जबकि तुम उसे आत्मा नहीं मानते। यह बताते हैं– 'जिसके निकल जाने से मौत होती है वह आत्मा है (प्राण निकल जाने से मौत होती है अतः प्राण आत्मा है)' यह बात भी व्यर्थ है कारण कि जठराग्नि निकल जाने से भी लोगों की मृत्यु होती है। प्राण को आत्मा मानने वाले आपके मत में जठराग्नि को आत्मा कहा नहीं जा सकता॥७३८॥

ऐसा भी नहीं कि प्राण निकलना प्रत्यक्ष हो, वह्नि निकलना नहीं, इस भेद से एक आत्मा हो दूसरा नहीं; क्योंकि प्राण निकलना भी अनुमेय ही है। यह बताते हैं– जैसे स्पर्श न होने से शरीर से प्राण का निर्गम अनुमित होता है वैसे ही शीतल स्पर्श से अग्नि का निर्गम भी अनुमित होता है॥७३९॥ अतः दोनों में उक्त अन्तर नहीं।

अग्नि व प्राण का समुदाय आत्मा हो? इस शंका को हटाते हैं–अग्नि व प्राण दोनों का आत्मा होना संगत नहीं क्योंकि वैसा होने पर एक देह में अनेक आत्मा होने लगेंगे और यह हो नहीं सकता अन्यथा प्रत्यभिज्ञादि संभव न होंगे॥७४०॥ प्रथमतः तो समुदाय ही सिद्ध नहीं होता यह विस्तार से कह ही चुके हैं। मान भी लें तो आत्मत्व दोनों में ही स्वीकारना होगा। यदि दोनों के मिलने से मानें तो पहले 'मिलने' का ही निर्वचन नहीं हो सकेगा और यदि कथंचिद् वह भी मान लें तो आखिर मिलने पर वह किनमें होगा यह प्रश्न बना रहेगा। अन्यतर में मानने में विनिगमनाविरह है अतः दोनों में ही मानना होगा। प्रत्यभिज्ञाविरोध इस प्रकार होगा : अग्निरूप आत्मा को जो ज्ञान हुआ उसका स्मरण प्राणरूप आत्मा को हो नहीं सकता क्योंकि नियम है कि अन्य के देखे को अन्य याद नहीं कर सकता। अतः साथ–साथ दो अनुभव होने लगेंगे 'मुझे (अग्निको) याद है', 'मुझे (प्राण को) याद नहीं'! ऐसा कभी नहीं होता। ऐसे ही 'जिस मैंने देखा था

---

१. सदेति प्रायइत्यर्थ उत्तरत्रारुधिराणामपि जीवनोक्तेरिति द्रष्टव्यम्।

रुधिरस्य तवात्मत्वमेवं सति समापतेत्। प्राणिनो दोषदुष्टा हि जीवन्त्यरुधिराः क्वचित्॥७४२॥

प्राणाग्निरुधिराणां स्याज्जडानां नात्मता क्वचित्। दृश्यतेऽत्र त्रयाणां हि बहिर्जाड्यं स्फुटं नृभिः॥७४३॥

अनात्माऽन्तःकरणम्

मनो बुद्धिस्तथा चित्तमहङ्कारश्च न क्वचित्। आत्मा बहुत्वतस्तत्र प्रत्यभिज्ञाद्यभावतः॥७४४॥

एकैकशोऽपि नैतेषामात्मता करणत्वतः। न हीन्द्रियाणामात्मत्वं प्रदीपादेरथाऽपि वा॥७४५॥

रुधिरस्येति। एवं सति उक्तलक्षणांगीकारे सति तव मते रुधिरस्यात्मत्वं समापतेत् प्रसज्येत। न च तस्यात्मत्वेन संग्रहः कर्तुं शक्यः, तद्विनाऽपि क्वचिज्जीवनदर्शनादित्याह– प्राणिन इति। दोषेण रुधिरशोषहेतुना दुष्टा विकृतिं नीता अरुधिरा अपि जीवन्ति क्वचिद् देशे काले वा; यथा मूर्छिताद्याः, यथा वा हिरण्यकशिपुस्तपस्यन्नस्थिशेषः॥७४२॥

किं च प्राणाग्निरुधिराणां त्रयाणामनात्मत्वं जडत्वेन प्रसाध्यं, न च जडत्वं स्वरूपासिद्धं, शरीराद् बहिः स्थितानां प्राणादीनां जाड्यस्य स्पष्टत्वादित्याह– प्राणेति॥७४३॥

अथ अन्तःकरणमात्मानात्मत्वाभ्यां विचारयति– मन इति। चत्वारोऽन्तःकरणभेदा नात्मा, आत्मबहुत्वापाताद् बहुत्वांगीकारे च पूर्वोक्तप्रत्यभिज्ञाद्यनुपपत्त्यापत्तिरिति॥७४४॥

ननु मनआद्यन्यतमस्यात्मत्वमस्तु–इत्याशंकां निराकुर्वन्, 'येन वा पश्यति' (ऐ.३.१) इत्यादिवाक्यस्य भाष्योक्तार्थं हेतुतयाह– एकैकश इति। एतेषां मनआदीनाम् एकैकस्यान्यतमस्य, अपिशब्दात् समुदायस्य[1] आत्मता न। कुतः? करणत्वतः। अन्तःकरणं हि चतुर्धाऽपि चक्षुरादिद्वारा निर्गतवृत्तिभिः आवरणाभिभावकत्वेन उपरागसंपादनेन वा चिद्धातो विंषयप्रकाश उपकरणं, तत् कथमात्मा भवेत्? उपकरणस्यात्मत्वे च इन्द्रियाणां प्रदीपादेश्च आत्मत्वापत्तिरित्याह– न हीति॥७४५॥

वही मैं अब छू रहा हूँ' इत्यादि अनुभव का नियम भी नहीं रहेगा; कभी ऐसा भी होगा 'जिस मैंने (अग्नि ने) देखा था वह मैं अब नहीं छू रहा और जो मैं (प्राण) छू रहा हूँ उसने देखा नहीं था'! ये सब अनर्गल कल्पनायें स्वीकार्य होंगी। अतः अग्नि-प्राण समुदाय आत्मा नहीं।

निकलने से मृत्यु का हेतु तो खून भी है, वह आत्मा नहीं। अतः उक्त लक्षण गलत है यह कहते हैं– खून निकल जाने पर प्रायः मृत्यु होना देखा गया है जबकि प्राण व अग्नि को आत्मा मानने वाले तुम्हारे मत में खून आत्मा माना नहीं जाता। लक्षणानुसार तो तुम्हे खून को आत्मा मानना चाहिये। लेकिन वह भी गलत होगा क्योंकि सदोष प्राणी कहीं बिना खून के भी जीवित रहते हैं। प्राण अग्नि व रुधिर कभी आत्मा नहीं हो सकते क्योंकि हैं ही जड। जब ये शरीर से बाहर होते हैं तब यहीं इनकी जडता लोगों को स्पष्ट हो जाती है।७४१-७४३॥ रुधिर के बिना पेड़ आदि का जीवन दीखता ही है। खून बदल भी दिया जाता है पर उससे न पूर्व की विस्मृति होती है और न जिसके देह से खून लिया है उसके अनुभवों की स्मृति। रुधिर की उत्पत्ति तो शरीर में निरन्तर होती है। अतः यह निश्चित अनात्मा है। इसीलिये इसके समान योगक्षेम वाला प्राणादि को बता दिया।

अब अंतःकरण के आत्मत्व का परीक्षण करते हैं– मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार, ये भी आत्मा नहीं क्योंकि ये अनेक (चार) हैं। ये आत्मा हों तो देह में चार आत्मा होने लगेंगे और ऐसा मानने में दोष बताये जा चुके हैं॥७४४॥

ऐतरेय में विचार किया है कि जिससे देखता है, सुनता है इत्यादि वह मन है और वह करण होने से आत्मा नहीं।

---

१. समुदायानिरूपणादेव समुदायो नात्मा। प्रत्येकं चानात्मत्वे समुदाये तदसिद्धेराम्भस्यायौक्तिकत्वात्प्रत्येकं चात्मत्वे समुदायवैयर्थ्यात्। प्रत्येकमपि नात्मता सुप्तावभावादिति।

कर्तृत्वेऽपि च नास्येति नियतिः केनचित् क्वचित्। वक्तुं शक्या यतः साम्यं चतुर्णामिह विद्यते॥७४६॥
अपि शब्दास्तथा बोधाः सार्था अपि चतुर्विधाः। मनआदेस्तु शब्दानां बोधानामात्मता न हि॥७४७॥

अर्थाअनात्मानः

तथापीष्टत्वतो ह्यर्थाः शिष्यन्ते तान् विचारय। किन्ते जडा उतान्ये स्यु र्जडत्वे नात्मता भवेत्॥७४८॥[1]

ननु किमर्थं मनआदीनामुपलम्भकरणत्वमभ्युपगम्यत उपलम्भकर्तृत्वमेवास्तु–इत्याशंकां निरस्यति– कर्तृत्वेपीति। उपलम्भकर्तृत्वे स्वीक्रियमाणे, अस्य एव मनसो वाऽहंकारादे र्वा इति नियतिः नियमहेतुयुक्तिः केनचित् क्वचिद्वक्तुं न शक्या विनिगमनाविरहात्। स एव कुतः? इत्यत आह– यत इत्यादि। यतश्चतुर्णां मनोबुद्ध्यहंकाराणां परस्परमिन्द्रियैश्च जडत्वेन साम्यं दृश्यते। तथा च अनेकात्मतापत्तिः, जडानामात्मत्वे व्याघातश्चेति भावः॥७४६॥

किं च मनआदीनामात्मत्ववादी प्रष्टव्यः– किं मनोबुद्ध्यहंकारचित्तशब्दाश्चत्वार आत्मानः, किं वा मनःप्रभृति-शब्दजन्या अर्थाकाराश्चतस्रो वृत्तयः? किमथवा मनआदिशब्दानां चत्वारोऽर्था आत्मानः? तत्र नाद्यद्वितीयौ, शब्दतज्जन्यवृत्तीनामर्थप्रकाशार्थतया शेषत्वेन शेषिरूपात्मत्वायोगादित्याह– अपि शब्दा इति। मनआदेः अन्तःकरण-चतुष्टयस्य वाचकशब्दास्तथा सार्था अर्थैः सहिता बोधाश्चतुर्विधाः सन्ति, शब्दबोधार्थानां प्रत्येकं चतुर्विधत्वमित्यर्थः। तत्र शब्दानां बोधानां च आत्मता न हि वक्तुं शक्या, शेषत्वादिति शेषः॥७४७॥

परिशेषादर्थेषु विचारमवतारयति– तथापीति। तथापि शब्दतज्जन्यवृत्त्योरनात्मत्वेपि अर्था अवशिष्टाः, कुतः? इष्टत्वतः ईप्सिततमत्वात्। अर्थो हि बोध्यः स च बोद्धु र्बोधकरणै र्बोधक्रियया च फलाश्रयत्वेनेप्सितो भवतीत्यतः प्रधानत्वादर्था विचार्याः। विचारस्वरूपमाह– किन्तइति। किन्तेऽर्था जडाः किमुत अन्ये चेतनाः। तत्र जडत्वे जडभागस्य पदार्थत्वे जडत्वस्य परिच्छेदव्याप्यत्वात् परिच्छेदस्य च अनित्यत्वव्याप्यत्वादनात्मतैव भवेद्यथा घट इति॥७४८॥

यह याद कर यहाँ भी मन आदि में से किसी एक को आत्मा क्यों नहीं मान सकते यह कहते हैं– ये मिलकर या प्रत्येक भी आत्मा नहीं हो सकते क्योंकि ये हैं करण। करण जो इन्द्रियाँ या प्रदीप आदि उन्हें तुम भी आत्मा नहीं मानते॥७४५॥ भगवान् भाष्यकार ने ऐतरेयक व्याख्या में स्पष्ट कहा है 'न तावद्येनोपलभ्यते स आत्मा भवितुमर्हति। उपलब्धिकरणत्वेन गुणभूतत्वाद् नैव तद् वस्तु ब्रह्म…'। अर्थात् जिससे उपलब्धि (ज्ञानरूप भी क्रियारूप भी) होती है वह आत्मा नहीं हो सकता। जिसे उपलब्धि होती है उसका गुणभूत अर्थात् उसके लिये होने से वह वस्तु सर्वशेषी ब्रह्म हो यह कैसे हो सकता है? (अध्याय ३ खं.१)

इस आपत्ति से बचने के लिये यदि मनआदि को करण नहीं उपलब्धि का कर्ता ही मानें तो क्या हानि है? बताते हैं– मनआदि को करण की जगह कर्ता मानें तो कोई कहीं निश्चित नहीं कह सकता कि मन आदि चारों में कर्ता कौन है? चारों जड होने से समान ही हुए॥७४६॥ एक देह में नाना आत्मा मानना, प्रत्यभिज्ञाविरोध आदि सब दोष इस पक्ष में हैं ही, 'मेरा मन' आदि अबाधित अनुभव का अपलाप भी इसमें स्फुट दोष है।

किं च मन आदि को आत्मा मानने वाले से हम पूछते हैं: क्या मन आदि चार शब्द आत्मा हैं? या उन शब्दों से होने वाली अर्थाकार चार वृत्तियाँ आत्मा हैं? अथवा उन शब्दों के चार अर्थ आत्मा हैं? इनमें पहले दो विकल्प अस्वीकार्य हैं। शब्द और वृत्ति अर्थ के प्रकाशन के लिये होने से शेष हैं, शेषी आत्मा नहीं हो सकते। यह कहते हैं– किं च मन आदि अर्थ-सहित शब्द व बोध चार प्रकार के होते हैं। मन आदि शब्द व बोध आत्मा नहीं हैं॥७४७॥ मन यह शब्द है ही, मन यह ज्ञान भी होता है और मन पदार्थ तो है ही। ऐसे ही चित्तादि भी त्रिविध हैं। अतः मन आदि चार शब्द, चार ज्ञान और चार अर्थ हुए। शब्द व ज्ञान की अनात्मता में अर्थशेषता ही हेतु है।

---

१. ७४८-७४९ तमयोः श्लोकयोः संहत्यान्वयो ज्ञेयः।

परिच्छेदादनित्यत्वाद् घटवच्चोक्तदोषतः। कालाकाशादयोप्येते जडा नित्या न तु क्वचित्॥७४९॥
अपि वस्तुपरिच्छेदस्तेषु तिष्ठति वादिनाम्। अनित्यत्वं तथात्वे स्यात् परिच्छिन्नत्वहेतुतः॥७५०॥
वस्तुना वाऽपि देशेन कालेनाप्यथ च्छेदनम्। विद्यते न हि भेदोऽत्र विना स्वं मानसं भ्रमम्॥७५१॥

सच्चिदानन्दस्वरूपमभिन्नम्

अथान्ये ते प्रकाशाः स्युरानन्दात्मसदात्मकाः। भेदोऽत्र न भवेत्तेषां भेदहेतोरभावतः॥७५२॥

अनेकजडानामात्मत्वे प्रत्यभिज्ञाद्यनुपपत्ति र्व्याघातश्चेत्याह– उक्तदोषत इति। ननु न जडत्वं परिच्छिन्नत्वव्याप्यम्, अत एव आकाशादयो नित्या इत्याशंकां निराचष्टे– कालेति। तेषामपि स्वोपादानैकदेशवृत्तित्वेन परिच्छिन्नत्वादनित्यत्वाच्च॥७४९॥

विभुत्वाभ्युपगमेप्याह– अपीति। परैरपि भेदप्रतियोगित्वरूपो वस्तुपरिच्छेदोऽभ्युपेयते। तथा च 'यावद्विकारम्' (ब्र.सू.२.३.७) इति न्यायात् कार्यत्वेनानित्यत्वमिति॥७५०॥

परिच्छिन्नत्वस्य अनित्यत्वनिरूपितव्याप्तिग्रहोपयोगिसाहचर्यग्रहमभिनयति– वस्तुनेति। वस्तुपरिच्छेद इत्यस्यायमर्थः– वस्तुना पटादिना इतो घटाद्भिन्नतया कल्पितेन अस्य घटस्य परमार्थतः पूर्णस्य छेदनं भेदप्रतियोगितया कल्पनारूपं विद्यते। एवं देशकालपरिच्छेद इत्यस्य– देशकालाभ्यां कल्पिताभ्यामत्यन्ताभावप्रतियोगितायाः प्रागभावध्वसंप्रतियोगिताया वा कल्पनारूपं छेदनं विद्यते। वस्तुतः अत्र वस्तुनि मानसं भ्रमं कल्पनारूपं विना भेदः अणुरपि न विद्यते – इति। तथा च विवेकिनां परिच्छेदेन सह कल्पितत्वमनित्यतारूपमुपलभ्यते, अज्ञानान्धानां तु वृत्तमन्यदिति भावः॥७५१॥

तब अर्थ ही बचते हैं जिनमें आत्मत्व की शंका संभव है अतः उन्ही का विचार करते हैं– फिर भी इष्ट होने से अर्थ बचते हैं, उनका विचार करो। क्या वे अर्थ जड हैं या चेतन? जड हों तो आत्मा न होंगे क्योंकि तब वे परिच्छिन्न और अनित्य होंगे। मन आदि अर्थ हैं भी चार। यदि वे आत्मा हों तो प्रतिदेह अनेक आत्मा होंगे जिससे प्रत्यभिज्ञादि संभव न होंगे। काल आकाश आदि जड वस्तुएँ भी कभी नित्य नहीं होती॥७४८-७४९॥ अर्थ को इष्ट कहा क्योंकि जानने वाले के करणों से व जाननारूप क्रिया से वही फलाश्रयरूप से इच्छित होता है। इसी से वह प्रधान है। यद्यपि कुछ वादी आकाशादि को नित्य मानते हैं तथापि भगवान् बादरायण ने नियम किया है कि जो भी वस्तु विभक्त होगी अर्थात् स्वसमान-सत्ताक प्रतियोगी के भेद वाली होगी वह विकारी अतः अनित्य ही होगी। फलतः एक परमेश्वर से अतिरिक्त कुछ नित्य नहीं। उसकी अपेक्षा सब न्यूनसत्ताक ही हैं। और वे परिच्छिन्न भी हैं। अपने उपादान माया के एकदेश में ही आकाशादि हैं। माया के दशांश में ही आकाश है ऐसा भी माना गया है। अव्यापक वस्तु आत्मा नहीं हो सकती। जब बाकी सबसे अधिक विस्तृत और स्थायी आकाशादि ही आत्मा नहीं तो मन आदि कैसे आत्मा होंगे?

आकाश को विभु मान लें तो भी वादियों के मत में आकाश आदि में वस्तुपरिच्छेद (अन्योन्याभाव) रहता ही है। परिच्छिन्नता से उनमें अनित्यता अवश्य माननी पड़ेगी॥७५०॥

परिच्छिन्न को अनित्य क्यों मानना पड़ेगा यह समझाते हैं– किसी में भी वस्तु, देश या काल से निरूपित अभावप्रतियोगिता स्वकीय मानस विभ्रम से अतिरिक्त रहती नहीं। कल्पना से अतिरिक्त भेद कुछ नहीं है॥७५१॥ वस्तु-निरूपित अभाव अर्थात् भेद, देशनिरूपित अभाव अर्थात् अत्यंताभाव तथा कालनिरूपित अभाव प्रागभाव और ध्वंस। इनकी प्रतियोगिता को भ्रम कहा। अर्थात् घट का ऊपरोक्त कोई भी अभाव मानना भ्रम कहा। वस्तु स्वरूपतः निरपेक्ष अतः पूर्ण होती है। प्रतियोगिरूप से उसे समझने के लिये प्रसक्ति की जरूरत है। सापेक्ष होने से प्रतियोगिरूप भ्रममात्र है। सापेक्षत्व मिथ्यात्व का प्रयोजक है। कल्पित वस्तु नित्य नहीं होती। कल्पितता व अनित्यता समनियत हैं। एवं च वस्तु में

[1]सदानन्दप्रकाशानामात्मनश्चात्मनो भिदा। न दृश्यते यथा लोके स्वस्य स्वस्माद्धि वस्तुनः॥७५३॥

न प्रकाशः सुखादन्यः प्रतिकूलो जडो भवेत्। न सुखं बोधतो[2] भिन्नमज्ञानमसुखं यतः॥७५४॥

न सत्ता सुखबोधाभ्यां भिन्ना स्यादसतः पृथक्। असुखज्ञानरूपत्वे को भेदः सदसत्त्वयोः॥७५५॥

तृतीये द्वितीयपक्ष[3] इष्टापत्तिं दर्शयति– अथान्य इति। अथ ते मनआदिपदार्था अन्ये जडभिन्नास्तर्हि प्रकाशरूपा वक्तव्याः, तथा च आनन्दात्मसदात्मका आनन्दात्मसद्रूपाः स्युः प्रकाशस्य दुर्ग्राह्यभेदतया परिपूर्णत्वेनानन्दरूपत्वात्, तादृशानन्दस्य च सर्वान्तरत्वेन तद्भावस्य साक्षिणमन्तराऽसिद्धेश्चेति। तथात्वेऽपि भेदः कुतो न स्याद्–इति मूढशंकामालक्ष्य भेदाभावं प्रतिजानीते– भेदोऽत्रेति। अत्र मनआदिपदार्थानां सदानन्दात्माभिन्नप्रकाशरूपत्वे सति तेषां सदादिस्वरूपाणां भेदो न भवेद् , भेदहेतोरभावाद् दुर्वचत्वादिति यावत्॥७५२॥

किमेषां स्वरूपाणां सतः सतो भेदः, आनन्दस्यानन्दाद्भेद इत्येवं भेद आपाद्यते, किं वा परस्परम्? इति विकल्प्य; तत्र नाद्य इत्याह– सदानन्देति। सदानन्दप्रकाशानामात्मनश्च एषां चतुर्णाम् आत्मनः स्वरूपाद् भिदा न दृश्यते, यथा लोके पटादिवस्तुनः स्वस्य स्वरूपस्य स्वस्मात् स्वरूपादिति॥७५३॥

द्वितीयं निरस्यति– न प्रकाश इत्यादिना। अन्यत्वे प्रतिकूलत्वेन जडत्वापत्तिरित्यर्थः। सुखस्य बोधाद् भिन्नत्वेऽभासमानत्वेन असुखत्वापत्तिः भासमानसुखस्यैव पुरुषार्थत्वादिति॥७५४॥

न सत्तेति। सत्ता सुखबोधाभ्यां भिन्ना चेत् तर्हि असतः पृथङ् न स्याद्, किन्तु असद्रूपैव स्याद, एवं च सत्ताया असुखज्ञानरूपत्वे सुखज्ञानभिन्नरूपत्वे तस्या एव असत्वात् सदसत्त्वयोः जगति भेदो न स्यादिति॥७५५॥

परिच्छिन्नता कल्पित होने से परिच्छन्न वस्तु भी कल्पित अतः अनित्य है। आकाश में वस्तुपरिच्छेद है अतः वह अनित्य है। अनित्य को आत्मा नहीं कह सकते अन्यथा अकृताभ्यागमादि दोष प्राप्त होंगे।

इस प्रकार मन आदि पदार्थ जड हों तब आत्मा नहीं। यदि कहो वे चेतन होने से आत्मा हैं, तब हमें भी इष्ट है यह कहते हैं– यदि मन आदि पदार्थ जडभिन्न हों तो वे प्रकाशात्मक अतः सच्चिदानन्दरूप होंगे। तब सद् आदि स्वरूप मन आदि पदार्थों में कोई भेद (परिच्छेद) न हो सकेगा क्योंकि उनमें भेद होने का कोई कारण नहीं॥७५२॥ कहीं भी भेद का कारण भेद ही होता है अतः अन्योन्याश्रयादि दोषों के कारण वास्तविक भेद ही अप्रसिद्ध है। अवास्तविक भेद वास्तविक नित्यतादि का विरोधी नहीं। अपरिच्छिन्न सदादिरूप वस्तु में परिच्छेदमात्र अध्यस्त हैं। अपरिच्छिन्न वस्तु ही वास्तविक नित्य आत्मा है। ज्ञान में स्वतः भेद सिद्ध नहीं होता। अतः वह परिपूर्ण है, आनन्द है। आनन्द वस्तुतः साक्षी ही है। सर्वान्तर साक्षी ही परिपूर्ण है। मन आदि को चेतन मानने पर उन्हें साक्षी ही मानना होगा जो सिद्धान्त ही है।

सच्चिदानन्द आत्मा अखण्ड है। सत्, चित् और आनन्द ये तीन वस्तु या धर्म नहीं, एक आत्मा ही है। यदि इनमें भेद मानो, तो क्या सत् का सत् से, आनन्द का आनन्द से व चित् से, चित्का सद् व आनन्द से और आनन्द का सद् और चित्से भेद कहोगे? पहला विकल्प संभव नहीं यह कहते हैं– सद्, आनन्द, प्रकाश और आत्मा इनका स्वयं अपने से भेद असंभव है क्योंकि लोक में खुद से खुद का भेद कहीं नहीं दीखता॥७५३॥ दूसरा विकल्प भी हो नहीं सकता यह बताते हैं–प्रकाश (ज्ञान) सुख से भिन्न नहीं क्योंकि वैसा होने पर वह प्रतिकूल होने से जड हो जायेगा। सुख भी ज्ञान से भिन्न नहीं क्योंकि वैसा होने पर वह असत् से भिन्न न होता कारण कि सुख व ज्ञान से भिन्न रूप वाले हों तो सत् और असत्

---

१. भेदहेतोरभावं सिषाधयिषु हेंतुद्वैविध्यमभिप्रेत्य द्वयोरसम्भवमाह–सदेत्यादिना। स्वस्मिन् भेदस्य हेतुः स्वमेव वा स्याद् अस्वं वा, अन्यस्तु कल्पो नास्ति। तत्र नाद्यो लोकेऽदृष्टे र्वादिभिश्चानङ्गीकारादिति भावः। २. पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धयोः को भेदोऽर्थ इति चेद्? प्रकाशसुखयो र्न भेद इत्येतावता भेदाभेदयोरपि सम्भवादत्यन्ताभेदख्यापनाय सुखप्रकाशयोरपि न भेद इति वक्तव्यमेव। 'व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवद्' (३.३.३७) इति सूत्रे स्थितो न्यायोऽत्र बोध्यः। ३. मनआदिपदार्था जडभिन्ना आत्मान इति पक्षइत्यर्थः।

सुखबोधौ न च स्यातां भिन्नौ सत्तास्वरूपतः। असत्त्वे च तयो र्वन्ध्यापुत्रादस्ति कुतो भिदा॥७५६॥
सदानन्दप्रकाशेभ्यो नात्मा भिन्नः कथंचन। तथात्वेऽसदनानन्दाज्ञानानि स्युस्तवात्मनः॥७५७॥
नास्ति न प्रतिकूलो न न जडः सर्वदेहिनाम्। आत्मा यतोऽहमस्मीति स्वानुकूलो विदन् सदा॥७५८॥
आत्माऽहमित्यनन्तस्य दृश्यते ज्ञानमात्मनः। सर्वस्य प्राणिमात्रस्य सन्देहादिविवर्जितम्॥७५९॥

सुखबोधाविति। स्पष्टम्॥७५६॥

सदानन्देति। आत्मा सदानन्दप्रकाशेभ्यो न भिन्नः तथात्व आत्मनः सदानन्दप्रकाशेभ्यो भिन्नत्वांगीकारे तव मत आत्मन असदनानन्दाज्ञानानि स्युः, भावप्रधानो निर्देशः, तथा च असत्त्वानानन्दत्वाज्ञानत्वानि स्युरित्यर्थः। अज्ञानत्वं प्रकाशत्वविरोध्यावरणत्वम्॥७५७॥

तर्कस्य विपर्ययपर्यवसायितां दर्शयन्नात्मनोऽसत्त्वानानन्दत्वाज्ञानत्वानि न सन्तीत्याह– नास्ति नेति। सर्वदेहिनाम् आत्मा नास्ति न किन्त्वस्त्येव, प्रतिकूलो न किन्त्वनुकूलः, न जडः किन्तु प्रकाशः। अत्राशंकमानं प्रति व्याघातं सूचयन्नात्मसत्त्वादावनुभवं दर्शयति– यत इत्यादिना। यत आत्मा अहमस्मि इति आकारेण, तथा स्वानुकूलः प्रतिकूल-विलक्षणः कदाप्यप्रियो न भवामीत्याकारेण, विदन् जानन् स्फुरन् भामीत्याकारेण सदा भासत इति शेषः॥७५८॥

एवं विचारयतां तेषामधिकारिणामात्मनोऽनन्तत्वस्मृतिमपि जातामभिनयति– आत्मेति। भो सखायः! आत्मा इति तथा अहम् इति अनन्तस्य आत्मनो ज्ञानं यतः सर्वस्य प्राणिजातस्य दृश्यत इति। आत्मपदार्थो हि–

'यच्चाप्नेति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह। यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते॥' (लिं.पु.१.७०.९६) इति निरुक्तः। कीदृशं ज्ञानम्? सन्देहादिविवर्जितमिति। अत एव अहमस्मि न वा इति, नाहमस्मीति वा न कश्चिद् वदतीति॥७५९॥

में क्या भेद होगा? सुख व ज्ञान सत्तास्वरूप से पृथक् नहीं हो सकते अन्यथा वन्ध्यापुत्र से उनका क्या भेद होगा? सत्, आनन्द व प्रकाश से आत्मा किसी तरह भिन्न नहीं अन्यथा आत्मा असत्, दुःख व जड होगा जो किसी को स्वीकार्य नहीं॥७५४-७५७॥ काँटा आदि जड चीज़ ही प्रतिकूल होती है। प्रकाश प्रतिकूल होगा तो काँटे आदि की तरह जड भी होगा तथा प्रकाश का जड होना व्याहत है। सुख अभासमान नहीं होता, क्योंकि उसमें प्रमाण नहीं। अतः अभासमान होगा तो असुख ही होगा। फलतः सुख कभी ज्ञानभिन्न नहीं माना जा सकता। ज्ञान के बिना जो न मिले उसे ज्ञान से अभिन्न ही मानना पड़ेगा। सुख व ज्ञान से भिन्न तो वन्ध्यापुत्र है। यदि सद् भी सुख व ज्ञान से भिन्न हो तो वह भी अलीक ही होगा। आत्मा को जड मानने में आपत्ति है उसके सदा स्फुरण के अनुभव की। प्रत्यगात्मा हमेशा सद्रूप से भासता है। और इस भान का बाध भी होता नहीं। सुषुप्ति में स्फुट भान भले ही न हो पर यह कभी नहीं लगता कि आत्मा (मैं) नहीं है या भास नहीं रहा। अर्थात् असत्त्वेन कभी उपलब्धि नहीं होती। अतः उसे असत् नहीं कह सकते। इसीलिये अचित् भी नहीं कह सकते। सर्वदा निरतिशय प्रिय होने से असुख नहीं कह सकते। यद्यपि वादी आत्मा को सदादिभिन्न मानते हैं तथापि वह है ग़लत यह अभिप्राय है।

आत्मा असद् आदि हो, हानि क्या है? स्वानुभवविरोध ही हानि है यह बताते हैं– सभी देहधारियों का आत्मा नहीं है ऐसा नहीं, सदा है ही। वह प्रतिकूल और जड भी नहीं है क्योंकि यह सबका अबाधित अनुभव है कि मैं सदा हूँ, सदा अपने अनुकूल हूँ और सदा जानते हुए रहता हूँ अर्थात् भासता रहता हूँ॥७५८॥ अनुभूति का अपलाप दार्शनिक नहीं कर सकता, व्यवस्था बना सकता है। वादी इन अनुभवों की जो भी व्यवस्था बनायेंगे वह गौरवग्रस्त होगी। इन अनुभवों की सबसे लघुभूत व्यवस्था सच्चिदानन्द आत्मा मानना ही है। किंच व्यवस्थान्तर अप्रामाणिक होंगी जबकि यह व्यवस्था श्रुतिसिद्ध है।

अत एव न भिन्नाः स्युः सदानन्दप्रकाशकाः। नरशृङ्गाहिकुड्यादौ नैवं धी दृश्यते यतः॥७६०॥

आत्मा न वस्तुपरिच्छिन्नः

न चास्ति कारणं किञ्चिद् दृश्यते स्वात्मनः पृथक्। न हि लोको जडो नाम विद्यते स्वधियं विना॥७६१॥

स्वयं स्वस्य न हेतुः स्यात् पदार्थः कोऽपि कुत्रचित्। अज्ञानादपि रज्ज्वादेः सर्पादेरेव हेतुता॥७६२॥

अत एवेति। अतः आत्मनः सदानन्दप्रकाशरूपत्वे सत्यनन्तत्वादेव सदानन्दप्रकाशा आत्मनो न भिन्नाः। तत्र हेतुम् आत्मभिन्ने सदादिबुद्ध्यभावमाह– नरेति। यदि सदादिपदार्था आत्मभिन्नाः स्युस्तर्हि आत्मभिन्नतया मतेषु नृशृंगसर्पकुड्येषु यथाक्रमं सदानन्दप्रकाशबुद्धयः स्युरित्यर्थः॥७६०॥

ननु कथमात्मनोऽनन्तत्वं, जडवस्तुकृतपरिच्छेदाद्? इत्याशंक्य; जडस्य आत्ममात्रकारणत्वाद् आत्मनः पृथक् स्फूर्तिराहित्याच्च भिन्नत्वं दुर्वचमित्याह– न चास्तीति। कारणम् आत्मनः पृथक् किञ्चिन्नास्ति, तथात्वे कारणस्य निःस्वरूपतापत्तेः,'आत्मन एवेदं सर्वम्' (द्र.बृ.२.१.२०) इत्यादिश्रुतेश्च। न च आत्मनः पृथक् किंचिद् दृश्यते। कथम्? इत्यत आह– न हीति। लोक्यत इति लोको विषयो घटादिः जडो नाम जडत्वेन प्रसिद्धः स्वधियं स्वस्य आत्मनो धियं भानं विना न विद्यते किन्तु प्रकाशरूपात्मभानपूर्विकैव विषयस्फूर्तिरित्यर्थः। तथा च यथा घटो मृत्कारणको मृदुपलंभपूर्वकोपलंभशाली च न मृदः पृथक् तथात्मनः प्रपंच इति भावः॥७६१॥

यों विचारते हुए उन अधिकारियों को आत्मा की अनन्तता याद आयी यह कहते हैं– 'आत्मा मैं हूँ' ऐसा अनन्त आत्मा का निःसन्दिग्ध ज्ञान सब प्राणियों में देखा जाता है॥७५९॥ लिंगपुराण में आत्मा शब्द का अर्थ बताया है: क्योंकि यह सुषुप्ति में प्रतिदिन परमात्मा को प्राप्त करता है, क्योंकि यह जाग्रदादि वासनायें ले जाता है, क्योंकि अज्ञावस्था में यह विषयों का भोग करता है, क्योंकि इसका 'होना' सदा है, इसलिये इसे आत्मा कहते हैं। यद्यपि कालिक अनित्यता कभी नहीं प्रतीत हो सकती अतः कालगत नित्यता आत्मा की सहज स्वीकार्य है तथापि दैशिक और वास्तविक (=वस्तुगत) अनित्यता तो प्रतीत होती है, तब आत्मा नित्य कैसे? अन्वय-व्यतिरेक से दृष्टिसृष्टि में ही पर्यवसान होने पर ये नित्यतायें भी प्रतीतिसिद्ध हो सकती हैं। तब तक शास्त्रसिद्ध माननी चाहिये। 'मैं नहीं था,' 'मैं नहीं रहूँगा', इन अनुभूतियों के रहते कालिक नित्यता भी आत्मा में कैसे मानें? इन अनुभवों में 'मैं' शब्द किसे विषय करता है इसके निर्धारण से मालूम चल जाता है कि ये अनुभव मेरी अनित्यता नहीं बताते, उपाधियों की अनित्यता ही कहते हैं। उपाधितादात्म्यवश उपाध्यभाव को हम अपनी अनुपस्थिति समझते हैं। इसमें तर्कानुगृहीत श्रुति ही प्रमाण है। 'था', 'रहूँगा' ऐसा अनुभव कभी नहीं होगा। वह तो 'हूँ' ऐसा ही होगा। पर 'नहीं था', 'नहीं रहूँगा' यह विपर्यय हट जायेगा। यही नित्यता का अनुभव है।

अत एव सत्, आनन्द और प्रकाश आत्मा से भिन्न नहीं क्योंकि आत्मभिन्न नृशृंग, सर्प, भित्ति आदि में क्रमशः सद्, आनंद और प्रकाश ऐसा निश्चय नहीं होता॥७६०॥ यदि सद् आदि आत्मभिन्न होते तो जो निश्चित रूप से आत्मभिन्न नृशृंगादि हैं वे भी सद् आदि रूप से भासते। भासते नहीं अतः सद् आदि आत्मभिन्न भी नहीं।

जड वस्तुओं से परिच्छिन्न (सीमित) रहते आत्मा अनन्त कैसे? जड का कारण आत्मा ही है। कार्य कारण से अभिन्न होता है यह तदनन्यत्वाधिकरण में स्पष्ट है। अतः स्व स्वका परिच्छेदक संभव नहीं फलतः आत्मा जड से परिच्छिन्न नहीं। आत्मा से पृथक् सत्ता और स्फूर्ति (भासमानता) जड की न होने से भी वह आत्मा से अनतिरिक्त है, इसलिये भी परिच्छेद सम्भव नहीं। यही बताते हैं– निज आत्मा से पृथक् कोई कारण नहीं है और आत्मा से अतिरिक्त कुछ उपलब्ध भी नहीं होता। आत्मा के भान के बिना विषय नामक कोई वस्तु है नहीं॥७६१॥ कारण यदि आत्मा से पृथक् हो तो निस्वरूप हो फलतः कारण ही न हो पाये। श्रुति भी आत्मा से ही इस सब जडजात की उत्पत्ति कहती है। मिट्टी से स्वतन्त्र न मिलने से घट मिट्टीरूप या मिट्टीकारणक ही मानना पड़ता है। आत्मसत्ता-स्फुरत्ता से पृथक् जड न मिलने से उसे भी आत्मरूप या आत्मकारणक ही मानना होगा। 'मिलना' सदा मुझे होता है और मैं हूँ तब होता है। अतः मुझसे पृथक् जड नहीं।

देशकालपरिच्छेदाभावश्चात्मनः

न चात्मा कुत्रचिद् देशे स्थितोऽस्ति गवि गोत्ववत्। आधारो हि प्रकाशेन विना नैव प्रसिद्ध्यति॥७६३॥

ततो देशश्च कालश्च वस्तु यत् सदसद्वपुः। अध्यस्तं सर्वमेवैतत् प्रकाशे शर्वरीसमम्॥७६४॥

दृश्यते मोहतोऽस्माकमानन्दात्मप्रकाशतः। शयानानां यथा मोहात् स्वप्ने सदसदात्मकम्॥७६५॥

ननु यद्यात्मनो भिन्नं न किंचित् तर्हि सृष्टिश्रुतयः कथं कारणतामाहुः? इत्याशंक्य; अद्वैते बुद्ध्यवतारणार्थं तथाहुः। न च तासां तत्र तात्पर्यमिति बोधयन्, जडं स्वयमुत्पद्येत– इति शंकामपि वारयति– स्वयमिति। **कार्यपूर्वक्षण-वृत्तित्वरूपकारणत्वस्य तदुत्तरक्षणवृत्तित्वरूपकार्यत्वस्य सहभावविरोधादिति। नन्वज्ञानात् स्वस्य स्वं प्रति हेतुतास्तु ? इत्यत आह–** अज्ञानादिति। अज्ञानादपि या रज्ज्वादे हेंतुता **सापि सर्पादिकं प्रत्येव, न रज्जो रज्जुं प्रतीति। अतो वस्तुतोऽजमेव तत्त्वमिति। तदुक्तं गौडपादैः 'एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते' (मां.का.३.४८) इति॥७६२॥**

एवं वस्तुपरिच्छेदं निरस्य देशकालपरिच्छेदाभावमप्याह– न चात्मेति। **गोव्यक्तिरूपदेशे गोत्वं यथा तिष्ठति तद्वत् कुत्रचिद् देशे न स्थित इत्यर्थः। तत्रोक्तलक्षणात्मभिन्नाधारस्य सिद्ध्ययोगं हेतुमाह–** आधारो हीति। **एतेन कालपरिच्छेदाभावोप्युपलक्षितः॥७६३॥**

ननु यदीदृशमात्मतत्त्वं तर्हि कथं प्रपंचभानम्? अत आह– तत इति। सदसद्वपुः **अनिर्वचनीयं यद्वस्तु आकाशादि अध्यस्तं कल्पितम्, कीदृशम्?** प्रकाशे **मध्याह्नार्के** शर्वरीसमं **घूककल्पितरात्रिनिभम्॥७६४॥**

दृश्यत इति। **एतादृशं सर्वम् अस्माकं मोहतो दृश्यते। मोहेनापि आत्मप्रकाशांशो नाच्छादयितुं शक्य इति दर्शयति–** आनन्दात्मेति। **दृष्टान्तमाह–** शयानानामिति॥७६५॥

यदि आत्मा से भिन्न कुछ नहीं तो श्रुति ने सृष्टि काहे की कही है और आत्मा को कारण किस का कहा है? सृष्टिश्रुतियों का तात्पर्य अद्वैत स्पष्टीकरण है, न कि आत्मा को किसी अनात्मा का कारण और अनात्मा को आत्मा का कार्य बताना! उपक्रमादिसिद्ध अद्वैत के अर्थवाद हैं सृष्ट्यादि प्रसंग। जगत् आत्मभिन्न उपलब्ध होते अद्वैत कैसे संभव है? इस शंका को हटाने के लिये वेद ने कह दिया जगत् अद्वितीय आत्मा का कार्य है फलतः उससे भिन्न नहीं अतः अद्वैत संभव है। इतना ही उन श्रुतियों का अभिप्राय है। इसे समझाते हुए, जंड स्वयं पैदा हो जाता है इस शंका का वारण करते हैं– कहीं भी कोई भी पदार्थ खुद अपना कारण नहीं हो सकता। अज्ञान से भी रस्सी आदि साँप का ही कारण बनती है, स्वयं अपना कारण नहीं बन जाती॥७६२॥ कारण उसे कहते हैं जो कार्य से पहले हो अतः कार्य-कारण एककाल में हो नहीं सकते, तब एक वस्तु दोनों कैसे हो? इसीलिये परमाचार्यों ने अजाति का प्रतिपादन किया।

वस्तुकृत परिच्छेद (भेद) आत्मा में नहीं यह स्पष्ट कर दिया। अब देश-कालपरिच्छेद (अत्यन्ताद्यभाव) भी नहीं, यह बताते हैं– गो में गोत्व की तरह आत्मा किसी देश में स्थित नहीं बल्कि सभी आधार आत्मरूप प्रकाश के बिना सिद्ध नहीं होते॥७६३॥ 'भूतल पर घट की तरह' न कहकर 'गो में गोत्व की तरह' कहकर सत्ता जाति मानने वालों का निषेध किया है। आत्मा सद्रूप से अनुगत धर्मी है न कि सत्तारूप से अनुगत धर्म। किं च जैसे गाय में उपलब्ध गोत्व का गाय से पृथक् निर्वचन नहीं कर सकते, गाय का परामर्श किये बिना गोत्व क्या है यह नहीं कह सकते, ऐसे आत्मा जहाँ भी उपलब्ध होता है उससे पृथक निर्वचनीय न हो ऐसा नहीं, उसका तो पार्थक्येन निर्वचन संभव है; यह भी बताना इष्ट है। 'किसी देश में' से 'किसी काल में' भी समझ लेना चाहिये।

आत्मतत्त्व अद्वितीय है तो प्रपंच कैसे भास रहा है? इस पर कहते हैं– इसलिये देश, काल एवं अनिर्वाच्य वस्तु, ये सब प्रकाशरूप आत्मा में वैसे ही अध्यस्त हैं जैसे उल्लू की दृष्टि से प्रकाश में अँधेरा॥७६४॥ आनन्दात्मप्रकाश के मोह (अज्ञान) से सद्-असद् रूप प्रपंच हमें वैसे ही दीखता है जैसे सोते हुए लोगों को जाग्रद्वस्तुओं के अज्ञान से सपने में अनिर्वाच्य प्रपंच दीखता है॥७६५॥

तस्यानन्त्यम्

ततोऽनन्तत्वमायातं सदानन्दात्मरूपिणः। प्रकाशस्य यतश्छेदस्त्रिधाऽस्मिन्नैव विद्यते॥७६६॥

एष देवः पुरा सर्ग उपदिष्टो महात्मभिः। गुरुभिश्चाधुनाऽस्मभ्यं वामदेवेन चेरितः॥७६७॥

अस्य जिज्ञासयास्माकं समाजोयं महानिह। अन्तःकरणभेदानां विकल्पेनात्र निश्चितः॥७६८॥

अयमात्मा यदर्थं हि कोऽयमात्मेति चेरितम्। अस्माभिः कृतकृत्याः स्मो वयं सर्वेऽत्र सङ्गताः॥७६९॥

हृदयादिनामप्रदानम्

यतोऽन्तःकरणोपाधि र्ह्यस्माभि र्हृदये पुमान्। आनन्दात्माऽपरिच्छेदः सत्प्रकाशोऽवलोकितः॥७७०॥

तस्मादस्यात्र नामानि दास्यामः सङ्गता वयम्। अवाङ्मनसगम्यस्य हृदयादीन्यनेकशः॥७७१॥

फलितमाह– तत इति। तत उक्तयुक्तिकदम्बात् सदानन्दात्मरूपिणः प्रकाशस्य आनन्दत्वम्[१] आयातं सिद्धमिति यावत्। यतोऽस्मिन् प्रकाशे त्रिधा परिच्छेदो न वर्तते[२] इत्यन्वयः॥७६६॥

एतावदेव सर्वशास्त्रमेयमित्याह– एष इति। एष सर्वान्तरोऽद्वितीयो देवो गुरुभिः सनकाद्यैः पुरा सर्गे पूर्वसृष्टौ अस्मभ्यमुपदिष्टः, तथा वामदेवेनेरितो बोधितः॥७६७॥ अस्येति। पूर्वार्धं स्पष्टम्। अंतःकरणेति। विकल्पेन विचारेण द्वारभूतेन विनिश्चितः अयमात्मेत्युत्तरेणान्वयः॥७६८॥

अयमात्मेति। ईरितमस्माभि र्विचारारम्भ उक्तम्। स्पष्टमन्यत्॥७६९॥

अत्रेदं प्रघट्टकतात्पर्यमनुसन्धेयम्– 'येन वा पश्यति' इत्यादेः 'यदेतद्' (ऐ.३.१) इत्यन्तस्य वाक्यस्य, येन चक्षुरादिरूपपरिणतेन दर्शनादि व्यापारं करोति तदुपलब्धिकरणमनात्मा– इति श्रौतोऽर्थः; तमनुसन्दधतामधिकारिणां चिद्व्याप्तान्तःकरणस्वरूपस्य जडांशविमोकेन अनुसन्धानात् तस्यैव वाक्यस्य तात्पर्यार्थोप्यवगतः, तत्स्वरूपं च तदुपलब्धिकरणं यदर्थं स प्रकाशो विचार्यमाणः सदानन्दात्मा सर्वान्तरोऽद्वितीयश्च साक्षादपरोक्ष आत्मेति। स एष द्विविधोऽर्थः पूर्वग्रन्थेन दर्शितः।

क्योंकि तीनों प्रकार का परिच्छेद इसमें नहीं है इसलिये सद्–आनंद–आत्मरूप प्रकाश की अनंतता सिद्ध होती है॥७६६॥ महात्मा सद्गुरुओं द्वारा पूर्व सृष्टि में भी इसी महादेव का उपदेश दिया गया था। अभी–अभी वामदेव ने भी हमें वही समझाया है॥७६७॥ इस महादेव की जिज्ञासा अर्थात् विचार के कारण हमारा यह समाज इस लोक में महान् हो गया है। अंतःकरण के भेदों के विचार से हमने इस विषय में निश्चय किया है॥७६८॥ यही वह आत्मा है जिसके लिये प्रारंभ में हमने प्रश्न उठाया था 'यह आत्मा कौन है?' यहाँ एकत्र हम सब कृतकृत्य हो चुके हैं॥७६९॥

ऐतरेयोपनिषत् में जो कहा कि जिससे देखता है इत्यादिं वह मन है, उसका अभिप्राय निश्चित किया कि उपलब्धि का करण अनात्मा ही है, मन आत्मा नहीं है। किन्तु इतना ही तो उपनिषत् बताना नहीं चाहती, और भी कुछ कहना चाहती है, क्योंकि प्रश्न था आत्मा कौन है; यह तो नहीं कि कौन आत्मा नहीं है। अतः मुनियों ने मन का गहन अनुसंधान किया तो उसे सदा चिद्व्याप्त पाया अर्थात् उसमें हमेशा सत्ता–स्फुरत्ता पायी। विवेकपूर्वक उसका जो जडांश है वह उन्होंने हटा दिया। नाम–रूप–क्रियात्मकता ही मन का जडांश है। अन्वयव्यतिरेक से उसका बाध किया, उसे सत्ता–स्फुरत्ता से पृथक् मिथ्या जाना। यद्यपि यह घट मुझमें स्फुर रहा है, मुझसे सत्ता वाला है– यह समझ नहीं सकते क्योंकि वहाँ मनरूप अवच्छेदक है ही। अतः मन में ही यह सब समझ सकते हैं। किं च मैं देखने आदि वाला हूँ ऐसा हम मानते हैं अतः जिसे यहाँ श्रुति ने मन कहा वह हमारी वर्तमान दृष्टि में प्रत्यगात्मा ही है। अतः उसी का अन्वेषण करने पर उपाधि छूट जाने

१. अनन्तत्वस्य व्याख्याऽऽनन्दत्वमिति। २. त्रिविधस्याभावस्य प्रतियोगिताऽऽत्मनि नास्तीत्यर्थः।

अथ 'हृदयम्' इत्यादि 'नामधेयानि' (ऐ.३.१) इत्यन्तं वाक्यं षड्विंशतिश्लोकै र्व्याचिख्यासु र्भूमिकामारचयति– यतोऽन्तरित्यादित्रिभिः। आनन्दात्मा अपरिच्छेदोऽनन्तः च सत्प्रकाशः पुमान् यतोऽन्तःकरणोपाधि हृदयेऽवलोकितः तस्माद् इत्युत्तरेणान्वयः। यतोऽस्माकमुक्तात्मदर्शनेऽन्तःकरणं सवृत्तिकमुपाधित्वेन स्वोपहितचित्स्मारकतया, हृदयं च देशतया उपकृतवदित्यर्थः।।७७०।।

तस्मादिति। अत्र इति पदस्य देहलीदीपन्यायेनोभयत्र सम्बन्धः। तस्माद् हृदयान्तःकरणयोरात्मोपलब्धिसाधनत्वस्य निर्णीतत्वाद् अत्र हृदयान्तःकरणयो वर्तमानानि हृदयादीनि अनेकशः अनेकानि नामानि अत्र हृदयान्तःकरणयोः स्वोपलब्ध्याधारतासम्बन्धेन स्वोपाधितासम्बन्धेन वर्तमानस्य अस्य अवाङ्मनसगम्यस्य अपि आत्मनः, अस्मै–इति यावत्, दास्यामः समर्पयाम इत्यर्थः। सम्बन्धत्वेन सम्प्रदानत्वस्य विवक्षया षष्ठी। एवं नामार्पणे कृते च हृदयादीनां वाचारम्भणश्रुत्या नाममात्रात्मकानां नाम्नां ब्रह्मार्पणेन कृतज्ञतासिद्धिः, तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यम्–इति न्यायानुसरणं फलतीति।

यद्वा 'यतोन्तः' (७७०-७१) इत्यादिश्लोकयोरेवमर्थः–यतोऽस्माभिः सच्चिदानन्दलक्षणः पुमान् हृदयेऽहंकारादिरूपे सवृत्तिकेऽन्तःकरणे विचार्यमाणेऽवलोकितः साक्षात्कृतः। ननु कथं शबलवाचकाहंकारादिपदार्थालोचने शुद्धोपलब्धिः? अतो हेतुगर्भं विशेषणम्– अन्तःकरणोपाधिरिति। अन्तःकरणं हि प्रकाशात्मकार्थवाचकाहंकारादिपदानां शक्तिविषयतायामयोग्यं सत् श्रोत्रपदप्रवृत्तौ कर्णशष्कुलीवदुपाधिभावमवलम्बते। उपाधित्वं च कार्यानन्वयित्वे सति वर्तमानत्वे च सति व्यावर्तकत्वम्। तथा च अन्तःकरणस्य उपाधितानुसन्धानद्वाराऽस्माकं शुद्धोपलब्धिरिति भावः। तस्मादिति। तस्माद् उक्तविधयाऽहंकारादिवाचकहृदयादिपदानामस्मद्दृष्ट्या शुद्धे पर्यवसानाद् अत्र अन्तःकरणे प्रसिद्धानि हृदयादीनि अनेकशो नामानि अवाङ्मनसगम्यस्य अपि अस्य शुद्धात्मनः दास्यामः तत्र प्रयुक्तान् कुर्म इति यावत्।।७७१।।

से पाप्मदोषादिवर्जित हम ही मुक्त होंगे। इसलिये उन्होंने मन का इतना विचार किया जिससे उपनिषद्वाक्य का तात्पर्यार्थ जो आत्मा उसे उन्होंने समझ लिया। मन जिसके लिये है वह आत्मा है। आत्मा सदा प्रकाश-समेत है। वह सदा आनन्द है, सबका प्रत्यक्तम है, अद्वितीय अनंत है, अव्यवहित और प्रत्यक्ष है। इतनी बात उक्त वाक्य के गुरुदर्शितरीति से किये विचार से उन्हें स्पष्ट हुई, यह अब तक बताया।

उपनिषत् ने आगे कहा है कि जो यह हृदय है वही मन, संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान आदि है और वस्तुतः मन आदि सब प्रज्ञान के ही नाम हैं। छब्बीस श्लोकों से इस वाक्य का आशय स्पष्ट करेंगे। इसी की भूमिका बनाते हैं– क्योंकि अन्तःकरण उपाधि वाले आनन्दस्वरूप, अनन्त, सत्प्रकाशात्मक पुरुष का हमने हृदय में दर्शन कर लिया है इसलिये यहाँ इकट्ठे हुए हम वाणी व मन के अविषय इस देव को हृदय आदि अनेक नाम देंगे।।७७०-७७१।। हृदय ने उपकार किया है क्योंकि उसी के सहारे आत्मदर्शन हुआ, इसलिये उसे नाम समर्पित करना उचित है। हृदय आदि अनेक नाम आत्मा को भी विषय करते हैं क्योंकि उपाधिनाम उपहित को विषय करें यह संगत ही है। तात्पर्य है कि अनुभव इन सब वृत्तियों का स्वयं में ही होता है। विचार से मालूम पड़ता है कि इन सभी अनुभवों का भेदांश औपाधिक है जो सब में अनुगत अभिन्न पर कल्पित है। सर्प, माला आदि जैसे वस्तुतः जिसमें अनुगत हैं उस रस्सी के परिचायक होते हैं चाहे रस्सी सर्पादि नाम वाली नहीं, ऐसे हृदयादि आत्मा के, प्रज्ञान के नाम हैं। पर जैसे रस्सी सर्पादि नाम वाली नहीं, ऐसे आत्मा भी इन नामों वाला नहीं। रस्सी नाममात्र को साँप है, वस्तुतः नहीं। आत्मा भी नाममात्र को संज्ञानादि है वस्तुतः नहीं। जैसे साँप को रस्सी समझना ही उसे रस्सी को अर्पित कर देना है, ऐसे संज्ञानादि को आत्मा समझना ही उन्हें आत्मार्पण करना है। आत्मा ही ब्रह्म है। एवं च हृदयादि को ब्रह्मार्पण करने से उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त हो जाती है क्योंकि सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म को अर्पित होने वाली वस्तु श्रेष्ठ ही होगी। संज्ञानादि को प्रज्ञानब्रह्म वैसे ही कह सकते हैं जैसे पुरुष को मंच; मचपर स्थित होने से पुरुष भी मंच कहलाता है, ऐसे ही ब्रह्म पर अध्यस्त होने से हृदयादि भी ब्रह्म कहलाते हैं। अभिप्राय यह है कि हृदयादि की प्रज्ञानता में मुख्य नहीं बाधसामानाधिकरण्य जानना चाहिये। यहाँ यह भी आशय जान लेना चाहिये : अहंकारादि पद

एतैर्नामभिरात्मायमस्मद्वद्गम्यते यथा। सर्वैः संसारशूलार्तैः सर्वदुःखविवर्जितः।।७७२।।

उपासनाद् विचाराच्च हृद्ययं लभ्यते यतः। ततो हृदयमित्यस्तु संज्ञाऽऽनन्दात्मरूपिणः।।७७३।।

ननु शुद्धात्मन्यवाङ्मनसगम्ये शबले प्रसिद्धनाम्नां प्रयोगरूपः प्रयासः किमर्थः? इत्याशंक्य; अवशिष्टाधिकारिणः प्रति 'अस्माभिः उपाधिविमोकेन आत्मा साक्षात्कृतो भवद्भिः अपि एवं बुद्ध्यताम्' इत्युपदेशार्थ इत्याहुः—एतैरिति। एतैः हृदयाद्यै नामभिः सर्वैः अधिकारिभिः यथा अस्मद्वद् उपाधिनिर्मोकेन गम्येत, एतदर्थं नामानि दास्याम इति पूर्वेण सम्बन्धः। न चायमुपायोपदेशोऽनपेक्षिताभिधानरूपः, संसाररूपशूलरोगार्त्तैः तन्निवृत्त्युपायस्य अपेक्षिततत्वाद्, एतदुपेयात्मलाभस्य सर्वदुःखाभावरूपत्वाच्चेत्यभिप्रायेण अधिकारिणाम् आत्मनश्च विशेषणे इति।।७७२।।

तत्र हृदयपदस्य अहंकारे प्रसिद्धस्यापि शुद्धात्मनि पर्यवसान एवमेवार्थः फलित इत्याह—उपासनादिति। उपासनाद् दहरविद्यादिरूपाद् विचारात् पंचकोशलोचनादिरूपाद्[1] हृदि हृत्कमले बुद्धिगुहायां वा अयम् अपरोक्षः सन् यतो लभ्यते परमात्मा तत एवंरूपार्थपर्यवसानाद् हृदयमिति आकारिका अधुना आनन्दात्मरूपिण उपाधिविविक्तात्मनः संज्ञाऽस्तु इति।।७७३।।

केवल चित्त के वाचक नहीं, चिद्व्याप्त चित्त के ही वाचक हैं। इसी से इन्हें शबलवाचकपद कहते हैं। इन पदों के अर्थ की आलोचना से ही शुद्ध का पता चलता है। बिना सहारे तो हम शुद्ध का ज्ञान नहीं कर पाते। सहारा हमें इन्हीं शब्दों का और इनके वाच्यों का मिलता है। अहंकारादिपद चेतन वस्तु को ही उपस्थित कराते हैं। अहंकार से हमें घटादि की तरह कोई जड वस्तु नहीं भासती, जानने वाला मैं ही भासता हूँ। ऐसे ही सोचने वाला, निश्चय करने वाला, याद करने वाला चेतन ही मन आदि शब्दों का अर्थ होता है। केवल अंतःकरण को संज्ञानादि शब्द अपनी शक्ति से विषय नहीं कर सकते, साभास में ही वे शक्त हैं। अतः जैसे नैयायिकमत में श्रोत्रपद की प्रवृत्ति में कर्णशष्कुली उपाधि ही होती है क्योंकि उससे अवच्छिन्न नभ ही श्रोत्रपदार्थ है वैसे संज्ञानादिवृत्तियाँ (अंतःकरण) संज्ञानादिपदों की प्रवृत्ति में उपाधि ही बन पाती हैं। कार्य में अनन्वयी और वर्तमान होते हुए जो व्यावर्तक हो उसे उपाधि कहते हैं। नभ तो श्रोत्र बनता है अतः कार्यान्वयी है, कर्णशष्कुली श्रोत्र नहीं बनती अतः कार्य में अन्वयी नहीं। फिर भी उसके रहते ही श्रोत्र होता है अतः वह वर्तमान है एवं घटाकाशादि से पृथक् करने वाली है अतः व्यावर्तक है। ऐसे ही संज्ञानादि होता तो चेतन ही है, अंतःकरण नहीं, किन्तु चेतनमात्र संज्ञानादि नहीं बल्कि तत्तद् वृत्तियों के रहते वह संज्ञानादि होता है अतः वे वृत्तियाँ उपाधि हैं। इस प्रकार अन्तःकरण की उपाधिस्वरूपता का विचार करने पर उपधेय आत्मवस्तु समझ में आ जाती है। अतः संज्ञानादि आत्मा के भी बोधक हो जाते हैं। सर्वज्ञात्ममुनि जी ने ज्ञानशब्द की व्युत्पत्ति किसमें है यह बताते हुए जो विषय स्पष्ट किया है उसके अनुसन्धान से यहाँ का प्रसंग सुबोध्य हो जायेगा।

प्रश्न होता है कि शुद्ध आत्मा वाणी व मन का अविषय है। वृत्ति से उपहित आत्मा में ही संज्ञानादि पद प्रसिद्ध हैं तो इन पदों का आत्मा के लिये प्रयोग करने की जरूरत ही क्या है? उत्तर है कि जिन अधिकारियों को अभी आत्मबोध हुआ नहीं उन्हें समझाने के लिये शब्दप्रयोग आवश्यक होने से इन शब्दों के सहारे उन्हें समझाया जा सके इसलिये इनका उक्त रीति से, अर्थात् लक्षणा से आत्मा के लिये प्रयोग उचित है। यह बताते हैं—जैसे हमने आत्मा को समझा है वैसे संसाररूप शूल से पीडित सभी साधक सर्वदुःखरहित इस आत्मा को इन नामों द्वारा जिस प्रकार समझ सकें उस प्रकार हम वे नाम देंगे।।७७२।। हमने उपाधि से विवेक कर आत्मा को समझा है ऐसे ही अन्य विचारक भी इन नामों से उपस्थित पदार्थ का विवेक करें और उपाध्यंश छोड़कर उपधेय का बोध प्राप्त करें इस उद्देश्य से नामकरण है। इससे यह भी द्योतित होता है कि मुक्त पुरुष करुणानिधि होकर सभी के मोक्ष का उपाय प्रशस्त करता है। यह कोई विधि नहीं है, मुक्त स्वभावतः ही ऐसा होता है। यद्यपि एकजीववाद ही प्रधान पक्ष है और प्रकृत संदर्भ में उसी का अवलंबन किया गया है

---

१. 'शालोच' इति भवेत्पाठः।

मनुते सकलं विश्वं स्वप्रकाशाद्वयं ततः। मन्यतेऽपि च सर्वैर्हि तस्मादेष मनः स्मृतः॥७७४॥

स्वात्मन्यध्यस्तमखिलः सकलं सदसद्यतः। सम्यग्जानाति तस्मात् स्यात् संज्ञानमिति नामवान्॥७७५॥

आज्ञयैवास्य वर्तन्त वागग्न्याद्याश्च देवताः। तस्मादाज्ञाननामायमानन्दात्मा भविष्यति॥७७६॥

आत्मानं च परं चापि जडाजडविभागतः। विशेषेणैव जानाति विज्ञानं तेन कथ्यते॥७७७॥

उक्तविधमनःपदार्थमाह– मनुत इति। यस्माद् एष आत्मा सकलं विश्वं प्रपंचं मनुतेऽवबोधयति अधिष्ठानतया प्रकाशयति, यस्माच्च ततः अधिष्ठानतया प्रकाशनादेव सकलं स्वप्रकाशाद्वयम् आत्मानं मन्यते जानाति, 'तदात्मानमेवा-वेदहं ब्रह्मास्मि' (बृ.१.४.१०) इत्यादिश्रुतेः; यतश्च सर्वैः मुमुक्षुभिः मन्यते मननेन अवधार्यते तस्माद् मन इति एषः स्मृतः इति॥७७४॥

अथ संज्ञानपदं चेतनारूपसप्रतिबिम्बान्तःकरणवृत्तिवाचि प्रसिद्धमपि उपाधिविविक्तस्वरूपपरं सद् एवमर्थकं भवतीत्याह–स्वात्मनीति। यतः स्वात्मन्यध्यस्तं सकलं सदसद् अनिर्वचनीयमेष आत्मा अखिलः परिपूर्णः सम्यग् विजानाति तस्मात् संज्ञानमिति नामवान् स्याद् इति॥७७५॥

प्रभुरस्मीत्याकारकचिच्छबलवृत्तिवाचकमाज्ञानपदमात्मपरतया व्याकरोति–आज्ञयेति। यस्माद् अस्य आत्मन आज्ञया सन्निधिरूपयाऽऽधिदैवादिभेदभिन्ना वागग्न्याद्या देवताः प्रवर्तन्ते तस्मादाज्ञाननामा भविष्यति। विमतं प्रत्यपि स्फुटो भविष्यतीति लृट्प्रयोगाशयः॥७७६॥

व्यवहारोपयोगिचतुःषष्टिकलादिज्ञाने प्रसिद्धं विज्ञानपदमात्मपरतया व्याचष्टे–आत्मानमिति। यतो जडाजडविभागतः जडाजडयो र्भेदमालोच्य तत्पूर्वकम् आत्मानं, परम् अनात्मानं च विशेषेण अतिशयेन जानाति तद् विज्ञानम् इति नाम्नोच्यत इति॥७७७॥

तथापि स्वयं की मुक्ति पर्यन्त जीवांतर उपलब्ध तो हैं ही अतः मुक्त भी उपलब्ध हैं और उनके उपदेशादि व्यवहार भी। अतः उनकी व्यवस्था करुणा से बन जाती है।

अहंकारवाचक हृदयशब्द से शुद्ध का बोध दिखाते हैं–क्योंकि उपासना और विचार से यह आत्मा हृदयकमलरूप बुद्धिगुहा में अपरोक्षरूप से प्राप्त होता है इसलिये आनन्दरूप व प्रत्यग्रूप इसका नाम हृदय होवे॥७७३॥

ऐसे ही मनशब्द से शुद्ध का बोध बताते हैं–क्योंकि यह आत्मा सकल प्रपंच को प्रकाशित करता है, क्योंकि यही स्वप्रकाश अद्वितीय अपने स्वरूप को जानता है और क्योंकि सब मुमुक्षुओं द्वारा मनन से इसका ही निश्चय किया जाता है इसलिये इसे मन कहा गया है॥७७४॥ सकल प्रपंच का प्रकाशन अधिष्ठानरूप से समझना चाहिये। अर्थात् सभी प्रकाश निरावृत चित् ही है। तनादिगणीय 'मनु अवबोधने' धातु से प्रथम हेतु, दैवादिक 'मन ज्ञाने' के कर्तरि प्रयोगानुसार द्वितीय तथा उसी के कर्मणि प्रयोगानुसार तृतीय हेतु समझना चाहिये।

संज्ञानपद की प्रवृत्ति समझाते हैं–क्योंकि यह परिपूर्ण आत्मा निज स्वरूप में कल्पित सद्-असत् सबको ठीक तरह से जानता है इसलिये यह संज्ञान नाम वाला होवे॥७७५॥ सत् से विद्यमान व असत् से अविद्यमान समझने चाहिये। अविद्यमान को भी अज्ञाततया साक्षिचेतन विषय करता ही है। अथवा 'सदसत्' से मिथ्या समझ लेना चाहिये।

आज्ञानशब्द 'मैं प्रभु हूँ' इस आकार वाली साभासवृत्ति का वाचक है। वह आत्मा को कैसे कहता है यह बताते हैं– क्योंकि वाणी, अग्नि आदि अध्यात्मसमेत अधिदैव देवता इस आत्मा की ही संनिधिरूप आज्ञा से निज कर्तव्यों में प्रवृत्त होते हैं इसलिये यह आज्ञान-नाम वाला होगा॥७७६॥

व्यवहार में उपयोगी चौसठ कला आदि में प्रसिद्ध विज्ञान शब्द भी आत्मार्थक होता है– क्योंकि जड-चेतन

प्रकृष्टमात्मनो रूपमहमस्मीति सर्वदा। आनन्दात्माऽत्र जानाति प्रज्ञानमिति तेन सः॥७७८॥

आत्मानमितरद्वापि बुद्धं विस्मरतीह न। तेन मेधेति नाम्नायमानन्दात्मा निगद्यते॥७७९॥

अनेन चक्षुषा सर्वो जन्तुः पश्यति सर्वतः। तेन दृष्टिसमाख्यानमानन्दात्मा समाप्तवान्॥७८०॥

दधाति सर्वदेहान् स प्रविश्यान्तर्गृहं यथा। स्तम्भस्तेन धृति नीमा[1]स्वानन्दात्मनि दृश्यते॥७८१॥

सेतुवद् विदधात्येष मर्यादां लोकधारिणीम्। वर्णाश्रमादिजातानां तेन चासौ धृतिः स्मृतः॥७८२॥

नवनवोन्मेषशालिशबलवृत्तिविशेषवाचिप्रज्ञानपदं शुद्धपरतया व्याचष्टे–प्रकृष्टमिति। प्रकृष्टं सर्वभासकत्वेनेति शेषः। **ईदृशमात्मस्वरूपम्** अहमस्मीति आकारेण यत आनन्दात्मा जानाति तस्मात् प्रज्ञानमिति उच्यत इति॥७७८॥

ज्ञातस्याविस्मरणशालिबुद्धिवृत्तिविशेषस्य चिच्छबलस्य वाचकं मेधापदमात्मपरतया व्याचष्टे–आत्मानमिति। इतरद् **अनात्मरूपम्। बुद्धं ज्ञातम्। यतो** न विस्मरति तेन इत्यादि स्फुटम्॥७७९॥

इन्द्रियद्वारा निष्क्रान्तवृत्तिवाचकं दृष्टिपदं शुद्धपरतया व्याचष्टे–अनेनेति। अनेन **आत्मरूपेण अविलुप्तेन** चक्षुषा सर्वो जन्तुः सर्वतः सर्वं यतः पश्यति तेन दृष्टिरित्याकारकं समाख्यानं नाम आनन्दात्मा समाप्तवान् **लब्धवानित्यर्थः॥७८०॥**

धैर्यरूपचिच्छबलवृत्तिपरं धृतिपदमात्मपरतया व्याकरोति–दधातीति। **गृहस्यान्तः** अन्तर्गृहं तत् प्रविश्य यथा **स्तम्भो धारयति, तथा सर्वदेहान्** प्रविश्य स **आत्मा** दधादि **तेन धृतिसंज्ञ** इति॥७८१॥

प्रकारान्तरेण धृतिशब्दमात्मनि संगमयति–सेतुवदिति। **यथा मृद्दार्वादिनिर्मितः सेतुः क्षेत्रमर्यादां** विदधाति **तथा** एष **आत्मा** वर्णाश्रमादिजातानाम्, **आदिपदेन तत्कर्मणां ग्रहः,** मर्यादां विदधाति। **कीदृशीं मर्यादाम्? लोकानां कर्मफलाना- मसंकरलक्षणधारणशीलां,** तेन वा निमित्तेन धृतिरिति **'स एष सेतु र्विधरण' (बृ.४.४.२२) इत्यादिश्रुतेरिति॥७८२॥**

विभागपूर्वक यह आत्मा-अनात्मा को स्पष्ट जानता है इसलिये इसे विज्ञान कहा जाता है॥७७७॥ विज्ञानपद के 'वि' का विवेक और विशेष दोनों अर्थ यहाँ जानने चाहिये : विवेकपूर्ण विशेषतः अर्थात् स्पष्टता से जानने के कारण आत्मा विज्ञान है।

प्रज्ञान का शक्यार्थ है नये-नये विचार करने वाली साभास वृत्ति। 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिरुच्यते' ऐसा कहा है। पर इससे भी आत्मा लक्ष्य हो जाता है- आनन्दरूप यह आत्मा अपने सर्वावभासकरूप को 'यह मैं हूँ' इस तरह जीवनकाल में ही सदा जानता है इसलिये वह प्रज्ञान है॥७७८॥

जिससे याद बनी रहती है उस साभास वृत्ति में शक्त मेधापद की शुद्धपरकता बताते हैं- जाने हुए आत्मा व अनात्मा को क्योंकि यह भूलता नहीं इसलिये यह आनन्दरूप आत्मा 'मेधा' इस नाम से कहा जाता है॥७७९॥

इन्द्रिय रूप द्वार से निकलने वाली वृत्ति को कहने वाले दृष्टिपद से आत्मबोध को उपपन्न करते हैं-क्योंकि इस आत्मरूप अविलुप्त चक्षु से सभी जन्तु सब कुछ देखते हैं इसलिये आनन्दरूप आत्मा ने दृष्टि नाम पाया॥७८०॥

धृतिशब्द की दो तरह आत्मार्थकता कहते हैं- जैसे घर के भीतर घुसा हुआ खम्भा घर को धारण करता है वैसे क्योंकि सब शरीरों में घुसकर वह आत्मा उनको धारण करता है इसलिये निजानन्दरूप आत्मा के विषय में 'धृति' यह नाम सुना जाता है॥७८१॥ किं च क्योंकि यह वर्णाश्रमादि के कर्मफलों का संकर न होने देने वाली मर्यादा का वैसे ही धारण करता है जैसे सेतु जलादि का, इसलिये भी यह धृति बताया गया है॥७८२॥

तर्करूप मनन का वाचक मतिपद भी आत्मा को कहता है यह बताते हैं- जैसे प्रस्थ (एक मापविशेष) जौ को

---

१. नाम स्वानन्दात्मनीति पाठः कल्प्यते।

मिनोति सकलं विश्वं प्रस्थं यद्वद्यवानिह। स्रग्यथा वाऽपि[1] सर्पादीन् मतिस्तेनायमीरितः॥७८३॥

सर्वप्राणिस्थितश्चायं प्रमिणोति हिताहितम्। तेन वा मतिनामाऽयमानन्दात्मा निगद्यते॥७८४॥

इदं मे भूदिदं मा चेत्येतस्य मनसो यतः। ईष्टे नियन्तुमित्यस्मान्मनीषेत्ययमीरितिः॥७८५॥

देहेन्द्रियान्तःकरणतमसां हि प्रकाशनात्। ज्योति र्जूतिरिति प्रोक्त आनन्दात्मा महात्मभिः॥७८६॥

जूर्ति र्जूति र्भवेद्वापि सा च लोके त्रिदुःखधीः। सापि चात्मन एव स्याद् नाम यस्मात् प्रकाशकृत्॥७८७॥

तर्कात्मकमननवाचि मतिपदमात्मनि संगमयति—मिनोतीति। यद्वत् प्रस्थं मानपात्रविशेषो यवान् मिनोति स्वस्मिन् प्रक्षिपति परिच्छिनत्ति इति यावद्, यथा वा स्रग् मालावच्छिन्नं चैतन्यं स्वस्मिन् कल्पितान् सर्पादीन्, तथा अयम् आत्मा विश्वं मिनोति परिच्छिनत्ति तेन मतिः इति संज्ञक इत्यर्थः। कल्पितस्याधिष्ठानरूपदेशपरिच्छिन्नत्वाद् मानक्रियाकर्मत्वं प्रसिद्धमेव। डुमिञ् प्रक्षेपणे (स्वादि.) इति प्रक्षेपणार्थस्य मिनोतेः परिमाणार्थे प्रयोगोऽपि 'नीचैः सदो मिनुयाद्' इत्यादौ प्रसिद्धः। अस्मिन् कल्पे मतिशब्दो मिनोते र्डतिप्रत्यय उणादौ व्युत्पाद्यः संज्ञात्वाद्, एवं कर्तृसाधना धृतिप्रभृतय इति॥७८३॥

प्रकारान्तरेण मतिशब्दार्थमाह—सर्वेति। प्रमिणोति सम्यङ्निश्चिनोति॥७८४॥

मनस ईषा हिंसाऽऽदानं वा, 'ईष गति हिंसाऽऽदानेषु' (दिवादौ गतौ तुदादाविच्छायाम्) इति स्मरणाद्; मनोनियमनशक्तिशालि चिच्छबलवृत्तिविशेषवाचि मनीषापदमात्मनि संगमयति—इदं म इति। यतोऽयम् आत्मा इदं मे मा भूद् इदं भूयादिति शेषः, इत्याकारस्य मनसो नियन्तुं नियमन ईष्टे शक्तो भवति, अस्मान्मनीषेति उक्त इति॥७८५॥

विषादाख्यचिच्छबलवृत्तिवाचकं जूतिपदमात्मपरत्वे सति यादृशार्थकं भवति तद्दर्शयति—देहेन्द्रियेति। तमोऽज्ञानम्। एषां प्रकाशनाद् ज्योतीरूप आत्मा ज्योतिरिति वक्तव्ये जूतिरिति प्रोक्तः परोक्षेणेति शेषः॥७८६॥

अपने में परिच्छिन्न, सीमित, करता है या जैसे माला से अवच्छिन्न चैतन्य निजमें कल्पित सर्पादि को परिच्छिन्न करता है, उसी तरह यह आत्मा सारे संसार को परिच्छिन्न करता है इसलिये इसे मति कहा गया है॥७८३॥ कल्पित वस्तु अधिष्ठानरूप देश में सीमित रहती है अतः अधिष्ठान उसे सीमित रखने वाला माना जाता है। यद्यपि प्रसिद्ध मतिशब्द क्तिन्नन्त है तथापि आत्मपरक उक्त रीति से औणादिक डतिप्रत्ययांत समझना चाहिये। धृति आदि को भी क्योंकि कर्तृपरक बताया है इसलिये उन्हें भी इसी प्रकार समझना चाहिये।

अन्य प्रकार से मतिशब्द का अर्थ आत्मा बताते हैं—सभी प्राणियों में स्थित यह आत्मा हित व अहित का सम्यक् निश्चय करता है इसलिये भी यह आनन्दरूप आत्मा मति नाम वाला कहा जाता है॥७८४॥

मन का नियमन करने की शक्ति वाली साभास वृत्ति का वाचक मनीषापद भी आत्मार्थक है यह कहते हैं— 'यह मेरे लिये होवे, यह न हो' इस आकार वाले मन का नियमन करने में क्योंकि यह समर्थ है इसलिये यह मनीषा कहा गया है॥७८५॥

जूति कहते हैं विषाद को, पर आत्मपरक होने पर इसका यह अर्थ है— क्योंकि शरीर, इन्द्रिय, अंतःकरण व अज्ञान का यह प्रकाशन करता है इसलिये ज्योति रूप इस आत्मा को जूति कहते हैं॥७८६॥ पहले बता चुके हैं कि श्रेष्ठों के नाम को कुछ बदलकर बोलने की रीति है।

अन्य तरह से भी जूतिपद की प्रवृत्ति बताते हैं—अथवा, संसार में आध्यात्मिक आदि त्रिविध दुःखों का अनुभव जूर्ति

---

१. व्याप्यव्यापकभावे व्यवहारे च तद्व्याप्यत्व आद्यो दृष्टान्तः, वस्तुतस्तदतिरिक्तसत्त्वाभावे तु द्वितीय इति द्रष्टव्यम्।

द्युतिरेषाऽत्र जूति र्वा परोक्षेणास्य साभिधा। यस्मादात्मप्रकाशेन युज्यते सकलं जगत्॥७८८॥

आत्मा यस्मात् स्मरत्येतद् मामृते स्यात् कथन्त्विति। अपत्यानीव जननी स्मृतिस्तेन स ईरितः॥७८९॥

आत्मा जागरणं स्वप्नं सुषुप्तं चेति स त्रिधा। सङ्कल्पयति तेनाऽयं सङ्कल्प इति गद्यते॥७९०॥

क्रतुरिच्छाविशेषोऽयमात्मा भवतु सर्वदा। इच्छयैवास्य जातं यज्जगदेतच्चराचरम्॥७९१॥

ज्ञानवान् क्रतुरस्त्वत्र यत आत्मेक्षणादिदम्। जातं तेन क्रतुः प्रोक्त आनन्दात्मा मनीषिभिः॥७९२॥

असुः प्राणः समुद्दिष्टस्तदुपाधिः क्रियाकरः। भवत्यात्मा यतस्तस्मादसुरेष निगद्यते॥७९३॥

प्रकारान्तरेणास्यार्थमाह–जूर्तिरिति। यद्वा जूर्ति र्जूति र्भवेद् इदन्द्रपदस्थान इन्द्रपदवज्जूर्तिरिति वक्तव्ये जूतिरिति वदन्तीत्यर्थः। सा च जूर्तिश्च निदुःखधीः अध्यात्मादिदुःखानुभव उच्यत इति शेषः। दुःखस्यापि आत्मनैव प्रकाशनादिदमपि परमात्मन एवोपपद्यते सर्वभासकत्वादित्याह– सापीति। सापि ज्वरधातोः (भ्वा. प.) क्तिनि 'ज्वरत्वरे'त्यादिना (६.४.२०) ऊठि च व्युत्पन्नजूर्तिपदस्य यत्परोक्षं रूपं जूतिरपि आत्मन एव नाम यस्मास् स एव प्रकाशकृद् इति॥७८७॥

अथवा द्युतिपदं जूतिरिति परोक्षाकारेण नामास्त्वित्याह–द्युतिरिति। संभवति चेदमित्याह– यस्मादिति॥७८८॥

स्मरणरूपचिच्छबलवृत्तिवाचकस्मृतिपदमात्मनि संगमयति–आत्मेति। यथा जननी अपत्यानि स्मरति इति तेन निमित्तेन स आत्मा स्मृतिः इति उक्त इति॥७८९॥

सविकल्पकज्ञाने रूढं सङ्कल्पपदं सम्यक् कल्पयत्यवस्थात्रयमिति व्युत्पत्त्याऽऽत्मनि संगमयति–आत्मा जागरणमिति॥७९०॥

उत्कटेच्छायां प्रवृत्तिजनिकायां प्रसिद्धं क्रतुपदमप्यात्मनि योजयति–क्रतुरिति॥७९१॥

प्रकारान्तरेण संगमयति–ज्ञानवानिति। करोतीति क्रतुरिति व्युत्पत्त्या उपादानगोचरज्ञानवान् क्रतुपदार्थः अत्र प्रकृतेऽस्तु। तथात्वमपि ईक्षणश्रुतेरात्मनि संभवतीत्याह– यत इत्यादिना॥७९२॥

है, वही यहाँ जूति कही है। क्योंकि आत्मा दुःख का भी प्रकाशक है इसलिये जूति भी उसी का नाम है॥७८७॥

द्युतिशब्द का ही परिवर्तित रूप जूति हो यह भी संगत है यह समझाते हैं– अथवा क्योंकि आत्मरूप प्रकाश से सारा जगत् सम्बद्ध होता है इसलिये यह द्युति ही कुछ बदल कर जूति है व आत्मा का नाम है॥७८८॥

स्मृतिपद की आत्मविषयता कहते हैं–जैसे माता बच्चों को याद करती है ऐसे क्योंकि यह आत्मा यह याद करता है कि मेरे बिना यह सारा प्राणिनिकाय कैसे सचेतन होगा? इसलिये यह स्मृति कहा गया है॥७८९॥

तीनों अवस्थाओं को सही ढंग से बनाने वाला होने से संकल्पशब्द का विषय बनना बताते हैं–क्योंकि यह आत्मा सब अनुभवों को जागरण, स्वप्न व सुषुप्ति, यों तीन प्रकार से व्यवस्थित करता है इसलिये यह संकल्प कहा जाता है॥७९०॥

क्रतु कहते हैं उस तीव्र इच्छा को जो अवश्य प्रवृत्ति उत्पन्न करे। पर यह पद आत्मा को भी बताता है। कैसे? यह समझाते हैं– क्योंकि यह चराचर जगत् आत्मा की इच्छा से ही उत्पन्न हुआ है इसलिये यह आत्मा इच्छाविशेषरूप क्रतु हमेशा होवे यह संगत है॥७९१॥ क्योंकि आत्मा के ईक्षण से (विचार से) यह सब उत्पन्न हुआ है इसलिये बुद्धिमानों द्वारा आनन्दरूप आत्मा क्रतु कहा गया है॥७९२॥ निमित्त होने से उपादान का इसे अज्ञान नहीं। कुलालादि निमित्त को मृदादि उपादानविषयक ज्ञान अवश्य होता है। कारणात्मा में उपस्थित अज्ञान उस कारणात्मा की तो शक्ति है अतः तत्त्वावरण में समर्थ नहीं। अतः विक्षेपप्रधान हो आवरण को उसकी उपाधि कहते हैं।

कामो नाम भवेल्लोक इच्छामात्रं सुखार्थिनाम्। कामनामा भवत्येष आनन्दात्मा प्रकाशवान्॥७९४॥

स्त्रीसङ्गमाभिलाषोऽयं वशो यस्मादयं पुमान्। प्रजायते ततो भूयाद् वशनामाप्यसौ परः॥७९५॥

नामसु लक्षणामूलम्

एवमेतानि नामानि हृद्यन्तःकरणस्य हि। तत्रास्माभिरयं दृष्ट आनन्दात्मा परः पुमान्॥७९६॥

ततोऽन्तःकरणे यानि नामान्यस्य हितानि वै। बुद्धिमद्भि र्यतोऽत्रायं दृश्यते सुविचारिते॥७९७॥

अथ क्रिशक्त्युपाधिके प्राणापानप्रेरके वाऽऽत्मनि प्राणे प्रसिद्धोऽसुशब्दोऽप्युपपन्न इत्याह—असुरिति। असुरिति प्राणः समुद्दिष्टो लोके, आत्माऽपि यतस्तदुपाधिः क्रियाकरः संनिधिना क्रियाप्रयोजकः तस्माद् असुनामास्त्विति॥७९३॥

चिच्छबलेच्छावृत्तिवाचकं कामपदमात्मनि संगमयति—कामो नामेति। प्रकाशवान् मत इति शेषः॥७९४॥

वश कान्तौ (अदा. प.) इति धातुप्रकृतिकवशपदं जननशक्तकामवाचकमात्मनि संगमयति—स्त्रीसङ्गमेति। स्त्रीसङ्गमाभिलाषोऽयं वश इत्युक्तः। तत्र 'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः' (१०.२८) इति गीतावाक्यं स्मारयति—यस्मादयं पुमान् जायत इति। तत इत्यादि स्फुटम्॥७९५॥

एवं लक्षणया हृदयादिपदानां शुद्धात्मपरत्वे यादृगर्थो भवति स प्रदर्शितः। अथ लक्षणामूलं मुख्यार्थसम्बन्धं स्फुटयन्, नामधेयपदं वा गौणमित्यपि सूचयति—एवमेतानीति द्वाभ्याम्। एतानि हृदयादीनि नामानि हृदि वर्तमानस्य अन्तःकरणस्य प्रसिद्धानीति शेषः। तत्र अन्तःकरणेऽस्माभिरधिकारिभिरानन्दात्मा दृष्ट इति॥७९६॥

तत इति। ततोऽन्तःकरणस्य सवृत्तिकस्य विचार्यमाणस्य तदुपलब्धिसाधनत्वाद् यान्यन्तःकरणे नामानि तानि अस्य आत्मनो बोधाय हितानि समर्पितानि, दधाते रूपम्। यद्वा, यान्यन्तःकरणे रूपाणीति शेषः, तान्यस्य आत्मनो नामधेयानि हितानि समर्पितानीत्यर्थः। लोके नामधेयमपि स्वार्थस्मारकम्, अन्तःकरणरूपाण्यपि तत्स्मारकाणीति सादृश्याद् नामधेयपदेन तान्युक्तानीति भावः। एतदेवाह— बुद्धिमद्भिरिति। यतोऽत्र अंतःकरणे सुविचारिते सति अयम् आत्मा दृश्यते ततोऽन्तःकरणरूपाणां नामधेयतयोक्तिरुचितेति भावः॥७९७॥

असुशब्द से आत्मा को बताते हैं-लोक में प्राणों को असु कहते हैं। क्योंकि प्राणोपाधि वाला हुआ आत्मा क्रियाप्रयोजक बनता है इसलिये असु कहा जाता है॥७९३॥

कामशब्द की आत्मपरकता दिखाते हैं- सुख चाहने वालों की सभी इच्छायें लोक में काम कहाती हैं। आनंदरूप आत्मा क्योंकि प्रकाशवान् है, उन कामनाओं का प्रकाशक है, इसलिये यह काम नाम वाला है॥७९४॥

उत्पत्ति में समर्थ कामना वश-शब्द का साधारण अर्थ है। इससे भी आत्मा का बोधन करते हैं- जिसके निमित्त से यह शरीरधारी पुरुष पैदा होता है वह स्त्रीसम्बन्ध की अभिलाषा 'वश' है। क्योंकि वह उसकी उत्पत्ति में हेतु है इसलिये पैदा होने वाले का वास्तविक स्वरूप वह परमपुरुष भी वश नाम वाला होवे॥७९५॥ गीता में भगवान् ने भी उत्पादनकर्ताओं में कन्दर्प को अपनी विभूति कहा है। इस तरह यह समझाया कि हृदयादि शब्द लक्षणा से शुद्धात्मा का बोध कराते हैं।

लक्षणा कहते हैं मुख्य अर्थ से सम्बन्ध को। यह स्पष्ट करते हुए यह भी कहते हैं कि श्रुति ने जो हृदयादि को प्रज्ञान का नाम बताया है वह गौण है- इस प्रकार बताये ये नाम हृदयमें रहने वाले अंतःकरण के ही मुख्यतः आख्यान हैं। क्योंकि वह आनंदरूप परमपुरुष हमारे द्वारा उस अंतःकरण में देखा गया है इसलिये जो अंतःकरण के नाम हैं वे इसके भी रख दिये गये हैं। क्योंकि भलीभाँति विचार करने पर अंतःकरण में आनन्दात्मा दीखता है इसलिये बुद्धिमानों द्वारा उसके नाम इसे दे दिये गये हैं। अथवा स्मारकत्व सादृश्य से अन्तःकरण के रूपों को आत्मा के नाम कह दिया है, जैसे

अन्तःकरणनामानि सर्वात्मनि महेश्वरे। उपपन्नानि नैवास्मात् पदार्थोऽन्योऽस्ति कश्चन॥७९८॥

'एष ब्रह्मे' त्यादेरर्थः

आनन्दात्मा परं ब्रह्म नामरूपविवर्जितम्। अव्याकृतं च जगतः प्रागवस्थास्वरूपभृत्॥७९९॥

हिरण्यगर्भोप्येष स्याद् विराजो जनकः प्रभुः। विराडप्येष एव स्यात् सर्वलोकशरीरभृत्॥८००॥

एवं सवृत्तिकान्तःकरणसाक्षितया त्वंपदार्थत्वेनात्मा दर्शितः। अथ तत्पदार्थतया तत्प्रतिपादनपरम् 'एष ब्रह्म' (ऐ.३.१) इत्यादि व्याकर्तुं संगतिं सूचयति–अन्तःकरणेति। अन्तःकरणनाम्नां लक्षणावाचोयुक्तिरपि आत्मस्वरूपापरिचयेनैव दत्तावकाशा, तत्परिचये तु सर्वाणि नामानि सर्वे शब्दाश्च विषयान्तरालाभात्तत्रैव पर्यवस्यन्ति। तथा चान्तःकरणनाम्नाम् 'अवयुत्यनुवादन्यायेन' तत्र प्रयोग इति भावः। एतेन पूर्वग्रन्थोक्तसर्वान्तरत्वेन अद्वितीयतां विनाऽनुपपद्यमानेन सूचितामद्वितीयतां स्फुटयितुमुत्तरो ग्रन्थ इति संगतिरपि सूचिता। सर्वमानवेद्यता च वार्तिककृद्भिरुक्ता

'अतोनुभव एवैको विषयोऽज्ञातलक्षणः। अक्षादीनां स्वतः सिद्धो यत्र तेषां प्रमाणता॥' (सं.वा.१००२)

इति। सर्वनामाभिधेयता च 'स सर्वनामा च स विश्वरूपः' इति विष्णुपुराणादिप्रसिद्धा। श्रुतयस्तु पदार्थशोधनपरा अत्रानुकूला इति सर्वं सुस्थम्॥७९८॥

तत्र तावदैक्यसामानाधिकरण्येन सजातीयभेदवारकम् 'एष ब्रह्म' इत्यादि 'एष सर्वे देवाः' (ऐ.३.१) इत्यन्तं व्याकुर्वन् शुद्धमायाशबलहिरण्यगर्भविराड्भेदेन चतुर्विधब्रह्मपदार्थेनोक्तात्मन ऐक्यमाह– आनन्दात्मेति द्वाभ्याम्। आनन्दात्मा एवोक्तः परं ब्रह्म इत्यर्थः। एवमुत्तरत्र। अव्याकृतं मायाशबलमीश्वरत्वेन प्रसिद्धम्। प्रागवस्था कारणत्वम्॥७९९॥ हिरण्यगर्भ इति। हिरण्यगर्भः सूक्ष्मसमष्ट्युपाधिः। विराजः स्थूलसमष्ट्युपाधेः जनकः कारणम्॥८००॥

नाम निजार्थ के स्मारक होते हैं वैसे मन के रूप भी आत्मा के स्मारक हैं अतः मनोरूपों में नामत्व का उपचार है॥७९६–७९७॥ इस प्रकार वृत्तियों के व अंतःकरण के साक्षी रूप से त्वम्पदार्थ आत्मा स्पष्ट किया गया।

अब तत्पद के अर्थरूप से उसे बताना है। ऐतरेयक में हृदयादि को प्रज्ञान का नाम बताकर आगे कहा है कि यह प्रज्ञानरूप आत्मा अपर ब्रह्म है, इंद्र है, प्रजापति है इत्यादि। सारा स्थावर जंगम जगत् प्रज्ञानेत्र है अर्थात् जगत् के सृष्टि आदि व्यवहारों का मूल कारण प्रज्ञानात्मा ही है। इसलिये सब उसी में प्रतिष्ठित है। वही ब्रह्म है। जो इसे जान लेता है वह स्वयं तत्स्वरूप हो जाता है तथा मुक्त हो जाता है। इस भाग की व्याख्या करने के लिये संगति बताते हैं– क्योंकि महादेव से अन्य कोई पदार्थ है नहीं इसलिये सर्वात्मरूप महेश्वर के लिये अन्तःकरण के नामों का प्रयोग सर्वथा संगत है॥७९८॥ तात्पर्य है कि लक्षणा से ही नहीं, शक्ति से भी वे शब्द जिसे कहते हैं वह भी तो आत्मा ही है। अतः सभी शब्दों का अर्थ आत्मा है। अंतःकरणनाम तो निदर्शनार्थ हैं, सब शब्दों में से लिये हुए थोड़े से शब्द हैं। सर्वरूपता से आत्मा की अद्वितीयता स्पष्ट हो जाती है। इसी अद्वैत को आगे बतायेंगे, यह पूर्वापर संगति है। सभी प्रमाण आत्मा को लखाते हैं यह वार्तिककारों ने भी कहा है: प्रत्यक्षादि का विषय स्वयम्प्रकाश अज्ञात अनुभव ही है, उसी के विषय में प्रत्यक्षादि की प्रमाणता है। विष्णुपुराण में भी सब नाम-रूपों वाला आत्मा कहा गया है। श्रुतियाँ भी पदार्थों का शोधन कर अद्वैत का ही समर्पण करती हैं।

'यह प्रज्ञान ही अपर ब्रह्म है' से 'यही सब देवतारूप है' तक का ऐतरेयक वाक्य मुख्य सामानाधिकरण्य से आत्मा में सजातीय भेद का निवारक है। यदि अपर ब्रह्म आदि प्रज्ञानात्मा से पृथक् आत्मा होते तो उन अनेक आत्माओं में परस्पर भेद होता और सब में आत्मता होने से वह भेद सजातीय होता। जब वे सब यह प्रज्ञानात्मा ही है तब न कोई पृथक् आत्मा रहा व न उसका भेद प्रज्ञानात्मा में संभव है। सन्मात्र की उपाधि से प्रज्ञान का बाधसामानाधिकरण्य व चिदुपाधियों से मुख्य सामानाधिकरण्य यह वेदान्तों में राजमार्ग है। विचारदृष्टि से दोनों सामानाधिकरण्यों में उपाध्यंश का बाध है ही तथा

विराजस्तद्वदस्माकं शरीरे सर्वदेहिनाम्। त्रिलोक्याः समधिष्ठाता भोक्ता सर्वप्रकाशवान्॥
इन्द्रोप्येष जगन्नाथो नास्मादन्योऽस्ति स क्वचित्॥८०१॥

मरीच्यादिः प्रजानां स्यात् पति र्यः कश्चिदत्र हि। आनन्दात्मैव सर्वः स्याद् नास्मादन्योऽस्ति कश्चन॥८०२॥

वागग्न्याद्याश्च ये केचिद् देवा देहादिसंश्रिताः। आनन्दात्मैव ते सर्वे स्वप्नदृष्टा यथा वयम्॥८०३॥

'इमानि च पञ्च' त्यादेरर्थः

पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च। इमानि पञ्चभूतानि नास्मादन्यानि सन्ति हि॥८०४॥

उद्भिज्जानि तथा स्वेदाज्जातान्यण्डोद्भवानि च। जरायुजानि भूतानि स्थावराणि चराणि च॥८०५॥

नास्मादन्यानि विद्यन्ते आनन्दात्मस्वरूपिणः। सदसद्वस्तु नान्यत्स्यादानन्दात्मस्वरूपतः॥८०६॥

इन्द्रशब्दस्य 'इन्द्रो मायाभिः' (बृ.२.५.१९) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धमर्थं तथा लोकपालान्यतमरूपं च दर्शयित्वा तेनैक्यमाह–विराज इति। समष्टिव्यष्टिशरीर एको भोक्ता, श्रौत इन्द्रोप्येषः तथा जगन्नाथः प्रसिद्धेन्द्रोप्येष इत्यर्थः॥८०१॥

मरीच्यादिरिति। मरीचिः कश्यपपिता तत्प्रभृतिः प्रजापतिरेष एवेति। आदिपदेन अत्र्यादीनां दक्षादीनां च ग्रहः॥८०२॥

वागग्न्याद्या इति। ते देवा आनन्दात्मैव इति। तत्र दृष्टान्तमाह–स्वप्नेति। यथा स्वप्नदृष्टाः स्वप्नेऽस्माभि र्भिन्नतया कल्पिताः प्रमातारो वयम् एव तथैतेऽपीत्यर्थः॥८०३॥

अथ विजातीयभेदं बाधसामानाधिकरण्येन निषेधयद् 'इमानि' इत्यादि 'स्थावरम्' (ऐ.३.१) इत्यन्तं वाक्यं व्याचष्टे–पृथिव्याप इति त्रिभिः। इमानि सर्वशरीरोपादानतया प्रसिद्धानि॥८०४॥ उद्भिज्जानीति। स्वेदाज्जातानि स्वेदजानि दंशादीनि। भूतानि प्राणिशरीराणि चतुर्विधान्यपि स्थावरजंगमत्वाभ्यां द्विविधानि चकाराद् बीजेतरपदोक्तस्य कारणत्वेन कार्यत्वेन चोक्तद्वैविध्यस्य परिग्रहः। सर्पादिशरीराणि हि पूर्वस्य कार्याणि उत्तरस्य च कारणानि इति प्रसिद्धम्। इमे द्वैविध्ये क्षुद्रपर्यन्तानाम् इति श्रुतौ 'क्षुद्रमिश्राणी'त्युक्तम्, इवशब्दस्त्वनर्थक इति॥८०५॥ नास्मादिति। एतानि आनन्दात्मस्वरूपिणोऽन्यानि न विद्यन्त इत्यन्वयः। सर्वपदार्थमाह–सदसद्वस्त्विति। स्थूलं सूक्ष्मं च यद्यत्तत्सर्वमित्यर्थः॥८०६॥

उपधेय सद् व चिद् रूप ब्रह्म है अतः कोई तात्त्विक भेद नहीं। उक्त वाक्य की अब व्याख्या करेंगे। ब्रह्मशब्द शुद्ध को, माया वाले को, हिरण्यगर्भ को और विराट् को कहता है। ये चारों हैं एक प्रज्ञानात्मा ही। यह समझाते हैं– नाम-रूप रहित परब्रह्म ही आनंदरूप आत्मा कहा गया है। जगत् की अभिव्यक्ति के पूर्व की स्थिति का धारण करने वाला अव्याकृत (ईश्वर) वही आनंदात्मा है। यही हिरण्यगर्भ भी है जो विराट् का कारण और नियामक है। सब लोगों के स्थूलशरीरस्वरूप वाला विराट् भी यही है॥७९९-८००॥

इन्द्र परमात्मा को तथा एक लोकपाल को कहते हैं। ये दोनों भी प्रज्ञानात्मा से भिन्न नहीं यह बताते हैं– त्रिलोकी का स्वतंत्र शासक जगन्नाथ इन्द्र जैसे विराट् के शरीर में वैसे हम सब शरीरधारियों के शरीर में भोगने वाला अकेला ही है। सबका प्रकाश करने वाले उस महेश्वर से अतिरिक्त कोई है नहीं॥८०१॥

संसार में मरीचि आदि प्रजाओं का जो कोई पति है वह आनन्दात्मा ही है। यही सब कुछ है, इससे अतिरिक्त कोई नहीं है॥८०२॥ देह आदि में रहने वाले वाग्, अग्नि आदि जो कोई देवता हैं वे सब केवल आनन्दात्मा हैं। जैसे सपने में हम विभिन्न रूपों में दीखते हैं वैसे वह सब देवादि रूपों में दीखता है॥८०३॥

अब विजातीय भेद का निराकरण करना है। अनात्मा से आत्मा का भेद विजातीय होगा। अनात्मा भी यदि आत्मा से पृथक् न हो तो इस भेद की संभावना नहीं रहेगी। रज्जु से जैसे सर्प पृथक् नहीं ऐसे आत्मा से अनात्मा पृथक् नहीं अतः

प्रपञ्चो नात्मनोऽन्यः

उष्णता च प्रकाशश्च न भिन्नमग्नितो यथा। तथा न भिन्नं सदसदानन्दात्मस्वरूपतः॥८०७॥

स्निग्धता च द्रवत्वं च नान्ये नीराद्यथा तथा। इमे सदसती नान्ये आनन्दात्मस्वरूपतः॥८०८॥

काठिन्यं चैव गन्धश्च न भिन्नौ वसुधात्मनः। यथा तथा सदसती आनन्दात्मस्वरूपतः॥८०९॥

यथा स्पर्शक्रिये वायो र्भिन्ने स्तो नैव कर्हिचित्। तद्वदेते सदसती आनन्दात्मस्वरूपतः॥८१०॥

यथा सुषिरताशब्दावाकाशादपरौ न हि। तद्वदेते सदसती आनन्दात्मस्वरूपतः॥८११॥

यथा सर्वगते भानोः प्रकाशे दोषवर्जिते। तमस्तद्वदिदं विश्वमानन्दात्मन्यलौकिके॥८१२॥

अमूर्ते यद्वदाकाशे मूर्तं मेघादि तिष्ठति[1]। आनन्दात्मप्रकाशेऽस्ति तद्वज्जडमिदं जगत्॥८१३॥

इममर्थं मन्दानां बुद्ध्यारूढं कर्तुं दृष्टान्तैरुपपादयति— उष्णतेत्यादिना अस्माभिर्यानीत्यतः (८३७) पूर्वग्रन्थेन। सदसद् नामरूपात्मकः प्रपंचः। आनन्दात्मस्वरूपं सत्ता प्रकाश आनन्दश्च, 'अस्ति भाति प्रियम्' इति च प्रसिद्धम्॥८०७॥

स्निग्धतेति॥८०८॥ काठिन्यमिति। वसुधात्मनः पृथ्वीस्वरूपात्॥८०९॥

यथेति॥८१०॥ यथा सुषिरतेति। सुषिरताऽवकाशः॥८११॥

यथा सर्वेति। तमो घूककल्पितम्॥८१२॥ अमूर्त इति। मूर्तत्वं घनीभावस्तद्रहिते॥८१३॥

अनात्मा का भेद आत्मा में कैसे रहे? श्रुति ने इसीलिये पाँचों महाभूत तथा स्थावर-जंगम सब शरीरों को प्रज्ञानरूप कहा है। यहाँ बाधसामानाधिकरण्य है। देही से मुख्य और देह से बाध, यह सामानाधिकरण्य की व्यवस्था है। स्वरूपाध्यस्त का बाधसामानाधिकरण्य तथा संसर्गाध्यस्त का मुख्यसामानाधिकरण्य होता है यह अभिप्राय है। जिस पक्ष में भ्रम में अध्यस्तका ही भान है उस पक्ष में देही भी अध्यस्त ही होने से सर्वत्र बाधसामानाधिकरण्य ही है। इस पक्ष में स्वप्रकाश चिन्मात्र की सदा अपरोक्षता ध्यान में रखनी पड़ती है ताकि स्वनाशमें प्रवृत्ति की आपत्ति आदि शंकायें न उठें। महाभूतादि को प्रज्ञान बताने वाले वाक्य का संग्रह करते हैं– पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। ये पाँच महाभूत इस आत्मा से अलग नहीं हैं॥८०४॥ उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज व जरायुज, जितने स्थावर-जंगम प्राणी हैं वे आनन्दात्मस्वरूप इस परममहेश्वर से अन्य नहीं हैं। स्थूल (कार्य) और सूक्ष्म (कारण) जो कुछ वस्तु है वह इस आनंदात्मा के स्वरूप से पृथक् नहीं है॥८०५-८०६॥ जैसे उष्णता व प्रकाश आग से भिन्न नहीं वैसे आनंदात्मा के स्वरूप से नामरूपात्मक (सत्=नाम; असत्=रूप) प्रपंच भिन्न नहीं॥८०७॥ जैसे चिकनाई और तरलता जल से भिन्न नहीं हैं वैसे ये वर्तमान और अवर्तमान (भूत-भावी) पदार्थ आनन्दात्मस्वरूप से अन्य नहीं हैं॥८०८॥ जिस तरह कठोरता व गंध पृथ्वीस्वरूप से अन्य नहीं वैसे व्यक्त-अव्यक्त सब वस्तुएँ आनंदात्मस्वरूप से भिन्न नहीं॥८०९॥ जैसे स्पर्श व क्रिया कहीं भी वायु से भिन्न नहीं होते वैसे ये सत् और असत् (व्यावहारिक और प्रातिभासिक) आनंदात्मा से भिन्न नहीं हैं॥८१०॥ जिस प्रकार पोल और शब्द आकाश से अलग नहीं वैसे ये सत् व असत् (विषयी इन्द्रियादि और विषय घटादि) आनंदात्मस्वरूप से विलग नहीं॥८११॥ जैसे सर्वत्र फैले निर्दोष सूर्यप्रकाश में अँधेरा केवल उल्लू द्वारा कल्पित रहता है वस्तुतः नहीं, वैसे अलौकिक आनंद आत्मा में यह विश्व रहता है॥८१२॥ जैसे अमूर्त आकाश में मूर्त मेघादि रहते हैं ऐसे यह जड जगत् आनंदरूप आत्मप्रकाश में रहता है॥८१३॥ जिस तरह आकाश में किसी को कभी भी मेघादि कुछ भी दीख जाता है उसी तरह आत्मा में वह (=पूर्वोक्तरीत्या कल्पितमात्रस्वरूप) जगद् दीख जाता है॥८१४॥ मायावी या बालक जैसे बिना किसी

---

१. कल्पितस्यासंसर्गित्व उदाहरणं, यथा मेघस्थित्या नभसो न संगस्तथात्मनोपि नासावित्यर्थः।

कदाचिद्वापि किञ्चिद्वा केनचिद् दृश्यते यथा। मेघादिकं नभस्येवमानन्दात्मन्यदो जगत्॥८१४॥
मायावीदारको यद्वच्चेष्टते व्यर्थमेव हि। आनन्दात्माऽपि तद्वद्धि चेष्टते व्यर्थमेव हि॥८१५॥
मदिरामदमन्दाक्षः पुरः पश्यति भित्तिकाम्। असतीं तद्वदेवेदमानन्दात्माऽपि पश्यति॥८१६॥
यथा स्वाशयदोषेण पित्रादौ दोषवर्जिते। दोषं विलोकयेत् कश्चित् तद्वदात्मात्मनात्मनि[1]॥८१७॥
यथा शयानः पुरुषो न वेत्त्येकत्वमात्मनः। एवं स्वप्नत्रयं पश्यन्नानन्दात्माऽपि वेत्ति तत्॥८१८॥
नलिकाभ्रमणे यद्वन्नलिकादत्तपादकः। शुको भ्रमत्यबद्धोऽपि बन्धवानिति बोधतः॥८१९॥
एकोऽनन्तः सत्प्रकाश आनन्दोऽस्मीत्यबोधतः। संसारशूले भ्रमति तद्वदेव परः पुमान्॥८२०॥
कमलस्य यथा गर्भे भ्रमरो गन्धलोभतः। दुःखं प्राणान्तमाप्नोति स्वात्मा विषयतस्तथा॥८२१॥

कदाचिदिति। यथा यद्विवधं मेघादि दृश्यते तद् नभस्येव नभोभिन्नाधिकरणकं न, तत्र च निषिध्यमानं मिथ्येति निश्चितम्, एवमात्मनि जगदिति॥८१४॥

मायावीति। दारको बालः। उक्तार्थमेतत्॥८१५॥ मदिरेति। असतीं भित्तिकां कुड्यनिभमावरणम्॥८१६॥

यथा स्वाशयेति। स्वाशयदोषः स्वचित्तदोषः। पित्रादौ पितृप्रभृत्याप्ते॥८१७॥

यथा शयान इति। शयानः स्वप्नं पश्यन् आत्मन एकत्वं न पश्यति तद्वद् आनन्दात्माऽपि न पश्यतीति॥८१८॥

नलिकेति। नलिका रज्जुना मध्ये प्रोता शुकबन्धसाधनमिति प्रसिद्धा। बोधतः भ्रमात्॥८१९॥ एतद्दार्ष्टान्तिकमाह—एक इति॥८२०॥

दृष्टान्तान्तरमाह—कमलस्येति। गर्भे बद्ध इति शेषः। दुःखं 'रात्रि र्गमिष्यति भविष्यति' (शिवराज.२.१) चेत्यादिपद्यप्रसिद्धम्॥८२१॥

प्रयोजन के लीला करता है वैसे ही आनंदात्मा भी बिना प्रयोजन के ही सारी लीला कर लेता है॥८१५॥ जैसे शराब के नशे से नशीली आँखों वाला सामने न होने वाली भी दीवाल को संमुख देखता है, वैसे आनंदात्मा भी इस संसार का दर्शन करता है॥८१६॥ जिस प्रकार निज चित्त के दोष के कारण दोषरहित पिता आदि को भी कोई दोषी मान लेता है उसी प्रकार आत्मा अपने उपाधिरूप दोष से स्वयं में संसारदोष देख रहा है॥८१७॥ जैसे सपना देखता पुरुष अपने अकेलेपन को नहीं समझ पाता और सपने मे दीखते अन्यों से खुद को सद्वितीय ही मानता है, ऐसे आनन्दात्मा भी जाग्रदादि तीनों स्वप्नतुल्य अवस्थाओं का अनुभव करते हुए अपने अद्वितीयत्व को समझ नहीं पाता॥८१८॥ नलिका पर पैर रखा सुग्गा नलिका से बँधा हुआ न होने पर भी 'मैं बँधा हुआ हूँ' इस भ्रम से नलिका घूमने पर स्वयं भी घूम जाता है; इसी तरह परमपुरुष 'मैं एक अनंत सद्रूप ज्ञानस्वभाववाला आनंद हूँ' इसे न जानने के कारण संसारशूलपर आरुढ रहता है॥८१९-८२०॥ खोखले बाँसादि में रस्सी पिरो कर लटका देते हैं। उस बाँसादि को ही नलिका कहते हैं। उस पर सुग्गा बैठता है तो उसके वेग व वज़न से वह नलिका घूम जाती है। सुग्गा उसे छोड़ पाये इसके पहले वह ख़ुद भी घूम कर गिर जाता है। ऐसे वह पकड़ में आ जाता है। इसी उदाहरण का प्रयोग किया गया है।

जैसे भ्रमर गंधलोभ से कमल में फँसकर मरणपर्यन्त दुःख पाता है वैसे निजात्मा विषयलोभ से संसारगर्भ में समस्त दुःख पाता है॥८२१॥ अविद्यारूप पंक से उत्पन्न होना, लुभावना होना, व्यक्ति से संस्पर्श वाला न रहना, आदि कमलसादृश्य संसार में सुलक्ष्य है!

१. आत्मना = स्वोपाधिदोषेणाविद्याख्येन। आत्मनो भोगमोक्षयोरसाधारणहेतुत्वादुपाधेरप्यौपचारिकमात्मत्वम्।

यथा विभ्रान्तधीः श्रीमान् विस्मृत्य स्वं हि तादृशम्। लोके दारिद्र्यमाप्नोति व्यर्थमेवातिदुःखदम्।।८२२।।

मायया दीनतालाभः

तद्वदात्मा निजं रूपं सुखोदधिसमं महत्। त्यक्त्वा सुखार्थमभ्येति दशां दीनतमां प्रभुः।।८२३।।

यद्वत् सर्वगुणोपेतः कयाचिन्मोहितः पुमान्। स्वैरिण्या दीनतामेति माययात्मा तथा कृतः।।८२४।।

यथा लोकत्रयीनाथः कामिनीं न नियच्छति। तद्वत् सर्वनियन्ताऽपि मायां नैव नियच्छति।।८२५।।

प्रियपुत्राद्यधिक्षेपे दोषं यद्वन्नवेत्त्यसौ। दोषं तथा पुमानेष मायादोषं न पश्यति।।८२६।।

यथा विभ्रान्तधीरिति। यथा **कश्चिच्छ्रीमान्** विभ्रान्तधीः **सन् स्वम् आत्मानं** तादृशं **श्रीमन्तं** विस्मृत्य **दरिद्रोऽस्मीति मन्यते–इति।।८२२।।**

तद्वदिति। तद्वद् **भ्रान्तधनिकवद्** आत्मा **प्रभुः अपि** निजं रूपं त्यक्त्वा **विस्मृत्य** सुखार्थं **दीनदशां कर्तृत्वादिसंसाररूपां प्राप्नोतीति।।८२३।।**

यद्वदिति। यद्वत्सर्वगुणोपेतः **अपि पुमान्** कयाचित्स्वैरिण्या **पुंश्चल्या** मोहितः **कार्मणेन वशीकृतो दैन्यं गच्छेत्** तथाऽऽत्मा माययेति।।८२४।।

यथेति। यथा लोकत्रयीनाथोऽपीन्द्रः **कामेन कामिनीपरतन्त्रो भूत्वा कामस्य देवत्वेन स्वस्य च देवाधिपतित्वेन स्वस्मिन् विद्यमानयापि तन्नियमनशक्त्या** तां कामिनीं न **नियन्तुं शक्तो भवति, तथाऽऽत्मा स्वाश्रितत्वेन स्वनियम्यां** मायामिति।।८२५।।

प्रियेति। **प्रियेण पुत्रादिना कृतेऽधिक्षेपेऽनादरे दोषेऽपि यथाऽसौ पुत्रादिप्रियदर्शी** दोषं **तस्य दोषत्वं न वेत्ति,** तथाऽऽत्मा मायादोषमिति।।८२६।।

जिस प्रकार कोई भ्रमित बुद्धि वाला धनी अपनी धनिता भूलकर व्यर्थ ही अत्यन्त दुःख देने वाली दरिद्रता का अनुभव करता है उसी तरह सुखसागरसमान अपने महान् रूप को छोड़कर प्रभु होता हुआ भी आत्मा सुख पाने के लिये दीनतम दशा को प्राप्त होता है।।८२२-८२३।। धनी पागल आदि हो जाये तो उसकी उक्त गति हो जाती है। आत्मा भी मोह से पागल ही है। कर्तृता-भोक्तृता ही दीनतम दशा है।

जैसे सब गुणों वाला भी कोई पुरुष पुंश्चली द्वारा मोहित कर दिये जाने पर उसके इशारों पर नाचते हुए दीन हो जाता है वैसे माया द्वारा आत्मा दीन बना दिया गया है। उसके विकारों के अनुसार यह स्वयं को विकारी माने बैठा है।।८२४।। जिस प्रकार इन्द्र देवराज होने से कामदेव पर शासन करने की सामर्थ्य वाला होने पर भी कामिनी को नियन्त्रित नहीं कर पाता बल्कि कमनावशात् स्वयं ही कामिनी के परतन्त्र बना रहता है, उसी प्रकार सब पर शासन करने वाला परमात्मा माया को नियन्त्रित नहीं कर पाता बल्कि उसके परतन्त्र रहता है।।८२५।। यहाँ परमात्मा की जीवरूप से परतन्त्रता कही है। ईश्वररूप से तो वह माया पर शासन करता ही है। ' ब्रह्मैव संसरति मुच्यत इत्यपीदम्' आदि के अनुसंधान से यहाँ परमात्मा को परतन्त्र कहा।

लोक में प्रिय पुत्रादि द्वारा अनादृत होने पर भी उस पर प्रेम वाला व्यक्ति जैसे उस अनादर को दोष नहीं समझता, वैसे यह परमपुरुष माया द्वारा की जाने वाली अपनी दीनता को दोष नहीं समझता, बल्कि अपना हितकारी ही समझता है।।८२६।। बड़े सींगों वाला हरिण बड़ी खुशी से अपने सींगों का भार ढोता है जबकि वे सींग ही उसके गिरने पर अधिक चोट का कारण बनते हैं। ऐसे ही यह प्रज्ञानपुरुष मायारूप भार को सत्ता-स्फूर्ति देते हुए ढोता रहता है जबकि

भारशृङ्गो मृगो यद्वद् भारं शृङ्गोत्थितं यथा। हृष्टो वहति मायाया भारं तद्वदयं पुमान्॥८२७॥
यथा दुर्जनसम्पर्कात् साधु र्भवति दूषितः। एवं मायासमाश्लेषादात्मा भवति दूषितः॥८२८॥
यथा दुर्जनदृष्ट्या स्यान्निर्दोषेपीह दोषता[1]। एवं मायादृशा पुंसि संसारोऽनेकदोषभाक्॥८२९॥
यथा जनस्थितं राजा दुःखमात्मनि मन्यते। एवं जडे स्थितं दुःखमात्मन्येवाभिमन्यते॥८३०॥
यथा शयाने पुरुष एकस्मिन् हेतुवर्जिते। अकस्मादेव निखिलं जायते भूतभौतिकम्॥८३१॥
एवं पुराणे पुरुषे माययाऽपि विवर्जिते। जायते सकलं ह्येतद् विश्वं सदसदात्मकम्॥८३२॥
यथा स्वप्ने वृथा दुःखं स्वयं स्वस्य प्रयच्छति। एवं जागरणेऽप्यात्मा व्यर्थमेव प्रयच्छति॥८३३॥

लब्धज्ञानस्य दुःखबाधः

यथा स्वप्नाद्विबुद्धस्य स्वप्नदुःखक्षयो भवेत्। वेत्ति चैतन्न मे दुःखमासीन्नास्ति न भाव्यपि॥८३४॥
एवं त्रिस्वप्नसंसारात् प्रबोधे क्षीयतेऽसुखम्। वेत्ति चात्मा न मे दुःखमासीन्नास्ति न भाव्यपि॥८३५॥

भारेति। भारशृङ्गो नाम मृगविशेषः स उच्चप्रदेशात् पतन् शृंगैः प्रथमं भुवं स्पृशतीति प्रसिद्धः स यथा मूढः शृंगभारं हर्षेणैव वहति तथाऽऽत्मा मायाभारमिति॥८२७॥

यथा दुर्जनेति। स्पष्टम्॥८२८॥

यथा दुर्जनदृष्ट्येति। दोषिता दोषवत्ता। मायादृशाऽज्ञदृष्ट्या। पुंसि आत्मनि॥८२९॥

यथा जनेति। यथा राजा जनस्थितं प्रजागतं दुःखं स्वस्मिन् मन्यत आत्मीयत्वाभिमानात्तथाऽऽत्मा जडेऽन्तःकरणे स्थितं दुःखं स्वस्मिन्निति॥८३०॥

यथा शयान इति। हेतुवर्जिते रथादिनिर्मितिसामग्रीहीने॥८३१॥

एवमिति॥८३२॥

यथा स्वप्न इति॥८३३॥ यथा स्वप्नादिति। विबुद्धस्य लब्धजागरस्य। वेदनमभिनयति– न म इत्यादिना॥८३४॥ एवमिति। एवं स्वप्नात् प्रबोध इव जाग्रदाद्यवस्थारूपत्रिस्वप्नलक्षणसंसारात् प्रबोधेऽसुखं नश्यतीति॥८३५॥

यही इसके सब दुःखों का हेतु है॥८२७॥ जैसे भला आदमी भी दुर्जन के संसर्ग से दूषित आचार-विचार वाला हो जाता है ऐसे माया के आलिंगन में बँधा आत्मा भी भ्रान्त निश्चय व तदनुसारी व्यवहार वाला है॥८२८॥ जैसे निर्दोष व्यक्ति में भी दुर्जन की दृष्टि से दोष हुआ करते हैं ऐसे अमल परमपुरुष में मायादृष्टि से अनेक दोषों वाला संसार उपस्थित है॥८२९॥ जैसे प्रजा के दुःख को राजा अपना दुःख मान लेता है ऐसे जड उपाधि में स्थित दुःख को आत्मा स्वयं में मान लेता है॥८३०॥ जैसे रथादि के निर्माण की सामग्री से रहित, अकेले सोते हुए पुरुष में भूत-भौतिक रथादि सारा प्रपंच स्वप्नरूप से उत्पन्न हो जाता है, ऐसे ही माया से भी रहित पुराण पुरुष में सद्-असद् रूप यह सारा विश्व उत्पन्न हो जाता है॥८३१-८३२॥ जैसे स्वप्न में स्वप्नद्रष्टा ख़ुद अपने को वृथा दुःख देता है, ऐसे जाग्रत में भी आत्मा खुद को वृथा दुःख देता है॥८३३॥ सपना हमारी ही कल्पना है। कोई जबरदस्ती तो हमसे सपना दिखावा नहीं लेता। तब हम क्यों दुःख का सपना देखते हैं? यह हमारे अज्ञान का ही फल है। जाग्रत् में भी यही स्थिति है। उपाधियों से तादात्म्य करने से ही हमारा जाग्रद्दुःख भी है, स्वतः नहीं।

---

१. दोषितेति टीकापाठः।

अस्मात्त्रिस्वप्नसंसाराद् बोधनं ब्रह्मवेदनम्। जातमस्माकमेतस्मादहो पुण्यतमा वयम्॥८३६॥

'तत्प्रज्ञानेत्र' मित्यादेरर्थः

अस्माभि र्यानि दत्तानि ब्रह्मणो विविधानि हि। बुद्धिनामानि तेष्वत्र प्रज्ञानामातिशोभनम्॥८३७॥

यतो ज्ञप्तिः प्रकाशः स्यात् प्रकर्षो भेदशून्यता। स्वसजातिविजात्यात्मा भेदो यस्यां न संविदि॥८३८॥

तस्मात् प्रज्ञानशब्देन प्रकाशात्माऽयमीरितः। ब्रह्मादिस्थावरान्तानां देहे काष्ठेऽग्निवत् स्थितः॥८३९॥

अस्मादिति। ब्रह्मवेदनरूपं बोधनं जागरणं जातमिति॥८३६॥

एवमात्मनः प्रतिपादितायां तत्पदार्थावच्छेदकभूतायामद्वितीयतायामुपपत्तिप्रदर्शनपरं 'तत्प्रज्ञा' इत्यादि 'प्रतिष्ठा' (ऐ.३.१) इत्यन्तं वाक्यं व्याचष्टे– अस्माभिरित्याद्येकत्रिंशच्छ्लोकैः। यान्यस्माभिः बुद्धिनामानि अन्तःकरणनामानि ब्रह्मणो दत्तानि समर्पितानि तेषु मध्ये प्रज्ञेति नामातिशोभनमिति। यद्यपि प्रज्ञेति नाम हृदयादिनामसु नोद्दिष्टं तथापि प्रज्ञाननाम्न उद्दिष्टत्वे, 'आतश्चोपसर्गे (३.१.१३६) इति भावार्थकाङ्प्रत्ययान्तत्वेन तत्समानार्थं प्रज्ञानमपि[1] उद्दिष्टमेवेति भावः॥८३७॥

ननु कथमस्य नाम्नोतिशोभनत्वम्? इत्याशंक्य; आत्मयाथात्म्यबोधनादित्याह–यत इति। यतो धातुना प्रकाश उच्यते, प्रशब्देन च त्रिविधभेदशून्यतारूपः प्रकर्षो द्योत्यते, यथा ब्रह्मशब्दो निरतिशयमहत्त्वपरस्तद्वदिति। एतादृशावयवार्थकं च प्रज्ञापदं महावाक्यात्तां संविदमाह–यस्यां संविदि स्वसजातिविजात्यात्मा भेदो न, ततोऽति-शोभनमेतन्नामेति सम्बन्धः। स्वं स्वरूपं च सजातिः सजातीयश्च विजातिः विजातीयश्च त आत्मा निरूपकतया शरीरं यस्य भेदस्य स तथेति॥८३८॥

एतदभिप्रायमेव प्रज्ञानमिति नामपूर्वमुक्तमुत्तरत्र च वाक्य इत्याह –तस्मादिति। तस्य विश्वनिर्वाहकतां नेत्रपदेन वक्तुं सर्वत्र स्थितिमाह–ब्रह्मादीति॥८३९॥

सपने से उठे व्यक्ति के स्वप्नकालिक दुःख समाप्त हो जाते हैं और उसे यह अनुभव होता है कि वे दुःख न मुझे तब थे, न अब हैं और न आगे होंगे। इसी प्रकार जाग्रद् आदि तीन सपने जिसका स्वरूप हैं उस संसारनिद्रा से उठने पर सारा दुःख मुझे न था, न है, न होगा॥८३४-८३५॥ तीन सपनों में बँटे इस संसार से उठना ब्रह्मज्ञान है, यह अपरोक्ष आत्मसाक्षात्कार हम मुनियों को हो गया। अतः हम सर्वाधिक पवित्र हैं॥८३६॥

आत्मा की अद्वितीयता स्थापित कर उपनिषद् ने इसमें युक्ति भी दी है। उपनिषत् ने सारे प्रपंच को 'प्रज्ञानेत्र' कहा है और सभी उसी प्रज्ञान में प्रतिष्ठित बताया है। इस ग्रन्थभाग को समझाते हैं– बुद्धि के जो विविध नाम हमने परमात्मा के अर्पण किये हैं उनमें यहाँ कहा 'प्रज्ञा' नाम अत्यधिक अच्छा है॥८३७॥ हालाँकि पूर्व में दिये नामों में प्रज्ञा नहीं आया। फिर भी प्रज्ञान तो आया ही है और प्रज्ञा व प्रज्ञान में प्रत्यय का ही अंतर है, उपसर्ग व धातु तथा अर्थ एक ही हैं।

यह नाम इसलिये अच्छा है कि यह आत्मा की यथार्थता का बोध करा देता है, यह बताते हैं– प्रज्ञा-शब्द का धात्वंश 'ज्ञा' कहता है ज्ञान को और प्र-उपसर्ग कहता है तीनों तरह के भेदों की रहितता को। इस लिये स्वगत, सजातीय और विजातीय भेद जिस ज्ञान में नहीं हैं वह प्रकाशरूप आत्मा प्रज्ञा या प्रज्ञान शब्द से बोधित होता है। वह आत्मा ब्रह्मा से स्थावर पर्यन्त शरीरों में वैसे ही व्याप्त है जैसे काठ में आग॥८३८-८३९॥ यद्यपि 'प्र' से विशेषता ही कही जाती है तथापि कोई विरोध न हो तो निःसीम विशेषता उससे बोधित होना संगत है। प्रकृत में भेदत्रयराहित्य ही विशेषता है। इससे परमेश्वर की सविशेषता का निरास हो गया। सविशेष में भेदरूप अप्रकर्ष होगा। अतः उपक्रम में कहा आत्मा का

---

१. प्रज्ञानामापीति स्यात्।

स्थावरं जङ्गमं वापि यत्किञ्चिद्भूतभौतिकम्। प्रज्ञानेत्रं हि तत्सर्वं मांसनेत्रा यथा वयम्॥
प्रतिष्ठितं जगत् सर्वं प्रकाशे ब्रह्मणीरितम्॥ ८४०॥
अपि प्रकाशो यः कश्चित् त्रिलोक्या जठरे स्थितः। सूर्येन्दुवह्निमुख्यानां लोक इत्येवमीरितः॥
लोकावभासकः सोऽपि प्रज्ञानेत्र उदाहृतः॥ ८४१॥

प्रज्ञाभानं विना भानाभावः

न हि प्रज्ञादृशं हित्वा प्रकाशस्य प्रकाशनम्। नोक्तं परोक्षमेतत्स्यात् सर्वानुभवसंश्रितम्॥
कदाचित्कुत्रचित् किञ्चिद् वस्तु सर्वोऽपि वेत्ति यत्॥ ८४२॥

स्थावरमिति। भूतं पृथिव्यादि भौतिकं तत्कार्यं च स्थावरादि यत्किञ्चित् सर्वं प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञा–उक्तलक्षणा–नेत्रं–निर्वाहकं–यस्य तत्तथा; 'नीयते सत्तां प्राप्यतेऽनेनेति नेत्रम्' इति भाष्यम्। तत्र दृष्टान्तः–यथाऽस्मदादिशरीराणि मांसनेत्राणि मांसमयनेत्रे विनाऽसन्ति–अप्रशस्तानि–तद्वदिति। उक्तप्रज्ञाया निर्वाहकत्वेन नेत्रसाम्येऽपि, उपादानतया निर्वाहकत्वं व्यतिरेकोऽपि बोध्य इत्याह– प्रतिष्ठितमिति। ईरितं 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै.२.५) इत्यादिश्रुतिषु॥८४०॥

'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (कठ.५.१५) इति श्रुतिमनुरुध्योक्तमर्थं स्फुटयति–अपीति। यस्त्रिलोक्या जठरेऽन्तः स्थितः सूर्येन्दुवह्निमुख्यानां प्रकाशः, कीदृशः? लोके लोकावभासक इत्येवमीरितः सोऽपि प्रज्ञानेत्र इत्यन्वयः॥८४१॥

तत्र उक्त प्रज्ञाभानमन्तरा भानाभावं हेतुमाह– न हीति। उक्तप्रज्ञारूपां दृशं विना प्रकाशस्य अपि सौरादेः किं भानं स्यादपि तु नैवेत्यर्थः। न ह्यसाक्षिकं किंचित् सिद्ध्यति। साक्षिप्रतिपादकता प्रज्ञापदस्योक्तेति भावः। अयमर्थः सर्वानुभवसिद्ध इत्याह–नोक्तमिति। एतत् सर्वस्य जडस्य प्रज्ञानेत्रत्वं यदुक्तं तत् परोक्षं धर्मादिवत् परोक्षमानवेद्यमेव न किन्तु सर्वानुभवसंश्रितम्। एतदेव कथम्? अत आह– कदाचिदिति। यद् यस्मात् सर्वोऽपि प्रमाता कदाचित् कुत्रचित् किञ्चिद् वस्तु वेत्ति एव; तथा च यद्यस्य सिद्धं तद् उक्तप्रज्ञाव्याप्तमेव सिद्धम्, उक्तप्रज्ञयाऽसम्बद्धं सिद्धमिति वदतोव्याघात इति भावः। अत एवोक्तं विवरणकारैः 'सर्वं हि वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषयः' इति। सर्वत्र चिदन्वये मृदनुगतघटस्य मृन्मात्रत्ववद् विश्वस्य चिन्मात्रत्वमिति भावः॥८४२॥

अकेलापन और उपसंहार में सारे भेदप्रतियोगियों को आत्ममात्र कहने से साधित उसकी अद्वितीयता उपनिषत् का तात्पर्य अखण्ड में स्थापित करती है यह याद रखना चाहिये।

जैसे मांसमय नेत्र हम लोगों का निर्वाह करते हैं ऐसे स्थावर जंगम भूत-भौतिक जो कुछ भी है उस सब का निर्वाह प्रज्ञा ही करती है। वेद ने कहा है कि सारा जगत् ज्ञानरूप ब्रह्म में प्रतिष्ठित है॥८४०॥ सत्ता-स्फुरत्ता देना प्रज्ञा द्वारा निर्वाह करना है। आँखों के बिना हम लोग भी तुच्छ हो जाते हैं, मानो रहते ही नहीं। रूपादि बहुतेरी वस्तुओं का स्फुरण भी हमें आँखों के अभाव में नहीं हो पाता। अतः उनसे हमारा निर्वाह ठीक ही कहा। यद्यपि आँखें यों निर्वाहक हैं तथापि हमारा उपादान नहीं, पर परमात्मा तो उपादान रूप से भी निर्वाहक है। आँखों से यह उसमें विलक्षणता है।

अन्यत्र श्रुति ने कहा है कि परमेश्वर के प्रकाश से ही यह सब भासता है। उसके आधार पर समझाते हैं– त्रिलोकी में सूर्य, चन्द्र, वह्नि आदि का तथा अन्य भी जो कोई संसार में 'लोगों के लिये प्रकाश करने वाला' कहाता प्रकाश है वह भी वेद में प्रज्ञानेत्र कहा गया है॥८४१॥ किसी भी प्रकाश का भान प्रज्ञा अर्थात् साक्षिरूप दृष्टि के बिना नहीं होता। यह बात परोक्ष नहीं, सभी के अनुभव से सिद्ध है क्योंकि सभी प्रमाता कभी कहीं कुछ जानते ही हैं॥८४२॥ हमें जो भी ज्ञात होगा वह साक्षिरूप प्रज्ञा से व्याप्त ही ज्ञात होगा अर्थात् साक्षिप्रकाश के व्यतिरेक में कोई ज्ञान नहीं होगा। ज्ञान बाहर से भीतर आने वाली चीज़ नहीं, भीतर से बाहर जाने वाली है: अनात्मा मन आदि के कारण हममें ज्ञान नहीं जैसा मतांतरों

स्थावराणां सुखादिज्ञानम्

स्थावराणां हि विज्ञानं दृश्यते सुखदुःखयोः। अस्मद्वद् विद्यते तेषां वृद्धिहान्यादिकं यतः॥८४३॥

स्थावरा हि जलान्याप्य यथाकालं सुशोभनान्। स्वदेहान् बिभ्रतो दृष्टास्तेन ते सुखिनः स्थिताः॥८४४॥

मूलघातादिना तद्वद् गतस्नेहा हि दुर्भगाः। पतनादिकृतो दृष्टास्तेनैते दुःखिनः स्थिताः॥८४५॥

अन्नपानादिसम्प्राप्त्या यथाकालं सुखं यथा। सम्प्राप्य वृद्धि र्भवति ह्यस्मदादे र्मनोरमा॥८४६॥

तथा शस्त्रप्रहारादेर्दुःसहां प्राप्य वेदनाम्। क्षयः स्यात् स्थावराणां च क्षयवृद्धी तथैव च॥८४७॥

पश्वादीनामप्येवम्

पशूनामुभयेषां स्यादनुकूले विपर्यये। प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च तेनैते मनुजैः समाः॥८४८॥

'सर्वोपि वेत्ति' इत्युक्तं चित्प्रकाशस्य सर्वत्रानुगमं द्रढयितुं स्थावरेषु तावत् साधयति—स्थावराणामिति। तत्रानुमानं दर्शयति—अस्मद्वदिति। स्थावराः सुखादिज्ञानवन्तो वृद्ध्यादिमत्त्वाद् अस्मदादिवदिति॥८४३॥

एतदेव स्फुटयति—स्थावरा हीति। सुशोभनान् स्वदेहान् बिभ्रतो धारयन्तः। तेन सुखज्ञानकार्यवृद्धिमत्त्वेन सुखिनः सुखज्ञानवन्तः॥८४४॥

मूलेति। मूलघातो जटाच्छेदः, आदिना अतिशीतसंसर्गादिग्रहः; तेन गतस्नेहाः शुष्का इति यावत्। तथा दुर्भगा निःश्रीकाश्च सन्तः पतनादिकृतः पतनादिशालिनो दृष्टा इति॥८४५॥

अस्मद्वदिति दृष्टान्तं स्फुटयति—अन्नेति। यथाऽस्मदादे र्यथाकालम् अन्नपानादिसम्प्राप्त्या सुखं सम्प्राप्य मनोरमा वृद्धि र्भवति॥८४६॥ तथेति। तथाऽस्मदादेरेव शस्त्रप्रहारादे र्हेतोः दुःसहां वेदनां संप्राप्य क्षयो हानिः स्यात्तथैव स्थावराणां क्षयवृद्धी इति। एतेन पर्वतानां पृथिव्यादीनां चाभिमानिचेतनानुमानं सूचितम्॥८४७॥

में है, बल्कि हमारे कारण मन आदि में ज्ञान है। अतः किसी वस्तु को सिद्ध अर्थात् होने वाला भी कहें और अज्ञात भी, यह असंगत है। सिद्ध का मतलब ही ज्ञात है। अज्ञात तो होता ही नहीं। ज्ञात घटादि प्रमाणादि वृत्तियों से ज्ञात हैं और जिन्हें अज्ञात कहते हैं वे घटादि 'अज्ञात' इत्याकारक अज्ञानवृत्ति से ज्ञात हैं इतना अंतर है। साक्षी का दोनों से सम्बन्ध है। सम्बन्ध के साधन का फ़र्क है। यदि कोई संबंध न हो तो 'अमुक को मैं नहीं जानता' यह अनुभव ही न हो। असम्बद्ध की अज्ञायमानता होने पर तो सर्वज्ञतापत्ति हो जायेगी! क्योंकि उसी तरह असम्बद्ध की ज्ञायमानता को कौन रोकेगा? अतः अज्ञान ही अज्ञात वस्तु से साक्षी का सम्बन्ध स्थापित करता है। इसी से कहा गया है कि ज्ञाततया हो या अज्ञाततया, सभी वस्तुयें साक्षिचेतन का विषय तो होती ही हैं। इसलिये यहाँ चिद्व्याप्ति का अव्यतिरेक कहा है।

'सभी प्रमाता जानते हैं' ऐसा कहा अतः स्थावर प्राणियों में जानकारी दिखाते हैं– स्थावरों में भी सुख-दुःख का अनुभव दीखता है क्योंकि हमारी तरह ही उनका बढ़ना आदि होता है। समय पर पर्याप्त और अनुकूल जल पाकर वे अपने स्वस्थ व पुष्ट शरीरों का धारण करते देखे जाते हैं। हमारे शरीरों की स्वस्थ व पुष्ट वृद्धि तभी होती है जब हम सुखी अर्थात् सुखज्ञान वाले होते हैं, इसलिये वैसी वृद्धि वाले होने से पता चलता है कि वे भी सुखी हैं। इसी तरह मूल काट देने से, अत्यधिक ठण्ड होने इत्यादि से वे सूख जाते हैं व निर्वीर्य हो जाते हैं एवं गिरने लगते हैं जिससे मालूम पड़ता है कि वे दुःखी हैं। समय पर अन्न जल आदि मिलने से जैसे हमें सुख होकर हमारे शरीरों की सुन्दर वृद्धि (पुष्टि) होती है तथा शस्त्रों के आघात आदि से असह्य पीडा पाकर क्षीणता आ जाती है, वैसे ही स्थावरों की क्षीणता व पुष्टि दुःख व सुख पूर्वक ही होती हैं॥८४३-८४७॥ आधुनिक वैज्ञानिकों के प्रयोग भी इस मत के अनुकूल हैं कि वृक्षादि को सुखादि अनुभव होते हैं। पर्वतादि की भी वृद्धि आदि से उनके भी अभिमानी चेतन मान लेने चाहिये।

जङ्गमानां हि सर्वेषां व्यवहारः समो यतः। पिपीलिकादयोप्यस्मात् सुखदुःखोपभोगिनः॥८४९॥

मुनीनामपि देवानां ब्रह्मादीनां हि शास्त्रतः। अनुमानाच्च गम्येत सुखदुःखोपभोगिता॥८५०॥

प्रज्ञा प्रकाशरूपा

सुखदुःखोपभोगो यः सा प्रज्ञेति प्रकीर्तिता। न च क्रियाऽत्र काचिद्धि सुखे दुःखे च दृश्यते॥८५१॥

यावदुत्पद्यते नैव सुखं वा दुःखमेव वा। तावदेव क्रियाः सर्वाः कुर्वंते कारणान्यपि॥८५२॥

यथा तृप्तौ च जातायां कारकै र्न भुजिक्रिया। क्रियते सत्तया तस्या विद्यमानैरपि स्वयम्॥८५३॥

एवं सुखे च दुःखे च जाते तत्कारणै र्न च। क्रियते हि क्रिया नाम विद्यमानैस्तु सर्वतः॥८५४॥

पशुष्वपि तं दर्शयति– पशूनामिति। उभयेषां ग्राम्याणामारण्यानां च। अनुकूले हरिततृणपूर्णपाण्युपलम्भादौ सति प्रवृत्ति र्दृष्टा, विपर्यये दण्डहस्तप्रतिकूलदर्शने निवृत्तिश्च दृश्यत इति तेनैते पशवो मनुजैः समा इति॥८४८॥

पिपीलिकादावप्यतिदिशति–जङ्गमानामिति। अस्माद् अनुकूलप्रतिकूललाभात् प्रवृत्त्यादेः॥८४९॥

मुनीनामिति। मुनीनां वशिष्ठादीनां तथा ब्रह्मादीनां देवानां शास्त्रतः तथा अनुमानाच्च चेतनत्वलिंगकात् सुखदुःखान्यतम-भोगो ज्ञेयः॥८५०॥

तथा सति प्रकृते किमागतम्? अत आह– सुखेति। सा प्रज्ञा प्रकाशरूपैव। नात्र क्रियागन्धोपीत्याह–न चेति॥८५१॥

प्रत्युत क्रियोपरमो दृश्यत इति व्यतिरेकमुखेनाह–यावदिति। यावत् सुखं दुःखं फलं नोत्पद्यते तावदेव कारणानि क्रियाः कुर्वत इत्यन्वयः॥८५२॥

फलोत्पत्तौ तु क्रियोपरम इत्यत्र दृष्टान्तमाह–यथेति। यथा तृप्तौ जातायां विद्यमानैरपि कारकैः कर्त्रादिभिः भुजिक्रिया न क्रियते। तत्र हेतुः–तस्याः सत्तया। तस्याः तृप्तेः सत्तया निष्पत्त्येति यावत्॥८५३॥

दार्ष्टान्तिकमाह– एवं सुख इति। स्पष्टम्॥८५४॥

पशुओं में भी जानकारी होना बताते हैं– जंगली व पालतू दोनों जानवरों में अनुकूल उपलब्धि होने पर प्रवृत्ति और प्रतिकूल उपलब्धि होने पर निवृत्ति हुआ करती है जिससे निश्चय है कि इस विषय में वे मनुष्य के समान ही हैं॥८४८॥ भगवान् भाष्यकार ने कहा है कि हरी घास देखकर उस ओर जाना और लाल आँख किये दण्डधारी को देखकर उससे भागना यह जानवरों में भी दीखता है। इस मामले में पशुओं व पण्डितों में समानता है।

अनुकूल व प्रतिकूल की उपस्थिति पर प्रवृत्ति व निवृत्ति चींटी आदि सभी जंगम प्राणियों में होने से सभी सुख-दुःख का उपभोग करते हैं यह स्पष्ट मालूम पड़ जाता है॥८४९॥ वशिष्ठ आदि मुनि और ब्रह्मा आदि देवता भी सुख-दुःख भोगते हैं यह शास्त्र व अनुमान से ज्ञात है॥८५०॥ जो सुख-दुःख का उपभोग है वह प्रज्ञा कही गयी है। सुख-दुःख में कोई क्रिया नहीं देखी जाती॥८५१॥ जब तक सुख या दुःख रूप फल नहीं उत्पन्न हो जाता तभी तक कारक भी सारी क्रियायें करते हैं॥८५२॥ जैसे भोजनादि से तृप्ति हो चुकने पर विद्यमान भी कर्ता आदि कारक भोजनक्रिया नहीं करते क्योंकि क्रियाफल तृप्ति स्वयं निष्पन्न हो चुकी है, ऐसे ही सुख व दुःख उत्पन्न हो जाने के बाद उनकी उत्पत्ति के कारण हर तरफ मौजूद होते हुए भी क्रिया नहीं किया करते॥८५३-८५४॥

इस प्रकार प्रज्ञा का स्वरूप बताया। वही प्रज्ञेय के प्रति उपादान है अतः नेत्र है, यह स्पष्ट करते हैं– हम भोक्ताओं को होने वाले सुख-दुःख कभी प्रज्ञा से रहित नहीं उत्पन्न होते और न ही वे प्रज्ञा से अव्याप्त होकर संसार में कभी कहीं रहते हैं क्योंकि प्रज्ञा से अलग होने पर वे शशशृंग की तरह अलीक हो जायेंगे॥८५५॥ जैसे हमारे सुख-दुःख, ऐसे ही

प्रज्ञाया नेत्रत्वम्

सुखदुःखे च जायेते प्रज्ञाविरहिते न हि। विद्येते शशशृङ्गाभे कदाचित् क्वापि वाऽत्र नः।।८५५।।

यथाऽस्माकं तथान्येषां सर्वेषामिह देहिनाम्। प्रज्ञैव सुखदुःखे ते सुखदुःखत्वहेतुतः।।८५६।।

प्रज्ञामात्रे यथोक्ते ते सुखदुःखे तथैव हि। प्रज्ञामात्रे सदसती तस्यां सत्यां प्रकाशनात्।।८५७।।

रज्ज्वां सत्यां यथा सर्पो भासमानः पृथक्कृतः। न स्यात् सुखादिकं तद्वत् प्रज्ञातो न पृथग्भवेत्।।८५८।।

प्रज्ञा बुद्धिः प्रकाशाख्या जडा सापि जडेतरम्। सुखादिवदपेक्षेत प्रकाशं स्वप्रकाशकम्।।८५९।।

एवं प्रज्ञायाः स्वरूपं दर्शयित्वा तस्याः प्रज्ञेयं प्रत्युपादानतया नेत्रतां स्फुटयति—सुखेति। नोऽस्माकं भोक्तृणां सुखदुःखे प्रज्ञया विरहिते न जायेते न वा कदाचित् क्वचिद् विद्येते यतस्ते प्रज्ञातो विविक्ते सति शशशृङ्गाभे इति।।८५५।।

एवं स्वकीयसुखदुःखयोः प्रज्ञामात्रतां निश्चित्य तद्दृष्टान्तेन परकीयसुखदुःखयोरपि तथात्वं निर्धार्यं सुखत्वदुःखत्व-रूपहेतुभ्यामित्याह—यथास्माकमिति।।८५६।।

तद्दृष्टान्तेन चान्यत्र प्रज्ञामात्रताऽवधार्येत्याह—प्रज्ञामात्रे इति। ते उक्ते सर्वभोक्तृसम्बन्धिनी सुखदुःखे यथा प्रज्ञामात्रे प्रज्ञातिरिक्तस्वरूपहीने तथा सदसती यावत्कार्यकारणे प्रज्ञामात्रे। कुतः? तस्यां प्रज्ञायां सत्याम् एव भासमानायामेव प्रकाशनात् स्फुरणात्।।८५७।।

दृश्यं प्रज्ञापरिणाम इति भ्रममपाकर्तुं विवर्तोपादानं दृष्टान्तमाह—रज्ज्वामिति। यथा रज्ज्वां सत्याम् भासमानसर्पो रज्जोः पृथक् कृतः चेत्तर्हि न स्याद्, शशशृंगसमो भवेत्; तद्वत्प्रज्ञातः पृथक् सुखादिकं प्रपंचो न भवेद्, असन्नेव भवेदिति यावत्।।८५८।।

ननु किं बुद्धिरियं प्रज्ञा?—इति कस्यचिद् भ्रमं प्रोपसर्गार्थप्रकर्षानुपपत्त्या निरस्यति—प्रज्ञेति। या बुद्धिः प्रकाशाख्या प्रकाशत्वेन लोके प्रसिद्धा साऽपि जडेतरं स्वप्रकाशप्रकाशम् अपेक्षेत, अतोऽपकृष्टत्वात् सा न मुख्या प्रज्ञा, शिलामध्यगतसहस्रदीपवत् साक्षिणमन्तरा सिद्धे दुर्वचत्वादिति भावः।।८५९।।

सभी देहधारियों के वे सुख-दुःख प्रज्ञा ही हैं। प्रज्ञाव्याप्ति निर्धारित कर ली है।।८५६।।

सुखादि के उदाहरण से अन्य वस्तुओं की प्रज्ञारूपता कहते हैं– सुख-दुःख की तरह ही सत् व असत् अर्थात् सभी कार्य और कारण केवल प्रज्ञा ही हैं क्योंकि प्रज्ञा के रहते ही वे भासते हैं।।८५७।।

मिट्टी से अभिन्न होने के कारण मिट्टी का ही बदला हुआ रूप जैसे घड़ा है वैसे दृश्य क्योंकि प्रज्ञा से अभिन्न कहा जा रहा है इसीलिये प्रज्ञा का ही वास्तव में एक परिवर्तित रूप होगा; इस भ्रम को हटाने के लिये ऐसा दृष्टान्त देते हैं जहाँ कार्य कल्पित होने से कारण से अभिन्न होता है– जैसे रस्सी के रहते प्रतीयमान साँप अगर रस्सी से अलग कर दिया जाये तो रहेगा ही नहीं, ऐसे प्रज्ञा से अलग किया सुखादि प्रपंच सर्वथा रह ही नहीं जायेगा।।८५८।। 'रस्सी के रहते' अर्थात् आधाररूप से उसका भान होने पर। 'अलग करने' का भी मतलब है उससे पुरोवर्ति-तादात्म्य हटाना। साँप स्मृति तो है नहीं, वह सामने ही दीख रहा है। उसका 'सामने होना' न रहे तो वह ही नहीं रहेगा क्योंकि 'सामने होने' से अतिरिक्त उसका कहीं अस्तित्व नहीं। रस्सी की सत्ता से ही वह सत्ता वाला लगता है। इसी तरह अनुभव से संवलित ही सारा दृश्य है अतः अनुभव से हटकर उसका अस्तित्व नहीं। यद्यपि स्पष्टतः दृश्य को अनुभव पर कल्पित समझना मुश्किल है तथापि दृग्दृश्यसम्बन्ध का विचार करें तो यह बात युक्तिसिद्ध लगती ही है। अनुभूति के स्तर पर तो यह अखण्ड बोध पर ही आ पायेगी 'मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्'।

'प्रज्ञा' से यहाँ बुद्धि नहीं समझ लेनी चाहिये यह स्पष्ट करते हैं– लोक में प्रकाशरूप से प्रसिद्ध जो बुद्धि है वह

तस्मादालोकमात्रायां प्रज्ञावागुपचारतः। यथा प्रकाशे भान्वादे रुपचारात् प्रकाशगीः॥८६०॥
तथा सर्वप्रकाशानां प्रकाशे भेदवर्जिते। आनन्दात्मनि शब्दोऽयं मुख्यः प्रज्ञेति सम्भवेत्॥
यत एव ततः प्रज्ञानेत्रो लोकोऽपि कथ्यते॥ ८६१॥

प्रज्ञानस्य प्रतिष्ठात्वम्

भूतभौतिकजातस्य मायया सहितस्य च। प्रपञ्चस्यास्य सर्वस्य सदा सदसदात्मनः॥८६२॥

बुद्धौ तु प्रज्ञापदं गौणमित्याह–तस्मादिति। आलोकमात्रायाम् आलोकस्य भूतानां सात्त्विकांशगणस्य प्रकाशस्य मात्रायां कार्यतया लेशभूतायाम्। यद्वा, आलोकस्य आत्मप्रकाशस्य प्रतिबिम्बतया लेशे चिदाभासे बुद्धिविशिष्टे प्रज्ञापदमुपचारादिति। दृष्टान्तमाह–यथेति। 'स्त्रियां मात्रा त्रुटिः पुंसि लवलेशकणाणवः' इत्यमरः॥८६०॥

फलितमाह–तथेति। तथा तथा सति अन्यत्र समन्वयाभावे सति आनन्दात्मनि प्रज्ञाशब्दो मुख्य इति। तत्र हेतुगर्भे विशेषणे बोध्ये इति। अत्र प्रज्ञापदमानन्दात्मनि मुख्यमिति वदतां ग्रन्थकृतामयमाशयः–व्यवहारे हि भाट्टनय इत्यभ्युपगमः। भट्टमते च जातौ शक्तिः, जातिश्च प्रतिबिम्बविशिष्टवृत्तीनां बिम्बमेव, अत एव विवरणकारैरपि ज्ञानादिपदानां मुख्या वृत्तिः शुद्धे दर्शिता। न चाऽवाङ्मनसगम्यत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधः, तस्याः श्रुते र्मनोविषयविषयकवाग्विषयत्व-निषेधपरत्वात्। अथ विशिष्टवाचकपदानां शुद्धे लक्षणयैव वृत्तिरिति वादिनां संक्षेपशारीरककृतां मते तु मुख्येत्यस्य प्रशस्ततत्त्वज्ञानोपयोगित्वादित्यर्थ इति। यत एवमिति। यत उक्तयुक्तेः एवं प्रज्ञाशब्दस्य आनन्दात्मनि मुख्यत्वं, तत एवाशयाच्छ्रुत्या एवं कथ्यते। एवं कथम्?–लोको दृश्यवर्गः प्रज्ञानेत्र इति। न हि स बुद्धिनिर्वाह्यः, बुद्धेः स्वसिद्धये परापेक्षाया उक्तत्वाद् आनन्दात्मना त्वभिन्ननिमित्तोपादानेन निर्वाह्य इति भावः॥८६१॥

भी जड है इसलिये सुखादि की तरह ही अपना प्रकाशन करने के लिये उसे किसी जडभिन्न स्वयम्प्रकाश प्रकाश की ज़रूरत है॥८५९॥ स्वप्रकाशता के बिना अनवस्थादि दोषों से छुटकारा नहीं है। जड को स्वप्रकाश कहना वदतो व्याघात है। परिवर्तनशील होने से बुद्धि जड है अतः चित्प्रकाश से ही सिद्ध है। यहाँ अन्तःकरणवृत्तिरूप बुद्धि कही जा रही है। सांख्यों की सात्त्विक वृत्तिविशेष और विज्ञानवादियों के क्षणिक विज्ञान भी बुद्धिशब्द से समझ लेने चाहिये। वे भी जड हैं, चिदपेक्ष हैं।

बुद्धि को उपचार से प्रज्ञा कहते हैं यह सूचित करते हैं–इसलिये प्रकाश के लेश वाली बुद्धि को उपचार से प्रज्ञा कहा जाता है जैसे सूर्यादि के प्रकाश को उपचार से प्रकाश कहा जाता है॥८६०॥ जिससे ज्ञान हो वह प्रकाश है। सूर्यप्रभा अकेली तो ज्ञान नहीं करा सकती, आँख आदि अनेकों की सहायता से ही ज्ञान होगा। फिर भी ज्ञान कराने में काफी उपकार करती है इसलिये सूर्यप्रभा को प्रकाश कह देते हैं। ऐसे ही बुद्धि सात्विक होने से चित्प्रतिबिम्ब ग्रहण कर ज्ञान होने में अद्भुत उपकार करती है, इसीलिये उसे प्रकाश या प्रज्ञा कह देते हैं। वस्तुतः तो प्रज्ञा आत्मा ही है जिसके प्रतिबिम्ब को लेकर बुद्धि भी प्रकाश कर पाती है। 'लेश' से यहाँ प्रतिबिम्ब ही समझना चाहिये। उसका भी अभिप्राय है अपने में कल्पित बुद्धि से तादात्म्याध्यास किया हुआ आत्मा। यह प्रतिबिम्बन है। दर्पण में मुख की तरह प्रतिबिम्बन नहीं समझना चाहिये। वह तो परस्पर विभिन्न उपधेय व उपाधि में जड प्रकाश से सम्बन्ध होने पर जायमान भ्रम है। उसे दृष्टान्त बनाकर समझाया इसी अध्यासात्मक प्रतिबिम्बन को है।

इसलिये सभी प्रकाशों का अधिष्ठानभूत, भेद रहित आनन्दरूप आत्मा प्रकाश ही प्रज्ञाशब्द का मुख्य अर्थ है। इसीलिये संसार को 'प्रज्ञानेत्र', प्रज्ञा से निर्वाह वाला, कहा गया है॥८६१॥ यहाँ आत्मा को प्रज्ञाशब्द का 'मुख्य' अर्थ कह दिया। प्रायः मुख्यार्थ वही होता है जो शक्य हो। आत्मा शक्य कैसे? ऐसे हैः सामान्यतः व्यावहारिक व्यवस्थायें वेदान्त सिद्धान्त में उसी तरह बना ली जाती हैं जैसी वे भाट्ट मीमांसा में स्वीकृत हों। यदि अद्वैतविरोध या शास्त्रविरोध हो, तब

प्रज्ञा नेत्रं स्वप्रकाशप्रकाशेन प्रकाशनात्। यतस्ततः प्रतिष्ठा सा हेतौ कार्यं स्थितं यतः॥८६३॥

अव्यक्तनामरूपाभ्यामादावन्ते च संस्थितम्। मध्ये च ताभ्यां व्यक्ताभ्यां प्रज्ञायां सकलं जगत्॥८६४॥

'प्रज्ञानेत्र' इति वाक्यार्थं सहेतुकमनुवदन् प्रज्ञानस्य प्रतिष्ठात्वं स्फुटयति—भूतेति चतुर्भिः। यतो मायासहितभूत-भौतिकजातरूपस्य सर्वस्य प्रपञ्चस्य, कीदृशस्य? सदसदात्मनः स्थूलसूक्ष्मात्मकस्य स्वप्रकाशप्रकाशेन स्वरूपेण प्रकाशनात् प्रज्ञा उक्तलक्षणा नेत्रं निर्वाहिका भवति, ततः सा एव लोकस्य प्रतिष्ठा आधारः। उपादानस्य मृदादेरुपादेयघटाद्याधारत्वं लोकेऽपि सिद्धमित्याह—हेतौ कार्यं स्थितं यत इति। हेतौ—उपादाने। इति द्वयोरर्थः॥८६२-८६३॥

हेतौ कार्यस्य स्थितत्वमभिनयति—अव्यक्तेति। आदौ सृष्टेः पूर्वम् अन्ते विनाशानन्तरं च सकलं जगद् अव्यक्ताभ्याम-स्पष्टाभ्यां नामरूपाभ्यां प्रज्ञायां स्थितं, मध्ये च सृष्टिकाले व्यक्ताभ्यां ताभ्यां नामरूपाभ्यां स्थितमिति। घटादीनामपि मृदाद्युपहितमात्मचैतन्यमेवोपादानमित्याकरे स्पष्टमिति॥८६४॥

तो उनकी व्यवस्थाओं का तिरस्कार करते हैं, अन्यथा नहीं। भाट्ट लोग शब्द का शक्तिसम्बन्ध जाति से मानते हैं। भगवान् भाष्यकार ने भी तदनुकूल स्वीकारा है कि शब्द का संबन्ध व्यक्ति नहीं आकृति से होता है (देवताधिकरणभाष्य में)। प्रतिबिम्बविशिष्ट वृत्तियों की 'जाति' बिम्ब ही तो है! नित्यत्व, एकत्व, अनेकानुगतत्व, सभी उसमें हैं। शाब्दिकादि कुछ विचारक परमात्मातिरिक्त जाति मानना ही नहीं चाहते। अतः शब्द से बिम्बभूत आत्मा का शक्तिसम्बन्ध सिद्ध होता है। विवरणाचार्य ने भी ज्ञानादि शब्दों से शक्ति वृत्ति द्वारा शुद्ध का बोध मान लिया है। वाणी की अविषयता का तात्पर्य है कि मन के विषयों को विषय करने वाले शब्दों से आत्मा नहीं कहा जा सकता। प्रज्ञादि शब्द तो मन के विषयों को कहते नहीं अतः ये आत्मा को बता सकते हैं। वस्तुतस्तु बिम्बरूप से बिम्ब कल्पित ही है, अतः शक्तिसम्बन्ध उससे होने में कोई आपत् नहीं। विवरणकारों ने जो मुख्यवृत्ति कहा है उसका अर्थ तात्पर्यवृत्ति ही समझना चाहिये। उनका वाक्य है 'सर्वे जगत्कारणविषयाः शब्दा मुख्यलक्षणोपाधिभिरेकरसमेव ब्रह्म प्रतिपादयन्ति।' (पृ.५७६ म.अ.सं.)। उस पर तत्त्वदीपन है 'मुख्यवृत्त्या, लक्षणावृत्त्या जहदजहल्लक्षणया, उपाधिना चेति विभागो द्रष्टव्यः। ज्ञानानन्दशब्दौ व्यक्त्यंशाऽपरित्यागेन मुख्यवृत्त्या वर्तेते,---'। यहाँ ज्ञान व आनन्द दोनों शब्दों को साथ लिया है। श्रुति में भी 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' है। अतः इन शब्दों का वाक्यार्थ आत्मा है यह ग्रन्थकार को अभिप्रेत है। इसीलिये ऋजुविवरणकार ने कहा है 'ज्ञानानन्दशब्दप्रयोगाद् ज्ञानत्वाधारसुखविशेषसिद्धिः।' वाक्यार्थ तो सर्वत्र लक्ष्यमाण होता ही है। इसे मुख्यवृत्ति कहने का अर्थ यही है कि पदों से अशक्यार्थ की उपस्थिति की अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार विवरण में शुद्ध में शक्तिविषयता मानी है ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये। प्रकृत ग्रन्थकार ने भी इसी दृष्टि से 'मुख्य' कहा है। टीकाकार ने बिम्ब का शक्तिसम्बन्ध बताकर जो शुद्ध में मुख्यवृत्ति कही है उसका तात्पर्य बिम्ब की वास्तविक शुद्धि की दृष्टि से समझना चाहिये। अर्थात् प्रज्ञाशब्द अपनी शक्ति से जिसे विषय करता है वह वस्तुतः शुद्ध है, बिम्बरूप से चाहे कल्पित ही हो। शब्दविशेषों की अविषयता से ही वागविषयता के निर्वाह का कथन तो प्रौढिवाद ही जानना चाहिये। इसीलिये टीकाकार ने सर्वज्ञात्ममहामुनि का मत भी दिखा दिया है: पदों की शक्ति होती है विशिष्ट में और शुद्ध का वे लक्षणा से ही ज्ञान कराते हैं यह उनका मत है। इस दृष्टि से 'मुख्य' का अर्थ है ज्ञान में उपयोगी होने से प्रशस्त; प्रज्ञाशब्द में यह अच्छाई है कि वह आत्मा का ज्ञान कराने में बहुत सहकारी है। दृश्यैकदेश बुद्धि तो प्रज्ञानिर्वाह्य है, प्रज्ञात्मा बुद्धि से निर्वाह्य नहीं। अपनी सिद्धि के लिये अपने अभिन्ननिमित्तोपादान आनंदरूप आत्मा की बुद्धि को जरूरत है। आत्मा तो स्वयम्प्रकाश है।

ऐतरेयक में प्रज्ञा को प्रतिष्ठा कहा है। उसे समझाते हैं— माया समेत भूत-भौतिक इस सारे स्थूल-सूक्ष्म प्रपंच का स्वयम्प्रकाशरूप प्रकाश से ही सदा प्रकाशन होने के कारण प्रज्ञा ही इसका नेत्र अर्थात् निर्वाहक है, अतः वही प्रतिष्ठा है क्योंकि उपादान कारण में ही कार्य स्थित रहता है॥८६२-८६३॥ सृष्टि से पूर्व और प्रलय के बाद अव्यक्त नाम-रूपवाला सारा जगत् प्रज्ञा में रहता है तथा सृष्टि-प्रलय के मध्यकाल अर्थात् स्थितिकाल में व्यक्त नाम-रूपवाला सारा जगत् प्रज्ञा

यथा विशुद्धे नभसि गन्धर्वनगरादिकम्। यथा वात्मनि बालस्य दुःखदं राक्षसादिकम्॥८६५॥

महावाक्यविवरणम्

प्रज्ञानमत एवैतद् ब्रह्मेत्याहु र्मनीषिणः। न ह्यस्मादधिकं किञ्चित् सदसद्वापि विद्यते॥८६६॥

देशःकालस्तथा वस्तु भावाभावस्वरूपकम्। तत् सर्वं प्रज्ञया व्याप्तं पर्णानीव च शङ्कुना॥८६७॥

पातालं भूतलं वापि दिवं वा बाह्यमेव च। तिष्ठत्येकं नभो व्याप्य प्रज्ञैव सकलं जगत्॥८६८॥

तत्रापि विवर्तोपादानतैव इति दृष्टान्ताभ्यां स्पष्टयति—यथेति। आत्मनि मनसि॥८६५॥

महावाक्यं व्याचष्टे—प्रज्ञानमिति। अतः प्रज्ञानपदपर्यायप्रज्ञापदस्योक्तार्थपरत्वाद् एव एतत् साक्षादपरोक्षं प्रज्ञानं ब्रह्मेत्याहु र्मनीषिणो वेदान्तविद इति। ब्रह्मपदार्थमाह—न हीति। यत्किंचित् सदसत् तत्सर्वम् अस्मात् प्रज्ञापदार्थात्प्रज्ञानाद् अधिकं पृथग् न विद्यते, तस्माद् ब्रह्मपदप्रयोगमर्हतीति॥८६६॥

नन्वेकमेव पदं शुद्धतां बोधयिष्यति, किं पदद्वयात्मकेन वाक्येनेति चेद्? न। पदमात्रस्य स्मारकत्वेन एकं पदं विशिष्टमर्थमपि स्मारयेद्, वाक्यभावे तु सामानाधिकरण्येन पदान्तरार्थैकतां लब्धुं तदनुकूलमेव स्मारयेद् इति विशेषादित्याशयेन ब्रह्मपदसमानाधिकृतेन प्रज्ञानपदेन यादृशोऽर्थो बोधितस्तमाह—देश इति द्वाभ्याम्। योऽयं देशः कालः च यच्च तदवच्छिन्नं भावाभावरूपं वस्तुजातं तत् सर्वं प्रज्ञया सर्वान्तरचैतन्येन व्याप्तम् इति। अत्र दृष्टान्तः—यथा पर्णानि पत्राणि शङ्कुना वृन्तेन व्याप्तानि तद्वदिति॥८६७॥ दृष्टान्तान्तरमाह—पातालमिति। पातालं भूतलं दिवम् अन्तरिक्षं स्वर्गं वा, ततस्त्रिलोक्या बाह्यदेशं च व्याप्य यथा नभस्तिष्ठति तथा प्रज्ञैव सकलं व्याप्य तिष्ठतीति सर्वान्तरं वस्तु प्रज्ञानपदार्थ इति भावः॥८६८॥

में रहता है। अतः प्रज्ञा ही जगत् की प्रतिष्ठा है॥८६४॥ जैसे विशुद्ध गगन में गंधर्व नगरादि या स्वयं बालक में दुःखप्रद राक्षसादि प्रतिष्ठित होते हैं ऐसे प्रज्ञा में प्रपंच है॥८६५॥ सृष्टि से पूर्व आत्मा में होना ग्रन्थ के आरंभ में और स्थितिकाल अर्थात् प्रतीतिकाल में भी आत्मा में होना प्रज्ञावाक्यव्याख्या में बताया जा चुका है।

अब महावाक्य की व्याख्या करते हैं– इसीलिये वेदान्त वेत्ता लोग इस प्रज्ञान को ही ब्रह्म कहते हैं क्योंकि इस प्रज्ञान से पृथक् सद् या असत् कुछ भी नहीं है॥८६६॥

शंका होती है कि जब प्रज्ञान आदि प्रत्येक शब्द ही शुद्ध परमेश्वर का बोध करा सकता है तब वेद को 'प्रज्ञानं ब्रह्म' ऐसा वाक्य कहने की क्या जरूरत थी? समाधान है कि पद तो स्मारक है, अर्थ की याद उत्पन्न करता है। 'पदमभ्यधिकाभावात्स्मारकाद् न विशिष्यते' ऐसा भाट्ट मत है। वे पद में अनुभावकता नहीं मानते। स्मारक होने से वह विशिष्ट अर्थ का भी स्मरण करायेगा क्योंकि अनुभूत तो विशिष्ट अर्थ हुआ ही है। किन्तु जब वाक्यप्रयोग हो गया तब दोनों पदों के अर्थों का अभेद होना आवश्यक होने से पद वैसे ही अर्थ को याद दिलायेगा जो अभिन्न हो सके। विशिष्टों में अभेद संभव नहीं अतः शुद्ध की याद शब्द दिला देगा। अत एव वाक्योपदेश किया जाता है। यहाँ स्पष्ट हो गया कि पूर्व में भी टीकाकार वाक्यघटक शब्द से ही शुद्धोपस्थिति कहना चाहते थे। यह भी है एक तरह से लक्षणापक्ष ही, पर इतना अन्तर है: विशिष्ट को यदि शुद्ध से अतिरिक्त मान लें तब तो शुद्ध में लक्षणा स्वीकारने में कोई कठिनाई नहीं। किन्तु जब उसे अनतिरिक्त मानते हैं तब विशिष्ट की उपस्थिति होने पर शुद्ध वहाँ उपस्थित हो ही गया, तो लक्षणा से पुनः उसे उपस्थित करने का व्यर्थ परिश्रम काहे के लिये? केवल विशेषण का परित्याग चाहिये। वाक्यघटक पद परस्पर अन्वययोग्य अर्थों के उपस्थापक होते हैं यह सर्वत्र मान्य है। महावाक्य में भी पद वैसा अर्थ ही उपस्थित कर देंगे, विशेषणांश छोड़कर शुद्ध को उपस्थित करा देंगे। इसके लिये लक्षणा क्यों माननी? इसी दृष्टि से टीकाकार ने पद से शुद्ध की उपस्थिति पहले कह दी है। गौड ब्रह्मानन्द जी महाराज तो 'विशेषण छोड़कर शुद्ध उपस्थित कराने को' ही गौणीवृत्ति

गन्धर्वनगरं मेघो नीलिमादिकमेव वा। नभ एव यथा तद्वत् प्रज्ञैवैतज्जडाजडम्॥८६९॥

'स एतेने' त्यादेरर्थः

एवं विचारतः सोऽयमधिकारिजनः प्रभुः। वामदेववदेतद्धि शरीरादि जहौ धिया॥८७०॥

अभिमानं परित्यज्य शरीरे सपरिष्करे। आरब्धकर्मनिर्वाणं कुर्वन् भोगानवाप सः॥८७१॥

आनन्दात्माऽहमस्मीति प्रज्ञामात्रैकरूपभृत्। स्वात्मनि स्वर्गरूपेऽभूदमृतो वामदेववत्॥८७२॥

तत्समानाधिकृतेन ब्रह्मपदेन च तस्य अद्वितीयता निर्विशेषतारूपा बोध्यत इत्याह–गन्धर्वेति। यथाऽऽकाशे कल्पितं गन्धर्वनगरादिकमाकाशमेव, तत्र कल्पितं तु नैवास्ति; तथा प्रज्ञायां कल्पितं विश्वं प्रज्ञैव अस्ति, कल्पितं जडाजडं विशेषरूपमशेषं प्रज्ञामात्रमित्यर्थो ब्रह्मपदप्रसादलभ्य इति॥८६९॥

'स एतेन' इत्यादि 'समभवद्' (ऐ.३.४) इत्यन्तं व्याकरोति–एवमित्यादित्रिभिः। स वामदेववाक्यतो विचारे प्रवृत्तेऽधिकारिजनः प्रभुः साधनसम्पत्त्या समर्थः एतच्छरीरादि धिया विवेकेन जहौ त्यक्तवान्॥८७०॥ अभिमानमिति। परिष्कर उपकरणं गृहादि तत्सहिते शरीरेऽभिमानम् अहंकारममकारात्मकं परित्यज्य आरब्धकर्मणां निर्वाणमन्तं कुर्वन्–हेतौ शता–तदर्थमिति यावद्, भोगानवाप जीवन्मुक्तो विजहार इति यावत्॥८७१॥ आनन्देति। आनन्दात्माऽहमस्मीति आकारेण आविर्भवद्यत् प्रज्ञामात्रैकरूपं–प्रज्ञामात्रं च तदेकरूपमद्वयवस्तु, तद्बिभर्ति निरन्तरमनुसन्दधाति इति स तथा–इत्यधिकारिजनविशेषणम्। विदेहमोक्षमाह–स्वात्मनीति॥८७२॥

से आचार्यों ने लक्षणा कहा है ऐसा बताते हैं। लक्षणा से जैसे शक्यतावच्छिन्न से इतर उपस्थित होता है वैसे ही यहाँ हो रहा है, यह उपचार का बीज है। यों यौक्तिक ऋजुता होने पर भी वेदान्तों का प्रसिद्ध मार्ग तो लक्षणा का ही है। आत्मपुराणकार भी उसे मानकर ही उपदेश दे रहे हैं यद्यपि टीकोक्त विधि से इस परिष्कृत पक्ष के अनुसार भी ग्रन्थ की योजना सुकर है। 'प्रज्ञानं ब्रह्म' वाक्य में ब्रह्मपदार्थ से अभिन्न प्रज्ञानपदार्थ बताने वाला प्रज्ञानपद जिस अर्थ को बताता है उसे दिखाते हैं– देश, काल तथा भाव व अभाव रूप वस्तुएँ, सभी प्रज्ञा से व्याप्त हैं जैसे पत्ते शंकु (नाडीजाल) से व्याप्त होते हैं। जैसे एक आकाश ही पाताल, भूमि, अंतरिक्ष और इस त्रिलोकी से बहिर्भूत भी सब को व्याप्त कर रहता है वैसे सारा जगद् व्याप्त कर प्रज्ञा ही है॥८६७-८६८॥ पहला दृष्टान्त अन्तरवस्थिति में है पर उसमें पर्ण की अपेक्षा शंकु की परिच्छिन्नता से दार्ष्टान्त में भ्रम की संभावना होने पर दूसरा दृष्टान्त है। दूसरे दृष्टान्त में भी अन्तरवस्थान है ही क्योंकि सभी का कारण होने से आकाश सर्वांतर है। किन्तु यह आंतरत्व शास्त्र पर आधारित होने से आन्तरत्व के लिये शंकुदृष्टान्त दिया। इस प्रकार 'सर्वान्तर सर्वव्यापक वस्तु' यह प्रज्ञान पद का अर्थ है।

उसी वाक्य के ब्रह्म-पद से निर्विशेष अद्वितीयता कही जा रही है यह कहते हैं– जिस प्रकार गंधर्वनगर, मेघ, नीलिमा आदि केवल आकाश ही हैं, वैसे ही विशेष रूप सारे ही जड-चेतन प्रज्ञा ही हैं॥८६९॥ कल्पित द्वितीय भी न सहने वाला अद्वैत, द्वैतनिरासपूर्वक ही भासता है। व्यापकार्थक ब्रह्मपद निरवच्छिन्न व्यापकता कहता है जिससे कल्पित का बाध होने पर 'अवशिष्ट' कहाने वाला पर वस्तुतः अव्यावृत्त-अननुगत प्रत्यङ्मात्र समझा जाता है।

आगे उपनिषत् कहती है जो पुरुष प्रज्ञानादिवृत्तियों के साक्षी प्रत्यक् चेतन को सर्वव्यापक परमेश्वर जान जाता है वह स्वयं इस चैतन्य स्वरूप से ही भासता है और विदेह कैवल्य पा जाता है। इसकी व्याख्या करते हैं– इस प्रकार वामदेव की बात सुनकर विचार में प्रवृत्त उन साधन सम्पन्न अधिकारियों ने विवेकपूर्वक इस अपने शरीरादि से तादात्म्याध्यास वैसे ही हटा लिया जैसे वामदेव ने हटा लिया था॥८७०॥ घर आदि उपकरणों समेत शरीर में अहंकार-ममकार छोड़कर केवल प्रारब्धशेष का क्षय करने के लिये जीवन्मुक्त हो वे भोग करते रहे॥८७१॥ 'मैं आनन्दरूप आत्मा हूँ' इस अकेली प्रज्ञा का ही सदा अनुसंधान करने वाले वे अधिकारी प्रारब्धसमाप्ति पर आनंदरूप निज आत्मा में अभेदेन अमर हो बने रहे

ऐतरेयपदव्युत्पत्तिः

अपौरुषेयै र्वचनैरितिहासोऽयमीरितः। इतरायाः सुतेनादावेष इत्यादिवादिना॥८७३॥

अध्यायार्थस्य सङ्क्षेपः

अयं मार्गस्तथा कर्म ब्रह्म सत्त्यं च वेदनम्। ब्रह्मणो न प्रमादोऽस्मात् करणीयः कथंचन॥८७४॥

न चातिक्रम्य गन्तव्यं वेदनं साधनान्तरम्। अस्य येऽतिक्रमं चक्रुः पराभूता हि दुर्धियः॥

संसारसुभटेनैव ते सर्वे विजिताः क्षणात्॥ ८७५॥

ऐतरेयव्याख्यामुपसंहरन्नैतरेयपदव्युत्पत्तिं सूचयन्नयमर्थोऽधिकारिभिस्तत्परैरवधार्यत इति दर्शयति—अपौरुषेयै-रित्यादिना। अपौरुषेयैः पुरुषेण अर्थं दृष्ट्वा निर्मितानि पूर्वानुपूर्वीनिरपेक्षोच्चारणकानि भारतादीनि पौरुषेयाणि तद्वि-लक्षणैः वचनैः 'आत्मा वा' इत्याद्यैः अयमितिहास इतरासंज्ञकाया अपत्येन ऋषिणा आदावीरितः तपसानुस्मृत्य प्रकाशितः। कीदृशेन इतरायाः सुतेन? 'एष पन्था' इत्यादिवाक्यं प्रथमं प्रकाशयता। तद्वाक्यस्वरूपं चतुर्थश्लोक-व्याख्यायां दर्शितम्॥८७३॥

तद्वाक्यं पूर्वं विस्तरेण व्याख्यातमपि सुखबोधाय संक्षिप्तार्थमर्थतः पठति—अयं मार्ग इति। यद् ब्रह्मणो वेदनमयम् एव मार्गस्तथा इदमेव कर्म अवश्यं संपाद्यं, तथेदमेव ब्रह्म सत्त्यं च तत्प्रापकत्वादिति। अस्मात् प्रमादो न कार्य इति॥ ८७४॥

न चेति। **ब्रह्मणो** वेदनमतिक्रम्य साधनान्तरं प्रति न गन्तव्यमिति। अस्येति। अस्य **ब्रह्मवेदनस्य** अतिक्रमम् **उपेक्षारूपं** ये चक्रुस्ते दुर्धियः पराभूताः **पराभवं गता इति। ननु पराभवः प्रतिद्वन्द्विनः सकाशाद्भवति, अत्र कः प्रतिद्वन्द्वी? इत्याशंक्य 'य उदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति' (तै.२.७.१) इत्यादिश्रुतेः मायोपाधिरीश्वरो यमराजवदज्ञानां भयहेतु र्मायाकार्यं संसारश्च अभिमानलक्षणो यमकिंकरवत् पराभवकर इत्याह—संसारेति। संसार एव सुभटो महाबलो योधः तेन तेऽतिक्रमणशीलाः क्षणेन** विजिता **इति॥८७५॥**

जैसे वामदेव अपने प्रारब्ध की समाप्ति पर अमृत आत्मा रूप ही रह गये थे, प्रतीयमान देहादिवैशिष्ट्य समाप्त हो गया था॥८७२॥ जीवन्मुक्ति व विदेह मुक्ति में स्वरूपतः कोई अन्तर नहीं। प्रतीत होता भेद रहते उसे ही जीवन्मुक्ति कहते हैं, वह प्रतीति रुक जाये तो उसे ही विदेह मुक्ति कहते हैं।

ऐतरेयोपनिषद् की व्याख्या का उपसंहार करते हुए ऐतरेय शब्द की व्युत्पत्ति सूचित करते हैं और बताते हैं कि यहाँ बताया रहस्य वे अधिकारी ही निश्चित रूप से जान सकते हैं जो इसे समझने के लिये तत्पर हों– 'यह रास्ता है' इत्यादि कहने वाले इतरा के पुत्र ने अपौरुषेय वचनों द्वारा यह इतिहास कहा था॥८७३॥ इतरा नामक स्त्री के पुत्र होने से ऋषि ऐतरेय कहलाये। उन्होंने इतिहास कहा जरूर पर वचन ये अपौरुषेय हैं। पुरुष किसी विषय का प्रमाणान्तर से निर्धारण कर उसे अपनी इच्छा से रची शब्दावली में व्यक्त करे तो उस अभिव्यक्ति को पौरुषये कहते हैं जैसे महाभारतादि हैं। 'आत्मा वा इदम्' इत्यादि वचन ऐसे नहीं हैं। प्रतिकल्प यही आनुपूर्वी भगवान् व्यक्त करते हैं। अतः ये अनादि व अपौरुषेय वचन हैं।

ऐतरेय महर्षि के वाक्य को अध्यायारंभ में विस्तार से समझा चुके हैं, फिर भी संक्षेप से पुनः सुना देते हैं– परमात्मा का ज्ञान ही कल्याण का मार्ग है, यही कर्म है– इसे अवश्य करना चाहिये तथा उसकी प्राप्ति कराने वाला होने से इसे ही सत्य ब्रह्म समझना चाहिये। इस अखण्ड बोध की प्राप्ति में किसी भी तरह की असावधानी नहीं करनी चाहिये॥८७४॥ इस ज्ञान को छोड़कर अन्य किसी साधन का सहारा लेना नहीं चाहिये। जिन मूर्खों ने इसकी उपेक्षा की वे हार गये और संसाररूप प्रबल योद्धा ने उन्हें शीघ्र ही जीत लिया॥८७५॥

इत्यस्मिन् वचने नृणां विश्वासाय महामुनिः। उदाजहार मतिमान् इतिहासमिमं शुभम्॥ ८७६॥
अस्यार्थं ये न जानन्ति मनुजास्ताननेकशः। संसारसुभटो हन्याद् यथात्र मृगयुर्मृगान्॥८७७॥
पितृमात्रुदरे सप्तधातुगर्तनिपातनैः। विण्मूत्रादिकृतै र्लेपै र्जराय्वस्थ्यादिबन्धनैः॥८७८॥
कृम्याख्यनागपाशैश्च दुःसहै र्जठरोद्भवैः। वाताग्निजनितैस्तापैरुपस्थच्छिद्रनिर्गमैः॥८७९॥
अनेकजन्मसंस्मृत्या विस्मृत्या चात्मनस्तथा। अशक्तिपारतन्त्र्याभ्यां विण्मूत्रादेश्च भक्षणैः॥८८०॥
क्रीडानामनवाप्त्या च गुरुमात्रादिभीतितः। पञ्चबाणकृतैश्चित्रै र्विचित्रैश्च भ्रमैरपि॥८८१॥

तद्वाक्यानुवादप्रयोजनं दर्शयति—इत्यस्मिन्निति। इत्यस्मिन् वाक्ये प्रथमं प्रकाशिते केचिदित्थं शंकितवन्तः—ननु भवदुक्तमपि ब्रह्मवेदनस्य मार्गत्वादिकं नास्मद्बुद्धावकतरतीति। तेषां नृणाम् एतद्वाक्यार्थे विश्वासाय विश्वासं श्रद्धां जनयितुम् इतिहासमुदाजहार उदाहरणवत् प्रकटीकृतवानिति। उदाहृते च शंका निवर्तते, वामदेवादीन् प्रति ज्ञानस्य सत्यब्रह्मप्राप्तिसाधनताभिधानेन मार्गत्वादीनां निर्णयात्॥८७६॥

जन्मत्रयनैरन्तर्यप्रतिपादनेन चातिक्रमशालिनां पराभवोप्यत्र दर्शित इत्याह—अस्यार्थमिति। अस्य इतिहासस्य अर्थं प्रमेयं ये मनुजा मानुषं वपु र्लब्ध्वाऽपि न जानन्ति तान् संसारसुभटो यमभटवद् हन्याद् व्यथयेत्। लौकिको दृष्टान्तः—मृगयु र्व्याधः॥८७७॥

कथं हन्याद्? इति प्रकारजिज्ञासायाम्, एतैः कृत्त्वा—इत्यन्वययोग्यांस्तृतीयया निर्दिशति यमयातनासाम्यं च बोधयति—पितृमात्रुदर इत्यादिषड्भिः। सप्तधातव एव गर्तास्तत्र निपातनैः। गर्भस्थस्य विण्मूत्रसंसर्ग एव लेपस्तैः। जराय्वस्थ्यादिभिरन्तर्गतस्य वेष्टनरूपै र्बन्धनैः। निरयेप्येते पदार्थाः प्रसिद्धाः॥८७८॥

कृमीति। उदरकृमय एव नागाः, तन्मयैः पाशैः। तथा दुःसहै र्जठरभवै र्वाताग्निभ्यां जनितैस्तापैः। सूचीमुख-निरयसाम्यं बोधयति— उपस्थेति॥८७९॥

अनेकेति। अनेकजन्मनां स्मृति र्दुःखातिशयाय मूर्च्छयाऽऽत्मविस्मृतिश्च निरयेऽपि, गर्भगतस्य चेति साम्यम्। बाल्यदुःखानां निरयसमतां दर्शयति—अशक्तीति॥८८०॥

क्रीडेति। बालपक्षे क्रीडानामप्राप्तिः, अध्यापकादिभ्यो भीतिश्च प्रसिद्धा; निरयेऽपि स्वर्गवासिनां याः क्रीडा दुःखातिशयाय स्मृतिपथमवतरन्त्यः तासामप्राप्त्या दुःखं, तथा गुर्वी या मात्रादिभीतिस्तया चेति। अत्र पक्षे मातृशब्दो 'मीञ् हिंसायाम्' इति धातोस्तृचि 'मीनातिमिनोति' (६.१.५०) इत्यात्वे च व्युत्पन्नो हिंसकवचनः। आदिपदेन तदुपकरणग्रहः। यौवनदुःखानां तत्साम्यमाह—पञ्चेति। पंचबाणेन कामेन कृतैः चित्रैः नारीमूर्तेश्चित्तभूमौ लिखनैः, तथा विचित्रैः नानाविधैः भ्रमैः भ्रमणैः कृतं दुःखं प्रसिद्धम्। निरयपक्षे तु प्रत्यालीढादिस्थानभेदात् पंचविधानि च बाणकृतानि तत्तथा, मयूरव्यंसकादित्वात्समासः। यद्वा नाराचादिभेदात् पंचविधै र्बाणैः कृतानीति विग्रहः। एतादृशानि चित्राणि आश्चर्याणि तैः। यमदूता हि दुष्कृतिशरीराणि लक्षीकृत्य बाणप्रहरणाभ्यासं कुर्वन्तीति पुराणे प्रसिद्धम्। विविधं भ्रामयन्ति इति चेति, आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रमिति, तथा—स्यात्प्रत्यालीढमालीढमित्यादि स्थानपंचकमित्यमरः। आदिपदेन समपदविशाखमण्डलानां धनुर्वित्पादन्यासभेदानां ग्रहः॥८८१॥

इस बात पर लोगों का विश्वास जमाने के लिये बुद्धिमान् महामुनि ऐतरेय ने इस कल्याणकारी इतिहास को प्रकट किया॥८७६॥ जो इसके प्रतिपादित तात्पर्यविषयीभूत अर्थ को नहीं जानते उन मनुष्यों को यह संसाररूप सुयोद्धा अनेक प्रकार से मारता है जैसे व्याधा जानवरों को मारता है॥८७७॥ 'अनेक प्रकार' अर्थात् यहाँ बताये तीन जन्म व उनमें होने वाले दुःख। 'मनुष्य' कहकर सूचित किया कि इस दुर्लभदेह में इस ज्ञान को अवश्य पाना चाहिये। मायोपाधिक ईश्वर ही अज्ञानियों को भय देने वाला राजा है और माया का कार्य यह अभिमानरूप संसार उसका सैनिक है जो हमें मार गिराता है।

शिवित्रिणीसङ्गमोत्थैस्तै र्दोषै र्नानाविधैस्तथा। कालसर्पग्रसनतस्तथैव यमकिङ्करैः॥८८२॥

नानाशस्त्रादिसम्पातै र्वैषम्यैश्च घनादिजैः। स्वर्गादिपतनैस्तद्वद् अत्र देहाद्यवासितः॥

पुनः पित्रादिदेहेषु समावेशैः सुदारुणैः॥ ८८३॥

एवं संसारसुभटो जन्तून् जन्तुकसन्निभान्। अध ऊर्ध्वं तथा दिक्षु विदिक्ष्वपि च संक्षिपन्॥८८४॥

पितृमातृप्रवेशाद्यैस्तुदंस्तै र्विविधायुधैः। निपातयत्यमून् दीनानात्मज्ञानविवर्जितान्॥८८५॥

संसारसुभटप्रोत्थान् दुःसहान् स्वपराभवान्। सुभटा ये विजानन्ति अर्थमस्य सुनिश्चितम्॥८८६॥

वार्द्धकादिदुःखानां निरयसाम्यमाह—शिवित्रिणीति। शिवित्रिणी जरा, तत्संगमकृतैः दोषै रोगाद्यैः। निरयपक्षे कुष्ठिसंसर्गात् तद्रुजालाभः प्रसिद्ध एव। कालेति। काल एव सर्पस्तेन ग्रसनम्। निरयपक्षे तु कालाः श्यामाश्च ते सर्पास्तै र्ग्रसनानि तैरिति। तथा यमकिङ्करैः उक्तवाक्यैरिति॥८८२॥

नरकदुःखान्याह—नानेति। घनादिजैः घनः पृथ्वी, आदिपदेन जलादिग्रहः, पृथिव्यादिमयनरकदुःखैरित्यर्थः। तदुक्तं योगभाष्ये—'घनसलिलानलानिलाकाशतमःप्रतिष्ठाः महाकालाम्बरीषरौरवमहारौरवकालसूत्रतामिस्त्रान्धतामिस्त्रा महानरकभूमयः' इति। धनादिजैरिति पाठे सिंहावलोकनन्यायेन यौवनदुःखानां वर्णनं, कामनाद्वारा धनादिभ्यो जातै र्युद्धादौ नानाशस्त्रादिसम्पातरूपैः वैषम्यैः इत्यन्वयः। निरयेऽपि वैषम्यानि धनादिकामनाफलभूतानि एवेत्यवधेयम्। स्वर्गादिपतनैः अवीचिनिरयसमैः अत्र मानुषे लोके देहाद्यवासिः, तदर्थं पुनः पित्रादिदेहसमावेशैश्चेति संसारभटो हन्याद् इति सम्बन्धः॥८८३॥

संसारस्य सुभटत्वमपि एतदुपनिषदर्थाज्ञानप्रयुक्तमेवेत्याह—एवमिति द्वाभ्याम्। एवम् उक्तविधया संसारसुभटोऽमून् जन्तून् निपातयति प्रतिमल्लवत् पराभवति। किं कुर्वन्? अध ऊर्ध्वं तथा दिक्षु विदिक्षु च सम्यक् क्षिपन्; नानायोनिनयनमेव च संसारमल्लस्य नियुद्धविशेष इति भावः। पुनः किं कुर्वन्? तैः पूर्वोक्तैः पितृमातृशरीरप्रवेशादिरूपैः विविधायुधैस्तुदन् व्यथयन्। जन्तूनां निपातने च संसारमल्लस्य न क्लेशलेशोपीति सूचनाय जन्तूनां विशेषणानि—जन्तुकाः क्षुद्रजन्तवो यूकादयस्तत्संनिभान्; तत्र हेतुः—दीनानिति। तत्रापि हेतुः—आत्मज्ञानेति। अज्ञानमेव जीवानां बाधयोग्यत्वे संसारस्य बाधकत्वे च प्रयोजकमिति भावः॥८८४-८८५॥

नन्वेतदर्थावधीरणे को हेतुरिति चेद्? वैराग्यमेव, 'वैराग्यं परमेतस्य मोक्षस्य परमोऽवधिः' इति सिद्धान्ताद्—इत्यभिप्रायेणाह—संसारेति। संसारसुभटप्रोत्थान् दुःसहान् स्वपराभवान् ये विजानन्ति। तद्विज्ञानफलं परवैराग्यमासादयन्ति, त एव अस्य वेदान्तस्य सुनिश्चितमर्थं विजानन्ति। अर्थे ज्ञाते च त एव सुभटाः, संसारस्तु क्षुद्रजन्तुवदनायासेन प्रतिक्षेपपात्रतां गत इति भावः॥८८६॥

अनेक प्रकार से मारना स्पष्ट करते हैं– पिता व माता के गर्भ में सातों धातुरूप गड्ढों में गिराने से, विष्ठा मूत्र आदि के लेप से, जरायु हड्डी आदि बन्धनों से, कृमि (कीड़े) रूप नागपाशों से, गर्भ में होने वाले वायु व अग्नि से उत्पादित असह्य तापों से, उपस्थ-छिद्र द्वारा निकलने से, अनेक जन्मों की याद से, आत्मस्वरूप के विस्मरण से, असामर्थ्य व परतंत्रता से, विष्ठा मूत्रादि के भक्षण से, खेल न मिलने से, गुरु माता आदि के भय से, कामना द्वारा उत्पादित नाना प्रकार के विचित्र भ्रमों से, बुढ़ापे के कारण होने वाले नाना प्रकार के दोषों से, कालरूप साँप के डसने से, यमदूतों से, विविध शस्त्र आदि के प्रहारों से, पृथिवीमय इत्यादि नरकों के दुःखों से, स्वर्गादि-च्युति से, पुनः भूमि पर देहादि की प्राप्ति से और पिता आदि के शरीरों में पीडाकर प्रवेश से– इस प्रकार आत्मज्ञानरहित, दीन, जूँ आदि के समान तुच्छ इन जंतुओं को संसाररूप सुयोद्धा नीचे, ऊपर, दिशाओं में, अवांतर दिशाओं में फेंकते हुए पिता-माता के शरीरों में प्रवेशादिरूप विविध आयुधों से व्यथित करते हुए मार गिराता है॥८७८-८८५॥ यहाँ पूर्ववर्णित संसारदुःख का संक्षिप्त रूप दिखाया है और नरक की यातनाओं का साम्य भी ध्वनित किया है। पहले गर्भ दुःख, फिर बाल्यदुःख, फिर यौवनदुःख, तदनंतर

उत्तराध्यायोपन्यासः

इति ते ज्ञानमाख्यातमैतरेयसमीरितम्। कौषीतक्युक्तमखिलमिदानीं श्रोतुमर्हसि॥८८७॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याऽऽनन्दात्मपूज्यपादशिष्येण

श्रीशङ्करानन्दभगवता विरचित उपनिषद्रत्न आत्मपुराण

ऐतरेयार्थप्रकाशो नाम प्रथमोऽध्यायः॥१॥

नन्वयमर्थो ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणः कथं निश्चयगोचरो भवेद्, अन्यवेदान्तानामर्थान्तरपरत्वसंभावनया प्रतिबन्धादिति चेद्? न, सर्ववेदान्तानां गतिसामान्यात् (ब्र.सू.१.१.१० द्र.३.३.१)। तदेव कथमिति चेद्? शृणु क्रमेण–इत्याशयेन ऋग्वेदब्राह्मणोपनिषत्तयोपस्थितायाः कौषीतक्युपनिषदो व्याख्यामुपन्यस्यति–इति त इति। स्पष्टम्। ऋषिसम्बन्धो वेदस्य प्रवचननिमित्तः 'संज्ञा प्रवचनाद्' इति जैमिनिसूत्रात्; प्रवचनं प्रथमं प्रकाशनमित्यन्यत्र विस्तरः॥८८७॥

समाप्तिवाक्य उपनिषद्रत्न इति पदस्य–उपनिषदो रत्नानि यत्र कोशसमे तत्तथेति विग्रहः। टीकानाम तु सत्प्रसव इति। सतां गुरूणां प्रसवोऽभ्यनुज्ञानं प्रारम्भे यस्या इत्यर्थसमन्वयात्॥

श्रीशङ्करानन्दमुनेः प्रबन्धः श्रीशङ्कराचार्यमतानुगामी।

श्रीशङ्करेष्टें विवृतिं गतः पुरे श्रीशङ्करोऽनुग्रहमातनोतु॥

इति श्रीदत्तकुलतिलक-कृष्णचन्द्रात्मज-दिलारामसूरितनूज-रामकृष्णस्य

श्रीविश्वेश्वराश्रमपूज्यपादानुगृहीतस्य कृतावात्मपुराणटीकायां

सत्प्रसवाऽऽख्यायां प्रथमोऽध्यायः॥१॥

बुढ़ापे और मरने के दुःख और तब जन्मान्तर के दुःख बताये हैं। जैसे जवानी में कामदेव के बाण सताते हैं ऐसे नरक में यमदूत पापियों के शरीरों पर निशानेबाजी का अभ्यास करते हैं अतः उनके बाण सताते हैं। बुढ़ापे से त्वचा विवर्ण होने के समान नरक में कोढ़ ही हो जाता है। संसार-योद्धा का सब दिशाओं में हमें फेंकना हमारा नाना योनियाँ पाना ही है। संसार हमें पीड़ा दे सके और उससे हम पीडित हो सकें इसमें अज्ञान ही कारण है अतः 'आत्मज्ञानरहित' कहा।

संसार योद्धा द्वारा की जाने वाली अपनी असह्य हारों को जानकर जो परवैराग्य प्राप्त करते हैं वे ही इस वेदान्त के निश्चित अर्थ का साक्षात्कार करते हैं और तब वे ही तगड़े योद्धा होकर क्षुद्रजन्तु रूप इस संसार को समाप्त कर देते हैं॥८८६॥

यह तुझे ऐतरेय ऋषि द्वारा कहा ज्ञान सुनाया। अब तुझे कौषीतकी द्वारा बताया गया सारा उपदेश सुनना चाहिये॥८८७॥ यह प्रश्न संभव था कि शिष्य पूछेः जीव-ब्रह्म का अभेद इतने इतिहास से कैसे निश्चित करूँ, अन्य उपनिषदें कहीं और कुछ तो नहीं कहती? इसके उत्तर के लिये गुरुजी ने गतिसामान्यन्याय का स्मरण कर अनेक उपनिषदों के प्रतिपाद्य का क्रमशः वर्णन करता हूँ, तू सुन, यह प्रतिज्ञा की है। सभी उपनिषदें अखण्ड ब्रह्म में तात्पर्य वाली ही हैं। वेदों में प्रथमगण्य ऋग्वेद है। उसकी ऐतरेयोपनिषत् समझा दी गयी। अब उसी की कौषीतकी उपनिषत् दो अध्यायों में समझायेंगे। जिस ऋषि ने जिस शाखा का प्रथम प्रकाशन किया उसी के नाम से वह शाखा प्रसिद्ध हो गयी। ऋषि शाखाओं के निर्माता नहीं हैं।

आत्मपुराण का नाम शंकरानंदस्वामी ने उपनिषद्रत्न भी रखा है क्योंकि कोश में रत्नों की तरह इसमें उपनिषदें एकत्र की गयी हैं। वैदिक तत्त्वोपदेश अतिविस्तृत सुबोध्य शैली में उपस्थापित यहाँ किया है। गुणोपसंहारन्याय से सभी प्रसंगों का ख़ुलासा इसमें मिल जाता है। इसलिये 'गागर में सागर' भरने का अद्भुत कार्य शंकरानंद जी महाराज ने किया है।

॥ ऐतरेयार्थप्रकाश नामक प्रथम अध्याय सम्पूर्ण ॥

ॐ

द्वितीयोऽध्यायः

कौषीतकीसारार्थप्रकाशः

इन्द्रप्रतर्दनाख्यानम्

ज्ञानदौर्लभ्यम्

इदं सुदुर्लभं ज्ञानं जन्मकोटिशतायुतैः। प्राप्यते पुरुषव्याघ्रैर्गुरुशुश्रूषणादिना॥१॥
नातो हिततमं किञ्चिद् मनुष्यायास्ति साधनम्। [1]सुखावाप्त्यै समूलस्य दुःखस्य च विनाशने॥२॥

इतिहासः

अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। प्रतर्दनस्य संवादं देवराजेन वै पुरा॥३॥

नमस्तस्मै भगवते परमानन्दरूपिणे। उपाधिपरिहाणेन यः सर्वत्र प्रकाशते॥

अथ कौषीतक्युपनिषदं व्याचिख्यासुः तत्र प्रथमद्वितीयाध्याययोः सगुणविद्यापरयोः तात्पर्यस्य 'उपासनं च वह्न्यर्के' त्यादिना (१.३५) उपासनानां निर्गुणविद्याधिकारसम्पादकतानिरूपणेन दर्शितप्रायत्वाद् ज्ञेयस्वरूपप्रदर्शनपर-'प्रतर्दनो ह वै' (कौ.३.१) इत्यादितृतीयाध्यायव्याख्यां तावदारभते—इदमित्यादिना।

इदं वक्ष्यमाणेन्द्रप्रतर्दनाख्यायिकाप्रकाशितं ज्ञानं जन्मकोटिशतायुतैः दुर्लभमपि पुरुषव्याघ्रैः पुरुषश्रेष्ठैः गुरुशुश्रूषणादिना प्राप्यत इत्यन्वयः। आदिपदेन श्रद्धादिग्रहः॥१॥

नात इति। अतः ज्ञानाद् मनुष्यस्य हिततमं नास्ति यत इदं ज्ञानं सुखावाप्त्यै समूलस्य दुःखस्य विनाशने च साधनम् इति॥२॥ अत्रेति॥३॥

ॐ

द्वितीय अध्याय

कौषीतकीसारार्थप्रकाश

इन्द्र-प्रतर्दन का आख्यान

आचार्य श्रीशंकरानन्द स्वामी अब कौषीतकी उपनिषत् की व्याख्या करेंगे। उपनिषत् के पहले दो अध्यायों में सगुणविद्या प्रतिपादित है। पूर्वाध्याय में (१.३५) आत्मपुराणकार कह चुके हैं कि निर्गुणविद्या के लिये अधिकारी बनने के लिये सगुणविद्या का विधान है, सीधे ही तत्त्व समझने में सगुणप्रसंगों का उपयोग नहीं। इसलिये इस उपनिषत् के उस भाग को छोड़कर ज्ञेय ब्रह्म के स्वरूप का प्रदर्शन करने वाले तीसरे अध्याय की व्याख्या आरंभ करते हैं जिसमें इन्द्र ने प्रतर्दन नामक राजा को उपदेश किया है।

अनन्त जन्मों में भी अत्यधिक मुश्किल से प्राप्य यह अद्वैत-ज्ञान गुरुसेवा, श्रद्धा आदि से श्रेष्ठ पुरुष प्राप्त कर लेते हैं॥१॥ सकारण दुःख की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति का यही एकमात्र उपाय है अतः इस ज्ञान से बढ़कर मनुष्य का हितकारी और कुछ नहीं है॥२॥

इसी ज्ञान के प्रसंग में विद्वान् लोग यह इतिहास सुनाते हैं जिसमें देवराज इंद्र से राजा प्रतर्दन का संवाद प्राचीन काल में हुआ था॥३॥

---

१. सुखेति निर्विशेषसुखमुक्तम्।

आसीत् प्रतर्दनो नाम दिवोदाससुतो महान्। काशीश्वरो जितामित्रः क्षत्रधर्मरतः सदा॥४॥

जिगाय शत्रूनखिलान् धर्मतः स नराधिपः। देवान् जेतुं जगामाथ स्वर्गं देवेन्द्रपालितम्॥५॥[१]

एकाकी धनुरादाय स्वर्गद्वारि स्थितो हि सः। इन्द्राय प्रेषयामास दूतं वाक्यार्थकोविदम्॥६॥[२]

इन्द्राय सन्देशः

भवान् देवेन्द्र इत्युक्तो मनुजेन्द्रस्त्वहं तथा। इन्द्रता नोभयोर्युक्ता ह्यर्थशून्यत्वहेतुतः॥७॥[३]

जिताः सर्वे मया भूमौ राजानो दीप्ततेजसः। भवन्तमेकं हित्वाऽतस्त्वामिहाऽस्मि समागतः॥८॥

युद्धार्थं सबलः शीघ्रमेकाकी वा समाव्रज। पराजितोऽहमित्येवं वाक्यं वा वद मां प्रति॥९॥

आसीदिति। दिवोदाससंज्ञस्य काशिराजस्य सुतः। जिता अमित्राः शत्रवः आन्तरा बाह्याश्च येन स तथा॥४॥

जिगायेति। जिगाय जितवान्। धर्मतः धर्मयुद्धेन। अथ मानुषलोकजयानन्तरं देवान् जेतुं स्वर्गं जगाम इति॥५॥

एकाकीति। इन्द्राय इन्द्रं बोधयितुं दूतं प्रेषयामास सन्देशवाक्यं श्रावयेत्याकारप्रेषणाविषयं चकार॥६॥

सन्देशवाक्यमभिनयति– भवानिति चतुर्भिः। हे देववर! भवान् देवेन्द्र इति लोकैर्यद्यपि उक्तः, तथाऽहं मनुजेन्द्र इति, तथापि उभयोः देवेन्द्रमनुजेन्द्रपदार्थयोः घटिका इन्द्रता न युक्ता न मुख्या। कुतः? अर्थशून्यत्वात्। 'इदि परमैश्वर्ये' (भ्वा. प.) इति धातोरर्थाननुगमाद्। ऐश्वर्यस्य परमत्वं हि साम्यातिशयराहित्यं तत्त्वेकत्रैव संभवति। तथा च देवमनुजावच्छिन्नैश्वर्यवाचित्व इन्द्रताया गौणत्वं स्पष्टमिति भावः॥७॥

तस्मादहम् इन्द्रताया गौणतायाः परिहारार्थं भूमिस्थान् राज्ञो भवद्भिन्नान् जित्वा त्वां जेतुमागतोऽस्मीत्याह– जिता इति॥८॥

बहुत पुरानी बात है, दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन काशी का राजा था। वह केवल कहने को ही महान् नहीं था, उसने अपने आन्तर और बाहरी सभी शत्रुओं को जीता था तथा हमेशा अपने क्षत्रियोचित धर्म का पालन करता था॥४॥ उस राजा ने धर्मयुद्ध से सारे शत्रुओं पर विजय पायी थी। मनुष्यलोक में अपनी विजयपताका फहरा कर देवताओं को जीतने के लिये वह देवराज इन्द्र द्वारा रक्षित स्वर्ग को सदेह ही गया॥५॥ अपना धनुष लेकर वह अकेला ही स्वर्ग के द्वार पर पहुँचा और वाक्य तथा अर्थ के जानकार एक संदेशवाहक को इन्द्र के पास उसने भेजा॥६॥

दूत द्वारा दिया संदेश सुनाते हैं–हे देववर! यद्यपि जैसे आप देवताओं के इन्द्र कहे जाते हैं वैसे मैं मनुष्यों का इन्द्र कहा जाता हूँ तथापि दो इन्द्र हों यह बात ठीक नहीं क्योंकि तब परम ईश्वरता अर्थात् साम्य व अतिशयरहित शासकत्व बताने वाला इन्द्रशब्द ही सार्थक नहीं रह जाता॥७॥ आप यदि मुझसे अधिक सामर्थ्य वाले हैं तो मैं सचमुच इन्द्र नहीं और विपरीत है तो आप में इन्द्रपद गौण है। अतः दोनों के इन्द्र होते यह निर्णय कैसे कि इन्द्रशब्द का मुख्य अर्थ कौन है?

इसलिये प्रतर्दन कहता है कि स्वयं में गौण इन्द्रता न रख मुख्य ही इन्द्रता व्यक्त करने के लिये भूमि के राजाओं को जीतकर अब आपको जीतने आया हूँ– आपको छोड़ अन्य सभी दिव्य तेज–युक्त राजाओं को पृथ्वी पर मैंने जीत लिया है। इसलिये परिशिष्ट आपके पास यहाँ मैं आया हूँ॥८॥ इसलिये आप अपनी सेना सहित या अकेले ही लड़ाई के लिये शीघ्र आ जाइये, अथवा मेरे सामने यह कह दीजिये 'मैं, इन्द्र, तुमसे हार गया।'॥९॥ मैं प्रतर्दन केवल धनुष लेकर अर्थात

१. देवानित्यादिना प्रत्याहारं सूचयति।
२. एकाकीति विविक्तदेशसेवित्वादि, धनुरिति च प्रणवसाहाय्येन ध्यानमुक्तम्।
३. जीवेशयोश्चेतनत्वं न युज्यते चैतन्यस्यैक्यादित्युपाधिपरिहारेणाभेदो विज्ञेय इति ध्वनितम्।

धनुर्द्वितीयो भवतः प्रियं धाम समागतः। प्रतर्दनोऽहमेनं त्वं विचार्योचितमाचर॥१०॥

दूतवचनम्

एवमुक्तस्ततो दूतो देवेन्द्रं सूर्यवर्चसम्। सुधर्मायां स्थितं देवैर्वृतं नत्वोक्तवानिदम्॥११॥

लोकानां लोकपालानां सर्वेषामेक एव हि। नाथस्त्वं भगवान् किञ्चित् त्वां हि विज्ञापयाम्यहम्॥१२॥

काशीमहत्ता

अस्ति भूमौ महान् देशः काशीनामाङ्कितः शुभः। उत्कण्ठितेव यं याति स्वर्धुनी भवतां नदी॥१३॥

तस्यास्तीरे पुरी रम्या त्रिशूलस्योपरि स्थिता। पिनाकपाणेः सततं स्वर्गस्याऽपि तिरस्करी॥१४॥

कृमिः कीटः पतङ्गो वा ब्राह्मणो वा बहुश्रुतः। मृतश्चतुर्विधो जन्तुस्त्रिनेत्रत्वमुपैति हि॥१५॥

युद्धार्थमिति। सबलो वा एकाकी वा युद्धार्थं समाव्रज, अथ वा मां प्रति मम पुरतः पराजितोऽहम् इत्याकारं वाक्यं वद इति॥९॥ धनुरिति। धनुरेव द्वितीयं सहायभूतं यस्य स तथा, नाम्ना प्रतर्दनोऽहं भवामि; एनं मां विचार्य उचितं योग्यं समाचर इति॥१०॥

एवमुक्त इति। वर्चः तेजः। सुधर्मा देवसभा। इदम् 'इदं चोवाच वचनम्' (२.४७) इति यावद् वक्ष्यमाणम् उक्तवान्॥११॥ दूत उवाच- लोकानाम् इत्यादिना। स्पष्टम्॥१२॥

अस्तीति। अस्ति काशीनाम्ना प्रसिद्धो देशः शुभः स्वर्गादपि रमणीयः। तद्देशस्य रमणीयतां च स्वर्धुन्याः स्वर्गमुपेक्ष्य तत्र सोत्कण्ठं गमनमेव सूचयतीत्याह- उत्कण्ठितेवेति। भवतां देवानाम्॥१३॥

तस्या इति। तस्याः स्वर्धुन्याः तीरे रम्या पुरी वर्तते। कीदृशी? पिनाकपाणेः भगवतः त्रिशूलस्योपरि स्थिता। पुनः कीदृशी? स्वर्गस्याऽपि तिरस्करी तिरस्करणशीला। 'कृञो हेतु' इति टः (३.२.२०)॥१४॥

कृमिरिति। यस्याम् इत्युत्तरश्लोकादनुषज्यते। तथा च यस्यां मृतः जरायुजत्वादिना चतुर्विधः अपि जन्तुस्त्रिनेत्रत्वमुपैति इत्यन्वयः। स च जन्तुः कृम्यादिक्षुद्रजन्तुरूपः तामसो वा भवतु, बहुश्रुतः ब्राह्मणरूपः सात्त्विको वा भवतु; तदपेक्षया फले विशेषो नास्तीति पूर्वार्द्धाशयः। कृमिः निरस्थिः, कीटः सास्थिः, पतङ्गः दीपविरोधी प्रसिद्धः। त्रिनेत्रत्वं शिवत्वं; सविशेषरूपे त्रिनेत्रत्वं प्रसिद्धम्, निर्विशेषरूपे च त्रीणि स्थूलसूक्ष्मकारणानि समष्टिव्यष्टिरूपाणि नेत्राणि प्रापकाणि विचारद्वारा यस्य तत् तुरीयं तत्त्वम् इति विग्रहेण बोध्यम्। तथा च श्रुतिः प्राणाग्निहोत्रोपनिषदि

'वाराणस्यां मृतो वाऽपि इदं वा ब्रह्म यः पठेत्। एकेन जन्मना चैव ध्रुवं मोक्षमवाप्नुयाद्'॥ (प्रा.४.४)

इति। तथा जाबाल-तापनीय-मोक्षधर्माश्वमेधपर्वसु मत्स्यादिपुराण-पाराशराद्युपपुराण-सनत्कुमारसंहितादिषु देदीप्यमाने काशीमहिमसूर्ये सन्दिहान एव स्वदृष्टिदोषमावेदयतीत्यलम्॥१५॥

सेना के बिना ही आपके प्रिय धाम में उपस्थित हुआ हूँ। विचार कर आप जैसा उचित समझें, उक्त दोनों पक्षों में एक का अवलम्ब करें॥१०॥

क्योंकि दूत को काशिराज ने यह कहने के लिये नियुक्त किया था इसलिये उसने देवसभा में देवताओं से घिरे हुए तथा सूर्य के समान तेज वाले देवराज को प्रणाम कर यह निवेदन किया- सभी लोकों व लोकपालों के आप अकेले ही मालिक हैं। ऐश्वर्यशाली आपको मैं कुछ निवेदित करता हूँ॥११-१२॥ भूमि पर काशी नाम से प्रसिद्ध एक महान् देश है जो स्वर्ग से भी रमणीय है, तभी तो आप लोगों की स्वर्नदी गंगा स्वर्ग छोड़कर उसकी ओर बड़े उत्साह से जाती है॥१३॥ उस गंगा के किनारे वह रमणीय मोक्षपुरी हमेशा पिनाकधारी महादेव के त्रिशूल पर स्थित है और अपने महत्त्व

महादेववैशिष्ट्यम्

यस्यां वसति सर्वात्मा भगवान् भूतभावनः। भवानीहृदयाब्जेन्दुमध्यमो धवलप्रभः॥१६॥

भवद्भिरखिलैर्देवैर्मौलिरत्नपदांशुभिः। नमद्भिः सर्वदा हर्षाद् नीराजितपदाम्बुजः॥१७॥

मुनयो ये च वेदाश्च बहुधा वर्णयन्ति यम्। कृतोपकारा राजानं बन्दिनश्चारणा इव॥१८॥

यस्य भ्रूभङ्गमात्रेण ब्रह्माद्याः सकलाः सुराः। शतवारं जगत्यस्मिन् भवन्ति न भवन्ति च॥१९॥

यस्यामिति। यस्यां पुर्यां भगवान् सर्वज्ञः परमेश्वरो लीलाविग्रहेण तारकोपदेष्टा वसति। कीदृशः? सर्वात्मा सर्वान्तरः। भूतभावनः भूतस्य कार्यमात्रस्य जनकः, अद्वितीय इति यावद्। पुनः कीदृशः? भवानीहृदयाब्जस्य इन्दुमध्यमः सूर्यः, इन्दुमध्ये मा कान्तिः प्रतिबिम्बिता यस्येति विग्रहः; सूर्यप्रतिबिम्बेनैव चन्द्रकला वर्धन्त इति ज्योतिःशास्त्रे प्रसिद्धम्। धवलप्रभः कर्पूरगौरः। धवलप्रभुः इति पाठे धवलस्य महोक्षस्य पतिरित्यर्थः। 'धवलः सुन्दरे सिते महोक्षे च' इति विश्वः॥१६॥ भवद्भिरिति। पुनः कीदृशो भगवान्? भवद्भिरखिलैर्देवैर्नमद्भिः कर्तृभिः मौलिस्थितानि यानि रत्नपदानि रत्नस्थानभूतानि भूषणानि तेषामंशुभिः किरणैः आरार्तिक्यदीपनिभैः नीराजिते पदाम्बुजे यस्य स तथा॥१७॥

मुनय इति। ये च मुनयः स्मृत्यादिप्रणेतारः, ये च वेदाः चत्वारः प्रसिद्धाः, ते सर्वे यं भगवन्तं बहुधा वर्णयन्ति। कं के इव? राजानं बन्दिनश्चारणा इव। यथाकालं स्तावका बन्दिनः। कीर्तिगायकाः चारणा इति भेदः। कृतोपकारत्वं दृष्टान्ते धनदानादिना प्रसिद्धं, दार्ष्टान्तिके तु मुनीनां तपःफललाभो ज्ञानलाभश्च। वेदानां कृतोपकारत्वं प्रामाण्यलाभः– यदि कर्मफलप्रदः परमार्थरूपो भगवान् न स्यात् तर्हि कं प्रतिपाद्य वेदाः प्रमाणतां लभेरन्निति॥१८॥

यस्येति। शतवारम् अनवरतम् अस्मिन् जगति संसारे भवन्ति प्रादुर्भवन्ति, न भवन्ति तिरोभवन्तीत्यर्थः॥१९॥

से वह स्वर्ग का भी तिरस्कार किया करती है॥१४॥ कृमि, कीट, पतंगा या विद्वान् ब्राह्मण, जरायुजादि चारों प्रकार के प्राणियों मे चाहे जैसा जन्तु यदि वहाँ मरता है तो शिवरूपता पा जाता है, मुक्त हो जाता है॥१५॥ हड्डीरहित छोटे कीड़े कृमि तथा हड्डी वाले कीड़े कीट कहे जाते हैं। मरने वाला चाहे इन जन्तुओं जैसा तामस हो और चाहे चतुर्वेदी सात्त्विक ब्राह्मण, सब को वहाँ एक समान मोक्ष मिलता है। मूलकार ने 'त्रिनेत्रता की प्राप्ति' कही है। महादेव के सविशेष रूप में तो तीन आँखें होना प्रसिद्ध ही है। निर्विशेषपरक इसका अर्थ है: समष्टि-व्यष्टि भेद वाले स्थूल सूक्ष्म व कारण प्रपंच जिसके नेत्र हैं अर्थात् विचार किये जाने पर जिसकी प्राप्ति कराते हैं वह तुरीय तत्त्व त्रिनेत्र है। प्राणाग्निहोत्रोपनिषत् में बताया है कि जो इस ब्रह्मबोधक ग्रन्थ के अर्थ का साक्षात्कार करता है या जो वाराणसी में मरता है, दोनों एक ही जन्म द्वारा ध्रुव मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। अन्य भी श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण व साहित्य में काशी की अपरम्पार महिमा प्रसिद्ध है जिस पर संदेह करना असंभव है। आचार्यों ने शास्त्रविचारपूर्वक स्पष्ट किया है कि काशी में मरने से भगवान् रुद्र तारक का अर्थात् प्रणव का उपदेश देते हैं जिससे सभी को तत्त्वसाक्षात्कार हो जाता है व मुक्ति मिल जाती है। महादेव की यह निरवधि करुणा है कि घोरतम पापी के भी कल्याण का मार्ग उन्होंने खोले रखा है। जानकर, बिना जाने, श्रद्धा से, अश्रद्धा से, जैसे भी हो काशी में देहान्त होने से मोक्ष निश्चित है।

सर्वान्तर, समस्त कार्यों के जनक, भवानी के हृदयकमल को विकसित करने वाले, कर्पूरगौर सर्वज्ञ परमेश्वर विश्वनाथ स्वयं वहाँ विराजमान हैं॥१६॥ हर्षपूर्वक प्रणाम करते आप सभी देवताओं के सिर पर स्थित मुकुटों में लगे रत्नों की दीप्ति से विश्वनाथ के चरणकमलों की मानो हमेशा आरती की जाती है॥१७॥ अपना उपकार करने वाले राजा का जैसे बन्दी और चारण गुणगान करते हैं ऐसे मुनि लोग और स्वयं वेद उन्ही का बहुत प्रकार से वर्णन करते हैं॥१८॥ निर्धारित समय पर स्तुति करने वाले बन्दी तथा कीर्ति का प्रचार करने वाले चारण होते हैं। दृष्टान्त में तो धनादि देने से उपकार हो जाता है। दार्ष्टान्त में भगवान् मुनियों का तो यह उपकार करते हैं कि उन्हें तपस्याओं के फल एवं ज्ञान दे देते

तप उग्रं चचारादौ यमुद्दिश्य महेश्वरम्। हिमवत्तनया देवी नारीणां प्रथमा वधूः॥२०॥

सेनानीश्च गणेशश्च यस्य पुत्रौ महाबलौ। प्रमथा यस्य सैन्यानि जयकाशीनि सर्वतः॥२१॥

यन्नामग्रहणाज्जन्तुः प्राप्नुयाद् न भवापदम्। यस्य पादार्चनात् सिद्धिः स्वेप्सिता जायते नृणाम्॥२२॥

निस्पृहो यः सदा देवो ब्रह्माण्डविषयभ्रमे। आत्मबोधोदधिः स्वच्छो योगिनां प्रथमो गुरुः॥२३॥

यस्मादेतज्जगत् सर्वं जायते यत्र लीयते। तिष्ठत्यपि च को नाम वर्णयेत्तद्गुणान् पुमान्॥२४॥

काश्युत्कर्षः

यस्याः सौभाग्यमधकं पुरीणामिह दृश्यते। सप्तानां मुक्तिदात्रीणां सर्वैरपि च जन्तुभिः॥२५॥

तप इति। यं परमेश्वरम् उद्दिश्य हिमवत्तनया देवी उग्रं तपः चकार। कीदृशी? नारीणां प्रथमा। पुनः कीदृशी? प्रथमा वधूः पूर्वजन्मन्यपि सतीरूपेण भगवतो जायेति प्रथमापदस्य उभयत्रसम्बन्धेनार्थः। 'आदौ प्रधाने प्रथमस्त्रिषु' इत्यमरः॥२०॥

सेनानीश्चेति। सेनानीः स्कन्दः। प्रमथा गणा यस्य सैन्यानि। कीदृशानि? जयकाशीनि जयेन काशन्ते शोभन्त इति तानि तथा॥२१॥

यन्नामेति। भवरूपमापदं भवापदम्। तदुक्तं शिवपुराणे- 'महादेव महादेव महादेवेति यो वदेत्। एकेनैव भवेन्मुक्तिर्द्वाभ्यां शम्भुर्ऋणी भवेद्'॥ इति। स्वेप्सिता स्वेन पूजकेन ईप्सिता प्राप्तुमिष्टा॥२२॥

निस्पृह इति। यो देवो ब्रह्माण्डवृत्तिविषयाणां भ्रमे मिथ्याज्ञानात्मके भोगे निस्पृहः। आत्मेति। आत्मज्ञानसिन्धुः। योगिनां चित्तनिरोधमभ्यस्यतामाद्यो गुरुः, 'कालेनानवच्छेदाद्' (यो.सू.१.२६) इति योगसूत्रात्॥२३॥

यस्मादिति। अपि च यत्र तिष्ठति इति तस्य गुणान् को वर्णयेद् वर्णयितुं शक्नुयात्॥२४॥

एवं नवभिरेतादृशो भगवान् यस्यां वसति इत्युत्कर्षमभिधाय साक्षात्तामाह यस्या इति। सप्तानां मुक्तिदात्रीणां पुरीणां मध्ये यस्याः पुर्याः अधिकं सौभाग्यं सर्वैरपि जन्तुभिः भोगमोक्षयोः सुलभत्वाद् दृश्यते; इतरासां तु कैश्चिदेवेति विशेषः॥२५॥

हैं। वेदों को प्रामाणिकता देना ही उनका उपकार है; यदि कर्मफलदाता पारमार्थिक तत्त्व महेश्वर न होते तो किसका प्रतिपादन कर वेद प्रमाण हो पाते?

महादेव के केवल आँख के इशारे पर ब्रह्मा आदि सब देवता अनन्त बार इस संसार में आविर्भाव-तिरोभाव पाते रहते हैं॥१९॥ सर्वोत्तम नारी तथा भगवान् की ही पूर्व में सतीरूप से पत्नी रह चुकी पर्वतराजपुत्री पार्वती ने आदिकाल में उन महेश्वर को पाने के लिये ही उग्र तपस्या की थी॥२०॥ देवसेनापति स्कन्द और सर्वत्र प्रथम पूजाधिकारी गणेश उन्ही के महान् बलशाली पुत्र हैं तथा हमेशा जीतने वाले प्रमथगण उनके सैनिक हैं॥२१॥ महादेव का नाम जपने से जन्तुमात्र को संसरणरूप आपत्ति कभी नहीं आती। उनके चरणों की सेवा से लोगों को अभीष्ट-सिद्धि मिलती है॥२२॥ ब्रह्माण्ड भर में विद्यमान विषयरूप भ्रमों के प्रति उन्हें कोई आकांक्षा नहीं। वे ही आत्मज्ञान के सागर हैं, संभावित कलंकों से भी अस्पृष्ट हैं और योगियों के आदिगुरु हैं॥२३॥ उन्ही से यह सारा जगत् उत्पन्न होता है, उन्हीं में रहता और लीन होता है। उनके गुणों का वर्णन कर सके ऐसा कौन मनुष्य हो सकता है?॥२४॥ इस प्रकार काशी में निवास करने वाले परमेश्वर की महत्ता से काशी की श्रेष्ठता सूचित की।

अब दूत साक्षात् काशी का उत्कर्ष बताता है- मुक्तिप्रद सातों पुरियों में काशी का ही सौभाग्य अधिक है यह संसार

नैतया हि समा देवा भवताममरावती। भोगवत्यपि नागानां का नामाऽन्या भवेत् समा॥२६॥

गङ्गायाः सेवनाद् नित्यं महादेवस्य वासतः। सौभाग्यस्य च काशेन काशीत्येषाऽभवत् पुरी॥२७॥

प्रतर्दनपरिचयः

तस्याः प्रभुर्जिताऽमित्रो दिवोदास इति स्मृतः। ब्रह्मण्यः सत्यसन्धश्च क्षत्रधर्मरतः सदा॥२८॥

चतुरङ्गबलोपेतः स्वयं चातिबलो नृपः। भवतां विदितः सोऽयं यज्वा ह्यत्रैव तिष्ठति॥२९॥

तस्य पुत्रोऽपि मतिमान् प्रतर्दन इति श्रुतः। पूर्वजैः सदृशः सर्वैर्गुणैर्भूतदयापरः॥३०॥

नैतयेति। हे देवाः! एतया शम्भुपुर्या समा भवताममरावती नाम पुरी अपि न भवति, पातभयशालित्वेन नाम्नो गौणत्वात्। तथा भोगैरेव प्रसिद्धा नागानां भोगवती नाम पुरी अपि। किमुत अन्या इति॥२६॥

तस्या नाम निर्वक्ति– गङ्गाया इति। काशते दीप्यत इति काशी। तत्र हेतुत्रयम्–गङ्गाकर्तृकं सेवनं, महादेववासः, सौभाग्यप्रकटता चेति॥२७॥

तस्या इति। तस्याः पुर्याः। सत्यसन्धः सत्यप्रतिज्ञः॥२८॥ चतुरङ्गेति। 'हस्त्यश्वरथपादातं सेनाङ्गं स्याच्चतुष्टयम्' इत्यमरः। सोऽयं दिवोदासो भवतां देवानां विदितः, यतो यज्वा यागपरः। अत्र काश्याम्॥२९॥

तस्येति। तस्य दिवोदासस्य। पूर्वजैः पितृपितामहैः॥३०॥

में सभी जन्तुओं का अनुभव है॥२५॥ इस पुरी में भोग व मोक्ष दोनों की सुलभता आज भी अनुभव सिद्ध है। अन्यत्र तो मानवादि कुछ को ही मरने से मोक्ष मिलता है, यहाँ आकीटपतंग मरने से मोक्ष पाते हैं। अन्य पुरियों में मरना तो काशी में मरने के व्यवधान से मोक्षप्रद है जबकि यहाँ सद्योमुक्ति मिलती है। सात पुरियाँ हैं अयोध्या, मथुरा, मायापुरी (हरद्वार), काशी, कांची, अवन्तिका (उज्जैन), द्वारका।

दे देवताओं! आप लोगों की अमरावती और नाग लोक की भोगवती भी काशी के समान नहीं है, तो अन्य कौन नगरी इसके समान हो सकती है?॥२६॥ गंगा के सेवन से, महादेव के निरन्तर निवास से और सौभाग्य की दीप्ति से यह पुरी काशी नाम वाली हुई॥२७॥ 'काश' धातु दीप्ति अर्थ वाला है। जो सर्वाधिक दीप्तिमती है वह काशी है। सुदूर भूतकाल से अद्यावधि भगवती गंगा ने काशी का स्पर्श नहीं छोड़ा। धारा के मार्ग में अन्यत्र चाहे जो परिवर्तन आये हों, लाखों वर्षों से काशी में गंगा वहीं बहती है यह एक प्रत्यक्ष तथ्य है। महादेव कभी काशी छोड़ते नहीं यह काशी के 'अविमुक्तक्षेत्र' कहलाने का रहस्य है। अतः एव सभी देवता यहाँ बसते हैं जिससे हर तरह का सौभाग्य यहाँ सदा बना रहता है। विश्व का सबसे प्राचीन जीवित नगर यही है ऐसा आधुनिकों को भी मानना पड़ता है।

अब राजा प्रतर्दन का परिचय देना आरंभ करता है- उस पुरी का राजा था दिवोदास। उसने सर्वविध शत्रुओं पर विजय पायी थी, ब्राह्मणों के अनुकूल रहता था, उचित ही प्रतिज्ञायें करता व उन्हें पूर्ण करता था, हमेशा अपने क्षत्रियोचित वर्णधर्म का यथाविधि पालन करता था, हाथी घोड़े रथ और पैदल इन चारों अंगों से युक्त उसकी सेना थी और लोगों का पालन करने वाला वह राजा ख़ुद भी अत्यधिक बलवान् था। आप सब उससे परिचित ही हैं क्योंकि अनेक यज्ञ करने वाला वह अपने पुण्यप्रताप से इस अमरावती पुरी में ही विराजता है॥२८-२९॥ टीकाकार ने 'अत्र' से काशी समझा है। तब 'तिष्ठति' के बाद 'स्म' जोड़ लेना चाहिये। दिवोदास जीवित है यह दूत का अभिप्राय नहीं अन्यथा प्रारंभ में 'इति स्मृतः' न कहता।

उस दिवोदास का बुद्धिमान् पुत्र प्रतर्दन नाम से प्रसिद्ध है। वह दयालु राजा सभी गुणों में अपने पूर्वजों के समान है॥३०॥ इसकी सेना में पहाड़ के समान विशालकाय हाथी हैं और सूर्यदेव के घोड़ों की तरह अनेक सुलक्षणों वाले घोड़े

अस्य सन्ति महानागाः पर्वता इव कोटिशः। अनेकलक्षणोपेता वाजिनोपि रवेरिव॥३१॥
रथा अपि महाघोषाः पुरारेरिव युद्ध्यतः। पादाताः स्वसमाः सन्ति परार्द्धाधिकसङ्ख्यया॥३२॥
अप्रमादी सदा शास्त्रे[1] मायया च विवर्जितः। अस्त्राण्यसौ[2] विजानाति प्रयुङ्क्ते नैव कुत्रचित्॥३३॥
सन्धानं च विसर्गं च स्थितिं तद्वच्च संहृतिम्। अस्त्राणां वेत्ति सर्वेषां महादेवप्रसादतः॥३४॥
अस्त्रेण निहतो जन्तुर्न मया निहतो भवेत्[3]। अभिचारवधात् कस्माद् विशेषोऽस्त्रेण घातने॥३५॥
इति संचिन्त्य सततं रिपुमस्त्रैर्न हन्त्यसौ। रिपूणामिच्छया युद्धं ददात्येव हि सर्वदा॥३६॥
नायं प्रथमतो हन्ति रिपुं तेन ह्यताडितः। ताडितोऽपि न पञ्चाशद्वर्षादत्यधिकं क्वचित्॥३७॥
ऊनषोडशवर्षं च वीरव्रतमुपाश्रितः। कुतो भीतातुरादीनि निहन्याद् धर्मविद्धि सः॥३८॥

अस्येति। अस्य प्रतर्दनस्य। महानागा महागजाः पर्वतनिभाः सन्ति। तथा रविवाजिनिभाः सुलक्षणा वाजिनोऽपि सन्ति॥३१॥ रथा इति। युद्ध्यतः पुरारेः रथसदृशा महाघोषा रथाः च सन्ति। पदातयस्त्वसङ्ख्याताः स्वेन प्रतर्दनेन समाः॥३२॥ अप्रमादीति। शस्त्रे शस्त्रविद्यायाम्। मायया च्छलेन। असौ प्रतर्दनः यद्यपि अस्त्राणि विजानाति तथापि न प्रयुङ्क्ते॥३३॥

तृतीयपादार्थं प्रपञ्चयति– सन्धानमिति। अस्त्राणां सन्धानं प्रयोगं, विसर्गं निर्मोक्षं, स्थितिं मर्यादाम् 'अस्त्राणि न प्रयोज्यानि हीनकार्ये कथंचन' इत्यादिनोक्तां, संहृतिम् उपसंहारं च वेत्तीति॥३४॥

'प्रयुङ्क्ते नैव कुत्रचिद्' (२.३३) इति स्फुटयति– अस्त्रेणेति द्वाभ्याम्। अभिचारेण शत्रुमरणकामनया कृतेन श्येनादिना यो वधस्तस्मात्॥३५॥ इतीति॥३६॥

नायमिति। तेन रिपुणा प्रथमतोऽताडितो न हन्ति इति। ताडितोऽपि पञ्चाशद्वर्षाद् अधिकायुषं षोडशवर्षाद् न्यूनायुषं च न हन्ति। यतो वीराणां व्रतं नियमं श्रितः। 'मूर्छितं नैव विकलं नाशस्त्रं नान्ययोधिनम्। पलायमानं शरणं गतं नैव च हिंसयेद्॥' इत्यादिना धनुर्वेदोक्तं श्रितः॥३७-३८॥

हैं॥३१॥ लड़ते हुए त्रिपुरारि के विलक्षण रथ के समान इसके रथ हैं जिनका ऊँचा घोष दुश्मनों को डरा देता है। परार्ध से अधिक संख्या में इसके पास पदाति हैं जो इसी के समान वीर हैं॥३२॥ विना कभी प्रमाद किये इसने आयुधों की जानकारी पायी है और हमेशा अभ्यास करता रहता है, छल बल का यह कदापि प्रयोग करता नहीं, दिव्य मन्त्रादि से युक्त अस्त्रों को यह जानता है पर किसी पर उनका प्रयोग नहीं करता॥३३॥ महादेव की कृपा से यह सभी अस्त्रों का प्रयोग, उनसे बचाव, उनकी मर्यादायें अर्थात् कैसी स्थिति में उन्हें काम में लेना चाहिये कैसी में नहीं इत्यादि, और उन्हें लौटा लेना, यह सब इसे मालूम है॥३४॥ यह सोचता है कि 'अस्त्र से मरा प्राणी तो अस्त्र के प्रभाव से मरेगा, मेरी शूरता से तो मारा गया होगा नहीं। अस्त्र से मारने में और अभिचारकर्म द्वारा मारने में कोई भेद नहीं।' इसलिये यह दिव्य मंत्रादि युक्त आयुधों से अर्थात् अस्त्रों से शत्रु को नहीं मारता। यह हमेशा तभी लड़ता है जब दुश्मन लड़ना चाहता है॥३५-३६॥ शत्रु जब तक इस पर प्रहार न करे तब तक यह उस पर पहले कभी वार नहीं करता। सोलह बरस से छोटा और पचास बरस से बड़ा शत्रु इस पर वार करे तो भी यह उस पर वार नहीं करता। धनुर्वेद में वीरों के पालन-योग्य जो नियम बताये

---

१. शस्त्र इति टीकाकृत्पपाठ।
२. मन्त्राद्यन्वितान्याघातसाधनान्यस्त्राणि: मन्त्रादि विनैव तानि शस्त्राणीति विवेकः।
३. तर्हि मन्त्रस्यैव स प्रभावो न मम शौर्यस्य स्यादिति भावः।

विजित्य वसुधां कृत्स्नामेकदा स पुरे निजे। भवन्तं क्षत्रधर्मेण वर्तमानमिहाशृणोत्॥३९॥

ब्राह्मणा अपि देवाश्च गावः सवृषभा अपि। नावमान्याः सदा तेन व्रतमेतन्महात्मनः॥४०॥

अन्यच्चास्य व्रतं राज्ञः क्षत्रधर्मरतान् सदा। देवान् विप्रान् पितॄन् वाऽपि जेष्याम्यात्मबलोद्धतान्॥४१॥

एवं हि व्रतिनस्तस्य मुनयो नारदादयः। समागताः प्रसङ्गेन कदाचिदिदमूचिरे॥४२॥

राजभ्यः क्षत्रधर्मेण बलिनः सकलाः सुराः। न हि तैः समरे योद्धुमसुरा अपि दानवाः॥
दैत्या अपि तु शक्ताः स्युः किम्पुनर्मनुजा इमे॥४३॥

एकमप्यत्र को नाम जयेदिन्द्रं शचीपतिम्। किम्पुनः सबलं लोकपालैरपि समावृतम्॥४४॥

दूतवाक्योपसंहारः

श्रुत्वेत्यादिवचांस्येष स्मृत्वा च व्रतमात्मनः। पौरुषेणैव वा योद्धुमेकाकी स समागतः॥४५॥

आगत्यास्याः पुरो द्वारि समभूमौ स वर्तते। प्राहिणोच्चात्र मां दूतं देवराजं प्रतीश्वरः॥४६॥

इदं चोवाच वचनमित्युक्त्वा तदुदीरितम्। देवराजाय सकलं दूतस्तत्र न्यवेदयत्॥४७॥

विजित्येति। भवन्तं देवराजम्॥३९॥

ब्राह्मणा इति। एतद् अपीति शेषः॥४०॥ अन्यदिति। आत्मबलेनोद्धतान् सगर्वान्॥४१॥ एवमिति॥४२॥

राजभ्यइति॥४३॥ एकमिति। एकम् असहायम्। सबलं ससैन्यम्॥४४॥

श्रुत्वेति। पौरुषेण उत्साहेन॥४५॥

आगत्येति। समभूमौ समदेशे। प्राहिणोत् प्रेषितवान्॥४६॥

इदमिति। तदुदीरितं प्रतर्दनोक्तम्॥४७॥

हैं उनका यह उल्लंघन नहीं करता। धर्म का जानकार प्रतर्दन डरे हुए को, रोगादि से आतुर को तथा ऐसे ही अन्य वधानर्हों को कभी मारता नहीं॥३७–३८॥

अब दूत प्रकृत प्रसंग की भूमिका बनाता है– सारी पृथ्वी जीतकर जब यह अपनी प्रिय काशीपुरी में आया तब एक बार उस महाराजा ने सुना कि आप स्वर्ग लोक में क्षत्रियधर्म का अनुसरण करते हुए रहते हैं॥३९॥ इस उदारमना राजा का यह भी नियम है कि ब्राह्मण, देवता, गायें और साँड, इनका कभी अपमान नहीं करना। साथ ही इसने यह भी व्रत लिया है कि 'अपने बल पर गर्व रखने वाले जो क्षत्रियवृत्ति का पालन करने वाले हैं उन्हें मैं जीतूँगा, चाहे वे देवता हों, ब्राह्मण हों या स्वयं अपने पितर ही क्यों न हों'॥४०–४१॥

किसी समय किसी उत्सवादि प्रसंग से काशी पधारे नारद आदि मुनियों ने उक्त व्रतधारी राजा प्रतर्दन को यह कहा–॥४२॥ 'क्षत्रियधर्म अर्थात् युद्ध की दृष्टि से राजाओं की अपेक्षा सभी देवता अधिक बलवान् हैं। लड़ाई में उनसे असुर, दानव और दैत्य भी लड़ नहीं सकते तो इन मनुष्यों की असमर्थता का क्या कहना?॥४३॥ अकेले शचीपति इन्द्र को ही कौन जीत सकता है? तब लोकपालों से रक्षित व सेनायुक्त उसे कोई नहीं जीत सकता इसमें कहना ही क्या?'॥४४॥

ऐसी ही अन्य भी वर्ता इसने उनसे सुनी और इसे अपना नियम भी याद आया। इसलिये उत्साह से ही वह आप से लड़ने अकेला ही आया है॥४५॥ आकर वह आपकी पुरी के दरवाजे पर समतल भूमि पर खड़ा है तथा उस पृथ्वीपति ने मुझे दूत बनाकर देवराज के पास भेजा है और यह कहा है:'– ऐसा कहकर प्रतर्दन द्वारा कही सारी बात देवराज के

इन्द्रादिदेवा योद्धुं प्रयाताः

श्रुत्वा दूतस्य वचनं देवराजोऽतिविस्मितः। साहसाऽपरनाम्नाऽस्य पौरुषेणाभयात्मना॥४८॥

देवैश्च सहितः सोऽपि क्षत्रधर्मरतः प्रभुः। सङ्क्रुद्धः सहसा पुर्या निर्जगाम बलान्वितः॥४९॥

तं देवैः सहितं दृष्ट्वा स्वयुद्धार्थमुपागतम्। न चचाल ततः स्थानात् स्मयमानः प्रतर्दनः॥५०॥

प्रतर्दनस्य घोषणा

दृष्ट्वा तं वचनं चेदमुवाच च शचीपतिम्। मां शस्त्रैर्विविधैस्तीक्ष्णैर्निघ्नन्तु सकलाः सुराः॥
शक्र त्वं च ततोऽहं वो हनिष्यामि शितैः शरैः॥५१॥

देवानामाक्रमणम्

इत्युक्ते सकला देवाः सशक्राः क्रोधमूर्च्छिताः। कुण्डलव्यूहतस्तं हि परिवव्रुः समन्ततः॥
घ्नत बध्नीत चैवैनमित्यूचुश्च परस्परम्॥५२॥

वादित्राणां हि चित्राणां सिंहनादविमिश्रिताः। शब्दाः शङ्खरवान्तास्ते प्रादुरासन् सहस्रशः॥ ५३॥

शस्त्रवर्षं च ते सर्वे सशक्रा मुमुचुस्तदा। तोयदा इव सङ्क्रुद्धाः पर्वताभे प्रतर्दने॥५४॥

श्रुत्वेति। साहसमपरं नाम यस्य एतादृशेन अभयस्वरूपेण अस्य प्रतर्दनस्य पौरुषेण च विस्मितः। 'साहसं तु दमे दुष्करकर्मणि' इति हैमः॥४८॥

देवैरिति। सहसा अविमृश्यैव॥४९॥

तन्देवैरिति॥५०॥ दृष्ट्वेति। निघ्नन्तु ताडयन्तु। हे शक्र त्वं च प्रहरेति शेषः। ततो युष्मत्कर्तृकप्रहरणानन्तरम्॥५१॥

इत्युक्त इति। कुण्डलाकारेण व्यूहेन सैन्यन्यासेन। क्रोधो मूर्च्छितो येषां ते तथा। परिवव्रुः वेष्टयामासुः॥५२॥

वादित्राणामिति। शङ्खरवान्ताः शङ्खनादपर्यन्ताः॥५३॥

शस्त्रवर्षमिति॥५४॥

संमुख दूत ने निवेदित कर दी॥४६-४७॥

दूत का वचन सुनकर प्रतर्दन के साहस नामक अभयरूप पौरुष से सुरपति को अत्यधिक आश्चर्य हुआ॥४८॥ इन्द्र भी क्षत्रियधर्म का पालन करने वाला राजा है अतः बिना समय व्यर्थ गँवाये वह सब देवों सहित अपनी सेना से युक्त हो अमरावती से निकल पड़ा॥४९॥

अपने से लड़ने आये देवताओं सहित इन्द्र को देखकर मुस्कुराता हुआ प्रतर्दन अपने स्थान से हिला तक नहीं॥५०॥ बल्कि शचीपति की ओर देखकर उसने यहा कहा: 'हे शक्र! सभी देवता और आप भी विविध तीखे शस्त्रों से मुझ पर प्रहार करें। जब आप लोग प्रहार पूरा कर लेंगे तब मैं पैने बाणों से आप सभी को मार गिराऊँगा।'॥५१॥

ऐसा कहा जाने पर इन्द्र-समेत सब देवता क्रोध से उत्तेजित हो गये। उन्होंने कुण्डलाकार सैन्यव्यूह से उसे चारों ओर से घेर लिया और आपस में कहने लगे 'इसे मारो', 'इसे बाँध लो।'॥५२॥ सिंहसदृश गर्जना समेत विविध युद्धवाद्यों के हल्ले से शंखों की गूँज तक बहुतेरी ध्वनि वहाँ उत्पन्न हो गयी॥५३॥ जैसे घनघोर बादल बरसते हैं ऐसे इन्द्र-समेत उन सब क्रुद्ध देवताओं ने पहाड़ की तरह खड़े प्रतर्दन पर शस्त्रों की वर्षा कर दी॥५४॥

सबके शस्त्रों की मार से प्रतर्दन का देह बिँध गया, फिर भी उसने तुरन्त उन सब पर बाणों के ऐसे गुच्छों से प्रहार

प्रतर्दनयुद्धम्

प्रतर्दनोऽपि सर्वेषां शस्त्रैर्भिन्नात्मगात्रकः। सर्वान् जघान सहसा पञ्चन्यूनैः शरोत्करैः॥५५॥

भुजयोः स्तनयोश्चैव ललाटफलके तथा। सुरः कश्चिदविद्धोऽत्र देवसैन्ये न दृश्यते॥५६॥

आयुधानि च सर्वेषां न्यपतन् भूमिमण्डले। भुजबाणव्यथार्तानां सेन्द्राणामसुरद्रुहाम्॥५७॥

बाणानां हि शतैर्विद्धः कश्चित् पञ्चाशतावरः (रैः)। सहस्राक्षः सहस्रेण विद्धोऽतिबलिना तदा॥५८॥

सर्वांस्तानमरान् दृष्ट्वा भूमौ निपतितायुधान्। प्रतर्दनो धनुः स्वीयं विज्यमत्र चकार ह॥५९॥

युद्धमेतद् महद् दृष्ट्वा साहसाख्यं च पौरुषम्। विस्मयाविष्टहृदय इन्द्र ऊचे प्रतर्दनम्॥६०॥

इन्द्रेण प्रतर्दनाय वरदानम्

प्रतर्दन! वराभीष्टं वरमद्य ददाम्यहम्। तुष्टोऽस्मि भवतो युद्धपौरुषाभ्यां महीपते॥६१॥

एकाकी क इह स्वर्गे मां जेतुं सामरं प्रभुः। को वा देवान् मया सार्धं सशल्यान् कुरुते क्षणात्॥६२॥

प्रतर्दनवचनम्

इत्युक्ते देवराजेन तदा तत्र प्रतर्दनः। निपत्य दण्डवद्भूमाविदं वचनमूचिवान्॥६३॥

प्रतर्दनोऽपीति। सर्वेषां देवानां शस्त्रैः भिन्नात्म विद्धस्वरूपं गात्रं वपुः यस्य स तथा। पञ्चबाणा न्यूना न तु ततो न्यूनाः समूहिनो येषु तादृशैः शरोत्करैः शरसमूहैः जघानेति॥५५॥

भुजयोरिति। भुजादौ अविद्धो न दृश्यते किन्तु सर्वे विद्धाः॥५६॥ आयुधानीति। भुजेषु बाणप्रयुक्ता या व्यथा तया आर्तानाम्॥५७॥ बाणानामिति। सहस्राक्षः तु बाणानां सहस्रेण विद्धः अतिबलिना प्रतर्दनेन॥५८॥

सर्वानिति। विज्यं विगता अवतारिता ज्या गुणो यस्य तादृशम्॥५९॥ युद्धमिति। पौरुषम् उत्साहं प्रतर्दनस्येति शेषः॥६०॥

इन्द्रोक्तिमाह – प्रतर्दनेति द्वाभ्याम्॥६१॥ युद्धपौरुषयोरितरवैलक्षण्यं तोषहेतुतोपपत्तये पूर्वोत्तरार्द्धाभ्यां दर्शयति– एकाकीति॥६२॥

किया जिन गुच्छों में पाँच से कम बाण तो थे ही नहीं॥५५॥ देवसेना में ऐसा कोई देव नहीं दीखता था जिसके दोनों हाथों पर, दोनों स्तनों पर और माथे पर प्रतर्दन के बाणों ने घाव न किया हो!॥५६॥ सभी देवताओं के आयुध नीचे गिर पड़े क्योंकि हाथों में लगे बाणों की व्यथा से इन्द्र समेत सब देवता पीडित थे।॥५७॥ कोई सौ बाणों से तो कोई पचास से बिंधा था। अतिबलवान् प्रतर्दन द्वारा सहस्रचक्षु इन्द्र तो हजार बाणों से बिंधा हुआ था॥५८॥ यह देख कर कि सभी देवताओं के आयुध गिर चुके हैं, प्रतर्दन ने अपने धनुष की प्रत्यंचा उतार ली क्योंकि निहत्थों पर वार करना उसके नियम के विरुद्ध था॥५९॥

इस महान् युद्ध को और प्रतर्दन के साहस कहलाने वाले उत्साह को (वीरता को) देखकर आश्चर्यचकित हृदय वाले इन्द्र ने प्रतर्दन से कहा-॥६०॥ 'हे प्रतर्दन! तू आज अपना अभीष्ट वर चुन ले, मैं देता हूँ। हे राजन्! मैं तेरे युद्ध और पौरुष से संतुष्ट हूँ॥६१॥ देवों सहित मुझे यहाँ स्वर्ग में अकेले ही जीतने में कौन समर्थ है? मुझे व सब देवताओं को क्षणभर में ही कौन बाणों से छलनी कर सकता है? (एक तू ही ऐसा आश्चर्यमय व्यक्ति है।)'॥६२॥

देवराज के यों कहने पर प्रतर्दन ने तत्काल वहीं भूमि पर दण्डवत् प्रणाम कर यह बात कही-॥६३॥ 'हे शक्र! आपने जो यह कहा 'देवताओं समेत मैं तेरे द्वारा जीत लिया गया', इससे आपने मेरा नियम हर तरह से पूरा कर

उक्तं यद्भवता वाक्यं सामरोऽहं जितस्त्वया। व्रतं मे पूरितं तेन भवता शक्र सर्वथा॥६४॥
अपराधं क्षमस्व त्वं मम बालस्य दुर्धियः। पुष्पैरपि न ताड्या ये ते शरैस्ताडिता यतः॥६५॥
भवन्तः पूज्यपूज्या मे सर्वे साधुविचेष्टिताः। भवन्तः सात्त्विका देवा मानुषो राजसोऽस्म्यहम्॥६६॥
ततो रजःसमुद्रेकात् पापमेतन्मया कृतम्। सात्त्विकत्वेन भवता वरं दातुमिहोद्यतम्॥६७॥
साधूनां समचित्तानां विषमा नास्ति धीः क्वचित्। वरं ददासि यस्त्वं हि मय्येवमपकारिणि॥६८॥
प्रायो भवादृशाः सर्वे लोकेऽस्मिन् पुरुषोत्तमाः। उपकारं हि कुर्वन्ति मादृशे येऽपकारिणि॥६९॥
अपकारिषु भूतेषु ये भवन्त्युपकारिणः। तैः स्तम्भैर्विधृता सर्वा त्रिलोकी यज्ञमण्डली॥७०॥
उपकारेषूपकारान् प्रायः सर्वेऽपि कुर्वते। अपकारेषूपकारं त्वादृशाः केऽपि कुर्वते॥७१॥

इत्युक्त इति॥६३॥ उक्तमिति। व्रतं बलोद्धतान् जेष्यामीति प्रतिज्ञारूपम्। तेन 'त्वया प्रतर्दनेन सामरोऽहं जित' इति वाक्याभिधानेन॥६४॥

अपराधमिति। तथापीत्यादिः[1]। अपराधमभिनयति-पुष्पैरिति। पुष्पाण्यपि यत्र अत्यादरेण समर्पणीयानीत्यर्थः॥६५॥ भवन्त इति। पूज्यैर्मत्पितृप्रभृतिभिः पूज्याः तथा च मम नितरां पूज्या इत्यर्थः। उत्तरार्द्धार्थं प्रपञ्चयति– भवन्तः सात्त्विका इत्यादिना॥६६॥ तत इति। सात्त्विकत्वेनेति। उद्यतं भावे क्तः। तथा च भवता इन्द्रेण सात्त्विकतया वरं दातुम् उद्यमः कृत इत्यर्थः॥६७॥ वैषम्याभावमभिनयति – साधूनामिति। समे ब्रह्मणि चित्तमनुसन्धानरूपं येषामीदृशानां साधूनां धीः विषमा 'अयं स्वः परश्च' इत्याकारा न भवति। इयं व्याप्तिश्च भवतो वरदानोद्यमं दृष्ट्वा मया निर्णीतेत्याह– वरमिति॥६८॥

प्राय इति। हे इन्द्र! भवादृशाः प्रायो बाहुल्येन पुरुषोत्तमा एव भवन्ति। किं तेषां लक्षणम्? अत आह – उपकारमित्यादि। केचिदपकारिणि शापाद्यपि ददत इत्यभिप्रायेण प्रायः पदम्॥६९॥ अपकारिष्विति। अपकारिषु अपि भूतेषु य उपकारिणो भवन्ति तैः पुरुषैः स्तम्भनिभैः त्रिलोकी विधृता तत्प्रभावादेव त्रिलोकी स्थितेति यावत्। तत्र हेतुरूपं त्रिलोक्या विशेषणम् – यज्ञमण्डलीति। यज्ञसमूहात्मिका कार्यकारणयोरभेदाद्, उपकारो हि सर्वयज्ञात्मकोपकारात्[2] परो धर्म इत्यादिश्रुतेः। स च यज्ञपरिणामात्मिकां त्रिलोकीं धारयितुमर्हतीति भावः॥७०॥

उपकारेष्विति। उपकारापकारशब्दौ मत्वर्थीयाच्प्रत्ययान्तौ। केऽपि विरलाः॥७१॥

दिया॥६४॥ मैं कुबुद्धि बालक हूँ, मेरा अपराध आप माफ करें। जिन्हें फूल भी नहीं मारने चाहिये उन देवों को मैंने बाण मारे हैं॥६५॥ सदाचारसम्पन्न आप सभी मेरे पूज्यों के भी पूज्य हैं। आप लोग सात्त्विक देवता हैं जबकि मैं केवल राजस मनुष्य ही हूँ॥६६॥ इसीलिये रजोगुण बढ़ जाने से मेरे द्वारा यह पाप कर लिया गया। फिर भी सात्त्विक होने से आप मुझे वर देने को तैयार हैं॥६७॥ इस तरह अपकार करने वाले मुझे जो आप वर दे रहे हैं इससे मुझे निश्चय हो गया कि जिनके चित्त में परमात्मविचार चलता रहता है ऐसे साधुपुरुषों की बुद्धि भेदभाव वाली नहीं होती॥६८॥ जो आप जैसे लोग इस संसार में मुझ जैसे अपकारी का भी प्रायः उपकार ही करते हैं वे सभी महापुरुष हैं॥६९॥ अपकारी प्राणियों के जो उपकारी बनते हैं उन्होंने ही मानो खम्भे बनकर सारे त्रिलोकीरूप यज्ञमण्डप को धारण कर रखा है'॥७०॥ तात्पर्य है कि उनके पुण्यप्रभाव से ही त्रिलोकी विशृंखलित नहीं हो गयी है। मूलकार ने 'यज्ञमण्डली' कहा है अर्थात् यज्ञसमूह। यज्ञों के फलस्वरूप ही त्रिलोकी में सुखद स्थान प्राप्त होते हैं अतः त्रिलोकी को यज्ञसमूह कहना संगत है। उसका धारण करने

---

१. यद्यपि व्रतं पूरितं तथापि अपराधं क्षमस्वेति वाक्ययोजनेत्यर्थः।

२. सर्वयज्ञात्मकः, उपकाराद्–इति भाव्यम्।

'त्वमेव मे वृणीष्वे' त्यस्य व्याख्या

अहं हि रजसाविष्टो वेद्मि स्वस्मै हिताहितम्। नैव यस्माद् भवन्तं हि योद्धुमत्रागतोऽधुना॥७२॥

महता गजयूथेन मशको यद्वदाव्रजेत्। योद्धुं तद्वदहं शक्र! भवद्भिर्योद्धुमागतः॥७३॥

अत एतादृशोऽहं हि किं वृणे हितमात्मने। त्वमेव त्रिजगन्नाथ यत्स्याद्धिततमं सदा॥
मह्यं मानुषरूपाय तत् प्रयच्छार्तिनाशनम्॥७४॥

इन्द्रस्य निषेधः

एवमुक्तो ह्ययं शक्रः प्रतर्दनमथाब्रवीत्। अयाचितं वरं कश्चित् स्वधिया नैव यच्छति॥
परस्मै तत एव त्वं वृणीष्वैव प्रतर्दन॥७५॥

अहमिति। अहं यतो रजसाविष्टो व्याप्तः तस्मात् स्वस्य हिताहितं नैव वेद्मि। भवन्तं प्रति युद्धार्थमागमनमेव ममाऽबोधं दर्शयतीत्याह – भवन्तमिति॥७२॥ स्वस्य हिताहितज्ञानाभावं दृष्टान्तेन स्फुटयति – महतेति। महता गजयूथेन योद्धुं यद्वन्मशक आव्रजेद् आगच्छेत् तथाऽहमिति॥७३॥ अत इति। अतो हेतोः एतादृशो हितज्ञानहीनः अहमात्मने हितं किं वृणे प्रार्थयामि? तस्माद् हे त्रिजगन्नाथ! मह्यं मानुषरूपाय यद्धिततमम् आर्तिनाशकरूपं स्यात् तत् स्वयमेवालोच्य प्रयच्छेति॥७४॥

एवमिति। 'न वै वरोऽवरस्मै' (कौ.३.१) इति व्याख्येयश्रुतिवाक्ये वरशब्दः परशब्दसमानार्थ इति दर्शयंस्तद्व्याचष्टे– अयाचितमिति। कश्चित् परः परस्मै अन्यस्मै अयाचितं वरं स्वधियैव न प्रयच्छति। तथा सति तस्य दत्तस्य वरत्वमेव हीयेत, व्रियते याच्यत इति वरपदव्युत्पत्तेः। ततो हे प्रतर्दन त्वमेव वृणीष्व–इति॥७५॥

वाले खम्भों की जगह उक्तविध सत्पुरुष हैं। मण्डली से मण्डप में लक्षणा कर लेने से उदाहरण ज्यादा साफ हो जाता है। अपकार से बड़ा अधर्म नहीं इत्यादि बताने वाली श्रुति से मालूम पड़ता है कि उपकार में सब यज्ञों का अंतर्भाव हो जाता है। भगवान् वेदव्यास का भी वचन है कि पुण्यों में परोपकार और पापों में परपीडा ही सबसे बड़े हैं।

'उपकार करने वालों पर उपकार तो प्रायः सभी लोग कर लेते हैं, अपकार करने वालों पर तो आप जैसे कुछ ही लोग उपकार कर पाते हैं॥७१॥ रजोगुण के उद्रेक के कारण मैं यह नहीं जानता कि मेरे लिये क्या हित है और क्या अहित। यह इसी से स्पष्ट है कि मैं यहाँ आपसे लड़ने आ गया!॥७२॥ हे शक्र! जैसे हाथियों की विशाल सेना से कोई मच्छर लड़ने आये ऐसे मैं आप लोगों से लड़ने आया हूँ!॥७३॥ क्योंकि मैं ऐसा मूर्ख हूँ इसलिये मैं अपने हित की क्या चीज़ चुनूँ? हे त्रिलोकपति! आप ही वह दे दीजिये जो मनुष्य रूप मेरे लिये हमेशा सर्वाधिक हित हो और शोक का नाश करने वाला हो'॥७४॥

कौषीतकी उपनिषत् के तृतीय अध्याय की व्याख्या की जा रही है। वहाँ प्रसंग है कि दैवोदासि प्रतर्दन अपने पौरुष के बल पर युद्ध के निमित्त इन्द्रपुरी गया। उसे इन्द्र ने वर देना चाहा। प्रतर्दन ने कहा, 'मनुष्य के लिये हिततम जिसे आप मानते हैं वही चुनकर मुझे दे दीजिये।' इन्द्र बोले, 'अरे! दूसरे के लिये वर नहीं चुना जाता, तू ही चुन!' तब प्रतर्दन ने खुद चुनने से साफ मना कर दिया। इन्द्र कह चुके थे कि 'वर देता हूँ' और क्योंकि सत्य ही इन्द्र है इसलिये इन्द्र सत्य से डिगे नहीं। उन्होंने कहा, 'मुझे ही जान। यही मैं मनुष्य के लिये हिततम मानता हूँ कि वह मुझे जान लेवे।' आगे विस्तार से समझाया कि 'मुझे' से क्या मतलब व उसे कैसे जानना है और जानने से होगा क्या। इसी के अनुसार कथानक आगे चलाते हैं– प्रतर्दन द्वारा यों कहा जाने पर इन्द्र ने उससे कहा 'कोई भी व्यक्ति बिना माँगा वर अपनी मर्जी से दूसरे को नहीं दिया करता। इसीलिये हे प्रतर्दन! तू अवश्य वर चुन'॥७५॥

हिततमप्रार्थनम्

एवमुक्तः पुनः शक्रं बुद्धिमान् स प्रतर्दनः। उवाच न्यायसहितं वचनं सत्यवादिनम्॥७६॥

सत्यमेतत् त्वया शक्र यदुक्तमधुना वचः। किन्तु तद् विषमेष्वेव वर्तते न भवादृशे॥७७॥

त्वां विनाऽत्र हि को नाम रिपवे दुष्टचेतसे। वरं दद्यादतो नूनं भवान् न विषमः क्वचित्॥७८॥

ततस्त्वया वरो देयः प्रतिज्ञातोऽस्ति मे यदि। देहि मह्यं हिततमं बुद्ध्वा धिषणया स्वया॥७९॥

वरः श्रेष्ठ इति प्रोक्तः श्रेष्ठो हिततमो भवेत्। तन्न वेद्मि ततोऽज्ञानाद्याचितो न वरो भवेत्॥८०॥

इत्युक्ते भगवानिन्द्रः पुनस्तोषमुपागतः। प्रतर्दनस्य संवीक्ष्य चातुरीं बुद्धिजामिमाम्॥८१॥

इन्द्रो विद्यावाक्यं सस्मार

ब्रह्मविद्याऽतिसङ्खिन्ना ब्रह्मिष्ठं ब्राह्मणं ययौ। वाराङ्गनासमानां हि मा कृथाः सर्वसेविताम्॥८२॥

गोपाय मां सदैव त्वं कुलजामिव योषितम्। शेवधिस्त्वक्षयस्तेऽहमिह लोके परत्र च॥८३॥

एवमुक्तः पुनरिति। न्यायसहितं वचनं सत्यवादिनम् इन्द्रं प्रति उवाचेति॥७६॥

सत्यमिति। हे शक्र! यत् त्वया एतद् लौकिकन्यायानुवादकं वच उक्तं तत् सत्यम् अबाधितमेव लोके, परन्तु तद् विषमेषु भेददर्शिषु एव वर्तते समन्वितं भवति, भवादृशे समचित्ते तु न युज्यत इति॥७७॥ भवतस्तु समदर्शिता मया वरदानोद्यमादेव निर्णीता इत्याह - त्वां विनेति॥७८॥ फलितमाह - तत इति। यदि त्वया मे देयो वरः प्रतिज्ञातः तर्हि स्वया धिषणया एव हिततमं बुद्ध्वा निर्णीय मह्यं देहीति॥७९॥ 'रूढिर्योगाद् बलीयसी' ति न्यायमाश्रित्याह - वर इति। श्रेष्ठः पदार्थो हि वर इति रूढ्या प्रोक्तः, श्रेष्ठो नाम हिततमः। अहन्तु तं हिततमं न वेद्मि, ततोऽज्ञानाद् यदि याचितः तर्हि अवरोऽश्रेष्ठः स्यात्; तथा च भवतो वरदानप्रतिज्ञाहानिः स्यात्, तस्माद्भवतैवात्मनः प्रतिज्ञापरिपालनाय वरो देय इति भावः॥८०॥

इत्युक्त इति। प्रतर्दनस्य बुद्धिजां चातुरीं वीक्ष्य इन्द्रः तुष्ट इति॥८१॥

जब इन्द्र ने यह कहा तो उस बुद्धिमान् प्रतर्दन ने सत्यवादी इन्द्र को यह युक्तियुक्त बात कही:॥७६॥ 'हे शक्र! अभी जो आपने बात कही वह सही है लेकिन भेददृष्टि वालों में ही वैसा होता है, आप जैसे समचित्त लोगों को वह शोभा नहीं देता॥७७॥ आपके सिवाय संसार में कौन है जो दुष्टचित्त वाले शत्रु को वर देवे? अतः निश्चित है कि आप विषमदृष्टि वाले नहीं हैं॥७८॥ इसलिये अगर आपने मुझे वर देने की प्रतिज्ञा की है तो आप अपनी ही बुद्धि से मेरे लिये हिततम का निर्णय कर मुझे दीजिये॥७९॥ श्रेष्ठ पदार्थ ही 'वर'-शब्द से कहा जाता है। जो सर्वाधिक हित हो वही श्रेष्ठ होता है। मुझे हिततम का ज्ञान नहीं। इसलिये जानकारी के बिना अगर मैं माँग भी लूँ तो वह 'वर' नहीं होगा और आपकी 'वर' देने की प्रतिज्ञा पूरी नहीं होगी। अतः प्रतिज्ञा के परिपालन के लिये आप ही जो 'वर' हो वह दे दीजिये'॥८०॥

प्रतर्दन के इस कथन से उसकी बुद्धिमत्तापूर्ण चतुरता देखकर भगवान् इन्द्र को और भी प्रसन्नता हुई॥८१॥

शंका होती है कि यदि प्रसन्नतावश इन्द्र ने वर दिया तो श्रुति को यह कहने की क्या जरूरत थी कि इन्द्र सत्य से विचलित नहीं हुए। कोई प्रतिबंधक रहा हो और फिर भी सत्य के पालन के लिये वर दिया हो तभी वैसा कथन संगत है। इसका समाधान है कि वरस्वरूप इन्द्र ने ब्रह्मविद्या ही दी। जब उन्होंने निर्णय किया कि वह श्रेष्ठ होने से 'वर' है अतः वही इसे दूँ, तब उन्हे विद्या की कही बात याद आ गयी जिसमें उसने प्रार्थना की थी कि 'दोषदृष्टि वाले, कुटिल और

अथैवं चेदशक्तोऽसि कर्तुं मद्वचनं द्विज। जनोपकारनिरतो वदान्योऽतिकृपावृतः॥८४॥

तथापि गुणहीनाय न मां दद्याः कथंचन। स्वसुतामिव रूपाढ्यां पुरुषे विगतस्पृहे॥८५॥

एतेऽगुणा मम सदा ब्रह्मन्नत्यन्तदुःखदाः। निन्दा गुणवतां तद्वत् सर्वदाऽऽर्जवशून्यता॥८६॥

इन्द्रियाधीनता नित्यं स्त्रीसङ्गोऽप्यविनीतता। कर्मणा मनसा वाचा गुरौ भक्तिविवर्जनम्॥८७॥

एवमाद्या हि येषां स्युस्तेभ्यो वर्जय मां सदा। एवं हि कुर्वतो नित्यं कामधेनुरिवास्मि ते॥
[1]वन्ध्याऽन्यथा भविष्यामि लतेव फलवर्जिता॥८८॥

ननु यदीन्द्रस्तुष्टस्तर्हि तस्य तोषो विद्यादानप्रयोजकः, तथा च 'इन्द्रः सत्याद् न चचाल' इत्यर्थकम् 'अथो खल्विन्द्रः सत्याद्' (कौ.३.१) इत्यादि वाक्यं कथमुपपद्येत? तद्धि प्रतिबन्धके प्रसक्तेऽपि सत्यसंरक्षणाय इन्द्रो विद्यां ददाविति तात्पर्यकम्– इत्याशङ्क्य; विद्यावाक्यस्मृतिः प्रतिबन्धिकाऽऽसीदि वक्ष्यमाणः षोडशभिर्विद्या-वाक्यमनुवदंस्तत्र 'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेहमस्मि। असूयकायानृजवे शठाय न मा दद्या वीर्यवती यथा स्याम्' (संहितोप.३.४) इति श्रुतिमर्थतः पठति – ब्रह्मविद्येति सप्तभिः। ब्रह्मविद्या तदभिमानिनी देवता अतिसङ्क्विन्ना अनधिकारिषु प्राप्तिभयेन उद्विग्ना सती ब्राह्मणं ययौ, गत्वा चेदमाहेति शेषः। ब्राह्मणपदस्यार्थो ब्रहिष्ठमिति अतिशयेन ब्रह्मवांस्तद्बोधवानिति ब्रहिष्ठः तं, 'विन्मतोः' (५.३.६५) इति लुक्। हे ब्राह्मण! त्वं मां सर्वजनसेवितत्वेन वाराङ्गनया पण्ययोषिता समानां मा कुर्विति॥८२॥ गोपायेति। किन्तु कुलाङ्गनामिव मां गोपाय रक्ष, रहस्यां कुर्विति यावत्। यतः अहं तव लोकद्वयोपकारिका अक्षयनिधिसमाऽस्मीति॥८३॥

अथैवमिति। अथ इति पक्षान्तरे। चेद् यदि एवम् उक्तं मद्वचोऽनुष्ठातुम् अशक्तोऽसि; तत्र हेतुगर्भं विशेषणत्रयम्। वदान्यत्वं बहुप्रदत्वम्॥८४॥ तथापि मम विद्याया दाने तव प्रवृत्तावपि शमादिरहिताय मां न देहि। यथा गुणाढ्यां स्वसुतां क्लीबे न कश्चिद् ददाति तद्वत्॥८५॥ एत इति। एते वक्ष्यमाणा अगुणा दोषा हे ब्रह्मन् मम अतिप्रतिकूलाः। दोषानाह – निन्देति। गुणवतां निन्दा दोषारोपात्मिकाऽसूया। आर्जवं कौटिल्यराहित्यं, तच्छून्यता कौटिल्यम्॥८६॥

दुष्ट के हाथों मुझे न देना। ऐसे हाथों में न पड़ूँ तभी मेरी सामर्थ्य बनी रहेगी। सामर्थ्यशाली मैं खजाना हूँ, मेरी रक्षा करना।' यह निवेदन विद्या ने ब्राह्मणों से किया था ऐसा वेद में वर्णन है। प्रतर्दन की अधिकारिता का निश्चय न होने से विद्या की प्रार्थना के अनुसार उसे विद्या न दी जाये यह पक्ष उपस्थित हुआ जो प्रतिबंधक था। फिर भी सत्य के अनुरोध से उपदेश दिया इसलिये कौषीतकी का कथन कि इन्द्र सत्य से विचलित न हुआ, ठीक ही है। इस विषय को स्पष्ट करते हैं– एक बार की बात है, 'अनधिकारियों के हाथों न पड़ जाऊँ' ऐसे उद्वेग से खिन्न ब्रह्मविद्या की अधिष्ठात्री देवी ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण के पास गयी और बोली, 'योग्य-अयोग्य सभी जिसका उपभोग करें ऐसी वेश्या के समान मुझे मत बना देना। तुम मेरी रक्षा हमेशा वैसे करना जैसे सत्कुल में उत्पन्न कन्या की करते हैं। (जैसे उसे सत्पात्र को ही देते हैं वैसे मुझे भी देना)। इस लोक और परलोक में मैं तुम्हारे लिये कभी न ख़त्म होने वाला खजाना हूँ॥८२-८३॥ सब का उपकार करने में तत्पर, मुक्तहस्त दानी और अत्यन्त कृपालु होने से यदि तुम जैसा मैंने कहा वैसा करने में अर्थात् योग्यतम पात्र को ही मुझे देने में समर्थ न हो सको, तो भी गुणहीन व्यक्ति के हाथों मुझे किसी हालत मत देना। जैसे अत्यन्त रूपसी अपनी पुत्री नपुंसक पुरुष को नहीं ब्याहते ऐसे मुझे शमादिरहित को मत देना॥८४-८५॥ हे ब्रह्मदेव! विद्यार्थी में होने वाले ये दोष हैं जो मुझे हमेशा अत्यधिक दुःख देते हैं: सद्गुणशालियों की निन्दा करना, सदा कुटिलता, हमेशा इन्द्रियों के पराधीन होना, निरन्तर स्त्री की संगति करना (स्त्री से आसक्ति के कारण स्त्रीसम्बद्ध विचारों को सरुचि प्रधानता देना), अनम्रता, क्रिया मन और

---

१. निष्ठया मोक्षो ज्ञानफलन्तदजनौ वन्ध्यैव विद्यानधिकारिणि च निष्ठाऽसंभवेन फलानुत्पत्तिरितिभावः।

गुरोर्महत्ता

अपि न्यायं वदाम्यत्र नोपकाराय ते द्विज। यो नाशयेद्धि दुर्भेद्यमादित्याद्यैरपीश्वरैः॥८९॥
तमःस्तोमं हृदि स्वस्य सत्यादेवात्मबोधनात्। ब्रह्म त्वं भवसीत्यादि पाययेच्च वचोऽमृतम्॥९०॥
कर्णावदुःखभाजौ च कुर्वन्नाबोधनं सदा। स एवास्य पिता तद्वद् माता चात्र न चापरौ॥
यतोऽस्य सन्ततौ पातात् सर्वं दुःखं विनश्यति॥९१॥
अन्ययोः सन्ततौ पित्रोर्दुःखं पुत्रस्य जायते। यस्य नैव प्रतीकार उक्तायाः सन्ततेः परः॥९२॥
ततो ब्रह्मात्मबोधस्य दात्रे पित्रे सदैव हि। न द्रुह्येद् गुरवे तस्मै कर्मणा मनसा गिरा॥९३॥

चतुर्विधं धूर्ततारूपं शठतादोषमाह - इन्द्रियेति। अविनीतता अनम्रत्वम्। विवर्जनं राहित्यम्॥८७॥ एवमाद्या इति। दोषा इति शेषः। येषां स्युस्तेभ्यो दातुं मां वर्जय निवृत्तो भव। एवं कुर्वतो विद्याया रहस्यतां पात्रे दानं वाऽऽचरतः ते सर्वेष्टदा वीर्यवत्यस्मि इति। अन्यथा तु वन्ध्येति॥८८॥

अथ पञ्चभिः श्लोकैः 'यः[1] सन्तृणत्त्यवितथेन कर्णौ तमो हरन्नमृतं संप्रयच्छन्। तं विद्यात् पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन्'॥ इति वाक्यं विद्यामुखेन अर्थतः पठति - अपि न्यायमिति। हे द्विज! अत्र 'दोषवते विद्या न देया' इति विषये न्यायम् 'उपजीव्यं न विहन्याद्' इति युक्तियुक्तं वदामि, केवलं तव उपकाराय एव न वदामीति। य इति। यो गुरुः ईश्वरैः समर्थैः अपि आदित्याद्यैः दुर्भेद्यं स्वस्य शिष्यस्य हृदि वर्तमानमज्ञानतमःस्तोमं नाशयेत्। कस्मात्? सत्याद् अवितथाद् आत्मबोधाद् हेतोः। तथा त्वं ब्रह्म भवसीत्यादि महावाक्यरूपं वचोमृतं पाययेत्॥८९-९०॥ कर्णाविति। किं कुर्वन् वचोऽमृतं पाययेत्? कर्णावदुःखभाजौ कुर्वन्, अदुःखं दुःखध्वंसं भजतः प्राप्नुत इति तौ तथा। तथा आ समन्ताद् युक्तिभिरपि बोधनं कुर्वन्। स एव गुरुः अस्य अधिकारिणः पिता माता च, नित्यशरीरस्य ब्रह्मरूपस्य व्यंजकत्वात्। न चापरौ लौकिकशरीरकर्तारौ। तत्र हेतुमाह - यत इति। यतोऽस्य गुरोः सन्ततौ विद्यासम्प्रदाये पातात् प्रवेशात् सर्वं दुःखं विनश्यतीति। पा रक्षणे, मान पूजायामिति धातुभ्यां तृच्प्रत्यये नलोपे च पितृमातृशब्दौ संसारभयाद् रक्षके स्वाराज्यप्रदानेन पूजके च ब्रह्मविद्याप्रदे गुरावेव सम्यक् सङ्गच्छेते इति भावः॥९१॥

वचन से गुरु में श्रद्धा व प्रेम व्यक्त न होना; ये तथा ऐसे अन्य (असत्यवादिता, असहिष्णुता, आदि) दोष जिनमें हों उनसे मुझे सदा बचाये रखना। यदि तुम हमेशा ऐसा करते रहे तो मैं तुम्हारे लिये कामधेनु जैसी बनी रहूँगी पर अगर तुमने ऐसा नहीं किया तो फलरहित लता की तरह मैं वन्ध्या हो जाऊँगी'॥८६-८८॥ जैसे वन्ध्या से पुत्रादि उत्पन्न नहीं होता ऐसे अनधिकारी की विद्या से मोक्ष तो नहीं ही उत्पन्न होता, शान्ति, संतोष आदि लौकिक श्रेष्ठता भी नहीं आती।

शास्त्रों में यह भी कहा है कि अज्ञान हटाने व अमरता देने के लिये जिसने परम सत्य का उपदेश दिया हो उसे माता-पिता समझो तथा उसके उपकार को याद रख कभी उसके प्रति द्रोह न करो। इस बात को विद्यादेवी याद दिलाती है-'हे ब्राह्मण! यह जो मैं कह रही हूँ यह केवल तुम्हारे उपकार के ही लिये नहीं, बात भी यह उचित है। अपने हृदय में विद्यमान विवृद्ध अज्ञानान्धकर को जो गुर नष्ट करता है उसके माहात्म्य का क्या कहना? आदित्य आदि जो अँधेरा समाप्त करने में समर्थ हैं वे भी इस अँधकार को समाप्त नहीं कर सकते। सच्चे आत्मज्ञान से ही श्रीगुरु उसे हटाते हैं। उनके हृदय में सच्चा ज्ञान ही विराजमान है। 'तू ब्रह्म है' इत्यादि अमृतमय वचन वे सुनाते हैं जिन्हें सुन लेने पर फिर कभी कानों में दुःख की बात भी नहीं पड़ती। युक्ति आदि उपायों से परम तथ्य वे समझा देते हैं। हमारे वास्तविक माता-पिता वे ही हैं, देह के उत्पादक तो कहने भर के माँ-बाप हैं। गुरु के विद्यासम्प्रदाय में प्रवेश हो जाने से सारा दुःख समाप्त हो जाता

१. सन्तृणत्ति = संयोजयति।

एतन्मयाऽत्र कथितं ब्रह्मविद्याप्रदे गुरौ। वेदः सर्वार्थशिक्षासु गुरवे तद्धि मन्यते॥९४॥

अध्यापिता हि ये शिष्या मन्यन्ते ते गुरुं स्वकम्। गुरौ यथैते वर्तन्ते तथा विद्यापि तेष्विह॥९५॥

गुरुभक्तस्ततो यः स्याद् विद्यायाः श्रवणे तथा। आदृतस्त्वप्रमादी च मेधावी स्त्रीविवर्जितः॥९६॥

ब्रूयास्त्वं यदि ते वक्तुमिच्छा स्याद् द्विजसत्तम। ब्रह्मविद्यामिमां तस्मै रक्षको यदि मे भवेत्॥९७॥

प्रतर्दनस्याधिकारचिन्ता

इति विद्यावचः स्मृत्वा संशयं परमं गतः। सत्यपाशाभिबद्धः सन्निन्द्रः सत्यात्मरूपधृक्॥९८॥

अन्ययोरिति। अन्ययोः **लौकिकयोः** पित्रोः सन्ततौ पातात् पुत्रस्य तादृशं संसारलक्षणं दुःखं जायते यस्य दुःखस्य प्रतीकारो **निवृत्त्युपाय उक्ताया गुरुसम्बन्धिसन्ततेः विद्यासम्प्रदायरूपायाः सकाशात् परो भिन्नो न, किन्तु स एवेति॥९२॥** तत इति। तत **उपजीव्यत्वाद् ब्रह्मात्मबोधस्य दात्रेऽत एव पित्रे मात्रे च गुरवे शरीरवाङ्मनोभिः न द्रुह्येद् द्रोहमनिष्टचिन्तनं न कुर्यादिति। असूयकादयस्तु द्रुह्यन्ति तस्मात् तेभ्यो विद्या न देयेति भावः॥९३॥**

एतदिति। एतत् पूर्वं यदुक्तं तद् **ब्रह्मविद्याप्रदं गुरुं प्रति मुख्यवृत्त्योक्तम्, वेदस्तु 'आचार्यदेवो भव' (तै.१.११) इत्यादिरूपः सर्वार्थानां लौकिकानामपि शिक्षासु यो गुरुः** तत्परमप्येतद्वाक्यं मन्यते अभिप्रैतीति॥९४॥ **अत एव लौकिकविद्यागुरुष्वपि तथा शिष्टाचारः तथाऽऽचरतामनाचरतां च फलान्वयव्यतिरेकौ च दृश्येते इत्याह** – अध्यापिता इति। **लोकेऽपि** ये येन अध्यापिताः ते तं **स्वगुरुं** मन्यन्त इति। तथा यथैते शिष्या गुरौ वर्तन्त, विद्याऽपि तेषु **शिष्येषु** तथा **वर्तते फलं ददाति इति प्रसिद्धम्॥९५॥**

फलितमाह **विद्या** – गुरुभक्त इति **द्वाभ्याम्।** तत **उक्तनियमाद्** यः शिष्यो गुरुभक्तः तथा विद्यायाः श्रवण आदृतः **श्रद्धावान्, अप्रमादी सावधानश्च** मेधावी **धारणाशालिमतिकः** स्त्रीविवर्जितः **ब्रह्मचर्यवांश्च स्याद्;** यदि च मे **विद्याया** रक्षको **रक्षाकरो भवेत् तर्हि हे द्विजसत्तम! तस्मै शिष्याय** इमां ब्रह्मविद्यां ब्रूयाः यदि ते वक्तुम् **उपदेष्टुम्** इच्छा भवेदिति **द्वयोः सम्बन्धः॥९६-९७॥**

है (और स्वाराज्य मिल जाने से सर्वश्रेष्ठता मिल जाती है)। लौकिक माँ-बाप की सन्तान बनने से तो पुत्र को दुःख की ही प्राप्ति होती है। और दुःख भी ऐसा कि उसकी निवृत्ति का एकमात्र उपाय है गुरु के सम्प्रदाय में प्रवेश पा लेना। परमार्थज्ञान से भिन्न कोई साधन संसारदुःख के निवारण का नहीं। इसलिये परमात्मा व जीवात्मा के अभेद का उपदेश देने वाले माता-पितारूप गुरु के प्रति क्रिया मन और वाणी से कभी अनिष्ट नहीं करना चाहिये। अयोग्य शिष्य तो निंदादि से गुरुद्रोह करेंगे ही। अतः उन्हें विद्या न देना युक्तियुक्त है।॥८९-९३॥ यद्यपि मैंने यह बात ब्रह्मविद्या के उपदेष्टा गुरु के बारे में ही कही है तथापि वेद तो इसे सभी बातें बताने वाले शिक्षकों के विषय में मानता है इसीलिये उसने 'आचार्य को देवता समझे' ऐसा शिष्य को आदेश दिया है॥९४॥ संसार में जो जिसके द्वारा पढ़ाये जाते हैं वे उसे अपना गुरु मानते हैं (सिर्फ ब्रह्मज्ञानदाता को ही नहीं। अतः दोनों की गुरुता समान होने से दोनों का सत्कारादि भी तुल्य होना वेद को स्वीकृत है)। शिष्य गुरु के प्रति जैसा बर्ताव करते हैं वैसा ही बर्ताव शिष्यों के साथ विद्या भी किया करती है॥९५॥ इसलिये जो गुरु में श्रद्धा व प्रेम वाला हो, विद्याप्राप्ति के प्रति सद्भावना वाला हो (अर्थात् हृदय से विद्या चाहता हो), समझने और गुरुसेवा में सावधान हो, याद रखने की सामर्थ्य रखे और ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला हो, ऐसे शिष्य को तुम इस ब्रह्मविद्या का उपदेश देना। और वह भी तब अगर तुम्हे योग्यतम से अतिरिक्त को उपदेश देने की इच्छा हो ही जाये! (उत्तम तो यही है कि योग्यतम को ही उपदेश देना)। हे श्रेष्ठ द्विज! यदि तुम मेरे रक्षक हो तो ऐसा ही करना'॥९६-९७॥ इस प्रसंग में स्पष्ट है कि उपदेश को अधिकारी के अनुरूप ही सुनाना चाहिये। अन्यथा वह विद्या, गुरु व शिष्य तीनों की हानि करता है। हर तरह साधनों से संपन्न को ही ज्ञान दिया जाये तो वह सद्यः फल जाता है। जिनमें कुछ साधनों की कमी है उन्हे

नायं सर्वैर्गुणैर्युक्तो विद्योक्तैर्हि प्रतर्दनः। यद्यप्यस्मिन् गुणाः सन्ति तथाप्येष रिपुर्हि नः॥९९॥

अथवा रिपुताऽनेन परित्यक्ताऽत्र मद्वरात्। ततः सर्वगुणोपेतो विद्याया भाजनं भवेत्॥१००॥

बहुना किं विचारेण गुणी वाप्यगुणस्त्वयम्। विद्यां हिततमामस्मै कथयिष्यामि सर्वथा॥१०१॥

एवं विद्यावाक्यं षोडशभिः प्रपञ्च्य तत्स्मरणस्य प्रतिज्ञया पाशवद् वशीकृतेन्द्रनिष्ठसंशयजनकतया क्षणमात्रं प्रतिबन्धकतामाह - इति विद्येति। सत्यपाशाभिबद्धः सन् अपि इन्द्रः इति विद्यावचः स्मृत्वा संशयं गतः अभूदित्यन्वयः। संशयाकारस्तु - किमस्मै विद्या न देया, देया वेति? तथापीन्द्रः सत्यान्न चचाल सत्यरूपत्वादित्यर्थकं 'हीन्द्रः' (कौ.३:१) इत्यन्तं वाक्यं व्याकुर्वन्निन्द्रं विशिनष्टि - सत्यात्मेति। सत्यं शास्त्रप्रतिपाद्यात्मकं रूपं धर्मस्वरूपं, तेन धृष्णोति प्रगल्भो भवतीति स तथा इति बृहदारण्यकभाष्यानुसारेणार्थः। तथा च धर्ममर्यादास्थापकस्य परमधर्मसत्याच्चलनं न युक्तमिति भावः। यद्वा सत्येन परमार्थेन आत्मना रूपेण प्रजापत्युपदेशाल्लब्धेन तत्त्वज्ञानविषयेण प्रगल्भ इति। तथा च अनृतादिप्रयोजकाऽविद्यायास्तत्त्वज्ञानेन नष्टत्वाद् इन्द्रस्य सत्याच्चलनं न सम्भवतीति भावः॥९८॥

अथ संशयप्रयुक्तं विचारमभिनयन् 'न देया' - इति पूर्वपक्षकोटिं दर्शयति - नायमिति। अयं प्रतर्दनः विद्योक्तैः सर्वैर्गुणैर्युक्तो न भवति तस्माद् न देयेति प्राप्तम्। ननु प्राणाग्निहोत्रनिष्ठया शुद्धान्तःकरणत्वाद् अयं गुणवानेव? इत्याशङ्क्याह - यद्यपीति। रिपुः वैरी॥९९॥

'देया विद्या' - इति सिद्धान्तकोटिमादत्ते - अथवेति त्रिभिः। मद्वराद् मम वरमालोच्य इति ल्यब्लोपे पञ्चमी। भाजनं पात्रम्॥१००॥

यदि ज्ञान मिले तो वे उसे फलीभूत करने के उपायरूप से उस कमी को पूरा करते हैं और जब साधनसम्पन्न हो जाते हैं तब पायी हुई विद्या ही अपना फल प्रकट कर देती है। इसलिये उन्हे विद्या देना भी सार्थक है। किन्तु जिनमें पूर्वोक्त दुर्गुण हों वे तो विद्या पाकर निश्चित रूप से उसे गलत ही समझेंगे और अपनी ग़लतफ़हमी को ही वास्तविक मानकर आचरण करेंगे जिससे स्वयं तो कष्ट पायेंगे ही अपने गुरुओं को भी सन्ताप ही देंगे। विद्या का प्रतिपादन वे ऐसा विकृत करेंगे कि विद्या भी पीडित और बदनाम होगी तथा एक दोषमय सम्प्रदाय का प्रवर्तन होगा जो न जाने कितने प्राणियों के अनन्त निरय का हेतु बनेगा। अतः यह किसी के प्रति द्वेष नहीं कि उसे ज्ञान न दिया जाये, बल्कि उस समेत सबके हित में ही है। दुर्गुणयुक्त को दुर्गुण छोड़ने का उपदेश मिले.यही ज़रूरी है। जब उसमें योग्यता आ जायेगी तब वह परमार्थ भी समझ लेगा।

सत्यरूप पाश से बँधे हुए एवं धर्मबलयुक्त इन्द्र को विद्या का यह वचन याद आ गया और उन्हे सहसा निर्णय न किया जा सकने वाला संशय हुआ कि 'प्रतर्दन को विद्या दूँ, कि न दूँ?'॥९८॥ धर्म की मर्यादा के स्थापक होने से इन्द्र सत्यरूप परमधर्म पर दृढ रहे यही उचित है। साथ ही प्रजापति से उपदेश पाकर इन्द्र को ब्रह्मज्ञान हुआ था जिससे उनका अज्ञान निवृत्त हो चुकने के कारण कोई हेतु ही नहीं था कि वे सत्य से डिगते। अविद्या से कामना और उसी से पाप होता है यह नियम है।

'प्रतर्दन को विद्या नहीं देनी चाहिये' इस पक्ष के लिये जो सोचा जा सकता है वह इन्द्र के विचाररूप से दिखाते हैं- 'विद्या द्वारा कहे सभी गुणों से यह प्रतर्दन युक्त नहीं, यह तो निश्चित है। यद्यपि कुछ गुण इसमें हैं तथापि है यह हमारा शत्रु ही'॥९९॥ शत्रु होने से मेरे प्रति द्रोहभाव है यह तात्पर्य है।

अब बताते हैं कि विद्या उसे देनी चाहिये इसमें क्या हेतु हैं- 'या बहुत संभव है कि मैंने जो वरदान दिया उसका विचार कर इसने अब शत्रुभाव छोड़ दिया है। इसलिये सब गुणों से युक्त यह प्रतर्दन विद्या के योग्य पात्र है॥१००॥ बहुत विचार करने से क्या लाभ? यह गुणवान् हो चाहे गुणहीन। हर हालत में इसे मैं हिततम विद्या सुनाऊँगा क्योंकि इसे पहले

'इन्द्रः सत्यादेव नेयाये' त्यस्यार्थः

वरं ददामि ते यस्मादिति पूर्वं मयेरितम्। सत्यं तत् सर्वथा कुर्व आत्मविद्याप्रदानतः॥
इति सञ्चिन्त्य भगवानूचे शक्रः प्रतर्दनम्॥१०२॥

'मां विजानीही' त्युपदेशः

मामेव सर्वजगतामात्मानं बुद्धिसाक्षिणम्। नभोवद् बहिरन्तश्च व्याप्य सर्वमवस्थितम्॥१०३॥

स्वप्नदृष्टसमैः सर्वप्रपञ्चैः रहितं शिवम्। देशकालस्वरूपाख्यभेदत्रयविवर्जितम्॥१०४॥

स्वसजातिविजात्याख्यभेदबीजविभावसुम्। अधिष्ठानं समस्तस्य सदा सदसदात्मनः॥१०५॥

बहुनेति स्पष्टम्॥१०१॥ तत्र हेतुतया प्रतिज्ञायाः पूरणीयत्वमाह – वरमिति। यस्माद्वरं ते ददामीति मयेरितं प्रतिज्ञातं तस्मात् तद् उक्तमात्मविद्यादानेन सत्यं कुर्व इति, इति इत्थं सत्यात्मकधर्मस्य प्राबल्यं सञ्चिन्त्य इन्द्रः प्रतर्दनम् उवाचेति। अयमत्र सिद्धान्तकोटेराशयः – यद्यपि विद्यावाक्यं श्रुतिरूपं प्रबलमपि गृहस्थतया मध्यमाधिकारिलाभेन सावकाशं, 'ददानीति' प्रतिज्ञायास्तु स्मृतिवाक्यैरपि 'नानृतं वदेद्' (तै.सं.२.२.५) इत्यादिभिर्निर्णीतावश्यकर्तव्यताया निरवकाशत्वाद् 'आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलम्' इति न्यायेन प्राबल्यमिति॥१०२॥

अथ 'तं हेन्द्र उवाच' इत्यादि 'विजानीयाद्' (कौ.३.१) इत्यन्तं वाक्यं व्याकरोति – मामेवेत्यादि पञ्चविंशति-श्लोकैः। मामेव हे प्रतर्दन विजानीहि इति चतुर्थेनान्वयः। 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववद्' (ब्र.सू.१.१.३०) इति न्यायेन एकशतवर्षब्रह्मचर्यतोषित प्रजापत्युपदेशजन्याऽद्वितीयाऽऽत्मज्ञाने स्थित्वा इन्द्र उपदिदेश यथा वामदेवो गर्भे स्मृतसनकाद्युपदेशजन्यज्ञाने स्थित्वा सर्वात्मभावप्रतिपादकान् मन्त्रान् उवाच तद्वद् – इत्यर्थकेन 'माम्' इति पदमद्वितीया-त्मार्थकमित्याशयेन मामिति पदार्थं विशिनष्टि – सर्वजगतामात्मानम् इत्यादिना; अद्वयमित्यर्थः। बुद्धिसाक्षिणं सर्वान्तरमिति यावत्। एतत् स्फुटयति – नभोवद् इत्यादिना॥१०३॥

स्वप्नेति। सर्वैः स्थूलसूक्ष्मकारणरूपैः प्रपञ्चैः वस्तुतो रहितं यतः ते प्रपञ्चाः स्वप्नदृष्टसमा इति। अत एव शिवं तुरीयम्। देशेन कालेन स्वरूपेण वस्तुना च आख्या निरूपणं यस्य तादृशेन भेदत्रयेण वर्जितमिति॥१०४॥

स्वसजातीति। स्वेन स्वरूपेण सजातिना विजातिना विजातीयेन च आख्या येषां स्वगतादिभेदानां, ते स्वसजातिविजात्याख्यभेदाः, तद्रूपबीजानां प्रादुर्भावेन अग्निवद् दाहकम्। तदेव कुतः? इत्यत आह – अधिष्ठानमिति। समस्तस्य सदसदात्मनः प्रपञ्चस्य अधिष्ठानम्॥१०५॥

जो यह कह दिया है कि 'तुझे वर देता हूँ' इसलिये आत्मज्ञान देने के द्वारा उस वचन को पूरी तरह सच करूँगा।' ऐसा विचार कर भगवान् शक्र ने प्रतर्दन से यह कहा:॥१०१-१०२॥ इन्द्र के निर्णय का आधार यह है कि विद्या न दिये जाने के जो कारण कहे गये हैं वे तो प्रतर्दन में निश्चित नहीं। जिन योग्यताओं की ज़रूरत कही है वह पूरी नहीं तो भी काफी मात्रा में इसमें हैं ही। अतः उत्तम न सही मध्यम अधिकारी यह है ही। एवंच विद्या की ब्राह्मण के प्रति जो प्रार्थना थी उसका कुछ मान रह ही जायेगा क्योंकि यह अनधिकारी नहीं, चाहे मध्यम हो, है अधिकारी। दूसरी ओर अगर उपदेश दूँ ही नहीं तो मैं झूठ बोलने वाला हो जाऊँगा जो हर तरह से ग़लत है। इसलिये उपदेश दे ही देना चाहिए।

अब इन्द्र का उपदेश सुनाते हैं– 'हे प्रतर्दन! मुझे ही जान लो, यही तुम्हारे लिये सर्वाधिक हित है। सारे संसार का आत्मा अर्थात् स्वरूप तथा सभी बुद्धियों का साक्षी सर्वान्तर अद्वितीय मैं हूँ। आकाश की तरह सभी को मैंने भीतर-बाहर से व्याप्त कर रखा है। सपने में दीखे प्रपंचों की तरह जो स्थूल सूक्ष्म व कारण प्रपंच हैं उनसे मैं वस्तुतः रहित हूँ, इसीलिये इनका आधार हूँ, तुरीय शिव हूँ। देश काल और वस्तु से जिसका निरूपण किया जाता है उस तीनों प्रकार के भेद से मैं

प्रपञ्चस्य यथा रज्जुः सर्पादेरेकमीश्वरम्। प्रतर्दन ! विजानीहि तुभ्यं हिततमं त्विदम्॥१०६॥

हिततमत्वसिद्धिः

न सुखं स्वर्गगं तद्वद् ब्रह्मलोकस्थितं परम्। ससाधनं मनुष्येभ्यः कदाचिद् विद्यते हितम्॥१०७॥

कुतो मनुष्यलोकादौ स्थितं नश्वरमल्पकम्। हितं भवेन्मनुष्येभ्यो वनितादिसमुद्भवम्॥१०८॥

कदलीस्तम्भवत् सर्वो देहः सारविवर्जितः।[1] जलबुद्बुदवच्चापि विनश्यत्येष तत्क्षणात्॥१०९॥

अस्मिन् यत् साधनैः साध्यं सुखं तद् दुःखमेव हि। आनन्दात्मानमेवैकमिन्द्रं मां परिहाय च॥११०॥

ततो हितं जगत्यस्मिन् नास्ति किञ्चित् कदाचन। कुतो हिततरं वा स्याद् आशा हिततमं प्रति॥१११॥

कथम्? यथा रज्जुः सर्पादेः इति। अधिष्ठानस्य च ज्ञानेन कल्पितदाहकत्वं प्रसिद्धम्। अत एकम्। अज्ञाने च ईश्वरम् इति। तुभ्यं मनुष्याय इदम् एव ज्ञानं हिततमम् अतिशयेन हितमिति॥१०६॥

श्रुतिगतैवकारार्थमाह – न सुखमिति। स्वर्गगतं कर्मफलं तथा उपासनफलं, ब्रह्मलोकगतं च सुखं साधनैः सहितं मनुष्येभ्यो हितं न विद्यते बन्धहेतुत्वादिति भावः॥१०७॥

यदानुश्रविकसुखस्य हितत्वं दुर्लभं तदैहिकस्य किमु वक्तव्यमित्याह –कुतइति॥१०८॥

अस्पृष्ट हूँ। स्वगत, सजातीय और विजातीय भेदों के बीज को ही मैं जला डालने वाला हूँ। कार्य-कारण समग्र प्रपंच का मैं नित्य अधिष्ठान हूँ। जैसे सर्पादि का अधिष्ठान रस्सी होती है वैसे भेदप्रपंच का अधिष्ठान मैं हूँ। मैं ही एकमात्र हूँ। अज्ञान के रहते जीव मुझे ही अपना ईश्वर समझता है। ऐसा जो मैं उसे तुम जानो'॥१०३-१०६॥ यहाँ स्पष्ट किया है कि 'मुझे' से इन्द्र क्या कहना चाहते हैं। ब्रह्मसूत्रों में इस विषय पर विस्तार से विचार कर यही निर्णय दिया है कि निर्विशेष प्रत्यक्चैतन्य ही यहाँ 'मैं' का अर्थ है। संसार का आत्मा कहकर आत्मा की जगत्कारणता बतायी जिससे वही अद्वितीय है यह स्पष्ट हो। देशादिनिरूपित त्रिविध भेद से त्रिविध परिच्छेद जानने चाहिये। स्वगतादि भेदों का बीज अज्ञान है। चरमवृत्ति पर आरूढ मैं ही उसे जलाता हूँ। पर-अपर दो ब्रह्म नहीं हैं। अज्ञान-काल में जो अपर है, वस्तुगत्या वही पर है। 'जीव समझता है' से जीवकल्पितता नहीं समझनी चाहिये क्योंकि जीव ही प्रत्यक् चेतन को आकाशादि घटपर्यन्त जगत् भी समझता है। जैसे इसे जीवकल्पित नहीं कहते वैसे वह भी नहीं है। और यदि आवरण वाले जीव से ही सारा भेद कल्पित समझ लें तो ईश्वर को भी वैसा समझने में आपत्ति नहीं। इससे उसके वास्तव स्वरूप का सत्यत्व कहीं नहीं जाता।

श्रुति ने कहा कि यह ही हिततम है अतः अन्य हिततम नहीं यह व्यक्त करते हैं– 'स्वर्गगत सुख तथा ब्रह्मलोक में होने वाला श्रेष्ठ सुख ही जब मनुष्यों के लिये हित नहीं तो उन सुखों के कर्म-उपासनारूप साधन कभी भी हित नहीं हो सकते॥१०७॥ ऐसी स्थिति में मनुष्यलोक आदि में होने वाले स्त्री-आदिजन्य विनाशशील अत्यल्प सुख मनुष्यों के लिये कैसे हित हो सकते हैं? केले के खम्भे की तरह सभी शरीर निःसार हैं और पानी के बुलबुले की तरह क्षणभंगुर हैं। ऐसे शरीर में साधनों से प्राप्य सुख भी दुःख ही है। इसलिये एक आनन्द-आत्मा-रूप मुझ इन्द्र को छोड़कर इस संसार में कुछ कभी भी हित नहीं तो हिततर या हिततम हो इसकी आशा ही कहाँ?'॥१०८-१११॥

यदि जगत् में हित न हो तो श्रुति ने हिततम ऐसा ज्ञान को क्यों कहा? हित और हिततर की अपेक्षा से ही हिततम हो सकता है। उत्तर है कि वास्तविक हितादि न होने पर भी काल्पनिक हितादि हैं जिनकी अपेक्षा श्रुति ने हिततम कहा

---

१. उत्तरक्षणे स्थास्यतीति निश्चयाविषय इत्यर्थः। वार्तिककृतोप्याहुः- 'दुःखाभावः सदेहस्य नैवास्तीति श्रुतेर्वचः। तस्माद् दैवोप्यनर्थः स्याद् देहो नाशाच्च सर्वदा॥' (४.३.८१६ बृ.वा.)॥

तथापि नरदेवादेः सुखं हितमितीरितम्। विरागस्तस्य लोकेऽस्मिन् ज्ञेयो हिततरस्ततः॥११२॥

ऐहिकामुष्मिकसुखयोर्न विशेषः

ब्रह्मलोके तथा स्वर्गे मानुषे वा न विद्यते। विशेषः को हि राजेन्द्र सुखे विषयजे सदा॥११३॥

आहारोऽस्ति हि सर्वत्र विविधः सर्वदेहिनाम्। देहाश्च सेन्द्रियास्तद्वल्ललनाश्च मनोरमाः॥
पारतन्त्र्यं च सर्वत्र विद्यते सर्वदेहिनाम्॥११४॥

ब्रह्मा महेश्वराधीनस्तथाऽहं ब्रह्मणोऽपि च। सुखस्यातिशयो दृष्टः सर्वलोकस्थितस्य हि॥११५॥

श्लोकद्वयोक्तेऽर्थे हेतुमाह – कदलीति द्वाभ्याम्। देह एव निःसारो विनश्वरश्च तदाश्रितसुखस्य भङ्गुरतरस्य शोकहेतुतया दुःखता स्पष्टा। तस्माद् आनन्दात्मैव इन्द्रपदार्थ एको हिततम इति श्लोकद्वयभावः। अस्मिन् शरीरे। परिहाय त्यक्त्वा॥१०९-११०॥ फलितमाह – तत इति। हितम् एव यदा जगति नास्ति तदा हिततरहिततमयोः क्व सद्भावं प्रति आशा? इत्यर्थः॥१११॥

ननु यदि जगति हितं नास्ति तर्हि कथं ज्ञाने हिततममिति तमप्रत्ययप्रयोग इत्याशङ्क्य, यथा कल्पितशरीरत्रयापेक्षया शुद्धं तुरीयमित्युच्यते तथा भ्रमसिद्धहिताद्यपेक्षया–इत्याह – तथापीति। लौकिकराजादिसुखं हितमिति मतम्। ततो विरागः तु हिततरः, ततो हिततमत्वं ज्ञानस्य उपपादयिष्यत इति॥११२॥

ननु तथापि ऐहलौकिकं सुखं हितमस्तु, आमुष्मिकन्तु उत्कृष्टत्वाद् हिततरम्? इत्याशङ्क्य; किं स्वरूपतः सुखस्य विशेषः? किं वा साधनतः? इति विकल्प्य, तत्र नाद्य इत्याह – ब्रह्मलोक इति। ब्रह्मलोकादौ विषयजन्ये सुखे विशेषो नास्ति, अनुकूलत्वादिरूपाऽविशेषादिति शेषः॥११३॥

न द्वितीय इत्याह – आहार इति। सर्वत्र ब्रह्मलोकादौ आहारदेहेन्द्रियाणां ललनादीनां च सत्त्वं मनोरमत्वं चाऽविशिष्टम्। न हि रङ्कः स्वाहारादौ न तुष्यतीति भावः। न च – आमुष्मिकसुखे पारतन्त्र्यं नास्तीति – वाच्यं, राजादिसेवाफलवद् देवाराधनफलस्य पारतन्त्र्यनियमादित्याह – पारतन्त्र्यमिति॥११४॥

कैमुतिकं न्यायं सूचयन् पारतन्त्र्यमुदाहरति – ब्रह्मेति। ब्रह्मा हिरण्यगर्भः। परमेश्वरोऽन्तर्यामी। अहम् इन्द्रः। सातिशयत्वेनाऽपि सर्वलोकसुखस्य साम्यमित्याह – सुखस्येति॥११५॥

है। जैसे काल्पनिक तीन शरीरों की अपेक्षा शुद्ध ब्रह्म को श्रुति ने चौथा कहा है जबकि वास्तव में है वह अद्वितीय ही, ऐसे ही प्रकृत में स्थिति है। इस बात को इन्द्र स्पष्ट करते हैं–'फिर भी लौकिक राजा आदि के सुख को हित कहा गया है और इस संसार में ही रहते राजसुख से वैराग्य होना हिततर कहा गया है। इससे ज्ञान की हिततमता संगत है'॥११२॥

प्रश्न होता है कि इस लोक का सुख हित होवे और उत्कृष्ट होने के कारण परलोक का सुख हिततर होवे, वैराग्य को हिततर क्यों कहा? इसके उत्तर में यह विकल्प उठता है कि इस लोक व परलोक के सुखों में स्वरूपतः ही क्या कोई विशेषता है, या उनके साधनों की विशेषता से सुखों में अन्तर है? दो श्लोकों से दोनों ही बातें नहीं यह बताते हैं– 'हे राजेन्द्र! ब्रह्मलोक, स्वर्ग व मनुष्यलोक में होने वाले सुख में स्वरूपगत कोई अन्तर नहीं। भला, समानरूप से विषयजन्य होने पर सुख में क्या विशेषता होगी?॥११३॥ सर्वत्र सभी देहधारियों के विविध आहार व इन्द्रियों समेत शरीर हैं। सभी को मनोरम स्त्रियों की उपलब्धि हो जाती है। और सब जगह सब जीवों को परतन्त्र ही रहना पड़ता है॥११४॥ ब्रह्मा अर्थात् हिरण्यगर्भ महेश्वर अर्थात् अन्तर्यामी के अधीन हैं और मैं इन्द्र (अर्थात् इन्द्र के कार्यकरण में अभिमानी) ब्रह्मा के भी अधीन हूँ। सभी लोकों में उपलब्ध सुख सातिशय है अर्थात् उससे अधिक भी सुख हुआ ही करता है॥११५॥ चतुर्मुख ब्रह्मा को प्राप्त जो आनन्द अभी हम लोग अधिक समझते हैं वह परब्रह्म के आनन्द का सौवा हिस्सा ही है॥११६॥ चतुर्मुख

परब्रह्मण आनन्दाद् न्यूनोऽसौ शतभागतः। चतुर्मुखस्य यो नाम स्वानन्दोऽस्त्यधिकोऽधुना॥११६॥
चतुर्मुखस्य चानन्दाद् मम न्यूनतमस्तथा। अयुतांशेन चानन्दः कोऽन्यो न्यूनो भवेन्न च॥११७॥
भवतां जायते यद्वल्ललनाऽऽलिङ्गनात् सुखम्। सुखं तद्वन्ममाप्येतद् ब्रह्मणोऽपीश्वरस्य हि॥११८॥

वैराग्यं हिततरम्

मा भूदिदं कदाचिद्धि सुखं दुःखकरं मम। एवंभूतो विरागोऽयं तस्माद्धिततरो मतः॥११९॥
विनश्यति यतः सर्वं सुखजातं यथा घटः। नाशं नैति विरागोऽयं जातः सत्पुरुषस्य हि॥१२०॥
छर्दिते वाथ विष्ठायां दोषधीरेव[१] कारणम्। विरागे तद्वदत्राऽपि दोषधीरेव कारणम्॥१२१॥

सातिशयतामुदाहरति - परेति। यश्चतुर्मुखस्य हिरण्यगर्भस्य आनन्दः प्रसिद्धः स परब्रह्मण आनन्दात् शतांशेन न्यून इति॥११६॥ चतुर्मुखस्येति। मम इन्द्रस्य आनन्दो हिरण्यगर्भानन्दाच्छतांशन्यूनप्रजापत्यानन्दाच्छतांशन्यूनत्वाद् अयुतांशत्वेन न्यूनः। तथा च अन्येषां किमु वाच्यमिति॥११७॥

भवतामिति। भवतां मनुष्याणां यद्वद् यथाविधं ललनालिङ्गनजन्यं सुखं जायते प्रादुर्भवति, तद्वद् मम इन्द्रस्य तथा हिरण्यगर्भेश्वरयोरिति। तथा च वैषयिकसुखे विशेषाभावात् तत्र तरप्प्रत्ययो न प्रयोगमर्हतीति भावः॥११८॥

अथ विरागस्वरूपं दर्शयित्वा तस्य हिततरत्वं प्रतिजानीते - मा भूदिति। इदं विषयजन्यम् अत एव भङ्गुरत्वेन दुःखदं च यत् सुखं तद् मा भूदिति। एवंभूत एवमाकारो विरागः तस्माद् वैषयिकसुखाद् हिततर इति॥११९॥

विरागस्योत्कर्षं विषयसुखादुपपादयति - विनश्यतीति। वैषयिकसुखमौत्सुक्यनिवृत्तिमात्ररूपमिति प्रथमेऽध्याये प्रपञ्चितम्। तथा च तृष्णारूपदुःखाभावत्वेन वैषयिकसुखविरागयोर्हितत्वसाम्येऽपि वैषयिकसुखं जन्मानन्तरमपचीयत एव, विरागसुखन्तु उपचीयत एव, उपचीयमानधनादेरपचीयमानादपकर्षः प्रसिद्ध एवेति भावः। सर्वं विषयेभ्यो जातं यत् सुखं घटवद् विनश्यति अपचीयते। विरागः तु सत्पुरुषस्य मन्दभिन्नस्य जातः सन् नाशं नैति न प्राप्नोति, किन्तु वर्द्धत एवेत्यर्थः॥१२०॥

के आनंद से भी मुझे प्राप्त आनंद दस हजार गुणा कम है क्योंकि ब्रह्मा से सौ गुणा कम प्रजापति का आनंद है और उससे भी सौ गुणा कम मेरा है। अब सोचो और कौन सा आनंद होगा जो ब्रह्मानंद से अवश्य घटकर न हो?॥११७॥ तुम लोगों को जैसा मानुषी स्त्री का आलिंगनादि करने से सुख होता है वैसा ही मुझे, ब्रह्मा को और ईश्वर को भी दिव्य स्त्रियों के आलिंगनादि से सुख होता है'॥११८॥ इन्द्र का अभिप्राय है कि विषय सुख की एक ही जाति है, पारलौकिक सुख को हिततर नहीं कह सकते। ईश्वर भी मायामय विग्रह से विषयसुख का आस्वादन करते हैं।

अब वैराग्य का स्वरूप दिखाकर बताते हैं कि वह हिततर है- 'विषयजन्य होने से जो दुःखप्रद ही है ऐसा सुख मुझे कभी न प्राप्त हो, ऐसा निश्चय वैराग्य है जो वैषयिक सुख से अत्यधिक हित है॥११९॥ विषयजन्य सभी सुख क्योंकि घटादि की तरह सद्यः विनष्ट हो जाते हैं और सज्जन में एक बार समुत्पन्न यह वैराग्य कभी नष्ट होता नहीं इसलिये यह उत्कृष्ट है'॥१२०॥ पूर्वाध्याय में सोदाहरण विस्तार से समझा चुके हैं कि विषय से होने वाला सुख केवल उत्सुकता की निवृत्ति ही है और कुछ नहीं। तृष्णा की दुःखरूपता सर्वानुभवसिद्ध है। अन्तर इतना ही है कि भोगी उस तृष्णा को विषय-भोग से हटाने की कोशिश करता है और योगी उसे विचार से हटाता है या उत्पन्न होने ही नहीं देता। अतः विषयसुख और वैराग्य दोनों में तृष्णा की निवृत्ति है, इतनी समानता होने से दोनों हित कहे जा सकते हैं। लेकिन दोनों में यह भेद है कि वैषयिक सुख जिस क्षण उत्पन्न होता है उसके बाद घटता ही चला जाता है जबकि वैराग्यसुख उत्पन्न होकर बढ़ता

---

१. दुःखमपि दोष एव।

साधनान्तरमत्रातो यद्वद् वैषयिके सुखे। न विद्यते ततोऽप्येष नृभ्यो हिततरो मतः॥१२२॥

अयं मत्तः सुखी नाऽहम् एतद् वः सुखसाधनम्। इति वैषम्यविज्ञानवह्निर्दहति सर्वदा॥१२३॥

जन्तून् जातस्पृहान् सर्वान् ज्ञात्वा वैषयिके सुखे। विरागो नास्त्यसौ यस्मात् तस्माद्धिततरो हि सः॥१२४॥

विशेषान्तरमाह – छर्दित इति द्वाभ्याम्। यथा वान्तान्नादिविषयकविरागे दोषधीमात्रं कारणं तद्वदत्र विषयेभ्यो विरागे। तस्माद् आन्तरसाधनमात्रापेक्षत्वाद् विरागोऽन्तरङ्गो लघुश्च, विषयसुखन्तु बाह्यबहुवित्तव्ययायाससाध्यत्वाद् बहिरङ्गं गुरु चेति स्पष्टो विरागस्योत्कर्ष इति भावः॥१२१॥

साधनान्तरेति। यद्वद् वैषयिके सुखे साधनान्तरं वित्तव्ययादि विद्यते तथा अत्र विरागे अतः दोषधियः सकाशात् साधनान्तरं न विद्यते, ततः अन्तरङ्गत्वाद् लघुत्वाच्च अपिशब्दात् पूर्वश्लोकोक्तोपचीयमानत्वाच्च एष विरागो नृणां हिततर इति॥१२२॥

किं च विषयसुखसहस्रैरनाश्यस्य दैन्यस्य नाशकत्वात् स्पष्टो विरागस्योत्कर्ष इत्याह – अयमिति द्वाभ्याम्। अयं मत्सजातीयादिः मत्तः मदपेक्षया सुखी, अहं तु न भवामि; एतद् धनपशुप्रभृति सुखसाधनं वः युष्माकमेव वर्तते न मम; इति इत्याकारं वैषम्यरूपविज्ञानमेव वह्निः सर्वान् जन्तून् दहति इत्युत्तरेणान्वयः॥१२३॥

जन्तूनिति। कीदृशान् जन्तून्? वैषयिके सुखे जातस्पृहान्। अयं दैन्यवह्नेरुपद्रवो लोकानां कुतो हेतोः? यस्माज्ज्ञात्वा विषयदोषांस्तेभ्यो विरागो नास्ति तस्माद् असंनिधानसंनिधानयोरनर्थतदभावप्रयोजकत्वात् स विरागो हिततर इति सिद्धम्॥१२४॥

ही चला जाता है। जैसे बढ़ता धन घटते धन से बेहतर माना जाता है वैसे वैराग्यसुख भी विषयसुख से हिततर माना जाता है।

इन्द्र अन्य भी विशेषता वैराग्य की बताते हैं–'उल्टी किये अन्नादि में या मल में हमें राग नहीं होता, इसमें यही कारण है कि हमें उन चीजों में दोष है ऐसा निश्चय है। इसी तरह सभी विषयों के प्रति वैराग्य होने में यही कारण होता है कि यह निश्चय हो जाये कि विषय व इनके सुख सभी दोष वाले हैं॥१२१॥ जैसे वैषयिक सुख के लिये धन आदि अन्यान्य साधन चाहिये वैसे वैराग्य के लिये दोषनिश्चय से अतिरिक्त कोई साधन नहीं चाहिये। इस कारण से भी लोगों के लिये इसे हिततर माना गया है'॥१२२॥ वैराग्य विचारमात्र की अपेक्षा रखता है और विचार करने में हम स्वतन्त्र हैं अतः इसे चाहे जितना बढ़ा सकते हैं। बाह्यसुखों में हम विषयाधीन हैं और विषयों पर हमारा निरवधि नियन्त्रण संभव नहीं इसलिये वैराग्य सुख की श्रेष्ठता है। आलसी तृष्णा से पीडित रहता है, वह तामस सुख भले ही लेवे, तृष्णाराहित्य का हितरूप सुख भी उसे प्राप्त नहीं तो हिततर की संभावना कहाँ? इच्छित विषयों की संख्या या मूल्य का तारतम्य उनसे होने वाले या उनके प्रति वैराग्य से होने वाले सुख में कोई विशेष नहीं लाता यह इन्द्र ने मानुष तथा दैव सुख की समानता दिखाकर व्यक्त कर दिया है। अतः विषयविशेष का अज्ञान अधिक सुख नहीं दे सकता। और न ही उसे जानते हुए उससे वैराग्य अधिक सुख देगा। इसलिये अधिक विषयों की जानकारी न होने से सुखी बने रहेंगे ऐसा नहीं। यदि उनकी जानकारी उनके प्रति इच्छा उत्पन्न करे तो दुःख बढ़ेगा और यदि इच्छा न उत्पन्न करे तो नहीं बढ़ेगा। दुःखवृद्धि का इच्छावृद्धि से समानुपात है, विषय या विषयज्ञान से नहीं। एवं च लौकिक अभ्युदय वैराग्य से क्षीण नहीं होता। अभ्युदय से हो सकने वाला दुःख अवश्य ही वैराग्य के रहते हो नहीं पाता।

किं च, विषय-सुख चाहे जितना हो, दीनता को नहीं हटा सकता, 'बहुत है' ऐसा कभी निश्चय नहीं करा सकता। 'और होवे तो अच्छा है' यही तो दीनता है! वैराग्य इस दीनता का निवारक होने से स्पष्ट ही हिततर है यह कहते हैं – 'वैषयिक सुख चाहने वाले जन्तु जिन्होंने विषयदोषों को जानकर विषयों से वैराग्य नहीं कर लिया, हमेशा इस विषमता

आत्मज्ञानं हिततमम्

अस्माद्धिततमं ज्ञेयं ज्ञानं मे सविशेषणम्। उत्पन्नं न विनश्येद् यद् वासनाशतकोटिभिः॥
आनन्दात्माऽहमस्मीति स्वात्मन्यज्ञाननाशनम्॥१२५॥

विरागो दुःखसन्त्यागे हेतुर्भवति नैव हि। सुखबोध इदन्त्वत्र तस्माद्धिततमं स्मृतम्॥
मज्ज्ञानादपरं तस्माद् मन्ये हिततमं न हि॥१२६॥

मज्ज्ञानतो न पापानि स्पृशन्तीह कदाचन। भृशं यानि प्रसिद्धानि ब्रह्महत्यादिकानि च॥
अनेकदुःखकर्तॄणि देहिनां कल्पकोटिषु॥१२७॥

अथ ततोऽप्युत्कृष्टत्वाद् आत्मज्ञानस्य हिततमत्वमाह – अस्मादिति त्रिभिः। अस्माद् विरागात् सविशेषणं विशेषणैरद्वितीयत्वादिभिः सहितं, तदवगाहीति यावत्। विरागस्य मूलाज्ञानानुच्छेदकत्वाद्[1] भ्रमसंस्कारेभ्यो भयं न निवर्तते, तत्त्वज्ञाने तु संस्कारैर्जनितोऽपि भ्रमोऽकिञ्चित्कर इति स्पष्टो विशेष इत्याह – उत्पन्नमिति। यद् मम ज्ञानमुत्पन्नं सद् अनेकवासनाभिः कार्यद्वाराऽपि न नाशयितुं शक्यमित्यर्थः। आकारतोऽनर्थमूलोच्छेदकत्वाच्च ज्ञानस्योत्कर्षमाह – आनन्दात्मेति॥१२५॥

अन्तरङ्गतयाप्युत्कर्षं विरागाज्ज्ञानस्य दर्शयति – विराग इति। स्वरूपानन्दभानप्रतिबन्धकदुःखनिवर्तने विरागो हेतुर्भवति, नैव साक्षात् सुखभाने; इदं ज्ञानं तु अत्र सुखसाक्षात्कारे। तस्मात् साक्षाद्दुपकारकत्वाज्ज्ञानं हिततमम् इति फलितमाह – मज्ज्ञानादिति॥१२६॥

के अनुभवरूप आग से जलते रहते हैं कि अमुक व्यक्ति मुझसे अधिक सुखी है, मैं उतना सुखी नहीं; सुख के अमुक साधन आप ही लोगों के पास हैं। मेरे पास नहीं; इत्यादि। इसलिये जिसके न होने पर दुःख होता है व होने पर दुःख कभी नहीं होता बल्कि सन्तोषसुख ही होता है वह वैराग्य हिततर ही है॥१२३-१२४॥

वैराग्य से भी अधिक उत्कृष्ट होने से आत्मज्ञान हिततम है यह कहते हैं–'मेरी अद्वितीयतादि का ज्ञान वैराग्य से भी अधिक हित है यह जानना चाहिये। यह साक्षात्कार उत्पन्न हो जाये तो अनंत वासनायें भी इसे हटा नहीं सकती। 'मैं आनन्दरूप व्यापक सत्य हूँ' यह अपरोक्ष अपने में स्थित अज्ञान का सर्वथा निवारण कर देता है'॥१२५॥ वैराग्य अकेला ही तो मूलाज्ञान का नाशक है नहीं। अतः संसाररूप भ्रम के संस्कारों के रहते वैराग्य चाहे जितना हो, भय का समापन हो नहीं सकता। उसके लिये तो द्वितीयमात्र के न होने का निश्चय चाहिये जो केवल आत्मज्ञान ही है। उसके होने पर संस्कार ही नहीं अनुभव भी भयादि दुःख नहीं दे सकते। सर्प को मिथ्या जान चुके व्यक्ति को यदि सादृश्यातिशयादिवशात् साँप दीखे तो भी भयजनक नहीं होता। इसलिये वैराग्य से ज्ञान हिततम है। किं च वैराग्य से तृष्णादुःख के अभाव वाला सहज सुख ही प्राप्त होता है, सुख का असीम उत्कर्ष व्यक्त नहीं होता जबकि तत्त्वानुभव से अपनी निरतिशय आनन्दरूपता प्रकाशने लगती है। इससे भी ज्ञान का हिततमत्व स्पष्ट है। इस प्रकार राग, वैराग्य और बाध का विषय हुआ प्रपंच ही हित, हिततर व हिततम है। आत्मस्वरूप तो हित-अहितादि विकल्पों से अस्पृष्ट है।

सुखोद्रेक के प्रौढ प्रकाश रूप ज्ञान का स्वस्थतामात्ररूप वैराग्यसुख से उत्कर्ष स्पष्ट करते हैं– 'वैराग्य सिर्फ दुःखनिवृत्ति का कारण है, सुखबोध का नहीं, जबकि ज्ञान तो सुखसाक्षात्कार का कारण है। इसलिये यह हिततम माना गया है। अतः मेरे स्वरूप के ज्ञान से भिन्न कुछ हिततम है ऐसा मैं नहीं समझता'॥१२६॥ हम स्वयं को प्रिय हैं अतः हम सुख रूप हैं क्योंकि बिना कारण केवल सुख ही प्रिय होता है। इस स्वरूपभूत सुख का प्रतिबंध करती है तृष्णा। उसे हटाने

---

१. न उच्छेदकोऽनुच्छेदकः।

ज्ञानस्य सर्वपापनिवर्तकत्वम्

स्तुतिमात्रं न चैतत् त्वं मन्येथा बोधनस्य हि। बोधप्रसादात् पापानि मम कान्यपि नाऽभवन्॥१२८॥

शृणु लोकत्रयीराज्ये स्थितोऽहं रक्षणाय हि। स्वस्य तद्वत् त्रिलोक्याश्च पापान्यकरवं तथा॥१२९॥

'त्रिशीर्षाणम्' (कौ.२.१) इत्यादि[1] व्याचष्टे - मज्ज्ञानत इत्यादिना॥१२७॥

स्तुतिमात्रमिति। एतत् **सर्वपापनिवर्तकत्वाभिधानं** स्तुतिमात्रम् **अर्थवादमात्रं, बाधितार्थमिति यावत्, न मन्येथा न जानीहि। किन्तु? तथ्यमेव जानीहि।** तत्र हेतुं 'मया ज्ञानानन्तरं पापनिवृत्तिफलस्य अनुभूतत्वाद्' इत्याह - बोधेति। **बोधस्य प्रसादाद् अनुग्रहात् प्रभावादिति यावत्॥१२८॥**

शृण्विति। शृणु एतद् विस्तरेणेति शेषः। अहं त्रिलोकीराज्ये स्थितः **सन् स्वस्य आत्मनो** रक्षणाय **तथा त्रिलोकीरक्षणाय** बहूनि पापानि अकरवं **कृतवानस्मीत्यर्थः। तथाऽपि मे रोमाऽपि न च्छिन्नम् इति[2] वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः॥१२९॥**

वाला है वैराग्य। सुख का स्फुट भान वह कराता नहीं। आत्मसाक्षात्कार से आत्मस्वरूपभूत सुख का स्फुट भान होता है अतः वह वैराग्य से भी अधिक हित है। इस प्रकार सोपपत्ति अपनी प्रतिज्ञा का इन्द्र ने निगमन किया।

शंका होती है कि आपके ज्ञान से आपमें या और भी किसी में कोई विशेषता आयी हो तब तो ज्ञान की हिततमता समझ आये, अन्यथा कैसे मानें? इसके निवारणार्थ इन्द्र बताते हैं कि यह ज्ञान बड़े-बड़े पापों का भी उन्मूलन कर देता है। वे बताते हैं कि त्वष्टा के पुत्र तीन सिरों वाले विश्वरूप को मार डालने पर भी उनकी (इन्द्र की) कोई हानि न हुई। यह तत्त्वनिष्ठा से उनमें आयी विशेषता ही तो है। यज्ञांगभूत सोमपान क्षत्रिय के लिये वर्जित है। वटवृक्ष के खम्भों को, गूलर के, पीपल के व पाकर के फलों को लेकर इकट्ठे उन्हें निचोड़ने से जो रस निकले उसका पान क्षत्रिय करे यह विधान है। इसका अर्थवाद ऐतरेय ब्राह्मण में (७.५.२) आया है। वहाँ बताया है कि पाँच अपराधों के कारण देवताओं ने इन्द्र को यज्ञ से परिवर्जित कर दिया जिससे वे सोमपान से वियुक्त हो गये। वे अपराध थे१) त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप नामक ब्राह्मण को मारना;२) त्वष्टा से उत्पन्न वृत्र नामक ब्राह्मण को मारना;३) साधुवेषधारी लोगों को मारकर अरण्यचारी कुत्तों को खिला देना;४) अरुर्मघ कहाने वाले ब्राह्मणवेषधारियों का वध करना और ५) बृहस्पति की बात काट देना। इन्द्र के बहिष्कार से समूची क्षत्रिय जाति भी सोमपान से वियुक्त हो गयी। किन्तु इन्द्र ने बलात् त्वष्टा के हिस्से का सोम पी लिया। फिर भी अन्य क्षत्रियों में इन्द्रतुल्य सामर्थ्य है नहीं इसलिये वे सोमपान से वंचित ही हैं। इस श्रौतप्रसंग का स्मरण कर इन्द्र अपना बलातिशय इस कौषीतकी उपनिषत् में विस्तार से बताने जा रहे हैं

आगे कहे जाने वाले किस्सों से वस्तुतः क्या सिद्ध करना है इसकी पहले प्रतिज्ञा करते हैं और किस्से सच्चा इतिहास हैं केवल गप्प नहीं यह घोषणा करते हैं- 'देहधारियों को करोड़ों कल्पों तक दुःख देने वाले जो संसार में व शास्त्रों में ब्राह्मणवध आदि घोर पाप प्रसिद्ध हैं वे भी मेरा ज्ञान हो जाने से कभी स्पर्श तक नहीं कर पाते॥१२७। इस बात को तुम केवल ज्ञान की स्तुतिमात्र मत मानना। आत्मज्ञान के अनुग्रह से मुझ पर किसी भी पाप का प्रभाव नहीं हुआ'॥१२८॥ पाप चाहे ज्ञान से पूर्व किये हों या पश्चात्, ज्ञाननिष्ठा के बाद कभी कोई पापफल नहीं भोगना पड़ता यह तथ्य है। ब्रह्मसूत्रों में भी यही निर्णय किया है। इन्द्र अपने अनुभव से कह रहे हैं अतः अश्रद्धा का कोई हेतु नहीं।

'त्रिलोकी के राजा रूप से स्थित मैंने अपनी और तीनों लोकों की रक्षा के लिये बहुत पाप किये पर मेरा बाल भी बाँका नहीं हुआ। यह प्रसंग विस्तार से सुनो'॥१२९॥

विश्वरूप के वध वाला किस्सा पहले सुनाते हैं-'किसी समय की बात है, हम देवताओं का पुरोहित था विश्वरूप।

---

१. 'त्वाष्ट्रमहनम्' इति आदिशब्दार्थः। २. द्र. श्लो. २१७।

त्वाष्ट्रवधाख्यानम्

अभूत् पुरोहितोऽस्माकं कदाचिद् वेदवित्तमः। विश्वरूप इति ख्यातः त्वष्टुः स तनयो महान्॥१३०॥
दैत्यानां भगिनीगर्भादुत्पन्नो भुवि कुत्रचित्। त्रीणि शीर्षाणि तस्याऽऽसन् गुणत्रयविभाञ्जि च॥१३१॥
सात्त्विकेन पिबत्येष सोमं देवाननुव्रतः। तामसेन तथैवाऽयं सुरां दैत्यानुगोऽपिबत्॥
राजसेन तथैवात्ति त्वन्नं यद्वद्धि भूगतः॥१३२॥
ऋत्विग् भूत्वा कदाचित् स कस्मिंश्चिद् वितते सति। यज्ञे भागान् हि देवेभ्यः स्पष्टमेव प्रयच्छति॥
असुरेभ्यः शनैः स्वस्य मातृपक्षेभ्य एव च॥१३३॥
प्रत्यक्ष एव सर्वेषां भागिनां भाग आपतेत्। ग्रामादौ बाधकस्यात्र परोक्षं यात्यभागिनः॥१३४॥
परोक्षं दीयमाने हि शनैर्बलमुपागतः। ग्रामाद्यपहरेच्चैतान् पतीन् हन्यादभागभाक्॥१३५॥

तत्र त्वाष्ट्रं वधं प्रपञ्चयति- अभूदित्यादिना। त्वष्टुः देवविशेषस्य॥१३०॥

दैत्यानामिति। पुनः कीदृशः? कुत्रचिद् भुवि कस्मिंश्चित् स्थाने दैत्यभगिनीगर्भाद् उत्पन्नः; '**भूः पृथिव्यां स्थानमात्र**' इति विश्वः। तस्य विश्वरूपस्य गुणत्रयं गुणत्रयस्वभावं विशेषेण पृथक्-पृथक् भजन्तीति तानि तथा॥१३१॥ **तुर्यपादार्थं स्फुटयति-** सात्त्विकेनेति। सात्त्विकेन शीर्षेण एष विश्ववरूपः सोमं पिबति। कीदृशः? देवाननुव्रतः अनुगतः, नित्यसापेक्षत्वाद् एकदेशान्वयाद् द्वितीया। भूगतः मनुष्यः॥१३२॥

ऋत्विगिति। स विश्वरूपः ऋत्विग् याजको भूत्वा कस्मिंश्चिद् यज्ञे वितते सति देवेभ्यः स्पष्टम् उच्चस्वरेण, असुरेभ्यः तु शनैः मन्दस्वरेण भागान् प्रयच्छति ददाति, तेषां मातृपक्षत्वादिति॥१३३॥

ननु असुरेभ्योऽपि प्रत्यक्षमेव कुतो न ददाति? इत्याशङ्क्य; भागानर्हेभ्यो दानमेवमेव इष्टं लोकेऽपीत्याह - प्रत्यक्ष एवेति। प्रशस्तः स्वामित्वादिना न्याय्यो भागो येषान्ते भागिनः राजभूस्वामिप्रभृतयः, तद्भिन्नाः स्वामित्वाद् अवरोपिता लुण्ठनाद्युपजीविनः अभागिनः, ग्रामादौ आदिपदेन देशादिग्रहः, तथा च ग्रामादौ यो भागिनां भागः स सर्वेषां प्रत्यक्ष एव आपतेद् आगच्छेद्। अभागिनः प्रति तु यदि भागो याति तर्हि बाधकस्य दण्डयितृराजादेः परोक्षम् एव अज्ञातमेव यथा भवति तथा यातीत्यन्वयः॥१३४॥ तादृशं दानं च स्वामिनोऽनर्थकरमित्याह - परोक्षमिति। एवं परोक्षं प्रच्छन्नं यथा भवति तथा भागे दीयमाने सति अभागभाक् भागाऽयोग्यः शत्रुः शनैः क्रमेण बलं सामर्थ्यं प्राप्तः सन् पतीन् ग्रामादिस्वामिनः हन्याद् ग्रामादिकं च हरेद् इत्येतादृशोऽनर्थो भवतीति भावः॥१३५॥

वह त्वष्टा का महान् पुत्र था व स्वयं वेद का उत्तम जानकार था॥१३०॥ किसी जगह वह दैत्यों की बहन के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। सत्त्वादि तीन गुणों के पृथक्-पृथक् अभिव्यंजक बनने वाले तीन सिर उसके शरीर पर थे॥१३१॥ देवताओं का अनुसरण करते हुए वह सात्त्विक सिर से सोमरस पीता था। दैत्यों का अनुसरण करते हुए तामस सिर से वह सुरा पीता था तथा मनुष्य की तरह राजस सिर से अन्न खाता था॥१३२॥ किसी समय कोई यज्ञ विस्तृत रूप से चल रहा था। उसमें वह ऋत्विक् (पुरोहित) बनकर स्पष्ट स्वर से उच्चारण कर तो देवताओं के लिये यज्ञभाग प्रदान करता था और मन्द स्वर से अपने मातृपक्ष वाले असुरों के लिये भी यज्ञभाग प्रदान कर देता था॥१३३॥ लोक में भी यही देखा जाता है कि जो भाग पाने योग्य होते हैं उन्हे खुले आम भाग समर्पित किया जाता है लेकिन गाँव आदि में जिन्हे भाग पाने के अयोग्य करार कर रखा हो उन्हे यदि भाग दिया जाता है तो जो दण्ड दे सकते हैं ऐसे राजा आदि से छिपाकर ही दिया जाता है॥१३४॥ भाग के आयोग्य व्यक्ति इस प्रकार छिपा कर भाग दिये जाने पर धीरे-धीरे बल एकत्र कर लेता है और ग्रामस्वामी आदि को मार कर ग्रामादि का अपहरण कर लेता है॥१३५॥ यह विचार मुझे तब आया जब मैंने देखा कि विश्वरूप प्रत्यक्ष तो

इति संचिन्त्य दृष्ट्वाऽहं तस्य दानक्रियामिमाम्। प्रत्यक्षं च परोक्षं च देवानां तद्द्रुहामपि॥
इमां धियमनुप्राप्तो विश्वरूपे पुरोहिते॥१३६॥

राज्ञामेतादृशो नूनं घातं कुर्यात् पुरोहितः। राष्ट्रस्य च दुरात्माऽयं वधमेव समर्हति॥१३७॥

अहं विश्वासमापन्नो निहतोऽस्म्यधुनाऽमुना। रिपुभ्यो मे ददात्येष यज्ञभागान्यतः शनैः॥१३८॥

यो यस्यान्नं समश्नाति स तस्यात्मा प्रकीर्तितः। आत्मने द्रुह्यति ह्येष पापोऽस्मात् कतमः स्मृतः॥१३९॥

तस्मादेनं दुराचारं मद्घाताय समुद्यतम्। अपि वेदविदं विप्रं निहन्मि स्वपुरोहितम्॥१४०॥

इति बुद्धिमिमां प्राप्तो वज्रेण शतपर्वणा। शिरांस्यच्छिनदं तस्य सर्वाणि सुरसंसदि॥१४१॥

यतिहत्याप्रसङ्गः

वर्णाश्रमाचाररतानुत्तमाश्रमिणस्तथा। आत्माऽस्माकमयं शक्र इति ज्ञानविवर्जितान्॥१४२॥

इति संचिन्त्येति। इति श्लोकद्वयेनोक्तमर्थं सञ्चिन्त्य तस्य विश्वरूपस्य कर्तुः देवानां तद्द्रुहाम् असुराणां च प्रत्यक्षपरोक्षरूपेण सम्बन्धिनीं दानक्रियां दृष्ट्वा च विश्वरूपे पुरोहित इमां श्लोकचतुष्टयेन वक्ष्यमाणां धियमनुप्राप्तः अभूवमिति शेषः। अत्र दर्शनचिन्तनयोः अर्थवशात् पौर्वापर्यं बोध्यम्॥१३६॥

तां बुद्धिमभिनयति – राज्ञामिति। एतादृशः परहितैषी पुरोहितः राज्ञां राष्ट्रस्य च घातं कुर्यात्। तस्माद् अयं दुरात्मा वधमेव समर्हतीति॥१३७॥

दुरात्मतां स्फुटयति – अहमिति। निहतो घातमिव नीतः। तत्र हेतुः – रिपुभ्य इति॥१३८॥

इतश्च दुरात्मायमित्याह – यो यस्येति। सः अन्नदाता तस्य अन्नभोक्तुः आत्मा शरीरमिव मतः। एष विश्वरूपो मह्यं यजमानाय द्रुह्यन् आत्मने द्रुह्यति। अस्माद् आत्मद्रोहिणोऽपरः कः पापवान् मतः॥१३९॥

फलितमाह – तस्मादिति। अपि-पदस्य वेदविदम् इत्यादिभिस्त्रिभिर्द्वितीयान्तैः सम्बन्धः॥१४०॥ इति बुद्धिमिति। इति चतुर्भिरुक्ताम्। शतं पर्वाणि धारारूपाणि यस्य तत् तथा तेन अच्छिनदं छिन्नवानस्मि; तस्य विश्वरूपस्य; सुरसंसदि देवसभायाम्॥१४१॥

देवताओं के लिये भाग दे रहा है और साथ ही छिपकर देवताओं के द्रोही दैत्यों को दे रहा है। उस परिस्थिति में पुरोहित विश्वरूप के बारे में मैंने यह निर्णय किया:॥१३६॥

इस प्रकार विरोधी का हितचिंतक पुरोहित निश्चय ही राजा व राष्ट्र की हानि करेगा अतः दुष्टबुद्धि यह त्वाष्ट्र वध के ही योग्य है॥१३७॥ मैं तो इस पर विश्वास करता था किन्तु इसने विश्वासघात किया मानो मैं इसके द्वारा मार ही डाला गया, क्योंकि यह शत्रुओं को गुप-चुप यज्ञभाग दे रहा है॥१३८॥ जो जिसका अन्न खाता है उस अन्नभोक्ता का वह अन्नदाता शरीर की तरह ही माना गया है। अतः मुझ यजमान का द्रोह करने से यह पुरोहित अपना ही द्रोह कर रहा है। आत्मद्रोह से अधिक घोर कौन-सा पाप होगा?॥१३९॥ इसलिये भले ही यह मेरा पुरोहित हो, वेदवेत्ता ब्राह्मण हो, क्योंकि मेरा ही घात करने पर तुला हुआ है अतः इस दुराचारी को मार ही डालता हूँ॥१४०॥

ऐसा निश्चय कर देवसभा में ही मैंने उसके सभी सिर अपने सौ धारों वाले वज्र से काट डाले॥१४१॥' इस प्रकार विश्वरूप ब्राह्मण का वध इन्द्र ने किया पर आत्मज्ञान के प्रताप से उन्हे कोई पाप नहीं लगा।

दूसरा किस्सा उपनिषद् ने बताया है कि 'अरुन्मुख' यतियों को मारकर कुत्तों को इन्द्र ने खिला दिया था। यह बात भी पूर्वोक्त ऐतरेय ब्राह्मण में आयी ही है। तैत्तिरीय संहिता (६.२.७.५) में भी कहा है 'इन्द्रो यतीन् सालावृकेभ्यः

कदाचिदहमापृच्छं मिलितान् कोटिशः क्वचित्। के भवन्त इमे सर्व इत्युक्ते मामथाऽवदन्॥१४३॥

वर्णाश्रमाचाररताः सर्वे हि यतयो वयम्। इत्युक्त्वा मुनयोप्येते मामूचुर्दैवमोहिताः॥१४४॥

कस्त्वमत्र यतीनस्मान् प्रष्टुं सर्वान् समागतः। इत्यधिक्षेपसदृशं वाक्यं तेषामहं तदा॥
श्रुत्वाऽपि कृपयाऽऽविष्ट इदं तानब्रुवं[1] यतीन्॥१४५॥

अहं हि भवतामात्मा त्विन्द्र इत्येव विश्रुतः। इत्युक्ते जहसुः सर्वे मूर्खाः पण्डितमानिनः॥१४६॥

अथ रुद् वेदान्तवाक्यं नास्ति मुखे येषां तादृशान् यतीन् वनश्वभ्यो दत्तवानस्मि- इत्यर्थकम् 'अरुन्मुखान्' (कौ.३.१) इत्यादि वाक्यमुपबृंहयति - वर्णेत्यादिना 'अन्येऽपि वेदविद्वांसः' (२.२१४) इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। वर्णाश्रमयोराचारे रतांस्तत्परान्; एतेन पारमहंस्यालाभः सूचितः; उत्तमोऽन्त्य आश्रमो येषां ते तथा तान्, यद्वा उत्तमाश्च त आश्रमिण इति। विशिष्टविशेषणस्य उत्तमत्वस्य 'सविशेषणे हि' इति न्यायेन[2] आश्रमे पर्यवसानम्। अयं शक्र इन्द्रः कूर्चब्राह्मणाद्युक्तरीत्या अस्माकं यतीनाम् आत्मा एव इत्याकारज्ञानहीनान्॥१४२॥

कदाचिदिति। कदाचित् क्वचिद् देशे कोटिशो मिलितान् तादृशान् यतीन् अहम् इन्द्रः अपृच्छं पृष्टवानस्मि। तदा इमे सर्वे 'भवन्तः के भवन्ति?' इति मया उक्ते सति अथ ते यतयः माम् प्रति वक्ष्यमाणं वचः अवदन्॥१४३॥

तद्वाक्यमाह - वर्णाश्रमेति। ऊचुः वक्ष्यमाणवाक्येन पृष्टवन्तः। दैवं फलाभिमुखं कर्म॥१४४॥

कस्त्वमिति। अधिक्षेपोऽनादरोक्तिः। कृपया 'कथंचिद् बोधिता भवन्तु' इत्याकारया आविष्टः व्याप्तोऽहम् इदं वक्ष्यमाणं वचः॥१४५॥ अहं हीति। अहं हि भवतां यतीनां विश्रुतः श्रुतौ प्रसिद्ध इति उक्तं मयेति शेषः। मूर्खाः कर्ममीमांसाया अपि तात्पर्यानभिज्ञत्वात्। कर्मानुष्ठानकाले कर्मैव सद्गुणं सत् फलं दास्यति, न तु देवतासंभावनया कर्मवैगुण्यं विधेयम्-इत्यभिप्रायेण हि देवताविग्रहादिकं 'फलदेवतयोश्च' (पू.मी.९.१.४) इत्यधिकरणे निराकृतम्; वस्तुतस्तु वार्तिककारादिभिः 'विशुद्धज्ञानदेहाय' (श्लो.वा.१.१) इत्यादिमंगलाचरणाद्, 'इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्माऽस्तितां शास्त्रकृदत्र युक्त्या। दृढत्वमेतद्विषयः प्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन'॥ (आत्मवाद.१४८) इत्याद्यभिधानाच्च देवताविग्रहादिकं वेदान्तप्रामाण्यं च तेषामभिप्रेतमेवेत्यलम्॥१४६॥

प्रायच्छत्'। ताण्ड्य ब्राह्मण में भी दो स्थानों पर इसका उल्लेख है। आचार्य सायण ने यज्ञविरोधी व वेदविरुद्ध नियमों वाले यतियों को मारा ऐसा बताया है। यह भी उन्ही ने सूचित किया है कि असुर ही यतिवेषधारी थे जिन्हे इन्द्र ने मारा। यद्यपि यों वह हत्या दोषावह नहीं समझ आती तथापि भेष का आदर तो करना ही चाहिये इस नियम का विरोधरूप दोष समझ आता ही है। शंकरानन्द स्वामी ने उपनिषद्दीपिका में 'रुत्' का अर्थ किया है ब्रह्ममीमांसा। वह जिनके मुँह पर नहीं रहती वे अरुन्मुख हैं। अब काफी विस्तार से इस घटना का इन्द्र वर्णन करते हैं- 'एक समय की बात है कि कहीं पर मुझे करोड़ों ऐसे संन्यासी मिले जो वर्ण व आश्रम के लिये विहित आचारों में ही लगे रहते थे, कूर्च ब्राह्मण (बृ.४.२) आदि में बताये ढंग से 'यह इन्द्र ही हमारा आत्मा है' इस तत्त्वज्ञान से सर्वथा अपरिचित थे। उनसे मैंने पूछा, 'आप सब कौन हैं?' इसके उत्तर में उन्होंने मुझे कहा:॥१४२-१४३॥

'वर्ण तथा आश्रम के लिये उचित आचार में लगे रहने वाले हम सब संन्यासी हैं।' उनका कोई दुरदृष्ट फलोन्मुखी रहा, अतः इतना ही कहकर चुप नहीं हुए बल्कि वे मुनि लोग मुझसे पूछने लगे-॥१४४॥

'यहाँ आकर हम सब यतियों के बारे में पूछने वाले तुम होते कौन हो?' इस प्रकार अनादर-जैसा करने वाली

---

१. अब्रवमिति स्याद्। २. सविशेषणे हि वर्तमानौ विधिनिषेधौ सति विशेषबाधे विशेषणमुपसंक्रामत इति न्यायः। प्रकृते यतीनामुत्तमत्वस्य बाधो यस्मात्कर्मपरा मूर्खा इत्युक्तम्, अत उत्तमत्वमाश्रममेव विषयीकुर्यादित्यर्थः। न्याये विशेषबाध इति विशेष्यबाध इत्यर्थः।

यतीनां मुग्धवचांसि

साधिक्षेपं च मां सर्व ऊचुस्ते दैवमोहिताः। त्वं हि विग्रहवानत्र कथमिन्द्रो भविष्यसि॥१४७॥

देवताविग्रहादिनिषेधः

इन्द्रो नामेन्द्रशब्दार्थौ हित्वा नान्योऽस्ति कश्चन। इन्द्रोऽतिथिसमो नैव यागे नो दृष्टिमागतः॥१४८॥

देवतायै हविस्त्यक्तं नात्ति साऽतिथिवत् क्वचित्। नैषा मधुकरीवात्ति सारमन्नस्य कर्हिचित्॥
मोदका हि गणेशस्य जहुर्दत्ता न सारताम्॥१४९॥

साधिक्षेपमिति। साधिक्षेपं यथा भवति तथा मां प्रति ते सर्वे यतय ऊचुः देवतादिनिराकरणवाक्यं वेदान्तविरुद्धमुक्तवन्तः। तद्वाक्यमभिनयति – त्वं हीत्यादिना। विग्रहवत्त्वात् कथं तवेन्द्रत्वमित्यर्थः॥१४७॥

ननु का मम इन्द्रत्वेऽनुपपत्तिः? अत आह – इन्द्रो नामेति। इन्द्र इत्याकारकं शब्दं तदर्थं च हित्वा अन्यः कश्चन इन्द्रो नास्ति। तत्राद्ये कथं तवाऽर्थरूपस्य इन्द्रत्वम्? द्वितीयेऽपि किमिन्द्रपदार्थो विग्रहादिमान् देवताविशेषः, किं वा त्वयोक्तोऽस्मदादीनां सर्वेषामात्मेत्येवंरूपः? तत्र नाद्य इत्याहुः – इन्द्रोऽतिथिसम इत्यादिना। 'विग्रहो हविषां भोग ऐश्वर्यं च प्रसन्नता। फलप्रदानमित्येतत् पञ्चकं विग्रहादिकम्॥' इत्युक्तविग्रहादिषु प्रथमेन विग्रहेण युता यदि देवता स्यात् तर्हि इन्द्रो देवताऽतिथिवद् यागे समागता दृश्येत, नैव तु दृश्यते; तस्मादनुपलब्धिबाधितं देवताविशेषणं विग्रह इति॥१४८॥

हविषां भोगं निराचक्षते – देवताया इति। देवतायै त्यक्तं हविः सा देवता अतिथिवद् न अत्ति न भुङ्क्ते। ननु भोजनाभावेऽपि सारमादत्ते? इत्याशङ्क्य; अत्रापि अनुपलब्धिविरोधं दृष्टान्तेनाहुः – नैषेति। एषा देवता भ्रमरीव अन्नस्य निवेदितस्य सारं न आदत्ते, यतो गणेशाय दत्ता मोदकाः सारतां न जहुः न त्यक्तवन्तः, तथा च व्यभिचारः स्पष्ट इति भावः॥१४९॥

उनकी बात सुनकर भी मैंने क्रोध नहीं किया बल्कि 'किसी तरह ये वास्तविकता समझ लें' ऐसी कोमल भावना से मैं उन महात्माओं से बोला॥१४५॥ 'आप सब का आत्मा मैं ही तो हूँ, मुझे ही श्रुतियों में इन्द्र कहा गया है।'

स्वयं को पण्डित मानने वाले वे मूर्ख मेरी बात सुनकर हँसने लगे'॥१४६॥ इन्द्र उन्हे मूर्ख इसलिये कह रहा है कि वे कर्ममीमांसा के भी तात्पर्य को सही समझ नहीं पाये थे। जैमिनि ने देवताओं के शरीर, हविर्भक्षण, ऐश्वर्य, कृपा, आदि का निषेध इस दृष्टि से किया है कि कहीं देवकृपा के भरोसे हम कर्म में प्रमादादि न करने लग जायें। अतः उन्होंने कहा कि अंगोपांगों से युक्त कर्म ही फल देता है, देवतादि नहीं। वार्तिककार कुमारिल ने स्वयं चन्द्रशेखर त्रिलोचन महादेव को अपने ग्रन्थादि में प्रणाम किया है और आत्मा के विषय में सही ज्ञान वेदान्तों से होता है यह स्पष्ट घोषित किया है। इससे मालूम पड़ता है कि वे देवविग्रहादि तथा उपनिषदों को प्रमाण मानते रहे। यह न समझकर ये संन्यासी न देवता इन्द्र को समझ पाये और न ही संन्यासी होकर भी वेदान्तविचार में लगे। अतः वे मूर्ख ही ठहरे।

अपनी भावी दुर्गति के कारणभूत पाप के फलोन्मुख होने से तदनुकूल अंतःप्रेरणा से वे सब मुझ पर आक्षेप करते हुए कहने लगे– 'यहाँ शरीरधारी हो खड़े तुम इन्द्र कैसे हो सकते हो? 'इन्द्र' इस शब्द और इसके अर्थ से अतिरिक्त कोई इन्द्र है ही नहीं। अतिथि की तरह याग में आया हुआ इन्द्र कभी नहीं दीखता'॥१४७-१४८॥ इससे वे कहना चाह रहे हैं कि देहधारी इन्द्र नहीं है। यदि ऐसा होता तो यागों में आता, पर वहाँ आया कभी दीखता नहीं अतः विग्रहवान् नहीं।

अब कहते हैं कि इन्द्रादि देवता हवि का उपभोग भी नहीं करते 'देवता के लिये अग्नि में डाली हवि को वह देवता कभी भी अतिथि की तरह खाते नहीं। यह भी किसी तरह संभव नहीं कि देवता मधुमक्खी की तरह अन्न का सार ग्रहण कर लेते हों क्योंकि यह प्रत्यक्षसिद्ध है कि गणेशजी को चढ़ाये मोदक साररहित नहीं हो जाते'॥१४९॥

ऐश्वर्यं यदि तस्याः स्याद् रागिणी सा भवेत् ततः। वाराङ्गनेव को नाम पूजयेत् तामनिन्दितः॥१५०॥

एषा प्रसादमभ्येति किं कर्मण्यकृतेऽपि हि। कृते चेद् देवतायाः स्याद् विशेषः कश्च नोऽधुना॥१५१॥

सर्वात्मेन्द्र इत्यपि न

अपि चात्माऽत्र कर्ता स्याद् भोक्ता तद्वदमूर्तकः। सर्वेषां प्राणिनामेषां भिन्नो दुःखादिभाजनम्॥
प्रत्यक्षस्त्वं कथं स्वस्मादेकोऽनेकस्वरूपधृक्॥१५२॥

ऐश्वर्यं निराकुर्वन्ति - ऐश्वर्यमिति। ऐश्वर्यं हि स्वामित्वं ममत्वरूपं वा, नानायज्ञेषु गमनाय नानारूपधारणशक्तत्वं वा? उभयथापि तस्या रागित्वं प्रसक्तम्। तथा च नानारूपधारिण्या रागिण्या च वाराङ्गनया समत्वात् तां देवतां कः पूजयेत्॥१५०॥

प्रसन्नतारूपं विशेषणं निराकुर्वन्ति - एषेति। एषा देवता किं कर्मणि कृते सति प्रसादम् एति, अकृते वा? कृते चेत्, तर्हि देवतायाः सकाशाद् नः अस्माकं मनुष्याणां को विशेषः भेदः स्याद्; वयमपि हि सेवारूपे कर्मणि कृते सति प्रसादं प्राप्नुम इति भावः। अकृते कर्मणि प्रसादस्तु न कुत्रापि दृष्ट इति प्रसादनिरासेनैव तत्प्रयुक्तं फलप्रदानं निरस्तं वेदितव्यम्॥१५१॥

एवं विग्रहादिमती देवतेन्द्रपदार्थ इति पक्षं निरस्य, सर्वात्मेन्द्र इति पक्षं निराकरोति - अपि चेति। सर्वेषां प्राणिनामात्मा प्रतिशरीरं भिन्नः न्यायादिनये मतः। कीदृशः? कर्ता भोक्ता अमूर्तो विभुः दुखादिपात्रं प्रत्यक्षोऽहमिति प्रत्यक्षगोचरश्च। त्वं तु स्वस्माद् अस्मादात्मनः एकः भिन्नः सन् अनेकरूपधृक् सर्वाभिन्नरूपः कथम्? इति। 'एकोऽन्यार्थे' इत्यमरः। यद् वा त्वमेकः अद्वितीयः सन् स्वस्माद् आत्मीयप्रभावात् कथमनेकरूपधृक्? इति। तथा च अर्थस्येन्द्रत्वाऽसंभवाच्छब्दमयी देवतैवेन्द्रः, इति त्वं कथमिन्द्र इति भावः॥१५२॥

देवताओं के ऐश्वर्य का भी निषेध करते हैं- 'यदि देवताओं में ऐश्वर्य हो तो वे राग वाले हो जायें और यों वेश्यातुल्य देवताओं की कौन प्रशंसनीय व्यक्ति पूजा करेगा?'॥१५०॥ ऐश्वर्य से मिलकियत या ममता ही समझी जा सकती है। अथवा अनेक यज्ञों में उपस्थित होने के लिये अनेक रूप धारण करने का सामर्थ्य ऐश्वर्य हो सकता है। हर हालत में विभिन्नरूप धर कर हवि का ग्रहण करने के लिये दौड़े-दौड़े जाने वाले वे रागयुक्त ही सिद्ध होंगे। ये दो गुण तो वेश्याओं में होते हैं, पूज्यों में नहीं!

देवता प्रसन्न होते व फल देते हैं इसका निराकरण करते हैं- 'क्या कर्म करने पर देवता प्रसन्न होते हैं या कर्म बिना किये ही प्रसन्न हो जाते हैं? अगर करने पर ही प्रसन्न होते हैं तो अब हम मनुष्यों से उनमें क्या विशेषता हुई?'॥१५१॥ हम भी सेवा प्राप्त कर प्रसन्न हो ही जाते हैं और कुछ पारिश्रमिक भी दे ही देते हैं। और हमारे जैसे होंगे तो राग-द्वेष वाले होने से हमारे पूज्य नहीं रह जायेंगे। अतः देवताओं के शरीरादि मानना या वे प्रसन्न होकर फल देते हैं यह मानना सर्वथा ग़लत है यह मुनि मान बैठे थे।

अब मुनि लोग इसका निराकरण करते हैं कि इन्द्र सबका आत्मा है-'संसार में यही स्वीकृत है कि सभी प्राणियों का प्रतिशरीर भिन्न-भिन्न, मूर्तिरहित (निराकार या निष्क्रिय), कर्ता, भोक्ता और दुःखादि पाने वाला आत्मा है जो स्वयं को ही प्रत्यक्षसिद्ध है। हम आत्माओं से स्पष्ट ही भिन्न जो तुम, वह सभी आत्माओं से अभिन्न स्वरूप वाले (अर्थात् सब बुद्धियों के साक्षी) कैसे हो सकते हो?'॥१५२॥

इसलिये इन्द्रशब्द का अर्थ जो व्यापक आत्मा वह तो असंभव वस्तु है, फलतः 'इ-न्-द्-र्-अ' बस ये अक्षर ही देवतारूप इन्द्र हैं। तुम कैसे अपने को इन्द्र कह रहे हो? यह भाव है।

इन्द्र आगे की घटना सुनाते हैं- 'उन निकृष्ट लोगों ने इस प्रकार के कुतर्कपूर्ण वचनों से अनादरपूर्वक मुझसे वार्ता

इत्यादि कुत्सिता वाक्यं कुतर्कबहुलं तथा। साधिक्षेपं च सम्प्रोच्य चक्रुः कोपं च ते मयि॥१५३॥

इन्द्रस्य सविनयं प्रश्नः

तेषां बहिर्मुखत्वं च नैष्ठुर्यं वचसोऽपि च। कारणेन विना कोपं मयि तद्वत्सुदारुणम्॥
विलोक्य पुनरेवाहं कृपाविष्टोऽवदं यतीन्॥१५४॥

देवताविग्रहादीनामभावे चात्मनस्तथा। वस्तुभेदे ममाप्येवमनात्मत्वे यतीश्वराः॥
वेदवाक्यानि मानं चेत् सन्ति तानि वदन्त्विह॥१५५॥

यतीनां पुनः कोपः

एवमुक्ते पुनर्मूढाः कोपाकुलितमानसाः। एकामप्यृचमत्रैते ह्यन्यार्थामपि नोचिरे॥१५६॥

पृष्टा निन्दित्वा मह्यं ते भ्रुकुटीकुटिलाननाः। अवदन् गच्छ गच्छेति सर्वे ते हस्तसंज्ञया॥१५७॥

इन्द्रस्य विचारः

ततस्त्रिलोकीरक्षार्थमुद्यतोऽहं सुरेश्वरः। व्यचिन्तयं स्वमनसा किमेषूचितमत्र हि॥१५८॥

इत्यादीति। ते कुत्सिता इत्यादि कुतर्कबहुलं साधिक्षेपं च संप्रोच्य मयि कोपं चक्रुः॥१५३॥

तेषामिति। तेषां यतीनां बहिर्मुखत्वं वचसो नैष्ठुर्यं क्रूरत्वं विना कारणं कोपं च दृष्ट्वा पुनरवदम् उक्तवानिति॥१५४॥

देवतेति। हे यतीश्वराः! देवताविग्रहादीनमभावे तथाऽऽत्मनो वस्तुभेदे प्रतिशरीरं स्वरूपभेदे तथा मम इन्द्रस्य अनात्मत्व आत्मभिन्नत्वे च यदि वेदवाक्यानि मानं सन्ति तर्हि भवन्तो ब्रुवन्त्विति॥१५५॥

एवमुक्त इति। मया एवमुक्ते सति एते मूढा अत्र देवताविग्रहाभावादौ एकाम् अपि ऋचं न ऊचिरे, कीदृशीम् अपि ऋचम्? अन्यार्थाम् अन्यशेषभूतामन्यार्थवादरूपामपि। यथा यज्ञशालाद्वारविधानार्थवादे वाक्यम्–'को हि तद्वेद यद्यमुष्मिन् लोके स्याद्वा न वा' (तै.सं.६.१.१), इति वाक्यं न स्वर्गनिराकरणपरं, किन्तु, अतीकाशसंज्ञद्वारविधिपरम्। तत्समाऽपि ऋङ्न तेषां मुखाद् निर्गतेत्यर्थः॥१५६॥

पृष्टा इति। ते यतयः पुनर्मया कृपया पृष्टाः सन्तः मां निन्दित्वा गच्छ गच्छेति मह्यमवदन्। तदभिधानमपि न मुखेन, किन्तु? हस्तसंज्ञया हस्तचेष्टया, छोटिकामुद्रयेति यावत्॥१५७॥

कर मुझे गुस्सा दिला दिया॥१५३॥ उन यतियों की बहिर्मुखता, वचनों की क्रूरता और बिना कारण मुझ पर वैसा क्रोध देखकर मुझे फिर उन पर कृपा आयी और उन यतियों से मैं बोला:॥१५४॥

'हे यतीश्वरो! देवताओं के शरीरादि नहीं हैं, हर शरीर में आत्मा स्वरूपतः भिन्न-भिन्न है, मैं इन्द्र आत्मा नहीं हूँ, इन बातों के लिये अगर कोई वेदवाक्यरूप प्रमाण हो तो आप उद्धृत कीजिये'॥१५५॥

ऐसा जब मैंने प्रश्न किया तो उन मूर्खों का मन पुनः क्रोध से बेबस हो गया। तात्पर्यतः अन्यार्थक ही सही, आपाततः भी उक्त बातों को कहने वाला एक भी मंत्र वे उद्धृत न कर पाये॥१५६॥ जब मैंने करुणापूर्वक उनसे फिर वही प्रश्न किया तो भौवें तान मुँह टेढ़ा कर और हाथों से इशारा करते हुए वे सब मुझसे बोले, 'जा, जा!'॥१५७॥

'तब मैंने विचार किया: त्रिलोकी की बाह्य-आन्तर हर शत्रु से रक्षा करने के लिये मैं नियुक्त हूँ, देवताओं के (दैवी संपत् के) उत्कर्ष के लिये उत्तरदायी हूँ क्योंकि उनका शासक हूँ। इस मौके पर इन मुनियों के प्रति क्या व्यवहार उचित होगा?'॥१५८॥ इन्द्र का अभिप्राय है कि इनकी उपेक्षा से तो न इनकी रक्षा होगी और न इनसे प्रेरणा पाने वालों की।

तेषां संन्यासस्यौचित्यचिन्ता

आत्मावलोकनार्थाय शान्तिदान्त्यादिसंयुतः। संन्यसेत् सर्वकर्माणि श्रुतिस्त्वेवमुवाच ह॥१५९॥

संन्यस्य सर्वकर्माणि वेदान्तार्थविचारणा। गुरूपदेशतः कार्या तर्केण ध्यानतोऽपि च॥१६०॥

एवं ममाऽद्वितीयस्य चिदानन्दात्मरूपिणः। साक्षात्कृतिर्भवेद् यस्य दुःखं नैतत् समाप्नुयात्॥१६१॥

तत इति। त्रिलोक्या रक्षणमधर्माद् भयाच्च पालनं तदर्थम् उद्यतः सुरेश्वरः बाह्यान्तरासुरविरोधी। ईदृशः अहम् मनसा व्यचिन्तयम्। चिन्तास्वरूपमाह – किमिति। एषु एतादृशेषु यतिषु अत्र कर्तव्यसंशये किमुचितम्, किमुपेक्षा, दण्डो वा? नाद्यः, त्रिलोकीरक्षकत्वादिविशेषणविरोधाद्; अन्त्यस्तु अपराधनिर्णयाधीन इति भावः॥१५८॥

तत्रापराधं निर्णेतुं किमेषां संन्यासो योग्यो न वेति विचारयन् संन्यासतत्कर्तव्यतत्फलप्रतिपादिकाः श्रुतीरर्थतः पठति – आत्मेति त्रिभिः। आत्मावलोकनमात्मसाक्षात्कारः। श्रुतिः 'आत्मानमेव लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ.४.४.२२) इत्याद्या 'शान्तो दान्तः' (बृ.४.४.२३) इत्याद्या च॥१५९॥ 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' (बृ.२.५.४) इतिश्रुत्यर्थमाह – संन्यस्येति। सर्वकर्माणि संन्यस्य वेदान्तार्थविचारणा एव कार्या। कैः? गुरूपदेशतर्कध्यानैः श्रवण-मननिदिध्यासनपदानां क्रमेण वाच्यैरित्यर्थः॥१६०॥

फलबोधिका 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (छां.२.२३.२) इत्याद्याश्रुतीरनुसन्दधाति – एवमिति। एवं संन्यास-वेदान्तविचारयोः कृतयोः यस्य विवेकिनः अद्वितीयादिलक्षणमद्विषयिका साक्षात्कृतिर्भवेत् स एतत् संसारलक्षणं दुःखं न आप्नुयात्। एतेषां तु उक्तश्रुतिप्राप्तः संन्यासो न दृश्यत इति भावः॥१६१॥

अतः ये दण्ड के ही योग्य हैं। किन्तु दण्ड देने से पहले इनके अपराध का निर्णय करना चाहिये। यहाँ आचार्य शंकरानन्दजी ने यह भी संकेत किया है कि क्रोधावेश में झट से कोई प्रतिक्रिया नहीं करनी चाहिये। इन्द्र को क्रोध आ चुका था यह वे स्वयं कह चुके हैं (श्लो.१५३)। फिर भी उन्होंने पहले मुनियों को पुनर्विचार का मौका दिया। उस पर भी जब वे सँभल न पाये तब इन्द्र ने अगले कदम का विचार किया। उसके लिये भी पहले अपने बारे में सोचा। किसी को शिक्षादि देने से पूर्व अपनी परिस्थिति, अपने कर्तव्य, अपने अधिकारों की समीक्षा कर लेनी चाहिये। अन्यथा जो किया जायेगा वह अनुचित ही होगा। तथा दण्डमात्र की बजाये क्या करना उचित है यह निर्णय करना आवश्यक है क्योंकि दण्ड का मुख्य उद्देश्य सम्बद्ध अपराधी तथा समाज को शिक्षा देना ही है। इतना ही नहीं, प्रत्यक्षसिद्ध अपराध का भी विचार से निर्णय करना उचित है कि वह उन परिस्थितियों में अपराध है भी या नहीं और यदि है तो कितना घोर है। इतना सोच-समझकर अगर यतिहत्या भी की जाये तो ठीक है और बिना सोचे-समझे यदि किसी पर आँखें भी तरेर दी जायें तो अनुचित है। यह शिक्षा भी यहाँ पुराणकार दे रहे हैं।

मुनिवेषधारी उन लोगों के अपराध का निर्धारण करने के उद्देश्य से पहले इन्द्र यह विचार करते हैं कि क्या इनका संन्यास ग्रहण करना इनके योग्य है या नहीं? इस विचार के लिये संन्यास, उसके कर्तव्य व फलों का बोधन करने वाले वेदवाक्यों को अपने शब्दों में दुहराते हैं– 'प्रसिद्ध है कि श्रुति ने तो यों कहा है कि शम दम आदि से युक्त व्यक्ति आत्मज्ञान की प्राप्ति रूप एकमात्र प्रयोजन से सभी कर्तव्यों का त्याग करे॥१५९॥ सारे कर्तव्य कर्मों को छोड़ने के बाद श्रीगुरु के उपदेश के अनुसार, मननपूर्वक, ध्यान देकर वेदान्तों के तात्पर्य का विचार करना चाहिये॥१६०॥ यों संन्यास और उपनिषद्विचार से जिसे मुझ अद्वितीय ज्ञान रूप व आनन्दरूप परमात्मा का अपरोक्ष हो जाता है उसे यह संसाररूप दुःख प्राप्त नहीं होता'॥१६१॥ इन्द्र का भाव है कि ऐसा विविदिषा संन्यास तो इन लोगों में दीखता नहीं।

शंका हो सकती है कि उक्त मुख्य पारिव्राज्य से अतिरिक्त क्रमप्राप्त संन्यास भी शास्त्र में विहित है। वेद ने कहा है कि ब्रह्मचारी होकर गृहस्थ बने, गृहस्थ होकर वानप्रस्थ बने और वानप्रस्थ होकर संन्यासी बने। इस प्रकार क्रमशः आश्रम

क्रमप्राप्तश्च संन्यासः सप्तत्याः स्यादनन्तरम्। युवानः सर्व एवैत आत्मज्ञानविवर्जिताः॥१६२॥

अविनयो दोषः

अविनीताः क्रोधशत्रोर्वशं प्राप्ता हि दुर्धियः। शृण्वन्ति न हितं मूढा अपि मह्यं द्विषन्ति च॥१६३॥

प्रज्ञावतेऽपि भिषजे यथा लोके मुमूर्षवः। मदुक्तं ते न कुर्वन्ति कस्य कुर्युरिमेऽधमाः॥१६४॥

सुदुःसहानधिक्षेपान् सोढ्वा तेषां दुरात्मनाम्। बोधाय यन्मया पृष्टं प्रमाणं तच्च नेरितम्॥१६५॥

ममैवमाशयः पूर्वमिमे किञ्चिद्धि वैदिकम्। वाक्यं हि कथयिष्यन्ति तेनैवैतान् निबोधये॥१६६॥

'व्रती भूत्वा गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेद्' (जाबा.४) इति श्रुत्यनुसारित्वमाशंक्य निराकरोति – क्रमप्राप्तश्चेति। यः क्रमप्राप्तः आश्रमक्रमविधायकश्रुत्यनुसारी स आयुषो वर्षाणां सप्तत्या अनन्तरं योग्य इति सोऽपि एषु नास्तीत्याह – युवान इति। पूर्वोक्तश्रुत्यनुसारित्वाभावे हेतूनाह – आत्मेत्यादिना॥१६२॥

अविनीता इति। विनयेन जितेन्द्रियत्वेन नीत्या वा हीनाः, यतः क्रोधशत्रुवशाः, अत एव दुर्धियः। तत्र हेतुः – शृण्वन्तीति। मह्यं हितोपदेष्ट्रे॥१६३॥

हितोपदेशकं प्रति द्वेषे दृष्टान्तः – प्रज्ञावत इति। यथा संनिहितमरणकाः सद्वैद्याय द्विषन्ति, तद्वदित्यर्थः। ननु तथापि त्वया क्षन्तव्यम्, तेषां श्रेयस्तु उपदेशकान्तराद् भविषयति? इत्याशङ्क्याह – मदुक्तमिति। यदि इमे मदुक्तं न कुर्वन्ति तर्हि केनोपदिष्टं कुर्युरिति॥१६४॥

स्वस्योपदेष्ट्रन्तरेभ्यो विशेषं दयातिशयरूपं सूचयंस्तेषां श्रुत्यतिक्रमरूपापराधादन्यमपराधं च दर्शयति – सुदुःसहानिति। दुःखेन सोढुं शक्यान् सोढ्वा मर्षयित्वा मया यत् प्रमाणं पृष्टं तद् अपि एतैः न उक्तमिति॥१६५॥

त्वयापीदृशाः किमर्थं पृष्टाः? इत्याशंक्याह – ममैवमिति। पूर्वम् इत्यनन्तरमासीदिति शेषः। तेनैव एतदुक्तवाक्येनैव। एतान् यतीन्॥१६६॥

ग्रहण करने के लिये भी कहा गया है। उस संन्यास में विविध कर्मादि कर्तव्य हैं। वही संन्यास इन लोगों का होगा? इसका भी निराकरण इन्द्र करते हैं– 'आश्रमक्रम के अनुसार कर्तव्य संन्यास सत्तर बरस की उम्र के बाद होता है जबकि ये सब जवान ही हैं। (और ऐसा भी नहीं कि ये विद्वत्संन्यासी हों, क्योंकि–) ये सभी आत्मयाथार्थ्य के अनुभव से शून्य हैं'॥१६२॥ (इस निश्चय को उपपन्न करते हैं–) 'न इनमें जितेन्द्रियता है और न सदाचार की शिक्षा। क्रोध रूप शत्रु के ये तुरन्त वश में आ जाते हैं। स्वयं की बुद्धि में दोष होने से इन्हे सर्वत्र दोष ही दीखता है अतः ये मूर्ख लोग अपने हित की बात भी सुनते नहीं, उल्टे हित बताने वाले मुझसे द्वेष करते हैं!॥१६३॥ जैसे संसार में मरणासन्न व्यक्ति बुद्धिमान् वैद्य से भी द्वेष करने लगता है (फलतः उसकी बात न मानकर मौत के मुँह में जा पड़ता है), ऐसे ही ये लोग मेरे द्वारा सूचित विचार में प्रवृत्त नहीं हुए तो ये नीच लोग अन्य किसकी बात मानेंगे?'॥१६४॥ इससे यह संभावना हटायी कि मैं क्षमा कर दूँगा तो कोई और उपदेशक इन्हे सही रास्ते ला देगा।

सामान्य उपदेशकों से स्वयं में अतिशय दया होना विशेषता इन्द्र सूचित करते हैं तथा यह भी बताते हैं कि श्रुत्युक्त आचार से ही ये हीन नहीं, श्रुति का आलोचन भी ये नहीं करते कि यह संभावना हो कि कभी इन्हे सद्बुद्धि आयेगी– 'बड़ी मुश्किल से सहे जा सकने वाले अनादर को भी सहकर इन तुच्छ बुद्धि वालों को समझाने के उद्देश्य से जो मैंने इनसे इन्ही की प्रतिज्ञाओं के लिये प्रमाण पूछे, वे भी इन्होंने नहीं बताये॥१६५॥ मेरा यह आशय था कि पहले ये कोई तो वैदिक वाक्य बोलेंगे, उसी के सहारे मैं इन्हे वास्तविकता समझा दूँगा॥१६६॥ और ये हैं कि बिना कारण मुझ पर क्रोध कर रहे हैं। प्रमाण तो जानते नहीं और कुतर्क बोले जा रहे हैं॥१६७॥ नीति तो यह है कि यदि तत्परता से (अर्थात्

एते च मयि सञ्जातकोपाः कारणशून्यतः। न जानन्ति च मानानि कुतर्कांश्च वदन्ति हि॥१६७॥
वक्तव्यं साधुना युक्तमन्त्यजे वाऽथ वैरिणि। पतितेऽपि दुराचारे तात्पर्येणेह पृच्छति॥
मया पृष्टा इमे सर्व एवं मौनं समाश्रिताः॥१६८॥

क्रोधो विरागाभावलिङ्गम्

इमे न कर्मयोग्याः स्युः संन्यस्तत्वाद्धि दुर्धियः। विरक्तिं नैव चापन्ना कोपे सति कुतो हि सा॥१६९॥
जन्म कष्टं नृणामेतत् कामः कष्टतरस्ततः। क्रोधः कष्टतमस्तस्मात् स एतेषु समाश्रितः॥१७०॥
विपाके दुःखं कामस्य नाधुना सर्वदेहिनाम्। विपाकेऽप्यधुना क्रोधः सर्वदा दुःखदः स्मृतः॥१७१॥

तेषां विरुद्धाचरणान्तराण्यपराधरूपाणि दर्शयति - एते चेति। कारणशून्यतः - इति सार्वभक्तिकस्तसिः। तथा च क्रोधकारणशून्ये मयि क्रोधः, प्रमाणज्ञानाभावः, कुतर्काभिधानं चैषामपराधाः॥१६७॥

पृष्टेन साधुना सर्वेभ्य उत्तरं देयमिति न्यायातिक्रमश्चैषामपराध इत्याह- वक्तव्यमिति। तात्पर्येण तत्परतया पृच्छति प्रश्नं कुर्वति। अन्त्यजादिचतुष्टयान्यतरस्मिन् अपि युक्तं योग्यमुत्तरं वक्तव्यम् इति नयः। एते तु मया सुरेश्वरेणापि पृष्टा मौनिन इति॥१६८॥

जन्मवैफल्यसम्पादनं चापराध इत्याह - इमे नेति। एते न कर्मयोग्याः संन्यस्तत्वात्, नात्मज्ञानार्हा विरागाभावाद्, विरागाभावस्तु कोपाज्ज्ञात इति। सा विरक्तिः॥१६९॥

अथ कोपस्य विरागाभावहेतुतां स्फुटयितुं दुःखनिवर्तकतया हिततरत्वेनोक्ताद् विरागाद् विपरीतस्वभावतां तस्याह - जन्मेति। ततः जन्मनः। वीतरागजन्मादर्शनाज्जन्महेतुः कामः कष्टतरः इति। स क्रोधः। एतेषु यतिषु॥१७०॥

क्रोधस्य कामात् कष्टतमतां स्फुटयति - विपाक इति। कामस्य कार्यं दुःखं विपाके परिणाम एव, नाधुना[१] कामवर्तमानतादशायाम्। क्रोधः तु विपाके वर्तमानकाले च सर्वदेहिनां दुःखद इति॥१७१॥

विनयादिपूर्वक जिज्ञासा से) कोई पूछे तो वह चाहे अन्त्यज हो, शत्रु हो, पतित हो या दुराचारी भी हो, साधु पुरुष को चाहिए कि उसे योग्य उत्तर देवे। इनसे तो मैंने, देवराज ने, पूछा था; फिर भी इन्होंने कुछ जवाब नहीं दिया॥१६८॥ इन कुबुद्धि लोगों ने अपना जन्म विफल गँवा दिया क्योंकि संन्यासी हो जाने के कारण ये कर्म के अधिकारी नहीं कि कर्म से परलोक ही सुधार लें और न ही ज्ञान के अधिकाररूप से इन्होंने वैराग्य अर्जित किया कि ये मुक्त ही हो जायें। क्रोध के रहते वैराग्य कैसे होगा?'॥१६९॥

जिसमें गुस्सा होता है उसमें वैराग्य नहीं होता यह स्पष्ट करना है। पहले वैराग्य को हिततर कहा था क्योंकि वह दुःख हटाने वाला है। उससे विपरीत स्वभाव है क्रोध का, यह स्वयं इन्द्र बताते हैं-'लोगों को प्राप्त होने वाला यह जन्म ही एक महान् कष्ट है। जन्म से भी अधिक पीडा देने वाला कष्ट है कामना। और सबसे अधिक दुःखदायी कष्ट है क्रोध। ऐसा बीभत्स क्रोध इन लोगों में दृढतापूर्वक स्थित है॥१७०॥ सब देहधारियों का अनुभव है कि कामना जब उठती है तब तो मीठी लगती है, दुःख नहीं लगती; उसका तो ज़ब नतीजा सामने आता है तभी दुःख होता है। इससे विपरीत क्रोध जब होता है तब और फल काल में भी, हर समय दुःख देता है'॥१७१॥

कामना तो जिसे होती है उसे ही पीडित करती है, क्रोध तो जिसे होता है और जिस पर होता है दोनों को ही

१. पूर्वाध्याये विस्तरेण स्वकाले दुःखदः काम इत्यचकथत्। इह तु क्रोधनिंदया तत्त्याजने तात्पर्यात् कामस्य दुःखाल्पत्वं ब्रवीति। वस्तुतस्तु काम-क्रोधयोरैक्यं भगवतैव प्रत्यज्ञायीति किमनयोस्तारतम्यम्? अथापि शत्रुर्येनाकारेणोपतिष्ठेत्तेनैव तं वैरिणं विज्ञाय यत्नतस्तन्नाशयेदिति नीत्या कामक्रोधाकारयोरेको वैरी समागच्छति नृणामित्युभयो रूपयोस्तद्विरोधाय यतन्तामित्याशयेन यत्र यथा प्रसंगस्तत्र तथाऽऽचार्या वर्णयन्ति।

जायते यत्र स क्रोधस्तं दहेदेष सर्वतः। विषयं च क्वचित् क्रोधः सफलो निर्दहेदयम्॥१७२॥

चतुर्विधानां भूतानां क्रोधाद् भवति हिंसनम्। कर्मणा मनसा वाचा कस्तं क्रोधं समाश्रयेत्॥
नाशयत्येष वै कीर्तिं स्फीतां रोग इव त्वचम्॥१७३॥

स्वर्गाद् निःसारयत्येष सञ्जातः सफलो नृणाम्। सफलो दुर्जनो यद्वत् फलदं राजमन्दिरात्॥१७४॥

अश्ववारं यथा दुष्टो वाजी गर्ते निपातयेत्। एवं क्रोधोपि नरके नरमाशु निपातयेत्॥१७५॥

सुखार्थिनस्ततः पुंसो नास्ति कोपसमो रिपुः। ततः कोपो नियन्तव्यः कामादप्यतिकष्टदः॥१७६॥

काम आश्रयस्यैव दुःखदः, क्रोधस्तु विषयस्यापीति विशेषान्तरमाह - जायत इति। यत्र आश्रये; तम् आश्रयम्। सर्वतः समन्तात्। दहेत् तापयेत्। विषयम् आश्रयभिन्नम्। सफलः फलेन परताडनादिसहितः॥१७२॥

कामो राजसः सृष्टिहेतुत्वात्, क्रोधस्तु तामसः अन्तकरत्वाद् - इति स्पष्टमस्य कष्टतमत्वमित्याह - चतुरिति। शरीरवाङ्मनोव्यापारैर्यच्चतुर्विधप्राणिहिंसनं तद् यतः क्रोधाद् भवति तं हिंसाहेतुं क्रोधं क आश्रयेदिति। विशेषान्तरमाह - नाशयतीति। दानादिजन्यां स्फीतां विश्वव्याप्तामपि कीर्तिम् एकदेशे वर्तमानः क्रोधः श्वित्ररोगः त्वचमिव नाशयतीति॥१७३॥

स्वर्गनरकौ प्रति विरोधितां हेतुतां च क्रमेणाह - स्वर्गादिति द्वाभ्याम्। स्वर्गहेतुस्तपोदानादिरुपचारात् स्वर्गः तस्माद् एष क्रोधो निःसारयति तेन सम्बन्धं नाशयतीति यावत्, निरुद्धवेगस्तु 'शक्नोतीहैव' (गी.५.२३) इति गीतावाक्यादतादृशोपि, इत्यतो विशिनष्टि - सफल इति। सफलस्यानर्थकरत्वे दृष्टान्तः - सफल इति। यथा दुर्जनः सफलः राजगृहप्रवेशरूपफलं प्राप्तः सन् फलदं प्रवेशस्य कारयितारं राजमन्दिराद् निःसारयति तद्वदिति। दार्ष्टान्तिकेऽपि ताडनादिना क्रोधं सफलं कुर्वाणः फलदो बोध्य इति॥१७४॥ अश्ववारमिति। अश्वं वृणुत इत्यश्ववारोऽश्वारोहः, कर्मण्यण्॥१७५॥

फलितमाह - सुखार्थिन इति। नियन्तव्यः निरोद्धव्यः॥१७६॥

पीडित करता है। इससे भी क्रोध अधिक दुःखद है ऐसा इन्द्र कहते हैं- 'वह कामना तो जिसमें उत्पन्न होती है उसे ही संतप्त करती है जबकि यह क्रोध जिसमें उत्पन्न होता है उसे तो पूरी तरह जला ही डालता है और मार-पीट आदि अपने फल से युक्त हो तो प्रायः जिसके प्रति होता है उसकी भी पीडा का हेतु बनता है'॥१७२॥

किं च, सृष्टि का कारण होने से कामना तो राजस ही है जबकि विनाश करने वाला होने से क्रोध तामस है। इसलिये भी निकृष्ट है। यद्यपि उत्तेजकादि होने से कहीं क्रोध को राजस भी कहा गया है तथापि यहाँ फलदृष्ट्या उसे तामस माना है। यह बात इन्द्र स्पष्ट करते हैं- 'क्रोध के कारण कर्म, मन और वाणी से चारों प्रकार के प्राणियों की हिंसा होती है। हिंसाहेतु ऐसे क्रोध का कौन बुद्धिमान् सहारा लेवे? जैसे कोढ़ से सुन्दर त्वचा विनष्ट हो जाती है ऐसे दान आदि से हुई विश्वव्यापी कीर्ति क्रोध से नष्ट हो जाती है'॥१७३॥

क्रोध स्वर्ग का विरोधी और नरक का प्रापक है यह बताते हैं-'जैसे दुर्जन पुरुष फल प्राप्त कर चुकने पर उस फल को दिलाने वाले हितैषी को ही राजमहल से निकलवा देता है, वैसे वह क्रोध सफल हो जाये तो लोगों को स्वर्ग से निकलवा देता है॥१७४॥ जैसे दुष्ट घोड़ा सवार को गड्ढे में गिरा देता है ऐसे क्रोध भी मनुष्य को शीघ्र ही नरक पहुँचा देता है'॥१७५॥ क्रोध स्वर्ग से निकलवाता है इसमें नहुष का दृष्टान्त प्रसिद्ध ही है। अथवा तपस्या आदि क्योंकि स्वर्ग दिलाते हैं इसलिये उन्हें भी स्वर्ग कह सकते हैं जैसे आयु देने वाले घी को भी आयु कह देते हैं। क्रोध के कारण तप आदि कर नहीं पाते तथा किया हुआ भी क्षीण हो जाता है। क्रोध भी अगर विचार से अवरुद्ध हो जाये तो इतनी हानि

यथा वह्निर्महान् दीप्तः शुष्कमार्द्रं च निर्दहेत्। एवं कोपोऽत्र सञ्जातो विश्वमेतद् विनिर्दहेत्॥१७७॥
यथा शाद्वलताऽभावो वृक्षे वह्नेर्विलोकनात्। दूरे स्थितस्य सहसा पुंसो निश्चितमाव्रजेत्॥
किञ्चिद् विरक्तिलेशोऽपि कोपालोके न निश्चितः॥१७८॥
इच्छाविघातं न विना कोपो देहिषु जायते। अनुत्पादे न चेच्छाया विघातः क्वापि दृश्यते॥१७९॥
न स्त्रीव्यतिकरापेक्षामात्रं काम उदीरितः। किन्तु कामो भवेदिच्छामात्रमत्रशरीरिणाम्॥१८०॥
तावुभौ यदि विद्येते कामक्रोधौ दुरासदौ। अचिकित्स्यौ कथं ह्येषा विरक्तिः संभवेदिह॥१८१॥
अप्युपायोऽनयोर्दृष्टो यत्संसर्गः सतामिह। सतामग्रेसरेणैते मया नैव वदन्त्यपि॥१८२॥

दृष्टान्तान्तरमाह - यथेति। विश्वं सर्वमभ्युदयनिःश्रेयसहेतुं विनिर्दहेत् फलजननशक्तिहीनं कुर्यात्॥१७७॥

कोपस्य विरागविरुद्धरागात्मककामव्याप्यतयाऽपि विरागाभावानुमितिहेतुतामभिव्यनक्ति - यथा शाद्वलतेति द्वाभ्याम्। यथा वृक्षनिष्ठः शाद्वलतायाः सरसताया अभावो वह्नेः हेतोर्ज्ञानाद् दूरस्थपुरुषनिश्चयविषयो भवेत्, तथा कोपालोके सति विरक्तिलेशोऽपि न निश्चितः किन्तु विरक्तेरभाव एव निश्चितो भवति॥१७८॥

तत्रोपपत्तिमाह - इच्छेति। विहन्यमानेच्छैव हि क्रोधात्मना परिणमते। विघातो नाम फलप्रतिबन्धः, स च अजातस्याप्रसिद्धः, न हि 'वन्ध्यासुतराज्यं कश्चित् प्रतिबध्नाति' इत्युच्यते; प्रसक्तं हि प्रतिषिध्यत इति न्यायादिति। तथा च कोपे सति इच्छासत्त्वाद् विरागाभावः स्पष्ट इति भावः॥१७९॥

कामपदार्थं प्रकृतोपयोगिनमाह - न स्त्रीति। व्यतिकरः सम्बन्धः। अपेक्षा इच्छा। इच्छामात्रं सर्वापीच्छा॥१८०॥

कामक्रोधयोरुभयोर्विरक्त्या विरोधमाह - तावुभाविति॥१८१॥

ननु कथमचिकित्स्यावित्युक्तं, मुमुक्षुभिः कृतायाश्चिकित्साया दर्शनाद्? इत्याशंक्य; एषु तदुपायासम्भवादित्याह - अप्युपाय इति। अनयोः कामक्रोधयोर्निवर्तक उपायोऽपि दृष्टः स सतां सुधियां सेवापरिप्रश्नाद्यात्मकसंसर्गरूपः। एते तु मया इन्द्रेण सताम् आत्मविदां मुख्येन वदनम् अपि न कुर्वन्तीति॥१८२॥

नहीं करे। किन्तु यदि वह सफल हो जाये अर्थात् गाली, मारना आदि करा दे तो तप आदि का प्रतिबन्धक बन जाता है। इस प्रकार क्रोध हर तरह से हानिकारक ही सिद्ध होता है।

'इसलिये सुख चाहने वाले पुरुष के लिये क्रोध जैसा कोई शत्रु नहीं। अतः कामना से भी अधिक कष्ट देने वाले क्रोध का अवश्य निरोध करना चाहिये॥१७६॥ जैसे तेज धधकती आग सूखे-गीले सभी ईंधन को जला डालती है वैसे उत्पन्न हुआ क्रोध भी अभ्युदय और निःश्रेयस के सभी साधनों को निष्फल कर देता है॥१७७॥ जैसे दूर स्थित पुरुष भी पेड़ में आग लगी देखकर निश्चय कर लेता है कि उसमें हरियाली या गीलापन नहीं है ऐसे किसी में कोप का अवलोकन करने से निश्चय हो जाता है कि उसमें वैराग्य का एक कण भी नहीं है॥१७८॥ किसी देहधारी को क्रोध तब तक नहीं होता जब तक उसकी इच्छा की पूर्ति में कोई प्रतिबंधक न आवे। और यदि वैराग्य हो अर्थात् इच्छा उत्पन्न ही न हो तो जैसे वन्ध्यासुत के राज्य का कोई प्रतिबंधक नहीं होता ऐसे उसका भी प्रतिबंध संभव न होगा तो क्रोध होना असंभव है॥१७९॥ इस प्रसंग में याद रखना चाहिये कि केवल स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध की उत्कण्ठा ही कामना नहीं है, शरीरधारी को जो कोई भी इच्छा होती है, सभी कामना ही है और सभी का प्रतिरोध क्रोध करा देता है॥१८०॥ जिनका नियन्त्रण कठिन है ऐसे ला-इलाज काम व क्रोध यदि हैं तो यह हिततर वैराग्य मन में कैसे हो पायेगा?'॥१८१॥

यद्यपि मुमुक्षु लोग गुरुओं से सीख कर विवेक के पुनः पुनः अभ्यास से काम-क्रोध का इलाज कर लेते हैं इसलिये

तत्संन्यासस्यायोग्यतानिर्णयः

अविरक्तेषु किं नाम न्यासात् स्यात् फलमेषु हि। प्रत्युताऽनेन पतनं भवेद्धि तनुमानिनाम्॥१८३॥

गुरूनेते न गच्छन्ति मूर्खाः पण्डितमानिनः। स्वयं च न विजानन्ति ममसंन्याससंभवम्॥१८४॥

संन्यासशब्दार्थः

कामक्रोधाद्यरिगणं सम्यक् संछिद्य सर्वदा। सकारणमहं ब्रह्मेतीत्थं विज्ञानहेतिना॥१८५॥

नितरामासनं स्वस्य पुनरावृत्तिवर्जितम्। यदेतत् स हि संन्यासस्तर्हि नैतेषु विद्यते॥१८६॥

विरागाभावे चैषां संन्यासोऽयोग्य इत्याह – अविरक्तेष्विति। अविरक्तेषु एषु **संन्यासात्** किं फलम्? **न किमपि। प्रत्युत विपरीतम्** अनेन **संन्यासेन** तनुमानिनां देहाभिमानिनां पतनं भवेद् इति॥१८३॥

अविरक्तानां संन्यासफलाभावं स्फुटयति – गुरूनिति। **विविदिषासंन्यासस्य फलं गुरुमुखात् तत्त्वनिश्चयः, एषां तु तन्नास्ति, विविदिषाऽभावात्; विद्वत्संन्यासफलाशा तु विद्याऽभावेन तत्संन्यासाभावादेव दूरापास्तेत्याह** – **स्वयमिति। मम-शब्दोऽत्र विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम्। तथा च ममसंन्यासस्य आत्मीयसंन्यासस्य संभवमुपपत्तिं** – **किमस्मासु संन्यासपदार्थ उपपन्नो न वा? इत्याकारेण** न जानन्ति, **किमधिकं ज्ञास्यन्तीति भावः॥१८४॥**

तत्र विद्वत्संन्याससमन्वितं संन्यासपदार्थमुक्त्वाऽविरक्तेषु तदभावमाह – कामेति **द्वाभ्याम्। यथा प्रादेशं विपरिलिखतीत्यत्र 'वि'- इत्युपसर्गो मानक्रियाक्षेपी तथाऽत्र संन्यासपदे संशब्दः छिदिक्रियामाक्षिपति। तथा च अहं ब्रह्मेत्याकारविज्ञानरूपशस्त्रेण सकारणं समूलं कामादिरिपुगणं संछिद्य** – **इति सं-पदार्थः। न्यासः** नितराम् **आस आसनं स्थितिः। निपदार्थातिशयमभिनयति** – पुनरावृत्तिवर्जितम् इति। **तथा च कर्मफलविलक्षणज्ञानफलब्रह्मभावेन अवस्था-नमित्यागतम्। यद् यदि एतद् उक्तविधमासनं संन्यासस्तर्हि एतेषु अविद्वत्सु अविरक्तेषु च स न विद्यत इति॥१८५-१८६॥**

सर्वथा अचिकित्स्य वे नहीं तथापि इन करोड़ों यतियों में वह विवेकाभ्यास भी नहीं दीखता यह इन्द्र कहते हैं-'काम-क्रोध का नियन्त्रण करने का उपाय भी है और वह है सत्पुरुषों के पास जाकर उनकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए उनसे उपदेश पाकर उसे अमल करना। लेकिन ये तो उस उपाय से ही परहेज़ करते हैं क्योंकि सत्पुरुषों में अग्रगण्य जो मैं उससे ये बात भी नहीं करते!'॥१८२॥

पहले (श्लो.१५९) यह प्रश्न उठा था कि इन मुनियों का संन्यास योग्य है या नहीं। जवान होने से क्रमसंन्यास इनके योग्य नहीं यह कह चुके। अब इन्द्र निर्णय करते हैं कि वैराग्य न होने से विविदिषासंन्यास के भी योग्य ये लोग नहीं हैं- 'इन वैराग्यहीनों को संन्यास ग्रहण करने से क्या फल मिलना है? बल्कि इन देहाभिमानियों का संन्यास लेने से पतन ही होना है॥१८३॥ स्वयं को पण्डित मानने वाले ये मूर्ख सद्गुरुओं के पास जाते नहीं और ख़ुद भी समझ पाते नहीं कि इनमें संन्यासशब्दार्थ घटता है या नहीं'॥१८४॥

इसे स्पष्ट करने के लिये 'सम्-नि-आस' (=संन्यास) शब्द का अर्थ बताते हैं। यह अर्थ विद्वत्संन्यासी में यथार्थ होगा, विविदिषु इसकी ओर बढ़ने की कोशिश करेगा लेकिन वैराग्यरहित में यह हर हालत में घटेगा नहीं। इन्द्र संन्यास शब्दार्थ कहकर निर्णय करते हैं कि इन मुनियों में संन्यास है नहीं-'सम् अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' इस अनुभवरूप शस्त्र से काम-क्रोधादि दुश्मनों को हमेशा के लिये सकारण विनष्ट कर 'नि' अर्थात् पुनरावृत्तिरहित जो अपनी 'आस' अर्थात् स्थिति है उसका नाम संन्यास है। यदि संन्यास के इस अर्थ की दृष्टि से देखें तो इन लोगों में संन्यास है ही नहीं॥१८५-१८६॥

पूर्वोक्त संन्यास तो ब्रह्मभाव से अवस्थिति रूप है जो यथार्थ में केवल विद्वानों में अर्थात् ब्रह्मनिष्ठों में मिलेगा। अब

प्रकारान्तरेण तदर्थः

अथवा 'सं' धिया गम्यं फलजातं ससाधनम्। इहामुत्र च सन्त्यज्य नितरामासनं गुरौ॥
आत्मविज्ञानसन्तत्यै तदप्येषु न विद्यते॥१८७॥

आश्रममात्रं न मुक्तिहेतुः

न हि संन्यासतो मुक्तिर्नटानां[1] सा कुतो न हि। किन्तु सर्वाभिलाषस्य कोपस्य च विवर्जनात्॥
सर्वात्मनाप्यशक्यत्वे साधुशास्त्रसमाश्रयात्॥१८८॥

कालुष्यं हि यथा हन्याद् नीराणां हि शरच्छनैः। कामक्रोधौ तथा दीप्तौ साधुशास्त्रे हतः शनैः॥१८९॥

विविदिषासंन्यासंग्रहाय प्रकारान्तरेण संन्यासपदार्थमाह - अथवेति। अत्र पक्षे सम्-उपसर्गेण त्यागक्रियाक्षेपः। तथा च 'सम्' इत्यस्य कोऽर्थः? गम्यं क्रियालभ्यं ससाधनं फलजातमिहामुत्र च वर्तमानं धिया सन्त्यज्य ततो विरज्य न्यासः नितरामासनम्। कुत्र? गुरुसमीपे। किमर्थम्? आत्मविज्ञानस्य सन्तत्यै। तद् उक्तविधमासनम् अपि एषु न अस्ति इति॥१८७॥

उक्तविधावन्वर्थसंन्यासावेव मोक्षहेतू, निष्कामतालक्षणव्यापारलाभाद, 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते ' (बृ.४.४.७) इति श्रुत्यनुसारात्। आश्रममात्रन्त्वतिप्रसंगाद् न मुक्तिहेतुरित्याह - न हीति। ननु यः कामक्रोधौ वशीकर्तुं न शक्नुयात् स किं कुर्याद्? इत्याशंक्याह - सर्वात्मनेति। सर्वात्मना कामक्रोधविवर्जनस्य अशक्यत्वेऽपि हेत्वन्तरादपि मोक्षो भवति। किन्तद्धेत्वन्तरम्? साधुशास्त्रसमाश्रयः। साधुः सज्जनः शास्त्रं च, तयोः सम्यगाश्रयणात्॥१८८॥

सत्संगशास्त्रयोरपि परम्परया मोक्षजनने निष्कामतासम्पादनमेव व्यापार इत्याह - कालुष्यमिति त्रिभिः। यथा शरद् ऋतुः नीराणां कालुष्यं मालिन्यं हन्यात् तथा सत्संगशास्त्रे कामादिचित्तमलं हतः निवर्तयतः॥१८९॥

इन्द्र ऐसा अर्थ करते हैं जो विविदिषु संन्यासियों में होना चाहिये-'अथवा 'सम्' का अर्थ है इस लोक व परलोक में होने वाले क्रियालभ्य सभी फलों को और उन फलों की प्राप्ति के दृष्ट-अदृष्ट उपायों को 'मैं इन्हे प्राप्त करूँ इसके ये योग्य नहीं' इस निश्चय से छोड़कर हमेशा आत्मानुभव का प्रौढ प्रकाश बना रहे इस अकेले उद्देश्य से सद्गुरु के समीप 'नि' अर्थात् तत्परता से 'आस' अर्थात् रहना। यह संन्यास भी इनमें नहीं है'॥१८७॥ विविदिषासंन्यास ज्ञान का हेतु बनकर मोक्ष का साधन बनता है और विद्वत्संन्यास ज्ञाननिष्ठा का हेतु होने से मोक्ष का अनिवार्य उपाय है। श्रुति ने माना है कि मन की सारी कामनायें पूरी तरह हट जायें तभी मर्त्य अमर बनता है, ब्रह्मभाव पाता है। उक्त दोनों संन्यास कामनासमाप्ति करते हैं अतः मोक्ष के उपाय हैं।

केवल संन्यासरूप आश्रम ग्रहण करना अर्थात् उक्त साधना न करते हुए मुण्डी, दण्डी आदि बन जाना मोक्ष का कारण बनता नहीं यह कहते हैं- 'केवल संन्यासी का वेष धारण कर लेने से या घर-बार छोड़ देने से ही मोक्ष नहीं हो जाता। अन्यथा नाटकादि में यतिवेशधारी नटों को क्यों नहीं मोक्ष हो जाये? नट भी तो घर छोड़ कर घूमते फिरते हैं, माँग कर खाते हैं। तब मोक्ष कैसे होता है? सभी अभिलाषाओं को और क्रोध को सर्वथा (अर्थात् ससाधन और सकारण) छोड़ने से मोक्ष होता है। अगर पूरी तरह काम-क्रोध छोड़े न जा सकें तो सज्जनों की और शास्त्रों की भली भाँति शरण लेने से क्रमशः मोक्ष हो जाता है'॥१८८॥

सज्जनसंगति और शास्त्रानुकूलता भी मनुष्य में निष्कामता लाकर ही मोक्ष देते हैं यह बताते हैं- 'जिस तरह शरद्-ऋतु जल के मालिन्य को धीरे-धीरे समाप्त कर देती है उसी तरह सत्संग और शास्त्राज्ञानुसरण बढ़े हुए भी काम-क्रोध को

---

१. नाटकादौ यतिवेशधारिणाम्।

तत्संन्यासस्यायोग्यतानिर्णयः

अविरक्तेषु किं नाम न्यासात् स्यात् फलमेषु हि। प्रत्युताऽनेन पतनं भवेद्धि तनुमानिनाम्॥१८३॥

गुरूनेते न गच्छन्ति मूर्खाः पण्डितमानिनः। स्वयं च न विजानन्ति ममसंन्यासंसंभवम्॥१८४॥

संन्यासशब्दार्थः

कामक्रोधाद्यरिगणं सम्यक् संछिद्य सर्वदा। सकारणमहं ब्रह्मेतीत्थं विज्ञानहेतिना॥१८५॥

नितरामासनं स्वस्य पुनरावृत्तिवर्जितम्। यदेतत् स हि संन्यासस्तर्हि नैतेषु विद्यते॥१८६॥

विरागाभावे चैषां संन्यासोऽयोग्य इत्याह – अविरक्तेष्विति। अविरक्तेषु एषु संन्यासात् किं फलम्? **न किमपि। प्रत्युत विपरीतम्** अनेन संन्यासेन तनुमानिनां देहाभिमानिनां पतनं भवेद् इति॥१८३॥

अविरक्तानां संन्यासफलाभावं स्फुटयति – गुरूनिति। विविदिषासंन्यासस्य फलं गुरुमुखात् तत्त्वनिश्चयः, एषां तु तन्नास्ति, विविदिषाऽभावात्; विद्वत्संन्यासफलाशा तु विद्याऽभावेन तत्संन्यासाभावादेव दूरापास्तेत्याह – स्वयमिति। मम-शब्दोऽत्र विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम्। तथा च ममसंन्यासस्य आत्मीयसंन्यासस्य संभवमुपपत्तिं – किमस्मासु संन्यासपदार्थ उपपन्नो न वा? इत्याकारेण न जानन्ति, किमधिकं ज्ञास्यन्तीति भावः॥१८४॥

तत्र विद्वत्संन्याससमन्वितं संन्यासपदार्थमुक्त्वाऽविरक्तेषु तदभावमाह – कामेति द्वाभ्याम्। **यथा प्रादेशं विपरिलिखतीत्यत्र 'वि'- इत्युपसर्गो मानक्रियाक्षेपी तथाऽत्र संन्यासपदे संशब्दः छिदिक्रियामाक्षिपति। तथा च** अहं ब्रह्मेत्याकारविज्ञानरूपशस्त्रेण सकारणं समूलं कामादिरिपुगणं संछिद्य – इति सं-पदार्थः। न्यासः नितराम् आस आसनं स्थितिः। निपदार्थातिशयमभिनयति – पुनरावृत्तिवर्जितम् इति। **तथा च कर्मफलविलक्षणज्ञानफलब्रह्मभावेन अवस्थानमित्यागतम्।** यद् यदि एतद् उक्तविधमासनं संन्यासस्तर्हि एतेषु अविद्वत्सु अविरक्तेषु च स न विद्यत इति॥१८५-१८६॥

सर्वथा अचिकित्स्य वे नहीं तथापि इन करोड़ों यतियों में वह विवेकाभ्यास भी नहीं दीखता यह इन्द्र कहते हैं–'काम-क्रोध का नियन्त्रण करने का उपाय भी है और वह है सत्पुरुषों के पास जाकर उनकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए उनसे उपदेश पाकर उसे अमल करना। लेकिन ये तो उस उपाय से ही परहेज़ करते हैं क्योंकि सत्पुरुषों में अग्रगण्य जो मैं उससे ये बात भी नहीं करते!'॥१८२॥

पहले (श्लो.१५९) यह प्रश्न उठा था कि इन मुनियों का संन्यास योग्य है या नहीं। जवान होने से क्रमसंन्यास इनके योग्य नहीं यह कह चुके। अब इन्द्र निर्णय करते हैं कि वैराग्य न होने से विविदिषासंन्यास के भी योग्य ये लोग नहीं हैं– 'इन वैराग्यहीनों को संन्यास ग्रहण करने से क्या फल मिलना है? बल्कि इन देहाभिमानियों का संन्यास लेने से पतन ही होना है॥१८३॥ स्वयं को पण्डित मानने वाले ये मूर्ख सद्गुरुओं के पास जाते नहीं और ख़ुद भी समझ पाते नहीं कि इनमें संन्यासशब्दार्थ घटता है या नहीं'॥१८४॥

इसे स्पष्ट करने के लिये 'सम्-नि-आस' (=संन्यास) शब्द का अर्थ बताते हैं। यह अर्थ विद्वत्संन्यासी में यथार्थ होगा, विविदिषु इसकी ओर बढ़ने की कोशिश करेगा लेकिन वैराग्यरहित में यह हर हालत में घटेगा नहीं। इन्द्र संन्यास शब्दार्थ कहकर निर्णय करते हैं कि इन मुनियों में संन्यास है नहीं–'सम् अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' इस अनुभवरूप शस्त्र से काम-क्रोधादि दुश्मनों को हमेशा के लिये सकारण विनष्ट कर 'नि' अर्थात् पुनरावृत्तिरहित जो अपनी 'आस' अर्थात् स्थिति है उसका नाम संन्यास है। यदि संन्यास के इस अर्थ की दृष्टि से देखें तो इन लोगों में संन्यास है ही नहीं॥१८५-१८६॥

पूर्वोक्त संन्यास तो ब्रह्मभाव से अवस्थिति रूप है जो यथार्थ में केवल विद्वानों में अर्थात् ब्रह्मनिष्ठों में मिलेगा। अब

प्रकारान्तरेण तदर्थः

अथवा 'सं' धिया गम्यं फलजातं ससाधनम्। इहामुत्र च सन्त्यज्य नितरामासनं गुरौ॥
आत्मविज्ञानसन्तत्यै तदप्येषु न विद्यते॥१८७॥

आश्रममात्रं न मुक्तिहेतुः

न हि संन्यासतो मुक्तिर्नटानां[1] सा कुतो न हि। किन्तु सर्वाभिलाषस्य कोपस्य च विवर्जनात्॥
सर्वात्मनाप्यशक्यत्वे साधुशास्त्रसमाश्रयात्॥१८८॥

कालुष्यं हि यथा हन्याद् नीराणां हि शरच्छनैः। कामक्रोधौ तथा दीप्तौ साधुशास्त्रे हतः शनैः॥१८९॥

विविदिषासंन्याससंग्रहाय प्रकारान्तरेण संन्यासपदार्थमाह – अथवेति। अत्र पक्षे सम्-उपसर्गेण त्यागक्रियाक्षेपः। तथा च 'सम्' इत्यस्य कोऽर्थः? गम्यं क्रियालभ्यं ससाधनं फलजातमिहामुत्र च वर्तमानं धिया सन्त्यज्य ततो विरज्य न्यासः नितरामासनम्। कुत्र? गुरुसमीपे। किमर्थम्? आत्मविज्ञानस्य सन्तत्यै। तद् उक्तविधमासनम् अपि एषु न अस्ति इति॥१८७॥

उक्तविधावन्वर्थसंन्यासावेव मोक्षहेतू, निष्कामतालक्षणव्यापारलाभाद्, 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते ' (बृ.४.४.७) इति श्रुत्यनुसारात्। आश्रममात्रन्त्वतिप्रसंगाद् न मुक्तिहेतुरित्याह – न हीति। ननु यः कामक्रोधौ वशीकर्तुं न शक्नुयात् स किं कुर्याद्? इत्याशंक्याह – सर्वात्मनेति। सर्वात्मना कामक्रोधविवर्जनस्य अशक्यत्वेऽपि हेत्वन्तरादपि मोक्षो भवति। किन्तद्धेत्वन्तरम्? साधुशास्त्रसमाश्रयः। साधुः सज्जनः शास्त्रं च, तयोः सम्यगाश्रयणात्॥१८८॥

सत्संगशास्त्रयोरपि परम्परया मोक्षजनने निष्कामतासम्पादनमेव व्यापार इत्याह – कालुष्यमिति त्रिभिः। यथा शरद् ऋतुः नीराणां कालुष्यं मालिन्यं हन्यात् तथा सत्संगशास्त्रे कामादिचित्तमलं हतः निवर्तयतः॥१८९॥

इन्द्र ऐसा अर्थ करते हैं जो विविदिषु संन्यासियों में होना चाहिये–'अथवा 'सम्' का अर्थ है इस लोक व परलोक में होने वाले क्रियालभ्य सभी फलों को और उन फलों की प्राप्ति के दृष्ट-अदृष्ट उपायों को 'मैं इन्हे प्राप्त करूँ इसके ये योग्य नहीं' इस निश्चय से छोड़कर हमेशा आत्मानुभव का प्रौढ प्रकाश बना रहे इस अकेले उद्देश्य से सद्गुरु के समीप 'नि' अर्थात् तत्परता से 'आस' अर्थात् रहना। यह संन्यास भी इनमें नहीं है'॥१८७॥ विविदिषासंन्यास ज्ञान का हेतु बनकर मोक्ष का साधन बनता है और विद्वत्संन्यास ज्ञाननिष्ठा का हेतु होने से मोक्ष का अनिवार्य उपाय है। श्रुति ने माना है कि मन की सारी कामनायें पूरी तरह हट जायें तभी मर्त्य अमर बनता है, ब्रह्मभाव पाता है। उक्त दोनों संन्यास कामनासमाप्ति करते हैं अतः मोक्ष के उपाय हैं।

केवल संन्यासरूप आश्रम ग्रहण करना अर्थात् उक्त साधना न करते हुए मुण्डी, दण्डी आदि बन जाना मोक्ष का कारण बनता नहीं यह कहते हैं– 'केवल संन्यासी का वेष धारण कर लेने से या घर-बार छोड़ देने से ही मोक्ष नहीं हो जाता। अन्यथा नाटकादि में यतिवेशधारी नटों को क्यों नहीं मोक्ष हो जाये? नट भी तो घर छोड़ कर घूमते फिरते हैं, माँग कर खाते हैं। तब मोक्ष कैसे होता है? सभी अभिलाषाओं को और क्रोध को सर्वथा (अर्थात् ससाधन और सकारण) छोड़ने से मोक्ष होता है। अगर पूरी तरह काम-क्रोध छोड़े न जा सकें तो सज्जनों की और शास्त्रों की भली भाँति शरण लेने से क्रमशः मोक्ष हो जाता है'॥१८८॥

सज्जनसंगति और शास्त्रानुकूलता भी मनुष्य में निष्कामता लाकर ही मोक्ष देते हैं यह बताते हैं– 'जिस तरह शरद्-ऋतु जल के मालिन्य को धीरे-धीरे समाप्त कर देती है उसी तरह सत्संग और शास्त्राज्ञानुसरण बढ़े हुए भी काम-क्रोध को

---

१. नाटकादौ यतिवेशधारिणाम्।

दुर्दान्तो हि यथा वाजी कालेन दममाव्रजेत्। शिक्ष्यमाणो नरैस्तज्ज्ञैः शिक्षाभेदैरनेकशः॥१९०॥

दुर्दान्तं मन एवं हि कामक्रोधवशं गतम्। गुरुशास्त्रैः शिक्ष्यमाणं दान्तं भवति कालतः॥१९१॥

आशा नैतेषु साप्यस्ति नित्यं पण्डितमानिषु। अनादृतवचःस्वात्मबोधशून्येषु कर्मिषु॥१९२॥

कर्मिणां न हि संन्यासो विहितः सप्ततिं विना। किन्तु स्वात्मावबोधार्थं यदित्यादि वचो भवेत्॥१९३॥

आत्माऽनात्मविवेकार्थं संन्यासो विहितः श्रुतौ। नैते कुर्वन्ति तं मन्दाः पतितास्तेन हेतुना॥१९४॥

क्रमप्राप्ते तु संन्यासे संन्यासाद् ब्रह्मलोकगाः[1]। अन्येषामुभयभ्रंशः स्वात्मबोधविवर्जनात्॥१९५॥

तत्र दृष्टान्तमाह – दुर्दान्त इति। दुर्गतं हीनं दान्तं दमनं यस्य स तथा, दुष्ट इति यावत्; तादृशो वाजी अश्वः तज्ज्ञैः शिक्षाविधिज्ञैः नरैः शिक्षाविशेषैः शिक्ष्यमाणो यथा दमं दोषराहित्यं प्राप्नुयात्॥१९०॥ दार्ष्टान्तिकमाह– दुर्दान्तमिति॥१९१॥ आशेति। एतेषु यतिषु साऽपि साधुशास्त्रसमाश्रयेण मोक्षसम्पादनविषयाऽपि आशा संभावना नास्ति। तत्र हेतुभूतानि विशेषणानि – अनादृतं गुरुवेदान्तवचो यैस्ते तथा तेषु॥१९२॥

कर्मिणामिति। कर्मिणां सप्ततेः पूर्वं संन्यासो न विहितः। किन्तु पूर्वमपि स्वात्मावबोधार्थम् एव विहितः। यतो यदित्यादि श्रुतिवचः ज्ञानकारणस्य वैराग्यस्य संन्यासनिमित्तताबोधकं भवति, 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्' (जाबा.४) इति श्रुतिः। यदीत्यादि पाठे 'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्' (जाबा.४) इत्याद्या श्रुतिर्बोध्या, इतरथा परवैराग्यसत्त्व इत्यर्थः॥१९३॥

आत्मेति। श्रुतौ 'आत्मानमेव लोकम्' (बृ.१.४.१५) इत्याद्यायामुक्तायाम्। तम् आत्मानात्मविवेकम्। वार्तिककृद्भिरप्युक्तम् –

'प्रत्यक्तत्त्वविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम्। श्रुत्या विधीयते यस्मात् तत्त्यागी पतितो भवेद्॥' इति॥१९४॥

क्रमप्राप्ते त्विति। ब्रह्मलोककामस्य सप्तत्यूर्ध्वं क्रमसंन्यासेऽधिकार इत्यर्थः। अन्येषाम् आत्मबोधार्थेन क्रमप्राप्तेन च संन्यासेन हीनानां संन्यासिनामुभयम् अभ्युदयनिश्रेयसरूपम्॥१९५॥

धीरे-धीरे निवृत्त कर देते हैं॥१८९॥ जैसे दुष्ट घोड़ा अश्वविद्या के जानकार अध्यापकों द्वारा विविध उपायों से सिखाया जाता हुआ कुछ समय में निर्दोष हो जाता है, ऐसे ही काम-क्रोध के वश में गया यह दुष्ट मन गुरु व शास्त्र द्वारा शिक्षित होने पर कुछ समय में नियन्त्रित हो जाता है॥१९०-१९१॥ किन्तु मूर्ख होते हुए ख़ुद को पण्डित मानने वाले, गुरुओं और उपनिषदों के वचनों की उपेक्षा करने वाले, आत्मज्ञानरहित इन कर्मसंलग्न यतियों में इस प्रकार भी सुधार की कोई आशा नहीं है॥१९२॥ जो कर्म में ही निष्ठा वाले हैं उनके लिये सत्तर वर्ष की आयु से पहले संन्यास का विधान नहीं। 'जब वैराग्य हो तभी संन्यासी बन जाये' इत्यादि वचन केवल निजात्मा के ज्ञान के लिये कर्मत्याग का विधान करता है॥१९३॥ श्रुति ने विविदिषासंन्यास का विधान केवल इसलिये किया है कि मुमुक्षु अनात्मसंस्कार न बढ़ाकर निरन्तर यह निश्चय करे कि आत्मा क्या है, अनात्मा क्या है। ये मन्द बुद्धि मुनि वैसे निश्चय की कोशिश भी करते नहीं। इसलिये ये सब पतित हैं'॥१९४॥ भगवान् वार्तिककार ने भी कहा है कि पराक् अत एव अतात्त्विक दृश्य से विलक्षण प्रत्यक् अत एव तात्त्विक द्रष्टा की निर्भ्रान्त समझ प्राप्त करने के लिये ही श्रुति ने सभी कर्मों का त्याग करने का विधान किया है, अतः जो कर्मत्यागी दृश्य से द्रष्टा को पृथक् कर समझने का प्रयास नहीं करता रहता है वह पतित होता है।

प्रश्न हो सकता है कि शास्त्रों ने संन्यास से ब्रह्मलोक की प्राप्ति कही है, 'संन्यासाद् ब्रह्मणः स्थानम्', अतः ज्ञान से

---

१. भवन्तीति शेषः। ब्रह्मलोकगीरिति चेत्पाठः, सम्यक् स्यात्।

वेदान्तविरोध्यभिनिवेशो दण्डनीयः

यद्यप्येते सदाचाराश्चतुर्थाश्रमसंश्रयाः। विप्रास्तथापि दुर्दान्ताः शासकाभावतोऽधुना॥१९६॥

नैतेषां गुरुरस्तीह नियच्छेद्य इमान् बलात्। नैते हि स्वात्मनाऽऽत्मानं प्रभविष्यन्ति कर्हिचित्॥१९७॥

नियन्तुं यन्मयाप्युक्ता वेदार्थे न धियं दधुः। शास्या राज्ञा दुरात्मानो राजाऽहं जगतोऽपि च॥१९८॥

ननु किमन्येषामुभयभ्रंश उच्यते; अहिंसादिप्रधानयतिधर्मस्य महाफलत्वेन प्रसिद्धत्वाद् अन्ततो योगभ्रष्टगतिर्न केनाप्यपहृता? इत्याशंक्य; तथाप्येषां वेदान्तविरुद्धमतेऽभिनिवेशेन धर्मातिक्रमाद् दण्ड्यतैवेत्याह – यद्यपीति। यद्यप्येते सदाचारादिभिरुत्कृष्टाः तथापि अधुना मया संव्यवहारकाले दुर्दान्ता अश्ववन्मार्गातिक्रमशीलाः सन्ति, शासकस्य शिक्षयितुरभावात्। तथा च मयैव शासनीया इति भावः॥१९६॥

शासकान्तराभावं स्पष्टयति – नैतेषामिति। य एतान् नियच्छेद् नियन्तुं मार्गे स्थापयितुं शक्नुयात् तादृशो गुरुर्नास्ति। तथा एते स्वात्मना स्वयमेव आत्मानं नियन्तुं मार्गे स्थापयितुं न प्रभविष्यन्ति न समर्था भविष्यन्ति, यद् यतो मया सुरेश्वरेण अप्युक्ताः सन्तो वेदार्थे धियं न दधुः एकाग्रां न कृतवन्तः ततो ज्ञातमेषां न मनोनियमने सामर्थ्यमिति। एतादृशाश्च राज्ञा शास्याः। राजत्वं तु त्रिलोकीनिरूपितं मय्येव, तस्मान्मयैव शास्या इति भावः॥१९७-१९८॥

मोक्ष न सही, ब्रह्मलोक तो ये यति लोग पा ही लेंगे, इन पर इतना अनुक्रोश क्यों? इन्द्र उत्तर देते हैं कि ब्रह्मलोक देने वाला तो क्रमसंन्यास है जो इन जवानों का है नहीं। ब्रह्मचर्य से संन्यास का केवल प्रयोजन त्वम्पदार्थशोधन कर महावाक्यार्थ समझना है। जीवन भर उसमें लगा रहे तो यदि बिना समझे मर भी जाये, तो वह पुनः ऐसा जन्म पाता है जहाँ फिर इसी मार्ग पर चले। कल्याणकृत् अर्थात् आत्मकल्याण के लिये प्रयास करने वाला कभी दुर्गति नहीं पाता यह भगवान् ने गीता में घोषणा कर दी है। चाहे बहुत जन्मों में सही, वह ज्ञानवान् होकर भगद्भाव पा जाता है। अतः ऐसे संन्यासी को बाह्य कर्मकाण्ड छोड़कर पूर्ण प्रयत्न से श्रवण-मनन-निदिध्यासन में ही लगे रहना चाहिये। वही इसका स्वधर्म है। इसे यदि विगुण भी करे, बहुत अच्छी तरह न भी कर पाये, तो भी कल्याण का भागी होगा। बाह्यार्चनादि धर्म का सही अनुष्ठान भी क्योंकि इसका स्वधर्म नहीं इसलिये इसके कल्याण का हेतु बन नहीं पायेगा। प्रकृत मुनियों में न क्रमसंन्यास है और न विवेकार्थ विचार, अतः ये शोच्य ही हैं। यही कहते हैं-'अगर सत्तर बरस के बाद किया जाने वाला संन्यास इन्होंने किया होता तो कम से कम ये ब्रह्मलोक प्राप्त कर जाते। ये तो उन 'अन्यों' में हैं जिनका न क्रमसंन्यास है, न विविदिषासंन्यास। क्योंकि इन्हें आत्मज्ञान नहीं इसलिये ये अभ्युदय व निःश्रेयस अर्थात् ऊर्ध्वलोकप्राप्ति व मोक्ष दोनों से वंचित ही रहेंगे'॥१९५॥

शंका होती है कि अहिंसादि जिनमें मुख्य हैं ऐसे संन्यासधर्म को महान् फल वाला कहा गया है, वह धर्म तो ये लोग पालन कर ही रहे हैं जिससे इन्हें उत्तम फल मिलेगा ही; तब इन्हे अभ्युदय-निःश्रेयस दोनों से वंचित कैसे मानें? और अगर उत्तम फल न भी मिले, तो गीता में बतायी योगभ्रष्ट की सद्गति इन्हे मिल ही जायेगी जिससे कालान्तर में ये मुक्त हो जायेंगे; इससे भी ये उभयभ्रष्ट कैसे माने जायें? इसके समाधान में इन्द्र कहते हैं कि भले ही ये थोड़ी-बहुत बेहतर गति पा लेंगे अथवा यदि भगवत्प्राप्ति के लिये तत्पर हैं और भ्रमवश ही सही उपाय नहीं कर पा रहे तो भगवान् की कृपा से योगभ्रष्टन्याय से आगे अनुकूल जन्म पाकर मुक्ति भी पा लेंगे, फिर भी क्योंकि वेदांतविरुद्ध मत को ये लोग आग्रहपूर्वक मान रहे हैं इसलिये श्रुतिप्रतिपक्षितारूप अधर्म का तो इन्हे दण्ड दिया ही जाना चाहिये।-'यद्यपि ये ब्राह्मण हैं, चौथे आश्रम को ग्रहण किये हुए हैं और सदाचारी हैं तथापि अब तक निगुरे होने से ये अनियंत्रित हैं, ऐसे स्वभाव वाले हैं कि ग़लत रास्ते जायें॥१९६॥ संसार में इनके कोई गुरु तो हैं नहीं जो इन्हे ज़बर्दस्ती नियंत्रण में लावें। ये ख़ुद भी अपने आपको सही रास्ते ला पायेंगे यह किसी तरह संभव लगता नहीं क्योंकि मेरे कहने पर भी इन्होंने वेद का अर्थ समझने में बुद्धि नहीं लगायी। दुष्टों का नियंत्रण राजा को करना चाहिये और मैं सारे संसार का राजा हूँ ही'॥१९७-१९८॥

सविचारं दण्डनिर्णयः

न चैषां वित्तमस्त्यत्र यदाऽऽदानाद् वधो भवेत्। मुण्डिता हि स्वयं तस्मादमीषां न वधोऽपि तत्॥१९९॥
देशान्निःसारणं प्राप्तं देशोऽयं सकलो मम। कथं निःसारयिष्यामि विना देहविमोचनम्॥२००॥
अमीषां विद्यते नैव त्रिलोक्याश्च बहिर्गतिः। त्रिलोकी च समग्रा मे वधाद् नास्त्यपरस्ततः॥२०१॥

'सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्' इति वर्णनम्

इति सञ्चिन्त्य तान् सर्वान् शब्दशून्याननान् यतीन्। शालावृकेभ्यो विपिने हत्वाऽदां लोकरक्षकः॥२०२॥

तैत्तिरीयशाखोक्तकथोपसंहारः

यतीनामद्यमानानां शालावृकशतैस्ततः। मस्तकान्यपतन् भूमावनाद्यान्यस्थिरूपतः॥२०३॥
शालावृकास्तु मांसानि तेषां दक्षिणभागतः। आदन्नुत्तरवेद्यास्ते कर्मिणां दर्शनाय हि॥२०४॥

एवं दण्ड्यत्वे निर्णीते सति एभ्यः किमाकारो देयो दण्ड इति विचारयति – न चैषामिति। वित्ताऽऽदानरूपो वधो नैषां दण्डो, वित्ताभावात्। नापि मुण्डनरूपः, सिद्धत्वादित्यर्थः॥१९९॥ देशान्निःसारणरूपस्त्वसंभवीत्याह – देशादिति। स्पष्टम्॥२००॥ अमीषामिति। यद्येते सशरीरास्त्रिलोक्या बहिर्गन्तुं शक्ताः स्युस्तर्हि देशनिःसारणरूपमेषां दण्डं कुर्याम्। एषान्तु बहिर्गतिरेव न आस्ति, ततः तस्माच्छरीरदण्डादेषाम् अपरो दण्डो नास्तीति॥२०१॥

इति सञ्चिन्त्येति। 'आत्मावलोकनार्थाय' (२.१५९) इत्यारभ्य उक्तप्रकारेण सञ्चिन्त्य; शब्देन वेदान्तशब्देन शून्यम् आननं मुखं येषां ते तथा तान् यतीन् विपिने हत्वा शालावृकेभ्यः श्वभ्यः अदाम् दत्तवानस्मि, यतो लोके रक्षकः। 'शालावृकाः कपिक्रोष्टुश्वान' इत्यमरः॥२०२॥

तैत्तिरीयशाखायाम् 'यतीनामद्यमानानां शीर्षाणि परापतन् तानि खर्जूरा अभवन्' (द्र.तै.सं.६.२.७.५; ता.ब्रा.८.१.४; ऐ.ब्रा.७.५.२) इत्यादि कारीरीष्टिविध्यर्थवादोक्तं कथाशेषमुपन्यस्यति – यतीनामिति। शालावृकैः अद्यमानानां भक्ष्यमाणानां यानि मस्तकानि तानि वनभूमावेव अपतन् पतितान्यासन्, यतः अस्थिरूपत्वाद् अनाद्यानि अत्तुमयोग्यानीति॥२०३॥ शालावृका इति। तेषां मांसानि उत्तरवेद्यां यागभूमेः दक्षिणभाग आनीय अन्तर्यामितया मत्प्रयुक्ताः शालावृका आदन् भक्षितवन्तः। कस्मै? कर्मिणः प्रति दर्शनाय॥२०४॥

इस तरह सोच-विचार कर इन्द्र ने निर्णय किया कि वे मुनि दण्डनीय थे। अब यह निर्धारण करते हैं कि उन्हे दण्ड क्या दिया जाये– 'अपराधी के धन का अधिग्रहण करना भी उसका एक तरह का वध है, दण्ड है; पर इनके पास तो धन है नहीं जो वह दण्ड दिया जाये। सिर मुँड़ा देना भी एक दण्ड है, पर ये तो स्वयं ही सिर मुँड़ाकर साधु बने हैं, वह भी इनके लिये दण्ड नहीं हो सकता॥१९९॥ देशनिकाला एक दण्ड हुआ करता है पर मेरा शासित देश तो यह सारी त्रिलोकी है और त्रिलोकी से बाहर ये जा नहीं सकते। इन्हे जान से मारकर ही अपने देश से निकाल सकता हूँ। इसलिये इनके लिये एक ही दण्ड है, वध। और कोई दण्ड मैं इन्हे दे नहीं सकता॥२००-२०१॥

ऐसा विचार कर, वेदान्तवाक्यों के विचार से रहित उन सब यतियों को मारकर मैंने जंगल में जंगली कुत्तों को डाल दिया, क्योंकि लोगों की शिक्षादिद्वारा रक्षा करना मेरा कर्तव्य है'॥२०२॥

करीरीष्टि के अर्थवाद में तैत्तिरीय संहिता में (२.४.९) कहा है कि जब सियार उन मुनियों को खा रहे थे तब जो उनके सिर गिरे वे खजूर बन गये और खजूरों का रस करीर बन गया। इस किस्से को भी कथापूर्ति के लिये इन्द्र सुना देते हैं–'सैकड़ों सियार जब उन यतियों को खा रहे थे तो इनके अस्थिरूप सिर क्योंकि खाये नहीं जा सकते इसलिये जमीन पर गिर पड़े॥२०३॥ मेरी प्रेरणा के अनुसार उन सियारों ने उनके मांस को यागभूमि के दाहिनी ओर लाकर खाया

कर्म नैव परित्याज्यं विरागेण विना क्वचित्। त्यागे चैषा भवेद् नूनमवस्था दुष्टचेतसाम्॥२०५॥
तेषां शीर्षाणि खर्जूरा यतीनामभवंस्ततः। खर्जूराणां हि यः सारो रस ऊर्ध्वमुपागतः॥२०६॥
करीराण्यभवंस्तानि सौम्यान्याहुतिसाधनम्। यतः संन्यासिनः सौम्याः स्वभावात् क्रोधवर्जिताः॥२०७॥
देहत्यागाद् गतक्रोधा ऊर्ध्वरेतस्त्वहेतुतः। ऊर्ध्वभागाच्छिरोरूपाद् दशमद्वाररूपकाः॥२०८॥
खर्जूरास्तत्र सञ्जातास्तेषु रेतश्चिरं धृतम्। साररूपं तु सौम्यं तत् करीराणीति कीर्तितम्॥२०९॥
आहुत्या त्वनयाऽहं हि प्रीतः सर्वात्मकः पुमान्। वृष्टिं सौम्यतमां सर्वजन्तूनामुपकारिणीम्॥२१०॥

दर्शनेन च कर्मिणः प्रति यद् बोधितं तदभिनयति - कर्मेति। विरागेण विना कर्म न त्याज्यं, त्यज्यते चेत् तर्हि दुष्टचेतसाम् एषा एतादृशी अवस्था दशा प्रभोः कोपात् स्यादिति॥२०५॥ तेषामिति। तेषां यतीनां यानि वने पतितानि शीर्षाणि आसन्, तानि खर्जूराकारेण परिणतानि अभवन्। ततः तदनन्तरं खर्जूराणां यः सारभूतो रसः स ऊर्ध्वम् ऊर्ध्वभागं गतोऽभूदिति॥२०६॥ करीराणीति। स रसो भूमौ पतितः सन् प्रसिद्धवंशाङ्कुररूपेण परिणतः 'वंशाङ्कुरे करीरोऽस्त्री' इति मेदिनी। कीदृशानि करीराणि? सौम्यानि अनुग्राणि शान्तानीति यावत्, 'सौम्यं बुधे मनोज्ञे च' इति विश्वः। सौम्यत्वादेव देवताप्रसादातिशयहेतुत्वाद् आहुतिसाधनम्। कथं करीराणां सौम्यत्वम्? इत्याशंक्य; तदुपपादयति - यत इत्यादिना। यतः परंपरया करीराणां कारणभूता यतयः स्वभावात् क्रोधवर्जिता आसन्निति शेषः॥२०७॥

ननु तेषां यतीनां सक्रोधत्वात् कथं क्रोधवर्जितत्वम्? इत्याशंक्याह - देहेति। देहत्यागाद् देहत्यागरूपाद् दण्डाद् गतः क्रोधः पापमयो येषां ते तथेति। तथा च दोषे त्रिलोकीराजेन दण्डाद् हते सति ते स्वभावभूतसौम्यतायामेव स्थिता इति भावः। करीरेषु तदीया सौम्यता कथमागतेत्यत आह - ऊर्ध्वेत्यादि। तेषां रेतस ऊर्ध्ववहनलक्षणस्वभावस्य शिरसि स्थितस्यापि स्वभावानपायात् तत्प्रयुक्तशिरोरूपशरीरोर्ध्वभागात् खर्जूरा जाताः। कीदृशाः खर्जूराः? दशमद्वाररूपाः, तन्मया इति यावत्। तेषु दशमद्वारेषु यत् चिरं धृतं सुसौम्यं कामाग्निकृतक्षोभराहित्याद् अत्यन्तं शान्तं च रेतः तद् एव खर्जूररसभावक्रमेण करीरतां गतम् इति कीर्तितं तैत्तिरीयशाखायां करीरीष्टिप्रकरण इति शेषः॥२०८-२०९॥

आहुत्येति। अनया अतिसौम्यया करीराहुत्या अहम् इन्द्रः सर्वात्मकः प्रीतः सन् वृष्टिं करोमि —इत्युत्तरश्लोकादनुषंगः। कीदृशीं वृष्टिम्? सौम्यतमाम्। यतयो हि सौम्यास्तद्रेतःपरिणामकरीराणि सौम्यतराणि, तत्परिणामत्वाद् वृष्टिः सौम्यतमेति॥२१०॥

ताकि सबको यह स्पष्ट हो जाये कि वैराग्य हुए बिना किसी हालत में अपने कर्तव्यों को छोड़ना नहीं चाहिये और अगर दुर्बुद्धि लोग छोड़ेंगे तो उनकी यह गति होगी॥२०४-२०५॥ उन यतियों के सिर तो खजूर हो गये। खजूरों का जो सारभूत रस था वह ऊपर आ गया और आहुति का साधनभूत शांत करीर बन गया। संन्यासी स्वभाव से सौम्य होते हैं, क्रोधरहित होते हैं। अतः करीर क्योंकि संन्यासियों के सिर से ही खजूररस द्वारा बने थे इसलिये वे भी सौम्य ही हैं और देवताओं को अधिक प्रसन्न करते हैं'॥२०६-२०७॥

यद्यपि यहाँ करीरों की प्रशंसा में तात्पर्य है तथापि कथानुसार वे यति तो क्रोधी थे, उनसे उत्पन्न होने को करीर की सौम्यता में हेतु कैसे कहा? इस शंका का समाधान स्वयं इन्द्रदेव करते हैं-' शरीरत्यागरूप दण्ड पाकर वे क्रोधरहित हो गये थे क्योंकि मेरे दण्ड से जब उनका पापरूप दोष समाप्त हो गया तब उनकी स्वाभाविक सौम्यता बनी ही रहनी थी। ऊर्ध्वरेता होने से उनका वीर्य सिर में स्थापित था। उसी सिर से दशमद्वाररूप (ब्रह्मरन्ध्ररूप) खजूर वहाँ पैदा हुए। मुनियों के दशमद्वारों में (ब्रह्मरन्ध्रों में) जो अत्यन्त शान्त वीर्य लम्बे समय तक धारण किया गया था वही पहले खजूरों का रस बना और फिर करीर बना। यह बात वेद ने बतायी है॥२०८-२०९॥

अति सौम्य इस करीर की आहुति से सर्वात्मा पुरुषरूप मैं इन्द्र प्रसन्न होता हूँ तथा सर्वाधिक प्रिय लगने वाली, सब

तेषां यतीनां गतिः

करोमि ते च यतयो गतदेहा महाधियः। देहान्तरेण मामेव प्राप्ताः क्रोधादिवर्जिताः॥२११॥

व्यासनारायणादीनां विद्यासन्ततिपातिनः। अहं ब्रह्मेति विज्ञानविध्वस्ताऽखिलतामसाः॥२१२॥

न केवलं विश्वरूपो ब्राह्मणा यतयस्तथा। निहता वेदविद्वांसः शापानुग्रहकारिणः॥२१३॥

हिंसान्तरवर्णनम्

अन्येऽपि वेदविद्वांसो बलिनो मायिनस्तथा। निहताः कोटिशो दैत्याः प्रह्लादतनयादयः॥
बलेन मत्समास्ते हि मत्तो वाऽभ्यधिका इमे॥२१४॥

तत्कृताश्च महामाया मायिनामपि मोहिनीः। अलौकिकं तथा वीर्यं तेषामादित्यवर्चसाम्॥
अतिक्रम्यात्मविज्ञानाद् न्यहनं दैत्ययूथपान्॥२१५॥

करोमीति। ननु तेषां यतीनां का गतिः? इत्यत उक्तम् – ते च इत्यादि। ते यतयो दण्डेन शुद्धाः सन्तः शरीरान्तरे ज्ञानं लब्ध्वा मां प्राप्ता इति॥२११॥

व्यासेति। पूर्वं तेषां दुरदृष्टात् सत्संप्रदायो न लब्ध आसीद्, दण्डेन प्रतिबन्धकापगमे तु व्यासनारायणादिसम्बन्धिनी या विद्यासन्ततिः विद्यावंशः तं पतितुं प्राप्तुं शीलं येषां तादृशाः सन्तः अहं ब्रह्मेति विज्ञानेन विध्वस्तमखिलं तामसं तमःप्रयुक्तं येषामेतादृशाः। व्यासो ब्रह्मसूत्रकृत्। नारायणो बदरिकाश्रमस्थेभ्यो नारदादिभ्यो विद्यासम्प्रदायप्रवर्तको विष्णोर्लीलाविग्रहः। आदिपदेन नारदादय इति॥२१२॥

उक्तमर्थं प्रकृते योजयति – न केवलमिति। केवलं विश्वरूप एव न हतः किन्तु ब्राह्मणत्वादिविशिष्टा यतयः च वेदान्तहीनत्वापराधाद्धताः। वेदः कर्मकाण्डः। शापानुग्रहकारिणः योगबलात्॥२१३॥

'बह्वीः' इत्यादि 'कालखंजान्' (कौ.३.१) इत्यंतं व्याचष्टे – अन्येऽपीति त्रिभिः। अन्येऽपि कोटिशो दैत्या निहताः। कीदृशाः? वेदविद्यादिशालिनः प्रह्लादपुत्रादयः; मया इन्द्रेण समाः; मत्तः इन्द्रात्॥२१४॥

तत्कृता इति। तैर्दैत्यैः कृताः प्रयुक्ता महामायाः तथा तेषामलौकिकं चित्रं वीर्यं च आत्मविज्ञानबलाद् अतिक्रम्य अगणयित्वा तान् न्यहनं हतवानस्मि इति। कीदृशीर्मायाः? मायिनां मयादीनाम् अपि मोहिनीः विस्मयजनिकाः॥२१५॥

प्राणियों का उपकार करने वाली बरसात कर देता हूँ। मरे हुए वे संन्यासी अन्य शरीरों को प्राप्त हुए जहाँ क्रोधादि से रहित तथा महान् आत्मतत्त्व को समझने वाली बुद्धि से युक्त थे। व्यास, नारायण, नारद आदि की विद्यापरम्परा में वे दीक्षित हुए तथा 'मैं ब्रह्म हूँ' इस साक्षात्कार से उन्होंने अपना समस्त अज्ञान नष्ट कर लिया॥२१०-२१२॥

इस प्रकार मैंने सिर्फ विश्वरूप को ही नहीं मारा, योगबल से शाप व वरदान देने में समर्थ विद्वान् ब्राह्मण संन्यासियों को भी मारा है। फिर भी आत्मज्ञान के कारण मेरी कोई हानि नहीं हुई॥२१३॥

कौषीतकी उपनिषत् में इनके अतिरिक्त और तीन घोर कर्म इन्द्र ने बताये हैं: 'मैंने कई सन्धियों की करारें तोड़कर प्रह्लाद के सम्बन्धियों को मारा, आकाश में पुलोमा के पुत्रों को और पृथ्वी पर कालकांजों को मारा, पर मेरा एक बाल भी बाँका नहीं हुआ।' इन किस्सों को संक्षेप में ही भगवान् श्रीशंकरानन्दजी इन्द्र के मुख से सुनाकर ज्ञान की प्रशंसा व्यक्त करते हैं।

इन्द्र ने आगे कहा-'अन्य भी वेदविद्या में पारंगतों को तथा प्रह्लाद के पुत्र आदि बलशाली मायावी दैत्यों को मैंने करोड़ों की संख्या में मारा। वे मेरे समान बल वाले थे या हो सकता है मुझसे अधिक ही बल रखते हों। उनका मायाजाल

दिवि प्रह्लादनामाङ्कान् पौलोमांश्च विहायसि। कालकाख्यांस्तथा भूमौ हतवानहमासुरान्॥२१६॥

ज्ञानप्रभावदर्शनम्

ब्रह्मघ्नस्य यतिघ्नस्य दैत्यानां घातकस्य च। लोमापि न विनष्टं मे शापेनाऽपि शरेण वा॥२१७॥

अपकीर्तिर्न मे काऽपि लोकेऽभूत् क्रूरकर्मणः। प्रत्युताऽत्राभवत् कीर्तिः कीर्तनीया महात्मभिः॥२१८॥

आत्मविज्ञानसम्पन्नः कृतवान् हि सहस्रशः। लोकवेदनिषिद्धानि कर्माण्येवं प्रतर्दन!॥२१९॥

शापा द्विजोत्तमानां ये प्रतीकारविवर्जिताः। ब्रह्मास्त्रादीनि चास्त्राणि तादृशानि सहस्रशः॥२२०॥

मायाश्च दैत्यभेदानां मयस्यापि विमोहिकाः। शस्त्राणि दितिजैः शूरैर्मत्तोऽधिकबलैरपि॥२२१॥

प्रेषितानि भृशं क्रुद्धैर्मृत्युवक्त्रसमान्यपि। मेरुमन्दरभेदीनि नानाभेदान्यनेकशः॥२२२॥

हिंसा लोम्नोऽपि नो चक्रुः कुतः स्यान्मे व्यथा ततः॥२२३॥

दिवीति। दिवि स्वर्गलोके प्रह्लादनाम अङ्कं चिह्नमुपलक्षणं येषान्ते तथा, प्रह्लादसम्बन्धिन इति यावत्। एतादृशान् आसुरान् असुरान्, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्, हतवान् अस्मि। तथा विहायसि अन्तरिक्षलोके पौलोमान् पुलोमाया वैश्वानराख्यदानवसुताया अपत्यभूतान् हतवानस्मि। कालकया पुलोमाभगिन्या मात्रा आख्या निरूपणं येषां कालखंजानां ते तथा तान्; कालखंज्यान् इति पाठः साधुः। भुवि लोके हतवान् इति अतृणमिति श्रुतिपदस्यार्थः॥२१६॥

ब्रह्मघ्नस्येति। श्रुतिगततस्येति पदस्यार्थः पूर्वार्धेनोक्तः। शापेन इत्यतः पूर्वं तेषामिति शेषः। श्रुतिगताऽमीयतेति पदस्यार्थो विनष्टमिति॥२१७॥

अपेति। अपकीर्तिर्न जाता प्रत्युत विपरीतं कीर्तिः प्रशंसैव जातेति॥२१८॥ कीर्तिमभिनयति - आत्मेति। आत्मविज्ञानसम्पन्नः सन्निन्द्रो लोकवेदनिषिद्धानि कृतवान् इति एवम् इत्याकारा कीर्तिरभूद् इति पूर्वेण सम्बन्धः॥२१९॥

ऐसा था जो बड़े-बड़े जादूगरों को भी मोह में डाल दे! सूर्य जैसे चमकने वाले उनकी सामर्थ्य अलौकिक थी। किन्तु आत्मविज्ञान के बल से मैंने उनकी माया और सामर्थ्य का कोई विचार किये बिना उन दैत्य नेताओं को समाप्त कर दिया॥२१४-२१५॥ प्रह्लाद के नाम से अपना परिचय देने वालों को स्वर्ग में और वैश्वानरदानव की पुत्री पुलोमा के पुत्रों को अंतरिक्ष में मैंने मार गिराया। पुलोमा की बहन कालका से अपना सम्बन्ध जोड़ने वाले कालखंज असुरों को मैंने भूमि पर नष्ट किया'॥२१६॥

जिसके लिये इन घोर कृत्यों का वर्णन किया वह अपनी सामर्थ्य इन्द्र प्रकट करते हैं- 'ब्राह्मणों को, संन्यासियों को और दैत्यों को मारने वाले मेरा किसी भी शाप से या बाण से एक बाल भी बाँका न हुआ॥२१७॥ क्रूर कर्म करने वाले मेरी संसार में कोई अपकीर्ति भी नहीं हुई बल्कि महात्मा उसका गान करें ऐसी कीर्ति ही फैली॥२१८॥ आज तक महात्मा सुनाया करते हैं, 'आत्मविज्ञान से संपन्न इन्द्र ने लोक व वेद में निषिद्ध हजारों कर्म किये पर उसकी कोई हानि नहीं हुई।' हे प्रतर्दन! ऐसी मेरी कीर्ति है॥२१९॥ द्विजों में उत्तम माने जाने वाले ब्राह्मणों के जो अमोघ शाप थे, दैत्यादि के जो ब्रह्मास्त्र आदि हजारों अचूक अस्त्र थे, मयदानव को भी चकरा देने वाले मायाजाल थे, मुझ से भी अधिक बलवान्, शूर-वीर क्रोधित दैत्यों ने जो मौत के समान एवं मेरु-मंदरादि पहाड़ों को भी फोड़ देने में समर्थ विभिन्न शस्त्रों के समूह पूरे ज़ोर से मुझ पर प्रयुक्त किये थे, उन सब ने मेरे एक रोएँ को भी हानि नहीं पहुँचायी तो उनसे मुझे कोई पीडा कैसे होती?॥२२०-२२३॥

उपनिषत् में कहा है कि यह केवल इंद्र की विशेषता हो ऐसा नहीं, जो भी आत्मा को जान लेता है उसके किसी

समेषामेवं फलम्

यथा मम स्वविज्ञानाद् नाऽभूल्लोकद्वयेऽपि हि। हिंसा तथैव चान्यस्य मज्ज्ञानान्नैव ज़ायते॥२२४॥

लोकवेदनिषिद्धेन दुष्करेणाऽपि कर्मणा। पितृमातृवधेनाऽपि सुवर्णस्तेयतोऽपि वा॥२२५॥

श्रोत्रियस्य द्विजेन्द्रस्य गुणोदधिसमस्य वा। पूर्णदेहस्य गर्भस्य राज्याद्यर्हस्य धीमतः॥
स्वकीयस्य च वा तस्माद् दुष्करेण वधेन वा॥२२६॥

'लोमापि न विनष्टम्' (२.२१७) इत्युक्तमेव स्फुटयति - शापा इति चतुर्भिः। द्विजोत्तमानां शापाः, दैत्यानाम् अस्त्राणि, मायाः, शस्त्राणि च मम लोम्नोपि हिंसां न चक्रुः। ततः च मे ज्ञानेन ब्रह्मभूतस्य व्यथा कुतः स्याद् इति चतुर्णामन्वयः। कीदृशाः शापाः? प्रतीकारविवर्जिताः अमोघा इति यावत्। कीदृशान्यस्त्राणि? तादृशानि प्रतीकारविवर्जितानि। कीदृश्यो मायाः? मयस्य मायाचार्यस्य अपि विमोहिकाः विस्मयजनिकाः। कीदृशानि शस्त्राणि? शूरत्वादिविशिष्टैः अपि दैत्यैः प्रेषितानि निर्मुक्तानि मृत्योरास्येन समानि, तथा मेरुमन्दारादिपर्वतानामपि भेदनसमर्थानीति॥२२०-२२३॥

न चैतन्ममैव सामर्थ्यं किन्तु एतादृशज्ञानवतो यस्य कस्यापि - इत्यर्थकं 'यो माम्' इत्यादि 'पितृवधेन' (कौ.३.१) इत्यन्तं वाक्यं व्याचष्टे - यथा इत्यादिषड्भिः। यथा मम इन्द्रस्य स्वविज्ञानाद् आत्मतत्त्वस्य सम्यग्ज्ञानाद् लोकद्वये ऐहिकामुष्मिकरूपे हिंसा हानिरूपा नाऽभूत् तथाऽन्यस्य अपि मज्ज्ञानाद् मम स्वरूपस्य ज्ञानाद् हिंसा न जायत इति॥२२४॥

अथ यानि हानिजनकतया प्रसिद्धानि कर्माणि तानि तृतीयया पञ्चम्या च निर्दिशति - लोकेति। लोकवेदनिषिद्धेन अत एव दुष्करेण हानिकरत्वाद् दुःखेन कर्तुं शक्येन कर्मणाऽपि हिंसा न जायत इति पूर्वेण सम्बन्धः। एवमुत्तरत्राऽपि। सुवर्णस्य कर्षप्रभृतिपरिमाणपरिमितकांचनस्य स्तेयेन चौर्येण॥२२५॥

'भ्रूणवधेन' (कौ.३.१) इति व्याचष्टे - श्रोत्रियस्येति। 'सूत्रप्रवचनाध्यायी भ्रूणः' इति बौधायनसूत्रस्य वेदाध्ययनानन्तरं सूत्रभाष्याध्यायी भ्रूणसंज्ञ इत्यर्थकस्य अनुसारेण भ्रूणपदार्थः पूर्वार्द्धेनोक्तः। श्रोत्रियस्य द्विजेन्द्रस्य वधेन इत्यन्वयः। द्विजेन्द्रत्वे हेतुगर्भं विशेषणम् गुणोदधिसमस्येति। गुणाः प्रवचनान्ता विद्याः। वा-शब्दो भिन्नक्रमो गर्भस्येत्यस्य अग्रे बोध्यः। 'अविज्ञातस्य' इत्यपि गर्भविशेषणमध्याहार्यं, 'हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेद्' (मनु.११.८७) इति मनूक्त्यनुसारि। तथा च सप्तममासादौ पूर्णदेहोऽपि यो गर्भोऽविज्ञातो लक्षणैः पुंस्त्वादिना निर्णेतुमशक्यः, तस्य वधेन चेत्यर्थः। 'गर्भो भ्रूण' इत्यमरः। 'भ्रूणो गर्भिण्यां श्रोत्रियद्विजे गर्भेऽर्भके च' इति हैमः। अथ 'आततायिनमायान्तमपि वेदान्तपारगम्। जिघांसन्तं जिघांसीत न तेन भ्रूणहा भवेद्॥' इति व्यासेन ब्राह्मणे वेदान्तपारगे भ्रूणपदप्रयोगमालक्ष्याह - राज्याद्यर्हस्य धीमतो वा वधेनेति। 'सर्वस्वं ब्राह्मणोऽर्हति' (मनु.१.१००) इति वचनाद् ब्रह्मविदो राज्याद्यर्पणार्हत्वम्। स्वकीयस्य सुहृद इत्यर्थः। 'कृत्वा चैव सुहृद्वधम्' इति मनुना सुहृद्वधस्य ब्रह्महत्यासाम्याभिधानात्। तस्माद् लोकवेदविरोधाद् दुःशकेन वधेन वेति। तथा च सुहृदपि भ्रूणपदस्य गौणोऽर्थ इति भावः॥२२६॥

भी शुभफल की हानि उसका कोई पापकर्म नहीं कर सकता। चोरी, भ्रूणहत्या (ब्राह्मणवध), माँ-बाप की हत्या, ये घोर पाप भी उसके दुःख के हेतु नहीं बनते। चाहे वह पाप करना चाहे, उसके चेहरे की कांति फीकी नहीं पड़ती। इसी बात को इन्द्र द्वारा पुराणकार समझाते हैं-'आत्मतत्त्व के सम्यक् ज्ञान के प्रभाव से जैसे मेरी ऐहलौकिक या पारलौकिक कोई हानि नहीं हुई ऐसे ही जो कोई भी इस तत्त्व की सही जानकारी पा लेता है उसकी भी हानि नहीं होती॥२२४॥ लोक में व वेद में जिनका निषेध है और सज्जन द्वारा जिन्हे करना भी मुश्किल है, ऐसे कुकर्म भी ब्रह्मज्ञानी का नुकसान नहीं कर पाते। वे कर्म जैसे माँ-बाप को मार डालना, सोने की चोरी, वेद सूत्र और भाष्य पढ़े हुए जो गुणों के समुद्र के समान श्रेष्ठ ब्राह्मण हो उसका वध, सातवे महीने आदि में जिसका शरीर प्रायः पूरा निर्मित हो चुका हो ऐसे गर्भस्थ शिशु की

विप्रस्य वा त्रिवर्णस्य सुरापानोत्थितेन वा। निजां वा जननीं कामाद् ग्राम्यधर्मसमागमात्॥२२७॥

संवत्सरं वा संसर्गाद् ब्रह्महत्यादिकारिभिः। चतुर्भिः कर्मचण्डालैः पतितैः पातहेतुभिः॥२२८॥

एवमन्यैर्महाक्रूरैः पातकैश्चोपपातकैः। सङ्करीकरणाद्यैश्च लोकद्वयविनिन्दितैः॥२२९॥

श्रुत्युक्तपापानामुपलक्षणतामभिप्रेत्याह - विप्रस्येति। विप्रस्य सुरापानोत्थितेन पापेन;

'यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लाव्यते सकृत्। तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति'॥ (मनु.११.९७) इति मनूक्तेः। त्रिवर्णस्य वा तेन पापेन;

'सुरा वै मलमाख्यातं पाप्मा च मलमुच्यते। तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्॥' (मनु.११.९३) इति मनूक्तेः। गुरुतल्पगतामाह - निजामिति। निजां जननीं प्रति कामाद् हेतोः ग्राम्यधर्मरूपसमागमात् पापेन वेति पूर्ववत् सम्बन्धः॥२२७॥

पञ्चमं तत्संसर्गरूपं महापापमाह - संवत्सरमिति। ब्रह्महत्यादिकारिभिश्चतुर्भिः ब्रह्महसुरापस्तेनगुरुतल्पगरूपैः कर्मणा चण्डालैरत एव पतितैः, स्वसंसर्गिणां च पापहेतुभिः एतैः सह संवत्सरं संवत्सरपर्यन्तं संसर्गाद् एकशय्यासनादिरूपात्[१]॥२२८॥

एवमन्यैरिति। एवमन्यैः अपि पातकैः महापापसमतयोक्तैः शरणागतघातादिभिः , उपपातकैः गोवधादिभिः, सङ्करीकरणैः 'खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा। सङ्करीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च॥' (मनु.११.६८) इत्युक्तैः। आदिना जातिभ्रंशकरादिग्रहः। यथा

'ब्राह्मणस्य रुजःकृत्या घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः। जैह्म्यं पुंसि च मैथुन्यं जातिभ्रंशकरं स्मृतम्॥

निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम्। अपात्रीकरणं ज्ञेयमसभ्यस्य च भाषणम्॥ (मनु.११.६७,६९) इति। 'कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम्। फलैधःकुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम्॥' (मनु.११.७०) इति। अघ्रेयं लशुनादि। जैह्म्यं कौटिल्यम्। मद्यानुगतं मद्येन सहैकपिटकादावानीतमिति॥२२९॥

हत्या करना, राज्यादि पाने योग्य वेदान्तनिष्णात ब्राह्मण को मारना, या उससे भी दुष्कर अपने मित्रादि की हत्या, ब्राह्मण या त्रैवर्णिक होते हुए सुरा पीना, काम के वश में आकर अपनी माँ से मैथुन करना, ब्रह्महत्या आदि करने वाले स्वयं पतित व अपना साथ करने वालों को भी पतित बना देने वाले चारों तरह के कर्म चाण्डालों से साल भर सम्बंध रखना इत्यादि॥२२५-२२८॥ श्रुति में भ्रूण हत्या कहा है। सूत्रकारों ने सूत्र व भाष्य के जानकार विप्र को भ्रूण कहा है। गर्भ तो भ्रूण प्रसिद्ध है। अतः भ्रूणहत्या के दोनों अर्थ कर दिये। उस विप्र को भी यहाँ गुणसमुद्रतुल्य कहा है। गुणों से पढ़ा सकने की सामर्थ्य आदि सब योग्यतायें समझनी चाहिये। गर्भ की हत्या तब करना जब देहावयव बन चुके हों, अधिक पाप है अतः मूलकार ने 'पूर्णदेहस्य' यह जोड़ दिया है। क्योंकि स्मृतिकार मानते हैं कि सभी धन पर ब्राह्मण का अधिकार है इसलिए उसे राज्य पाने योग्य कह दिया है। मित्रादि सुहृद् की हत्या को मनु महाराज ने ब्रह्महत्या के समकक्ष माना है। यद्यपि श्रुति ने चोरी, भ्रूणहत्या व माँ-बाप की हत्या तीन पाप गिनाये हैं तथापि तात्पर्य है कि कोई भी पाप उसके दुःख का हेतु नहीं बनता अतः पुराणकार ने अन्यान्य बड़े पाप भी यहाँ गिन लिए हैं। ब्राह्मण के लिए सुरा पीना बहुत बड़ा दोष है जिससे वह शूद्र बन जाता है। वैसे तीनों ही वर्णों वालों के लिए सुरा पीना दोष ही है। अपनी माता, गुरु-पत्नी आदि से अशिष्ट व्यवहार बहुत बड़ा पाप है। ऐसे पापियों के साथ बैठना, खाना, इनके लिए पौरोहित्य करना, इन्हे पढ़ाना व इनसे वैवाहिक संबंध रखना, ये भी ऐसे दोष हैं जिन्हें करने वाला इन पापियों की तरह ही पतित हो जाता है। ये सभी

१. एकशय्याऽऽसनं पंक्तिर्भाण्डपक्वान्नमिश्रणम्। याजनाध्यापनं योनिः तथा च सहभोजनम्॥ नवधा सङ्करः प्रोक्तो न कर्तव्योऽधमैः सह॥ इत्यादिपदार्थः। अत्र सहभोजनं भुक्तशेषग्रहणम्।

अपि वाऽप्यात्मविज्ञानसम्पन्नस्य ममात्मनः। पापेच्छोरपि नापैतिं मुखकान्तिः कदाचन॥२३०॥

कण्डिकाशेषं व्याकरोति – अपि वेति। मम इन्द्रस्य य आत्मा स्वरूपमद्वितीयात्मरूपं तस्य मदात्मतया 'स एवाहमस्मि' इत्याकारेण विज्ञानमनुभवस्तेन सम्पन्नस्य ब्रह्मविदः पापेच्छोरपि पापं चिकीर्षोरपि मुखात् कान्तिः श्रुतिगतंनीलपदेनोक्ता नापैति न दूरीभवति; इतरेषान्तु पापाचरणे मुखकान्तिर्दूरीभवतीति प्रत्यक्ष इव ब्रह्मविद्योत्कर्ष इति भावः॥२३०॥

पाप करने पर भी आत्मज्ञानी किसी दोष वाला नहीं होता। एक प्रश्न उठता है कि क्या पाप करने की छूट मिलना ब्रह्मज्ञानी की सचमुच प्रशंसा है? उत्तर है कि यहाँ पाप की छूट मिलने का वर्णन नहीं है। ज्ञान से पूर्व हम दुःख से बचना चाहते हैं। दुःख है पाप का फल। ज्ञान के बाद दुःख नहीं होगा अर्थात् पापफल नहीं भोगना पड़ेगा, यह इस प्रसंग का अभिप्राय है। किंच पाप हो जायेगा इस भय से हम उचित करने से मुँह चुराते हैं। तत्त्वनिष्ठ यदि लोकसंग्रही है तो वह मुँह नहीं चुरायेगा। भगवान् भाष्यकार ने संन्यासी होकर माता का शवदाह दिया क्योंकि उसे उन्होंने अपने वचनानुसार उचित निर्णीत किया। यह ब्रह्मनिष्ठा के ही बल पर किया कार्य था। विद्यारण्य मुनि ने संन्यासी होकर शस्त्रधारण किया, उचित समझकर। यह भी तत्त्वनिष्ठा के आधार पर था। अतः पूर्वदुरित भोगने नहीं पड़ेंगे यह अज्ञानियों को फल दिखाया गया है। उत्तरकालिक प्रतीयमान कर्मों से अश्लेष होने से उनका फल होगा नहीं अतः उत्तरकालिक कर्म निर्भीक होकर किये जा सकेंगे। अत्यंत शुद्ध चित्त वाला ही तो ज्ञानी होगा इसलिए वह उस कर्म को करे जो सचमुच पाप हो यह संभव नहीं। वार्तिक में कहा है कि जो विहित भी नहीं करता, ऐसे न करने के शील वाले से यह कैसे आशा की जाये कि जिसे करना मना है उसे वह कर लेगा? पुनः शंका होती है कि पुण्यफल की भी प्राप्ति नहीं होती यह क्यों नहीं कहा? समाधान है कि पुण्यफल जो सुख है वह तो आत्मा का स्वरूप ही है और वह नित्य प्राप्त बना ही रहता है अतः उसका निषेध क्यों करें? जहाँ कहा भी जाता है वहाँ इतना ही तात्पर्य है कि सात्त्विक वृत्तिरूप सुख से तादात्म्याध्यास न होने से उसे ज्ञानी अपना नहीं समझता। किंतु उसमें अभिव्यंग्य सुख मैं हूँ यह तो निश्चय बना ही रहता है। यह प्राप्ति न हो कि इस अर्थवाद से कोई मूर्ख यों पाप करने की छूट के लिए वेदांतविचार में लग जायेगा, इसीलिए इन्द्र ने विद्या के मुख से अधिकारी के अद्रोहादि लक्षण विस्तार से बता दिये थे।

इन्द्र कहते हैं– 'इसी तरह के जो और भी संकरीकरण आदि महाक्रूर पातक, उपपातकादि हैं जो इस लोक में भी निंदित होते हैं और परलोक में भी निंदित फल ही देते हैं, वे भी मेरा और मेरे जानकार का कुछ नहीं बिगाड़ते'॥२२९॥ गधा, घोड़ा, ऊँट, हरिण, हाथी, बकरा, भेड़, मछली, साँप और भैंसा मारना संकरीकरण पाप है। शरणागत का घात करना आदि पातक हैं। गोवध आदि उपपातक हैं। ब्राह्मण को मारने आदि से खून निकालना, लहसुन आदि अघ्रेय और शराब को सूँघना, कुटिलता और पुरुष-पुरुष का परस्पर मैथुन ये जातिभ्रंशकर पाप हैं। निंदित लोगों से, जैसे वेश्यादि, धन लेना, निंदित पदार्थों का व्यापार, शूद्र की नौकरी आदि सेवा करना, गाली आदि असभ्य भाषण, ये अपात्रीकरण पाप हैं। कृमि, कीट व पक्षीयों को मारना, शराब के साथ एक गठरी आदि में रखा भोजन खाना, फल लकड़ी और फूल चुराना, थोड़ी हानि से अत्यंत विकल होना, ये मलिनीकरण पाप हैं। ये तो निदर्श मात्र हैं, सभी पाप प्रत्येक और मिलकर भी आत्मवेत्ता का स्पर्श भी नहीं करते यह अभिप्राय है।

'आत्मरूप मुझे अपने आप से अभिन्न जान चुका व्यक्ति, यदि पाप करने की इच्छा करे तो भी उसके मुख की कांति कभी दूर नहीं होती'॥२३०॥ सामान्य जन पापेच्छा होते ही क्षीणतेज हो जाते हैं क्योंकि उसे गलत जानते हुए करते हैं। ब्रह्मज्ञ को कोई भय नहीं अतः कांतिक्षय का प्रसंग ही नहीं।

सभी से सम्मान पाना भी ब्रह्मज्ञान का दृष्ट प्रभाव इन्द्र बताते हैं– 'जैसे राजा वैसे बन्धु आदि भी विद्वान् के इस आत्म-परमात्मा के अभेदनिश्चय को जानकर, वह चाहे पाप ही करना चाहता हो या बहुतेरे महापाप कर भी ले, तो भी

राजबन्ध्वादयस्तद्वज्ज्ञात्वाऽस्यैतां धियं सदा। पापेच्छानिरतं तद्वद् महापापौघकारिणम्॥२३१॥
न त्यजन्ति न भिन्दन्ति नैव शिक्षां च कुर्वते। प्रत्युताधिकमेवैनमाद्रियन्तेऽतिविस्मिताः॥२३२॥
न हि सर्वात्मविज्ञातुरन्य कश्चन विद्यते। नाऽनिष्टं कुरुते स्वस्य स्वात्मा कस्यापि देहिनः॥
राजादीनामयं स्वात्मा तेनास्मिन्नुचितं त्विदम्॥२३३॥

एवं श्रुत्वा प्रतर्दनप्रतिक्रिया

एवं हिततमं ज्ञानं श्रुत्वा शक्रस्य धीमतः। इङ्गितैरेव पप्रच्छ शक्रं सोऽपि प्रतर्दनः॥२३४॥
विस्मयाविष्टवदनः सम्यगुत्फुल्ललोचनः। नोक्तवान् प्रति वाक्यं तं स शक्रं साध्वसाधु वा॥२३५॥
तं स्तब्धसदृशं दृष्ट्वा सर्वज्ञः स शचीपतिः। इति तज्ज्ञः स्वमनसा व्यचिन्तयदिदं प्रभुः॥२३६॥

उक्तसूचितं सर्वमान्यतालक्षणं प्रभावान्तरमप्याह - राजेति द्वाभ्याम्। राजादयो बन्ध्वादयश्च अस्य विदुषः एतां साम्ये स्थितां धियं दृष्ट्वा तं विद्वांसं पापेच्छानिरतं तथा महापापकारिणमपि न त्यजन्ति न बहिष्कुर्वन्ति, न भिन्दन्ति भेदं शारीरं दण्डं न प्रापयन्ति, नैव शिक्षां प्रकुर्वते वाचापीति शेषः। प्रत्युतेत्यादि स्फुटम्॥२३१-२३२॥

'तस्य ह देवाश्च नाभूत्या ईशते, आत्मा हि तेषां भवति' (बृ.१.४.१०) इति श्रुतिमनुरुध्य उक्तार्थोपपत्तिमाह - न हीति। सर्वात्मविदपेक्षया भेदः कुत्रापि वस्तुनि नास्ति, तस्य सर्वात्मत्वात्। तथा कस्यापि देहिनः स्वात्मा स्वस्य आत्मनः अनिष्टं न कुरुत इति प्रसिद्धम्। तथा च अयं विद्वान् राजादीनां सर्वेषामात्मा सम्पन्नः तेन आत्मत्वेन अस्मिन् विदुषि इदम् अपकाराकरणमादरातिशयकरणं च सर्वेषाम् उचितमिति॥२३३॥

अथ द्वितीयां कण्डिकां व्याख्यातुं भूमिकामाह - एवं हिततमम् इत्यादिना 'प्राणो भवाम्यहं राजन्' (२.२५९) इत्यतः पूर्वतनेन ग्रंथेन। शक्रस्य मुखादिति शेषः। इङ्गितानि अभिप्रायसूचकचेष्टारूपाणि, तैः॥२३४॥

इङ्गितमभिनयति- विस्मयेति। विस्मयेन विस्मयकार्येण विकासादिना आविष्टं व्याप्तं वदनं यस्य स तथा। स प्रतर्दनः। साधु कृतार्थोस्मीत्याकारकम्, असाधु विरोधसंशयाद्यावेदकं वाक्यं तम् इन्द्रं प्रति नोक्तवान् इति। एतेन इष्टानिष्टयोर्दर्शनेन जन्या कर्तव्यानवधारणात्मिका जडता सूचिता। तदुक्तम् 'अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः। अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णीं भावादयस्तत्र॥' इति। प्रकृत इष्टदर्शनं श्रुतप्रभावतत्त्वज्ञानदान इन्द्रस्य वरेण वशी-कृतत्वालोचनम्; अनिष्टदर्शनं च मामेवेति वाक्यगतास्मच्छब्दस्य अनेकार्थतालोचनजन्यसंशयस्य अभिलापे बुद्धि-मान्द्यप्रादुर्भावात्मकदोषालोचनरूपम्। तथा च जडताया इङ्गितैः प्रकटनेन संशयोऽपि इन्द्राय प्रतर्दनेन प्रकाशितः। अयमाशय उत्तरश्लोकैः स्फुटीभविष्यतीति॥२३५॥

न उसका बहिष्कार करते हैं, न उसे कोई शारीरिक दण्ड देते हैं और न उसे डाँट कर कोई सीख देते हैं। बल्कि उसकी सामर्थ्य पर अचम्भा करते हुए उसका और अधिक आदर करते हैं'॥२३१-२३२॥

बृहदारण्यक में कहा है कि क्योंकि ब्रह्मज्ञानी देवताओं का भी आत्मा है इसलिए देवता भी उसका विरोध नहीं कर सकते। इसे व्यक्त करते हुए देवराज कहते हैं- 'जिसे सर्वरूप आत्मा का अपरोक्ष अनुभव है उससे अन्य तो कोई रह नहीं जाता। किसी भी देहधारी का निजात्मा समझ बूझकर अपना ही अनिष्ट करता नहीं। ब्रह्मविद्वान् राजा आदि सबका आत्मा है। इसलिए सभी के लिए यही उचित है कि उसका अपकार न करें, अधिकाधिक आदर ही दें'॥२३३॥

इस प्रकार तत्त्वज्ञानी इन्द्र के मुख से प्रतर्दन ने हिततम ज्ञान सुनकर बिना बोले अपनी स्थिति से ही व्यक्त कर दिया कि इस विषय में उसकी जिज्ञासा शान्त नहीं हुई॥२३४॥ उसका चेहरा आश्चर्य से चकित था, आँखें फटी रह गयीं थी। इन्द्र को वह न यह कह सका 'मैं कृतार्थ हुआ' और न उक्त ज्ञान के विषय में कोई विरोध या संशय प्रकट कर

तामालोक्येन्द्रो व्यचीचरत्

प्रतर्दनः स्वमनसा चिन्तयत्येवमत्र हि। इन्द्रेण स्वात्मविज्ञानमुक्तं हिततमं स्फुटम्॥२३७॥

तत्स्तुतिं कुर्वता स्वस्य पापास्पर्शश्च दर्शितः। दृष्टान्ताय यथा मे स्याद् विश्वासोऽस्मिन्नलौकिके॥२३८॥

प्रतर्दनसंशयस्योहनम्

तथाऽपि विषये मेऽस्य सन्देहो वर्ततेऽधुना। मां जानीहीति यत् प्रोक्तं मह्यमिन्द्रेण बोधनम्॥
तत्रास्मच्छब्दबोधाभ्यामर्थः को विषयीकृतः॥२३९॥

तं स्तब्धमिति (स्तब्धेति?)। स्तब्धेन जडेन सदृशम्, जडतालिङ्गानां कृत्रिमत्वादिति भावः। इदं वक्ष्यमाणम्॥२३६॥

इन्द्रविचारमभिनयति - प्रतर्दन इत्यादिना। अयं प्रतर्दनः एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण स्वमनसा चिन्तयति। अथ प्रतर्दनचिन्तामिन्द्रोऽभिनयति - इन्द्रेणेत्यादिना॥२३७॥

तत्स्तुतिमिति। तस्यात्मविज्ञानस्य स्तुतिं कुर्वता अनेनेन्द्रेण स्वस्य आत्मनः इन्द्रस्य पापासम्बन्धो दर्शितः। कस्मै? दृष्टान्ताय तत्र दृष्टान्तं वक्तुम्। यथा येन सदृष्टान्ततयाऽभिधानरूपेण प्रकारेण मे प्रतर्दनस्य अस्मिन् तत्त्वज्ञानफले, अलौकिके लोकाऽप्रसिद्धे विश्वासो भवेदिति॥२३८॥

तथापीति। तथापि ज्ञानस्य हिततमत्वादौ निर्णीतेऽपि अस्य इन्द्रप्रोक्तज्ञानस्य विषये मे संशयोऽस्ति - किंविषयकमिदं ज्ञानमेतादृशफलकमिति। एतदेव स्फुटयति - मामिति। बोधनं ज्ञानजनकं मां जानीहीति आकारकं वाक्यं यद् इन्द्रेण मह्यं प्रतर्दनाय प्रोक्तं, तत्र वाक्ये मामितिशब्देन तज्जन्यबोधेन च को वा अर्थो विषयीकृतो भवेत्? किं देवताविग्रहो वा, तदभिमानी जीवो वा, तत्साक्षी वेति?॥२३९॥

सका'॥२३५॥ इष्ट व अनिष्ट दोनों उपस्थित हो जायें तो व्यक्ति क्या करना चाहिये यह निश्चय नहीं कर पाता। इसे जडता की स्थिति कहते हैं। इस स्थिति में मनुष्य पलक झपकाये बिना देखता रह जाता है, कुछ बोल नहीं पाता और चित्रलिखित-सा हो जाता है। यहाँ प्रतर्दन को भी इष्ट अनिष्ट दोनों उपस्थित हो रहे थे। वर पाकर उसने मानो इंद्र को अपने वश में कर लिया था जिसके कारण वह ऐसा तत्त्वज्ञान दे रहे थे जिसका प्रभाव प्रतर्दन सुन चुका था। यह उसे इष्ट परिस्थिति लग रही थी। अनिष्ट यह था कि इन्द्र ने कहा था 'मुझे जानो' लेकिन 'मैं' से तो अनेक अर्थ समझे जा सकते हैं, इन्द्र किसे कह रहे हैं यह कैसे समझे? सूक्ष्मविषय में विचार करे इतनी कुशाग्र उसकी बुद्धि नहीं थी कि प्रश्न कर सके। इसलिए मिली हुई निधि भी हाथ नहीं आ पा रही, यह अनिष्ट परिस्थिति थी। अतः वह जडता को प्राप्त हुआ। इन्द्र तो उत्तम अध्यापक ठहरे! उनके लिए प्रतर्दन की जडता ही पर्याप्त इशारा हो गया उसकी संशयाकुल स्थिति का।

जड के समान स्थित प्रतर्दन को देखकर सर्वज्ञ होने से उसके भी मनोभाव पहचानने वाले देवराज शचीपति ने खुद यह विचार किया :॥२३६॥ 'प्रतर्दन अपने मन में यह विचार इस विषय में कर रहा होगा- इन्द्र ने स्पष्ट रूप से कहा कि स्वात्मा का विज्ञान ही हिततम है। उस विज्ञान की प्रशंसा करते हुए इन्द्र ने यह भी दिखा दिया कि उनका पाप से कोई स्पर्श नहीं होता। इस अलौकिक तथ्य के विषय में मुझे विश्वास दिलाने के लिए ही दृष्टांत के रूप में अपना पाप-अस्पर्श कहा। यद्यपि इतना मुझे जँच गया कि ज्ञान हिततम है तथापि इन्द्र द्वारा बताये ज्ञान के विषय में अभी भी मुझे संदेह बना हुआ है। इन्द्र ने मुझे समझाने के लिये जो यह कहा 'मुझे जानो', उस वाक्य में 'मुझे' इस शब्द से किसे कहा गया है, इस शब्द से जो ज्ञान होगा वह किसे विषय करेगा?॥२३७-२३९॥

एक तो ये देवतारूप इन्द्र मेरे सामने खड़े हैं जिनकी हज़ार आँखें हैं, हाथ में जो वज्र लिये हैं। ये शची के पति हैं और देवता इनके चरण-कमल की पूजा करते हैं। क्या 'मुझे' से ये इस देवताविग्रह को कह रहे हैं? या देह में कोई अन्य

इन्द्रोऽयं देवतारूपः सहस्राक्षः पुरो मम। वज्रपाणिः शचीनाथः सुरार्चितपदाम्बुजः॥२४०॥

किमयं वाऽस्य देहान्तरात्मान्यः सोऽपि कीदृशः। अस्मच्छब्दस्य वक्ता वा ततोऽन्यो वाऽपि बोधनः॥२४१॥

इत्यादिचिन्ताकुलितमानसोऽयं प्रतर्दनः। धीधनत्वेन मां नैव वक्ति किञ्चिन्नराधिपः॥२४२॥

इन्द्रो मदर्थं वृतवान् वरं हिततमं स्वयम्। मयोक्तस्तेन मे नात्र वक्तव्यं विद्यते क्वचित्॥२४३॥

इति सञ्चिन्त्य राजाऽयं न पृच्छति न भाषते। कृतार्थ इत्यसम्पन्नविज्ञानत्वात् प्रतर्दनः॥२४४॥

एतं संशयमभिनयति – इन्द्रोऽयमिति द्वाभ्याम्। मम पुरः स्थित इति शेषः॥२४०॥ किमयमिति। अयं देवताविग्रहो वा अस्मत्पदार्थः, किं वा अन्यः; बाह्यव्यावर्तनाय अन्यपदार्थविशेषणं देहान्तरात्मेति। देहान्तर आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा। अन्यत्वपक्षेऽपि कोटिद्वयं दर्शयति – सोऽपीति। सः देहान्तरः अन्योऽपि कीदृशः किं वागादिकरणविशिष्टः किं वा केवल इति। तत्राद्यकोटिः अस्मच्छब्दस्य वक्ता वा इत्यनेनोक्ता। द्वितीया तु ततोऽन्यो वा इति; ततो विशिष्टाद्; अन्यस्य संभावनायै विशेषणं बोधन इति, 'नन्द्यादित्वात्' कर्तरि ल्युः, प्रकाशक इत्यर्थः। जडोपाधिविशिष्टेन स्वप्रकाशनाऽसंभवात् ततोऽन्योऽपि कश्चित् प्रकाशकः संभाव्यत इति भावः। एवं च उक्तत्रिकोटिकः संशयः फलितः॥२४१॥

इत्यादीति। इत्यादिभिश्चिन्ताभिर्व्याकुलितं व्याकुलतां नीतं मानसं यस्य स तथा। आदिपदेन संशयकोटिषु आद्ययोः परिच्छिन्नज्ञानाद् अपरिच्छिन्नफलानुपपत्तिः, अन्त्यायां कोटौ ज्ञानविषयत्वानुपपत्तिः इत्यादिदोषचिन्ताग्रहः; संशयप्रकाशनाप्रकाशनयोर्गुणदोषचिन्तायाश्च ग्रहः। एतादृशोपि अयं प्रतर्दनो मां प्रति न किञ्चिद् वक्ति। तत्र हेतुः – धीधनत्वेनेति। धीरेव धनं धनवत् परिपाल्या, इष्टसाधनं वा, यस्य स तथा तस्य भावस्तत्त्वं तेन। तथा च बुद्धिमतां बुद्ध्यपकर्षसूचिका क्रिया न रोचत इति भावः॥२४२॥

यया बुद्ध्या प्रतर्दनेन मौनं कृतं तामिन्द्रोऽनुसन्दधाति – इन्द्र इति। मया उक्तः 'त्वमेव वृणीष्व' इति प्रयुक्तः सन् इन्द्रः स्वयम् एव मदर्थं हिततमं वरं वृतवान्, प्रतिश्रुत्य प्रकाशितवान् इति यावत्। तेन इन्द्रस्य वरप्रदानवशीकृतत्वेन अत्र सन्दिग्धेऽपि विषये मे मम वक्तव्यं प्रष्टव्यं न अस्ति। स्वयमेव सत्यसंरक्षणाय संशयमप्यपाकरिष्यतीति भावः॥२४३॥ इति सञ्चिन्त्येति। इति सञ्चिन्त्य अयं प्रतर्दनो राजा अत्र न पृच्छति, न वा कृतार्थः अस्मि इति भाषते। एवमभाषणे हेतुः – असंपन्नविज्ञानत्वादिति। असम्पन्नमवधारणरूपतालक्षणसम्पत्तिमप्राप्तं ज्ञानं यस्य स तथा तत्त्वात्। तथा च धीधनः सन् असम्पन्ने ज्ञाने कथं 'कृतार्थोस्मी'ति ब्रूयादिति भावः॥२४४॥

आत्मा है जिसे कह रहे हैं? वह अन्य आत्मा भी कैसा है : क्या जो 'मैं' शब्द कहने वाला है वह आत्मा है? अथवा उससे भी अन्य व उसका भी प्रकाशक कोई आत्मा है?॥२४०-२४१॥

इस तरह के विचार से व्याकुल मन वाला इस समय यह प्रतर्दन है। किन्तु इस राजा को अपनी बुद्धिरूप धन पर गर्व है इसलिये मुझसे कुछ पूछ नहीं रहा'॥२४२॥ इस तरह के अन्य विचार ये हो सकते हैं: यदि देवशरीर या वक्ता अर्थात् वाग् आदि करणों से विशिष्ट वस्तु 'मैं' हो तो वह परिच्छिन्न ही होगी, उससे अपरिच्छिन्न फल कैसे? और यदि उनसे भिन्न उनका प्रकाशक 'मैं' हो तो उसे ज्ञान का विषय कैसे बनाया जा सकेगा? इत्यादि। बुद्धि पर अभिमान करने वाले प्रश्न पूछ कर यह व्यक्त करने में संकोच करते हैं कि उन्हें समझ नहीं आया, यह प्रसिद्ध ही है।

फिर भी प्रतर्दन चुप क्यों हो गया? इस पर इन्द्र विचार करते हैं– 'प्रतर्दन सोचता होगा कि मेरी प्रार्थना पर इन्द्र ने ख़ुद मेरे लिये हिततम वर का चयन किया है अतः मुझे अभी कुछ नहीं बोलना चाहिये, अपनी सत्यवादिता के रक्षण के लिये ये स्वयं मेरे संशय भी हटायेंगे। यही सोचकर यह राजा कुछ पूछ नहीं रहा और क्योंकि इसे स्पष्ट आत्मानुभव हुआ नहीं इसलिये 'मैं कृतार्थ हूँ' ऐसा भी नहीं कह रहा॥२४३-२४४॥

ततो मयैव वक्तव्यमपृष्टेनाऽपि भूभुजे। यावदस्य न सन्देहो बोधे हिततमे भवेत्॥२४५॥

आनन्दात्मा मया नायमवाङ्मनसगोचरः। वक्तुं शक्यो न चानेन ज्ञातुमप्यत्यलौकिकः॥२४६॥

प्राणोस्मि प्रज्ञात्मेत्युपन्यासः

ततो ज्ञानक्रियाशक्ती प्राणप्रज्ञे हि लौकिके। आश्रित्याहं स्वमात्मानं कथयिष्याम्यलौकिकम्॥२४७॥

प्राणप्रज्ञोपाध्योर्वैशिष्ट्यम्

प्राणप्रज्ञे विहायैते न देहादीह तिष्ठति। क्रियाशक्तिस्तथा प्राणो न तिष्ठति धियं विना॥२४८॥

स्थावरेषु यतो नैष दृश्यते बुद्धिवर्जनात्। प्राणं विना तथा बुद्धिर्न दृष्टा हि घटादिषु॥२४९॥

एवं प्रतर्दनाभिप्रायमिन्द्रोऽवधार्य स्वकर्तव्यमालोचयति – तत इति। ततः एतन्मौनाभिप्रायस्य ज्ञातत्वाद् अपृष्टेनाऽपि मयैव अस्मै भूभुजे राज्ञे वक्तव्यम्। निरूपणावधिमाह – यावदिति। अस्य राज्ञो बोधेऽसन्देहः सन्देहाभावो यावद् भवेत् तावद् वक्तव्यमेवेति॥२४५॥

वक्तव्यत्वेऽपि किं साक्षादयमात्मा वक्तव्यः, किं वा उपाधिद्वारा? तत्र नाद्यः, असम्भवादित्याह – आनन्दात्मेति। अयमात्मा अलौकिकत्वेन अवाङ्मनसगोचरत्वाद् मया न साक्षाद् वक्तुं शक्यो न चानेन ज्ञातुं शक्य इति॥२४६॥

द्वितीये पक्षे प्राप्ते विप्रकृष्टमुपाध्यन्तरमुपेक्ष्य तत्प्रत्यासन्नौ प्राणप्रज्ञारूपोपाधी एवालम्ब्य एनं बोधयामीत्याह – ततो ज्ञानेति। ज्ञानक्रियाशक्तिरूपे लौकिके लोकप्रसिद्धे च प्राणप्रज्ञे उपाधी आश्रित्य अलौकिकं स्वात्मानमस्मै बोधयामीत्यन्वयः॥२४७॥

प्राणप्रज्ञयोरेवोपन्यासे हेतुमुपाध्यन्तराद् विशेषं दर्शयति– प्राणप्रज्ञेति। एते प्राणप्रज्ञे द्वे विहाय देहादिकं न तिष्ठति, प्राणप्रज्ञयोः सत्वे च तिष्ठति इति स्पष्टमन्वयव्यतिरेकाभ्याम् इतरसत्त्वासत्त्वप्रयोजकत्वं प्राणप्रज्ञयोरित्यर्थः। अयं भावः – आत्मबुबोधयिषया स उपाधिरुपन्यासमर्हति यत्रोपन्यस्यमाने बोधसौकर्यं लाघवं च भवेत्। भवति चान्वय-व्यतिरेकाभ्यामितरसत्त्वासत्त्वप्रयोजकत्वरूपात्मलक्षणेन प्राणप्रज्ञयोरात्मबुद्धाववतारितायां तयोः प्रवर्तके मुख्यात्मनि परिचयः; प्राणप्रज्ञापदयोः साक्षात् प्रवर्तकतया संनिहिते लक्षणायां च लाघवम्। इतरोपाध्युपन्यासे तु तदन्तर्गत-प्राणादिद्वारा आत्मपरिचयः परम्परासम्बन्धरूपलक्षणागौरवं च स्याद् – इति। ननु प्राणप्रज्ञयोः परस्परव्यतिरेकेऽपि सत्त्वात् कथमुक्तमात्मलक्षणमनयोरवतार्यते? इति आशंक्य, तयोरव्यतिरेकं दर्शयति – क्रियेत्यादिना। धियं प्रज्ञाम्॥२४८॥ यत्र प्रज्ञाभावस्तत्र प्राणाभाव इत्यत्र दृष्टान्तमाह – स्थावरेष्विति। न दृश्यते प्रत्यक्षो न भवति। प्ररोहादिना तत्र प्राणानुमाने तु लतानामुच्चदेशान्वेषणादिलिंगेन प्रज्ञानुमानमप्यविशिष्टम्। सुप्तौ तु प्रज्ञायाः सूक्ष्मरूपेणावस्थानमेवेति भावः। यत्र प्राणाभावस्तत्र प्रज्ञाभाव इति सदृष्टान्तमाह – प्राणमिति॥२४९॥

इसलिये जब तक हिततम ज्ञान के विषय में यह निःसंदिग्ध न हो जाये तब तक इसके न पूछने पर भी मुझे इस राजा को समझाना ही होगा॥२४५॥ वाणी और मन के अविषय इस आनन्दरूप आत्मा को साक्षात् कहना न मेरे लिये संभव है और लोक में अप्रसिद्ध इस तत्त्व को यह प्रतर्दन भी साक्षात् समझ नहीं सकता॥२४६॥ इसलिये ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति रूप जो लोकप्रसिद्ध प्राण व प्रज्ञा हैं उन उपाधियों के सहारे मैं इस अलौकिक निज आत्मा को बताऊँगा॥२४७॥

अन्य उपाधियों की अपेक्षा प्राण व प्रज्ञा में क्या विशेषता है कि आप इनका सहारा ले रहे हैं? इसका उत्तर इन्द्रदेव देते हैं– 'प्राण व प्रज्ञा इन दो के बिना देहादि रहते नहीं। क्रियाशक्ति रूप प्राण प्रज्ञा के बिना नहीं रहता क्योंकि स्थावरों में प्रज्ञा स्पष्ट नहीं तो प्राण भी स्पष्ट नहीं होता। इसी तरह प्राण के बिना बुद्धि नहीं देखी जाती जैसे घटादि में प्राण नहीं, तो प्रज्ञा भी नहीं'॥२४८-२४९॥ इन्द्र का अभिप्राय यह है: जिसके कारण जगत् स्थित है अर्थात् जिसके बिना जगत् रह नहीं

बुद्धिश्च जडरूपा हि प्रकाशं स्वात्मनः परम्। अपेक्षते यथा स्तम्भः प्राणेन सदृशी ततः॥२५०॥

प्राणप्रज्ञयोः स्वप्रवर्तकमुख्यात्मपरिचये हेतुतां दर्शयति - बुद्धिश्चेति। बुद्धिः स्वात्मनः स्वरूपात् परं भिन्नम् अपेक्षते, जडरूपत्वाद्, यथा स्तम्भः **स्वभानस्थितिप्रवृत्तीनां सिद्धये परं दीपादिकम् अपेक्षते तद्वद् इत्यनुमानं पादत्रयार्थः। प्रकाशम् इति विशेषणं तु प्रकृताभिप्रायम्।** ततः परापेक्षत्वात् प्राणेन सदृशीति। **तथा च प्राणप्रज्ञयोः उक्ततर्केण आत्मनि परिचयहेतुता प्रसिद्धैवेति भावः॥२५०॥**

सकता वह आत्मा है। अतः अपने से अन्य के रहने व न रहने का जो प्रयोजक हो वह आत्मा है। यह आत्मस्वरूप समझने के लिये ऐसी उपाधि पहले समझनी होगी जो देहादि के रहने व न रहने का प्रयोजक बने। जब देहादि से हटकर उस उपाधि में ही आत्मबुद्धि होगी तब उनके भी प्रवर्तक मुख्य आत्मा का परिचय हो सकता है। यद्यपि शरीरादि चाहे जिस उपाधि का विचार कर आत्मा तक पहुँचा जा सकता है तथापि जब तक अनेक वस्तुओं में हमें भ्रमकालिक आत्मप्रतीति होगी तब तक उस हर एक वस्तु के अनात्मत्व को विस्पष्ट करते जाना पड़ेगा। इसलिये अन्यत्र से हटाकर एकत्र आत्मबुद्धि भ्रमकाल में ही कर लेनी उचित है। प्राण-प्रज्ञा देहादि के रहने व न रहने के प्रयोजक स्पष्ट ही सब समझ सकते हैं। देहादि तक तो आत्मा पहुँचता है प्राण-प्रज्ञा द्वारा। प्राण-प्रज्ञा का वह साक्षात् प्रवर्तक है। अतः प्राण-प्रज्ञा यदि 'मैं' के वाच्य हो जायें तो इनसे संनिहित आत्मा 'मैं' का लक्ष्य आराम से होगा। इतरत्र 'मैं' की वाच्यता रहते साक्षात् संनिधि न होने से आत्मा को लक्ष्य करना 'मैं' शब्द के लिये मुश्किल होगा। इस तरह समझने की सुविधा और लक्षणा में लाघव होने से प्राण-प्रज्ञा द्वारा आत्मा का उपदेश उचित है। प्राण व प्रज्ञा यदि सर्वथा विभिन्न हों तो भी उन्हें आत्मा समझना संभव नहीं क्योंकि हमें ऐसा तो लगता नहीं कि हममें दो आत्मा हैं। इसलिये यह भी स्पष्ट किया कि वे एक-दूसरे के बिना नहीं मिलते अतः सर्वथा विभिन्न नहीं। स्थावरों में अर्थात् लता वृक्ष आदि में साँस चलता प्रत्यक्ष नहीं दीखता और उनमें प्रज्ञा है यह भी तुरंत नहीं पता चलता जैसे जीवित जानवरादि में चल जाता है। प्राण होना अनुमान से ही सिद्ध होता है अथवा सर्वथा हवा के बिना शीशे में बंद रखने पर वे सूख जाते हैं इससे समझ आता है। और अनुमान से तो प्रज्ञा भी समझ आती है क्योंकि लता अन्य का सहारा लेकर ऊँची उठती है, तना सूर्य की ओर बढ़ता है, मूल धरती-पानी की ओर बढ़ता है इत्यादि चेष्टायें बिना प्रज्ञा के कहीं दीखती नहीं। आधुनिकों ने तो यह भी प्रयोग किया है कि यदि किसी वृक्ष के नीचे उसी जाति के छोटे पौधे लाकर काट डाले जाते रहें तो वह वृक्ष दुर्बल होने लगता है, सूख जाता है। इससे वृक्षों में सुख-दुःख का अनुमान भी सहज है। यदि ये सब प्राकृतिक नियम से संभव मानें तब तो मनुष्य की प्रतिक्रियायें भी उन्ही नियमों से हो जायेंगी, उसी में प्रज्ञा (चेतना) मानने में क्या हेतु? यदि नियम तोड़ना हेतु हो तो वह स्थावरों में भी बहुतेरा उपलब्ध होता है। यदि स्वयं में भी प्रज्ञा न मानें तो अनुभव का अपलाप होगा जो प्रमाण के बिना संभव नहीं। आत्मा तो स्वतः प्रामाण्यस्वीकार से अपनी चेतनता के अनुभव से ही सिद्ध है। इसके बाध के लिये प्रमाण चाहिये, केवल उपपत्ति दूसरे ढंग से हो सकती है इसीसे आत्मानुभूति बाधित नहीं हो सकती। किं च सफलता भी वस्तुसत्ता में एक तर्कात्मक प्रमाण है। चिदात्मा स्वीकारने से मोक्षरूप साफल्य है व उसे न स्वीकारने का फल कुछ नहीं। इसलिये भी जडविलक्षण प्रज्ञारूप आत्मा सिद्ध है। अनात्मावादी का कथंचिद् मोक्ष है भी, तो वह मात्र दुःखनिवृत्तिरूप है, आनन्दरूप नहीं। इसलिये आत्मवाद ही श्रद्धेय है। वस्तुतस्तु आत्मप्रतिपादक श्रुतिवचन ही आत्मा में प्रमाण हैं। एवं च आत्मप्रज्ञा स्वीकार्य होने से प्रज्ञाशक्ति रूप उपाधि भी स्वीकार्य होगी और उक्त चेष्टाओं से स्थावरों में प्रज्ञा मानना समुचित है।

प्राण व प्रज्ञा अपने प्रवर्तक मुख्य आत्मा का परिचय कराने में समर्थ हैं-'क्योंकि बुद्धि जड है इसलिये वह अपने भान, स्थिति और प्रवृत्ति की सिद्धि के लिये अपने से भिन्न प्रकाश की वैसे ही अपेक्षा रखती है जैसे खम्भा। अतः परापेक्षी होने से प्रज्ञा भी प्राण के समान है॥२५०॥

प्राण व प्रज्ञा शब्दों का प्रसिद्धार्थ दिखाकर प्राणादि पदों के वाच्यार्थ वे नहीं कहे जा सकते, यह समझाते हैं-'शरीर

अन्तर्वायुः प्रचलति प्रजानाति तथैव धीः। प्राणः प्रज्ञेति वै तस्मादेतयोर्नाम देहिनाम्॥२५१॥

वस्तुतश्चलनं नैव जडानां दृश्यते क्वचित्। रथादयो यथा नैव दृश्यन्ते स्वयमेव हि॥२५२॥

अश्वादींश्चेतनान् हित्वा चलन्तः कर्हिचित् क्वचित्। प्रकर्षस्तत्र केन स्याद् मूलाभावात् तु हेतुतः॥२५३॥

ज्ञप्तिश्च न जडे क्वापि दृश्यते हि घटादिके। प्रकर्षश्च जडे ज्ञप्तेर्दूरापास्तः सदैव हि॥२५४॥

तस्माद् यत्संनिधावस्य जडस्येदं विजायते। प्रकर्षेण तथा वायोः स प्राणश्चेतनो भवेत्॥२५५॥

अथ लक्षणालाघवं स्फुटयितुं प्राणप्रज्ञाशब्दयोः मुख्यार्थं, प्रकृते मुख्यार्थबाधं च दर्शयति – अन्तर्वायुरिति चतुर्भिः। शरीरान्तर्गतो वायुः प्रकर्षेण चलति तस्मात् प्राण इति एतस्य अन्तर्वायोः नाम प्रकर्षेण अनिति चलतीत्यर्थसमन्वयात्। यस्माच्च धीः प्रकर्षेण जानाति तस्मात् प्रज्ञेति एतस्या नाम इति। कीदृशं नाम? देहिनाम् आत्मज्ञानहीनानामपि प्रसिद्धमिति शेषः॥२५१॥

वस्तुतस्तु मुख्यार्थोऽनयोर्बाधित इत्यभिप्रेत्य प्राणशब्दार्थस्य बाधं तावदाह – वस्तुत इति। वस्तुतो जडानां स्वयमेव चलनं न दृश्यते यथा रथादयो जडा अश्वादींश्चेतनान् हित्वा स्वयमेव चलन्तः सन्तः कर्हिचित् क्वचित् च न दृश्यन्ते। एवं सति प्राणशब्दान्तर्गताऽन्धात्वर्थः चलनमेव जडेऽन्तर्वायौ नोपपद्यते तर्हि तत्र चलने प्रकर्षः प्रशब्दार्थः केन हेतुना स्याद् उपपद्येत, अपि तु न स्यादेव। कस्मात्? मूलाभावरूपाद्धेतोः। यथा मूलधने सति तस्य वृद्धिरूपः प्रकर्षोऽपि संभाव्येत, नेतरथा; तथा चलनसामान्यरूपमूलस्याभावात् प्रकर्षो वृद्धिसमो दुर्वच इति भावः। 'मूलाभावत्वहेतुतः' इति पाठे प्रकर्षो वृद्धिसमः मूलेन सम्बध्येत। अन्तर्वायौ तु मूलाभावत्वं मूलसमस्य चलनस्य सोपपत्तिकस्य अभावत्वं वर्तते, अभावस्य अधिकरणात्मकत्वाभ्युपगमात्; तस्माद्धेतोरित्यर्थः॥२५२-२५३॥

प्रज्ञापदार्थबाधं बुद्धौ दर्शयति – ज्ञप्तिश्चेति। प्रज्ञापदार्थान्तर्गतज्ञाधात्वर्थो ज्ञप्तिः प्रकाशो घटादिके बुद्धिपर्यन्ते जडे बाधितः, प्रकर्षः तु नितरामित्यर्थः॥२५४॥

तस्माद् लक्षणया प्राणशब्द आत्मनि पर्यवस्यतीत्याह – तस्मादिति। तस्माद् यस्य चेतनस्य संनिधौ सति अस्य प्रत्यक्षाद्युपस्थापितस्य जडस्य देहेन्द्रियादिरूपस्य तथा वायोः च इदं चलनं प्रकर्षेण जायते स चेतन एव प्राणपदार्थ इत्यन्वयः। प्रकर्षेण आनयति चेष्टयत इति व्युत्पत्तेः, प्रकर्षश्च चालनस्य अनायाससाध्यत्वम्। यद्वा प्रकृष्टचलनशालिषु शक्तः प्राणशब्दः प्रयोजके गौण इति॥२५५॥

के अंदर होने वाली वायु 'प्र' अर्थात् विशेष रूप से 'अन' अर्थात् चलती है अतः उसे प्राण (प्र + अन) कहते हैं। क्योंकि बुद्धि 'प्र' अर्थात् विशेषरूप से 'ज्ञा' अर्थात् जानती है इसलिये उसे प्रज्ञा कहते हैं॥२५१॥ किन्तु वस्तुतः जड वस्तुओं में कभी ख़ुद ही चलना नहीं देखा जाता। रथ आदि जड पदार्थ घोड़े आदि चेतनों के बिना ख़ुद ही चलते हुए कभी कहीं देखे नहीं जाते। अतः शरीरान्तर्गत वायु में चलना रूप मूल ही नहीं हो सकता तो चलने में विशेषरूपता कैसे होगी?॥२५२-२५३॥ ऐसे ही घड़े आदि जड में कहीं भी ज्ञप्ति अर्थात् जानना (ज्ञान, प्रकाश) नहीं देखा जाता, इसलिये बुद्धि में, जो कि जड ही है, जानने की विशेषरूपता सर्वथा नहीं होगी'॥२५४॥ इस प्रकार यद्यपि प्राण व प्रज्ञा शब्द से समझे वायु और बुद्धि पदार्थ जाते हैं तथापि शब्द के अर्थ का विचार करें तो इन शब्दों से उन पदार्थों को कहना असंगत है।

प्रसिद्धार्थ का बाध होने से इन शब्दों से लक्षणा द्वारा अर्थ समझना होगा और तब आत्मा ही इनका अर्थ सिद्ध होगा, यह कहते हैं– 'अतः जिस चेतन की संनिधि होने पर प्रत्यक्षादिसिद्ध देहेन्द्रियादि संघात का और शरीरान्तर्गत वायु का चलना विशेष रूप से होता है वह चेतन ही प्राण शब्द का वास्तविक अर्थ है'॥२५५॥ विशेषरूप से चलाने वाला होने से

प्रकाशयति यः सर्वं स ज्ञप्तिश्चेतनः स्मृतः। आत्मानं च प्रकर्षेण जडजातप्रकाशनात्॥२५६॥

स्वसजाति विजात्युत्थभेदाभावेन हेतुना। स्वप्रकाशेन चात्मानमात्मा जानाति नाऽपरः॥२५७॥

प्राणप्रज्ञाभिधेयोऽहमानन्दात्मा न चापरः। तत एवेति सञ्चिन्त्य शक्रो राजानमुक्तवान्॥२५८॥

पुनरिन्द्रोपदेशः

प्राणो भवाम्यहं राजन् क्रियायाः कारणं परम्। प्रज्ञावपुः स्वप्रकाशः सर्वभेदविवर्जितः॥२५९॥

तं मां ज्ञानक्रियाहेतुं भेदशून्यं स्वयं प्रभुम्[१]। आयुष्करं स्वयं मृत्युशून्यं त्वदुपदेशकम्॥२६०॥

प्रज्ञापदस्यापि तथात्वमाह – प्रकाशयतीति। यः सर्वं प्रकाशयति स चेतनः ज्ञप्तिः **प्रज्ञापदघटकज्ञाधात्वर्थो भवेत्। आत्मानं यतः** प्रकाशयति **तस्मात्** प्रकर्षेण ज्ञप्तिः **प्रज्ञापदार्थो भवेत्।** चकार **एवकारार्थः। सर्वं प्रकाशयतीत्यत्र हेतुः – जडजातप्रकाशनादिति। जडजातस्य जडसामान्यस्य। गौणप्रकाशो बुद्धिस्तु स्वात्मकजडमपि न प्रकाशयतीति प्रसिद्धम्॥२५६॥**

'आत्मानं च' (२.२५६) इत्येतदुपपादयति – स्वसजातीति। **आत्मनः सजातीयादिभेदराहित्येन परस्य प्रकाश्यस्य दुर्वचत्वात्** स्वप्रकाशेन **यदा** आत्मा **प्रकाशयति** तदा आत्मानम् **एव प्रकाशयति। एतादृशश्चान्यो नास्तीत्यर्थः॥२५७॥**

फलितमाह – प्राणेति। **अभिधेयः** प्रतिपाद्यः। तत उक्तानुपपत्तेः। इति सञ्चिन्त्य मनसि निधाय। **द्वितीयकण्डिका-व्याख्यामारभते** – शक्र इत्यादिना। शक्र इन्द्रः। राजानं **प्रतर्दनम्॥२५८॥**

आत्मा को ण्यन्त-व्युत्पत्ति से या गौण दृष्टि से प्राणशब्द का अवयवलब्धार्थ समझ सकते हैं। वस्तुतस्तु तात्पर्यविषयीभूत अर्थ ही मुख्य होता है, वह चाहे वाच्य हो और चाहे लक्ष्य। अतः आत्मा की मुख्यार्थता ही है, गुणसम्बन्धकृत गौणार्थता नहीं।

प्रज्ञापद से भी आत्मा कहा गया बताते हैं–'जो सबको प्रकाशित करता है वह चेतन ही ज्ञप्ति समझा जाता है। समस्त जडों के प्रकाशन की अपेक्षा वह विशेष रूप से अपना भी प्रकाशन करता है इसलिये वही प्रज्ञा शब्दार्थ है॥२५६॥ आत्मा में स्वगत, सजातीय और विजातीय भेद न होने से अन्य तो कोई है नहीं कि उससे आत्मा जाना जाये, अतः आत्मा ही अपने प्रकाश से अपने आप को जानता है'॥२५७॥ यहाँ कर्तृकर्मविरोधादि शंका उचित नहीं। प्रथमतस्तु तादृश विरोध नहीं होना चाहिये ऐसी कोई राजाज्ञा तो है नहीं अतः सूर्यादि में स्वयं का प्रकाशन उपलब्ध होने से दृष्ट में अनुपपत्ति अकिंचित्कर है। आत्मा का आत्मप्रकाशन भी स्वानुभवसिद्ध है। और यदि तादृश विरोध परिहार्य ही हो तो आकरों में विस्तार से परिहार किया ही गया है। संक्षेप में इतना ही पर्याप्त है कि अन्य से प्रकाशित हुए बिना प्रकाशमान होना स्वप्रकाशता है। इसे ही यहाँ अपने आप को जानना कहा है।

'इसलिये प्राण-प्रज्ञा शब्दों का बोध्य अर्थ आनन्दरूप आत्मरूप मैं ही हूँ, और कोई नहीं।' यह विचार कर इन्द्र ने राजा प्रतर्दन के कहा :॥२५८॥

उपनिषत् की द्वितीय कण्डिका में इन्द्र ने कहा है 'प्राणशब्द से कहा जाने वाला, प्राण उपाधि वाला और बुद्धिवृत्ति में प्रतिफलित प्रज्ञानमात्र-स्वभाव वाला प्रज्ञात्मा मैं हूँ। 'प्राण प्रज्ञात्मा इन्द्र आयु अमृत है' ऐसी उपासना करो। आयु और प्राण एक ही हैं। प्राण ही अमृत भी है। जब तक इस शरीर में प्राण रहता है तभी तक आयु रहती है। प्राण से ही परलोक में अमृत अर्थात् सुख प्राप्त होता है। ज्ञानशक्तिरूप प्रज्ञा से सत्य की और 'यह मुझे प्राप्त होवे' इत्यादि संकल्प की प्राप्ति होती है। मेरी ऐसे जो उपासना करता है वह इस लोक में सौ बरस आयु पाता है और स्वर्ग में अक्षय अमृत प्राप्त करता

---

१. स्वयम्प्रभमिति टीकापाठः प्रतीयते।

प्रत्ययानपरान् हित्वा विचार्योक्तं मया मुहुः। मदेकविषयैर्बोधैर्घटवद् विद्धि मानसे॥२६१॥

आय्वमृतयोः प्राणाद् न भेदः

आयुस्तथाऽमृतं यत्ते द्वयमुक्तं विशेषणम्। न तत् प्राणाद् विभिन्नं त्वं जानीथा दण्डवद् नरात्॥२६२॥

प्राणो भवामीति। परं **प्रकृष्टं**, क्रियायाः **यतः** कारणम् **अस्मि ततः प्राणः अस्मि।** प्रज्ञावपुः **प्रज्ञारूपोऽप्यस्मि यतः स्वप्रकाशो भेदवर्जितश्चेति॥२५९॥** तं मामिति। तं मां; **तत्पदार्थमभिनयति – ज्ञानक्रियाहेतुं ज्ञानानां क्रियाणां च संनिधिमात्रेण साधकम्, भेदशून्यं स्वयंप्रभं चेति। आयुरिति विशेषणस्य उक्तात्मपरत्वाद् योऽर्थस्तमाह – आयुष्करमिति। जीवनप्रयोजकममृतपदार्थमाह–** स्वयं मृत्युशून्यमिति। **मामिति पदार्थमाह – त्वदुपदेशकं त्वदुपदेशकेन अनेन देवतारूपेण उपलक्षितम्॥२६०॥**

एतादृशं माम् इति अनेन प्रकारेण उपास्स्व[1] उपासनावद् विजातीयप्रत्ययतिरस्कारेण सजातीयप्रत्ययधारागोचरं कुरु – इति व्याकुर्वन्नाह – प्रत्ययानिति। मया उक्तं **प्रज्ञाप्राणाऽऽयुरमृतपदैः प्रतिपादितं** मद्रूपं मुहुर्विचार्य अपरान् **विजातीयगोचरान्** प्रत्ययान् **बोधान्** हित्वा मदेकविषयैः मानसे **वर्तमानैः** बोधैः विद्धि **अपरोक्षं कुरु। कथम्?** घटवद् **यथा घटो धारावाहिकज्ञानविषयः क्रियते तद्वदिति; तत्परो भवेदिति यावत्। एवं श्लोकत्रयेण 'उपास्स्व' इत्यन्तवाक्यस्य प्राणादिपदलक्षणया लभ्य इन्द्रविवक्षितोऽर्थ उक्तः। शक्तिलभ्यस्तु प्राणप्रज्ञात्माऽऽयुरमृतमस्मीत्याकारेण उपास्स्वेत्याकार एव; उपाध्युपन्यासस्यापि लक्ष्यप्राप्तिसाधनताया उक्तेरित्यवधेयम्॥२६१॥**

पूर्ववाक्यं दृष्ट्वा इत्थं सन्दिह्यते – किं प्राणप्रज्ञाऽऽयुरमृतानि समप्रधानानि अहंपदार्थेन अन्वितानि भवन्ति? किं वा प्राणपदार्थे विशेषणीभूय इतराणि तत्र अन्वयन्ति? इति। प्राणपदार्थे विशेषणीभावेऽपि कीदृशी विशेषणता – किं भेदघटिता, 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छां.३.१८.१) इत्यत्र मनसि तद्भिन्नस्य ब्रह्मण इव? किं वाऽभेदेन, ब्रह्मणि सत्यत्वादेरिव? इति। एतत्संशयवारकं 'प्राणो वा आयुः' इत्यादि 'स्वर्गे लोके' (कौ.३.२)[2] इत्यन्तं वाक्यं व्याचष्टे – आयुरित्याद्यष्टभिः। आयुरमृतम् इत्याकारकं यद् विशेषणद्वयम् उक्तं तद् विशेषणद्वयं पुरुषाद् दण्डो यथा भिन्नस्तथाऽऽयुः प्राणाद् भिन्नं न भवति किन्त्वभिन्नमेवेति। तथा च प्राण आयुरमृतापेक्षया प्रधानमभेदेन च विशेषणता इति सिद्धम्॥२६२॥

है।' इस श्रुतिवाक्य की व्याख्या अब पुराण में की जायेगी।

इन्द्र ने क्या कहा यह बताते हैं– 'हे राजन्! क्योंकि मैं क्रिया का प्रकृष्ट (स्वतंत्र) कारण हूँ इसलिये मैं प्राण हूँ। सारे भेदों से रहित स्वयम्प्रकाश प्रज्ञारूप भी मैं ही हूँ॥२५९॥ तुम अपने उपदेशक इस देवतारूप से उपलक्षित मुझे –जो मैं ज्ञान का व क्रिया का हेतु हूँ, भेदों से रहित हूँ व ख़ुद अपना मालिक अर्थात् सर्वस्वतंत्र हूँ– आयु का कारण और स्वयं नष्ट न होने वाला समझना॥२६०॥ मैंने जो बताया है उस पर बारम्बार विचार कर, उक्त स्वरूप वाले मुझे न विषय करने वाले विचार मन में न लाते हुए, केवल मेरे ही विषय में होने वाले ज्ञानों से तुम अपने मन में मुझे वैसे ही जानो जैसे टकटकी लगाये घड़े को देखा जाता है॥२६१॥ घटदृष्टांत से सूचित किया कि यह तथ्यचिंतन का विधान है, आरोप सम्पद् आदि उपासना नहीं। रत्न, स्वर आदि सूक्ष्म वस्तुओं के समग्र ज्ञान के लिये प्रत्ययावृत्ति अपेक्षित होती ही है। क्योंकि सिद्ध वस्तु का ही ज्ञान है इसलिये भावनाजन्यता का प्रश्न ही नहीं उठता। व्यावर्त्यों की अनेकता से निर्विशेष के भी नाना प्रत्यय सार्थक हो जाते हैं। कुछ पुरातनों की यह शंका कि प्रत्ययावृत्ति मानने पर कितने प्रत्यय चाहिये? – स्वयं अपार्थक है; क्योंकि जैसे रत्नज्ञानादि में प्रत्ययसंख्या का नियम नहीं, जितनी आवृत्ति निर्विचिकित्स ज्ञान करा दे उतनी ही पर्याप्त है, वैसे प्रकृत में भी। अपरोक्ष ज्ञान की आवृत्ति मानने से यह प्रसंग भी नहीं कि परोक्ष ज्ञान को आवृत्ति से अपरोक्ष कैसे

---

१. 'स होवाच प्राणोस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इति द्वितीयकण्डिकारम्भवाक्यम्।

२. 'प्राणो वा आयुः प्राण एवामृतं यावद्ध्यस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति तावदायुः। प्राणेन ह्येवामुष्मिँल्लोकेऽमृतत्वमाप्नोति। प्रज्ञया सत्यं सङ्कल्पं। स यो मामायुरमृतमित्युपास्ते सर्वमायुरस्मिँल्लोक एत्याप्नोत्यमृतत्वमक्षितिं स्वर्गे लोके'– इति वाक्यम्।

यथाऽऽकाशो नभः प्रोक्तं नभोऽप्याकाशमेव हि। तथाऽऽयुरमृतं प्राणः प्राण आयुरनश्वरम्॥२६३॥
न चात्र व्यर्थताशङ्क्या पुनरुक्तत्वहेतुतः। यतो जीवति लोकेऽस्मिन् प्राणेन प्राणभृज्जनः॥२६४॥
तथा शरीरसंपाते स्वर्गमोक्षामृतं व्रजेत्। ततोऽमृतायुःशब्दाभ्यां प्राण आत्मा मयेरितः॥२६५॥

अभेदं पर्यायशब्दार्थदृष्टान्तेन स्फुटयति- यथेति। यथा आकाशनभःपदार्थयोरभेदस्तथा आयुरमृतपदार्थयोः प्राणशब्दार्थेनाऽभेद इति। अनश्वरम् अमृतम्॥२६३॥

पर्यायद्वयवद् अन्यतमवैयर्थ्यमाशंक्य; सत्यज्ञानादिशब्दवत् प्रवृत्तिनिमित्तभेदाद् मैवमित्याह - न चात्रेति। अत्र आयुरमृतपदयोः प्राणपदेन सह प्रयोगे पुनरुक्तत्वरूपाद्धेतोः व्यर्थता न शङ्क्या, ताभ्यामर्थविशेषावगतेरिति शेषः। कथमिति चेत्? शृणु- यतः प्राणभृज्जनः प्राणेन एव शरीरे स्थितेन जीवति इत्युच्यते जीवनप्रयोजकश्च भाव आयुःपदार्थो लोकेऽपि, तथा शरीरपातानन्तरं स्वर्गरूपं मोक्षरूपं वाऽऽमुष्मिकफलममृतं प्राणेनैव जनो व्रजेद्, 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' (ई.११), 'अपाम सोमममृता अभूम' (ऋ.६.४.११) इत्युक्तं कर्मविद्ययोः फलं देवभावो ह्यमृतं स च प्राणाद् नातिरिच्यत इति। तत एतादृशविशेषबोधकत्वाद् अमृतायुःशब्दाभ्यां प्राण उक्त इति॥२६४॥ ॥२६५॥

करेंगे? वस्तुतस्तु प्रत्ययावृत्ति का आवृत्तिभाग चरम ज्ञान का हेतु नहीं, ज्ञानभाग ही है। आवृत्ति का उपयोग तत्तत्संशयादि की निवृत्ति के लिये है। अनावृत्ति का अभिनिवेश रखने वाले मानते हैं कि समग्र अज्ञान की निवृत्ति करने वाली वृत्ति की आवृत्ति नहीं स्वीकारी जा सकती। आवृत्ति मानने वाले भी उसकी आवृत्ति नहीं स्वीकारते। इस प्रकार यहाँ जो उपसना कही है वह यथावस्तु है, ज्ञानार्थ है।

इन्द्रवाक्य में यह संदेह उठता है : प्राण, प्रज्ञा, आयु और अमृत ये चारों तुल्य प्रधान रहते हुए अहम्पदार्थ से सम्बद्ध होते हैं, या प्रज्ञादि सब प्राण के विशेषण बनकर अहम्पदार्थ से सम्बद्ध होते हैं? यदि प्राण के विशेषण बनते हों तो पुनः प्रश्न होता है कि विशेषणता क्या भेदघटित है जैसे 'मन ब्रह्म ऐसी उपासना करे' आदि में, या अभेदघटित है जैसे ब्रह्म में सत्यता की विशेषणता? इस संदेह को उपनिषत् ने प्राण ही आयु है इत्यादि कहकर निवृत्त किया है। उसी बात को स्पष्ट करते हैं- 'आयु और अमृत ये दो विशेषण जो तुम्हे बताये इन्हे तुम प्राण से वैसे भिन्न मत समझना जैसे मनुष्य से दण्डा भिन्न होता है'॥२६२॥ इससे कहा कि आयु व अमृत की अपेक्षा प्राण प्रधान है तथा विशेषणता अभेदघटित है।

जैसे पर्यायशब्द एक ही अर्थ कहते हैं वैसे यहाँ अभेद है यह बताते हैं - जैसे आकाश नभ कहा जाता है और नभ भी आकाश ही कहा जाता है, वैसे अमृत व आयु ही प्राण है और प्राण ही अनश्वर (= अमृत) व आयु है'॥२६३॥ अर्थात् आयु व अमृत पदों का जो अर्थ है वही प्राणशब्द का है।

शंका होती है कि जैसे दो पर्यायों का इकट्ठे प्रयोग करें तो उनमें एक शब्द व्यर्थ ही होता है क्योंकि किसी भी एक से अर्थलाभ हो जाता है वैसे यहाँ भी आयु, अमृत और प्राण इन शब्दों में एक को छोड़ बाकी व्यर्थ क्यों न होंगे? समाधान है कि जहाँ प्रवृत्तिनिमित्त का भेद हो वहाँ पर्यायों की व्यर्थता नहीं होती। जिसे निमित्त कर वाच्य-वाचक का सम्बंध होता है उस वाच्य एवं वाच्यनिष्ठ को प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं। 'काटा जाना' इस विशेषता को निमित्त कर पेड़रूप वाच्य का वृक्षरूप वाचक से सम्बंध है, 'काटा जाना' यह वृक्ष का वाच्य भी है और वृक्षवाच्य पेड़ में स्थित भी है अतः वृक्षशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है। 'मूल से जल ग्रहण करना' यह इसी तरह पादपशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है। चाहे वृक्ष और पादप शब्द पेड़ रूप एक ही पदार्थ के वाचक अतः पर्याय हैं, फिर भी दोनों का इकट्ठे प्रयोग होने पर एक की व्यर्थता नहीं होती क्योंकि दोनों के प्रवृत्तिनिमित्त अगल-अलग हैं। ऐसे ही यद्यपि एक ही आत्मवस्तु सत्य भी है ज्ञान भी और अनंत भी लेकिन सत्यादि शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त अलग-अलग हैं इसलिये इनका इकट्ठे प्रयोग होने पर भी इनमें किसी की व्यर्थता नहीं होती। इसी न्याय से प्रकृत में व्यर्थता न होगी यह बताते हैं- 'आयु व अमृत पदों का प्राण पद के साथ

प्रज्ञाप्राणयोः समप्रधानता

प्रज्ञाविशेषणं चैव प्राणभेदविवर्जिते। यतोऽहं प्रज्ञया प्राप्यो वेद्म्येतत्सदसद्वपुः॥२६६॥

प्राणोपास्तिफलम्

उपास्तेऽपि च मां यो हि प्राणमायुः स जीवति। शतसंवत्सरं राजन्नमृतं च तथैव हि॥२६७॥

य उपास्ते स गच्छेद्धि स्वर्गलोकमविच्युतम्। उभयोपासनात् तद्वत् फलद्वयमदो भवेत्॥२६८॥

प्रज्ञारूपविशेषणे तु प्राणेन समप्रधानभावरूपं विशेषमाह - प्रज्ञेति। प्रज्ञारूपं विशेषणं तु प्राणभेदविवर्जिते मय्येव साक्षादन्वितमिति शेषः। प्राणभेदो विवर्जितो येन स तथा तस्मिन्। यथा प्राणः क्रियाशक्तिरुपाधिः अभेदेन मयाङ्गीकृतः तथा प्रज्ञाऽपीत्यर्थः। प्रज्ञाया विज्ञानशक्तितया स्वरूपलाभप्रयोजकता। तत्र हेतुतयाह - यत इति। यतोऽहं प्रज्ञया अपि प्राप्यो भवामि। कथमिति चेत्? शृणु - अहं प्रज्ञयैव एतादृशं सदसद्वपुः सत्यं व्यावहारिकम्, असद्वपुःसङ्कल्पमात्रशरीरं प्रातिभासिकं वा वेद्मि। तथा च साऽपि करणतया मामुपलक्षयतीति भावः॥२६६॥

प्राणोपाधेरायूरूपेणामृतरूपेण चोपासनस्य फलमाह - उपास्तेऽपीति। यो मां प्राणमायुः इति रूपेण उपास्ते स शतसंवत्सरं जीवति। तथा अमृतम् इति रूपेण यः प्राणमुपास्ते सोऽविच्युतम् अक्षयं श्रुतौ 'अक्षिति' शब्देनोक्तं स्वर्गलोकं गच्छेद् इति। उभयेन विशेषणद्वयेन विशिष्टात् प्राणोपासनाद् अद उक्तं शतसंवत्सरजीवन-स्वर्गलोकरूपं फलद्वयं भवेद् इति॥२६७-२६८॥

प्रयोग होने पर भी पुनरुक्तिरूप हेतु से व्यर्थता की शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि उन दोनों शब्दों से अर्थगत कोई विशेषता समझ आती है। प्राणधारी व्यक्ति इस लोक में प्राण से ही जीता है और जिससे जीता है वही आयु कही जाती है। अतः 'इससे जीते हैं' यह प्राण की विशेषता आयुशब्द से मालूम पड़ती है। तथा यह शरीर छूटने पर स्वर्ग में मोक्षरूप अमृत की प्राप्ति प्राण से ही होती है यह उसे अमृत कहने से पता चलता है। इसीलिये मैंने अमृत व आयु शब्दों से प्राणरूप आत्मा को कहा है॥२६४-२६५॥ मूलकार ने 'स्वर्गमोक्षामृतम्' कहा है जिससे टीकाकार ने स्वर्गरूप या मोक्षरूप अमृत समझा है। स्वर्गरूप अमृत प्राण से मिलता यह तो स्पष्ट है। मोक्ष-रूप अमृत भी प्राणसाध्य साधना से एवं प्राणाभिन्न प्रज्ञा से ही मिलता है यह जानना चाहिये। अथवा मोक्षशब्द सुखबोधक मानकर केवल स्वर्ग के सुख का प्रापक प्राण समझना चाहिये। तब 'शरीर-संपात होने पर' यह कथन ऋजु होगा। मोक्ष से कैवल्य ही समझना हो तो देह में आत्मधीनिवृत्ति को देहसम्पात समझ लेना चाहिये।

इस प्रकार अमृत और आयु ये दो विशेषण प्राण से अभेदेन जुड़कर अहम्पदार्थ से सम्बद्ध होते हैं। अब कहते हैं कि प्रज्ञारूप विशेषण प्राण के तुल्य प्रधानता रखता है अतः सीधे ही अहम्पदार्थ से सम्बद्ध होता है- 'प्रज्ञारूप विशेषण तो प्राणभेदरहित मुझ से साक्षात् सम्बद्ध होता है क्योंकि मुझे प्रज्ञाद्वारा भी पाया जा सकता है। प्रज्ञा से ही मैं व्यावहारिक और प्रातिभासिक को जानता हूँ अतः वह भी प्राण की तरह करण होने से मुझे उपलक्षित करती है'॥२६६॥ जैसे क्रियाशक्ति प्राण उपाधि को आत्मा अपने से अभिन्न समझे हुए है वैसे ही विज्ञानशक्ति प्रज्ञा उपाधि को भी। यह आलोचनीय है कि उपनिषदें आत्मा की क्रियाशक्ति का बहुधा वर्णन करती हैं। लोक में भी क्रिया से चेतनता का पता लगाया ही जाता है। इससे यह कहा जा सकता है कि अखण्ड ज्ञान जैसे पारमार्थिक स्वरूप माना है, जो उपाधि से सखण्ड लगता है, वैसे अखण्ड क्रिया क्यों नहीं? वस्तुतः यद्यपि ऐसा मानने में कोई हानि नहीं तथापि सूक्ष्म विचार करने पर द्रव्य व ज्ञान इनसे अतिरिक्त क्रिया सिद्ध नहीं हो पाती इसलिये पारमार्थिक स्तर पर क्रिया को पृथक् कर नहीं कहा गया है। किंतु सर्वशक्तिमत्ता को आत्मा में माना ही गया है। व्यवहारभूमि पर तो क्रिया स्वतंत्र है ही अतः क्रियाशक्तिरूप उपाधि में आत्मा ही क्रियारूप से दीखता है यह मान्य ही है। बल्कि सांख्यपक्ष से वेदान्त में यह विशेषता भी स्पष्ट ही है।

किं पुनर्निर्विशेषं यत् सर्वाध्यासविवर्जितम्। विजानाति प्रयात्यत्र स आयुरमृतं पुमान्॥२६९॥

प्रतर्दनप्रश्नः

एवं शक्रेण कथिते प्राणरूपे निजे सति। पप्रच्छ कारणं तस्मिन्निङ्गितज्ञः प्रतर्दनः॥२७०॥

भगवन् संशयः कश्चिद् मम चेतसि वर्तते। मुनीनां वचनं स्मृत्वा वाक्यं श्रुत्वा तवाऽपि हि॥२७१॥

केचिद्धि मुनयः शक्र सभायामागता मम। कदाचिदूचिरे वाक्यं प्रसङ्गाद् वेदवित्तमाः॥२७२॥

प्राणशब्दो हि सर्वेषामिन्द्रियाणां स्मृतः समः। सप्राणानां न चैतेषां नियताऽस्ति प्रधानता॥२७३॥

यदा प्राणविशिष्टस्य मम उक्तोपासनाद् ईदृशं फलं, तदा यदर्थमुपाधिरुपन्यस्तः तद्विज्ञानफलं किमु वाच्यम्? इत्याह – किं पुनरिति। अत्र शुद्धविज्ञाने॥२६९॥

अथ 'तद्धैक' इत्यादि 'अनुप्राणन्ति' इत्यन्तं (कौ.३.२)[१] वाक्यं व्याकरोति – एवम् इत्याद्यष्टादशभिः। एवं प्राणोस्मीत्येकवचनप्रयोगादिभिः निजे रूपे मुख्यप्राणात्मकतया वर्णिते सति तस्मिन् प्राणस्यैव निजरूपतया कथने कारणं प्रयोजकं प्रतर्दनः पप्रच्छ यतः इङ्गितानि अभिप्रायसूचिकाः क्रियाः प्रयोक्तुं जानातीति॥२७०॥ प्रतर्दनप्रश्नमभिनयति – भगवन् इत्यादिना। एकस्य प्राणस्य प्राधान्यपरं भवद्वाक्यं श्रुत्वा, प्राणानामनियतप्राधान्यपरं मुनिवाक्यं स्मृत्वा च विप्रतिपत्तेः संशयो भवति – कुत्रात्मबुद्धिःकर्तव्येति?॥२७१॥

मुनिवाक्यमवतारयति – केचिदिति॥२७२॥ तद्वाक्यमभिनयति – प्राणेत्यादिचतुर्भिः। सप्राणानां प्राणैरन्तर्वायुभिः सहितानां सर्वेषामिन्द्रियाणां समः साधारणोऽयं प्राणशब्दः, न त्वन्यतमस्यैव वाचक इत्यर्थः। प्रकर्षेण प्रधानीभावेन अनिति स्वव्यापारं कुरुत इति योगार्थस्य सर्वत्राविशेषणादिति भावः। अविशेषमेव दर्शयति – न चैतेषामिति॥२७३॥

आयु व अमृत रूप से प्राण-उपाधि की उपासना का फल बताते हैं– 'जो मेरी उपासना आयु विशेषण वाले प्राण रूप से करता है वह सौ वर्ष जीवित रहता है। हे राजन्! जो मेरी उपासना अमृत विशेषण वाले प्राणरूप से करता है वह अक्षय स्वर्ग प्राप्त करता है। दोनों विशेषणों वाले प्राणरूप से मेरी उपासना करने वाले को दोनों ही फल मिल जाते हैं॥२६७-२६८॥ जब उपासना का ही इतना फल है तब सभी अध्यासों से रहित निर्विशेष मुझ आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लेता है वह उस साक्षादनुभव के हो जाने पर पूर्ण आयु और निरपेक्ष अमरता पा जाता है इसमें कहना ही क्या?'॥२६९॥

इस प्रकार 'मैं प्राण हूँ' आदि एकवचनान्त प्रयोगों से इन्द्र ने मुख्यप्राणरूप से जब अपना वर्णन कर दिया तब प्रतर्दन ने पूछा कि प्राण को ही क्यों निजरूप कहा गया है। इन्द्र ने उपदेश इस ढंग से किया था कि ऐसा प्रश्न उठे और प्रतर्दन कुशल श्रोता होने से वक्ता के इशारे को समझ गया था॥२७०॥

प्रतर्दन बोला– 'हे भगवन्! प्राण की प्रधानता कहने वाले आपके वाक्य को सुनकर और मुनियों की यह बात याद कर कि प्राणों में प्रधानता अनियत है, मेरे मन में संशय उत्पन्न हो गया है कि कहाँ आत्मबुद्धि करनी चाहिये?॥२७१॥ हे शक्र! एक बार वेदपारीण कुछ मुनि मेरी सभा में आये थे और प्रसंगवश उन्होंने बताया था कि प्राणशब्द से शरीरान्तर्गत वायु समेत सब इन्द्रियाँ समान रूप से कही जाती हैं। इन सब प्राणों में किसी की प्रधानता नियत नहीं है'॥२७२-२७३॥

---

१. 'तद्धैक आहुरेकभूयं वै प्राणा गच्छन्तीति न हि कश्चन शक्नुयात् सकृद् वाचा नाम प्रज्ञापयितुं चक्षुषा रूपं श्रोत्रेण शब्दं मनसा ध्यानमित्येकभूयं वै प्राणा भूत्वैकैकं सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञापयन्ति वाचं वदतीं सर्वे प्राणा अनुवदन्ति चक्षुः पश्यत् सर्वे प्राणा अनुपश्यन्ति श्रोत्रं शृण्वत् सर्वे प्राणा अनुशृण्वन्ति मनो ध्यायत् सर्वे प्राणा अनुध्यायन्ति प्राणं प्राणन्तं सर्वे प्राणा अनुप्राणन्तीत्येवमुहैवैतदिति हेन्द्र उवाचास्तीत्येव प्राणानां निःश्रेयसादानमिति' इति हि द्वितीयकण्डिकाशेषः॥

एकतां प्रतिपद्यन्ते भिन्ना नामादिकार्यतः। ग्रामे महाजना यद्वत् कार्यार्थं त्वेकतामियुः॥२७४॥

वदन्त्यां नाम वाच्येते चक्षुराद्या न कुर्वते। व्यापारं हि तथा नेत्रे पश्यत्यन्ये निजं च न॥२७५॥

एवं प्राणेषु सर्वेषु वरस्येवाऽस्ति नैव हि। गुणप्रधानभावोऽयं नियतोऽतः समा इमे॥२७६॥

सर्वे समा अनन्ताश्च श्रुत्यापि कथिता यतः। तर्कतोऽपि न चैतेषां वैषम्यं विद्यते क्वचित्॥२७७॥

वाचा वदन् यतः कश्चिच्चक्षुषा नैव पश्यति। तथा नेत्रेण संपश्यन् नैव वक्ति कथंचन॥२७८॥

एवं प्राणेषु सर्वेषु युगपन्नास्ति हि क्रिया। किन्त्वेकस्मिन्नुपरते व्यापारं कुरुते परः॥२७९॥

एकस्यैव प्रधानतेति नियमाभाव उपपत्तिमाह – एकतामिति। वाचो नाम कार्यं, चक्षुषो दर्शनं कार्यम्, इत्येवं नामादिकार्यरूपेण भिन्ना अपि वागाद्याः स्वस्वकार्य एकताम् एकभावं श्रुतौ 'एकभूय'पदेनोक्तां प्राप्नुवन्ति। दृष्टान्तयति – ग्राम इति। कार्यार्थम् एकस्य विवाहादिकार्यार्थम्। इयुः प्राप्नुयुः॥२७४॥

अत्रैकता अन्यव्यापारे स्वव्यापाराकरणरूपैवेति दर्शयति –वदन्त्यामिति। वाचि नाम वदन्त्यां सत्यां चक्षुराद्या एते प्राणाः स्वव्यापारं न कुर्वते। तथा नेत्रे पश्यति सति । अन्ये निजं व्यापारं न कुर्वते॥२७५॥

एवमिति। वरस्य यथा स्वविवाहे प्राधान्यं, परविवाहे तु तस्यैव वरस्य गुणत्वं तद्वदेषां गुणप्रधानभावो नियतो न भवति। फलितमाह – अत इति॥२७६॥

साम्ये 'एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः' (बृ.१.५.१३) इति बृहदारण्यकश्रुतिं संवादयति – सर्व इति। न केवलं श्रुत्यैव साम्यमुक्तं किन्तु तर्कसहकृतानुभवादपि तथेत्याह–तर्कत इति॥२७७॥

तर्कसहकृतानुभवं स्फुटयति – वाचेति। क्रमेण प्राधान्यं सर्वेषामनुभूयत इति भावः। यदि वैषम्यं स्यात्तर्हि वाग्व्यापारे गुणभूतस्य चक्षुषः स्वभावत्यागायोगात् कदाचिदपि प्राधान्यं न स्यादिति तर्कः॥२७८॥

एवमिति। एवं वाक्चक्षुषोरिव। एकस्मिन् वागादौ उपरते समाप्तव्यापारे सति परः तद्भिन्नः चक्षुरादिः॥२७९॥

'प्र' और 'अन' इन शब्दों का अर्थ है प्रधान होकर निज व्यापार संपन्न करना। यह तो सभी इंद्रियों में समान है क्योंकि अपने–अपने काम में सभी प्रधान हैं। इसीलिये सभी प्राण कहे जाने योग्य हैं।

एक की ही प्रधानता है ऐसा नियम क्यों नहीं? इसका भी उत्तर मुनियों ने दिया– 'जैसे गाँव में विवाहादि किसी कार्य के लिये बहुत लोग इकट्ठे हो जाते हैं, ऐसे नाम आदि प्रातिस्विक कार्य की दृष्टि से विभिन्न भी वाग् आदि प्राण, किसी भी इंद्रिय का कार्य उपस्थित होने पर इकट्ठे हो जाते हैं॥२७४॥

वाणी जब नाम बोलती है तब चक्षु आदि अपने व्यापार नहीं करते। ऐसे ही जब आँख देखती है तब अन्य प्राण काम नहीं करते॥२७५॥ जैसे अपने ब्याह के समय वर होने से जो प्रधान होता है वही दूसरे के ब्याह के समय गौण हो जाता है क्योंकि तब दूसरा ही वर होने से प्रधान होता है; ऐसे ही प्राणों में गौण होना व प्रधान होना नियत नहीं, सभी गौण और प्रधान होते रहते हैं। इसलिये सब समान हैं॥२७६॥ यह इसलिये भी स्वीकार्य है कि श्रुति ने भी कहा है कि ये सब समान हैं, सभी अनंत हैं। तर्क से भी नहीं कह सकते कि इनमें कहीं विषमता है॥२७७॥ कोई भी व्यक्ति वाणी से बोलते हुए आँख से नहीं देखता। ऐसे ही आँख से देखते हुए कोई भी बोलता नहीं है। इसलिये तर्क से प्रधानता नहीं समझ सकते॥२७८॥ जैसे वाणी और चक्षु में, ऐसे ही सभी प्राणों में इकट्ठे क्रिया नहीं होती अपितु एक जब अपना व्यापार कर चुके तभी दूसरा अपने व्यापार में प्रवृत्त होता है॥२७९॥

यद्यपि बोलते हुए आँख से देख रहा हूँ, कान से सुन रहा हूँ, घ्राण से सूँघ रहा हूँ, ऐसे ही त्वक् से छू भी रहा हूँ,

वदन् नेत्रेण पश्यामि श्रोत्रेण च[१] शृणोम्यहम्। जिघ्रामि घ्राणतस्तद्वत् स्पर्शनेन स्पृशामि च॥२८०॥

रसनाद् रसयाम्येव पाणिभ्यामाददे तथा। पद्भ्यां गच्छामि शिश्नेन तद्वदानन्दयाम्यहम्॥२८१॥

विसृजे पायुना तद्वत् प्राणेन प्राणिमीह च। अहङ्कारेण चैवाहङ्करोमि मनसा तथा॥२८२॥

सङ्कल्पयामि चित्तेन सामान्येनैव वेद्म्यहम्। सुखदुःखे धिया तद्वद् विशेषेणाऽपि देहके॥२८३॥

एककालमिमे सर्वे व्यापाराः करणेषु हि। एककालाभिमानोऽयं तेषु कालाऽप्रतीतितः॥२८४॥

यथा पद्मपलाशानामाधाराधेयभावतः। स्थितानामप्यनन्तानां सूक्ष्मसूच्यभिवेधने॥२८५॥

दले दले प्रभिन्नोऽयं कालो नैव प्रतीयते। तथैव व्यापृतौ कालः प्राणानां नैककालता॥२८६॥

ननु सर्वकरणव्यापारा युगपदनुभूयन्ते? इति शङ्कते - वदन्निति सार्धचतुर्भिः। वदन् सन् अहं नेत्रादिव्यापारं करोमि इति चतुर्णां सम्बन्धः॥२८०-२८१॥

विसृज इति। विसृजे विसर्गं करोमि। प्राणिमि श्वासादिक्रियां करोमि। मनसा इत्युत्तरान्वयि॥२८२॥ मनसा सङ्कल्पयामि नामजात्यादिविशिष्टतया जानामि। चित्तेन तु सामान्यरूपेण च वेद्मि। धिया सुखदुःखे देहके वर्तमाने विशेषरूपेण सामान्यरूपेण च वेद्मीति॥२८३॥

एकेति। अनुभूयन्त इति शेषः। तथा च कथं तेषां क्रमिकप्राधान्यरूपहेतुना साम्यमुच्यत इति भावः। उत्तरयति - एककालाभिमानोऽयमिति। शीघ्रत्वप्रयुक्तकालाऽप्रतीतिमतो जायमानत्वाद् एककालतानिश्चयो भ्रम इत्यर्थः॥२८४॥

कालाऽप्रतीतिं दृष्टान्तेन स्पष्टयति - यथेति द्वाभ्याम्। यथाऽनन्तानां पद्मपत्राणामूर्ध्वाधोभावेनाऽवस्थितानां सूक्ष्मसूच्यभिवेधने क्रियमाणे प्रतिदलं भिन्नोऽपि कालो न लक्ष्यते तथैव प्राणानां व्यापृतौ अपि कालो न लक्ष्यते। तस्मात् करणव्यापाराणाम् एककालता न अस्तीति॥२८५-२८६॥

रसना से स्वाद ले रहा हूँ, हाथों से पकड़े हुए हूँ, पैरों से चल रहा हूँ, शिश्न से आनन्द कर रहा हूँ, पायु से मलत्याग कर रहा हूँ, प्राण से साँस ले रहा हूँ, अहंकार से 'मैं ऐसा हूँ' ऐसा समझ रहा हूँ, मन से संकल्प कर रहा हूँ (अर्थात् नाम, जाति आदि वाली हैं इस तरह चीज़ों को जान रहा हूँ), चित्त से सामान्यतः जान रहा हूँ, देह में विद्यमान सुख-दुःख को बुद्धि से सामान्य-विशेष दोनों तरह जान रहा हूँ; इस प्रकार एक ही समय करणों में ये व्यापार होते हुए अनुभव में आते हैं, तथापि ऐसे अनुभवों में जो यह लगता है कि अनेक इंद्रियों के व्यापार एक समय में हो रहे हैं, वह भ्रम है क्येंकि इन व्यापारों को विषय करता अनुभव काल को विषय करता ही नहीं कि वह एककालिकता में प्रमाण हो सके॥२८०-२८४॥ जैसे कमलों की बहुत सारी पंखुड़ियाँ एक पर एक रखी हों और नोकीली सुई से उन्हें जोर से बींधा जाये तो हर पंखुड़ी के बिंधने का समय अलग-अलग प्रतीत नहीं होता, सब इकट्ठी ही बिंध गयी ऐसा लगता है; ऐसे ही प्राणों के व्यापारों में हर एक का काल पृथक्-पृथक् नहीं मालूम पड़ता। इसलिये प्राणव्यापारों की एककालता नहीं है'॥२८५-२८६॥ किसी वर्णन के अनुसार दो सौ छप्पन कमल पंखुड़ियों को एक पर एक रखा जाये व बारीक सुई से एक बार में बीधा जाये तो एक पंखुडी बीधने का जो (औसत) समय है वह क्षण कहा जाता है। इतना सूक्ष्म होने से क्षण का प्रत्यक्ष संभव नहीं। अतः इंद्रियव्यापार भी क्षणभेद से ही होते हैं लेकिन शीघ्रता के कारण भ्रम हो जाता है कि सर्वथा एक ही काल में अनेक व्यापार हुए हैं। यहाँ यह जान लेना चाहिये कि श्रुति का तात्पर्य प्राण (मुख्य प्राण) की प्रधानता समझाने में है न कि प्राणव्यापारों की एककालिकता के निषेध में। यदि अनुभवानुसार युगपद् अनेक व्यापार मानें तो वेदान्त सिद्धांत से कोई विरोध नहीं। इसीलिये पुराणकार ने क्षणकाल की अप्रीतीति होने से क्षणकाल के भेद से श्रुति

१. अत्र वदन्निति प्रत्येकमिन्द्रियव्यापारैर्यथासंभवमन्वेति न तु सर्वैः संभूय, तथात्वेऽतिक्लिष्टकल्पनाप्रसंगात्।

एवं प्राणेषु सर्वेषु समेष्वसमता कुतः। एकस्मिन्नेव यत्तस्मिन्नाऽऽत्मबुद्धिस्त्वयेरिता॥२८७॥

आत्मबुद्धावथैकस्मिन् वक्तुकामः स कारणम्। अङ्गीचकार तद्वाक्यमेवमेवेति देवराट्॥२८८॥

इन्द्रस्योत्तरम्

अस्त्येव कारणं राजन्निहामुत्र च जीवनम्। निःश्रेयसाख्यं प्राणेऽस्मिन् वागादिष्वस्ति नैव तत्॥
एतदेव हि वैषम्यं वागादेर्नापरं क्वचित्॥२८९॥

प्राणप्राधान्यसाधनम्

गुणप्रधानभावोऽयं नियतो नैव विद्यते। यदुक्तं तदपि प्राणव्यापारादपरेषु हि॥२९०॥

व्यापारोपरमे नैव प्राणस्यास्ति क्रिया क्वचित्। काचित् कदाचिद् वाऽप्यत्र कथंचिच्च प्रतर्दन॥२९१॥

प्रतर्दनः पूर्वपक्षं निगमयति – एवमिति। एवम् उक्तनीत्या प्राणेषु सर्वेषु समेषु सत्सु असमता एकस्यैव प्राधान्यरूपा कुतः कारणाद्; यद् यस्माद् एकस्मिन्नेव आत्मबुद्धिविधानमिति॥२८७॥

'एवमुहैतद्' इत्यादि द्वितीयकण्डिकाशेषं व्याकरोति – आत्मेति चतुर्भिः। एकस्मिन् प्राणे, आत्मबुद्धौ उक्तायां कारणं प्रयोजकं वक्तुकामो देवराड् इन्द्रः तस्य प्रतर्दनस्य वाक्यम् 'एवमेव' इति वाक्येन अङ्गीचकार अङ्गीकारपूर्वकम् उत्तरं ददावित्यर्थः॥२८८॥

उत्तरमभिनयति – अस्त्येवेति। हे राजन्! इहामुत्र च जीवनं लोकद्वयस्थितिहेतुत्वम् एतदेव निःश्रेयसमित्युच्यते। एतद् निःश्रेयसं प्राणे निःश्रेयसात्मनो ममोपाधौ अस्त्येव, नत्वासीद् भविष्यति। वागादौ तु तत् निःश्रेयसं नैवास्ति। एतदेव तत्रात्मबुद्धौ कारणं प्रयोजकमिति। एतद् निःश्रेयसाभावरूपमेव वागादौ वैषम्यमिति॥२८९॥

तर्हि ऋषिवाक्यविरोध इति चेद्? न। मुख्यप्राणव्यतिरिक्तेषु सावकाशत्वादित्याह – गुणेति। गुणप्रधानभावो नियतो न इति यदुक्तं तद् मुख्यप्राणव्यापारादपरेषु बोध्यम्॥२९०॥

तत्र हेतुतया प्राणसंवादाद्युक्तमर्थमाह – व्यापारोपरम इति। प्राणस्य व्यापारोपरमे सति कापि क्रिया न दृश्यत इति प्रसिद्धम्। व्याख्येयश्रुतौ प्राणानामिति बहुवचनं प्राणनापाननादिवृत्तिभेदाभिप्रायेणेति॥२९१॥

का अर्थ उपपन्न किया है। प्रतीयमान काल की दृष्टि से एककालिकता का निषेध नहीं। जिन दार्शनिकों ने मन को अणु मान रखा है उनके लिये तो युगपत् ज्ञानादि होना आपत्ति है पर मध्यमपरिमाणी अंतःकरण मानने वाले वेदान्ती के लिये नहीं। श्रुतिविरोध न होने से प्रायः इस विषय में पराभिमत का अनुवाद कर दिया जाता है यह बात पृथक् है।

प्रतर्दन अपनी शंका का समापन करता है– 'उक्त प्रकार से सभी प्राणों के समान रहते एक की ही प्रधानता में क्या कारण है जो आपने एक में ही आत्मबुद्धि करने के लिये कहा?'॥२८७॥

अकेले मुख्यप्राण में ही आत्मबुद्धि बताने का कारण बताने की इच्छा वाले उस देवराज ने 'ऐसा ही है' ऐसा कहकर प्रतर्दन की बात को स्वीकार किया, फिर उत्तर दियाः॥२८८॥ 'हे राजन्! इस लोक तथा परलोक में जीवन का हेतु होना 'निःश्रेयस' कहा जाता है और यह निःश्रेयस प्राण में ही है, वाणी आदि में नहीं है। वाणी आदि की प्राण से यही विषमता है। इसी कारण से प्राण को मैंने प्रधान बताया, अन्य किसी कारण से नहीं॥२८९॥ मुनियों ने तुम्हें जो यह बताया कि प्राणों में गौणता–प्रधानता नियत नहीं है, वह प्राणव्यापार से अन्य दर्शन चलन आदि व्यापारों के व उनके सम्पादक चक्षुरादि प्राणों के बारे में ही सच है॥२९०॥ प्राण का व्यापार रुक जाने पर किसी भी तरह कोई भी क्रिया कभी कहीं नहीं होती। हे प्रतर्दन! यह तो प्रत्यक्षसिद्ध है'॥२९१॥

वाक्पाणिपादपायूनामुपस्थस्य तथैव च। त्वक्चक्षुःश्रोत्ररसनाघ्राणानामपि वा विना॥
व्यापारान् मिलितानां वाप्यन्यथा वास्ति जीवनम्॥२९२॥

मूकाश्च कुणयस्तद्वत् पङ्गवो रुद्धवायुकाः। ब्रह्मचर्यरतास्तद्वत् कुंष्ठिनो नेत्रवर्जिताः॥२९३॥

बधिरा रसनाघ्राणदोषिणोऽपीह जन्तवः। अन्तःकरणशून्याश्च जडोन्मत्तादयोऽपि हि॥२९४॥

जीवन्ति न विना प्राणव्यापारं केऽपि कर्हिचित्। प्राणस्तेनाऽहमस्मीति प्रतर्दन मयेरितम्॥२९५॥

प्राणस्योक्थता सर्वापत्तिश्च

मृतप्रायमिमं देहं सेन्द्रियच्छिद्रदैवतम्। आसनाच्छयनात् स्थानादुत्थापयति वै यतः॥
प्राणस्तेनोक्थनामाऽयं ज्ञातव्यो वेदवादिभिः॥२९६॥

उक्थमुत्थानतः पूर्वं श्रेष्ठं पूर्वोत्थितं भवेत्। श्रेष्ठो हिततमः प्राणः सोऽहं हिततमात्मधीः॥२९७॥

'जीवति' इत्यादितृतीयकण्डिकाया 'एवं पश्यामः' (कौ.३.३) इत्यन्तं वाक्यं[1], वागादिकं विनाऽपि जीवनं दृश्यते यथा मूकादिषु इत्यर्थकं व्याकरोति- वाक्पाणीति चतुर्भिः। वागादीनामेकैकस्य व्यापारान् विनाऽपि जीवनं दृश्यते। वा अथवा तेषां समुदितानां व्यापारान् विनाऽपि जीवनं दृश्यत इत्यन्वयः॥२९२॥

तत्रोदाहरणम् - मूका इति। पूर्वश्लोकोक्तेन्द्रियाणां क्रमेण व्यापारहीना मूकादयो घ्राणदोषिपर्यन्ता बोध्याः। रुद्धो वायुरपानो येषां ते तथा। जडोन्मत्तादयः त्वन्तःकरणहीनाः प्रसिद्धाः॥२९३-२९४॥ जीवन्तीति। प्राणव्यापारं विना केऽपि जन्तवः कदाचिदपि न जीवन्ति इत्युच्यन्ते। तेन इतरेभ्यो विशेषेण प्राणमेवोपाधितया स्वीकृत्य प्राणोऽहमस्मीति तुभ्यं मया उपदिष्टमिति॥२९५॥

अत एव श्रुत्यन्तरे प्राणस्य उक्थत्वेन उपासनं विहितम् इत्यर्थकम् 'अथ खलु' इत्यादि 'सर्वाप्तिः' (कौ.३.४) इत्यन्तं वाक्यं[2] व्याकरोति - मृतप्रायमिति। इन्द्रियै श्छिद्रैस्तद्गोलकैश्च सहितमपि मृतप्रायं देहं मूर्छितादि शरीरम् उत्थापयति तेन उत्थापनेनैव निमित्तेन उक्थनाम्ना अयं प्राण उपास्य उक्त इति। उक्थमिति रूपम् उत्पूर्वकात् स्थाधातोरन्तर्भावितण्यर्थात् कप्रत्यये छान्दसम्॥२९६॥

---

१. 'जीवति वागपेतो मूकान् विपश्यामो जीवति चक्षुरपेतोऽन्धान् विपश्यामो जीवति श्रोत्रापेतो बधिरान् विपश्यामो जीवति बाहुच्छिन्नो जीवत्यूरुच्छिन्न इत्येवं हि पश्याम इति' इति वाक्यम्।

२. 'अथ खलु प्राणएव प्रज्ञात्मा इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति, तस्मादेतमेवोक्थमुपासीत। यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः सह ह्येतावस्मिञ्छरीरे वसतः सहोत्क्रामतः तस्यैषैव दृष्टिरेतद्विज्ञानं यत्रैतत्पुरुषः सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यति अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यातैः सहाप्येति। स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्नेर्ज्वलतो विस्फुलिंगा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणाः यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः। तस्यैषैव सिद्धिरेतद्विज्ञानम्। यत्रैतत्पुरुष आर्तो मरिष्यन्नाबल्यं न्येत्य मोहं नैति तदाहुरुदक्रमीच्चित्तं न शृणोति न पश्यति न वाचा वदत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यातैः सहाप्येति। स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्नेर्ज्वलतो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः॥३॥ स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति वागस्मात् सर्वाणि नामान्यभिविसृजते वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति घ्राणोऽस्मात् सर्वान् गन्धानाभिविसृजते घ्राणेन सर्वान् गन्धानाप्नोति चक्षुरस्मात् सर्वाणि रूपाण्यभिविसृजते चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति श्रोत्रमस्मात् सर्वाञ्छब्दानभिविसृजते श्रोत्रेण सर्वाञ्शब्दानाप्नोति मनोऽस्मात् सर्वाणि ध्यातान्यभिविसृजते मनसा सर्वाणि ध्यातान्याप्नोति सैषा प्राणे सर्वाप्तिः' इति वाक्यम्। तत्रादौ श्लोकद्वयेन (२९६-७) अथेत्याद्युपासीतेत्यन्तं व्याख्यातम्। ततः पंचभिः (२९८-३०२) 'यो वै प्राण' इत्यादि 'उत्क्रामत' इत्यन्तं व्याख्यास्यति। 'तस्यैष' इत्यादेः 'विज्ञानम्' इत्यन्तस्य श्लोकाभ्यां (३०३-४) व्याख्या। 'यत्रैतद्' इत्यतः 'देवोभ्यो लोका' इत्यन्तस्य नवभिः (३०५-१३) विस्तरः। तदनन्तरं (३१४-४४२) ऊनत्रिंशदधिकशतश्लोकैर्दृष्टिसृष्टिवर्णनम्। ततः 'तस्यैषे' त्यादेरर्थं वक्ष्यतीति विवेकः।

प्राणप्रज्ञयोरभेदः

प्रज्ञात्मत्वं न चाप्यस्य कदाचिद्योगतो भवेत्। प्रज्ञया नेत्रवागादेर्यथा स्यादुपचारतः॥२९८॥

अतएव प्राणस्य सर्वात्मभावेनानन्दतारूपा सर्वाप्तिरित्याह – उक्थमिति। उक्थम् इति प्राणस्य नाम पूर्वमुत्थानतो भवति, ण्यर्थानन्तर्भावे – उत्तिष्ठति कारणत्वात् सर्वेभ्यः पूर्वं प्रकाशते – इति व्युत्पत्तेः। यच्च पूर्वोत्थितं तल्लोकेऽपि श्रेष्ठं प्रसिद्धं यथा हिरण्यगर्भादि। सा च श्रेष्ठता प्राणे प्राणोपलक्षितेऽद्वितीयात्मनि पर्यवस्यति हिततमत्वात्। अत एव 'प्राणोस्मि' इति मया तुभ्यमुपदिष्टमित्याह – सोऽहमिति। सोऽहं प्राणः हिततमा आत्मत्वेन धीर्ज्ञानं यस्य स तथा॥२९७॥

पूर्वं प्राणप्रज्ञयोरद्वितीयत्वेन सर्वान्तरत्वेन च परमार्थवस्तुनो बोधकत्वात् तत्त्वंपदार्थोपाधिभूतयोः समप्राधान्य-मुक्तम्। अथ तयोर्लक्ष्यैक्यप्रतिपादकं 'यो वै प्राण' इत्यादि वाक्यं व्याकरोति – प्रज्ञात्मत्वमिति पंचभिः। यथा नेत्रादेर्ज्ञानेन्द्रियस्य वागादेः कर्मेन्द्रियस्य च कदाचिद् वृत्तिरूपेण प्रज्ञया योगाद् औपचारिकं प्रज्ञात्मत्वम्, तद्वद् अस्य प्राणस्य न गौणं प्रज्ञात्मत्वम्॥२९८॥

उपनिषत् में आगे इंद्र ने कहा है कि वाणी से रहित व्यक्ति जीता है क्योंकि हम गूँगे देखते हैं, चक्षु रहित भी जीता है क्योंकि अंधों को हम देखते हैं, ऐसे ही श्रोत्र, मन, बाहु व ऊरु से रहित लोग दीखते हैं अतः निश्चित है कि इनके बिना जीवन चल जाता है। अभिप्राय है कि प्राणरहित जीवन नहीं होता, इसलिये वह प्रधान है। इस बात को इंद्र पुराण में भी समझाते हैं– 'वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, त्वक्, चाक्षु, श्रोत्र, रसना व घ्राण, इनमें प्रत्येक के व्यापार के बिना और इन सबके व्यापारों के बिना भी जीवन संभव है॥२९२॥ गूँगे, लूले, लंगड़े, रुकी हुई अपान वायु वाले (अथवा कब्ज़ वाले), ब्रह्मचारी (अर्थात् जिनका शिश्न अपना आनंदरूप व्यापार नहीं करता), कोढ़ी (जिनकी त्वगिन्द्रिय कार्यकारी नहीं), अंधे, बहरे, जो चख नहीं सकते, जो सूँघ नहीं सकते, जड या पागल आदि जिनके अंतःकरण काम नहीं करते; ये सभी जीवित रह जाते हैं। किंतु प्राण-व्यापार के बिना कोई कभी नहीं जीवित रहते। हे प्रतर्दन! इसीलिये मैंने तुझे कहा कि मैं प्राण हूँ॥२९३-२९५॥

प्राण की इस ख़ासियत से ही अन्यत्र श्रुति ने प्राण की 'उक्थ' रूप से उपासना करने को कहा है। उस उपासना का अनुवाद कौषीतकी में किया है। वहाँ कहा है कि प्राण क्योंकि इस शरीर को उठाता है इसलिये इसी की उक्थ-शब्दाभिधेयरूप से उपासना करनी चाहिये। प्रसंगवश इस उपासना को याद दिलाने का अभिप्राय है यों उपासना से एकाग्रता होने पर साक्षी को समझा जा सकेगा। इस प्रसंग को दो श्लोकों से यहाँ समझाते हैं– 'गोलकों व अधिष्ठाता देवताओं समेत इन्द्रियों के रहते भी मरा हुआ सा पड़ा जो यह मूर्च्छितादि शरीर, इसे क्योंकि आसन से, बिछौने आदि से उठाता है इसलिये वेदवादी प्राण की उक्थनाम से कहे जाने वाले रूप से उपासना करते हैं॥२९६॥ कारण होने से क्योंकि यह स्वयं पहले उठता है, सबसे पूर्व प्रकाशता है, इसलिये श्रेष्ठ है। लोक में भी पहले उठने वाले हिरण्यगर्भादि श्रेष्ठ हैं ऐसा प्रसिद्ध है। हिततम होने से प्राणोपलक्षित अद्वितीय आत्मा में ही वह श्रेष्ठता पर्यवसित होती है। आत्मरूप से जिसका ज्ञान हिततम है वह मैं हूँ'॥२९७॥

पहले बताया कि आत्मा के उपाधिभूत प्राण-प्रज्ञा अद्वितीय और सर्वान्तर होने से एक-से प्रधान हैं। अब यह बताना है कि वे लक्ष्य आत्मा के ऐक्य का प्रतिपादन करते हैं। उपनिषत् में कहा है कि प्राण व प्रज्ञा एक ही हैं, वे साथ ही शरीर में रहते हैं और साथ ही इससे निकलते हैं। इस आधार पर पाँच श्लोकों से कहते हैं– 'जैसे नेत्रादि ज्ञानेंद्रियों को व वाग् आदि कर्मेंद्रियों को इसलिये उपचार से प्रज्ञात्मा कह देते हैं कि कभी-कभी उनसे प्रज्ञा का सम्बंध हो जाता है, ऐसे प्राण की प्रज्ञात्मता गौण (औपचारिक) नहीं है॥२९८॥ जैसे अमृत, आयु व प्राण में कोई भेद नहीं, मुख्य ऐक्य है, वैसे प्राण व प्रज्ञा में भी कहीं भेद नहीं क्योंकि उनका लक्ष्य एक है॥२९९॥ सब देहधारियों के जो लौकिक प्राण-प्रज्ञा प्रसिद्ध हैं वे भी खाट के पायों की तरह पृथक्-पृथक् नहीं मिलते॥३००॥ किंतु सभी जंगमों के इस (अपने-अपने) शरीर में

भेदोऽमृतायुषोर्यद्वत् प्राणस्य च न विद्यते। प्राणप्रज्ञानयोरेवं भेदः क्वाऽपि न विद्यते॥२९९॥

प्राणप्रज्ञे प्रसिद्धे ये लौकिके सर्वदेहिनाम्। खट्वाङ्गवद् न लभ्येते अपि ते क्वापि वै पृथक्॥३००॥

अस्मिञ्जङ्गममात्रस्य शरीरे सहिते स्थिते। जीवने मरणे तद्वत् सहोत्क्रामत एव ते॥३०१॥

यतो लौकिकयोः प्राणप्रज्ञयोर्नास्ति वै भिदा। ततोऽलौकिक एकस्मिन् मयि केन भवेदिह॥३०२॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राणस्यैवात्मता भवेत्। सुप्तौ मृतौ च तावेतौ कर्तुं शक्यौ महात्मभिः॥३०३॥

इदमेव हि विज्ञानं मृतिसुप्तिसमुत्थितम्। दर्शनाय भवेद् नृणां प्राणात्मत्वस्य वस्तुनः॥३०४॥

किन्तु मुख्यमेव प्राणस्य प्रज्ञात्मत्वमित्याह - भेद इति। यथाऽऽयुरमृतयोः प्राणेन भेदाभाव उक्त एवं प्रज्ञाया अपि -इत्यर्थः। लक्ष्यैक्यादिति भावः॥२९९॥

लक्ष्यैक्यं कैमुतिकन्यायेनाऽपि द्रढयितुं प्राणप्रज्ञापदवाच्ययोरुपाध्योरपि भेदः पृथग्भावरूपो न दृश्यत इत्याह - प्राणेति द्वाभ्याम्। ये लौकिकेऽन्तर्वायुबुद्धिरूपे प्राणप्रज्ञे ते अपि खट्वाङ्गपादचतुष्टयवत् पृथक् परस्परपरिहारेण न लभ्येते न दृश्येते इति॥३००॥

किन्तु सहभूते एव दृश्येते इत्याह - अस्मिन्निति। अस्मिन् सर्वजङ्गमशरीरे जीवनकाले सहिते स्थिते सती प्राणप्रज्ञे सह एव उत्क्रामत ऊर्ध्वं गच्छत इति प्रसिद्धमिति शेषः॥३०१॥

कैमुत्यन्यायमभिनयति- यत इति। यतो लौकिकयोः प्राणप्रज्ञयोः अपि भिदा नास्ति तर्हि मयि कुतो भिदा स्यात् सिद्ध्येत्? तत्र प्रमाणाभावासंभवयोः सूचके विशेषणे अलौकिक एकस्मिन् इति॥३०२॥

'तस्यैषैव' (कौ.३.३) इत्यादि वाक्यं व्याकरोति - अन्वयेति। अन्वयः सुषुप्त्यादावनुगमः, व्यतिरेक इतरेषां तत्र लयरूपः, ताभ्यां प्राणस्यैव आत्मता भवेत् निश्चितेति शेषः। अन्वयव्यतिरेकयोः विषयद्वयमाह - सुप्ताविति॥३०३॥

श्रुतौ दृष्टिपदं दृष्टिसाधनेऽन्वयव्यतिरेकानुसन्धाने लाक्षणिकमिति दर्शयति - इदमिति। इदम् अन्वयादिचिन्तनरूपं मृतिसुप्तिभ्यां विषयतासम्बन्धेन समुत्थितं सत् प्राणात्मभावरूपस्य वस्तुनः वेदान्तप्रमेयस्य दर्शनाय साक्षात्काराय भवेदिति॥३०४॥

जीवित काल में प्राण-प्रज्ञा साथ-साथ ही निवास करते हैं और मरने पर एक साथ ही उत्क्रमण कर जाते हैं॥३०१॥ जब लौकिक प्राण-प्रज्ञा में ही भेद नहीं तो प्राण-प्रज्ञा के लक्ष्य मुझ लोकातीत अद्वितीय आनन्दात्मा में भेद क्योंकर होगा?'॥३०२॥

उपनिषत् में बताया है कि मरणावस्था इसे सिद्ध करती है अर्थात् इसमें प्रमाण है कि प्राण आत्मा की उपाधि है। इसे दो श्लोकों से स्पष्ट करते हैं- 'सुषुप्तिपर्यन्त जीवित अवस्थाओं में प्राण का अन्वय और मृत्यु में उसका व्यतिरेक होने से निश्चित होता है कि प्राण आत्मा है। जिन्हे अतिपरिच्छिन्न इस शरीर के प्रति मोहातिशय नहीं है वे ही इस अन्वय-व्यतिरेक से देहातिरिक्त प्राण को आत्मा समझ सकते हैं॥३०३॥ मरण व सुषुप्ति को दृष्टि में रखकर किया गया यह अन्वय-व्यतिरेकविचार ही प्राण की आत्मता रूप वास्तविकता के साक्षत्कार का उपाय है'॥३०४॥ यहाँ सुषुप्ति का ग्रहण इसलिये है कि वहाँ अन्य सब का विलय होने से उनकी जीवनहेतुता बाधित हो जाती है, प्राण की जीवनहेतुता स्पष्ट हो जाती है।

सुषुप्ति में प्राण का अन्वय और अन्यों का व्यतिरेक दिखाने के लिये उपनिषत् में बताया है कि सुषुप्ति अवस्था होने पर पुरुष ज्ञानशक्ति का तिरस्कार कर मुख-नासिका द्वारा संचरण करने वाले क्रियाशक्तिरूप प्राण से एकमेक हो जाता है। तब अपने-अपने विषयों समेत वाग् आदि करण इस प्राणोपाधिक पुरुष में ही लीन हो जाते हैं। जैसे आग में सब ओर

सुषुप्तौ जीवस्य प्राणे स्थितिः

यत्राऽयं पुरुषः सुप्तः स्वप्नं वेत्ति न कञ्चन। प्राणात्मनि तदा देव एकधैवावतिष्ठते॥३०५॥

कर्मज्ञानेन्द्रियैस्तद्वदन्तःकरणकेन च। एतेषां विषयैर्नाऽपि भेदो यस्मात् प्रतीयते॥३०६॥

अयं हि करणग्रामः प्राणोपाधौ मयीश्वरे। प्रत्येकमात्मविषयैः सह सुप्तौ प्रलीयते॥३०७॥

सुषुप्तौ तावदन्वयव्यतिरेकस्फुटीकरणाय 'यत्रैतद्' इत्यादि 'लोकाः' (कौ.३.३) इत्यन्तं वाक्यं व्याकरोति - यत्राऽयमिति नवभिः। यत्र यस्यामवस्थायाम् अयं प्रसिद्धः पुरुषः स्थूलसूक्ष्माभिमानी जीवः सुप्तः शयनं गतः सन् कञ्चन कमपि स्वप्नं जाग्रद्वासनाकार्यं पदार्थजातं न वेत्ति, तदा प्राणात्मनि प्राणरूपे प्राणोपाधिक इति यावत्, एतादृशे देवे परमात्मनि एकधा एकेन प्रकारेण अभेदरूपेण एवावतिष्ठते; स्वप्नजाग्रतोरुपधिप्रयुक्तभेद-वास्तवाभेदरूपं प्रकारद्वयमासीद्, अत्र त्वभेद एव शिष्यत इत्यर्थः॥३०५॥

एवकारार्थं स्फुटयन् भेदाभावं हेतुतयाऽऽह -कर्मेति। कर्मेन्द्रियैः ज्ञानेन्द्रियैः अन्तःकरणेन च तथा एतेषां कर्मेन्द्रियादीनां विषयैः चोपाधितया प्रयुक्तो यो भेदः स यस्माद् न प्रतीयते, तस्माद् एकधैवेत्युक्तमुपपन्नमिति पूर्वेण संबंधः॥३०६॥

उपाधिप्रयुक्तभेदाभाव उपाधिलयं हेतुत्वेन दर्शयति - अयं हीति। अयं वागादिः करणग्रामः आत्मीयैर्नामादिविषयैः सह सुप्तिकाले प्राणोपाधौ मयीश्वरे लीयत इत्यन्वयः॥३०७॥

चिनगारियाँ निकलती हैं वैसे जब पुरुष जगता है तब उसी प्राणोपाधिक आनन्दात्मा से निकल कर वाग् आदि अपने-अपने गोलकों पर पहुँच जाते हैं, वागादि से उनके अधिष्ठाता देवता और देवताओं से नामादि विषय भी निकल आते हैं। यह प्रसंग नौ श्लोकों द्वारा समझाते हैं- 'स्थूल व सूक्ष्म शरीरों में तादात्म्याभिमान करने वाला यह स्वानुभवसिद्ध प्रत्यक्पुरुष जिस अवस्था में सोया हुआ होता है और कोई सपना नहीं देख रहा होता, तब वह प्राणोपाधिक परमात्मा से अभिन्न हुआ ही रहता है'॥३०५॥ स्वप्न व जाग्रत् में पुरुष प्राणात्मा से अभिन्न हुआ रहता ही है पर उपाधितादात्म्य के कारण तब औपाधिक भेद भी, मिथ्या ही सही, बना रहता है। गाढ निद्रा में उपाधि न रह जाने से औपाधिक प्रतीयमान भेद भी नहीं रह जाता। इसीलिये 'अभिन्न हुआ ही' कहा। मूलकार ने केवल स्वप्न का नाम लेकर इंगित किया है कि अन्यथा-ग्रहण समान होने से जाग्रत् भी स्वप्न ही है। अथवा 'सुप्तः' से जाग्रद् व्यावृत्त हो चुकने से केवल स्वप्न का ग्रहण उचित है। उपनिषत् में भी 'सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यति' यही शब्दावलि है।

पूर्वश्लोक के 'ही' शब्द का अभिप्राय व्यक्त करते हैं- 'कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय व अंतःकरण रूप उपाधियों के कारण और इनके विषयरूप उपाधियों के कारण प्राणात्मा से अपना भेद सुषुप्ति में क्योंकि प्रतीत नहीं होता इसलिये उससे अभिन्न हुआ ही रहता है'॥३०६॥ उपाधियाँ न होने से उनके कारण प्रतीत होने वाला भेद न रहता है, न प्रतीत होता है। जपा सुमन न रहने पर स्फटिक न लाल रहता है, न लगता है। ग्रह व अतिग्रह रूप इन्द्रियाँ व विषय सम्बद्ध रहने से सविषय इंद्रियों को उपाधि कहा। अथवा विषयशब्द से पंचीकृतभूतकार्य स्थूलदेह समझना ही उचित है। या, विषयों के कारण स्वयं को विषयिरूप से प्राणभिन्न समझते हैं इससे वे उपाधि हैं।

उपाधियों से होने वाला भेद सुषुप्ति में क्यों नहीं रह जाता? इसका उत्तर देते हैं कि वहाँ उपाधियाँ न रह जाने से भेद भी नहीं रहता- 'अपने-अपने विषयों समेत यह वागादि करणसमूह सुषुप्ति काल में प्राण मात्र उपाधि वाले मुझ ईश्वर में विलीन हो जाता है॥३०७॥ क्योंकि सुषुप्ति में सभी प्रकार का यह भेद हर तरह मुझ में विलीन हो जाता है इसलिये प्राण से उपलक्षित स्वरूप वाले मेरी एकता ही सिद्ध होती है'॥३०८॥

प्राणोपाधिक में विलय से उसकी उपादानता व्यक्त कर अब उसी से उत्पत्ति कहकर उसकी ही निमित्तता भी स्पष्ट

तत एकत्वमेवाऽत्र मम प्राणस्वरूपिणः। सर्वप्रकारो भेदोऽयं विलीनो मयि सर्वथा॥३०८॥

प्राणात्मनो वागादेरुत्पत्तिः

प्रबोधकाले नैवैते जायन्तेऽन्यत एव हि। मत्तः प्राणात्मनस्तस्मात् प्राणात्माऽहं प्रतर्दन॥३०९॥
जायमानास्तथा प्राणा ज्ञानकर्मेन्द्रियात्मकाः। मत्तः प्राणात्मनो भिन्ना न स्युरेते कथंचन॥३१०॥
किन्त्विमे मम रूपाणि जायन्ते मत्त एव हि। अभेदेऽपि जनिर्दृष्टा यथाऽग्नेर्ज्वलतः कणाः॥३११॥
ज्वलतो महतो वह्नेः प्रजायन्ते कणा यथा। प्रबुद्धात् प्राणतो मत्तः प्राणा अपि तथैव हि॥३१२॥
इन्द्रियेभ्यस्ततो देवा अग्न्याद्या अपि जज्ञिरे। अग्न्यादिभ्यश्च सञ्जाता विषया लोकशब्दिताः॥३१३॥

आत्मनि सर्वलयप्रतिपादनफलमद्वितीयत्वमभिनीय दर्शयति – तत इति। यतो वास्तवो भेदः स्वरूपमहिम्नैव निरस्तः, औपाधिकोऽप्युपाधिलयाद् इति एवं सर्वप्रकारः अपि भेदो मयि विलीनः ततो मम एकत्वमेव सिद्धमिति। कीदृशस्य मम? प्राणस्वरूपिणः प्राणोपलक्षितस्वरूपस्येति॥३०८॥

लयाधारत्वप्रदर्शनेन उपादानत्वे बोधितेऽपि कर्ता कश्चिदन्यः स्याद् इति शङ्कावारणेन अभिन्ननिमित्तोपादानतां बोधयितुमुत्पत्तिकारणतामपि दर्शयति – प्रबोधेति। प्रबोधकाले जाग्रति एते वागादयः अन्यतो न जायन्त तस्माद् ब्रह्मलक्षणयोगात् प्राणपदार्थोऽहं वेदान्तवेद्यरूपोस्मीत्यर्थः॥३०९॥

लयोक्तिवत् सृष्टियुक्तेरपि अद्वितीयतायां पर्यवसानं दर्शयति– जायमाना इति। मत्तः प्राणात्मनो जायमानाः प्राणात्मसकाशाद् मृदो घटवत् कथंचिदपि भिन्ना न स्युः इति॥३१०॥

ननु यदि न भिन्नास्तर्हि कथं भिन्ना इव दृश्यन्ते? इत्यत आह – किन्त्विति। रूपाणि विभूतयः, 'महिमान एवैते' (बृ.३.९.२) इत्यादिश्रुतेः, एते देवभेदा इति श्रुतिपदार्थः। ननु विभूतीनां विभूतिमतो भेदाभावात् कथं ततो जन्म? इत्यत आह – अभेदेऽपीति॥३११॥

दृष्टान्तं स्फुटयति – ज्वलत इति। प्रबुद्धात् प्रबोधं जागरणं प्राप्तात्। प्राणा इन्द्रियाणि॥३१२॥

इन्द्रियेभ्य इति। तत इन्द्रियोत्पत्तेरनन्तरम् इन्द्रियेभ्यः अधिष्ठेयेभ्यो देवाः तदधिष्ठातारः अग्न्यादयो जाता अग्न्यादिदेवेभ्यो विषया नामाद्या जाताः। कीदृशा विषयाः? श्रुतिगतेन लोकशब्देनोक्ताः, लोक्यन्ते प्रकाश्यन्त इति व्युत्पत्तेः॥३१३॥

करते हैं– 'प्रबोध के समय अर्थात् जाग्रत् में ये वागादि प्राणात्मा मुझ से ही उत्पन्न होते हैं, और किसी से नहीं। हे प्रतर्दन! इन्द्रियादि का अभिन्ननिमित्तोपादान होने से प्राणपद का लक्ष्य मैं ही वेदान्तवेद्य परब्रह्म हूँ'॥३०९॥ विलीनावस्था में अद्वैत स्पष्ट कर कार्य-कारण के अभेद के आधार पर व्यक्तावस्था में भी उपाधियाँ भेद का साधक नहीं, यह बताते हैं– 'ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय रूप प्राण पैदा होते हुए भी प्राणात्मा मुझसे किसी तरह भिन्न नहीं हो सकते। किंतु क्योंकि ये मुझ से ही उत्पन्न होते हैं इसलिये मेरे ही रूप हैं, मेरा ही विस्तार हैं। जन्य-जनक का अभेद होने पर भी जन्म देखा गया है जैसे जलती आग से चिनगारियाँ पैदा होती हैं। आग होने से ज्वाला व चिनगारी अभिन्न हैं फिर भी जिस प्रकार धक्-धक् जलती लपट से चिनगारियाँ 'उत्पन्न' हो जाती हैं वैसे जगे हुए मुझ प्राणात्मा से इन्द्रियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। तदनन्तर इन्द्रियों से उनके-उनके अधिष्ठाता देवता तथा उनसे लोक कहे जाने वाले नाम आदि विषय उत्पन्न होते हैं॥३१०-३१३॥

सुषुप्ति में सकल का विलय कहकर श्रुतियों ने दृष्टिसृष्टि का बोधन किया है। दृष्टिसृष्टि माने बिना सुषुप्ति में समस्त दृश्य का विलीन होना समझ नहीं आ सकता। अतः अब एक सौ उनतीस श्लोकों द्वारा आचार्य शङ्करानन्द जी दृष्टिसृष्टि का वर्णन करते हैं–'सुषुप्ति अवस्था में नामादि विषयों समेत वाणी आदि इन्द्रियाँ न सोये पुरुष द्वारा और न किसी अन्य

अथ दृष्टिसृष्टिवादः

सुषुप्ते न हि वागादि नामादिसहितं क्वचित्। दृश्यते तेन चान्येन प्राणस्त्वन्येन दृश्यते॥३१४॥

यद्यस्मिन् सति लभ्यं तत्तत्रैव च न लभ्यते। तत्तस्य कार्यं विज्ञेयं मृदो यद्वद् घटादिकम्॥३१५॥

न सत्ता लभ्यतेऽन्यस्माद् यस्मिन् सत्येव लभ्यते। तत्तस्य कार्यं विज्ञेयं तन्तूनां हि यथा पटः॥३१६॥

करणानां समूहोऽपि प्राणे सति न दृश्यते। प्राणे सत्येव नान्यस्माज्जायते कार्यमस्य सः॥३१७॥

विषयस्यापि तत्र लयः

सुषुप्तौ करणग्रामो लभ्यते विषयैः सह। नैव तस्मादयं लीनः प्रध्वस्तघटवत् तदा॥३१८॥

एवं 'यत्र' इत्यादिवाक्यार्थं प्रदर्श्य एतद्वाक्यमूलकं दृष्टिसृष्टिवादं स्फुटयन्नुक्तमर्थं तर्केणाऽपि सम्भावयति - सुषुप्त इत्यादिना। सुषुप्ते सुषुप्त्यवस्थायां नामादिविषयसहितं वागादि करणजातं तेन सुप्तपुरुषेण वा अन्येन सुप्तभिन्नेन केनचिद्वा न दृश्यते, प्राणस्त्वन्येन सुप्तभिन्नेन दृश्यत इत्यविवादमिति शेषः॥३१४॥

तथा च प्राणकार्यता वागादीनामायातीति दर्शयितुं यद् यदन्वयप्रयुक्तभानयोगि तत् तस्य कार्यमिति कार्यलक्षणं सोदाहरणमाह -यद्यस्मिन् इति द्वाभ्याम्। यथा मृद्वस्तुनि सति लभ्यं दृश्यं घटादिकं तत्र मृद्वस्तुनि सत्येव न लभ्यते, तद् घटादिकं तस्य मृद्वस्तुनो व्यापकस्य कार्यमिति॥३१५॥ भानमात्रनिवेश आलोकादिकार्यतायाा रूपादौ प्रसङ्गात् सत्ताऽपि लक्षणे निवेश्येत्याशयेनाह - न सत्तेति। यस्येति शेषः पूर्वार्द्धे॥३१६॥

तल्लक्षणं तु प्रकृतेऽपीत्याह - करणानामिति। करणग्रामोऽपि सुषुप्तौ प्राणे सति एव न दृश्यते, प्रबोधे च प्राणे सत्येव अन्यस्मात् प्राणभिन्नाद् न जायते किन्तु प्राणादेव जायते सत्तां लभते। तस्मात् स करणग्रामः अस्य प्राणस्य कार्यम् इति सिद्धम्॥३१७॥

द्वारा देखी जाती हैं लेकिन प्राण सोये द्वारा न सही, अन्य जगे लोगों द्वारा देखा ही जाता है'॥३१४॥ अन्य को प्राण दीखता है अर्थात् खर्राटा आदि सुनकर, पेट ऊँचा-नीचा होते देखकर अन्य समझ लेता है कि प्राण है।

समझाना यह है कि इतर इन्द्रियाँ प्राण के कार्य हैं। जिसका (घट का) भान जिससे (मिट्टी से) सम्बन्ध होने के कारण ही हो वह (घट) उसका (मिट्टी का) कार्य होता है, यह कार्य का सीधा-सा लक्षण है। जब घट का मिट्टी से सम्बंध नहीं रह जाता तब घट का भान अर्थात् अपरोक्ष भी होता नहीं। घट तभी भासता है जब वह मिट्टी से सम्बद्ध होता है। इसी से घट मिट्टी का कार्य है। इसे ही सदृष्टांत समझाते हैं- 'जिसके (मिट्टी के) रहने पर ही जो (घट) दीखे और जिसके (मिट्टी के) रहते ही जो (ध्वस्तादि घट) न दीखे वह (घट) उसका (मिट्टी का) कार्य समझना चाहिये जैसे घड़ा आदि मिट्टी के कार्य हैं'॥३१५॥

केवल दीखना या अपरोक्ष होना ही यदि कार्य-कारण का निश्चायक हो तो जिस प्रकाशादि सहायक के बिना जो रूपादि नहीं दीखता और प्रकाशादि होने पर ही दीखता है वह प्रकाशादि भी रूपादि का कारण मानन पड़ेगा जो स्वीकार्य नहीं, इसलिये दूसरा लक्षण करते हैं- 'जिसके (तन्तुओं के) होने पर ही जिसे (पट को) सत्ता प्राप्त हो, (तन्त्वपेक्षया) अन्य से प्राप्त न हो, वह (पट) उसका (तन्तुओं का) कार्य समझना चाहिये जैसे धागों का कार्य है कपड़ा'॥३१६॥

इस नियम से इन्द्रियों व प्राण का कार्यकारणभाव दिखाते हैं- 'करणों का समूह भी (सुषुप्ति में) प्राण के रहते ही नहीं दीखता (अतः नहीं होता भी) और (जाग्रत् में) प्राण के रहते ही उत्पन्न होता है, प्राणातिरिक्त किसी से उत्पन्न होता नहीं; इसलिये इंद्रियसमूह प्राण का कार्य है॥३१७॥ सुषुप्ति में विषयों समेत इंद्रियाँ नहीं ही उपलब्ध होती जिससे जान पड़ता है कि वे तब प्राण में लीन होती हैं जैसे फूटा घड़ा मिट्टी में लीन रहता है'॥३१८॥

तदभावे कथं स स्यात् तदीयो विषयो हि यः। न प्रदीपं विना तस्य प्रभा लोकेन दृश्यते॥३१९॥
यो हि यत्र विलीयेत निर्गच्छति ततो हि सः। अग्नौ यथा कणो लीनोप्यग्नेरेव विनिःसरेत्॥३२०॥

विलीनोत्पन्नयोरनन्यता

न चान्यः कणवत् प्राणाद् निःसरन्नुपलभ्यते। इन्द्रियग्राम एतस्मात् स एवातो विनिःसरेत्॥३२१॥
न चानुमानतस्तस्य विलीनादन्यता भवेत्। धूलिपुञ्जे विलीनस्य घटादेरन्यता न च॥३२२॥

तथा च प्राणे कार्यलयाभिधानमुपपन्नमित्याह -सुषुप्ताविति। यस्मात् सुषुप्तौ करणग्रामो विषयैः सह नैव लभ्यते दृश्यते तस्माद् अदर्शनादेव ज्ञायते करणग्रामः कारणे लीनो ध्वस्तघटवत्। प्रध्वस्तो घटो यथा कारणे लीनो भवति तद्वदिति॥३१८॥

ननु अस्तु इन्द्रियलयः, तथापि इन्द्रियलये तद्भिन्नानां विषयाणां लयः कथं संभाव्येत? इत्याशंक्य, तत्रोपपत्तिमाह - तदभाव इति। तेषाम् इन्द्रियाणामभावे तदीय इन्द्रियसम्बन्धी यो विषयो नामादिः स कथं स्यात् कथं सत्तायोगी भवेत्, न कथंचिदपि तस्य सत्ता सम्भाव्यत इत्यर्थः। तत्र निदर्शनमाह - न प्रदीपमिति। प्रदीपं विना प्रदीपकार्यभूता प्रभा लोकेन जनेन न दृश्यते यथा, तथाऽऽध्यात्माधिदैवकरणकार्यभूता विषयाः करणाभावे कथमुपलभ्येरन्निति॥३१९॥

तथा लयाधारादुत्पत्तिरपि संभाव्यत इत्याह - यो हीति। स्पष्टम्॥३२०।

ननु कणो जायमानो विलीनात् कणाद्यथा भिन्नः तथा करणग्रामोपि विलीनाद् भिन्नोऽस्तु? इत्याशंक्य; मानाभावाद् मैवमित्याह - न चान्य इति द्वाभ्याम्। यथाऽग्नेः कणो निःसरन् विलीनकणादन्य उपलभ्यते तद्वत् प्राणाद् निःसरन् करणग्रामो विलीनाद् अन्यः भेदशाली नोपलभ्यते। एतस्माद् भेदावगाहिप्रत्यक्षाभावाद् हेतोः स एव यो विलीनः स एव करणग्रामोऽतः प्राणाद् विनिःसरेत्। तथा च भेदे प्रत्यक्षप्रमाणं नेति भावः॥३२१॥

नाप्यनुमानमित्याह- न चेति। तस्य जायमानेन्द्रियग्रामस्य विलीनापेक्षया अन्यता भेदोऽनुमानादपि न भवेद् न सिद्ध्येत् भेदव्याप्यलिङ्गानुपलब्धेरिति भावः। ननु विलीनत्वलिंगेन अतीतस्य वर्तमानाद् भेदमनुमाय, तद्विरुद्ध - धर्मरूपलिङ्गेन वर्तमाने भेदोऽनुमास्यते? इत्याशंक्य; विलीनत्वस्य धूलिप्रच्छादिते घटे भेदाभाववति व्यभिचारित्वाद् मैवमित्याह - धूलीति॥३२२॥

इन्द्रियों का विलय होने पर भी उनसे अतिरिक्ति जो विषय हैं उनका विलय कैसे? इसका उत्तर देते हैं- 'इन्द्रियाँ न रहने पर इन्द्रिय-संबंधी विषय सत्तावान् कैसे हो सकेंगे? प्रदीप न होने पर उसकी प्रभा कोई नहीं देख सकता'॥३१९॥ अभिप्राय है कि न दीखने से यही मानते हैं कि प्रभा है नहीं, बिना दीखी प्रभा में प्रमाण नहीं। ऐसे ही न दीखने से ही विषय नहीं हैं यही मानना पड़ेगा। 'दीखने' से इस प्रसंग में सभी ज्ञान समझ लेने चाहिये।

जिसमें विलय होता है उसी से उत्पत्ति होती है यह समझाते हैं- 'जो (घट) जिसमें (मिट्टी में) विलीन होता है वह (घट) उसीसे (मिट्टी से) निकलता अर्थात् उत्पन्न होता है जैसे चिनगारी आग में ही लीन होती है और आग से ही निकलती है'॥३२०॥

विलीन चिनगारी या घट से भिन्न ही चिनगारी या घट की उत्पत्ति होती है, वही पुनः उत्पन्न हो ऐसा कोई प्रमाण नहीं। क्या ऐसे ही रोज़ नयी इंद्रियाँ उत्पन्न होती हैं? इसका समाधान करते हैं- 'जैसे आग से निकली चिनगारी विलीन चिनगारी से भिन्न प्रतीत होती है वैसे प्राण में से अभिव्यक्त होती इंद्रियाँ उन इंद्रियों से भिन्न प्रतीत नहीं होती जो प्राण में विलीन हुईं थी। इसलिये जो विलीन हुईं वे ही अभिव्यक्त होती हैं यही मानना पड़ेगा॥३२१॥ अनुमान से भी सिद्ध नहीं होता कि जायमान इंद्रियाँ विलीन इंद्रियों से अलग हैं क्योंकि धूलि पुंज में विलीन हुए घट आदि अन्य नहीं हो

अदर्शनं विलयः

न चाऽदर्शनमात्रात् स्यादन्यो हि विलयः क्वचित्। न ह्यदृष्टा विलीयन्ते पुत्राद्याः स्वस्य कस्यचित्[१]॥३२३॥

तदा तेषां लयो भूयाद् दर्शनेऽस्तु पुनर्जनिः। नैवं मृतानामुत्पत्तिः प्रसज्येत कथंचन॥
जीवतोऽपि यतः क्वापि पुनर्नैवास्ति दर्शनम्॥३२४॥

ननु धूलिप्रच्छादितघटादेः कथं विलीनत्वम्? इत्याशंक्य; अदर्शनादन्यस्य विलयपदार्थस्य दुर्वचत्वादित्याह – न चाऽदर्शनेति। प्रबोधकालेऽदृष्टानां स्वप्नपदार्थानां विलीनत्वस्य व्यवहारादिति भावः। ननु प्रातिभासिकेऽदर्शने विलीनत्वव्यवहारात् तथात्वाभ्युपगमेऽपि व्यावहारिके तथा नाङ्गीकर्तुं शक्यमिति शंकते – न हीति। अदृष्टाः स्वस्य पुत्राद्या विलीयन्ते विलीनव्यवहारगोचरा भवन्तीति न हि दृष्टमिति शेषः। तथा च कथं भवदुक्तं संभाव्येतेति भावः॥३२३॥

प्रातिभासिकत्वेऽपि विलीनत्वव्यवहाराभावप्रयोजक ऐक्यभ्रमो वक्ष्यत इति मनसि निधाय, असंभावनाप्रयोजकमनिष्टप्रसंगं सिद्धान्ती पृच्छति – तदेति। तदा अदर्शनकाले तेषां बन्ध्वादीनां लयः अस्तु, पुनः दर्शनकाले जनिः उत्पत्तिः अस्तु; कमनिष्टप्रसंगं पश्यसीति। ननु मृतानां पुनरुत्पत्त्यापत्तिस्तव मते? इत्याशंक्य; निषेधं प्रतिजानीते – नैवमिति। न मरणं पुनर्दर्शनप्रयोजकं, न वा जीवनम्। किन्त्वन्यदेव दृष्टादृष्टसामग्रीसंनिधानमिति मनसि निधाय जीवतोऽपि पुनर्दर्शननियमभङ्गमाह – जीवत इति। क्वापि दूरे देशगमादौ॥३२४॥

जाते'॥३२२॥ घड़ा रखा हो और बहुत धूल उड़ने लगे तो उस धूलि पटल में वह घड़ा विलीन हो जाता है। धीरे-धीरे जब धूल बैठ जाती है तब वही घड़ा अभिव्यक्त हो जाता है। अतः विलीन होने वाला और अभिव्यक्त होने वाला अलग-अलग ही हों ऐसा कोई निमय नहीं। इसलिये जो विलीन होता है वह जायमान से भिन्न होता है यह अनुमान नहीं किया जा सकता। अनुमान यों किया जाता: अतीत इंद्रियाँ, वर्तमान इंद्रियों से भिन्न थीं, क्योंकि वे विलीन हो चुकी हैं, जो विलीन हो जाता है वह वर्तमान (अर्थात् व्यक्तरूप से विद्यमान) नहीं होता, जैसे ज़ली हुई लकड़ी। लकड़ी जलने पर राखरूप मिट्टी में विलीन है। वह मिट्टी पुनः बीज द्वारा ग्रहण की जाने पर वृक्षान्तर का आकार ले लेती है अर्थात् उसी मिट्टी से लकड़ी व्यक्त होती है। ऐसे ही विलीन इंद्रियों से अन्य ही इंद्रियाँ व्यक्त होती हैं। किंतु इस अनुमान में प्रयुक्त 'विलीन होना' रूप हेतु व्यभिचारी है। उक्त विधि से घट विलीन तो होता है पर वही पुनः अभिव्यक्त भी हो जाता है। विलीन की अपेक्षा दूसरा थोड़े ही व्यक्त होता है! इसलिये अनुमान से भी सिद्ध नहीं होता कि विलीन से भिन्न इंद्रियाँ व्यक्त होती हैं।

कोई पूछे कि धूल से ढका घड़ा धूल में विलीन कैसे कहा जाये, फूटे घड़े को न विलीन कहना चाहिये? तो दृष्टिसृष्टिवादी उत्तर देता है कि 'न दीखने' से अतिरिक्त 'विलीन होना' समझ नहीं सकते अतः धूल से ढकने पर न दीखने वाले घड़े को विलीन कहना ही समुचित है– 'अदर्शनमात्र से अतिरिक्त विलय कहीं नहीं होता।' जगने पर दीखती नहीं इसी से तो सपने की चीज़ें विलीन हो गयीं ऐसा कहते हैं।

हालांकि प्रातिभासिक पदार्थों का अदर्शन विलय है फिर भी व्यावहारिक पदार्थों में ऐसा नहीं, यह शंका उठाते हैं– 'कोई ऐसा नहीं मानता कि जब उसके पुत्रादि न दीखें तब वह उन्हें विलीन समझे'। अतः 'न दीखना' सर्वत्र विलीन होने का स्वरूप कैसे स्वीकारा जाये?'॥३२३॥

इसके समाधान में सिद्धांती आगे समझायेगा कि यदि एकता का भ्रम हो तो प्रातिभासिक वस्तु का अदर्शन भी विलय नहीं कहा जाता। जैसे साँप देखकर डंडा लेने भागते हैं तो साँप का अदर्शन हो जाता है। डंडा लेकर आते हैं तब फिर वही साँप दीखता है। वहाँ यही मानते हैं कि भागकर मैं गया उससे पूर्व जो साँप सामने था वही अब है। न दीखा इतने से वह विलीन हो गया और अब दूसरा उत्पन्न हुआ ऐसा कौन मानता है? जिसके प्रातिभासिकत्व का ज्ञान रहते भी

१. मत इति शेषः।

देशान्तरगतौ दृश्याः पुत्राद्या न मृतास्तथा। अत्राप्येव हि दृश्यन्ते क्वापि स्वप्ने मृता अपि॥३२५॥

शङ्का

ततोऽहं जात इत्येषा पुत्रादीनां हि विद्यते। बुद्धिरस्मान्न जायन्ते पुत्राद्याः सति दर्शने॥३२६॥

समाधानम्

यतो घटेऽपि नैवास्ति जातोऽहमिति धीः क्वचित्। किन्तु तद्द्रष्टुरेवैषा तस्माद्व्यर्थमिदं वचः॥३२७॥

ननु दूरदेशस्थानां दूरदेशं गत्वा दर्शनं संभवतीति जीवनं दर्शनप्रयोजकमेव? इति शंकित्वा; तर्हि मरणमपि प्रयोजकमस्तु, कदाचित् स्वप्ने मृतानामपि दर्शनादित्याह - देशान्तरेति। तस्माददृष्टादिसामग्र्येव पुनर्दर्शनादिनियामिकेति न काचिदनुपपत्तिरिति भावः॥३२५॥

शंकते - तत इति। ये लोके जायमानाः पुत्रादयस्तेषाम् इत्येषा इत्याकारा बुद्धिः विद्यते नियमेन दृष्टा। 'इति' किम्? ततः देवदत्तादेः पितुः सकाशाद् अहं यज्ञदत्तादिसंज्ञः जात इति। तथा च 'ततोऽहं जात' इत्याकारिका बुद्धिर्जन्मव्यापिका, अस्मदुक्तबुद्धेर्जन्मव्यापकत्वात्। दृष्टिसृष्टिवादिन्! भवदुक्तरीत्या दर्शने पुत्राद्या न जायन्ते, व्यापकाभावे व्याप्याभावस्य न्याय्यत्वात्। यदि जायेरंस्तर्हि वयमस्माज्जाता इति मन्येरन्। तथा मतेरभावाद् न जायन्त इत्यर्थः॥३२६॥

ऐक्यभ्रम हो उसमें भी विलयव्यवहार नहीं। प्रतिरात नभोनैल्य का विलय व प्रतिदिन नवीन नभोनैल्य की उत्पत्ति किस विद्वान् ने मानी है? इसलिये विलयव्यवहार न होने से विलय नहीं होता यह सिद्ध नहीं हो सकता। यह उत्तर तो बाद में कहा जायेगा। अभी तो पूछते हैं कि न दीखते पुत्रादि को विलीन मानने में आपत्ति क्या है-'अदर्शन काल में पुत्रादि का विलय हो जाये, पुनः दर्शनकाल में पुनः उत्पत्ति हो जाये; इसमें दिक्कत क्या है?'

सिद्धांती के इस प्रश्न पर कोई कहे कि यही दिक्कत है कि आपके अनुसार मरे व्यक्ति की फिर से उत्पत्ति होने लगेगी जबकि ऐसा होता नहीं। जो देवदत्तादिदेह मर चुकता है वह तो पुनः पैदा नहीं होता। इस पर सिद्धांती जवाब देता है- 'अदर्शन को विलय मानने पर मरों का पुनर्जन्म होना स्वीकारना पड़ेगा, ऐसा किसी तरह नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसा बहुत बार होता है कि जीवित व्यक्ति का भी पुनः दर्शन न हो'॥३२४॥ अभिप्राय है कि पुनः दीखने का कारण न मरना है न जीवित रहना। दृष्ट-अदृष्ट सामग्री होने पर दीखता है व न होने पर नहीं दीखता। जीवित व्यक्ति भी दूर देश चला जाये तो पुनः नहीं भी दीखता है।

दूर गये व्यक्ति को वहाँ जाकर तो देख ही सकते हैं क्योंकि वह जीवित है। अतः जीवित रहने को पुनः दीखने का हेतु क्यों न मानें? उत्तर है कि मरे हुए भी तो सपने में पुनः दीख जाते हैं, क्या इसलिये मरने को पुनः दीखने का हेतु नहीं मान लेना चाहिये? यही प्रश्नोत्तर श्लोक द्वारा व्यक्त करते हैं- '(प्रश्न-) जो पुत्रादि मरे नहीं हैं केवल विदेश में हैं, उन्हें विदेश जाकर देखा जा सकता है अतः जीवन पुनर्दर्शन का प्रयोजक होवे? (उत्तर-) उस तरह तो मरे हुए भी कभी सपने में दीख जाते हैं अतः मरण ही पुनर्दर्शन का प्रयोजक क्यों न हो?'॥३२५॥ इसलिये जीवन व मरण को पुनर्दर्शन का प्रयोजक मानने में कोई तर्क नहीं।

शंकावादी कहता है- 'लोक में जायमान पुत्रादि को यह ज्ञान होता है कि मैं अमुक पिता आदि से उत्पन्न हुआ हूँ। न दीखकर फिर दीख जाने वाले पुत्रादि को ऐसा ज्ञान होता नहीं, इसलिये न दीखते समय विलीन होकर दीखने पर वे पुनरुत्पन्न हुए हैं ऐसा नहीं कह सकते'॥३२६॥ शंका करने वाले ने यह युक्ति सोची है: जिस जिस का जन्म होता है उसे यह ज्ञान होता है 'मैं अमुक से उत्पन्न हुआ हूँ', यह नियमतः दीखता है। अदर्शनानंतर दृश्यमान पुरुष को ऐसी बुद्धि न होने से अर्थात् व्यापक न रहने से उसका जन्म अर्थात् व्याप्य भी नहीं मान सकते। यदि पुनर्दर्शन पर वे पुनरुत्पन्न हुए

चेतना अपि नैवात्र जानन्त्युत्पत्तिमात्रतः। वयं जातास्ततो व्यर्था जडाजडविभागधीः॥३२८॥

अपि कुत्रापि चैतन्यं जगत्यस्मिन् न जायते। देहे जाते पुमान् जात इत्येषा भ्रान्तिधीर्नृणाम्॥३२९॥

जनिधात्वर्थाद् दृष्टिसृष्टिः

प्रादुर्भावो जनेश्चार्थः स स्याद् दर्शनमेव हि। प्रादुर्बभूव सवितेत्यादौ दर्शनमीरितम्॥३३०॥

दृष्टिसृष्टिवादी उत्तरयति - यत इति। जातोहमिति बुद्धेर्जन्मव्यापकत्वं साहचर्यदर्शनादवधार्यं, साहचर्यं तु घटे जन्मसत्वेऽपि तादृशबुद्धेरदर्शनाद् दुर्वचम् - इति पूर्वार्द्धाशयः। ननु घटद्रष्टुः पुरुषस्य जातोऽयमिति बुद्धिरस्त्येवेति चेद्? अस्तु नाम, तथापि घटनिष्ठजन्मनो द्रष्टृनिष्ठबुद्धेश्च वैयधिकरण्यग्रहस्य व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकस्य किं तिरोधायकमुक्तमित्याह -किन्तु तद्द्रष्टुरेवैषेति। तस्माद् उक्तबुद्धेर्व्यापकत्वस्य दुर्वचत्वाद् इदम् उक्तं बुद्धेर्व्यापकत्वालम्बनेन दृष्टिसृष्टेराक्षेपपरं भवद्वचो व्यर्थम् इति॥३२७॥

ननु जडेषु तथा बुद्ध्यभावेऽपि चेतना जायमाना जातोहमिति मन्यन्त एवेति चेतनोत्पत्तेरियं बुद्धिर्व्यापिकैव? इत्याशंक्याह - चेतना अपीति। उत्पत्तिमात्रानन्तरं चेतनेष्वपि वयं जाता इत्याकारिका बुद्धिः न दृष्टा किन्तु मातृपितृप्रभृतिवचनादिनिमित्तवशात् तथा बुद्धिर्दृश्यत इत्यव्यापिकैव। ततो जडाजडविभागस्य धीः कुशकाशवत् त्वयाऽस्मत्पक्षाक्षेपायालम्ब्यमाना व्यर्था इति॥३२८॥

चेतनाः प्रजायन्त इति वाक्यमेव व्याहतमित्याह - अपीति। इति एषा इत्याकारा भ्रान्तिस्तु दोषरूपोपाधिपरतन्त्रा न व्यापकतां साधयितुमलमिति भावः। दृष्टिसृष्टिवादिना उपाधीनामेव सृष्टेरभ्युपगमाच्चेतनोत्पत्तेराक्षेपोऽनुक्तोपालम्भ इत्यपि बोध्यम्॥३२९॥

किं च जनिधात्वर्थालोचनादपि दृष्टिसृष्टिपक्षः सिद्ध्यतीत्याह - प्रादुर्भाव इति। स प्रादुर्भावो दर्शनरूप एवेति दृष्टिरेव सृष्टिरित्यस्मन्मतसिद्धिरिति भावः। प्रादुर्भावपदस्य दर्शनरूपार्थे प्रयोगं दर्शयति -प्रादुरिति॥३३०॥

होते तो उन्हे ऐसा ज्ञान भी होता। ज्ञान नहीं होता अतः पुनरुत्पन्न भी हुए नहीं।

सिद्धांती उत्तर देता है- 'घट में कभी यह ज्ञान नहीं होता कि 'मैं अमुक से उत्पन्न हुआ हूँ' फिर भी घट की उत्पत्ति सब को स्वीकार्य है। 'अमुक से अमुक उत्पन्न हुआ है' यह ज्ञान तो उत्पत्ति देखने वाले को हुआ करता है। उत्पन्न होने वाले को ऐसा ज्ञान हो यह नियम ही नहीं। अतः शंकावादी की बात सर्वथा व्यर्थ है'॥३२७॥ व्याप्ति होती है समानाधिकरण वस्तुओं की, उक्त ज्ञान और जन्म घटादि स्थल में व्यधिकरण हैं अतः इनकी व्याप्ति नहीं हो सकती यह तात्पर्य है।

प्रश्नकर्ता कह सकता है कि जडों को ज्ञान भले ही न हो, चेतन की उत्पत्ति होने पर उक्त ज्ञान होने का नियम है, अतः चेतनोत्पत्ति के प्रति उक्त ज्ञान व्यापक होने से सिद्धांती का पक्ष गलत है। इस पर सिद्धांती कहता है- 'चेतन भी केवल उत्पन्न हो जाने से 'मैं अमुक से उत्पन्न हुआ' ऐसा नहीं जानते बल्कि माता आदि जब समझाये तभी जानते हैं। इसलिये प्रकृत प्रसंग में जड-चेतन का विभाजन करना व्यर्थ है'॥३२८॥

सिद्धांती बताता है कि चेतन की तो उत्पत्ति मानी ही नहीं जा सकती- 'किं च, इस संसार में कहीं भी चेतन उत्पन्न नहीं होता। देह उत्पन्न होने पर लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि यह चेतन पुरुष पैदा हुआ है'॥३२९॥ ब्रह्मसूत्रों में विस्तार से विचार कर चेतन की अनुत्पत्ति निर्णीत है।

जन्म-शब्द जिस धातु से बना है उसका अर्थ है प्रादुर्भाव, प्रकट होना। इससे भी दृष्टिसृष्टि पक्ष पुष्ट होता है यह कहते हैं- 'जन्-धातु का अर्थ है प्रादुर्भाव और वह दर्शन रूप ही होता है क्योंकि 'सूर्य का प्रादुर्भाव हुआ' आदि प्रयोगों

दृष्टिसृष्टौ न मुहुर्मुहुः जातकर्माद्यापत्तिः

न चैवं जातकर्मादि प्रसज्ज्येत क्षणे क्षणे। बालस्य यौवने कस्माद् भवतोऽपि न चापतेत्॥३३१॥

भवतोऽपि न चैकत्वं बालयौवनदेहयोः। देहभेदे हि तद् दृष्टं यथा ते तनयान्तरे॥३३२॥

अभेदो नैव युक्तोऽयं बालयौवनदेहयोः। विभिन्नपरिमाणादेर्दर्शनात् पटयोरिव॥३३३॥

प्रत्यभिज्ञा च देहेऽस्मिन् स्वस्य स्वात्मन ऐक्यतः। अपरस्य तु विश्वासात् तदीयादेव जायते॥३३४॥

ननु दृष्टिसृष्टिमते प्रतिदर्शनं पुत्राद्युत्पत्तौ जातकर्माद्यापत्तिः? इत्याशङ्क्य; यथा युवशरीरस्य बालशरीरात् परिमाणादिना स्फुटभेदस्य उत्पत्तावपि भवन्मते न संस्कारापत्तिः, तथा मन्मतेऽपीत्याह – न चैवमिति। आपतेत् प्रसज्ज्येत॥३३१॥

परमते समदोषप्रसंगं स्फुटयति–भवतोपीति। देहभेदे सति च तद् जातकर्मादि दृष्टं यथा पुत्रान्तरे जात इति। तथा च 'यत्रोभयोः समो दोषः' (श्लो. वा. शून्य.२५२)[१] इतिन्यायेन तुष्यतु भवानिति भावः॥३३२॥

अभेदाभावं स्फुटयति – अभेद इति। पटयोः ह्रस्वदीर्घयोरिति शेषः॥३३३॥

एवं दोषसाम्यं प्रदर्श्य परिहारसाम्यमपि दर्शयति – प्रत्यभिज्ञेति। संस्कारसहकृतप्रत्यक्षसामग्रीजन्यं ज्ञानं तदेवेद-मित्याद्याकारकं प्रत्यभिज्ञा; सा यदा स्वस्य देहवतो जायते तदाऽऽत्मनो धर्माद् ऐक्याद् अभेदाध्यासेन देह आरोपिताद् वाच्या। यदा तु अपरस्य देवदत्तादिसंज्ञदेहवतः सकाशाद् भिन्नस्य यज्ञदत्तादेः प्रत्यभिज्ञा जायते तदा तदीयाद् यज्ञदत्तादिसंबन्धिनो विश्वासाद् अयं पूर्वदेहाद् भिन्नो न भवतीत्याद्यभिमानरूपाद् एव वाच्या – इत्युभयोः समः परिहारः॥३३४॥

में दीखना ही प्रादुर्भाव कहा जाता है'॥३३०॥ जो पहले से होवे उसी का प्रादुर्भाव या प्रकटीकरण होता है, यह भाव है। किं च 'घट उत्पन्न हुआ' आदि में उत्पत्ति क्रिया का कर्ता कौन? कर्ता को क्रिया का कारण होने से उत्पत्ति से पूर्व स्थित होना पड़ेगा। अतः स्वोत्पत्ति से पूर्व घट की अवस्थिति माननी ही होगी। सत्कार्यवाद का समर्थन तत्र-तत्र आचार्यों ने और विस्तार से किया ही है।

प्रश्न होता है कि हर बार दर्शन होने पर उत्पत्ति मानें तो बार-बार जातकर्म आदि संस्कार करते रहना होगा? उत्तर है कि बालदेह से जवान देह हर तरह अलग ही दीखता है अतः उसकी उत्पत्ति ही माननी पड़ेगी। परिवर्तन को उत्पत्ति न मानो तब तो शुक्र-शोणित के परिवर्तन को भी उत्पत्ति न कहो! इतना ही कहोगे कि जहाँ परिवर्तन अधिक हो जैसे दूध व दही में, वहाँ उत्पत्ति मानते हो और जहाँ वह कम हो जैसे कच्चे व पके दूध में, वहाँ नहीं मानते। बालक से जवान में तो अधिक ही परिवर्तन है यह प्रत्यक्ष है। अतः जवानदेह की उत्पत्ति नकार नहीं सकते। पर फिर भी तुम दृष्टिसृष्टि न मानने वाले लोग जवान के जातकर्मादि नहीं करते। जिस नीति से तुम्हे संस्कार दुबारा नहीं करने पड़ते उसी से हम दृष्टिसृष्टि वादियों को भी नहीं करने पड़ेंगे! यह कहते हैं– 'दृष्टिसृष्टि मानने पर पल-पल में जातकर्मादि करने आवश्यक होंगे ऐसा भी आप विरोधी लोग नहीं कह सकते। बालक के जवान होने पर आपके सिद्धांत में भी संस्कार क्यों नहीं दुहराने पड़ते? आप भी यह तो नहीं कह सकते कि बालक शरीर व जवान शरीर एक ही हैं, और शरीर अलग-अलग होने पर संस्कार करने ही पड़ते हैं जैसे आप अपनी दूसरी सन्तान होने पर उसके जातकर्मादि करते ही हैं! बाल देह व यौवनदेह के परिमाण आदि विभिन्न हैं अतः छोटे-बड़े कपड़ों की तरह दोनों देह अलग-अलग ही हैं, एक नहीं'॥३३१-३३३॥

इस प्रकार दृष्टिसृष्टि मानो या न मानो दोष एक जैसा रहता है यह कहकर बताते हैं कि दोष का परिहार भी दोनों

१. 'तस्माद्यत्रोभयोर्दोष' इति प्रथमपादपाठः।

प्रत्यभिज्ञाविचारः

आरम्भकस्य चाभेदात् प्रत्यभिज्ञा न सम्भवेत्। स्तम्भयोरेकहेत्वोर्न प्रत्यभिज्ञाऽस्ति कर्हिचित्॥३३५॥

न च स्तम्भादिविषये नैषा स्यादुक्तहेतुतः। विश्वासादात्मनस्तत्र संभवेद् देहवत् सदा॥३३६॥

ननु – तवैवायं परिहारः। मम मते तु आरंभकस्य अवयवसंयोगस्य एकत्वात् प्रत्यभिज्ञेति नित्यसंयोगाङ्गी-कर्तृनैयायिकैकदेशिमतेन[१] आशंक्य; आरंभकपदेन कारणमात्रविवक्षणे शुक्रशोणितादिकारणैक्यात् प्रत्यभिज्ञाऽस्तु – इति वाशंक्य; परिहरति – आरम्भकस्येति। पूर्वार्द्धं स्पष्टम्। तत्र व्यभिचारं दर्शयति – स्तम्भयोरिति। एक इष्टकासंयोगरूपो हेतुर्ययोरिति प्रथमशंकासमाधानपक्षेऽर्थः। द्वितीयशंकासमाधानपक्षे तु एक एककाष्ठरूप एकपाषाणरूपो वा हेतुर्यंयो-रित्यर्थः॥३३५॥

ननु दृष्टिसृष्टिपक्षे स एवायं स्तम्भ इत्यादिप्रत्यभिज्ञानिर्वाहः कथम्; तत्रात्मनो भेदनिश्चयेन आत्मनिष्ठैक्यायोपेण निर्वाहस्य दुर्वचत्वाद्? इत्याशंक्य; मास्तु प्रथमो हेतुः, द्वितीयस्तु विश्वासलक्षणो जागर्तीत्याह – न चेति। स्तम्भादिषु उक्तहेतोः आत्मैक्याध्यासरूपात् प्रत्यभिज्ञा न स्याद् नोपपद्येत इति न च शंक्यम्, यतो द्रष्टुः आत्मनः विश्वासरूपाद् हेतोः सा संभवेद् एव। यथा देवदत्तदेहे यज्ञदत्तादेः प्रत्यभिज्ञोक्ता तद्वदित्यर्थः॥३३६॥

पक्षों में समान है– 'अपने इस शरीर के विषय में प्रत्यभिज्ञा का कारण है आत्मा की एकता। दूसरे के शरीर के विषय में तो उस पर विश्वास से ही प्रत्यभिज्ञा होती है'॥३३४॥ 'वही यह है' ऐसा ज्ञान संस्कारों व प्रत्यक्ष की सामग्री से होता है और इसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। वादी यही कह सकता था कि जवान को लगता है 'मेरा यह शरीर वही है जो बचपन में था' इसलिये शरीरांतर न होने से संस्कार अपेक्षित नहीं। सिद्धांती स्पष्ट करता है कि प्रत्यभिज्ञा की व्यवस्था तो आरोप या अभिमान से ही समझनी होगी क्योंकि पूर्वरीति से देहों का भेद तो स्थापित हो चुका है। बालदेह व यौवनदेह में तादात्म्य करने वाला आत्मा एक होने से दोनों देहों में अभेद आरोपित है जिससे प्रत्यभिज्ञा हो रही है। दूसरा व्यक्ति जब कहता है 'मैं वही हूँ जिसे आपने पैंतीस वर्ष पूर्व देखा था' तब हम उसकी बात पर भरोसा करके ही स्वीकारते हैं कि पैंतीस वर्ष पूर्व वाला और वर्तमान शरीर एक ही है। ऐसा मानने के लिये हमारे पास कोई अन्य प्रमाण नहीं। एवं च चाहे वादी का पक्ष हो या सिद्धांती का, पुनः संस्कार न करने में 'वही यह है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा ही हेतु है और वह आरोप से ही संभव है। अतः दोष और परिहार समान होने से सिद्धांती पर कोई दबाव नहीं डाला जा सकता।

कुछ नैयायिक संयोग को नित्य मान लेते हैं अतः वह एक रहता है। वे कह सकते हैं कि आरोप से होने वाली प्रत्यभिज्ञा के सहारे बाल व यौवन देहों का अभेद उन्हें मानना नहीं पड़ेगा। 'दोनों' शरीरों का आरंभक अवयव संयोग क्योंकि एक है इसलिये दोनों शरीरों में ऐक्य की प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। यहाँ भी दो तरह से प्रत्यभिज्ञा समझ सकते हैं। या तो देहावयवों के संयोग की एकता से और या शरीर को उत्पन्न करने वाले माता-पिता के रज-वीर्य के संयोग की एकता से। हर हालत में प्रत्यभिज्ञा में आत्मा की एकता का आरोप तो कारण नहीं मानना पड़ेगा जिससे सिद्धान्ती की अपेक्षा वादी का परिहार विशिष्ट होगा। इस समस्या का दृष्टिसृष्टिवादी समाधान करता है– 'आरंभक के अभेद से प्रत्यभिज्ञा संभव न होगी। एक हेतु वाले दो खंभों के विषय में कभी प्रत्यभिज्ञा नहीं होती'॥३३५॥ ईंटों के संयोग से खंभे बनते हैं। संयोग एक ही मानो तो अलग-अलग खंभों को बनाने वाली ईंटों का संयोग भी एक ही रहेगा जिससे

---

१. तदुक्तं न्यायकन्दल्याम् 'नित्यस्य संयोगस्य संभवादिति केचिद्' इति (संयोगग्रन्थे पृ.३५९ सं.सं.वि.वि)। प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकायामपि 'यथा तत्तत्सम्बन्धिनिरूपणोऽपि समवायस्तत्र तत्र एको नित्यश्च, संयोगोऽपि तथा किं न स्यात्? तद्भेदव्याहार-व्यवहारयोः समवायवदुपपत्तेः' इति (पृ. ४७३ योगीन्द्रा.)। प्रकृते च न नित्ययोः संयोगमालम्ब्य शंका किन्तु संयोग एव नित्य इत्यतः चित्सुखोक्तमेवानुसन्धेयम्। अत एव परिहारेपीष्टकासंयोग एक इति संगच्छते। यथा तन्तुपटयोः कपालघटयोश्च समवाय एक एव तद्वदिष्टकामात्रसंयोग एक एवेति नेष्टकाभेदेन काचिद्धानिरिति द्रष्टव्यम्।

कारणानुगमोऽप्येष बालयौवनदेहयोः। को यतो नैव विद्येते ते उभे शुक्रशोणिते॥३३७॥
नैवावयवसंस्थानं कारणं दुर्भणत्वतः। न प्रत्यक्षा अवयवाः सूक्ष्मत्वाद् दृग्गताणुवत्॥३३८॥

बालयुवशरीरयोः कारणानुगमोऽपि भवता दुर्निरूप इत्याह – कारणेति। बाल्ययौवनावस्थाश्रययोर्देहयोः कारणस्य भवन्मतस्यानुगमः कः, न कोप्युपपद्यत इत्यर्थः। यतः ते भवदभिमते शरीरकारणे शुक्रशोणिते अङ्कुरोत्पत्तौ सत्यां बीजवद् न विद्येते विनष्टे इति यावत्। अस्मन्मतानुसारेण बीजाद्यवच्छिन्नचैतन्यं मायाशबलं सत्पदवाच्यं कारणमभ्युपैषि चेत्, तर्हि तत्र कल्पितस्वप्नपदार्थवद् दृष्टिसृष्टिरेव पर्यवस्यतीति। तस्य सतः प्रत्यभिज्ञानिर्वाहकत्वं तु न वाच्यं, सर्वत्रैक्यधीप्रसङ्गादिति भावः॥३३७॥

ननु अवयवसंस्थानरूपकारणैक्यालम्बना प्रत्यभिज्ञा भविष्यति? इत्याशंकां निराचष्टे – नैवेति। अवयवानां संस्थानं रचनाविशेषः कारणम् एव न संभवति, दुर्भणत्वाद् दुर्निरूपत्वात्। कथमिति चेत्? शृणु – परमाणव एव त्वयाऽवयवत्वेन वाच्याः द्व्यणुकादीनां तत्समुदायरूपाणां तत्समवेतरूपाणां वा समुदायसमवाययोः प्रथमाध्यायोक्तविधया निरासेन निरस्तत्वात्। परमाणूनां च कारणत्वे न प्रत्यक्षं प्रमाणं, न वा तन्मूलकमनुमानादीत्याशयेनाह – न प्रत्यक्षा इति। दृग्गताश्चक्षुर्गोचरे गता अणवो यथा न प्रत्यक्षास्तथा देहाद्यारम्भका अपीत्यर्थः। श्रुतिस्तु 'अण्व्यो धाना' (छां.६.१२.१) इत्याद्या दुर्लक्ष्यं चैतन्यमेव अणुपदेन प्रतिपादयतीति भावः॥३३८॥

विभिन्न खंभों के विषय में भी 'यह वही है' ऐसी प्रमारूप प्रत्यभिज्ञा होने लगेगी जो सर्वथा विरुद्ध है। यह तो नित्य संयोग मानने वालों का खण्डन किया। समान रज-वीर्य-जन्यता से प्रत्यभिज्ञा उपपन्न कराने वाले पक्ष का उत्तर समझने के लिये 'एक हेतु वाले' का यह अर्थ है: एक बड़ी लकड़ी या बड़े पत्थर को काट कर दो खंभे बनाये गये हों तो उनके विषय में 'यह वही है' ऐसी प्रमात्मक प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। अन्यथा एलोरा के कैलास मंदिर के हर अवयव में प्रत्यभिज्ञा होने लगे! या एक थान से फाड़कर बने हर कपड़े में दूसरे कपड़ों से अभेद दीखने लगे! इसलिये प्रत्यभिज्ञा आरोप से ही मान्य है।

वादी पूछेगा कि देह में आत्मैक्य आरोपित होकर प्रत्यभिज्ञानिर्वाह भले ही कर दे पर खंभे आदि जड की प्रत्यभिज्ञा का निर्वाह कैसे होगा जब वहाँ आत्मैक्यारोप होता नहीं? सिद्धांती जवाब देता है– 'उक्तहेतु से स्तंभादिविषयक प्रत्यभिज्ञा नहीं होगी यह कहना गलत है क्योंकि जैसे परकीय देह के विषय में प्रत्यभिज्ञा होती है ऐसे अपने विश्वास से जडविषयक भी होना संगत है'॥३३६॥ पहले कह चुके हैं कि निजदेह में आत्मैक्यारोप व परदेह में विश्वास प्रत्यभिज्ञा में हेतु हैं। जड व परदेह का समान योगक्षेम है, केवल अंतर इतना है कि परदेह में दूसरे की बात पर भी भरोसा करना पड़ सकता है जबकि जड के विषय में स्वयं पर विश्वास से काम चल जाता है। कई बार जड के बारे में भी परकीय वचन ही प्रत्यभिज्ञा कराता है। 'अपने विश्वास' में विश्वास का अर्थ स्वतःप्रामाण्य समझना चाहिये। यद्यपि ज्ञान के साथ ही जायमान होने से इसे प्रत्यभिज्ञारूप ज्ञान का कारण कहना उचित नहीं तथापि यहाँ प्रत्यभिज्ञा से अभिप्राय प्रत्यभिज्ञारूप प्रमा से ही है और वह प्रमा है इसमें कारण या प्रयोजक स्वतःप्रामाण्य ही है यह अभिप्राय है। अत्यंत विसदृश बाल-वृद्ध देहों में तथा सर्वथा परिवर्तित रूप वाली वस्तुओं मे प्रत्यभिज्ञा दीखने से सादृश्यादि को हेतु कहना बनता नहीं। अतः अनिर्वाच्य माया ही इसमें कारण कही जा सकती है यह स्मरण रखना चाहिये।

एक ही कारण अनुगत रहता है इसलिये परिवर्तित कार्यों में प्रत्यभिज्ञा होती है, यह भी कहा नहीं जा सकता क्योंकि कारण का अनुगम सिद्ध होता नहीं, यह कहते हैं– 'बाल व यौवन देहों में कारण का अनुगम असंभव है क्योंकि अंकुर उत्पन्न होने पर बीज की तरह शरीर उत्पन्न होने पर शुक्र-शोणित तो नष्ट हो चुके हैं, उनका अनुगम तो दूरापास्त है'॥३३७॥ नैयायिक मानता है कि कार्य अपने समवायी कारण में रहा करता है। अतः कार्यकाल में कारण रहना पड़ता है। किंतु अंकुर फूटने पर बीज का न रहना तो प्रत्यक्षदृष्ट है। अंकुर हो जाने पर व तदनंतर उसका बीज रह नहीं जाता।

न चैतै रचितं किञ्चित् संस्थानमिह विद्यते। तेषां जडबहुत्वाभ्यां रचनानुपपत्तितः॥३३९॥

संस्थानमपि नैवैकं बालयौवनदेहयोः। विद्यते तस्य चैकत्वे न स्याद् मानादिभेदधीः॥३४०॥

परमाणूनां कारणत्वे बाधकं च वर्तत इत्याह – न चैतैरिति। एतैः परमाणुभिः संस्थानं संस्थानवत्कार्यम्। तत्र हेतुमाह – तेषामिति। जडैरालोचनाभावाद्रचना दुष्करा। परमाणूनां चेतनत्वाभ्युपगमे तु बहूनां चेतनानां भिन्नाभिप्रायत्वादेककार्यरचनानुपपत्तिः। ब्रह्मणः कारणता तु अस्मदुक्तरीत्यैवेति भावः॥३३९॥

स्थूलावयवाभ्युपगमेऽपि प्रकृते संस्थानैक्यं नास्तीत्याह – संस्थानमपीति। संस्थानमपि एकं न विद्यते, तस्य संस्थानस्य एकत्वे सति मानादीनां भेदधीः न स्यादिति॥३४०॥

इसलिये वृक्ष में बीज का अनुगम नहीं दीखता। ऐसे ही शुक्र-शोणित भी न रहता है व न उसका अनुगम ही किसी को दीखता है! इससे यदि बीज को व शुक्रशोणित को निमित्त कारण ही माना जाये तो किस कारण का अनुगम दीखेगा? अन्नरसमय या भौतिक तो सभी देह हैं, सभी में प्रत्यभिज्ञा होने लगेगी। सिद्धांती तो बीजादि से अवच्छिन्न सत्पदवाच्य माया युक्त चेतन को ही कारण मानता है पर उसकी एकता से अर्थात् सत् के अनुगम के दर्शन से प्रत्यभिज्ञा हो नहीं सकती अन्यथा सर्वत्र ही एकता दीखने लगे! अतः कारणानुगति कथमपि प्रत्यभिज्ञाहेतु नहीं, आरोपादि ही है यह तात्पर्य है।

कोई शंका करे कि देह के अवयवों का संस्थान अर्थात् रचनाविशेष (एक ढंग से ऊपर-नीचे अवस्थित होना), देह के प्रति कारण है और अवयवसंस्थान एक होने से उसे प्रत्यभिज्ञा विषय कर ले, आरोप की क्या ज़रूरत? तो उत्तर देते हैं– 'अवयवों का संस्थान शरीरों का कारण नहीं क्योंकि अवयवों का ही निरूपण संभव नहीं तो संस्थान का निरूपण क्या करोगे? परमाणुरूप अवयव सूक्ष्म होने से प्रत्यक्ष नहीं जैसे खुली आँख के आस-पास उपस्थित परमाणु॥३३८॥' वादी द्व्यणुकादि को अवयव कहे तो पूर्वाध्याय में बता चुके हैं कि समुदाय और समवाय संभव नहीं अतः द्व्यणुक क्या चीज़ है यह निरूपण वह कर नहीं सकेगा। अन्य भी बहुतेरे दोष अणुओं के सम्बन्ध मानने में, अणुकार्यों में परिमाण आने में इत्यादि भगवान् भाष्यकार ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में स्पष्ट किये हैं और वादग्रंथों में अत्यधिक विस्तार उपलब्ध है। अतः वादी परमाणुओं को ही अवयव कह सकता है। परमाणु प्रत्यक्षसिद्ध नहीं यह उभयवादिसंमत और लोकसिद्ध बात है। जब उसका कभी प्रत्यक्ष नहीं तब वह अनुमान से सिद्ध कैसे होगा? अप्रत्यक्ष होने से वह पक्ष तो होगा नहीं तथा साध्य का साधन से सामानाधिकरण्य पहले जानना आवश्यक होता है जो पुनः प्रत्यक्षापेक्ष है। फोड़ने से छोटा होता है अतः फोड़ते जायें तो ऐसा छोटा होगा कि और छोटा नहीं हो सकेगा इत्यादि युक्तियों पर तो बच्चे भी हँसेगे! अनुकूल तर्क के बिना दृष्ट का अपलाप कर कल्पना करना अच्छा साहित्य भले ही बनाये, दर्शन कैसे बनायेगा? न फूटने में कारण उसकी निरवयवता की अपेक्षा अपनी अल्प सामर्थ्य ही क्यों नहीं मान लेते? गन्धादि गुणों की तरह सावयव रहते हुए भी न टूट पाना एक गुण ही क्यों न हो जाये? आदि विविध विडम्बनायें तार्किकों के मत में हैं। अपने आचार्य के वचन को भी परमाणु में प्रमाण वे दे नहीं सकते। परतः प्रामाण्यवादी होने से उन्हे बताना पड़ेगा कि आचार्यों ने किस प्रमाण से जाना? अनादि गुरु-परंपरा न वे मानते हैं व न उसमें उनके पास प्रमाण है। श्रुति में कहीं परमाणु बताया नहीं। सूक्ष्म या दुर्लक्ष्य बताने के लिये भले ही अणु शब्द वेद में आया है। 'एषोऽणुरात्मा' आदि प्रयोगों में नैयायिक भी आत्मा को अणुरूप न मानने से सूक्ष्मादि ही अर्थ कहेंगे। अणुशब्द की शक्ति भी बहुत छोटे में ही माननी पड़ेगी क्योंकि लोक में इसी अर्थ में प्रयोग है। 'लवलेशकणाणवः' ऐसा अमरसिंह भी लिख गये हैं। इस प्रकार परमाणु निष्प्रामाणिक है।

इतना ही नहीं, परमाणुओं को कारण मानने में यह बाधक भी है– 'परमाणुओं से निर्मित कोई संस्थान दुनिया में नहीं है। क्योंकि वे जड हैं और अनेक हैं इसलिये वे किसी की रचना करें यह संगत नहीं॥३३९॥' जड वस्तुएँ आपस में तरतीब से नियमतः मिलें और विशिष्ट संस्थान बनायें यह तो असंभव है क्योंकि इसके लिये आवश्यक विचार वे करने में असमर्थ होती हैं। यदि परमाणुओं को यों मिलने के कारण चेतन मान लें तो बहुतेरे चेतन एक देह में मानने पड़ेंगे और

माषराशेर्हि माषाणां निर्गमेऽपि समागमे। संस्थानस्यैकतां नैव मन्यन्ते स्थलरक्षकाः॥३४१॥

युवदेहजनौ यद्वत् संस्कृतिर्नैव ते भवेत्। एवं मे दर्शनाज्जाते पुत्रादौ नैव संस्क्रिया॥३४२॥

जातोऽयमिति धीस्तत्र यौवने चेन्न विद्यते। सममत्रापि दृष्टेषु पुत्रादिषु न साऽस्ति यत्॥३४३॥

अदर्शनं मरणम्

अदर्शनेऽपि मरणे वह्निदाहादि नापतेत्। यथा बालशरीरस्य भवतो यौवने न हि॥३४४॥

अवयवोपचयापचययोः संस्थानैक्यं नास्तीत्यत्रोदाहरणमाह - मापेति। मापराशेः सकाशाद् माषाणां निर्गमे **सति, तत्र तेषां समागमे वा राशिसंस्थानस्य** एकतां न मन्यन्ते **स्थलस्यर माषराशिस्थानस्य रक्षका इति प्रसिद्धम्॥३४१॥**

फलितमाह - युवेति। युवदेहस्य यौवनशालिदेहस्य जनौ सत्यां ते मते यथा संस्कृतिः **जातकर्माद्या** न, एवं **ममापीति॥३४२॥**

यदि तत्र जातोऽयमिति बुद्धेरभावान्न संस्कारापत्तिः, तर्हि मत्पक्षेऽपि समं समाधानमित्याह - जातोऽयमिति। सा **जातोऽयमिति बुद्धिः॥३४३॥**

यथा जन्मप्रयुक्तसंस्कारापत्तेः समं समाधानं तथाऽदर्शनात्मकमरणप्रयुक्तदाहादिप्रसंगस्य समं समाधानमित्याह - अदर्शन इति॥**३४४॥**

इसकी अनुपपन्नता पूर्व में कह आये हैं। परमाणु जड हों पर कोई चेतन उन्हे संस्थानाकर में ला दे तो क्या दोष है? दोष यह है कि चेतन से भिन्न परमाणुओं में हेरफेर होगी क्रिया से और चेतन व्यापक होने से निष्क्रिय ही स्वीकारा जाता है। चेतननिष्ठ इच्छादि से जड में संस्थानाकारता आना असंभव है, लोक में कहीं दीखता नहीं। नैयायिक ईश्वर को निमित्त कैसे कहते हैं? कहने में क्या लगता है? जीभ अपनी है, दस हाथ लम्वी हरड़ बता सकते हैं! बिना स्वयं उपादान हुए ईश्वर केवल निमित्त हो यह असंभव है। इसीलिये तार्किकपरिकल्पित ईश्वर का आचार्यों ने खण्डन किया है। कर्तृजन्यत्व का साधन करते ही किसके प्रति कर्ता? यह प्रश्न होना लाज़मी है। इसका उत्तर कोई न कोई क्रिया होगी और क्रिया चेतन में नैयायिक भी मानते नहीं। अतः उनके अनुसार भी उनका मत तुच्छ ही है। कृति आदि परिभाषामात्र से सिद्ध गुणादि मानकर कर्तृत्वादि की उपपत्ति केवल काल्पनिक होने से श्रद्धेय नहीं। इस प्रकार परमाणुरूप अवयव मानें तो प्रत्यभिज्ञा संभव नहीं यह कहा।

अब बताते हैं कि स्थूल अवयव स्वीकार्य हों तो भी प्रकृत में संस्थान (रचनाविशेष) की एकता नहीं कि प्रत्यभिज्ञा हो सके– 'बालदेह व युवकदेह के संस्थान भी एक नहीं हैं। यदि संस्थान एक होता तो दोनों के परिमाणादि के भेद की प्रमा न होती'॥३४०॥

संस्थान वही रहते अवयवों का उपचय या अपचय हो सकता है? इसका परिहार करते हैं– 'किसी स्थल पर रखे उड़द की ढेरी से कुछ बोरे उड़द निकल जाने पर या उस ढेरी में कुछ बोरे उड़द और पड़ जाने पर स्थलरक्षक यह नहीं मानते कि संस्थान वही है'॥३४१॥ ऐसे स्थल पर 'वैसा ही है' तो कथंचित् मान लेते हैं पर वही तो नहीं मानते। अतः अवयवों के बढ़ने-घटने से संस्थान बदलता ही है यह लोकसिद्ध बात है।

'इसलिये जैसे शंकावादी के मत में जवान शरीर हो जाने पर जातकर्मादि संस्कार पुनः करने नहीं पड़ते ऐसे ही दृष्टि सृष्टिवादी के मत में दीखने से उत्पन्न पुत्रादि का संस्कार नहीं करना पड़ता॥३४२॥ यदि कहो कि जवानी आने पर युवक शरीर के विषय में 'यह पैदा हुआ है' ऐसा ज्ञान नहीं होता जिससे संस्कार नहीं करने पड़ते, तो वह बात दीखने वाले पुत्रादि में भी समान है क्योंकि उनके दीखने पर ऐसा लगता नहीं कि 'यह पैदा हुआ है'॥३४३॥ ऐसे ही न दीखना रूप

न दृश्यते यथा बालशरीरं यौवने सति। तथैव च बहिष्ठत्वे पुत्रादिर्नैव दृश्यते॥३४५॥

अथैकबुद्धिरत्रास्ति पुत्रादौ सा समा तव। बालयौवनदेहेऽपि विना मानसमाग्रहम्॥३४६॥

बालदेहे गते यद्वत् शोकः स्वस्य परस्य न। अदर्शनेन मरणे पुत्रादेरपि वै तथा॥३४७॥

न मृता वयमित्येवं यदि ते दर्शने पुनः। वदन्ति तर्हि देहोऽपि यून एवं वदत्ययम्॥३४८॥

साम्यं स्फुटयति – न दृश्यत इति द्वाभ्याम्। यथा यौवने सति बालशरीरं न दृश्यते तथा बहिष्ठत्वे सति **बहिर्गतत्वे सति बन्धुता न दृश्यते। अदर्शनमेव च नाशः, णश अदर्शन इति धात्वर्थानुगमात्॥३४५॥** अथैकेति। अथ इति पक्षान्तरे। अत्र बहिर्गते पुत्रादौ एकबुद्धिः एकत्वावगाहिनी बुद्धिः अस्ति इति **बालयौवनदेहाद् विशेषं चेद् ब्रूषे, तर्हि सा बालयौवनदेहेष्वपि स एवायमिति बुद्धिर्दाहादिप्रसंगप्रतिबन्धिका समा एव, मानसं मनोनिष्ठं दुराग्रहं विना। तथा च सममेव समाधानमिति॥३४६॥**

एवमदर्शनेन मरणे सति शोकप्रसंगस्यापि समाधानं सममित्याह – बालेति। बालदेहे **मृते सति यथा स्वस्य तद्देहवतः** परस्य च तत्पितृप्रभृतेः शोको न भवति, स एवायमित्यभिमानात् तथा प्रकृतेऽपीति॥३४७॥

नन्वदर्शनस्य मरणत्वे 'न मृता वयम्' इति पुनर्दृष्टानां वाक्येन विरोधः? इत्याशङ्क्य; साम्येन समाधत्ते – न मृता इति। यदि ते पुत्रादयः पुनर्दर्शने **सति** न मृता वयमित्येवं वदन्ति **इति तद्वाक्यविरोधं शंकसे**, तर्हि यूनो **देहे प्राप्ते सति बालदेहे गते च सति** अयं पुरुष एवं 'न मृतोऽहम्' इति वदति। **तत्रापि तद्वाक्यविरोधेन बाल्यनिवृत्तेरभावमङ्गीकुरु। यदि च बालयुवशरीरभेदाज्ञानरूपदोषशालिवक्तृकत्वात् तद्वाक्यमप्रमाणमिति मन्यसे, तर्हि प्रकृतेऽपि तथा मन्यस्वेति भावः॥२४८॥**

मृत्यु होने पर अग्निसंस्कार आदि का प्रसंग नहीं, जैसे शंकावादी के मत में जवानी आने पर 'मरे हुए' बालक शरीर को जलाने आदि का प्रसंग नहीं होता॥३४४॥ जैसे युवावस्था आने पर बाल शरीर नहीं दीखता वैसे ही बाहर गये पुत्रादि नहीं दीखते। न दीखना ही तो नाश है!॥३४५॥ यदि कहो कि बाहर जाकर लौटे पुत्रादि के विषय में 'यह वही है' यों उसकी एकता का ज्ञान होने से बाहर गये काल में उनका नाश न माना जाये तो वह बात बालदेह व युवकदेह में भी समान है अर्थात् 'जो बालदेह था वही यह जवानदेह है' यों एकता का ज्ञान होता ही है, अतः शंकावादी यह भी मत माने कि युवावस्था में बालक शरीर नष्ट हो चुका (और बालोचित वस्त्रादि पहने!)। यह तो केवल मानसिक दुराग्रह ही है कि न दीखना समान होने पर भी किसी को नष्ट मानें, एक को नहीं॥३४६॥ जैसे बाल शरीर चले जाने पर न खुद को शोक होता है न पिता आदि अन्य को, वैसे ही पुत्रादि का अदर्शनरूप मरण होने पर किसी को दुःख न हो यह संगत ही है॥३४७॥ अगर पुत्रादि पुनः दीखने पर 'हम मरे नहीं' ऐसा कहते हैं जिससे उनका नष्ट होना न मानना चाहो तब तो क्योंकि युवक शरीर भी कहता है 'मैं मरा नहीं' इसलिये बालक देह नष्ट नहीं हुआ यह भी मान लो!॥३४८॥ यदि जवान के कथन को इस कारण अप्रमाण मानना ज़रूरी समझो कि उसे बालदेह व युवकदेह के भेद का ज्ञान नहीं है, तब अदर्शन के बाद दीखने वाले पुत्रादि में भी वैसा अज्ञान कहा ही जा सकता है, यह भाव है।

पहले वाले बालादिशरीर व बाद वाले ज़वानादि शरीर में जो भेद है उसका ज्ञान होने में प्रतिबंध करने वाला कोई दोष ही मानना पड़ेगा जिससे बालदेह का नाश होने पर भी जवान को 'यह वही शरीर है' ऐसा लगता है। ऐसा न मानने पर क्या दोष होगा यह बताते हैं– 'यदि ऐसा न मानो तब रोगादि स्पष्ट आपत्तियों वाले शरीर में कालभेद से होने वाले परिमाण आदि के भेद के कारण पुत्रादिविषयक 'यह मर गया' ऐसा ज्ञान कैसे रोका जायेगा?'॥३४९॥ अर्थात् परिमाणादिभेद होने पर पूर्वदेह नष्ट हो चुका यह तो कहा जा चुका है। उसके बारे में 'वह मर चुका' ऐसा व्यवहार होना चाहिये पर होता नहीं। इसके प्रति उक्त अज्ञानरूप दोष मानना पड़ेगा, अन्य कोई कारण माना नहीं जा सकता।

अन्यथा परिमाणादिभेदाद् देहे स्फुटा यदि[1]। कालभेदे हि पुत्रादौ केनासौ विनिवार्यते॥३४९॥

कालाभेदे[2] न चाभेदो युवबालशरीरयोः। भवेत् तद्वद्धि पुत्रादौ पूर्वोत्तरविबोधयोः॥३५०॥

बालदेहे गते यद्वद् मृतधीर्नैव जायते। अदर्शनेऽपि पुत्रादेर्मृतधीस्तद्वदेव न॥३५१॥

जनिमृत्योर्ज्ञातसत्त्वम्

अपि लोके जनिमृती प्रसिद्धे ये हि देहिनाम्। तेऽपि[3] विज्ञानमात्रेण प्रसिद्धे नान्यकारणात्॥३५२॥

जातं वाऽपि मृतं वाऽपि यावज्जानाति नैव हि। तावद् वर्षशतैर्वाऽपि हर्षशोकौ न गच्छति॥३५३॥

स्वयमप्येवमेवायं सुखदुःखे समाप्नुयात्। अविज्ञाने तयोर्नैव स्यातां ते कस्यचित् क्वचित्॥३५४॥

पूर्वापरभेदज्ञानप्रतिबन्धको दोषोऽवश्यमभ्युपेयस्त्वयापीत्याह - अन्यथेति। अन्यथा तादृशदोषानभ्युपगमे स्फुटा आपदो रोगादिलक्षणा यस्मिन्नेतादृशे देहे कालभेदनिमित्तकानां परिमाणादीनां भेदात् पुत्रादौ असौ शोको मृतधीर्वा केन निवार्येतेति॥३४९॥

भेदो विद्यते, भेदधीस्तु दोषेण प्रतिबद्धा - इति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः स्फुटयति - कालेति द्वाभ्याम्। यथा तव मते कालभेदे सति युवबालशरीरयोः अभेदो न विद्यते तद्वद् मम मते पूर्वोत्तरयोर्बोधयोर्विषयभूतपुत्रादीनामभेदो नेति॥३५०॥ बालदेह इति। यद्वद् उक्तदोषबलात्॥३५१॥

तिष्ठतु दृष्टिसृष्टावन्यदुदाहरणं, जन्ममरणे एवात्रोदाहरणमित्याह - अपीति। ये लोके सर्वदेहिनां प्रसिद्धे जनिमृती तेऽपि विज्ञानमात्रेण एव प्रसिद्धे कार्यकरत्वरूपं लौकिकसत्त्वं प्राप्ते; अन्यस्माद् ज्ञानभिन्नात्कारणात्तु न सत्त्वं प्राप्ते इति॥३५२॥

जन्ममरणयोर्ज्ञातसत्त्वं स्फुटयति- जातमिति द्वाभ्याम्॥३५३॥

स्वयमिति। अयं जनः स्वयमपि यज्जन्ममरणप्रयुक्ते सुखदुःखे समाप्नुयात् तदपि एवमेव अन्यवचनादिना तज्ज्ञानादेवेत्यर्थः। जनिमृत्योरज्ञाने तु ते सुखदुःखे कस्यचिद् अपि नैव स्याताम् इति प्रसिद्धमिति शेषः॥३५४॥

'जैसे तुम शंकावादी के मत में कालभेद होने पर युवकदेह व बालकदेह में अभेद नहीं रह जाता बल्कि भेद ही रहता है, वैसे दृष्टिसृष्टिवाद में पूर्वज्ञान के विषयभूत पुत्रादि और अनन्तरज्ञान के विषयभूत पुत्रादि में अभेद नहीं होता॥३५०॥ और जैसे बालदेह निवृत्त हो चुकने पर भी 'मर गया' ऐसा ज्ञान नहीं होता, ऐसे ही पुत्रादि का अदर्शन होने पर 'वे मर गये' ऐसा बोध नहीं होता'॥३५१॥ यहाँ स्पष्ट किया कि बालदेह के बारे में जो युक्ति पूर्ववादी देगा वही सिद्धान्ती दे सकता है।

अब बताते हैं कि दृष्टिसृष्टि समझने के लिये अन्य उदाहरण रहने दें तो भी जन्म-मृत्यु ही इसके लिये पर्याप्त उदाहरण हैं-'किं च, संसार में देहधारियों के जो जन्म-मरण प्रसिद्ध हैं वे भी केवल विज्ञान (= दृष्टि) के बल पर ही प्रसिद्ध हैं, अन्य किसी हेतु से नहीं॥३५२॥ जब तक व्यक्ति अपने पुत्रादि के जन्म या मरण को जानता नहीं तब तक उसे हर्ष या शोक नहीं होता चाहे सैकड़ों बरस बीत जायें॥३५३॥ स्वयं भी हमें अपने जन्म-मरण से प्रयुक्त सुख-दुःख तभी होते हैं जब किसी के कहने आदि से जन्म-मरण को जानते हैं। यदि उनका ज्ञान न हो तो किसी को उनसे प्रयुक्त सुख-दुःख न हों'॥३५४॥ यह सर्वानुभवसिद्ध है कि न हमें जन्मदुःख याद है, न मरणदुःख का अनुभव है। अन्यों को पैदा

---

१. 'स्फुटापदि' इति टीकाकृदपाठीत्। स एव च युक्तः पाठः। २. कालभेद इत्येव टीकापाठो युक्तश्च।

३. ते तव मतेन प्रसिद्धे इत्यर्थः। यद्यपि टीकायां 'ते अपी'ति मुद्रितं परं तत्सन्ध्यननुसन्धानेनैव, तेइति द्विवचनान्तपाठे मूले छन्दोभङ्गः स्यादिति।

जन्ममरणयोरप्रत्यक्षता

अप्येते स्वस्य न स्यातां प्रत्यक्षे प्राणिनः क्वचित्। किन्तु मात्रादिवचनादनुमानात् तयोर्हि धीः॥३५५॥

को हि योनेर्विनिर्याणे मूर्छां प्राप्तः शरीरभाक्। योनिनिर्गमनं स्वस्य प्रत्यक्षीकर्तुमर्हति॥३५६॥

एवं विशेषविज्ञानविलोपे प्राणनिर्गमे। को नाम मरणं स्वस्य प्रत्यक्षेणावगच्छति॥३५७॥

अतः शब्दादिविज्ञानाद् बुद्धे जनिमृती यथा। तद्वच्छास्त्रस्य विज्ञानाद् दर्शनाऽदर्शने स्थिते॥३५८॥

इन्द्रियविषयकप्रत्यभिज्ञाऽभावः

प्रत्यभिज्ञा च नैवास्ति करणग्रामसंश्रया। तदेव चक्षुरेतर्हि यथाऽऽसीद् मामकेन्द्रियम्॥
एवं न कस्यचिद् बुद्धिरिन्द्रियेषूपलभ्यते॥३५९॥

किंच लौकिकं जन्म मरणं च मूर्छावशेन स्वयं द्रष्टुमशक्यत्वात् परवचनादिनैव त्वया मन्तव्यम्। तथा च परमात्मवेदवाक्याद् दर्शनादर्शनयोः जनिमृती कुतो नाभ्युपैषीत्याह – अप्येते इति चतुर्भिः। एते जनिमृती कस्यापि प्राणिनः प्रत्यक्षसिद्धे न भवतः किन्तु मातृप्रभृतीनां वाक्याद्, अनुमानाद् वा तयोः जनिमृत्योः धीः भवति॥३५५॥

तत्र जन्मनः प्रत्यक्षत्वाऽसंभवं दर्शयति – को हीति। विनिर्याणे निर्गमनकाले॥३५६॥

मरणस्यापि प्रत्यक्षत्वाऽसंभवमाह – एवमिति। प्राणनिर्गमे तत्काले विशेषाकारविज्ञानानां लोपे सति मरणं कः साक्षात्कर्तुं शक्नुयादिति॥३५७॥

अत इति। अतः स्वप्रत्यक्षाऽसंभवाच्छब्दादिविज्ञानादिरूपप्रमाणादेव जनिमृती यथा त्वया बुद्धे ज्ञाते, तथा शास्त्रस्य व्याख्येयश्रुतिरूपस्य विज्ञानाद् दर्शनाऽदर्शनरूपे जनिमृती स्थिते सिद्धे इत्यर्थः॥३५८॥

ननु भवता दृष्टिसृष्ट्युपपत्तयो बाह्येषु पुत्रादिविषयेष्वेव कुतः प्रपंचिताः, इन्द्रियेषु देवेषु च कुतो न दर्शिताः? इत्याशंक्य; इन्द्रियाणां देवानां च परोक्षतया तत्र विरोधिप्रत्यभिज्ञाऽनवताराद् वाक्यश्रवणमात्राद् दृष्टिसृष्टिः संभाव्यते। बाह्यविषयेषु तु प्रत्यभिज्ञागतिर्दर्शनीया, इति विषयेषु तत्प्रपंचः कृत इत्यभिप्रायं स्फुटयति – प्रत्यभिज्ञेत्यादि चतुर्भिः। करणग्रामः संश्रयो विषयतयाऽऽश्रयो यस्यास्तादृशी प्रत्यभिज्ञा च नास्ति। कुतः? अनुपलब्धेरित्याह – तदेवेति। मामकेन्द्रियं चक्षुर्यथा पूर्वम् आसीत्तदेव तथाविधमेव एतर्हि वर्तत इति एवम् आकारा बुद्धिः इन्द्रियगोचरा कस्यचिद् अपि जनस्य नोपलभ्यत इति॥३५९॥

होते व मरते देखते हैं तो अनुमान करते हैं कि हमें भी ऐसा ही दुःख हुआ होगा या आगे होगा। शास्त्रादि भी इन दुःखों का वर्णन करते हैं। यदि जन्मदुःख याद होते तो प्रायः सभी लोग मुमुक्षु हो जाते! अभी तो पुराणादि के वर्णनों में हमें शंका ही होती है कि क्या सचमुच ऐसे दुःख पैदा होने में होते है? अतः ख़ुद के भी जन्म-मृत्युप्रयुक्त दुःख जन्म-मृत्यु की दृष्टि होने पर ही होते हैं।

लोकसिद्ध जन्म-मरण दूसरों की बात से मानने पड़ते हैं क्योंकि जन्मते-मरते वक्त प्रायः प्राणी मूर्च्छित-सा रहता है, स्वयं जन्मादि को देख नहीं पाता। ऐसे ही परमात्मा के उपदेशरूप वेदवाक्य से दर्शन-अर्शन को ही जन्म-मृत्यु क्यों न मान लिया जाये? यह कहते हैं– 'किसी भी प्राणी को अपने जन्म-मरण प्रत्यक्षसिद्ध नहीं किन्तु माता आदि के वचन से या अनुमान से जन्म-मरण का ज्ञान होता है। ऐसा कौन शरीरधारी होगा जो योनि से निकलते समय मूर्छित रहता हुआ भी अपना योनि से निकलना प्रत्यक्ष देख सके? ऐसे ही प्राण निकलते समय विशेष आकार वाले अनुभव प्रतिबद्ध होने पर अपना मरण प्रत्यक्षरूप से कौन समझ सकता है? इसलिये जैसे शब्दादि प्रमाणों से लौकिक जन्म-मरण समझे जाते हैं वैसे शास्त्ररूप प्रमाण से दर्शन-अदर्शनरूप जन्म-मरण सिद्ध होते हैं'॥३५५-३५८॥ प्रसिद्ध जन्मादि से विलक्षण जन्मादि यहाँ

अपि प्रत्यक्षता नास्ति सदैवेन्द्रियसंश्रया। प्रत्यभिज्ञा कुतस्तत्र यतः प्रत्यक्षगा हि सा॥३६०॥

देवेष्वपि न सा

इन्द्रियाणामधिष्ठात्र्यो वह्न्याद्या अपि देवताः। प्रत्यक्षा न यतस्तेन तासामिन्द्रियतुल्यता॥३६१॥

जडमात्रस्य दृष्टिसृष्टिः

विषया लोकशब्देन कथितास्ते सुतादयः। दर्शनाऽदर्शने तेषां जन्मनाशौ समीरिते॥३६२॥

इन्द्रियाणामतीन्द्रियत्वाच्च संस्कारसहकृतेन्द्रियजन्यज्ञानरूपा प्रत्यभिज्ञा न संभवतीत्याह - अपीति। इन्द्रियसंश्रया इन्द्रियनिष्ठा। तत्र इन्द्रियेषु। प्रत्यक्षगा प्रत्यक्षवस्तुगता। सा प्रत्यभिज्ञा॥३६०॥

एवं तद्देवेष्वपि न प्रत्यभिज्ञेत्याह - इन्द्रियाणामिति। इन्द्रियाणामधिष्ठात्र्यो वह्न्याद्या देवता अपि यतो न प्रत्यक्षास्तेन प्रत्यक्षत्वाभावेन हेतुना तासां देवतानां प्रत्यभिज्ञाविषयत्वाभावेन साधर्म्येण इन्द्रियतुल्यतेति॥३६१॥

विषयाइति। विषयाः तु श्रुतिगतेन लोकशब्देन उक्ताः, लोक्यन्ते प्रत्यक्षज्ञानेन विषयीक्रियन्त इति योगार्थसमन्वयात्, ते सुतादिरूपाः प्रदर्शिताः। तेषां दर्शनमेव जन्म, अदर्शनमेव च नाश इति सम्यगुपपत्तिपूर्वकमीरितं प्रत्यभिज्ञादि विरोधपरिहारायेति भावः॥३६२॥

सिद्ध नहीं किये हैं क्योंकि तब तो वे पारिभाषिक मात्र रह जायेंगे और वादी का मत अखण्डित रहेगा। यहाँ अभिप्राय यही है कि वादिसिद्ध जन्मादि के तुल्य योगक्षेम वाले होते हुए लौकिक वाक्यादि प्रमाणों की अपेक्षा प्रबलतर शास्त्रप्रमाण से सिद्ध दर्शनादिरूप जन्मादि ही स्वीकार्य हैं।

बाह्य विषयों का विचार करते हुए दृष्टिसृष्टि समझायी गयी। इन्द्रियों के व देवताओं के बारे में यह नहीं कहा कि उनकी सृष्टि भी दृष्टिमात्र है। ऐसा इसलिये कि इंद्रियाँ और देवता परोक्ष हैं जिससे उनकी दृष्टिसृष्टि तो वाक्य सुनने से ही समझ आ जाती है क्योंकि दृष्टिसृष्टि का विरोध करने वाली प्रत्यभिज्ञा होती नहीं। बाह्य विषयों की तो प्रत्यभिज्ञा उन्हे स्थायी मानने को प्रेरित करती है अतः उन्ही की प्रत्यभिज्ञा को उपपन्न करते हुए बाह्यों की दृष्टिसृष्टि समझायी। यह बात चार श्लोकों द्वारा व्यक्त करते हैं- 'इन्द्रियों को विषय करने वाली प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। 'जो मेरी चक्षुरादि इंद्रिय पहले थी वही अब है' इस प्रकार का ज्ञान इंद्रियों के विषय में किसी को नहीं होता'॥३५९॥ यद्यपि 'जिस घटपदार्थ को कल घटपद से जाना था उसे ही आज भी घटपद से जान रहा हूँ' आदि अप्रत्यक्षात्मक प्रत्यभिज्ञा होती ही है तथा सुषुप्ति के बाद जगने पर 'मेरी वे ही इंद्रियाँ हैं' ऐसी प्रत्यभिज्ञा एवं एतदर्थक शास्त्रोपदेश भी होता है, और इसलिये पूर्वोक्त न्यायों से इंद्रियादिविषयक दृष्टिसृष्टि समझनी भी चाहिये; तथापि प्रत्यक्षात्मक प्रत्यभिज्ञा के अभिप्राय से प्रकृत ग्रंथ प्रवृत्त है।

संस्कारसहकृत इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यभिज्ञा कहलाता है और इंद्रियाँ सभी अतीन्द्रिय हैं अतः उनकी प्रत्यभिज्ञा असंभव है यह कहते हैं- 'किं च, इन्द्रियाँ कभी प्रत्यक्ष नहीं होती अतः उनके विषय में प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी, क्योंकि वह तो प्रत्यक्ष वस्तु को ही विषय करती है'॥३६०॥ यहाँ प्रत्यक्ष का अर्थ ऐंद्रिय प्रत्यक्ष है क्योंकि वही वादी को स्वीकृत है। साक्षिप्रत्यक्ष आकाश की एवं अपरोक्षप्रत्यक्ष आत्मा की प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त में भले ही स्वीकृत है, वादी केवल ऐंद्रिय प्रत्यक्ष को ही प्रत्यक्ष मानता है अतः उसके प्रति ऐसा ही कहना उचित है। सिद्धांत में तो दृष्टिसृष्टि भी स्वीकार्य होने से कोई विप्रतिपत्ति है ही नहीं।

'ऐसे ही इंद्रियों के अधिष्ठाता अग्नि आदि देवता क्योंकि प्रत्यक्ष नहीं इसलिये इंद्रियों की तरह उन्हे भी प्रत्यभिज्ञा विषय करती नहीं॥३६१॥ श्रुति ने 'लोक'-शब्द से विषय कहे हैं अतः पुत्रादि उन विषयों के ही दर्शन-अदर्शनरूप जन्म-मरण का यहाँ विस्तृत विचार कर दिया है'॥३६२॥

भौतिकं यद्वदेवेदं जायते च विनश्यति। भूतपञ्चकमप्येवं जडत्वादात्मभेदतः॥३६३॥

प्रत्यभिज्ञाऽपि सर्वत्र देहवत् प्रागुदाहृता। न संस्थानं नाऽवयवा अस्याः कारणमित्यपि॥३६४॥

श्रुतौ लोकशब्दप्रयोगेण च यो हि यत्पश्यति स तत्करोतीति सूचनाज्जडमात्रस्य दृष्टिसृष्टिरभिमता। उपपद्यते चेदं, परोक्षभावानामपीन्द्रियादीनां स्वाभिमानिदेवादिप्रत्यक्षत्वात्। तथा च तुल्यन्यायाद् भौतिकवद् भूतानामपि दृष्टिसृष्टिरभ्युपेयेत्याह – भौतिकमिति। तथा चाऽयं प्रयोगः – भूतपंचकं, दर्शनादर्शनयो र्जन्मविनाशप्रतियोगि, जडत्वाद् अनात्मत्वाद्वा, भौतिकवदिति। न चाऽनादिषु 'जीव ईशो विशुद्धा चिद् विभागश्च तयोर्द्वयोः। अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥' इत्युक्तेषु व्यभिचारः; तत्रापि जडांशस्य कल्पितत्वेन यावत्प्रतिभासमवस्थितेः प्रतिभासानादितयैव अनादित्वाभ्युपगमादिति, चैतन्यस्य सर्वोपाधिष्वेकत्वात् तत्सत्तैव कल्पितानां सत्ता – इत्यत्र पर्यवसानाद् न कश्चिद् विरोध इति सर्वं समंजसम्[१]॥३६३॥

भौतिकवदेव च प्रत्यभिज्ञादिविरोधपरिहारोऽपि बोध्य इत्याह – प्रत्यभिज्ञेति। प्रागुदाहृता उपपादिता। अस्याः प्रत्यभिज्ञायाः संस्थानमवयवाः च कारणं न संभवन्ति इत्यपि प्रागुदाहृतमित्यन्वयः॥३६४॥

वस्तुतस्तु अवलोकनार्थक धातु से निष्पन्न लोकशब्द के प्रयोग से श्रुति ने सूचित किया है कि जो जिसे प्रत्यक्ष करता है वह उसका उत्पादक है। एवं च समस्त जड प्रपंच दृष्टिसृष्टि ही है। इंद्रियों का भी प्रत्यक्ष उनके अभिमानी देवताओं को होता ही है। देवताओं को न हो तो भी ईश्वर को तो प्रत्यक्ष हो ही जायेगा। इसलिये भूत-भौतिक सभी की दृष्टिसृष्टि मान्य है यह कहते हैं– 'जैसे यह भूतकार्य प्रपंच पैदा होता और नष्ट होता है वैसे ही पाँचों भूत भी (दर्शन से) पैदा और (अदर्शन से) नष्ट होते हैं क्योंकि कार्यों की तरह ही ये भी जड हैं व आत्मा से भिन्न हैं'॥३६३॥ यहाँ यह प्रयोग बताया है – पाँचों भूतों की दृष्टिसृष्टि है क्योंकि वे जड तथा अनात्मा हैं, जो-जो जड व अनात्मा होता है उसकी दृष्टिसृष्टि होती है, जैसे भूतकार्यों की। कोई पूछ सकता है कि वेदांतियों ने छह वस्तुओं को अनादि मान रखा है। वे हैं: जीव, ईश्वर, शुद्धचेतन, जीव-ईश्वर का भेद, अविद्या और अविद्या का चेतन से सम्बंध। इनमें भेद, अविद्या और सम्बंध जड तथा अनात्मा हैं पर अनादि होने से इनकी दृष्टिसृष्टि नहीं। अतः जडत्व व अनात्मत्व हेतुओं को व्यभिचारी क्यों न कहा जाये? इसका सामान्य उत्तर तो यही है कि अनादि से भिन्न के विषय में ही दृष्टिसृष्टि मानी जा रही है अतः दोष नहीं अर्थात् पक्ष में 'अनादिभिन्न' विशेषण समझना चाहिये। किंतु वास्तविकता यह है कि सिद्धान्ती की दृष्टि से अनादि जड की भी प्रतिभास रहते ही स्थिति है, उनकी भी अज्ञात सत्ता स्वीकार्य नहीं क्योंकि वे भी कल्पित ही हैं। उन्हें अनादि इसीलिये कहते हैं कि उनकी प्रतीति अनादि है, न कि उन्हे सत्य बताने के लिये। सब उपाधियों में जो एक चेतन है उसकी सत्ता ही कल्पितों की सत्ता है, पृथक् स्वतंत्र सत्ता अनादि जडों की भी नहीं है। अतः व्यभिचार ही नहीं है। यदि अज्ञायमान भेद, अज्ञान या सम्बंध स्वीकृत होता तो व्यभिचार होता। जब वे वैसे स्वीकृत ही नहीं तो व्यभिचार कहाँ?

पूर्वविचारित के ढंग से ही युक्तिविरोधों का परिहार कर लेना चाहिये यह सूचित करते हैं– 'जैसे पहले शरीर के विषय में उपपन्न की है वैसे सर्वत्र प्रत्यभिज्ञा उपपन्न हो जाती है। यह भी समझा ही चुके हैं कि प्रत्यभिज्ञा में कारण न संस्थान है व न अवयव'॥३६४॥ अतः भूतादिविषयक दृष्टिसृष्टि में कोई आपत्ति नहीं यह अभिप्राय है। इतना स्मरण रखना चाहिये कि वादी को प्रबोधित करते समय उसकी मान्यताओं का निराकरण कर देना आवश्यक है पर ख़ुद दृष्टिसृष्टि का आलोचन करते समय व्यवस्थाओं की उपपत्ति नहीं करनी चाहिये, स्वप्नवत् जैसा जब अनुभव हो वैसा तब है इतना ही मानते चलना चाहिये। व्यवस्था, कार्यकारणभाव आदि का विचार तो पुनः सृष्टिदृष्टि का ही रूप हो जाता है।

दृष्टिसृष्टि की विरोधी सभी युक्तियों का परिहार है माया। वह दुर्घटकारिणी सुप्रसिद्ध है। किं च वादी चाहे जितनी

---

१. अद्वैतसिद्धौ तु 'अनाद्यतिरिक्तसृष्टिविषय एव दृष्टिसृष्टिस्वीकारात् कारणात्मना स्थायित्वस्वीकाराच्च' इत्युपपादितम् (पृ. ५३४) इति द्रष्टव्यम्।

कर्ममाययोः सर्वोपपादकत्वम्

न च नीरविनाशे स्यात् तेजसस्तत्र वै जनिः। पुंसो बाल्यविनाशे किं युवा वा न भवेद् भवान्[१]॥
कर्म तत्र निमित्तं चेत् तदत्राऽपि समं मम॥३६५॥

महाभूतजनौ नैव कर्म कारणमिष्यते। भवतोऽप्येतदप्यात्माऽज्ञानमाविष्कृतं त्वया॥३६६॥

कर्मणां धर्माधर्मरूपाणां मायाया दुर्घटकारिण्याः सर्वव्यवस्थोपपादकत्वाच्च न काचिद् दृष्टिसृष्टिमतेऽनुपपत्तिरिति दर्शयितुं कर्मणां कारणत्वं तावच्छंकापूर्वकमवतारयति - न चेति। दृष्टिसृष्टिमतेऽदर्शनस्यैव नाशत्वाद् अदृष्टस्य तडागादिस्थजलस्य नाशे सति तत्र नष्टजलदेशे तेजसो जलविरुद्धस्य जनिः स्याद् इति न च शंक्यमिति पूर्वार्द्धार्थः। इमां च शंकां पूर्वपक्षी हृदये व्याप्तिमनालोच्यैव कृतवान्। न हि यत्र जलाभावस्तत्र तेजोजन्मनि नियमः, आकाशादौ व्यभिचारात्। तथा च 'अहृदयवचसामहृदयमेवोत्तरम्' (लघुचं. पृ.४०२) इति न्यायेन तथा विधमेवोत्तरं ददाति सिद्धान्ती - पुंस इति। कस्यचित् पुंसो बाल्यावस्थानाशे तद्विरुद्धं यौवनं त्वयि कुतो न जायत इत्यर्थः। एवं प्रतिरुद्धो वादी कर्मणोऽपि सृष्टिं प्रति कारणता - इत्यनुस्मृत्याह - कर्मेति। तत्र यौवनसृष्टौ। तथा च मयापि कर्मणां निमित्तत्वं स्वीकृतमेवेत्याह सिद्धान्ती - तदत्रापि समं ममेति। अत्र दृष्टिसृष्टौ तत् कर्माश्रयणेन व्यवस्थोपपादनं ममापि समं मयापि सुकरमित्यर्थः॥३६५॥

शंकते - महाभूतेति। भवतो दृष्टिसृष्टिवादिनो मते महाभूतानां जनौ कर्म कारणं न भवति, किन्तु भौतिकानामेव भोगोपकरणानां सृष्टाविति। सिद्धान्त्याह - एतदिति। एतद् शंकारूपेण परिणतमात्मीयाऽज्ञानमेव त्वया शंकमानेन प्रकटीकृतं, न शंकितमित्यर्थः॥३६६॥

व्यवस्थायें बनाये, धर्माधर्म रूप अदृष्ट का सहारा वह छोड़ नहीं पाता क्योंकि दृष्टमात्र से कोई भी व्यवस्था बन नहीं पाती। उस अदृष्ट से ही दृष्टिसृष्टि भी समझ आ जाती है। यही स्पष्ट करते हैं– 'वादी पूछता है कि आपके मत में जल नष्ट होने पर वहाँ अग्नि क्यों नहीं उत्पन्न हो जाती?' इस प्रश्न का आधार तो कुछ है नहीं क्योंकि जलाभाव और अग्निजन्म का नियम कहीं देखा जाता नहीं। किं च नाश को जन्म का हेतु सिद्धांती ने माना भी नहीं है। पूर्वपक्षी ने इतना ही सोचा कि यदि दीखना ही पैदा होना है तो कहीं भी कुछ भी दीख सकता है, दीखने में नियम कयों उपलब्ध होता है? इस नियम में हेतु बताने के लिये सिद्धान्ती वादी से एक प्रश्न करता है 'आपसे भिन्न किसी व्यक्ति की बाल्यावस्था नष्ट होने पर आप जवान क्यों नहीं हो जाते?' यदि कहो कि देवदत्तबाल्यनाश और यज्ञदत्तयौवनजन्म का नियम देखा नहीं जाता तो तुम्हारा (वादी का) भी पूर्वोक्त प्रश्न समान ही है। जिसका बाल्य नष्ट हो वह युवा हो ऐसा भी नियम नहीं क्योंकि बलक भी मर जाते हैं। युवा वही है जिसका बाल्य नष्ट हुआ यह भी कह नहीं सकते क्योंकि प्रथमतः तो स्वप्नदृष्ट युवा में व्यभिचार है और दूसरी बात यह कि बाल्य पहले नष्ट होगा तब यौवन आयेगा अतः 'युवा का बाल्य' कहना ही नहीं बनता। यों हतप्रभ वादी अपनी रटी-रटायी व्यवस्था सुनाता है 'जी, सृष्टि के प्रति कर्म भी कारण है अतः दूसरे की बाल्यहानि से मैं युवा नहीं होता इसमें निमित्त है मेरा अदृष्ट।' सिद्धान्ती भी व्यवहारभूमि में शास्त्रप्रामाण्य से धर्माधर्म मानता है, सबकी धर्म प्रवृत्ति चाहता है अतः यही उत्तर वादी द्वारा किये अग्निजन्म के प्रश्न का दे देता है 'जलनाश होने पर आग पैदा न होने में भी कर्म ही कारण मुझे भी स्वीकृत है!'॥३६५॥ वस्तुतस्तु दृष्टिसृष्टि का पर्यवसान है अजाति। प्रारंभ के लिये दृष्टिसृष्टि कही जाती है। उसकी उपपत्ति हो जाती है माया से। कर्म से उपपत्ति करने पर स्वयं कर्म की दृष्टिसृष्टि का प्रश्न उठेगा। अतः प्रश्न परंपराओं को स्थान देना महत्त्वपूर्ण नहीं। दृष्टिसृष्टि को भी दृष्टिसृष्टि ही स्वीकारा गया है। कर्म को व्यवस्थापक तो मन्दसन्तोषार्थ माना गया है। यह आगे के प्रसंग से स्पष्ट हो जायेगा।

सिद्धान्त से अपरिचत वादी शंका करता है– 'आप दृष्टिसृष्टिवादी महाभूतों की उत्पत्ति में कर्म को करण नहीं मानते

---

१. अन्यस्य बाल्यनिवृत्तावन्यस्य यौवनं शंक्यते सिद्धान्तिना। नन्वप्राप्तमेवेदम्? सत्यं, नीरविनाशे तेजउत्पत्तिरप्यप्राप्तैवेति गृहाण।

यतो हि जगतो योनिः प्राणात्मा कर्मवासितः। भूतभौतिकजातं हि सृजत्यत्ति च सर्वदा॥३६७॥

संसारस्य न कस्यापि प्राथम्यमिह विद्यते। अनादित्वाद् न चाप्यन्तो विना मोक्षेण विद्यते॥३६८॥

माया कर्मणोऽपि निर्वाहिका

कर्मकारणपक्षे हि मायाया व्यर्थता न हि। कर्मणोऽपि विना मायां नियतिर्नोपपद्यते॥३६९॥

यदज्ञात्वा पूर्वपक्षिणा शङ्कितं तं श्रुतिस्मृतिन्यायसिद्धमर्थं कर्मापेक्ष्यात्मनः सृष्ट्यादिकारणत्वरूपं दर्शयति – यत इति। यत इति श्रुत्यादिसिद्धमिति शेषः। 'इति' किम्? जगतो योनिः अभिन्ननिमित्तोपादानं प्राणात्मा कारणोपाधिकः कर्मवासितः कर्मणां सूक्ष्मावस्थारूपादृष्टसापेक्ष एव सृष्ट्यादि करोतीति। तथा च सप्तान्नब्राह्मणं 'सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता' (बृ.१.५) इति। सप्तान्नपदेन कार्यमात्रसंग्रह इति तत्रैव स्पष्टम्। तपसा कर्मणा। वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वादिति न्यायः। स्मृतयश्च पुराणरूपाः॥३६७॥

ननु कर्मणो जन्यमात्रकारणत्वं न संभवति, प्रथमसृष्टौ कर्मणो निमित्तत्वाऽसंभवाद्? इत्याशंक्याह – संसारस्येति। तथा च पूर्वपूर्वकर्मनिमित्तकोत्तरोत्तरा सृष्टिरिति भावः॥३६८॥

ननु कर्मणैव सर्वनिर्वाहे सति मायास्वीकारो व्यर्थः? इत्याशंक्याह – कर्मेति। मायाव्यर्थता न वक्तुं शक्या, दृश्यमात्रनिर्वाहकत्वात्। कथमेतदिति चेत्? कर्मण्येव तावद् निर्वाहकत्वं मायायाः पश्यतु भवानित्याह – कर्मणोऽपीति। नियतिः व्यवस्था॥३६९॥

अतः कर्म से अग्निजन्म व्यवस्था कैसे कही?' सिद्धान्ती कहता है 'यह पूछकर आपने इतना ही स्पष्ट किया कि हमारा सिद्धांत आपको मालूम नहीं; क्योंकि हमारे अनुसार कर्मों की वासनाओं वाला कारणोपाधिक परमात्मा ही जगत् का कारण है जो हमेशा भूतों का व भौतिकों का सर्जन और विनाश करता है'॥२६६-२६७॥ पूर्वपक्षी अर्धजरतीयभाव से सिद्धांत समझ रहा था कि कुछ वस्तुयें ईश्वरसृष्ट हैं, स्थायी हैं व कुछ ऐसी हैं जो जीवदृष्टि से ही उत्पन्न हैं। केवल स्वप्न या रज्जुसर्प के विचार से ऐसा भ्रम सहज है। इसीसे पुराणकार ने व्यावहारिक पुत्रादि शरीरों को ही दृष्टांत बनाया था। औपाधिकमात्र की दृष्टिसृष्टि का स्वीकार करने वाला तो ईश्वरपर्यन्त उसे ही मानता है! अतः कारणब्रह्म की व्यवस्था जो सृष्टिदृष्टि वादी दे सकता है उसे दृष्टिसृष्टिवादी भी दे देगा क्योंकि दृष्टिरूप उस व्यवस्था से कोई हानि संभव नहीं। और व्यवस्था को पारमार्थिक मानना है नहीं।

पुनः कोई प्रश्न करे कि जन्यमात्र के प्रति कर्म कारण नहीं होगा क्योंकि प्रथम सृष्टि के प्रति कर्म निमित्त होना संभव नहीं, अतः कर्म से व्यवस्था कैसे? तो इसका उत्तर देते हैं– 'कर्म को कारण स्वीकारने वालों के मत में कोई संसार पहला नहीं, क्योंकि संसार अनादि है। और मोक्ष के बिना संसार का अंत भी नहीं होता'।३६८॥ जो कर्म को हेतु न माने उसके मत में ईश्वर पर वैषम्य-नैर्घृण्य का वज्रलेप है और ईश्वर न माने तो आकस्मिकता का स्वीकरण रूप सर्वदृष्टविरोध है। प्रवाहरूप से सृष्टिपरंपरा होने के कारण कार्यमात्र के प्रति अदृष्ट कारण होना संगत है। जो तो समन्वयभाष्य में 'अन्धपरम्परैषानादित्वकल्पना' कहा है वह शरीर में मिथ्या अभिमान के उपपादन का ही शेष है। अतएव शास्त्रवचनों से प्रतीत होने से शरीरसम्बंध के प्रति कर्म को निमित्त मानकर आचार्यों ने यह दोष दिया है कि यदि केवल कर्म से शरीर-संबंध हो तो जैसे कर्मवश सम्बद्ध पुत्रादिशरीर में गौणात्मता है ऐसे अपने शरीर में भी होती तथा वैसी है नहीं अतः अविद्या को निमित्त मानना पड़ेगा : 'तन्निमित्तत्त्वे च पुत्रादिशरीरेष्विव गौणत्वप्रसंगात्... पारिशेष्याद् अविद्यानिमित्तः शरीरसम्बन्धः' (पंचपादिका पृ. ६७०)। तब सिद्धान्ती कैसे अदृष्ट को शरीरलाभ में कारण मानता है? सिद्धान्त में आत्मा का शरीर से अध्यासरूप सम्बन्ध है और वह अध्यास अज्ञानमूलक है जो अज्ञान स्वरूपानादि है, परंपरा से अनादि नहीं। शरीर-कर्मसम्बंध प्रवाहानादि शास्त्रानुसार है। यह व्यवस्था है। भगवान् अनुभूतिस्वरूप ने उक्त भाष्य की टीका में कहा है

इदं कर्म कुतोऽस्यैव शरीरस्य सुखस्य च। कारणं न परस्येति नास्ति चोद्यप्रतिक्रिया॥३७०॥
न जानामीति मायाया वाचकं शब्दबोधकम्। हित्वा तस्मादियं माया सार्था दुर्घटकारिणी॥३७१॥

माया दुर्घटकारिणी

स्वभावाद्या हि ये पक्षास्तान् सर्वानत्ति सर्वदा। कुतो राक्षसराजोऽयं विना स्वां जननीमिमाम्॥३७२॥

अनुपपत्तिं स्फुटयन् मायायाः सर्वनिर्वाहकत्वं सर्वानुभवारूढं करोति - इदमिति। यथा 'कार्तिक्यां कृत्तिकायोगे यः कुर्यात् स्वामिदर्शनम्। सप्तजन्मसु विप्रःस्याद् धनाढ्यो वेदपरागः॥' इत्याद्युक्तम् इदं कर्म अस्यैव ब्राह्मणदेहस्य धनाढ्यत्वप्रयुक्तसुखस्यैव च कारणम्, अपरस्य ब्राह्मणदेहभिन्नस्य शरीरस्य दुःखस्य च कारणं न भवतीत्येतत् कुतः किमत्र नियामकम्? इति चोद्यस्य प्रतिक्रिया परिहारः 'न जानामीति' मायाया वाचकं शब्दरूपं बोधकं हित्वा न अस्ति, किन्तु 'न जानामीति' शब्दप्रयोग एवोत्तरम्। तथा च सर्वानुभवसिद्धाया मायाया अशक्योऽपह्नव इति भावः। फलितमाह - तस्मादिति। तस्मात् सर्वनिर्वाहकत्वाद् इयं दुर्घटकारिणी माया सार्था, न व्यर्थेत्यर्थः। ननु 'न जानामी'ति शब्दः कथं भावरूपाज्ञानवाचकः, ज्ञानाभावबोधकत्वाद् इति चेद्? किं यत्किंचिज्ज्ञानाभावं प्रतिपादयति? किं वा ज्ञानसामान्याभावम्? नाद्यः; पटज्ञानकालेऽपि घटज्ञानाभावमादाय न जानामीति प्रतीतिप्रसंगात्। न द्वितीयः; अभावज्ञाने प्रतियोग्यनुयोगिभाननियमेन ज्ञानसामान्याभावस्य दुर्वचत्वात्। सामान्याभावस्य यावद्विशेषविरोधित्वात्। तस्मान्न जानामीत्यत्र नञः प्रकृत्यर्थान्वयेन ज्ञाधातोर्ज्ञानविरोधिभावपरत्वमेवेत्यन्यत्र विस्तरः॥३७०-३७१॥

मायाया दुर्घटकारित्वं स्फुटीकुर्वंस्तस्या दुर्घटकार्यान्तरोपलक्षणमेकं दुर्घटं कार्यमादर्शयति - स्वभावाद्या इति। स्वभावाद्याः स्वभावकालप्रभृतयो ये चार्वाकादिपक्षाः तान् सर्वान् अयं खण्डनतर्करूपो राक्षसराज इमां मायारूपां जननीं विना कुतः सहायाद् अत्ति भक्षयति, किन्तु मायाजननीप्रसादादेवात्ति। विज्ञमतस्य खण्डयितुमशक्यत्वात् तमःप्रभवचार्वाकादिमतखण्डनकाले खण्डनतर्कराक्षसस्य खण्डनीयमतानां च जननी माया 'न जानामी'तिरूपेण चार्वाकादिचित्तप्रादुर्भावरूपकरेण चार्वाकादिमतान्यादायेव कनिष्ठपुत्राय खण्डनतर्कराक्षसराजाय अशनमिव ददातीति मायायाः खण्डनजयसम्पादनरूपं दुर्घटं कर्म पश्यतेति भावः। चार्वाकादिमतानामज्ञानमूलत्वे मानं च

'या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च तासां प्रवृत्तयः। सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोमूला हि ताः स्मृताः'॥ (मनु. १२:९५.) इति स्मृतिः॥३७२॥

'स्वपक्षे पुनः कर्मशरीरयोर्निमित्तनैमित्तिकभावेन वर्तमानयोरनाद्यज्ञानोपादानत्वेनात्मसम्बन्ध इति नानवस्था' (प्रकटा. पृ. ८१)। एवं च उक्त भाष्य का इस पुराणवाक्य से कोई विरोध नहीं। सामान्यतः अनादि भाव पदार्थ अनंत होते हैं अतः संसार को अनंत कहा है। निरपेक्ष आनंत्य न समझ लें इसलिये स्पष्ट किया कि ज्ञान से समाप्य है।

यदि कर्म से ही सारी व्यवस्था उपपन्न है तो आप माया क्यों मानते हैं? इसका उत्तर देते हैं– 'कर्म को कारण मानने पर भी माया की व्यर्थता नहीं हो जाती क्योंकि माया के बिना कर्म की व्यवस्था भी उपपन्न हो नहीं सकती॥३६९॥ अमुक कर्म इसी शरीर का है अन्य का नहीं, सुख का ही कारण है दुःख का नहीं ऐसा क्यों? इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं, माया ही उत्तर है, क्योंकि इसके जवाब में यही कहना पड़ेगा 'पता नहीं' और यह माया का ही नाम है। इसलिये दुर्घट को कर दिखाने वाली माया सार्थक है'॥३७०-३७१॥ पूर्वोक्त भाष्यप्रसंग में यही व्यक्त किया है कि आत्मा व क्रिया का सम्बंध मायारूप ही है। जिसे शरीरचेष्टा में स्वकीयत्वाध्यास है उसे ही उस चेष्टा से जन्य पुण्य-पाप लगते और फल देते हैं। अतः इस व्यवस्था को अध्यास या माया की निश्चित ज़रूरत है। पुण्य से सुख ही हो ऐसा नियम क्यों? इसका भी कोई जवाब नहीं। यथाकथंचित् एक-दो कोटि तक उत्तर सोचें तो भी अंत में यही कहना पड़ेगा कि पता नहीं। 'पता नहीं' यह भावरूप अज्ञान का बोधक है, 'नहीं' शब्द से यह भ्रम नहीं कर लेना चाहिये कि 'पता नहीं' केवल जानकारी

दुर्घटत्वमपि स्वस्य धर्मभूतं न लक्षयेत्। कुतो राक्षसराजस्य स्पर्धा नाऽस्यै हि विद्यते॥३७३॥

न जानामीति विजयहेतुरुत्तरम्

न जानामीति वचनं कुतः स्याद्धि निरर्थकम्। न ह्यज्ञेषु कुतः कश्चिद् ब्रूते मानं समाश्रितः॥३७४॥

परमतखण्डनकाले स्वरक्षणरूपं च दुर्घटं मायायाः कर्मेत्याह – दुर्घटत्वमिति। माया जननी स्वस्य आत्मनो धर्मभूतं दुर्घटत्वमपि न लक्षयेत् खण्डनतर्कराक्षसराजाद् गोपायेदिति यावत्। यदि तु लक्षयेत् तर्हि तदपि राक्षसराजो भक्षयेदेव, राक्षसानां स्वकुलभक्षकत्वप्रसिद्धेरित्याह – कुत इति। राक्षसराजस्य अस्यै जनन्यै जननीं प्रत्यपि स्पर्धा कुतो न जायते, किन्तु जायत एव, राक्षसत्वादेवेति। तथा च परमतपृष्ठभावेन प्रच्छन्नेव राक्षसराजमुपसर्पति प्रायो माया। यदा तद्दृष्टिगोचरीभवति तदा तामपि राक्षसराजो भक्षयत्येवेति भावः। तदुक्तं खण्डनकृद्भिः–

'अभीष्टसिद्धावपि खण्डनानामखण्डि राज्ञामिव नैवमाज्ञा।

तत्तानि कस्माद् न यथावदेव सैद्धान्तिकेप्यध्वनि योजयध्वम्'॥ (प्रयोजन०) इति। अस्यार्थः – अभीष्टस्य परमतनिरासस्य सिद्धावपि खण्डनतर्काणां राजनिभानामाज्ञा प्रभुशक्तिः न केनचिदखण्डि खण्डिता; तत् तस्मात् तानि खण्डनानि यदि सिद्धान्तस्वीकृतमायादिपदार्थं खण्डयितुमुद्यतानि स्युः तर्हि न वारणीयानीति॥३७३॥

का अभाव कहता है। बल्कि जानकारी का अभाव हो भी नहीं सकता क्योंकि जिसकी जानकारी नहीं ऐसा अभाव मानना ही क्यों? फलतः बाकी जानकारी न सही, अभाव की जानकारी तो रहेगी। अतः जानकारी का अभाव कैसे? यदि 'पता नहीं' से एक–आध जानकारी का अभाव कहें तब तो हमेशा कोई न कोई जानकारी नहीं ही होने से यही लगना चाहिये कि पता नहीं। 'घट पता है' ऐसा अनुभव ही नहीं होना चाहिये। किं च, 'थोड़ा अज्ञान है', 'अधिक अज्ञान है' आदि से भी अज्ञान भावरूप सिद्ध होता है। अभाव में कमो–बेश होता नहीं। भावरूप अज्ञान ही तो माया है।

'अपनी माता इस माया की सहायता के बिना यह खण्डनतर्क रूप राक्षसराज स्वभाव, काल आदि सभी पक्षों को हमेशा कैसे खा सकता है?'॥३७२॥ खण्डनीय मत माया के ज्येष्ठ पुत्र हैं जबकि खण्डनतर्क उसका कनिष्ठ पुत्र है क्योंकि सबसे अंत में श्रुति–युक्ति की कृपा से पैदा हुआ है। माँ का कनिष्ठ पुत्र पर प्रेम अधिक होता है यह सर्वानुभूत है। खण्डनतर्क है राक्षस अतः वह अपने भाइयों को खाना चाहता है। जैसे माता हाथ में लड्डू लेकर बालक को खिलाती है ऐसे माया मतान्तरों को राक्षसराज के लिये भोजनरूप देती है। जब खण्डनतर्क अन्य मत वालों से प्रश्न पूछता है तो उन्हे यह कहना पड़ता है 'पता नहीं'। उनके चित्तरूप से 'पता नहीं' आकार ग्रहण करने वाली माया ही तो है! 'पता नहीं' कहकर वे खण्डनतर्क का अभिमत ही तो सिद्ध कर देते हैं! रक्षा करने वाला राक्षस कहलाता है ऐसी राक्षसशब्द की मूल व्युत्पत्ति है। खण्डनतर्क संसार से, हेतुफलावेश से रक्षा करता है अतः राक्षसराज है। स्वभावादि पक्ष वेदबाह्य होने से तामस हैं, निरसनीय हैं। अज्ञानमूलक होते हुए भी वे तामस हैं और वैसा होते हुए भी खण्डनतर्क सात्त्विक है क्योंकि ज्ञान व सुख का हेतु है। खण्डन तर्क कहते हैं ऐसे विचार को जो परीक्षा करने में ही एकाग्र हो, स्थापना की जिसे कोई चिंता न हो।

मतान्तर–निरास काल में माया अपनी रक्षा कर पाती है यह भी उसकी अचिन्त्य सामर्थ्य ही है यह व्यक्त करते हैं – 'माया अपनी दुर्घटकारित्वरूप विशेषता राक्षसराज को दीखने नहीं देती, उससे छिपाये रखती है। यदि देख ले तो राक्षसराज उससे भी स्पर्धा क्यों न करे? वह उसका भी भक्षण कर जायेगा!'॥३७३॥ राक्षस अपने कुल का भक्षण करते ही हैं। खण्डनतर्क केवल वेदविरोधियों का निरास कर सकें ऐसा नहीं, वे वैदिकों का भी निरास कर सकते हैं। अन्य वैदिकों की तो बात ही क्या? जिस अद्वैत के बल पर ये तर्क प्रसृत होते हैं उसकी भी उपपादक प्रक्रियाओं को खण्डनतर्क निरस्त करने से चूकते नहीं। बल्कि ऐसा करने से ही अद्वैत का परिपोषण होता है यही रहस्य है। खण्डनतर्कों का प्रयोग अभावाद्वैती भी करते हैं पर उनका प्रयोग मोक्षहेतु बन नहीं पाता क्योंकि अखण्डसाक्षात्कार की सामग्री वे जुटा नहीं पाते।

जन्मादिविषये नृणामज्ञता नैव दूषणम्। अन्धस्य हि न दोषोऽस्ति रूपाज्ञाने कथंचन॥३७५॥

प्रपञ्चोत्पत्तेरतर्क्यता

आनन्दात्मा प्रकाशैकस्वभावो द्वयवर्जितः। असङ्गो निर्गुणोऽनन्तो विक्रियादेरनाश्रयः॥३७६॥

अवाङ्मनसगम्योऽपि विश्वमेतदजीजनत्। विचित्रं विविधाकारमचिन्त्यानन्तशक्तिकम्॥३७७॥

ननु 'न जानामी'ति वचनस्य चोद्यप्रतिक्रियात्वं यदुक्तं (२.३७१) तदनुपपन्नं, निरर्थकत्वेन अनुत्तरत्वाद् इति चेद्? न, सर्वत्रोत्तराणां दृष्टस्य फलस्य पूर्वपक्षिमूकतासम्पादनरूपस्य अत्रापि सद्भावादित्याह – न जानामीति। न जानामीति वचनं कुतो हेतोः निरर्थकं स्याद् – न कुतोऽपीत्यर्थः। तत्र हेतुतया वादिमूकतासंपादनरूपं फलं दर्शयति – न हीति। कुत इत्यग्र इतीति शेषः। मानं समाश्रित एव हि प्रायो वादोद्यतो भवति। स च अज्ञेषु 'वयमत्राऽज्ञा' इति वदत्सु कुत इति न ब्रूते – कुतस्तवाज्ञानमिति न पृच्छति, अज्ञानस्य पर्यनुयोगायोग्यत्वप्रसिद्धेः। किन्तु मौनमेव करोतीति भावः॥३७४॥

नन्वज्ञानरूपदोषालम्बनेन वादिविजयोऽपि पराजयनिभ इति चेत्? सत्यम्, आत्माज्ञानस्य दोषत्वमेव, 'न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' (केन. २.१३) इत्यादिश्रुतेः। प्रपंचस्य तु मुमुक्षोर्विस्मरणीयत्वात् तदज्ञानं गुण एव इत्याशयेनाह – जन्मादीति। नृणाम् आत्माज्ञानान्धानाम्। अयं भावः – आत्मज्ञाने सर्वस्य ज्ञातत्वात् प्रपंचस्योपेक्षणीयत्वाच्च विशेषाज्ञानमदोषः। आत्माज्ञाने तु कर्दमलिप्तस्य धूलिलेपवद् जन्माद्यज्ञानमदोष इति॥३७५॥

सदद्वैती श्रुति से आत्मनिश्चय कर उन्हीं तर्कों से द्वैताग्रह का समापन कर जीवन्मुक्ति का आनंद ले लेते हैं। खण्डनतर्क साक्षात्कार के प्रतिबंधनिवर्तक बन सकते हैं, साक्षात्कार के उत्पादक नहीं। उसके लिये प्रमाण चाहिये चाहे साक्षात्कार के बाद वह प्रमाण भी अप्रमाण ही रह जाये। परमार्थतः तो साक्षात्कार भी 'न हुआ' ही होना है। यही भगवान् गौडपाद का उपदेश है।

यह कहा था (श्लो. ३७१) कि सभी सवालों का एक जवाब है 'पता नहीं'। कोई कह सकता है कि यह जवाब कैसे? अतः समझना चाहिये कि जवाब कहते किसे हैं: जिसे सुनकर पूर्वपक्षी (या पूछने वाला) चुप हो जाये वही जवाब कहा जाता है। यही सब जवाबों का दृष्ट फल है और यह फल 'पता नहीं' कहने पर सिद्ध होता है क्योंकि जो 'पता नहीं' कह दे उसके संमुख पूर्वपक्षी चुप हो जाता है। यही स्पष्ट करते हैं– 'यह कैसे हो सकता है कि 'पता नहीं' कहना निरर्थक हो? प्रमाणों का आश्रयण करने वाला कोई भी वादी न जानने वालों से 'क्यों?' ऐसा नहीं पूछता। अतः 'पता नहीं' कहना सार्थक ही है'॥३७४॥ अज्ञान क्यों है? ऐसा प्रश्न गलत है क्योंकि भावरूप तथा प्रागभावरूप दोनों ही तरह वह अनादि है। अतः जब कोई कह दे 'मुझे मालूम नहीं', तो कोई वादी आगे 'क्यों' आदि न पूछकर चुप हो जायेगा। यही तो उत्तर की सार्थकता है कि वादी को चुप कर देना!

अज्ञानरूप दोष के सहारे वादी को चुपकर देना भी तो हार के समान ही है? ठीक बात है। आत्मा का अज्ञान तो दोष है ही। श्रुति ने कहा ही है कि यहाँ रहते आत्मा का ज्ञान न पाया तो महान् विनाश निश्चित है। लेकिन अनात्मा का अज्ञान दोष नहीं गुण ही है क्योंकि मुमुक्षु के लिये अनात्मा को भूल जाना ही अच्छा है। इस अभिप्राय से कहते हैं– 'जैसे अंधे को यदि सुन्दर रूप की जानकारी नहीं तो उसका कोई दोष नहीं, ऐसे आत्मा का अज्ञान रहते लोगों को यदि जन्मादि के विषय में जानकारी न हो तो कोई दोष नहीं'॥३७५॥ आत्मज्ञान होने पर तो सर्वज्ञता होनी ही है अतः तब जन्मादि की जानकारी न होने का प्रसंग नहीं क्योंकि तब बाधित होने से मायिकत्वोल्लेखपूर्वक प्रतिभास रहने के कारण जन्मादि का कारण अज्ञान है यह मालूम रहेगा। और आत्माज्ञान रहते जन्मादि कुछेक चीज़ों को न जानना वैसे ही दोष नहीं जैसे कीचड़ से सने हुए पर दो-चार धूलकण पड़ जायें! एवं च परमात्मा के अज्ञानी के लिये अज्ञान का सहारा

विलक्षणं प्रमाणादिभेदभिन्नमनेकधा। इति को नाम वै वक्तुं विज्ञातुं च प्रभुर्भवेत्॥३७८॥

यस्मिन्नेकैकमप्यत्र प्रमाणशतकोटिभिः। न ज्ञायते स्वरूपेण तथा धर्मादिनाऽपि च॥३७९॥

जानीमो वयमित्येवं बुद्धिर्येषां महात्मनाम्। ते पृष्टाः प्रवदन्त्वत्र घटमेकं महाधियः॥३८०॥

एतद्घटनिरूपणाऽसम्भवः

घटः कोऽयं कुतो वा स्याद् घटोऽयमघटो न हि। कस्मादस्य हि सम्बन्धो नेत्राद्यैरपरस्य न॥३८१॥

प्रपञ्चस्यानिर्वचनीयत्वेन विशेषतो ज्ञातुमशक्यत्वाच्च तदज्ञानमदोष इति सूचयितुं प्रपञ्चोत्पत्तेस्तर्कायोग्यत्वमाह – आनन्दात्मेति त्रिभिः। आनन्दात्मा एकरसोऽद्वितीय आत्मा विचित्रत्वादिविशेषणकं विश्वं कथम अनेकधाऽजनयद्? इति पृष्टे, वक्तुं समाधातुं, तदसंभवे विज्ञातुम् अपि वा कः प्रभुः समर्थो भवेद् इति त्रयाणां सम्बन्धः॥३७६-३७८॥

जगतोऽचिन्त्यशक्तितां स्फुटयति – यस्मिन्निति। यस्मिन् विश्वस्वरूप एकैकमपि वस्तु अनेकप्रमाणैरपि किमस्य स्वरूपम्? कियन्तोऽस्य धर्माः? कियन्तोऽवयवाः? इत्येवं न ज्ञायते, तद्विश्वं समग्रं वक्तुं कः शक्नुयादिति॥३७९॥ जानीम इति। वयं विश्वं जानीम इति येषाम् अभिमानः तेऽस्माकं पुरतः पृष्टाः सन्तः एकं पुरोवर्तिनं घटं निरूपयन्त्विति॥३८०॥

एतद्घटस्य निरूपणं नाम तत्स्वरूपस्य, तदितरव्यावृत्तेः, व्यावृत्तिप्रयोजकधर्मस्य च निरूपणम् – इति मत्वा स्वरूपादिकं पृच्छति – घट इति। घटः कोऽयम् इति पुरोवृत्तिघटस्य स्वरूपप्रश्नः। अयं घटोऽघटः घटभिन्न एव कुतो न भवति ? तथा च अस्य कथमितरव्यावृत्तिरिति व्यावृत्तिप्रश्नः। एतद्घटस्य इतरव्यावृत्तिप्रयोजकधर्मोऽपि चक्षुरादि-सम्बन्ध एव वक्तव्यः, जात्यादेस्तथात्वस्य निरसिष्यमाणत्वात्; स च नेत्रादिसम्बन्धोऽस्य एव घटस्यास्ति, परस्य एतद्भिन्नस्य न इत्यत्रैव किं नियामकम् ? इदंपदार्थपुरोवर्तित्वस्य घटत्वस्य च विवादारूढत्वे तन्नियम्येन्द्रियसम्बन्धस्य व्यावर्तकतयाऽऽश्रयितुमशक्यत्वाद् इत्याशयेन धर्मप्रश्नः – नेत्राद्यैरिति॥३८१॥

पराजयतुल्य परमात्मविषय में ही है, अनात्मविषय में नहीं तथा उसके ज्ञानी के लिये अज्ञान का सहारा पराजय नहीं ही है यह अभिप्राय है।

अनिर्वचनीय अर्थात् 'है', 'नहीं है' आदि प्रकारों से निश्चित किया जाने के अयोग्य होने से प्रपंच का विशेष ज्ञान होता नहीं अतः उसका अज्ञान दोष नहीं बल्कि समुचित है। जैसे वायु को लाल या पीला न समझना ही उचित है ऐसे प्रपंच को सत् या असत् न समझना ही उचित है। इसे स्पष्ट करने के लिये बताते हैं कि प्रपंच की उत्पत्ति तर्क के अयोग्य है– 'आत्मा आनन्दघन है, चिन्मात्रस्वरूप है, अद्वितीय है, सम्बन्ध-रहित है, न उसमें कोई गुण है, न उसकी कोई सीमा है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता, वाणी उसे विषय नहीं कर सकती और मन की पहुँच से वह परे है; ऐसे आत्मा ने इस विश्व को पैदा किया! यह विश्व विचित्र है, अलग-अलग आकारों वाला है, इसके छोटे-छोटे कणों की ऐसी असीम सामर्थ्य है जिसे पूरी तरह समझना किसी के बूते का नहीं, विश्वके सभी पदार्थ एक-दूसरे से विलक्षण हैं तथा संपूर्ण विश्व अपने कारण आत्मा से सर्वथा विलक्षण है, प्रमाता प्रमाण प्रमेय, कर्ता कर्म करण आदि भेदों से यह विश्व अनेक तरह से बँटा हुआ है। एकरस आत्मा ने ऐसा विविध विश्व कैसे पैदा किया यह कौन जान सकता है, कौन बता सकता है?॥३७६-३७८॥ जगत् का कारण परमात्मा है यह पहले अध्याय में अर्थात् ऐतरेयार्थप्रकाश में विस्तार से कह आये हैं अतः इसे सिद्धवत् कह दिया।

जगत् की अचिंत्य सामर्थ्य स्पष्ट करते हैं– 'सैकड़ों प्रमाणों से भी जिस विश्व की एक भी चीज़, उसका क्या स्वरूप है, उसके कितने धर्म हैं, कितने अवयव हैं, इस प्रकार पूरी तरह नहीं जानी जाती उस समग्र विश्व को कौन जान सकता है?॥३७९॥ जिन महात्माओं को 'हम जानते हैं' ऐसा लगता हो उन महापंडितों से हम एक घड़े के बारे में पूछते हैं, उसी का वे निरूपण करें!'॥३८०॥ महात्मा व महापंडित उपहास के लिये कहा है। द्वैतवादी भेदबुद्धि की अधिकता को ही

अयमित्येष निर्देशः सर्वस्यास्ति हि वस्तुनः। घट इत्यपि निर्देशो विद्यते हि घटान्तरे॥३८२॥
यथा घटे घटाभावः पटेऽप्येवं स विद्यते। कुतो घटः पटो न स्यात् पटो वापि घटो न किम्॥३८३॥

अथ घटस्वरूपसाधनाय वादिना वक्तव्यत्वेन संभावितानि लक्षणानि व्यभिचारेण दूषयति - अयमित्यादिना। अयमिति निर्देशयोग्यत्वं लक्षणं चेत् तद् दृश्यमात्रेऽतिप्रसङ्गि, इदंपदस्य पराग्भाववाचकत्वात्। घटपदप्रयोगयोग्यत्वं लक्षणम्? तर्हि घटान्तरेऽतिप्रसङ्गः॥३८२॥

अघटव्यावृत्तिरूपघटत्वशाली घट इति नास्तिकमतेन लक्षणमाशंक्य तदसंभवमाह- यथेति। तादृशलक्षणार्थ-मघटस्तावद् निरूपणीयः, घटभेद एव च तल्लक्षणं वाच्यम्; घटभेदनिर्णयश्च घटस्वरूपनिर्णयाधीनः, तदनिर्णये च घटाभावो घटभेदरूपो यथा भवदभिमते घटे संदिग्धरूपेण वर्तत एवम् एव पटेऽपि विद्यते, पट एव घटः किं न स्याद् - इति शंकाया अनिवर्तितत्वात्। एतादृशाघटव्यावृत्तस्य घटत्वे तु घटः पटः कुतो न स्यात् पटो वा घटः कुतो न स्याद् इति घटनिरूपणाधीनाऽघटव्यावृत्तिरूपं घटलक्षणमात्माश्रयग्रस्तमिति भावः॥३८३॥

पाण्डित्य मानते हैं, आत्मा को अतिपरिच्छिन्न समझ लेना ही महात्मा की श्रेष्ठ उपलब्धि मानते हैं। ऐसी उनकी मूर्खता व्यक्त करने के लिये ही इन शब्दों से उपहास किया है।

अनिरूपणीयता समझाने के लिये अब विचार प्रारंभ करते हैं। यहाँ किसी एक घट का विचार किया जायेगा। घटशब्द से यहाँ एक घटविशेष को जानना चाहिये। उसके निरूपण का मतलब है यह बताना कि उसका स्वरूप क्या है, वह अन्यों से अलग कैसे है और क्यों अलग है इत्यादि को तर्कसंगत ढंग से शब्दबद्ध करना। अतः प्रश्न करते हैं- 'यह घट कौन है? यह घट घटभिन्न ही क्यों नहीं है? नेत्रादि से इसी का संबंध क्यों है, अन्य का क्यों नहीं?'॥३८१॥ 'यह' से पुरोवर्ती ही विचारणीय है यह स्पष्ट किया। घट कौन है?-यह घटस्वरूप को पूछा है। दूसरे प्रश्न से यह पूछा कि यह घट अन्यों से अर्थात् घटान्तरों से व पटादि से भिन्न क्यों है। कोई कहता कि इस घट का चक्षु से संबंध है, अन्यों का नहीं, अतः यह अन्यों से भिन्न है; अर्थात् चक्षुसम्बंध ही वह कारण है जिससे यह घट अन्यों से भिन्न है। इस समाधान का खोखलापन प्रकाशित करने के लिये यह भी पूछ लिया कि इसी घट का चक्षुसम्बंध क्यों है। पुरोवर्तित्वविशिष्ट घटत्व जहाँ हो वहाँ सामग्र्यन्तर समवधान रहते चक्षुसंबंध होता है इत्यादि कुछ कहने से पूर्व तो पुरोवर्तित्व, घटत्व ये सब क्या हैं यही निरूपण करना पड़ेगा। अतः वैसे उत्तर दिये नहीं जा सकते।

वे महापण्डित महात्मा घटस्वरूप की सिद्धि के लियें जो लक्षण कह सकते हैं उन्हें स्वयं उपस्थित कर उनमें दोष देते हैं- 'यदि कहो 'यह' इस प्रकार जिसका निर्देश हो सकता है वह यह घट है तो अतिव्याप्ति है क्योंकि सभी वस्तुओं को 'यह' ऐसा कहा जा सकता है। यदि 'घट' ऐसा जिसका निर्देश हो सकते वह यह घट है, इस तरह लक्षण करो तब भी अति-व्याप्ति है क्योंकि अन्य घट का भी 'घट' ऐसा निर्देश होता ही है॥३८२॥

बौद्ध अपोहवाद मानते हैं। अपोह अर्थात् अतद्व्यावृत्ति। प्रमाणवार्तिक में (३.१३९-१४०) कहा है कि चितकबरी और सफेद गायों का रूप तो एक है नहीं पर दोनों में यह समानता है कि ये अगायों से अर्थात् भैंस, गधे आदि से भिन्न हैं। अतः गायशब्द का 'अगाय से भिन्न' यही अर्थ मानना चाहिये क्योंकि यही सब गायों में समान है। इस मत का विस्तृत खण्डन श्लोकवार्तिक एवं तन्त्रवार्तिक में है। यहाँ संक्षेप में इसका निरास करते हैं- 'जैसे घट में घटाभाव (= घटभेद) है वैसे पट में भी है। तो घट पट क्यों न हो जाये या पट घट क्यों न हो जाये?'॥३८३॥

अभिप्राय है कि घट का लक्षण अपोहवादी करेगा अघटभिन्न अतः पहले अघट का निरूपण करना पड़ेगा। अघट का लक्षण होगा घटभेद और इसके निर्णय के लिये घट का निर्णय चाहिये। जब तक घट का निर्णय नहीं तब तक यह संदेह रह ही जायेगा कि घट में भी घटभेद होगा। पट में तो घटभेद है ही। अतः एकत्र संदिग्ध, अपरत्र निश्चित, किंतु

नेत्राद्यैर्विद्यते यावत् सम्बन्धोऽत्र घटस्य हि। यादृगेव हि सम्बन्धः परस्यापि स तैः समः॥३८४॥

उदकाहरणे शक्तो घटोऽयमिति चेन्मतम्। घटान्तरादेरेतत् स्यात् कुतः सोऽयं घटो न हि॥३८५॥

उदकाहरणं चाऽयं कुरुते न पटः कुतः। पार्थिवत्वं हि सामान्यं विद्यते तूभयोर्यतः॥३८६॥

घटस्य न पटत्वं चेद् घटत्वं च पटस्य न। द्वयोरन्यतराऽसत्त्वे पक्षपातः कुतो घटे॥३८७॥

एवमिन्द्रियभिन्नत्वे सति एतद्घटेन्द्रियसम्बन्धनिरूपकत्वमप्यलक्षणमित्याह – नेत्राद्यैरिति। अत्र देशे वर्तमानस्य घटस्य नेत्राद्यैः सह सम्बन्धो यावद् यत्क्षणावच्छिन्नः यादृगेव च संयोगादिरूपो विद्यते, परस्यापि एतद्घटभिन्नस्य अपि तत्समीपस्थस्य स समः। तत्र सम्बन्धे एतत्स्वरूपस्य निवेशस्तु स्वरूपनिर्णयाधीन इत्युक्तमिति भावः॥३८४॥

उदकेति। उदकानयने शक्तत्वं घटत्वं त्वयाऽभिमतं चेत् तर्हि घटान्तरस्य एतद्घटभिन्नस्य पटस्य पात्रान्तरस्य वा जलानयनसमर्थस्य एतद् लक्षणं विद्यते। तथा च अयं घटः स घटान्तरादिरूपः कुतो न स्याद् इति; उद्देश्यापेक्षया पुंस्त्वम्॥३८५॥

उदकाहरणं चायमिति। उदकाहरणमपि क्रियात्वेन कारकमात्रं पूर्वकारणसजातीयमपेक्षते, यथा पचिक्रिया अग्नित्वेन पूर्वाग्निसजातीयमग्निम्। एवं च पार्थिवत्वेन पृथिवीविकारत्वेन पूर्वघटसजातीयोऽयं पुरोवर्ती उदकाहरणकरः पट एव कुतो न भवतीत्यर्थः॥३८६॥

नन्वस्य पटत्वे घटत्वाभावापत्तिः स्याद्? इत्याशंक्य; किं घटत्वभावे पटत्वाभावो नास्ति, तथा चैकस्या-भावेऽवश्यमंगीकर्तव्ये विना प्रमाणं घटत्वमभ्युपगम्य पटत्वाभावांगीकरणमयुक्तमित्याह – घटस्येति। घटस्य पटत्वं न स्यादिति चेद् ब्रूषे, तर्हि पटस्य घटत्वम् अपि न स्यादेव। एवं घटत्वपटत्वयोरन्यतराङ्गीकारेऽन्यतरस्याऽभावे स्वीकार्यत्वेन समाने, अयं घट एवेत्यभिमाने कस्ते पक्षपातः दुराग्रह इत्यर्थः॥३८७॥

घटभेद तो घट व पट दोनों में रह गया। इस समानता से घट को पट तथा पट को घट कहना उचित होना चाहिये। ऐसा कोई मानेगा नहीं। एवं च घटनिरूपण के लिये स्वयं घट के निरूपण की अपेक्षा होने से इस नास्तिक मत में आत्माश्रय दोष है। अथवा पुराणश्लोक का अर्थ है कि एतद्घट में घटभेद तो रहता ही है क्योंकि घटांतर से यह भिन्न है ही, तब एतद्घट पट क्यों नहीं तथा पट भी एतद्घट क्यों नहीं? ऐसा अर्थ करने से घट में घटभेद संदिग्ध नहीं निश्चित ही रहता है अतः दृष्टान्त भी उचित बैठ जाता है। तात्पर्य तो वही है कि एतद्घट का स्वरूप अघटभिन्न नहीं कह सकते।

कोई तार्किकंमन्य कह सकता है कि जो इन्द्रियभिन्न होते हुए एतद्घट से होने वाले इन्द्रियसम्बन्ध का निरूपक होता है वह एतद्घट होता है। किंतु इसमें 'एतद्घट' स्वयं बैठा है अतः यह लक्षण पूर्ववत् आत्माश्रयग्रस्त है। उसे निकाल कर 'इन्द्रियभिन्नत्वे सतीन्द्रियसम्बन्धनिरूपकत्वम्' लक्षण अतिव्याप्तिग्रस्त है यह बताते हैं– 'इस देश में वर्तमान घट का नेत्रादि इंद्रियों से जब व जैसा सम्बंध है, तभी वैसा ही सम्बंध उस घट के समीपस्थ अन्य पदार्थों का भी उन्हीं इंद्रियों से है'॥३८४॥ अतः वह एतद्घट का लक्षण नहीं बनता।

'यदि एतद्घट का लक्षण करो 'पानी लाने में समर्थ होना', तो वह लक्षण इससे अतिरिक्त अन्य घटों में व अन्य भाँडों में है ही, तब वे घटान्तरादि ही यह घट क्यों न होंगे। अर्थात् लक्षण में अतिव्याप्ति है॥३८५॥ किं च, यह कपड़ा ही पानी क्यों नहीं ले आता? पार्थिवतारूप समानता तो एतद्घट व पट दोनों में है'॥३८६॥ तात्पर्य है कि पानी लाना एक क्रिया है। वह क्रिया पहले जिस कारण से हुई थी उस कारण की जाति वाले कारण से पुनः होगी। जैसे आग से पाक होता है अतः आग जाति वाली कोई भी व्यक्ति पाक कर देती है। जलाहरण पहले किसी घट से हुआ था। घट पार्थिव है, पट भी पार्थिव है। अतः जलाहरण का पहला कारण जो घट उसका सजातीय हुआ यह पट, तो इससे भी जलाहरण होना चाहिये। होता नहीं। क्यों? अतः पानी लाने में समर्थ होना भी इस घट का लक्षण नहीं।

उदकाहरणे शक्तो घटश्चेद्धि घटो भवेत्। सच्छिद्रादौ घटे न स्याद् घटोऽयमिति धीः क्वचित्॥३८८॥

उदकाहरणाभावे तच्छक्तिर्नैव गम्यते। आपाकादिस्थिते कुम्भे घटधीस्ते कथं भवेत्॥३८९॥

उदकाहरणे शक्तमपि भाण्डादिकं बहु। विद्यते तत् कुतो न स्याद् घटधीशब्दभाक् तदा॥३९०॥

उदकाहरणे शक्त इति। उदकाहरणे **शक्तिमान् यो घटः स एव घटः घटते शक्तो भवतीति योगस्यैव लक्षणत्वाद् इति चेद् ब्रवीषि, तर्हि सच्छिद्रघटादौ घटधीर्न स्यात्, सा तु भवतीत्यव्याप्तिः॥३८८॥**

किं च शक्तेः कार्यानुमेयत्वात् कार्यारम्भात्पूर्वमसिद्धया तया लक्षणभूतया घटधीर्न स्यात्, साऽपि दृश्यत इत्यलक्षणमेतदित्याह – उदकाहरणाभाव इति। आपाको **घटपाकस्थानम्॥३८९॥ अत्र लक्षणे पात्रान्तरेष्वतिव्याप्तिश्चेत्याह** – उदकाहरणे शक्तमपीति। तद् **भाण्डादिकम्।** तदा **एतादृशलक्षणकरणे॥३९०॥**

पहले (श्लो. ३८३) पूछा था कि घट क्यों पट नहीं है। उसका उत्तर कोई दे सकता है कि एतद्घट में यदि पटत्व होता तो इसमें घटत्व न होता, अतः घटत्व के रहने की अन्यथानुपपत्ति से इसमें पटत्व नहीं, यह पट नहीं। इस पर राक्षसराज पूछता है जैसे इसमें पटत्व रहने पर घटत्व नहीं रहेगा वैसे ही घटत्व रहने पर पटत्व भी तो नहीं रहेगा, और जब एक का नहीं रहना मानना ही है तो बिना किसी प्रमाण के घटत्व ही मानो, पटत्व नहीं यह कहाँ तक उचित है? यही कहते हैं– 'यदि घट में पटत्व नहीं होता तो पट में घटत्व भी तो नहीं होता। घटत्व व पटत्व में से एक का न होना स्वीकार करना ही है तो घट के प्रति ही क्यों दुराग्रह करना?'॥३८७॥ आशय है कि एतद्घट यदि घट है तो इसमें पटत्व नहीं रह सकता और यदि इसमें पटत्व रह जाता है तो यह पट बन जायेगा और इसमें घटत्व नहीं रहेगा। ऐसे में एतद्घट में घटत्व ही रहना चाहिये इसका निर्णय कैसे किया जाये। एतद्घट में घटत्व है इसमें प्रमाण तो कोई है नहीं। जाति प्रत्यक्षसिद्ध तो हो नहीं सकती। नित्यत्वादि क्योंकि प्रत्यक्षयोग्य नहीं इसलिये जाति का प्रत्यक्ष नहीं। कभी प्रत्यक्ष न होने वाली वस्तु का अनुमान भी संभव नहीं। शास्त्र भी जाति का प्रतिपादक नहीं। अतः एतद्घट में घटत्व मानना केवल दुराग्र है।

घटशब्द के अवयवार्थ का विचार करने पर जो शक्त होता है उसे घट कह सकते हैं। इसके आधार पर यदि कहें– 'जो घट उदकाहरण में शक्त है (पानी ला सकता है) वही घट है; तो छेदों वाले घड़े के विषय में 'यह घड़ा है' ऐसा ज्ञान नहीं होना चाहिये क्योंकि वह अशक्त है। जब कि उसे भी घड़ा तो समझते ही हैं'॥३८८॥

एवं च अव्याप्ति दोष है क्योंकि घटबुद्धि के विषय तथा घटशब्द के वाच्य में उक्त लक्षण जा नहीं रहा।

किं च शक्ति तो कार्य जानने पर ही मालूम पड़ती है, कार्य से अनुमेय है। जब तक कार्य न देख लें तब तक यह कैसे मालूम हो कि अमुक वस्तु शक्त है? और शक्त है न पता चलने पर वह घट है यही नहीं पता चलेगा। तो बाजार से घट कैसे लाया जाये? यही कहते हैं– 'उदकाहरण न होने पर उदकाहरण की शक्ति का पता नहीं चलता। आप यदि उदकाहरण में शक्त होना घट का लक्षण मानते हैं तो आवे में तैयार कुम्भ को आप घट कैसे समझते हैं?'॥३८९॥ वहाँ पड़ा घड़ा पानी तो ला नहीं रहा अतः शक्ति का पता चल नहीं रहा। तो उसे घड़ा नहीं समझना चाहिये! इसलिये यह लक्षण सर्वथा हेय है।

अन्य बर्तन भी पानी लाने में समर्थ हैं अतः उक्त लक्षण में अतिव्याप्ति भी दोष है–'पानी लाने में तो बहुतेरे भांडे समर्थ हैं, वे क्यों नहीं घट समझे व कहे जाते?'॥३९०॥ इस प्रकार इस लक्षण का निरास हुआ।

गौतम के अनुयायी कहेंगे कि घट का लक्षण है घटत्व जाति वाला होना। इसकी परीक्षा करें: घटत्व जाति सर्वगत है, कि परिच्छिन्न? सर्वगत हो तो यह दोष है– 'यदि जाति सर्वगत है तो घटत्वजाति का सम्बंध अमुक व्यक्तियों से ही होगा, अन्य व्यक्तियों से नहीं, ऐसा नियम बनाना दुष्कर है अतः विभु होने से घटत्व का पट से भी सम्बन्ध हो ही जायेगा। आकाश सर्वगत है अतः ऐसा कभी नहीं होता कि वह घट से सम्बद्ध हो, पट से नहीं। फलतः जाति को एकदेश में रहने

घटत्वजातौ विचारः

घटत्वंजातियोगोऽपि नियन्तुं नैव शक्यते। जातेः सर्वगतत्वे स्यात् पटेनाऽपि बलाद्धि सः॥३९१॥

आकाशो घटसम्बद्धः पटेनाऽसौ न योगभाक्। न कदाचिदतस्तस्या एकदेशा स्थितिर्भवेत्॥३९२॥

असर्वगा जडा केन घटमेव व्रजेद्धि सा। अपि मूर्तं तथा द्रव्यं वादिनां गतिमद् भवेद्॥
अमूर्ताऽद्रव्यरूपेयं कुतो यात्याश्रयं विना॥३९३॥

घटादन्यो न तस्याः स्यादाश्रयोऽतोऽघटागमे। कथमेषा समागच्छेदहो व्यसनमागतम्॥३९४॥

घटत्वजातिमान् घट इति लक्षणमाशंक्य; तत्र घटत्वजातिः सर्वगता, परिच्छिन्ना वा? – इति विकल्प्य, आद्येऽतिप्रसंगं दर्शयति – घटत्वेति। जातेः सर्वगतत्वे सति घटत्वजातेर्योग एतादृशव्यक्तिष्वेव नान्यास्विति नियमो वक्तुमशक्यः; तथा सति घटत्वजातियोगः पटेनाऽपि स्याद् बलाद् विभुत्वसामर्थ्याद्, अन्यथा विभुत्वं व्याहतं स्यादित्यर्थः[१]॥३९१॥

विभोः सर्वगतत्वे दृष्टान्तमाह – आकाश इति। आकाशो घटसम्बद्धः सन् कदाचिद् अपि पटेन सह न योगभाग असम्बद्धो न भवतीति, किन्तु सम्बद्ध एव। अतः विभुत्वपक्षे कुत्रचित् सम्बन्धः कुत्रचिद् नेति व्यवस्थाऽनुपपत्तेः तस्याः जातेः स्थितिः एकदेशा एको देशो यस्यास्तादृश्येव त्वया वाच्या भवेत्। तथा च परिच्छिन्नत्वकल्पः समागत इत्यर्थः॥३९२॥

अपरिच्छिन्नपक्षं दूषयति – असर्वगेति चतुर्भिः। सा जातिः असर्वगा सती घटमेव व्रजेद् इति कुतो नियमः? न च सा स्वकीया व्यक्तीरालोच्य तत्रैव गच्छेदिति वक्तुं शक्यम्; आलोचनस्य जडे बाधात्। किं च परिच्छिन्न-परिमाणरूपमूर्तत्वशालिद्रव्यत्वस्य क्रियाव्यापकस्य अभावाद् जातौ गमनं दुर्वचमित्याह –अपि मूर्तमिति। वादिनां वैशेषिकादीनां मते यद् मूर्तं द्रव्यं तदेव गतिमद् भवेद्, इयं तु अमूर्तभावरूपा आश्रयं विना कथं घटं याति? अमूर्तगुणादीनां गमनव्यवहारस्य आश्रयगमनोपाधिकत्वप्रसिद्धेः। तदाश्रयस्य व्यक्त्यन्तरस्य व्यक्त्यन्तरगमनं तु बाधितमिति भावः॥३९३॥

वाला अर्थात् परिच्छिन्न ही मानना होगा'॥३९१-३९२॥

जाति को परिच्छिन्न मानने में जो दोष होंगे उन्हें व्यक्त करते हैं–'सर्वगत न होने वाली जड जाति नियमतः घट से ही क्यों सम्बद्ध होगी? जड होने से वह सोच-समझकर तो सम्बन्ध स्थापित करेगी नहीं। किं च वैशेषिकादि पदार्थवेत्ता मानते हैं कि मूर्त (= परिच्छिन्न परिमाण वाला) द्रव्य ही क्रियावान् होता है। जाति न मूर्त है न द्रव्य। तब वह निराश्रित रहती हुई कैसे किसी व्यक्ति तक पहुँचेगी?॥३९३॥ घट से भिन्न तो कोई आश्रय घटत्वजाति का हो नहीं सकता। घट में घट का आगमन तो होता नहीं, तब घटत्व कैसे आवे? यह प्रश्न जाति मानने वालों के लिये एक विपत्ति ही है॥३९४॥ घट उत्पन्न होते समय उसमें प्रकट होने के लिये जाति वहाँ स्थित थी यह कह नहीं सकते क्योंकि जाति वहाँ पहुँचे, इसका कोई कारण नहीं। घट उत्पन्न भले ही हो जाये, वहाँ घटत्व को कौन लायेगा?'॥३९५॥ धर्मकीर्ति ने भी जाति की विडम्बना दिखायी है: जाति न कहीं से आती है, न वहाँ पहले से रहती है, न बाद में (व्यक्तिध्वंस के बाद) रहती है, न अवयवों वाली है और न अपने पुराने आश्रय का परित्याग करती है; अहो! आश्चर्य है! ऐसे बहुतेरे दुराग्रह जाति मानने

---

१. न च जातेः स्वसमवायिभिरेव समवायः स्वीक्रियतेऽतो नान्यैस्सह तस्या स सम्बन्धो येनान्येषामपि तज्जातिमत्त्वम्, अपरश्च न सम्बन्धोऽदर्शनात्, सत्त्वेऽपि नासौ 'जातिमान्' इति प्रतीतिनियामक इति शंक्यम्; समवायस्यैव तव कल्पनामात्रत्वादप्रामाणिकत्वात्। किं च जातिरहितव्यक्त्यैव जातिसम्बन्धस्त्वयापि वाच्यस्तथा च पटस्यापि घटत्वजातिराहितत्याद्घटत्वजातिमत्त्वं केन वार्येत? अतएव स्वसमवायिभिरित्यपि प्रत्युक्तमित्यन्यत्र विस्तरः।

घट उत्पद्यमानेऽपि नैषा तत्रैव संभवेत्। कारणाभावतः कस्मात् तत्र जाते घटेऽपि न॥३९५॥
घटेन सह नैषाऽपि जायते श्यामतादिवत्। तथात्वे सा न जातिः स्याच्छ्यामतादिर्यथा गुणः॥३९६॥

जातेर्नाऽभावरूपता

अपि साऽभावरूपा स्यादथवा भावरूपिणी। अभावत्वे च कोऽभावस्तद्रूपमिति कथ्यताम्॥३९७॥

ननु घटादन्यस्तस्या आश्रयो भविष्यति तेन च सहागमिष्यति? इत्याशंक्य; अनुपलब्धिविरोधान्नैवमित्याह – घटादितिं। तस्या जातेः घटादन्य आश्रयः तु न स्याद् एव, अनुपलब्धेः। अतो हेतोः अघटागमे आश्रयस्य घटाभिन्नस्य जायमानव्यक्तावागमस्य आगमनस्य अभावेपि एषा जातिः कथम् आगच्छेद् इत्याकारचिंतारूपं व्यसनम् विपदपरपर्यायम् आगतम्। तस्या निरंशत्वाद् अवयवद्वाराप्यागमनं न संभवति। पूर्वाश्रयपरित्यागानुपलब्धेश्चागमनानुपपत्तिरिति भावः। तदुक्तम्–'नायाति न च तत्रासीद् नास्ति पश्चाद् न चांशवत्। जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः'॥ (प्रमाणवा. ३.१५१-५२) इति॥३९४॥

उदाहृतश्लोके 'न च तत्रासीद्' इत्यंशं स्फुटयति – घट इति। घट उत्पद्यमानेऽपि सति एषा जातिः प्रादुर्भावाय तत्रैव स्थिताऽऽसीदिति न संभवेद् नोपपद्येत। कुतः? कारणस्य आश्रयस्थितिरूपस्य प्रयोजकस्य घटोत्पत्तेः पूर्वमभावादित्यर्थः। स च कारणाभावो जातेऽपि घटे कस्माद् न, किन्त्वस्त्येव[1]। अन्यत्र स्थिताया जायमानव्यक्तावागमनप्रयोजकाश्रयागमनाभावस्योक्तत्वादिति भावः॥३९५॥

ननु घटेन सहोत्पद्यतां जातिः? इत्याशंक्य; तथा सति जातित्वाभावापत्तिः; यत्र यत्रोत्पद्यमानत्वं तत्र तत्र जातित्वाभावो यथा श्यामरूपादाविति नियमदृष्टेः – इत्याह –घटेन सहेति॥३९६॥

वालों को कैसे सहन होते हैं। परिच्छिन्नत्वपक्ष यद्यपि तार्किकों का नहीं तथापि अपरिच्छिन्नता का पूर्व में निषेध हो चुकने से परिशेषसिद्ध यही विकल्प संभव होने से खंडनीय है। कुछ विचारकों ने जाति को सर्वसर्वगत माना है तथा कुछ ने व्यक्तिसर्वगत अर्थात् घट में तो सर्वत्र घटत्व है पर पटादि में नहीं। भासर्वज्ञादि ने इस विभाजन को व्यक्त किया है। सर्वसर्वगत मानने पर तो पूर्वोक्त दोष हैं ही। व्यक्तिसर्वगत मानने पर परिच्छिन्नपक्ष ही हुआ अतः अभी बताये दोष प्राप्त हो जाते हैं। यद्यपि समवायादि कुछ पारिभाषिक पदार्थों के सहारे तथा मनगढन्त मान्यताओं की अन्यथानुपपत्ति के सहारे नैयायिक जाति पर आयी इस आपत्परंपरा के निवारण की कोशिश करते हैं तथापि राक्षसराज के आगे वे हथकण्डे विफल ही हो जाते हैं यह श्रीहर्षादि के प्रबन्धों में स्पष्ट है।

कोई कहे कि घट के साथ जाति भी पैदा होवे तो क्या हानि है? इसका उत्तर देते हैं– 'जैसे घट के साथ श्यामरूप आदि पैदा होते हैं वैसे जाति नहीं। यदि जाति पैदा होती तो वह जाति ही न होती जैसे श्यामरूप आदि पैदा होते हैं तो जाति नहीं गुण हैं'॥३९६॥

पहले समझाया था कि जाति भेदरूप धर्म नहीं। अब बताते हैं कि अन्य अभाव भी उसका रूप संभव नहीं– 'और भी वे महापंडित लोग बतावें कि जाति अभावरूप है या भावरूप? यदि वह अभावरूप है तो यह भी कहें कि कौन सा अभाव उसका रूप है?॥३९७॥ अभाव दो तरह का बताया गया है: अनित्य और नित्य। प्रागभाव और ध्वंस अनित्य अभाव होते हैं। भेद तथा अत्यन्ताभाव नित्य अभाव माने जाते हैं। इनमें जाति का रूप यदि प्रागभाव कहो तो संगत नहीं क्योंकि प्रागभाव किससे सम्बद्ध होता है यह निश्चय नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं, प्रागभाव के प्रतियोगी के उत्पन्न होने पर प्रागभाव नष्ट हो जाता है अतः व्यक्ति उत्पन्न होने पर जाति भी नष्ट होने लगेगी जो किसी को इष्ट नहीं। जाति को

---

१. घटे जातेऽपि घटत्वस्य यः कोप्याश्रयो भवदिष्टः तस्याभावे घटत्वाभावादित्यर्थः। न च घटएवाश्रयस्तथात्वे घटाभावे घटत्वाभावप्रसंगाद्। नाप्यनाश्रितैव जातिः, तथात्वे, जातेऽपि घटे तथाऽस्तु, एवं च तवानिष्टं तस्या व्यक्त्याश्रितत्वस्वीकारात्।

अभावो द्विविधः प्रोक्तोऽनित्यो नित्यश्च वादिभिः। अनित्यः प्रागभावः स्यात् स कस्येति न निश्चयः॥३९८॥
अर्थस्येति तदुत्पत्तौ जातेर्नाशः सुनिश्चितः। नित्योऽपि जायमानश्चेद् नित्योऽसौ घटवद् न हि॥३९९॥
अपरस्याऽपि नित्यस्य कुतो योगो घटेन किम्। कस्माच्च न पटेनेह वैषम्ये नास्ति कारणम्॥४००॥

नापि सा भावरूपा

भावेप्यभाववद् न स्यादनित्यत्वं कथंचन। नित्यतायां च सा नित्या कस्मादिति हि कथ्यताम्॥४०१॥

जातिं दूषयितुं प्रकारान्तरेण[1] विकल्पयति – अपि सेति। सा जातिः अभावरूपा, **भावरूपा वा? अभावरूपत्वपक्षेऽपि कोऽभावस्तद्रूपं तस्या जातेः स्वरूपमिति वक्तव्यम्॥३९७॥**

'कोऽभावः' इति सूचितमभावभेदं दर्शयति – अभाव इति। वादिभिरभावो द्विविधः प्रोक्तः अनित्यो नित्यश्च। **प्रागभावध्वंसान्यतररूपः अनित्यः। भेदात्यन्ताभावान्यतररूपश्च नित्यः। तत्र प्रागभावस्य जातिस्वरूपत्वे व्यक्ति-विशेषसम्बन्धनियमो न स्याद् यतः प्रागभाव 'इति' न निश्चयः। 'इति' किम्? स प्रागभावः कस्य अर्थस्य पदार्थस्य सम्बन्धीति। न हि प्रागभावस्य प्रतियोगिविशेषेण सम्बन्धे किंचिद् नियामकं वक्तुं शक्यम्। तथा प्रतियोग्युत्पत्तिनाश्यस्य प्रागभावस्य जातिस्वरूपत्वे सति जातेर्नाशः सुनिश्चितो भवेदिति। एतौ दोषौ ध्वंसरूपत्वपक्षेऽपि समानाविति सूचयन् नित्याभावरूपा जातिरिति पक्षे नित्यपदेन ध्वंसव्यावृत्तिं शंकापूर्वकमाह** – नित्योपीति। नित्योऽपि **अभावः जातिस्वरूपत्वेन विवक्षितो जायमानोऽजायमानो वा? आद्ये, तस्य नित्यत्वं घटवद् न हि संभवति; इति अजायमानोऽत्यन्ताभावादिरेव जातिस्वरूपतया वाच्यः। तत्र दोषमाह** – अपरस्येति। अपरस्य **अजायमानस्य अपि नित्यस्य अत्यन्ताभावादेः घटेन एव जातिरूपतया किं योगः, पटेन अपि योगः कस्माद् न भवतीति पर्यनुयोगे सति समाधातुमशक्ये वैषम्ये कुत्रचिदवस्थितिरूपे कारणं निमित्तं नास्ति**[2] **इति न नित्याभावस्यापि जातिस्वरूपत्वमिति त्रयाणामर्थः॥३९८-४००॥**

एवमभावरूपा जातिरिति पक्षं निरस्य, भावरूपेति पक्षं प्रत्याह – भाव इति। **भावत्वपक्षेऽपि सा जातिः नित्या, अनित्या वा? तत्र** अनित्यत्वं कथंचन न स्याद् नोपपद्येत, **यतः** अभाववद् **अभावव्याप्तम्; अनित्यत्वे स्वीकृत एकघटाभावे**[3] **तस्या अभावोऽपि स्वीकार्यः स्यात्, तथा च सर्वदेशेषु घटाभावबुद्धिप्रसङ्ग इति भावः। नित्यत्वं चेद् जातेर्ब्रूषे, तर्हि 'तस्याः कस्माद् हेतोः नित्यता' इति पृष्टे सति नित्यताप्रयोजकं त्वया वाच्यमिति॥४०१॥**

ध्वंसरूप मानो तो भी ये ही दोनों दोष हैं। नित्य अभाव को उत्पन्न होने वाला तो मान नहीं सकते क्योंकि तब वह घट की तरह अनित्य ही होगा। उत्पन्न न होने वाले नित्य अभाव का घट से ही क्यों सम्बंध होता है, पट से क्यों नहीं हो जाता? नित्य अभाव रूप जाति कहीं होती व कहीं नहीं होती इसमें कोई कारण आप नहीं बता सकते'॥३९८-४००॥ प्रागभाव और ध्वंस किससे सम्बद्ध है यह विचार वस्तुतः इन अभावों को ही असिद्ध करने की दिशा सूचित करता है। दोनों का सम्बंध उनके प्रतियोगी से इसलिये नहीं कि प्रतियोगी अभी है ही नहीं, तथा प्रतियोगी से असम्बद्ध अभाव को प्रागभाव या ध्वंस कह नहीं सकते एवं अनुयोगी से सम्बद्ध भी कह नहीं सकते। यही अवस्था अत्यंताभाव की है। भेद यद्यपि प्रतियोगिसमकालिक भी मिलता है तथापि यदि भेद अभावरूप है तो भावरूप प्रतियोगी व अनुयोगी से उसका सम्बन्ध कैसे होगा? नृशृंग को क्या किसी के लिये खिलौना बना सकते हैं? वन्ध्यासुत का क्या अपनी कन्या से विवाह

---

१. पूर्वं (३८३) भेदरूपत्वं प्रत्यवोचदधुनाऽभावान्तरं न तद्रूपमित्युच्यतइति।

२. अभावोपि व्यापकोऽव्यापको वेत्यादिप्रश्नपिशाचोपशमोपायाभावात्। नाप्यभावे कश्चन विशेषो येन स केनचिदेव सम्बद्ध्येत, विशेषस्यापि भावाभावाभ्यां निरूपयितुमसामर्थ्याद् भावत्वे तस्य अभावाश्रितत्वायोगादभावत्वे पुनः तेनैवाभावेन योगे नियामकासंभवाद् नियामकसत्त्वे तु आत्माश्रयान्योन्याश्रयादिदोषशृंखलाबन्धनेन मूकीभावादिति भावः।

३. एतद्घटाभाव इत्यर्थः, तस्यैव लिलक्षयिषितत्वेनापरत्र विद्यमानत्वे नास्य लक्षणं स्यादित्यस्मिन्नेवावस्थित्यंगीकारध्रौव्येऽस्य नाशे तन्नाशस्या-प्यावश्यकत्वादित्यर्थः।

विनाशकारणाभावो भवतैवात्र कल्पितः। कस्मादेष घटे न स्यात् तस्या आश्रयरूपके॥४०२॥

आश्रितानामनित्यत्वं त्वयैवाङ्गीकृतं यतः। कार्ये भावे घटे दृष्टा तस्याः केन निवार्यते॥४०३॥

यादृशं तादृशं वास्तु घटत्वं किमनेन नः। आहो भिन्नं पटत्वाद्धि कुत इत्यत्र तद्वद॥४०४॥

घटाश्रयत्वादिति चेदहो मोहो महानयम्। यदसिद्धमसिद्धेन साध्यते भवताधुना॥४०५॥

ननु विनाशकारणाभावो नित्यताप्रयोजक इति चेत्? सत्यम्, स तु अद्वितीयात्मन्येव वर्तते, अत्र जातौ तु भ्रमादेव तव भासत इत्याह - विनाशेति। यदि वस्तुतो जातिर्नित्या स्यात्तर्हि **आश्रितनित्यताया आश्रयनित्यताधीनत्वाद् घटेऽपि विनाशकारणाभावः स्यात्, स तु नास्तीत्याह** - कस्मादिति। एष **विनाशकारणाभावः॥४०२॥**

त्वत्सम्मते व्याप्त्यैव अनित्याश्रितानामनित्यत्वं सिद्धमित्याह - आश्रितानामिति। **भावकार्यतया घटे दृष्टा अनित्यता- इति शेषः।** तस्या जातेस्तन्निष्ठायाः केन निवार्यते॥४०३॥

घटत्वजातेरभ्युपगमेऽपि तदभ्युपगमफलं लक्षणत्वेन इतरव्यावृत्तिसिद्धिरूपं न संभवतीत्याह - यादृशमिति द्वाभ्याम्। यादृशं तादृशं वा घटत्वमस्तु तथापि अनेन अभ्युपगतेन घटत्वेन नः अस्माकं किं फलमिति? **नन्वितरभेदानुमितिरेव फलमिति चेत्? स्यादेवैतत् फलं यदि घटस्य विपक्षव्यावृत्त्यात्मकं हेतुरूपं स्याद्। विपक्षव्यावृत्तिश्च विपक्ष- धर्मपटत्वादिभेदरूपा, इति घटत्वस्य पटत्वाद् भेदे हेतुर्वाच्य इत्याह** - आहो इति। **आहो इत्यव्ययं वितर्के। इत्यत्र प्रश्ने** तद् उत्तरं वद इति॥४०४॥ घटेति। घटत्वं पटत्वाद् भिन्नं, घटाश्रयत्वाद्, घटरूपवद् - इति चेद् ब्रूषे, तर्हि अहो **विवेकसामग्रीसन्निधानेऽपि स्थितत्वाद् आश्चर्यरूपस्तव** महानयं मोहः **प्रमादः।** तमभिनयति - यदिति। यद् **यस्माद् असिद्धेन सन्दिग्धत्वात् स्वरूपासिद्धेन हेतुना पराश्रयत्वेन असिद्धं साध्यं भेदरूपं साध्यते। निश्चितेन हेतुना हि साध्यं साधनीयं, घट एव घटत्वमिति घटाश्रयत्वनिश्चयो हि नाद्ययावज्जातः, घटस्वरूपस्यानिर्णये तन्निरूपिताश्रयताया निर्णेतुमशक्यत्वादिति भावः॥४०५॥**

कर सकते हो? और यदि भेद को धर्मरूप मानो तो प्रथमतः अभावचातुर्विध्य की प्रतिज्ञा टूटेगी और फिर 'किसका धर्म?' यह प्रश्न उठेगा। धर्म एक का होवे तथा रहे दूसरे में ऐसा कहीं होता है? इस प्रकार अभाव मानना ही एक अंधपरंपरा सिद्ध होती है।

अब जाति को भावरूप मानने में आपत्ति दिखाते हैं- 'भाव मानने पर भी कहिये आप जाति को नित्य मानते हैं कि अनित्य? जैसे वह अनित्य अभावरूप नहीं हो सकती ऐसे अनित्य भावरूप भी नहीं हो सकती। अतः उसे यदि नित्य ही स्वीकारो तो बताओ वह क्यों नित्य है?'॥४०१॥ अनित्य भावरूप मानने पर जात्यभावकालिक व्यक्ति में लक्षण अव्यास रह जायेगा यह तात्पर्य है। एतद्घट का लक्षण किया जा रहा है अतः अनित्य भावरूप जाति उसी में रहेगी। तब एतद्घट फूटने पर जाति भी नष्ट हो जायेगी। ऐसा हो तो सर्वत्र स्थित घटों में घटबुद्धि न हो पायेगी, यह समझना चाहिये। किं च अनित्य भावरूप हो तो जायमान या नाशवान् माननी पड़ेगी। जायमान मानें तो उसके कारण का निर्वचन असंभव है। अनादि भाव हो तो नाशवान् न होगी। अतः अनित्य भावरूप जाति अस्वीकार्य है।

'यदि कहो कि विनाश का कोई कारण न होने से जाति नित्य है, तो जाति के विषय में ऐसा मानना आपका भ्रम ही है। आश्रित की नित्यता सदा आश्रय की नित्यता के अधीन होती है। यदि जाति नित्य होती तो क्या उसका आश्रय घट नित्य न होता? बल्कि तुम ही मानते हो कि आश्रित वस्तु अनित्य होती है, तो जाति भी अनित्य ही होनी चाहिये। भावकार्य घटादि में जब अनित्यता उपलब्ध है तब भावरूप जाति में वह क्यों न होगी?'॥४०२-४०३॥

अब कहते हैं कि यदि घटत्व जाति मान लें तो भी उससे प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा-'घटत्व चाहे जैसा हो, हम असंग तथा खण्डनतर्क का प्रयोग करने वालों को उससे क्या! हमें तो आप यह बताइये कि वह पटत्व से भिन्न क्यों है?

घटशब्दधीविषयताप्यलक्षणम्

एवं विषयता न स्याद् घटशब्दधियोरपि। घटस्य विषयो यस्मात् पटादिश्च घटो यथा॥४०६॥

विषयः कोऽयमित्यत्र पृष्टे सति घटो यथा। न ज्ञातो विषयोप्येवं भवता नावधार्यते॥४०७॥

एवं घटशब्दवाच्यत्वं घट इति बुद्धिविषयत्वं वा घटस्य लक्षणं न संभवतीत्याह - एवमिति। यथा घटत्वं न लक्षणम् एवं घटशब्दधियोः विषयताऽपि घटस्य लक्षणं न स्याद् इत्यन्वयः। तत्र विषयतासामान्यं वा लक्षणं, विषयताविशेषो वा? नाद्य इत्याह- विषय इति। यथा घटो विषयः तथा पटादिः अपि यतो विषयः, तथा चातिप्रसंगः स्पष्टः। न द्वितीयोऽपि; घटशब्दधीनिरूपिता घटनिष्ठा विषयता हि लक्षणत्वेन वाच्या, सा च परैः सम्बन्धिद्वयस्वरूपात्मिकां ज्ञानजन्यफलाश्रयत्वरूपां वा विषयतामभ्युपगच्छद्भिः घटस्वरूपनिर्धारणं विना दुर्वचेति। सिद्धान्तसिद्धा चित्तादात्म्यरूपा विषयता तु अज्ञानजन्यत्वव्याप्यकल्पितत्वसिद्ध्यधीनेति भावः॥४०६॥

असिद्धेनासिद्धस्य साधनरूपो दोषोऽप्यत्र स्थित एवेत्याह - विषय इति। कोऽयं विषयपदार्थ इत्यत्र अर्थे मया पृष्टे सति भवता यथा घटस्वरूपं न निर्धारितम् एवं विषयपदार्थस्वरूपमतिप्रसंगपरिहारेण न निर्धारयितुं शक्यं, घटीया विषयता पटीया कुतो न भवतीत्याक्षेपस्य अपरिहारात्। तथा च तादृशविषयतया घटसाधनमसिद्धेनाऽसिद्धसाधनमेवेति भावः॥४०७॥

यदि कहो कि घटाश्रित होने से वह पटत्वभिंन्न है तब तो तुम्हारा यह माहन् प्रमाद आश्चर्यजनक है कि तुम एक असिद्ध बात को दूसरी असिद्ध बात से ही सिद्ध करने की कोशिश कर रहे हो!॥४०४-४०५॥ घटत्वादि जाति का यही प्रयोजन है कि वह लक्षण बन जाती है और पदार्थ को अन्यों से भिन्न बनाये रखती है। घट को पटादि से भिन्न रखने वाली वस्तु घटनिष्ठ घटत्व ही है। अतः घटत्व मानने का फल हुआ घट को इतरभिन्न जान सकना। किंतु घट में घटत्व तभी होगा यदि घट में इतरभेद है और यह तभी संभव है जब घट में पटत्वादि न हों जो इतरधर्म हैं। पटत्व घट में न रहे इसके लिये जरूरी है कि पटत्व घटत्व से भिन्न हो। अतः इसमें कोई कारण बताना पड़ेगा कि क्यों घटत्व पटत्व से भिन्न है। इसमें घटाश्रित होना घटत्व को पटत्व से पृथक् करे यह असंगत है। ऐसा कहने का अनुमानावयवयुक्त ढंग होगाः घटत्व (पक्ष), पटत्व से भिन्न है (अर्थात् पटत्वभेद साध्य है), घट के आश्रित होने के कारण (हेतु), घटाश्रित रूप की तरह (दृष्टान्त)। इसमें हेतु है घट के आश्रित होना अर्थात् घटाश्रिततत्व। किंतु घटत्व घटाश्रित है यही अभी कहाँ सिद्ध हुआ है? एवं च हेतु पक्ष में है ऐसा निर्णीत न होने से स्वरूपासिद्धि दोष है। आगे, साध्य जो पटत्वभेद वह कहाँ प्रसिद्ध है? घटत्व में तो प्रसिद्ध है नहीं अतएव साध्य बना है। पट में भी प्रसिद्ध नहीं क्योंकि उसमें पटत्वभेद नहीं रहता, पटत्व ही रहता है। घटरूप में भी पटत्वभेद होने में अनुकूल तर्क क्या? अर्थात् यदि घटरूप में पटत्वभेद न रहे तो क्या हानि है? वह पटत्व हो जायेगा यह हानि नहीं क्योंकि घटरूप के स्वरूप का विरोध करने वाला पटत्व ही सिद्ध नहीं कि घटरूप का पटत्व होना कोई आपत्ति हो। टीका में 'पटाश्रयत्वेन असिद्धम्' पाठ का यह अर्थ है। यदि 'घटाश्रयत्वेन' पाठ हो तब तो सीधा ही अर्थ है। हेतु निश्चित रूप से पक्षवृत्ति होना चाहिये। घटत्व का घटाश्रिततत्व तो अनिश्चित ही है क्योंकि जब तक घट का स्वरूप निर्णीत न हो तब तक घट से निरूपित आश्रयता का निर्णय सम्भव नहीं।

इसी तरह घट-शब्द का वाच्य होना या घट-बुद्धि का विषय होना भी घट का लक्षण नहीं यह कहते हैं- 'केवल 'शब्दविषयता' या 'बुद्धिविषयता' को लक्षण कह नहीं सकते क्योंकि शब्द और बुद्धि की विषयता घट की तरह पटादि सर्वत्र है। अतः अतिव्याप्ति होगी। एवं 'घटशब्दविषयता' या 'घटबुद्धिविषयता' भी लक्षण कहना अनुचित है क्योंकि घट के स्वरूप का निर्धारण हुए बिना इन विषयताओं का निर्वचन संभव नहीं'॥४०६॥ तार्किकों में कुछ मानते हैं कि विषयता दोनों सम्बंधियों का स्वरूप होती है या ज्ञानजन्य फल की आश्रयता विषयता होती है। प्रथम कल्प में क्योंकि घट एक सम्बंधी है अतः तत्स्वरूप विषयता होगी जो घट समझे बिना कैसे समझी जाये ? द्वितीय कल्प में आश्रयता समझने

विषये नियता नैव काचिदर्थक्रियाऽस्ति हि। न जातिर्न च धीशब्दौ तस्यैवाऽसिद्धितोऽधुना॥४०८॥
उदकाहरणादीनामपि सत्त्वे घटे न च। अयं घटस्त्वया मह्यं कथितोस्ति कथंचन॥४०९॥

लक्षणान्तरनिरासः

पृथुबुध्नोदरादिः स्यादाकारोऽपि नियामकः। न घटस्यास्य दृश्यन्ते यतः सर्वेऽपि तादृशाः॥४१०॥

अवधारणाभावे तद्व्याप्यलिंगालाभं हेतुतयाह - विषय इति। विषये नियता **विषयत्वव्याप्या** काचिद् अपि अर्थक्रिया **अर्थस्य फलस्य निष्पत्तिः - यथा वह्नेर्दाहक्रिया तद्वद्** - नास्ति। **न च ज्ञानमेव विषयताफलं, विषयतायां ज्ञानात् पूर्वमसिद्धेः**, तस्य विषयस्यैव नियता जातिः अपि न वाच्या, न च तन्नियतौ धीशब्दौ **निरूपयितुं शक्यौ। कुतः? अधुना अपि पर्यनुयोगकालेऽसिद्धितः असिद्धत्वाद्, अतिप्रसंगशंकाविषेण मूर्छितत्वादिति यावत्। अभिमानमात्रेण अन्यदा सत्त्वं तु युद्धकाले प्रच्छन्नीभवद्योधवद् अकिंचित्करमिति भावः॥४०८॥**

किञ्च यत्रोदकाहरणादयो लोकप्रसिद्धा हेतवो लब्धास्तस्य घटस्यापि निर्धारणं यस्य भवतो दुष्करमासीत् तस्य ते विषयनिर्धारणदुष्करता किमु वाच्येत्याह - उदकेति। उदकाहरणादीनां सत्त्वेऽपि अयं घटो मह्यं त्वया न च कथित **इति सम्बन्धः॥४०९॥**

ननु पृथुबुध्नोदरादिरूपाकृतिर्घटस्य लक्षणमस्तु इति चेद्? न, अतिव्याप्तेरित्याह - पृथ्विति। **बुध्नो मूलम्, उदरं मध्यं बुध्नोदरे; पृथुनी बुध्नोदरे** - परिशेषाद् मुखं स्वल्पं- यत्र तादृश आकारोप्यस्य पुरोवर्तिनो घटस्य नियामकः **इतरव्यवच्छेदेन निर्धारको** न संभवति, यतः सर्वेऽपि भवदभिमतघटास्तादृशाकारवन्तो दृश्यन्त **इतीदमपि पुरोवर्तिमात्रलक्षणं न संभवतीति भावः॥४१०॥**

के लिये आश्रय अर्थात् घट समझना जरूरी है। अतः आत्माश्रय दोष होगा। वेदान्त में तो चेतन से तादात्म्य ही विषयता है और वह तभी सिद्ध होगी जब विषय की कल्पितता सिद्ध हो। कल्पित होने पर विषय अज्ञानजन्य होगा ही जिससे प्रकृत दृष्टिसृष्टि ही सिद्ध होगी।

इतना ही नहीं, विषयता को लक्षण बनाना पूर्ववत् असिद्ध के सहारे साध्यसिद्धि का प्रयास होगा यह कहते हैं- 'विषय किसे कहते हैं? यह पूछें तो आप जैसे अब तक घट को निश्चित रूप से नहीं समझा पाये ऐसे ही विषय को भी समझा पायेंगे नहीं'॥४०७॥ खाण्डनिक पूछना प्रारंभ करेगा कि घटीय विषयता क्यों नहीं पटीय भी हो जाती? इत्यादि तो कोई परिहार निर्वचनवादी से बन नहीं पड़ेगा अतः विषयता असिद्ध है तो उससे घट कैसे सिद्ध होगा?

क्यों समझा नहीं पायेंगे यह व्यक्त करते हैं- 'विषय में कोई अर्थक्रिया नियत नहीं होती, न कोई जाति नियत है और न उसके ज्ञान व शब्द नियत हैं क्योंकि वही अव तक असिद्ध है'॥४०८॥ अर्थ यानी फल की निष्पत्ति को अर्थक्रिया कहते हैं। विषयमात्र में निश्चित कोई एक अर्थक्रिया कही नहीं जा सकती जिसे विषय का लक्षण बनायें। हर पदार्थ प्रमेय और वाच्य होता है अतः स्वविषयक ज्ञाननिष्पत्ति और शब्दनिष्पत्ति सब विषयों में समान अर्थक्रिया है- ऐसा कोई कहे इसके पूर्व विषय को ही समझाना पड़ेगा तभी न 'स्वविषयक' समझ में आयेगा! जो महापंडित इस घट को ही समझा नहीं पाये उनसे विषयता आदि सूक्ष्म वस्तुओं के निरूपण की क्या आशा रखी जाये?

'घड़े में 'पानी लाना' आदि विशेषताओं के रहते भी तुम अभी तक हमें यह किसी तरह नहीं समझा पाये कि यह घड़ा क्या है॥४०९॥ मूल व मध्य बड़ा हो तथा मुख छोटा हो इत्यादि आकार भी इस घड़े का लक्षण नहीं क्योंकि इससे अतिरिक्त घड़े भी ऐसे ही दीखते हैं, अतः एतद्घटमात्रवृत्ति न होने से अतिव्याप्ति होगी॥४१०॥ इसी तरह 'इस देश में होना', 'इस काल में होना' आदि भी लक्षण संभव नहीं क्योंकि संसार में ऐसी असंख्य वस्तुये हैं जो इस देश व काल में हैं'॥४११॥ यद्यपि एतत्काल संबद्ध असंख्य चीजें सरलता से समझ आती हैं तथापि वादिमत की पर्यालोचना से

देशकालादिकं चैवं न स्यादस्य नियामकम्। यत एतादृशा भावाः सन्ति लोके सहस्रशः॥४११॥

घटवादेन मायिकत्वसिद्धिः

किं च यो यो घटो नाम कथ्यते केनचित् त्वया। ज्ञायते च मया तत्र कुत इत्युदिते सति॥४१२॥

न जानामीति वचनात् कोपाद्वा दुष्टचेतनात्। उत्तरं नान्यदीक्षेत भवतोऽप्यभिमानिनः॥४१३॥

एकं घटं यतो नैवं शक्ता वक्तुं कथंचन। कुतो विश्वमिदं कृत्स्नं[१] भवन्तो वक्तुमीशते॥४१४॥

एतद्देशवृत्तित्वम्, एतत्कालवृत्तित्वं वा घटस्य न लक्षणम्। एतद्देशकालवृत्तीनामन्येषामपि भावेनातिव्याप्तेरित्याह – देशेति। एवं पूर्वोक्तलक्षणवत्। अस्य घटस्य। एतादृशा एतद्देशकालसम्बद्धाः। परमते दिक्कालयोः सर्वाधारताऽभ्युपगमाद् घटदेशेऽपि अन्यपदार्थानां सद्भावादिति भावः॥४११॥

तस्मादनिर्वचनीयत्वेन अज्ञानोपादानको घटः। न च घटोपादानमज्ञानं नानुभूयत इति वाच्यम्, तदननुभवे न जानामीत्युत्तरस्य वक्तुमशक्यत्वादित्याह – किं चेत्यादिना। यो यो घटः केनचित् कथ्यते, त्वया अभिमानमात्रेण ज्ञायते वा, तत्र घट इति कथने ज्ञाने च कुत इति आकारेण नियामके मया उदिते पृष्टे सति न जानामीति वचनं वा वदिष्यसि, कोपं वा करिष्यसि; इतः अन्यद् उत्तरमभिमानिनोऽपि भवतो न ईक्ष्यते न च द्रष्टुं संभाव्यते। तत्र कोपं विना यदुत्तरदानाय तव चित्ते भासते तदेव अज्ञानं घटोपादानमिति द्वयोरर्थः॥४१२-४१३॥

घटोदाहरणस्य उपलक्षणत्वाद् एवं नीत्या सर्वप्रपञ्चकारणमज्ञानमवधार्यमित्याह – एकमिति। स्पष्टम्॥४१४॥

एतद्देश-सम्बद्ध भी सब वस्तुओं को समझा जा सकता है। दिक् और काल को सब का आधार तार्किक मानता है। देश व दिक् तो पर्याय हैं। एतद्देश को दिक् से अभिन्न मानना होगा जैसे वादी एतद्घट को घट से अभिन्न मानता है। विशिष्ट को अतिरिक्त माने तो एतद्देश अदेश होने लगेगा जो मान्य नहीं क्योंकि तब संन्यासी यदि दण्ड धारण कर ले तो संन्यासी ही नहीं रह जायेगा कारण कि शुद्ध हुआ संन्यासी व विशिष्टि हुआ दण्डी! एवं च एतद्देश जिस दिक् से अभिन्न है उस में सारी दुनिया है ही।

इस प्रकार यही निर्णय रखना चाहिये कि अनिर्वचनीय होने से अज्ञानरूप माया ही घट का उपादान है। अज्ञान अनुभवसिद्ध वस्तु है यह व्यक्त करते हैं– 'जिस-जिस को कोई भी व्यक्ति घट कहता है या तुम जिस-जिस को घट समझते हो, उसके बारे में जब मैं पूछता हूँ कि 'उसके विषय में घट ऐसा कहने व समझने का नियत हेतु क्या है?' तो तुम यही कहोगे 'मुझे पता नहीं', और अगर तुम्हारा चित्त तत्त्वनिर्णय के अनुकूल सात्त्विक नहीं बल्कि राजसादि है तो मुझ पर नाराज़ होगे। अन्य कोई जवाब तो तुम्हारी भी समझ में आ नहीं सकता, 'मैं समझा सकता हूँ' ऐसा अभिमान चाहे जितना करो!'॥४१२-४१३॥ 'मुझे पता नहीं' यही अनुभवसिद्ध अज्ञान है व यही घट का उपादान है। घड़ा किससे बना? इसका उत्तर है 'मिट्टी से' इसी न लिये मिट्टी घड़े का उपादान है। जब पूछते हैं सारी दुनिया किससे बनी? और तर्कमात्रशरणवादी कहता है 'पता नहीं' तो वह 'पता नहीं' ही तो सारी दुनिया का उपादान हो सकता है।

नैयायिकों की मान्यता है कि अनात्मा को आत्मा समझना अहंकार है वह यह मिथ्या ज्ञान ही संसार का बीज है। जिन शरीरादि में अहंमति होती है उनकी यथार्थता समझ लें तो मालूम पड़ जायेगा कि वे आत्मा नहीं हैं। तब अहंकाररूप बीज न रहने से मोक्ष हो जायेगा। चतुर्थाध्याय के द्वितीयाह्निक के प्रारम्भ में वात्स्यायन मुनि ने यह बात स्पष्ट की है। स्वयं सूत्रों में कहा है कि मोक्ष के लिये यम, नियम आदि से अपनी शुद्धि कर योग का (समाधि का) अभ्यास करना चाहिये।

---

१. अनात्मभिन्नतयाऽऽत्मधीर्मुक्त्युपाय इति तार्किकाभिमानः। एवंविधात्मधीश्चानात्मज्ञानाधीना इत्यनात्मानं बोधयितुममी यतन्ते। उक्तनीत्या च न पदार्थान् वक्तुमीशतेऽतस्तेषां दर्शनं न मुक्तिप्रयोजकज्ञानहेतुरिति भावः।

भवतामपि सर्वेषामज्ञानमभिमानिनाम्। मदुक्तेः सहकारित्वात् पुरतो भाति सर्वतः॥४१५॥

सुदुर्घटमिदं यस्माद् निरूपयितुमञ्जसा। विश्वं समग्रं तस्मात्तदज्ञानादुत्थितं भवेत्॥४१६॥

ननु 'मायान्तु प्रकृतिं विद्याद्' (श्वे.४.१०) इत्यादिश्रुतिभ्योऽपि जगतो मायोपादानकत्वनिश्चयसम्भवात् किन्तव अनया घटखण्डनवाचोयुक्त्या इति चेत्? सत्यम्, तथाऽपि येषां बुद्धिदोषेण श्रुत्यर्थेऽसंभावना तान् प्रत्यपि मदुक्तिः सहकारीभूय मुखं दर्पणमिव अज्ञानमनुभावयतीत्याह – भवतामिति। सर्वेषां भवतामभिमानिनामपि अज्ञानं पुरत इव भाति। **कस्माद्? मदुक्तेः सहकारित्वाद् इत्यन्वयः॥४१५॥**

प्रमाण-प्रमेयादि को समझना इसीलिये है कि मोक्ष का सही उपाय समझा जा सके, गलत उपायों से बचा जा सके। वैशेषिक भी प्रतिपादन करते हैं कि मोक्ष होता है धर्मानुष्ठान से। प्रशस्तपाद ने आरंभ में ही कहा है 'तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव।' किंतु राग-द्वेषरहित होकर किया जो 'केवल धर्म' है वही मोक्ष दे पाता है। राग-द्वेष होता है द्रव्यादि से। उनकी यथार्थता जानने पर और आत्मा का उनसे पार्थक्य समझने पर ही राग-द्वेष हटेगा। कंदलीकार ने (पृ. ६८० संपूर्णानन्द०) वैराग्यहेतु ज्ञान यह कहा है 'स्वरूपतश्चाहमुदासीनो बाह्याध्यात्मिकाश्च विषयाः सर्व एते दुःखसाधनमिति यस्य ज्ञानमभूत् स दृष्टानुश्रविकविषयसुखवितृष्णः…'। एवं च दोनों तर्क-दर्शनों में सांसारिक वस्तुओं को वैराग्य के लिये समझना जरूरी है। इसके बिना वे वैराग्य नहीं मानते और वैराग्य न हो तो न 'केवल धर्म' होगा, न समाधि, अतः मोक्ष नहीं हो पायेगा। अतः सांसारिक चीज़ों का सही ज्ञान न करा पायें तो वे दर्शन व्यर्थ होंगे। जब एक घड़े का सही ज्ञान उनसे नहीं कराया जा सकता तो सारी दुनिया की वस्तुओं को सही समझकर वे उनसे विराग प्राप्त करेंगे यह कहीं संभव है? यद्यपि वे हर वस्तु का प्रातिस्विक ज्ञान अपेक्षित न मानकर ही द्रव्यादि विभाजन करते हैं तथापि उक्त युक्तियों से वह विभाजन ही वाग्विलास मात्र रह जाता है। अतः तर्क प्रस्थानों पर विश्वास नहीं किया जा सकता यह कहते हैं-'जब आप एक घड़े को ही किसी तरह बता नहीं पा रहे तब इस सारे विश्व को कैसे बता सकते हैं?'॥४१४॥ यह नहीं शंका करनी चाहिये कि सिद्धांती को वैराग्य के लिये विषयों की दुःखता का ज्ञान चाहिये अतः इन वादियों से समानता है। सिद्धांती तो सर्वानुभवसिद्ध दुःख को यथाप्रतीति स्वीकार कर जिज्ञासादि का श्रौतोपदेश मानता है। विषय दुःखद हैं इसके लिये दर्शन निर्माण नहीं करना पड़ता। थोड़े बहुत सुखाभासों से विमुख करने के लिये जो वैराग्यप्रकरण शास्त्रों में आते हैं वे भी उन सुखों की यथार्थता समझाने के लिये नहीं, केवल उनके विश्लेषण से उनमें इष्टबुद्धि हटाने के लिये। तर्कप्रस्थानों की तो आपत् यह है कि वे संसार सत्य मानते हैं अतः संसार का सही ज्ञान तर्कपद्धति से करना चाहते हैं। यदि वे द्वैत मिथ्या मानकर सच्चिदानन्द परमात्मा को ही अद्वितीय सत्य स्वीकारें तो वेदान्ती ही हैं।

स्वकीय अनुयायी पूछ सकता है कि 'प्रकृति को माया जानो' आदि श्रुतियों से ही यह निश्चय सुलभ है कि जगत् का उपादान अज्ञान है, तब यों कमर कसकर घट के खण्डन में क्यों लगे हैं? उत्तर है कि यह ठीक है कि श्रुतिश्राद्धों को ऐसे तर्कक्लेश की ज़रूरत नहीं, वे शास्त्राचार्योपदेश से ही जगत् मायिक जान लेंगे, किन्तु जिनकी बुद्धि सदोष है वे श्रुतिप्रतिपादित बात को असंभव समझते है अतः इस प्रकार के तर्कप्रताडन से ही जब उनकी बुद्धि का मद शांत हो जाता है तब स्थिर दर्पण में मुख की तरह वे वेदान्तों की बात समझ पाते हैं। ऐसों के लिये खण्डनतर्क सहकारी बनते हैं। यह सूचित करते हैं- 'क्योंकि मेरी बतायी खण्डनयुक्तियाँ सहायता प्रदान करती हैं इसलिये निर्वचन के आग्रह वाले आप सभी वादियों को अब अज्ञान स्पष्ट प्रतीत हो रहा है, ऐसी आशा है'॥४१५॥ अज्ञान से भिन्न जगद्धेतु होता तो निर्वचन संभव होता। यदि अब भी समझ नहीं आ रहा तो मन्दता अत्यधिक है यह भाव है।

प्रपंच की अनिर्वचनीयता ही स्पष्ट करती है कि यह मायिक है- 'क्योंकि सारे विश्व का सही-सही निरूपण हो ही नहीं सकता इसलिये निश्चित है कि यह माया से ही प्रतीयमान है'॥४१६॥ अन्यत्र भी बताया है कि जो है वह पैदा हो नहीं सकता और न वह पैदा हो सकता है जो है ही नहीं। अतः वस्तु का पैदा होना ही स्पष्ट कर देता है कि वह मायिक है।

न हि मायाविनां मायां सकार्यां वेत्ति कश्चन। पश्यन्नपि तथा विश्वं जानाति हि न कश्चन॥४१७॥

विश्वस्य स्वप्नसादृश्यम्

स्वप्ने पश्येद् यथा रात्रौ सागरं हृदये निजे। सूर्यग्रहणसंयुक्तं मथुरोपवने स्थितः॥
असंभावितदेशादिमेवमेतच्चराचरम्॥४१८॥

अज्ञानमीशशक्तिः

मायैषा तस्य देवस्य योऽवाङ्मनसगोचरः। यादृशं तादृशं ह्यस्याः कार्यमेतच्चराचरम्॥४१९॥

अनिर्वाच्यत्वमेवाऽस्य प्रपञ्चस्य मायिकत्वमावेदयति – सुदुर्घटमिति। यस्मात् समग्रं विश्वं निरूपयितुं सुदुर्घटम् **अशक्यं** तस्मादज्ञानादुत्थितं भवेदिति। तदुक्तम् **'यथा सतो जनिर्नैवमसतोऽपि जनिर्न च। जन्यत्वमेव जन्यस्य मायिकत्व-समर्पकम्'॥ इति॥४१६॥**

दृष्टं च मायिकानां निरूपणसमर्थज्ञानाऽविषयत्वमित्याह – न हीति। **लोकेऽपि** मायाविनाम् **ऐन्द्रजालिकादीनां** सकार्यां मायां कश्चन **अपि** पश्यन्नपि न वेत्ति न **निरूपणसमर्थज्ञानविषयीकरोति**। तथा विश्वं कश्चन न जानाति **इति॥४१७॥**

स्वप्नवदसंभावितदेशादिसंबन्धभानाच्च विश्वस्य मायामयत्वमिति दर्शयति – स्वप्न इति। यथा रात्रौ स्वप्ने मथुरोपवने **मथुराया उपवने** स्थितः **सन्** सूर्यग्रहणसंयुक्तं सागरं निजे हृदये पश्येत्; **कीदृशं सागरम्? असंभावितदेशकालादिसम्बद्धम्। एवम् अयं मूढ** एतच्चराचरं **पश्यतीति॥४१८॥**

एतच्चाज्ञानं न स्वतन्त्रं कारणं किन्त्वीश्वरस्य शक्तिभूतत्वात्तत्परतन्त्रमित्याह – मायैषेति। एषा **अज्ञानत्वेनोक्ता देवस्य 'एको देव' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धस्य अविषयत्वेन ज्ञेयस्य** हि **यतो** यादृशं तादृशम् **अनिर्वचनीयमतः** अस्या **मायाया** एतद् **जगत्** कार्यमिति॥४१९॥

अनुभवसिद्ध है कि मायिक पदार्थों का जो ज्ञान होता है उसे व्यवस्थित रूप से समझा नहीं जा सकता, वे क्यों दीखे कैसे दीखे इत्यादि का निर्णय हो नहीं सकता। अतः ऐसी चीजें मायिक ही होती हैं जिनका और जिनके ज्ञान का निर्वचन न हो। यह बताते हैं–'ऐन्द्रजालिकादि मायावियों की माया और उसके कार्यों का अनुभव करते हुए भी उनके बारे में ऐसा ज्ञान किसी को नहीं होता जो उस सारी प्रक्रिया को व्यवस्थित ढंग से समझा दे। दुनिया का भी ऐसा ज्ञान किसी को नहीं होता'॥४१७॥

स्वप्न को उदाहरण बनाकर विश्वमिथ्यात्व कहते हैं– 'जैसे रात को सपने में दीखता है कि मैं मथुरा के एक बगीचे में बैठा हुआ हूँ, आकाश में सूर्य पर ग्रहण लगा दीख रहा है और निकट ही समुद्र है। देश व काल की दृष्टि से जिनका परस्पर संबंध असंभव है ऐसे पदार्थ एकत्र हुए उपलब्ध होते हैं। दीखता वस्तुतः यह सब अपने हृदय में ही है, बाहर जाकर न दीखता है, न दीख सकता है। इसी प्रकार माया से मोह में पड़े हम लोग यह सारा स्थावर-जंगम जगत् देखते हैं'॥४१८॥ दृश्यतासामान्य तो स्वप्नसादृश्य है ही, अभी बतायी अयुक्तता भी सामान्य है। जैसे रात में सूर्यग्रहण नहीं हो सकता ऐसे ही किसी भी वस्तु का कालसम्बंध नहीं हो सकता। विभु निरवयव काल का किसी से क्या सम्बंध होगा? स्वयं काल को ही सम्बंध मानना तो एक तरह से उसे असम्बद्ध ही मानना है। मथुरा व समुद्र की तरह किसी भी देश का किसी वस्तु से सम्बंध भी इसी प्रकार युक्तियुक्त नहीं।

अज्ञान भी कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं, किंतु ईश्वर की शक्ति है, ईश्वर के पराधीन हुआ ही कारण है। यह बताते हैं– 'जो वाणी व मन का विषय नहीं उस महादेव की माया ही यह अज्ञान है। यह स्थावर-जंगम प्रपंच क्योंकि जैसा-तैसा अर्थात्

सर्पस्य यदि पादानां विन्यासान्नभसि स्थितान्। अन्धोऽवलोकयेत्तद्वच्छृणुयाद् बधिरोऽपि हि॥
अनेडमूकवचनं तादृग् विश्वस्य बोधनम्॥४२०॥
अतो मायाविनस्तस्य महेशस्य विचेष्टितम्। न कोऽपि किञ्चिज्जानाति विनाऽहङ्कारमात्मनः॥४२१॥
एवंभूतेऽतिदुर्बोधे ह्यस्मिन् मायाविचेष्टिते। जगत्यज्ञानमुचितं सर्वेषामिह देहिनाम्॥४२२॥

सर्वावरकमज्ञानम्

अपि यत्रात्मधीर्जाता शरीरेऽस्य शरीरिणः। न पश्यति तदप्येष कुतोऽन्यमवलोकयेत्॥४२३॥
यैरिन्द्रियैरयं शश्वद् व्यापारान् विविधानपि। नरकस्वर्गमोक्षादेर्हेतुभूताननेकशः॥४२४॥
कुरुते स्वात्मधीबोधात् तानप्येष[२] न पश्यति। कुतोऽवलोकयेद् विश्वं स्वान्यरूपमवस्थितम्॥४२५॥

तस्य देवस्य ज्ञानवतां प्रपञ्चस्य तुच्छतया भानात् तदज्ञानवतामेव प्रपञ्चभानाद् अज्ञानमूलत्वं स्पष्टमित्यभिप्रायेण अलीकभानं प्रपञ्चभाने दृष्टान्तीकरोति – सर्पस्येति। सर्पस्य नभसि गच्छतः पादविन्यासचिह्नानि यथा अन्धोऽवलोकयेद्, यथा वा अनेडमूकवचनं[१] बधिरः शृणुयात्, तादृशं विज्ञदृष्ट्या प्रपञ्चविज्ञानमिति॥४२०॥

प्रपञ्चदर्शनमेवाज्ञानलिङ्गमित्याह – अत इति। अतः वस्तुतोऽसत्त्वेऽपि प्रपञ्चस्य भासमानत्वाद् यो मन्यते 'अहं मायाविचेष्टितं जानामि' इति तस्य अभिमानमात्रमित्याह – विनेति॥४२१॥

अत एव सृष्ट्यादिविषयेऽज्ञता नैव दूषणमित्युक्तमित्याह – एवंभूत इति। अस्मिन् मायाविचेष्टित एवंभूतेऽतिदुर्बोधे सति सर्वेषां जगत्तत्वगोचरम् अज्ञानमुचितम् एवेति॥४२२॥

मम कुत्रापि नाज्ञानमिति वादिनो दुराग्रहं कैमुत्यन्यायेन खण्डयति – अपि यत्रेति। यत्र सान्निध्याद् आत्मबुद्धिरपि कृता, तस्य शरीरस्यापि तत्त्वमविदुषो बाह्यगोचरमज्ञानं किमु वाच्यमित्यर्थः॥४२३॥

अनिर्वचनीय है अतः उस माया का ही कार्य है'॥४१९॥

जिस सौभाग्यशाली को परमेश्वर-साक्षात्कार हो जाता है उसे प्रपंच का तुच्छरूप से अर्थात् असत्त्वोल्लेखपूर्वक भान होता है। जो परमेश्वर को जानते नहीं उन्हें ही प्रपंच सच्चा लगता है। अतः स्पष्ट ही यह अज्ञानमूलक है। इसे व्यक्त करने के लिये अलीक का भान दृष्टांत बनाते हैं– 'यदि कोई अंधा साँप के आकाश पर पड़े पदचिह्न देखे या किसी बोलने-सुनने में असमर्थ व्यक्ति की बात कोई बहरा सुने, तभी विश्व के ज्ञान का दृष्टांत होवे'॥४२०॥ अर्थात् प्रपंचविज्ञान न होने वाली बात का ही अनुभव है।

प्रपंच दीखना अज्ञान का चिह्न है यह बताते हैं– 'अतः उस मायावी महेश्वर की चेष्टायें थोड़ी भी कोई नहीं जानता। 'मैं जानता हूँ' ऐसा अभिमान भले ही कोई मूर्ख कर ले॥४२१॥ माया के कार्यभूत अतः समझे न जा सकने वाले इस जगत् के विषय में सभी देहधारियों को अज्ञान होना उचित ही है'॥४२२॥ इससे उसका निगमन किया जो पूर्व में (श्लो. ३७५) कहा था कि संसार के विषय में अज्ञान दोष नहीं है।

'ऐसा कुछ नहीं जिसके बारे में मुझे अज्ञान हो' ऐसा जिसे दुराग्रह हो उसके प्रति कहते हैं– 'यह शरीरधारी जिस देह को अपना स्वरूप समझता है उसी की वास्तविकता नहीं समझ पाता तो अन्य क्या जानेगा?॥४२३॥ यह जीव जिन इंद्रियों को अपना स्वरूप मानकर नरक, स्वर्ग व मोक्ष के कारणभूत बहुतेरे विविध व्यापार लगातार करता है उनका भी जब इसे सही बोध नहीं तो स्वयं से सर्वथा भिन्न इस उपस्थित संसार को कैसे जानेगा?॥४२४-४२५॥ मुझे सुख हो, दुःख

१. 'अनेडमूकस्तु वक्तुं श्रोतुमशिक्षित' इत्यमरः। २. तान्यप्येष इति टीकापाठः।

सुखदुःखे ममेत्येवं धिया कुर्वन् प्रवर्तनम्। ममशब्दार्थमप्येष न जानाति कुतोऽपरम्।।४२६।।

पूर्वजन्मनि किं मेऽभूदागामिन्यपि भावि किम्। इति यो वेत्ति न स्वस्य जानीयात् स कथं परम्।।४२७।।

अनुभूतान्यपि स्वेन कृत्स्नशो न स्मरेद्धि यः। आगामि च न जानीयाज्जानीयात् स कथं परम्।।४२८।।

वेदस्य मान्यतमत्वम्

अर्थेष्वतीन्द्रियेष्वस्मात् प्रत्यक्षं नैव कारणम्। किन्तु पित्रादिवचनं प्रमाणं लोक ईरितम्।।४२९।।

देहादप्यान्तराणामिन्द्रियाणामज्ञानमनुसन्धाय अज्ञतां स्वस्य प्रत्येतु भवानित्याह – यैरिति द्वाभ्याम्। **यैरिन्द्रियैरयं जनो विविधान् अनेकशो व्यापारान् कुरुते;** कुतः? स्वात्मधीबोधात् **तेषु स्वात्मधीरूपं बोधमासाद्य। कीदृशान् व्यापारान्? नरकादेर्हेतुभूतान्। तत्र मोक्षहेतुत्वं चित्तशुद्धिद्वारा बोध्यम्।** तानि **इन्द्रियाणि** अपि **यो न पश्यति स इदंरूपेण वेद्यत्वाद् अन्यरूपम्** अवस्थितं **विश्वं** कुतोऽवलोकयेद् इति द्वयोः सम्बन्धः।।४२४-४२५।।

इन्द्रियेभ्योप्यान्तरार्थबोधकस्य अभ्यस्यमानस्य च अस्मच्छब्दस्य अप्यर्थं यो न जानाति तस्य विज्ञानाभिमानो वृथेत्याह – सुखेति। मम **सुखं** भूयाद् मम **दुःखं** मा भूद् **इत्येवम्** आकारया **धिया प्रवर्तनं कुर्वन् एष** जनः **ममशब्दार्थमपि न जानाति** सः **अपरं कुतो** जानीयादिति।।४२६।।

अस्मच्छब्दार्थवत् तत्सम्बन्ध्यज्ञानमपि दर्शयति – पूर्वेति। मे **मत्सम्बन्धि। इति पूर्वार्द्धोक्तप्रकारेण स्वस्य आत्मनः सम्बन्धि** अपि **यो न** वेत्ति **स परम्** अन्यत् **कथं** जानीयाद् इत्यन्वयः।।४२७।।

किं च यो ज्ञातान्यपि विस्मरति, तस्याऽज्ञाने कः संशय इत्याह – अनुभूतानीति। कृत्स्नशः **कृत्स्नानीत्यर्थः, 'बह्वल्पार्थाद्' (५.४.४२) इति शस्।।४२८।।**

एवं जीवानामज्ञानप्रचुरत्वे सति प्रत्यक्षस्य दुष्टकरणजन्यत्वेन आभासत्वात् प्रत्यक्षविरोधेन वेदार्थेऽसंभावना न कार्येति वक्तुं लोके शब्दस्य प्राधान्यं दर्शयति – अर्थेष्विति। **अस्माद् अज्ञानप्राचुर्यादेव हेतोः इति लोक ईरितम्। 'इति' किम्? अतीन्द्रियेषु अर्थेषु अतीतव्यवहारकुलाचारादिषु प्रत्यक्षं कारणं साधकं न भवति, किन्तु पितृप्रभृत्याप्तवचनमेव प्रमाणमिति। तथा चोक्तविधया घटादिस्वरूपस्य अपि इन्द्रियैर्निर्णेतुमशक्यत्वेन अतीन्द्रियत्वात् तत्राऽपि शब्द एव दृष्टिसृष्ट्यादिवादी प्रमाणमिति भावः।।४२९।।**

न हो ऐसे आकार के निश्चय से सदा सब प्रवृत्तियाँ करते हुए भी 'मुझे' शब्द का अर्थ क्या है यह नहीं जान पाता अर्थात् इन्द्रियों से भी आंतर अहंकार को समझ नहीं पाता।।४२६।। पूर्व जन्म में मुझे क्या-क्या हुआ था, अगले जन्म में क्या होगा इत्यादि बातें अपने बारे में भी जो नहीं जानता वह परायी बातें क्या जानेगा?।।४२७।। जिनका ख़ुद अनुभव किया उन्हें भी जो बुद्धि से पूरी तरह याद नहीं रख पाता, स्वयं को होने वाले आगामी अनुभवों का जिसे कुछ पता नहीं, भला वह किसी और के बारे में कुछ जान पायेगा?'।।४२८।।

इस प्रकार सुस्पष्ट है कि जीवों में अज्ञान भरपूर है। प्रत्यक्ष ज्ञान के करण तो सदोष हैं क्योंकि प्रायः गलत ज्ञान के हेतु बनते रहते हैं। केवल प्रत्यक्ष से सामान्य व्यवहार भी निष्पन्न होते नहीं। अतः वेदार्थ में प्रत्यक्षविरोध देखकर वेदार्थ को असंभव मानना बचपना ही है। लौकिक मर्यादा भी सूक्ष्म विषयों में उपदेश को महत्त्व देती है यह कहते हैं–'क्योंकि लोगों में अज्ञान अत्यधिक है इसीलिये लोक में कहा जाता है कि अतीन्द्रिय पदार्थों के बारे में प्रत्यक्ष साधकप्रमाण नहीं किन्तु पिता आदि जानकारों के वचन ही प्रमाण होते हैं'।।४२९।।

कोई कह सकता है 'जी, हमारे बाप-दादा तो नहीं कहते कि दृष्टिसृष्टि होती है अतः यह बात कैसे स्वीकारें?' उससे कहना चाहिये 'वे भले ही न कहें पर उनका परमगुरु वेद तो कह ही रहा है, इसीलिये स्वीकारो।' इस तात्पर्य से

पुरुषास्तेऽपि वेदेन ज्ञातवन्तोऽस्मदादिवत्। वेदस्य वेदेनैव स्याद् रूपं यस्मादपौरुषम्।।४३०।।
तस्मादस्य न चापेक्षा भवेत् पुरुषवत् सदा। तस्मादेव यदस्माकं कथयेद् वेद ईश्वरः।।
राजशासनवत् तद्धि ग्राह्यमस्माभिरादृतैः।।४३१।।
असौ च सुप्ते मरणे प्राण एवोपसंहृतिम्। मनआदेस्तु जीवात्मनामधेयस्य सर्वदा।।४३२।।
प्रबोधे च जनौ तद्वत् तस्मादेव पुनर्जनिम्। विलीनस्यैव नः प्राह पित्रादिभ्यः सुहृन्नृणाम्।।४३३।।

यदि कश्चिल्लौकिको ब्रूयाद् 'नास्मत्पित्रादयो दृष्टिसृष्ट्यादि वदन्ति' इति, तं प्रत्येवं वदेद् – 'मा वदन्तु; तेषां परमगुरुर्वेदस्तु वदति'; इत्याशयेनाह – पुरुषा इति। येषां वचनं लोके प्रमाणं तेऽपि मन्वाद्याः पुरुषा वेदवाक्येन ज्ञानं लब्धवन्तः, यथाऽस्माभिर्वेदवाक्यादात्मज्ञानं लब्धम् तथा मन्वदिभिः इति इन्द्रस्य वक्तुरुक्तिः। ननु वेदेन कुतो ज्ञातम्? अत आह – वेदस्येति। वेदपुरुषस्य ज्ञानं तु वेदेनैव न त्वन्येन केनचिदित्यर्थः। यतो वेदपुरुषस्य रूपं शरीरं वेदात्मकम् अपौरुषं भवति पुरुषेण बुद्धिपूर्वकं निर्मितं न भवति, किन्तु निःश्वसितवत् पूर्वसमानरूपेण प्रादुर्भूतमित्यर्थः। 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृ.२.४.१०) इत्यादिश्रुतेः; 'ब्रह्म स्वयंभ्वभ्यानर्षद्' इति च श्रुतिः, अभ्यानर्षद् ऋषिसंप्रदायेन प्रादुरभवदित्यर्थः। वेदाभिमानिपुरुषसत्त्वे मानं च वार्तिकं यथा 'शब्दब्रह्मेति यच्चेदं शास्त्रं वेदाख्यमुच्यते। तदप्यधिष्ठितं सर्वमेकेन परमात्मना'।। इति।।४३०।। तस्मादिति। यस्मादपौरुषमस्य रुपं तस्माद् एव अस्य वेदस्य ज्ञानाय स्ववाक्यप्रामाण्याय वा परापेक्षा इतरपुरुषाणां यथा भवति तथा नास्ति, तस्मात् परमेश्वरोऽयमिति भावः। तस्मादेव हेतोः वेदरूप ईश्वरो यदस्माकम् अधिकारिणां कर्तव्यत्वेन कथयेद् उपदिशेत् तदस्माभिरादृतैः आदरं श्रद्धातिशयरूपं कुर्वाणै राजाज्ञावद् ग्राह्यम् अङ्गीकर्तव्यमित्यर्थः।।४३१।।

एवं च प्रकृतव्याख्येयश्रुतिरूपेण वेदपुरुषेणोक्तमर्थमसंभावनां परिहृत्य ग्रहीतुं शृणुतेत्याह – असाविति। असौ वेदः सुप्ते सुषुप्तिकाले मरणकाले च मनआदेः करणजातस्य प्राण एवोपसंहृतिं प्राह। कीदृशस्य मनआदेः? जीवोपाधितया जीवात्मसंज्ञस्य। तथा प्रबोधे जागरणकाले जन्मकाले च तस्मादेव प्राणाद् विलीनस्यैव मनआदेः पुनर्जनिं च नः अस्मान् प्रति प्राह उपदिशति; तदपि अनुग्रहमात्रेणेत्याह – पित्रादिभ्य इति। यतो वेदः प्रत्युपकारानपेक्षत्वेन पित्रादिभ्यः अपि परमो नृणां सुहृद् इति द्वयोरर्थः।।४३२-४३३।।

कहते हैं– 'संसार में जिनके वचन प्रमाण माने जाते हैं उन मनु आदि ने भी वेद से वैसे ही ज्ञान प्राप्त किया है जैसे मैंने (= इंद्र ने) वेद से आत्मज्ञान पाया है। वेदपुरुष का ज्ञान तो वेद से ही है, अन्य किसी से नहीं। वेदपुरुष का शरीर अपौरुषेय वेदरूप ही है।।४३०।। क्योंकि इसका रूप अर्थात् शरीर अपौरुष वेद है इसीलिये वेदपुरुष को ज्ञान के लिये, अपनी बात की प्रामाणिकता के लिये किसी दूसरे की जरूरत नहीं जैसे अन्य पुरुषों को होती है। अत एव वेदरूप ईश्वर हमें जो उपदेश देता है उसे हमें अतिशय श्रद्धापूर्वक राजाज्ञा की तरह अंगीकार करना चाहिये'।।४३१।। अतींद्रिय विषयों में पित्रादिवचन अवश्य मान्य है पर उनके वचन पुनः मूलसापेक्ष हैं। अतः निरपेक्ष उपदेष्टा वेद की ही बात निःशंक हो मानी जा सकती है। वेद के अधिष्ठाता रूप ईश्वर को ही वेदपुरुष कहते हैं। वेद की रचना ईश्वर ऐसे सोच-विचार कर नहीं करते जैसे माघ आदि कवि शिशुपालवध आदि काव्यों की करते हैं। जैसे हम बिना सोचे-समझे निःश्वास छोड़ देते हैं, ऐसे ही परमेश्वर वेद रच देते हैं। वेद की आनुपूर्वी वही रहती है, हर सृष्टि के आरंभ में उत्पन्न तथा प्रलय में विलीन हो जाती है। क्योंकि किसी साधन से जानकर कही बात नहीं इसलिये इसके अप्रामाण्य की संभावना भी नहीं। लोक में साधनों से जानकर कही बातें ही गलत देखी गयी हैं उनसे अन्य नहीं। अतः निश्चित प्रमाण वेद ही है और उसकी बात मान्य ही है। अतः 'असंभव बात कह रहा है' ऐसा न मानते हुए वेदार्थ का श्रवण करना चाहिये।

'और वेद यह कहता है कि सुषुप्ति व मरण के समय जीव की उपाधि होने से जीवात्मा कहलाने वाले मन आदि

अस्मिन् मायामये कार्ये वाग्बुद्ध्योरप्यगोचरे। यद्वदत्ययमस्माकं पथ्यं तत् सर्वथैव हि॥४३४॥

अस्याऽव्याहतविज्ञानरूपत्वादज्ञता न हि। न दोषः कोऽपि यस्मात् स वेदो वेदनमेव हि॥४३५॥

वेदनं न जडं प्रोक्तं परिच्छिन्नं च कर्हिचित्। आनन्दात्मा ततः प्राणो वेद एष प्रकीर्तितः॥४३६॥

कस्तं पर्यनुयोक्तुं स्यात् प्रभुरन्यः पुमानिह। चक्षुष्मन्तं स्वजनकं यथान्धो रूपभेदने॥४३७॥

अस्माकमस्माद्वेदात् परो हितकृद् नास्तीत्याह – अस्मिन्निति। मायामये मायाप्रचुरेऽत एव वाग्बुद्ध्योरगोचरे वक्तुं चिन्तयितुमशक्ये च अस्मिन् प्रपंचे स्थितानाम् अस्माकम् उपकाराय वेदो यद्वदति तत् सर्वथैव अस्माकं पथ्यं निःश्रेयसप्राप्तिसाधनमिति यावत्॥४३४॥

तत्र दोषशङ्कां वारयति – अस्येति। अस्य वेदपुरुषस्य अव्याहतविज्ञानत्वात्; सूर्यदर्शनाय प्रवृत्तं चक्षुर्यथा-ऽप्रतिघातं गच्छति तथा अव्याहतं प्रतिघातशून्यं विज्ञानं यस्य एतादृशत्वाद् अज्ञता कुत्रचिदपि विषयेऽज्ञानं न अस्ति। अज्ञताऽभावे च अज्ञताप्रयुक्ता दोषा भ्रमः, प्रमादो, विप्रलिप्सा च वंचनेच्छारूपा, इत्याद्याः कुतः स्युः? अस्य निरावरणज्ञानतां वेद इति नामैवाख्यातीत्याह – यस्मादिति। यस्माद् वेदनमेव शुद्धं ज्ञानमेव वेदपदार्थ इत्यर्थः। चित्प्राधान्येन वेदसृष्टेराकरेषु प्रपञ्चितत्वात् तदभिमानिनोऽपि परमेश्वररूपत्वोक्तेरिति भावः॥४३५॥

वेदनरूपत्वे ब्रह्मरूपतां स्फुटयति – वेदनमिति। वेदनस्य जडत्वं परिच्छिन्नत्वं च मानाभावान्न संभवतीति प्रथमाध्याये[1] प्रपंचितम्। तथा च पूर्णत्वेन चिद्रूपत्वेन च आनन्दात्मा यः प्राणोपाधिरीश्वर उक्तः स एव वेदः। अत एव शब्दब्रह्मेति प्रसिद्धिश्चेति भावः॥४३६॥

यदैवं वेदः परमेश्वरस्तदा तं प्रति दूरे विरोधोद्भावनम् 'अत्र भवतैव[2] कथं नोक्तम्?' इत्याकारकप्रश्नरूपः पर्यनुयोगोऽपि दुष्कर इत्याह – कस्तमिति। तं सर्वज्ञं पर्यनुयोक्तुम् अपि अन्यः कः पुमान् प्रभुः शक्तो भवेत्, न कोऽपीति। तत्र हेतुमज्ञानान्धत्वं सूचयन् दृष्टान्तमाह – चक्षुष्मन्तमिति। रूपस्य भेदने भेदाख्यानप्रसङ्गे यथाऽन्धः चक्षुःशालित्वेन विशेषज्ञं पितृत्वेन मान्यं च पर्यनुयोक्तुं न शक्तः तद्वदित्यर्थः। न च बहवो मिलित्वा पर्यनुयोक्ष्यन्तीति शङ्क्यं; शतमप्यन्धानामेकेन सुचक्षुषा न सममिति न्यायात् पर्यनुयोगकर्तृतायाश्च समेष्वेव दृष्टेरिति भावः॥४३७॥

का प्राण में ही विलय होता है तथा जागरण व जन्म के समय विलीन हुए वे ही मन आदि सदा प्राण से ही पुनः उत्पन्न होते हैं। पितादि से भी अधिक सुहृद् हमारे लिये वेद है॥४३२-४३३॥ जिसका सही-सही कथन और इदमित्थं निश्चय नहीं किया जा सकता ऐसे इस मायिक संसार के विषय में वेद हमें जो बताता है वह हमारे लिये हर तरह से पथ्य ही है, मोक्षलाभ को संभव बनाने वाला ही है॥४३४॥ वेदपुरुष का स्वरूप ऐसा ज्ञान है जिसकी रुकावट करने वाला कुछ नहीं है, अतः उसमें अज्ञान नहीं और उसीसे होने वाले भ्रम, प्रमाद, वंचना की इच्छा आदि दोष भी नहीं हैं। शुद्ध ज्ञान ही वेद-शब्द का अर्थ है॥४३५॥ परिच्छिन्न और जड को कभी वेदन (ज्ञान) नहीं कह सकते। इसलिये परिपूर्ण होने से आनंदरूप व चेतन होने से आत्मरूप प्राणोपाधिक ईश्वर ही वेद है'॥४३६॥ शब्दराशि शरीरस्थानीय उपाधि है व उसका अधिष्ठाता परमेश्वर है। जैसे देवदत्त शब्द देह व देही दोनों को कहता है ऐसे वेदशब्द इषेत्वेत्यादि आनुपूर्वी और उसके अभिमानी परमात्मा दोनों का बोधक है।

इसी से 'वेद में ऐसा क्यों बताया', 'ऐसा ही क्यों न बता दिया', 'ऐसा बताना पक्षपातपूर्ण है' इत्यादि आलोचना असंगत है यह कहते हैं– 'जैसे कोई नेत्रवान् पिता विभिन्न रूपों का पृथक्-पृथक् वर्णन कर रहा हो तो उसका अन्धा पुत्र उसके वर्णन में संदेह करे यह असंगत है, ऐसे ही उस सर्वज्ञ की बात में हम जैसा कोई अज्ञानी संदेह करे यह अनुचित है। हममें वह सामर्थ्य ही नहीं कि उसकी बात में शंका करें'॥४३७॥ पिता होने से ही श्रद्धेयवचन है, आँखवाला होने से

१. श्लो. ८३८॥ २. भवतैवमिति स्यात्। भवता वेदेन।

तस्मात् तदुक्तविज्ञाने यावद् बुद्धिः प्रधावति। तावत्तस्य प्रसिद्ध्यर्थं यतितव्यं प्रयत्नतः॥४३८॥
धर्मात्मनो यथा राज्ञः पितुर्वाऽतिहितस्य च। वचनं न परित्याज्यं तथा वेदस्य शासनम्॥४३९॥

दृष्टिसृष्टिवादोपसंहारः

श्रोत्रा वेदस्य विज्ञानात् सुषुप्ताविन्द्रियादिकम्। प्राणे विलीयते तद्वदुत्थाने जायते ततः॥४४०॥
प्रलीयते यथा सुप्तौ प्राणेऽस्मिन्निन्द्रियादिकम्। मरणेऽपि तथा प्राण एतदेवं प्रलीयते॥४४१॥
उत्थाने प्राणतो यद्वत् सर्वमेतत् प्रजायते। जन्मन्यपि तथा प्राणादिदं सर्वं प्रजायते॥४४२॥

'तस्यैषा सिद्धि'रित्यादिवाक्यार्थः

तस्य प्राणस्य देवस्य ह्येषा सिद्धिरुदीरिता। यथा सिद्धिर्निधानस्य भूमिष्ठस्यांजनेन च॥४४३॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां मरणे प्राण एव हि। सिद्ध्यत्यस्माद् वक्ष्यमाणं ज्ञानं सिद्धिरितीरितम्॥४४४॥

तस्मादस्माभिरेतावदेव कर्तव्यमित्याह – तस्मादिति। तस्माद् जीवानां तत्पर्यनुयोगाद्ययोग्यत्वात् तदुक्तविज्ञाने तेन वेदेनोक्तस्यार्थस्य विशेषेण अवधारणे यावद् बुद्धिः प्रधावति प्रसर्पति, तत्परा भवतीति यावत्, तस्य बुद्धिप्रधावनस्य सिद्ध्यर्थमस्माभिः प्रयत्नतो यतितव्यं सावधानैर्भवितव्यमित्यर्थः॥४३८॥

ज्ञात्वा च तन्निष्ठैर्भवितव्यमित्याह – धर्मात्मन इति। श्रोत्रा – इति उत्तरश्लोकादपकृष्यते। तथा च – धर्मिष्ठराजवाक्यवद् अतिहितपितृवाक्यवच्च वेदस्य शासनं श्रोत्रा न परित्याज्यम् इत्यन्वयः॥४३९॥

फलितमाह – श्रोत्रेति। वेदसम्बन्धिविज्ञानाच्च अयमर्थः सिद्धः। तमर्थमभिनयति – सुषुप्तावित्यादिना। आदिपदेन विषयाणां व्यापाराणां च ग्रहः। उत्थाने जागरणे॥४४०॥ प्रसिद्धसुप्तिवद् महासुषुप्तितया प्रसिद्धे मरणेऽपि लयोदयौ **बोध्यावित्याह** – प्रलीयत इति द्वाभ्याम्। तथात्वं स्पष्टयति – प्राण इति। प्राण एतद् इन्द्रियादिकमेवं सुप्तौ उक्तक्रमेण प्रलीयत इति चतुर्थपादार्थः॥४४१॥ उत्थान इति। जन्मनि पुनर्जन्मकाले॥४४२॥

और भी अधिक। ऐसे ही स्वयं ईश्वर होने से ही विश्वसनीय है, सर्वज्ञ होने से और भी अधिक। जैसे सैकड़ों अंधे मिलकर भी आँखवाले का विरोध करें तो भी उसकी बात गलत सिद्ध नहीं होती, ऐसे सभी अज्ञानी एकमत होकर वेद को गप्प घोषित करें तो भी वह प्रमाण ही है। इससे स्पष्ट किया कि द्वैतवादी जो यह लांछन लगाते हैं कि 'अत्यंत असंभव अद्वैत वेद कैसे बता सकता है?' तथा 'बताना स्वयं अद्वैतविरुद्ध होने से अद्वैत वेद का उपदेश नहीं' इत्यादि, वह सब उनकी अनधिकार चेष्टा है।

'इसलिये वेदद्वारा कही बातों का निःशंक निश्चय करने में जहाँ तक हमारी बुद्धि की गति है वहाँ तक सावधानी से कोशिश करनी चाहिये कि वेदसिद्धान्त ही युक्ति आदि से पुष्ट होवे। जैसे धर्मात्मा राजा और अत्यन्त हितकारी पिता की बात मानी ही जाती है, उसकी उपेक्षा या काट नहीं की जाती, वैसे वेद का उपदेश भी तत्परता से मानना चाहिये॥४३८-४३९॥ जो सही ढंग से श्रवण करेगा उसे वेद के प्रकृत प्रसंग से यह समझ आयेगा : सुषुप्ति में इन्द्रियाँ, उनके विषय और व्यापार, प्राण में लीन होते हैं और जागरण होने पर प्राण से ही उत्पन्न होते हैं। जैसे दैनंदिन सुषुप्ति में ऐसे ही महासुषुप्तिरूप मरण में भी ये इंद्रियाँ आदि इसी तरह प्राण में विलीन हो जाते हैं। जिस प्रकार जगने पर ये सब प्राण से उत्पन्न हो जाते हैं उसी प्रकार प्राणी का जन्म होने पर प्राण से ही ये सब पैदा होते हैं'॥४४०-४४२॥ इस प्रकार कौषीतकी उपनिषत् ने सुषुप्ति में सब का प्राण में विलय कहकर जिस दृष्टिसृष्टि को सूचित किया उसे आचार्य श्रीशंकरानंद जी ने यहाँ (श्लो. ३१४-४४२) पूर्ण विस्तार से स्पष्ट किया। संभवतः दृष्टिसृष्टि का इतना हृदयग्राही और सिद्धांतनिष्ठा के अनुकूल वर्णन अन्यत्र न मिल सके।

मरणवर्णनम्

व्याध्यादिना यदा दुःखमसह्यं प्राप्नुयात् पुमान्। मुमूर्षुर्बलशून्यत्वाच्छक्तो वक्तुं न चैव हि[१]॥४४५॥

एवंभूतां तदा वीक्ष्य दशां दीनतमामिमाम्। बान्धवाः परिवृत्त्यैनं पृच्छन्त्यातुरचेतसः॥४४६॥

जानासि मां प्रियं पुत्रं मां जानास्यपि ते प्रियम्। एवमादि स उक्तोऽपि यदा काष्ठसमः पुमान्॥
न जानाति तदाऽऽहुस्त उत्क्रान्तज्ञान एव हि॥४४७॥

एवं 'यत्र' (कौ.३.३) इत्यादिवाक्यार्थं सविस्तरमुपवर्ण्य अथ 'तस्यैषा सिद्धिः' (कौ.३.३) इत्यादि 'सहोत्क्रामतः' (कौ.३.४)[२] इत्यन्तं वाक्यं व्याकरोति – तस्य प्राणस्येत्यादिषोडशभिः। तस्य पूर्वमद्वितीयतया वर्णितस्य प्राणस्य प्राणोपाधेः देवस्य एषा वक्ष्यमाणा सिद्धिः सिद्धेर्निश्चयस्य साधनं मरणेऽन्वयव्यतिरेकानुसन्धानरूपमुक्तमित्यर्थः। सिद्धिशब्दस्य सिद्धिसाधने लक्षणया वृत्तिं सदृष्टान्तमाह – यथेत्यादि। यथा भूमिष्ठस्य निधानस्य निधेः अंजनेन सिद्धौ सत्यामंजनं सिद्धिरित्युच्यते, तथा मरणकालेऽन्वयव्यतिरेकाभ्याम् अनुसन्धीयमानाभ्यां प्राण एव सर्वात्माऽस्तीत्येषोऽर्थः सिद्ध्यति निश्चितो भवति। अस्माद् हेतोः वक्ष्यमाणम् अन्वयव्यतिरेकज्ञानं सिद्धिरिति उक्तमिति द्वयोरर्थः॥४४३-४४४॥

व्याध्यादिनेति। यदा यत्रावस्थायां पुमान् मनुष्यत्वादिना प्रसिद्धो व्याध्यादिनाऽसह्यं दुःखं प्राप्नुयाद् आतुरो भवेदिति यावत्, अथ मुमूर्षुः भवति, ततो बलशून्यत्वात्, श्रुतौ 'आबल्य'पदेनोक्तं बलशून्यत्वं प्राप्य वक्तुम् अपि न शक्तो भवति, संमूढो भवतीति यावत्॥४४५॥

एवमिति। परिवृत्त्य वेष्टयित्वा स्थिता इति शेषः। वक्ष्यमाणप्रकारेण पृच्छन्ति॥४४६॥

उपनिषत् में इन्द्रदेव ने बताया है कि जीवन में ही नहीं मरण में भी जीव प्राणोपाधिक ही है। मरणावस्था जीव की प्राणोपाधिकता स्पष्ट करती है, उसमें प्रमाण है। जब व्यक्ति मृत्युशय्या पर होता है तब इसके हाथ-पैर शिथिल पड़ जाते हैं और अपने बंधु आदि को यह पहचान नहीं पाता। आस-पास वाले कहते हैं 'अब इसका मन उत्क्रमण कर गया क्योंकि इसने सुनन-समझना बंद कर दिया। तब उसमें प्राण ही रह जाता है, नाम आदि समेत वाणी आदि इसी में लीन हो जाते हैं। मरने वाला प्राणी जब शरीर छोड़ता है तो वाणी आदि सब उसके साथ जाते हैं। उस समय वाणी आदि अपने व्यापार नहीं करते अतः उनसे कोई भोग जीव नहीं कर पाता। इस तरह विषय-इन्द्रियादि सब का प्राण में अर्थात् प्राणोपाधिक परमात्मा में विलय होता है जिसे 'सर्वाप्ति' कहा जाता है। पाँच वृत्तियों वाले वायुविशेष को यहाँ प्राण नहीं कह रहे बल्कि क्रियाशक्ति व ज्ञानशक्ति वाले आत्मा को प्राणशब्द से सूचित कर रहे हैं। प्राण व प्रज्ञा इस शरीर में साथ ही रहते हैं और साथ ही इससे निकलते हैं। यह विषय सोलह श्लोकों से समझायेंगे।

'जीवन-मरण में प्राण के अन्वय-व्यतिरेक का विचार करना ही उस प्राणोपाधिक महादेव का निश्चय करने का तरीका है। जैसे भूमि में गड़े खजाने का ज्ञान तभी होता है जब एक विशेष अंजन आँखों में लगा लें, ऐसे ही मरण-काल में होने वाले अन्वय-व्यतिरेक का अनुसंधान करने से ही यह निश्चित होता है कि प्राण ही सर्वात्मा है। इसी से अभी जो अन्वय-व्यतिरेक बताने जा रहे हैं उसे वेद ने सिद्धि-शब्द से कहा है'॥४४३-४४४॥

'जिस अवस्था में मनुष्य रोगादि के असह्य दुःख से आतुर हो मरा ही चाहता हो तब शक्तिहीन होने से वह कुछ बोल भी नहीं पाता॥४४५॥ उसकी ऐसी अतिदीन दशा देखकर दुःखी बांधव उसे घेरकर यों पूछते हैं:॥४४६॥ 'मैं आपका प्रिय पुत्र हूँ, पहचान रहे हो?', 'मुझे अपने प्रिय मित्र को पहचानते हो?' इस तरह के प्रश्न पूछे जाने पर भी जब वह

---

१. यद्यप्यशक्तो वक्तुमथापि पृच्छन्तीति प्रियापुत्रादीनां दुःखदत्वमेवं स्पष्टीकरोति। २. श्लो. २९६ टिप्पणे श्रुतिरुक्ता। सर्वाप्तिरित्यनन्तरं 'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः सह ह्येतावस्मिञ्छरीरे वसतः सहोत्क्रामतः' इति वाक्यमास्ते।

यद्यनुत्क्रान्तविज्ञानः शृणुयाच्चावलोकयेत्। वदेद् वा पूर्ववन्नायं तादृक् तस्मादचित्तकः॥४४८॥
अस्मिन्नवसरे सर्वे वागाद्याः करणाभिधाः। स्वैः स्वैस्तैर्विषयैः सार्धं लीयन्ते प्राण एव ते॥४४९॥
यदाऽयं जनिमान् भूयात् पुमान् सुप्तप्रबुद्धवत्। ततः प्राणादिमे प्राणा जायन्ते ससुतादयः॥४५०॥
मरणावसरे पुंसः स्वामिनो भृत्यवत् स्थिताः। त्यजन्त्येनं यथा नाथमसमर्थं प्रजा इमे॥४५१॥
अलब्धवित्तका यद्वद् भटाः संग्राममूर्धनि। त्यजन्ति स्वामिनं तद्वद् वागाद्या मरणे ध्रुवम्॥४५२॥
यथा वैश्यस्य सन्त्यागे पत्तने नाऽऽपणादिकम्। एवं वागादिसन्त्यागाद् नरि नो वचनादिकम्॥४५३॥

जानासीति। मां प्रियं पुत्रं जानासि? मां ते प्रियं सुहृदं जानासि? इति एवमादिकं प्रश्नवाक्यम् उक्तः श्रावितः अपि मुमूर्षुः यदा न जानाति तदा ते समीपस्थाः पुत्रादयः एवम् आहुः। 'एवं' कथम्? यदयम् उत्क्रान्तज्ञानो जातः। उत्क्रान्तं गतं ज्ञानं श्रुतौ 'चित्त'पदेनोक्तं यस्य स तथा॥४४७॥ यदीति। यदि अनुत्क्रान्तज्ञानो भवेत् तर्हि पूर्ववत् श्रवणादिकं कुर्याद्, अयं तु तादृक् पूर्ववच्छ्रवणादिकर्ता न भवति, तस्मादचित्तक उत्क्रान्तज्ञान एवेति॥४४८॥

अस्मिन्निति। अस्मिन्नवसरे ज्ञानोत्क्रमणव्यवहारकाले सर्वे वागाद्याः स्वविषयैः सह प्राण एव लीयन्त इति॥४४९॥

तैर्वागाद्यैर्लीनैः सहैव शरीरान्तरं गच्छति तत्र च प्राणात् सर्वे वागाद्या जायन्त इत्याह – यदाऽयमिति। यथा सुप्तः प्रबुद्धो भवति एवं यदा मृतः पुमान् पुनः जनिमान् भूयात् तदा प्राणाद् एव इमे वागाद्याः ससुतादयः सुतादिभिर्बाह्यैः विषयैः सह जायन्त इत्यर्थः॥४५०॥

ननु मरणकालेऽपि वागादयो भोगं कुतो न प्रयच्छन्तीति शंकां वारयति – मरणेति। स्वामिनः पुंसः कार्यकरणाभिमानिनो जीवस्य ये पूर्वं भृत्यवत् स्थिताः वागादय आसंस्त एनं पुमांसं मरणावसरेऽसमर्थं सन्तं त्यजन्ति तदर्थविषयव्यापारादुपरम्य भोगं न प्रयच्छन्तीति यावद्, यथा असमर्थं राजानं प्रजाः त्यजन्ति तद्वदिति॥४५१॥

दृष्टान्तान्तरमाह – अलब्धेति। न लब्धं वित्तं यैरेतादृशा भृत्याः संग्राममूर्धनि संग्रामस्य मस्तकसमे प्रधानकाले यथा त्यजन्ति तथा वागाद्या आत्मत्वाभिमानलक्षणं वित्तमप्राप्ता मरणकाले त्यजन्तीति॥४५२॥

ननु वाचं विनाऽपि नामव्यवहारो, घ्राणं विनाऽपि गन्धव्यवहार इत्येवं करणव्यवहारा अन्यतोऽपि कुतश्चित् स्युरिति चेत्? न, अन्यसाध्यव्यवहारस्य अन्येन अदर्शनाद् इति सोदाहरणमाह – यथा वैश्यस्येति। यथा वैश्यजात्या नगरस्य सम्यक् त्यागे कृते सति पत्तने तत्र नगर आपणादिकं वैश्यजातिसाध्यं वाणिज्यादिकं न दृश्यत एवं वागादिभिः सन्त्यागाद् हेतोः नरि पुरुषे वचनादिकं नो दृश्यत इति। एतेन वागादिकं स्वस्वविषयमभिविसृज्यते त्यजति तद्विना च तत्कार्यं दुर्लभमित्यर्थकं 'वागेव' इत्यादिपर्यायचतुष्टयं[१] व्याख्यातम्॥४५३॥

व्यक्ति लकड़ी की तरह पड़ा रहता है तब वे बांधव कहते हैं 'अब यह जान नहीं रहा क्योंकि इसकी ज्ञानशक्ति का उत्क्रमण हो गया है। अन्यथा पहले की तरह सुनता, देखता या बोलता। ऐसा कुछ नहीं कर रहा अतः अब यह निश्चित्त है।' यही वह समय होता है जब करण कहलाने वाले सभी वाणी आदि, अपने विषयों समेत प्राण में ही विलीन हो जाते हैं॥४४७-४४९॥ जब यह प्राणी सोये से जगे की तरह पुनः पैदा होता है तब अपने सुतस्थानीय बाह्य विषयों सहित ये वाणी आदि गौण प्राण इस प्रकृत प्राण से ही उत्पन्न हो जाते हैं।'॥४५०॥

मरते समय वाणी आदि से भोग क्यों नहीं प्राप्त होता? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं– 'जैसे दुर्बल राजा के लिये उसकी प्रजा काम करना छोड़ देती है वैसे ही ये वागादि प्राण, जो पहले स्थूल-सूक्ष्म के अभिमानी जीव की उसी तरह सेवा

१. 'वागस्मात्सर्वाणि नामान्यभिविसृजते वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति' इत्यनन्तरं 'घ्राणोस्मात्सर्वान् गन्धानभिविसृजते... चक्षुरस्मात्... श्रोत्रं... मन...' इति पर्यायाः श्रूयन्ते।

रिपुणातिबलिष्ठेन प्रभौ विनिहते यथा। संश्रयन्ति भटाः स्वामिभक्ता अन्यं प्रभोः प्रभुम्।।४५४।।

तथा च सर्वाप्तिः सिद्धा

एवमेते सविषया देवाः करणसंयुताः। शरीरे पतिते देहनाथं प्राणं समाययुः।।४५५।।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेवं सर्वाप्तिरिष्यते। प्राणतो नैव तस्मात् स्याद्विभिन्नं किञ्चिदत्र हि।।४५६।।

प्राणप्रज्ञानयोरैक्यमेकदोत्क्रान्तिवासतः। यदुक्तं तत् स्थितं यस्मादप्राणे नास्ति वेदनम्।।४५७।।

तत्र देहेऽनुपलभ्यमाना वागाद्याः कुत्र यान्ति इति चेत्? प्राण एवेत्याह – रिपुणेति। स्वल्पदेशाधिपतेः सामन्तस्य सम्राट्कार्याय युद्ध्यमानस्य भृत्याः स्वामिनि सामन्ते बलिष्ठेन रिपुणा निहते सति अन्यपार्श्वे जिगमिषन्तोऽपि स्वामिभक्तत्वात् प्रभोः सामन्तस्य प्रभुम् एव श्रयन्ति।।४५४।। एवमिति। एवमेते वागाद्याः यः सम्राट्स्थानीय-प्राणसामन्तनिभो मनुष्योऽहमित्यादिरूपेण कार्यकरणाभिमानी जीवः तस्य भृत्यायमानवागाद्याः स्वामिनि शरीरता-दात्म्यापन्ने पतिते मूर्च्छिते सति, देहस्य सर्वसंघातस्य परमनाथं प्राणम् एव समाययुः प्राप्ता इति।।४५५।।

फलितं दर्शयति – अन्वयेति। प्राणसत्त्वे सर्वस्य सत्त्वं, तदुत्क्रमणे तदभाव इत्येवमाकाराभ्याम् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राणस्य सर्वाप्तिः सर्वस्य स्वस्मिन् विलापनरूपाऽऽप्तिः अत्र वाक्य इष्टा। तस्मात् प्राणतो भिन्नं किञ्चिद् अपि न अस्तीति सिद्धम्।।४५६।।

अस्माद् मरणोदाहरणात् प्राणप्रज्ञयोरभेदोऽपि सिद्ध इत्याह – प्राणेति। एकदा सहैव उत्क्रान्तेः वासाच्च यत् प्राण-प्रज्ञयोः ऐक्यमुक्तं तद् अपि स्थितम् इति। कुतः? प्राणोत्क्रमणे ज्ञानमस्योत्क्रान्तमिति पार्श्वस्थानां व्यवहारप्रदर्शनादिति भावः।।४५७।।

करते थे जिस तरह नौकर मालिक की करते हैं, मरते समय सर्वथा असमर्थ हुए इस पुरुष के लिये कुछ नहीं करते।।४५१।। जिन्हे पर्याप्त वेतनादि नहीं मिलता ऐसे योद्धा जिस प्रकार युद्ध के ख़तरनाक मौके पर अपने मालिक को छोड़ देते हैं, उसके लिये नहीं लड़ते, उसी प्रकार यह निश्चित है कि मरणकाल में वाणी आदि जीव को छोड़ भागते हैं, उसके लिये कुछ भी करने को तैयार नहीं होते।'।।४५२।।

वाणी आदि करणों के बिना अन्य किसी तरह करण व्यापार निष्पन्न नहीं हो सकते यह सोदाहरण बताते हैं– 'जैसे जब किसी नगर को सभी वैश्य छोड़ देते हैं तब वहाँ कोई वाणिज्यादि संभव नहीं होता वैसे ही वागादि द्वारा छोड़ दिये गये होने से पुरुष में वचनादि करणसाध्य व्यवहार हो नहीं सकते।'।।४५३।।

मरते हुए शरीर में प्रतीत न होने वाले वाणी आदि करण कहाँ चले जाते हैं? इसका उत्तर देते हैं– 'जिस प्रकार किसी अतिबलशाली शत्रु द्वारा किसी सामन्त के मार दिये जाने पर उस सामन्त के स्वामिभक्त योद्धा उस सामन्त के ही प्रभु अर्थात् सम्राट् की शरण जाते हैं, उसी प्रकार विषयों व करणों सहित देवता जब जीव का शरीरपात होता है तब शरीर के परम मालिक प्राण को ही प्राप्त हो जाते हैं'।।४५४-४५५।। सम्राट् के अंतर्गत अनेक सामन्त या ठाकुर होते हैं जो स्वयं छोटे-छोटे राजा-जैसे ही होते हैं। उनका विनाश होने पर योद्धाओं को किसी की शरण तो लेनी ही पड़ेगा किंतु स्वामिभक्त होने से वे अपने मालिक के मालिक के पास ही जाते हैं। दार्ष्टांत में सम्राट् तो है प्राण और योद्धा है करण। 'मैं मनुष्य हूँ' इत्यादिरूप से स्थूल-सूक्ष्मशरीरों में अभिमान करने वाला जीव ही सामन्तस्थानीय है। मृत्यु को अतिबली शत्रु समझना चाहिये।

'इस प्रकार प्राण रहते सबका रहना रूप अन्वय और प्राण का उत्क्रमण होने पर सब का न रहना रूप व्यतिरेक, इनसे प्राण की सर्वाप्ति पता चलती है अर्थात् मालूम पड़ जाता है कि वह सबका स्वयं में विलापन कर लेता है। इसलिये प्राण से भिन्न कुछ भी नहीं है।।४५६।। एक-साथ ही निवास और उत्क्रमण से वह भी निश्चित हो जाता है जो पहले कहा

यथा प्राणोऽत्र न श्वासमात्रं किन्तु परः पुमान्। तथा प्रज्ञाऽपि नो बुद्धिः किन्तु संवित् स्वयम्प्रभा॥४५८॥

प्रज्ञाया अद्वितीयता

संविदेका यथा भूयाद् बहुधाऽप्येकधा तथा। शृणु राजन् हि वक्ष्यामि तं त्वमेकाग्रमानसः॥४५९॥

वागादिभिः प्रज्ञादोहनम्

पञ्चज्ञानेन्द्रियाण्येव पञ्चकर्मेन्द्रियाणि च। देहोऽन्तःकरणं चेति द्वादशाऽत्र विभेदिकाः॥
प्रज्ञाया विषयैः स्वैः स्वैर्व्यापारैर्विषयीकृतैः॥४६०॥

उपाध्योः प्राणप्रज्ञयोरद्वितीयत्वे च तदुपलक्षितस्य अद्वितीयत्वं सुबोधमिति दर्शयितुं प्राणप्रज्ञयोर्लक्ष्यमभिनयति – यथा प्राणोऽत्रेति। स्पष्टम्॥४५८॥

तत्र प्राणस्याद्वितीयता स्फुटीकृता। अथ प्रज्ञाया अद्वितीयतास्फुटीकरणपरम् 'अथ यथाऽस्यै' (कौ.३.४)[१] इत्यादिश्रुतिग्रन्थं व्याकुर्वन् प्रज्ञावाक्यार्थमाह – संविदेकेति। संवित् प्रज्ञापदलक्ष्यार्थरूपा वस्तुत एकाऽपि यथा येन प्रकारेण उपाधेर्बहुधाभवनरूपेण बहुधा बहुविधेव भवेत्, तथा बहुधा भासमाना पुनः एकधा यथा भवेत्, तं प्रकारं वक्ष्यामि; त्वमेकाग्रमानसः सन् शृणु इति॥४५९॥

था कि प्राण और प्रज्ञा एक हैं। क्योंकि प्राणरहित में कोई ज्ञान नहीं रहता इसलिये दोनों भिन्न नहीं हैं॥४५७॥ इस प्रसंग में जैसे प्राण केवल श्वास-प्रश्वास नहीं किंतु परम पुरुष परमेश्वर ही है वैसे प्रज्ञा भी केवल बुद्धि नहीं किंतु स्वयम्प्रकाश ज्ञान ही है।'॥४५८॥

प्राण की अद्वितीयता तो स्पष्ट की जा चुकी है क्योंकि उसे ही सब भेदों का कारण सिद्ध किया। अब प्रज्ञा की अद्वितीयता स्फुट करेंगे। उपनिषत् में भी इस बात को समझाया गया है कि विषयों समेत वागादि ज्ञानशक्तिरूप प्रज्ञा में, चैतन्यरूप साक्षी में किस तरह एक हो जाते हैं। वागिन्द्रिय ने प्रज्ञा का एक हिस्सा अपने अधीन कर लिया, जैसे गाय का एक स्तन दुह लिया जाता है ताकि उससे प्राप्त दूध हमारे अधीन हो जाता है। वाक् का विषय जो नाम, वह भूत के भागरूप से बाहर निर्मित हुआ। इसी प्रकार घ्राण ने भी प्रज्ञा का एक हिस्सा मानो दुह लिया और उसका विषयभूत गंध भूतभागरूप से बाहर निर्मित हुआ। ऐसे ही चक्षु, श्रोत्र, रसना, पार्णींद्रिय, शरीर, उपस्थ, पादेंद्रिय, और मन ने एक-एक भाग स्वाधीन किया और इनके क्रमशः विषय जो रूप, शब्द, अन्नरस, कर्म, सुख-दुःख, आनन्द रति व प्रजाति, गति, विचार व कामना, ये सब भूतभागरूप से बाहर निर्मित हुए। यहाँ शरीर का विषय सुख-दुःख, उपस्थ के तीन विषय और मन के दो विषय कहे हैं। शरीर से त्वगिन्द्रिय अभिप्रेत है व स्पार्श सुख-दुःख उसके विषय कहे समझने चाहिये। रति से क्रीडा, प्रजाति से उत्पादन और आनंद से धातु विसर्ग समझने चाहिये। यह सब अनुभूतिप्रकाश में स्पष्ट है। वहाँ यह भी बताया है कि प्रज्ञा का अभिमान-नामक अंश वागादि ग्रहण करते हैं। प्रज्ञा के अभिमान से ही वागादि अपने व्यापार में सक्षम हैं। सभी इंद्रियों में प्रज्ञा का अभिमान है। यही विषय अब पुराणकार बताते हैं।

'हे राजा प्रतर्दन! प्रज्ञाशब्द से लक्षित संवित् (ज्ञान) एक रहते हुए भी जिस प्रकार मानो बहुत तरह की हो जाती है व पुनः एक तरह की हो जाती है, वह प्रकार तुम्हे समझाता हूँ, सावधानी से सुनो॥४५९॥ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, शरीर और अन्तःकरण, ये बारह हैं जो प्रज्ञा को विभिन्न बना देते हैं, मानो उसे बहुत तरह का कर देते हैं। अपने व्यापारों से व्याप्त विषयों से समेत ही ये बारहों इस कार्य को करते हैं'॥४६०॥ पंचदशी के पंचतत्त्वविवेकप्रकरण में भी स्पष्ट किया है कि जागरण में विविध स्वरूपों वाले प्रतीत होने वाले शब्दादि विषयों से संवित् पृथक् है, एक ही

---

१. 'अथ खलु यथाऽस्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकं भवन्ति तद्व्याख्यास्यामः' इति चतुर्थकण्डिकाया अन्त्यं वाक्यम्।

नामादानगतित्यागसुखाख्या विषया इह। कर्मेन्द्रियाणां कथिताः प्रज्ञाभेदकृता इमे॥४६१॥

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा ज्ञानेन्द्रियादृताः। विषया नियतास्ते हि प्रसिद्धा लोकवेदयोः॥४६२॥

देहस्य विषयावेते सुखदुःखे इहेरिते। तथान्तःकरणस्याऽपि कामाद्याः विषयाः श्रुताः॥४६३॥

यथा द्वादशगोपाला गामेकां सुपयस्विनीम्। कामधेनुसमां सर्वे दुहन्ति मिलिता अपि।।
स्वार्थसिद्ध्यर्थमेवं ते वागाद्या अप्यदूदुहन्॥४६४॥

अथ प्रज्ञाबहुधाभवनविधाप्रदर्शकस्य 'वागेव' इत्यादेः 'कामाः परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा' (कौ.३.५)[१] इत्यन्तस्य वाक्यार्थमाह – पञ्चेत्यादिसप्तभिः। अत्र श्रुतौ ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि देहोऽन्तःकरणं च एतानि प्रज्ञाया विभेदकानि विवक्षितानि। कैर्भेदकानि? विषयैः। कीदृशैर्विषयैः? स्वैः स्वैर्व्यापारैर्विषयीकृतैः व्याप्तैरित्यर्थः। तत्र त्वचो देहे, पायोश्चोपस्थेऽन्तर्भावं विवक्षित्वा दशैवोक्तानीत्यवधेयम्॥४६०॥

एतेषां विषयान् दर्शयति – नामेति त्रिभिः। नाम च, आदानं ग्रहणं च – श्रुतौ कर्मपदोक्तम्– गतिश्च – श्रुतावित्या–पदेनोक्ता – त्यागश्च – अन्तर्भावाभिप्रायेणानुक्तः – सुखं च – श्रुतावानन्दरतिप्रजातिपदैरुक्तम्; इमे क्रमेण कर्मेन्द्रिय–विषयाः। कीदृशाः? प्रज्ञाभेदेन इन्द्रियावच्छिन्नप्रज्ञाभागेनकृताः कल्पिताः, दृष्टिसृष्टेरुक्तत्वादिति॥४६१॥ शब्देति। शब्दादयो ज्ञानेन्द्रियैरादृता आदरेण गृहीता विषयाः। तत्र स्पर्शस्य सुखदुःखयोरन्तर्भावो विवक्षित इति बोध्यम्॥४६२॥ देहस्येति। देहरूपकरणस्य सुखदुःखे विषयौ देहाद् बहिः तयोरनुपलब्धेरिति भावः। अन्तःकरणस्य कामा इच्छाविशेषाः, आदिपदेन सङ्कल्पादयो विषयाः श्रुताः श्रुतौ भूतमात्रापदेनोक्ता भूतानां पृथिव्यादीनां मात्रा लेशा इति तदर्थः॥४६३॥

एतैः प्रज्ञाया विभागे दृष्टान्तमाह – यथेति। यथा द्वादशगोपालाः सुपयस्विनीं प्रचुरदुग्धां, शीलेन कामधेनुसमां च एकां गां दुहन्ति तद्विकारं पयस्ततः पृथक्कुर्वन्ति; किमर्थम्? स्वार्थस्य स्वप्रयोजनस्य सिद्ध्यर्थम्। एवं ते वागाद्याः प्रज्ञामेकाम् अदूदुहन् चिदाभासत्वेन प्रसिद्धान् प्रज्ञाभागान् पृथक्कृतवन्त इत्यर्थः। अदूदुहदित्यस्य अदूहूम्[२] इति विपरिणामः श्रुतौ॥४६४॥

स्वरूप वाली है, वास्तव में विभिन्न नहीं, उपाधि से चाहे अलग–अलग लगती हो।

बारहों के विषय दिखा देते हैं– 'इन्द्रियों से अवच्छिन्न (= उनके द्वारा स्वाधीन बनायी, उनसे सीमित, उनमें अभिमान वाली) प्रज्ञाभाग से कल्पित ये विषय बताये जाते हैं: नाम, ग्रहण करना, गति, विसर्ग और सुख– ये कर्मेन्द्रियों के विषय हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंध; ये विषय हैं जिनका ज्ञानेंद्रियाँ आदरपूर्वक ग्रहण करती हैं। विषय–इंद्रियों का ग्राह्य–ग्राहकभाव नियत रहता है। ये विषय शास्त्रों में कहे हैं और अनुभवसिद्ध हैं॥४६१–४६२॥ देहरूप करण के विषय हैं सुख व दुःख क्योंकि देह से बाहर इनका हमें अनुभव नहीं होता। इसी तरह कामना आदि को अंतःकरण के विषय बताया जाता है'॥४६३॥ यहाँ पुराण में कौषीतकी के शरीरपद को यथाश्रुत ही उपपन्न किया है। अन्यत्र इससे त्वक् सूचित मानकर व्यवस्था बनायी है। परिगणन में तो तात्पर्य है नहीं अतः अभिप्राय एक ही है। बल्कि शरीर को एक इकाई भी

---

१. 'वागेवास्या एकमङ्गमदूहळं तस्यै नाम परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा। प्राण एवास्या एकमङ्गमदूहळं तस्य गन्धः परस्तात् विहिता भूतमात्रा। चक्षुरेवास्या एकमङ्गमदूहळं तस्य रूपं परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा। श्रोत्रमेवास्या एकमङ्गमदूहळं तस्य शब्दः परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा। जिह्वैवास्या एकमङ्गमदूहळं तस्या अन्नरसः परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा। हस्तावेवास्या एकमङ्गमदूहळं तयोः कर्म परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा। शरीरमेवास्या एकमङ्गमदूहळं तस्य सुखदुःखे परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा। उपस्थ एवास्या एकमङ्गमदूहळं तस्यानन्दो रतिः प्रजातिः परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा। पादावेवास्या एकमङ्गमदूहळं तयोरित्याः परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा। प्रज्ञैवास्या एकमङ्गमदूहळं तस्यै धियो विज्ञातव्यं कामाः परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा॥५॥' इति वाक्यम्।

२. अदूहळम् इत्युपलभ्यते पाठः।

शिखां वह्नेर्यथाऽभिन्नां काष्ठैर्द्वादशभिस्त्विह। भिन्नां वदन्ति मनुजास्तद्वदेतैरिमां वयम्॥४६५॥

यथा द्वादशभिर्दीपैः प्रकाशा विषयेष्विह। प्रजायन्ते द्वादशधा तथा भूतेषु बोधनम्॥४६६॥

'प्रज्ञया वाचं समारुह्य' इत्यादेरर्थः

इदं द्वादशधा सर्वं ज्ञानकर्मेन्द्रियात्मकम्। शरीरं बुद्धिसहितं प्रज्ञातादात्म्यमागतम्॥
स्वं स्वं विषयमाप्नोति प्रज्ञाविरहितं न हि॥४६७॥

एकस्याः प्रज्ञाया उपाधिवशादनेकधाभावे दृष्टान्तमाह - शिखामिति। यथा वह्निशिखामेकां द्वादशभिः काष्ठैः उपाधिभिः भिन्नां मनुजा वदन्ति तद्वद् इमां प्रज्ञाम् एतैः वागाद्यैः भिन्नीकृतां वयम् औपनिषदा वदाम इत्यर्थः॥४६५॥

येन येनेन्द्रियेण यो यः प्रज्ञाभागः पृथक् कृतः तत्तदिन्द्रियविषयः तेन तेन प्रकाश्यत इति श्रुतिगतप्रतिविहिता-पदार्थं दर्शयति - यथा द्वादशभिरिति। यथा द्वादशभिर्दीपैः द्वादशधा द्वादशप्रकाराः प्रकाशा विषयेषु गृहादिदेशेषु जायन्ते, तथा द्वादशभिर्वागाद्यैः भूतेषु भूतमात्रारूपेषु विषयेषु एकं बोधनं प्रज्ञास्वरूपं द्वादशधा जायते द्वादशरूपैर्विषयान् प्रकाशयतीत्यर्थः॥४६६॥

अथ प्रज्ञाया अविभागप्रदर्शनपरं 'प्रज्ञया वाचम्' इत्यादि 'ध्यानान्याप्नोति' (कौ.३.६) इत्यन्तं वाक्यं[१] व्याकरोति - इदमिति। इदं सर्वं ज्ञानकर्मेन्द्रियात्मकं करणवृन्दं शरीरेण बुद्ध्या च सहितं तद् द्वादशविधं यदुक्तं तत् प्रज्ञया तादात्म्यं वक्तास्मि द्रष्टास्मि श्रोतास्मि इत्याद्यभिमानरूपं श्रुतौ समारोहणत्वेन उक्तं समागतं प्राप्तं सदेव स्वं स्वं स्वकीयं नामादिकं विषयं प्राप्नोति, प्रज्ञां विना तु न प्राप्नोतीति। तथा च प्रज्ञां विना इन्द्रियाऽभावाद् इन्द्रियाभावे च विषयाभावाद् विषयाणामिन्द्रियमात्रत्वाद् इन्द्रियाणां च प्रज्ञामात्ररूपत्वात् सिद्धः प्रज्ञाया अविभागः, यथा घटानां मृन्मात्रत्वे मृद इति भावः॥४६७॥

मानना ही चाहिये यह अनुभव से भी लगता है।

'वाणी आदि ने प्रज्ञा को ऐसे दुहा मानो प्रचुर दूध देने वाली और कामधेनु के समान शील वाली किसी एक गाय को अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये बारह ग्वाले मिलकर दुह रहे हों!'॥४६४॥ चिदाभासरूप से प्रसिद्ध प्रज्ञाभागों को प्रज्ञा से पृथक् करना ही उसका दोहन है। भाग न होने पर भी भाग की तरह होने से आभास भाग कहा जाता है। महर्षि बादरायण ने भी चिदाभास को अंश कहा है। इंद्रियाँ जब व्यापार करती हैं तब उन व्यापारों में तादात्म्याध्यास से प्रज्ञा का यह समझना कि 'मैं देख रहा हूँ' इत्यादि ही यहाँ आभास है। चाहे जिस समय थोड़ा-बहुत दूध जिससे दुहा जा सके ऐसी गाय को लोक में कामधेनु कह देते हैं। प्रकृत में भी करण चाहे जब भागग्रहण कर ही लेते हैं।

'जैसे वह्निरूप होने से ज्वाला एक ही है, फिर भी उपाधिरूप बारह लकड़ियों द्वारा प्रकट होने पर लोग ज्वाला को भिन्न-भिन्न कह देते हैं ऐसे ही वागादि द्वारा औपाधिक भेद को प्राप्त इस प्रज्ञा को हम विभिन्न कह देते हैं'॥४६५॥

जिस इन्द्रिय ने जो प्रज्ञाभाग स्वायत्त किया है उस इंद्रियका विषय उसी प्रज्ञाभाग से प्रकाशित होता है यह स्पष्ट करने के लिये कहते हैं- 'जैसे बारह दीपों से बारह प्रकार के प्रकाश विषयों पर पड़ते हैं वैसे एक ही प्रज्ञा बारह तरह से विषयों को प्रकाशित करती है'॥४६६॥ दृष्टांत में वह्नि वही है, दीपक के आवरणादिभेद से प्रकाश बारह रंगों का या आकारों का हो जाता है। दार्ष्टांत में प्रज्ञा एक ही है, उपाधि भूत इंद्रियों से वह विविध स्वरूपों वाली हो जाती है एक ही बिजली उपकरणभेद से गर्म, ठंडा, प्रकाश, गति आदि विविध कार्य करती दीखती है, ऐसे ही प्रकृत में उपाधि-

१. 'प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति। प्रज्ञया प्राणं समारुह्य प्राणेन सर्वान् गन्धानाप्नोति। प्रज्ञया चक्षुः ...... रूपाणि ...... श्रोत्रं ...... शब्दान् ...... जिह्वां ...... रसान् ...... हस्तौ...कर्माणि...शरीरं...... सुखदुःखे ...... उपस्थं ...... आनन्दं रतिं प्रजातिं ...... पादौ ...... इत्या ...... धियं ...... प्रज्ञयैव धियो विज्ञातव्यं कामानाप्नोति॥६॥' इति।

वागादयः प्रज्ञाबलेनैव जानन्ति

ज्ञानकर्मेन्द्रियाणीह शरीरं धिषणा तथा। प्रज्ञाबलेन जानन्ति स्वबलेन न किञ्चिन॥४६८॥

यतो भवन्ति वक्तारो नाज्ञासिष्म वयन्त्विदम्। उक्तं दृष्टं सुखं बुद्धमासीदत्र मनो न नः॥४६९॥

ननु वागादयः प्रज्ञानिरपेक्षा एव कुतो न विषयं प्रकाशयेयुरिति चेद्? न, सत्यपि विषयसंबन्धे प्रज्ञां विना प्रकाशव्यतिरेकस्य सर्वानुभवसिद्धत्वाद् इति 'न हि प्रज्ञायेत'[१] इत्यादिपर्यायदशकेनोक्तमर्थमाह – ज्ञानेति द्वाभ्याम्। ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियशरीर-धिषणापदवाच्यान्तःकरणरूपाणि द्वादश करणानि प्रज्ञाया बलेनैव जानन्ति, स्वबलेन स्वसामर्थ्येन तु न किञ्चिज्जानन्ति; प्रज्ञाया अपाये विषयप्रकाशादर्शनादिति॥४६८॥ अत्रार्थे लोकानुभवमभिनयति – यत इति। यत एवं वक्तारो भवन्ति दृश्यन्ते। 'एवं' कथम्? उक्तम् अपि नाम 'नाऽज्ञासिष्म' न वयं ज्ञातवन्तो यतो नः अस्माकं मनः चित्तादात्म्यापन्नप्रज्ञारूपम् अत्र उक्ते नामनि नासीदिति। एवं चक्षुषा दृष्टम् आसीत्, शरीरेण सुखं बुद्धमासीत् तथापि मनसोऽन्यत्र भावाद् नाज्ञासिष्मेति। उपलक्षणं चैतदन्येषाम्। तथा च श्रुत्यन्तरम्- 'अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्' (बृ.१.५.३) इत्यादि। तथा चेन्द्रियव्यापारेऽपि प्रज्ञायाश्चित्प्रतिबिम्बग्राहिण्या व्यतिरेके प्रकाशव्यतिरेकः सर्वानुभवसिद्धः, अन्यथा तथाऽभिलापानुपपत्तेरिति भावः॥४६९॥

भेदवश प्रज्ञा के कार्यभेद हैं। दृष्टांत में घटादि विषय हैं, दार्ष्टांत में भूतभागों को ही विषय कहा है। यद्यपि ज्ञानेन्द्रियों के विषय भूतभाग स्पष्ट हैं तथापि यहाँ बारहों के विषयों को भूतभाग या भूतमात्रा ही कहा है। अभिप्राय है कि सारा ही व्यवहार भौतिक है। क्रिया भी भूतनिष्ठ होने से भूतभाग है। चित्त भी भौतिक होने से उसकी वृत्तियाँ भौतिक ही हैं।

भगवान् इंद्र ने प्रज्ञा का बहुत तरह का होना व एक तरह का होना दोनों बताने की प्रतिज्ञा की थी (श्लो. ४५९)। विभाग तो बता चुके, अब अविभाग बताना है। उपनिषत् में कहा है कि प्रज्ञा से वाणी पर चढ़कर वाणी से सब नाम प्रज्ञा प्राप्त करती है; ऐसे ही पूर्वोक्त बारहों पर चढ़कर उनके विषय प्राप्त करती है। उपनिषद्दीपिका में पुराणकार आचार्य ने ही स्पष्ट किया है कि वाणी द्वारा जिस भाग का दोहन किया जा चुका है उस संविद्रूप से प्रज्ञा वागिन्द्रिय पर चढ़ती अर्थात् तादात्म्य वाली होती है, 'मैं वाणी हूँ' ऐसा अभिमान कर लेती है। इससे वागिंद्रिय उस प्रज्ञा से अभिन्न हो जाती है और यों अपने से अभिन्न वागिंद्रिय से नामों को वह प्रज्ञा ही पा लेती है अर्थात् नामोच्चारण कर लेती है। बिना प्रज्ञा के इंद्रिय कुछ करती नहीं और इंद्रिय के बिना विषयप्राप्ति होती नहीं। जो जिसके बिना नहीं होता वह तद्रूप होता है यह नियम है। धागों के बिना न मिलने वाला कपड़ा धागारूप होता है, सींप के बिना न मिलने वाली चाँदी सींपरूप होती है यह सर्वत्र देखा गया है। अतः इंद्रिय के बिना उपलब्ध न होने वाला नामादि विषय इंद्रियरूप है और ऐसे ही इंद्रिय प्रज्ञारूप है। जैसे वाणी व नाम प्रज्ञा से भिन्न नहीं ऐसे ही घ्राण व गंध, चक्षु व रूप, जिह्वा व रस, हाथ व कर्म, शरीर व सुख-दुःख, उपस्थ व आनंद रति प्रजाति, पाद व गति, मन व विचार कामना, ये सब भी प्रज्ञा से भिन्न नहीं हैं। यही उक्त श्रुति का अर्थ है। इस प्रसंग को स्वयं इंद्र व्यक्त करते हैं।

'यह सब, अर्थात् बारह प्रकार से अवस्थित ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, शरीर और अंतःकरण, प्रज्ञा से तादात्म्य पाकर ही अपने-अपने विषयों को प्राप्त करता है, प्रज्ञा के बिना नहीं'॥४६७॥ मैं वक्ता हूँ, द्रष्टा हूँ इत्यादि अभिमान ही तादात्म्य है। यद्यपि उपनिषद्दीपिका में 'अहं वागस्मीत्यभिमानम्' कहा है तथापि अनुभूतिप्रकाश में 'वक्ष्यामीत्यभिमानोयं वागारोह इतीर्यते' आदि स्पष्ट किया होने से व अनुभवानुसार 'वक्तास्मि' आदि ही तादात्म्य का प्रकार कहना उचित है जो यहाँ सत्प्रसवकार ने कहा है। दीपिका में 'वक्तीति' ऐसी कर्तृव्युत्पत्ति से वाक् शब्द वक्तृपरक समझ सकते हैं। वस्तुतः

---

१. 'न हि प्रज्ञापेता वाङ् नाम किंचन प्रज्ञापयेत्। अन्यत्र मे मनोभूदित्याह। नाहमेतन्नाम प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञापेतः प्राणो गन्धं कंचन ---- गन्धं प्रज्ञासिषमिति। ---- चक्षू रूपं ---- रूपम्---। --- श्रोत्रं --- शब्दं ----। जिह्वाऽन्नरसं ---- अन्नरसं ---। ---हस्तौ कर्म ---कर्म---। शरीरं सुखं दुःखं -----। उपस्थ आनन्दं रतिं प्रजातिं ------ आनन्दं न रतिं न प्रजातिं------। पादौ इत्यां ---- इत्यां ------। धीः काचन सिद्ध्येन्न प्रज्ञायेत॥७॥' इति।

विषया द्वादशैवैते करणैः सङ्गता अपि। प्रज्ञाविरहिता यस्मात् प्रतीयन्ते न कर्हिचित्॥४७०॥
ततः प्रज्ञैवैकरूपा प्राणतादात्म्यमागता। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां करणानां विबोधिनी॥४७१॥

उक्तार्थफलं प्रज्ञाया अविभागमद्वितीयतारूपमभिनीय दर्शयति – विषया इति द्वाभ्याम्। एते नामाद्या द्वादश विषया करणैः सङ्गताः सम्बद्धा अपि प्रज्ञाविरहिताः प्रज्ञां विना न प्रतीयन्ते यथा मृदं विना घटादयो विकारा इति॥४७०॥ तत इति। ततो यद्भानव्याप्यभानकं तत् ततो न भिन्नं यथा घटादयो मृद इति नियमात् करणानां विषयाणां च प्रज्ञामात्रत्वात् प्रज्ञैकरूपैव इति सिद्धम्। न च प्राणभेदशङ्काऽपि; सहोत्क्रमणादिना तदभेदस्योक्तत्वादित्याह – प्राणतादात्म्यमागतेति। ननु केयं प्रज्ञा यस्या ऐकरूप्यमुच्यते? इत्यत आह – अन्वयेति। या स्वीयान्वयव्यतिरेकाभ्यां करणानां विबोधिनी सामर्थ्याधानकरी प्रसिद्धेति॥४७१॥

वागभिमानी देवता की दृष्टि से दीपिकोक्ति जाननी चाहिये। दृष्टिसृष्टि में प्रज्ञा के उक्त अभिमान से अतिरिक्त देवता का स्वरूप है नहीं अतः विषय व इंद्रिय की तरह देवता का भी प्रज्ञा से अभेद बताना उचित है। जीव का मुख्य सामानाधिकरण्य है जबकि देवतादिका बाधसामानाधिकरण्य। अतः जीव का पृथक् वचन नहीं, 'प्रज्ञा प्राप्नोति' यह सीधा अन्वय है। किंतु विद्यारण्यस्वामी ने 'प्रज्ञया वाचमारुह्य जीवो नामानि वक्ति च' कहकर जीव का उल्लेख अध्याहार से माना ही है। सर्वथापि, प्रज्ञातिरिक्त उपलब्ध न होने से सभी कुछ प्रज्ञारूप है यही अभिप्राय है।

आगे उपनिषत् ने स्पष्ट किया है कि प्रज्ञारहित वागादि का विषयसम्बंध हो जाये तो भी वागादि कुछ प्रज्ञापित करा नहीं सकते क्योंकि सब का अनुभव है कि ध्यान अन्यत्र हो तो सामग्री रहते भी बोल, देख आदि नहीं पाते। ऐसा कहते हैं 'मेरा मन अन्यत्र था, मैंने नहीं देखा' इत्यादि। 'मन' या 'ध्यान' का मतलब प्रज्ञारूढ अंतःकरण से ही है, केवल अंतःकरण से नहीं। यह श्रुति ने इससे कहा 'न हि प्रज्ञापेता धीः काचन सिद्ध्येत्' अर्थात् अंतःकरण की कोई भी वृत्ति असाक्षिक नहीं होती। मन के इस प्राधान्य को तो यहाँ बता ही रहे हैं कि पहले यह समझ सकते हैं कि प्राण की तरह मन से अर्थात् अनुभव-सिद्ध प्रज्ञा से सब अभिन्न है व तब प्राण व मन का प्रत्यक् से अभेद समझ आ जायेगा। यह भी याद रखना चाहिये कि प्रज्ञारहित इंद्रियों का सम्बंध यहाँ प्रतिपादित नहीं कर रहे क्योंकि दृष्टिसृष्टि का प्रसंग है। उसे मानकर ही कहा जा रहा है। जब तो 'कुछ देखा था, क्या था यह नहीं पता क्योंकि मन अन्यत्र था' ऐसा अनुभव हो तब प्रज्ञासम्बन्ध है ही। किंतु जब सर्वथा 'कुछ नहीं देखा' ऐसा लगे तब चक्षूरूपसम्बन्ध हुआ था यह अप्रामाणिक होने से प्रकृत में अस्वीकार्य है। यदि ऐसा मानें कि 'मैं द्रष्टा हूँ' आदि अभिमान के उल्लेख के बिना ही प्रतिक्रियादिस्वरूप अनेक व्यापार हो जाते हैं जो अन्यों के वचन से या कार्यलिंगक अनुमान से स्वीकार्य हैं; तब उन व्यापारों को देवताओं के अभिमान से संभव समझना चाहिये। हमें न सही, आदित्य को तो चक्षु में अहन्त्वाभिमान है ही, उसी से विषयव्याप्ति हो जाती है। हर हालत में प्रज्ञा के बिना तो नहीं ही होती यह तात्पर्य है। उपनिषत् के इस खण्ड का वर्णन अब पुराण में किया जा रहा है।

ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, शरीर और मन, ये बारहों प्रज्ञा के बल से ही जानते हैं, अपने विषयों से सम्बद्ध होते हैं; अकेले अपने बल पर कुछ नहीं जानते, विषयवान् नहीं हो पाते॥४६८॥ यह इसलिये स्वीकार्य है कि लोग यों कहते हुए पाये जाते हैं 'हमने भले ही कहा हो, देखा हो, सुख लिया हो, विचार किया हो, पर हमें यह मालूम नहीं क्योंकि हमारा मन यहाँ नहीं था।'॥४६९॥ यद्यपि सुख लेना बिना मालूम हुए नहीं होता तथापि अर्द्धनिद्रा में दूध आदि पिलाये जाने पर प्रसन्नता होती है जो मुखविस्मय आदि के चित्र द्वारा अनुमित हो जाती है जबकि तत्काल या बाद में भी चित्र देखे आदि बिना 'मैंने वह सुख लिया' यह बोध नहीं होता। इसी तरह व्यवस्थित वाक्य बोलने के लिये विचार अनिवार्य है पर जब अन्यमनस्क होकर कुछ कहा जाता है तब 'मैंने क्या कहा' यही नहीं पता होता तो 'उस कथन के लिये क्या विचार किया' यह मालूम होने की संभावना कहाँ? तथापि कोई विश्वस्त व्यक्ति जब बताता है कि क्या कहा था तब मानना ही

'न वाचं विजिज्ञासीते' त्यादेरर्थः

प्राणप्रज्ञास्वरूपं मां ततो विद्धि प्रतर्दन। मा ते भवतु सन्देहो वक्तारं वाग्विवर्जितम्॥४७२॥

ननु उक्तरीत्या प्रज्ञायाः सर्वात्मत्वे वागादयोऽपि सविषयास्तस्या एव रूपाणि इति तेषु आत्मत्वबुद्धौ को दोष इति चेद्? न, तेषां प्रज्ञास्वरूपत्वेऽपि अकृत्स्नरूपत्वाद् यत् कृत्स्नं प्रज्ञास्वरूपमिन्द्रियाद्यनवच्छिन्नं तत्रैव 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्युक्तविधयाऽहंबुद्धिः कर्तव्या इत्यर्थकस्य 'न वाचम्' इत्यादेः 'मन्तारं विद्याद्' (कौ.३.८) इत्यन्तस्य वाक्यस्य[1] अर्थमाह – प्राणेति। ततः प्रज्ञायाः सर्वात्मकत्वाभिधानाद् 'वागादयोपि आत्मत्वेन वेद्या' इत्याकारः ते सन्देहो मा भवतु, किन्तु प्राणप्रज्ञास्वरूपं पूर्णमेव मां विद्धि। पूर्णरूपाभिव्यक्तिहेतुश्च उपाधिविमोक इत्यभिप्रायेण विशिनष्टि – वक्तारमिति। वक्ता हि वाग्रूपकरणविशिष्ट एवाख्यायते यथा छिदाकरणवास्यादिविशिष्ट एव तक्षा च्छेत्ता इति। वाचोऽवच्छेदिकाया विवर्जने तु वक्ता व्यापकप्राणप्रज्ञारूप एव अवशिष्यत इति प्राणप्रज्ञारूप एवाहं वेद्य इत्युक्तमिति भावः॥४७२॥

पड़ता है कि कुछ सोचा भी होगा ही। इस प्रकार चित्प्रतिबिम्ब ग्रहण करने वाली गौण प्रज्ञा के अभाव में भी जब प्रकाश नहीं होता, चाहे इंद्रिय-व्यापार हो जाये, तब मुख्य प्रज्ञा के बिना प्रकाश नहीं होता इसमें कहना ही क्या? और दृष्टिसृष्टि उक्त होने से प्रकाश के बिना द्वैत का अस्तित्व नहीं।

इसका तात्पर्य यही है कि प्रज्ञा अद्वितीय है, यह समझाते हैं– 'ये बारहों विषय करणों से सम्बद्ध होने पर भी प्रज्ञा के बिना क्योंकि कभी प्रतीत नहीं होते इसलिये एकस्वरूप वाली प्रज्ञा ही वास्तविक है। उसी के तादात्म्य से प्राण भी स्थित है अतः प्राण भी उससे भिन्न नहीं। जिस प्रत्यक्प्रकाश के रहते सारा विषय-विषयिप्रपंच रहता है और इस समूचे प्रपंच के बिना भी जो बना ही रहता है, जिसके द्वारा किये अभिमान से ही करणों में विषयसम्बन्ध की सामर्थ्य है, वही प्रज्ञा शब्द से लक्षित किया जा रहा है'॥४७०-४७१॥ प्रज्ञा स्वप्रकाश है अतः अन्य का प्रकाश जब होगा तब प्रज्ञाप्रकाश तो रहेगा ही। इसलिये यह नियम सिद्ध होता है कि जड का प्रकाश व्याप्य है व प्रज्ञाप्रकाश व्यापक। लोक में देखा गया है कि जो (घड़ा) जिसके (मिट्टी के) प्रकाश से व्याप्य प्रकाश वाला होता है वह (घड़ा) उससे (मिट्टी से) भिन्न नहीं होता। मिट्टी का भान हुए बिना घड़े का भान होता नहीं अतः घड़ा मिट्टी से भिन्न नहीं। इसी के आधार पर सारा प्रपंच प्रज्ञा से भिन्न नहीं यह समझना चाहिये।

शंका होती है कि जब प्रज्ञा ही सर्वरूप है तब वागादि भी प्रज्ञा ही हैं, उन्हे आत्मा समझना मिथ्या ज्ञान कैसे? इसी तरह विषय भी प्रज्ञा ही हैं, उन्हें सत्य समझना मिथ्या ज्ञान कैसे? समाधान है कि करण व विषय प्रमा के अपूर्णरूप हैं अतः उन्हे आत्मा या सत्य समझना गलत ही है, करणादि से असीमित जो प्रज्ञामात्र है उसे ही आत्मा जानना सही जानकारी है। इसीलिये कौषीतकी में इंद्र ने स्पष्ट किया है कि वाणी आदि इन्द्रियों को और नाम, गंध आदि विषयों को आत्मा मत समझ लेना, विषय जिसके बिना असिद्ध हैं उस करणसाक्षी आनंदरूप प्रज्ञा को ही आत्मा जानना। बारहों का निषेध उपनिषत् में किया है व उनसे तादात्म्य करने वाली को अर्थात् जिसे वे दुहते हैं, न कि दुह कर निकाले गये दूध के स्थानापन्न आभास को, प्रज्ञात्मा समझने के लिये कहा है। क्योंकि प्रज्ञा का बहुधाभवन अवास्तविक है इसलिये बहुधाभूत प्रपंच को प्रज्ञा नहीं समझना चाहिये चाहे है वह प्रज्ञा से अतिरिक्त नहीं। रस्सी से अतिरिक्त न होने पर भी साँप को रस्सी समझना भूल ही है। इस तथ्य से अनभिज्ञ वल्लभादि वैष्णव अद्वितीय तत्त्व को विकारी मानकर उसे शुद्ध रखने का दम्भ करते हैं जो हास्यास्पद ही है। ब्रह्म घटरूप होगा तो घटनाश से ब्रह्मनाश ही तो मानना पड़ेगा। आगे घटनाश भी

१. 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्याद्। न गन्धं ......घ्रातारं .... रूपं .... रूपविद्यं .... शब्दं .... श्रोतारं .... अन्नरसं .... अन्नरसस्य विज्ञातारं ....कर्म....कर्तारं.... सुखदुःखे .... सुखदुःखयोर्विज्ञातारं ... आनन्दं न रतिं न प्रजातिं.... आनन्दस्य रतेः प्रजातेर्विज्ञातारं.... इत्यां .... एतारं .... मनः ...मन्तारं विद्याद्' इति।

एवं द्वादशधा योऽयं करणग्राम ईरितः। तत्र सर्वत्र कर्तारं करणग्रामवर्जितम्।।४७३।।
करणं द्वादशविधं व्यापारेणात्मनस्तथा। सहितं वेत्ति यः प्राणस्तं मां जानीहि नापरम्।।४७४।।

एवं विषयेभ्यः करणान्तरेभ्यश्च विविच्य अवशिष्टं रूपमात्मत्वेन जानीयादित्याह – एवमिति। एवं रीत्या द्वादशधा यः करणग्राम उक्तः तेन विशिष्टं कर्तारं सन्तं करणग्रामवर्जितं कृत्वाऽवशिष्टं जानीयादिति।।४७३।।

एवं प्राणपदमद्वितीयार्थपरं प्रज्ञापदं च सर्वान्तरार्थपरं दर्शितम्। तयोः पदयोस्त्रिविधपरिच्छेदशून्यात्मकाखण्डार्थपरत्वं सामानाधिकरण्यलभ्यं स्फुटीकर्तुं प्रपञ्चमिथ्यात्वदर्शकस्य 'ता वा' इत्यादेः 'नाना' इत्यन्तस्य[1] (कौ.३.८) वाक्यस्यार्थं चतुर्दशभिर्निरूपयंस्तत्रैकेन श्लोकेन उपाध्युपलक्ष्यस्य स्वरूपं शृंगग्राहिकान्यायेन दर्शयति – करणमिति। आत्मनः करणस्य व्यापारेण विषयगोचरेण वदनदर्शनादिरूपेण सहितं सविषयं च करणवृन्दं द्वादशविधं सर्वप्रपञ्चरूपं यो वेत्ति प्रकाशयति प्राणः प्राणोपलक्षितकारणत्वोपलक्षितः[2] तं मां जानीहीति।।४७४।।

ब्रह्म है अतः ब्रह्म नित्य भले ही रहे पर प्रकृति की तरह परिणामी नित्य ही सिद्ध होगा। परिणामी कभी नित्य होता नहीं अतः अनित्य ही मानना पड़ेगा। 'नेह नाना' आदि श्रुतियाँ भी विरुद्ध पड़ेंगी। अतः प्रत्यङ्मात्र का मुख्य अभेद और युष्मत्प्रत्ययगोचर का बाधकर अभेद यही औपनिषद राजमार्ग भगवान् भाष्यकारों के उपदेशानुसार स्वीकार्य है।

उपनिषदनुसार पुराण में भी इंद्र कहते हैं– 'हे प्रतर्दन! वाणी आदि को भी क्या मेरा स्वरूप समझना है– ऐसा संदेह मत करना। प्राण व प्रज्ञा से उपलक्षित स्वरूप को ही मैं समझना जो बिना वाणी के ही वक्ता है!'।।४७२।। पूर्वोक्त रीति से वक्ता, द्रष्टा आदि है प्रज्ञा ही किंतु वाक् चक्षु आदि में अभिमान से। उन अभिमानों से रहित प्रज्ञा को ही यहाँ वाग्विवर्जित वक्ता कहा है। वक्तृत्व को उपलक्षक बताने में तात्पर्य है। वक्ता कहकर यह भी व्यक्त करना है कि प्रज्ञा हूँ मैं ही, जो मैं अभी स्वयं को वक्ता समझ रहा हूँ वही प्रज्ञा हूँ। प्रमाता ही पाप्मदोषादिवर्जित परमात्मा है यह भाव है।

'ऐसे ही जो यह बारह प्रकार का करणसमूह बताया गया, उसके द्वारा व्यवहार करने वाला मैं ही हूँ जो वास्तव में करणसमूह से असम्बद्ध हूँ। उस मुझे जानो'।।४७३।।

प्राण व प्रज्ञा को उपाय बनाकर अद्वितीय व सबसे आन्तर आत्मा है यह समझा दिया। अतः देश, काल, वस्तु तीनों से होने वाली सीमायें हटा दी। प्राण-प्रज्ञा के अभेद को स्फुट करने के लिये अपना उन दोनों से अभेद कहते हैं– 'बारह प्रकार के करणों को तथा उनके व्यापारों को जो जानता है वह प्राण मैं हूँ, उससे अन्य नहीं, यह समझो'।।४७४।। यहाँ प्राण को जानने वाला कहकर प्राण-प्रज्ञा का अभेद बता दिया। दोनों मेरी ही उपाधियाँ हैं। यहाँ प्राण से पहले कारणता की उपलक्षणा है तथा उस कारणता से उपलक्षित जो स्वरूप उसे मैं समझने के लिये कहा है। एवं च दृष्टिसृष्टिन्याय से प्रज्ञा का भी संग्रह हो गया क्योंकि वह कारण है अतः कारणता द्वारा वह भी उपस्थित हो गयी। इस प्रकार 'प्राणोस्मि. प्रज्ञात्मा' यह महावाक्य बन गया। कारण परमात्मा से 'अस्मि' कहे गये अस्मत्पदलक्ष्य का अभेद इससे बोधित हुआ है। प्राण और प्रज्ञा से तत्पदार्थ एवं आत्माऽस्मि से त्वम्पदार्थ उपस्थापित हैं।

उपनिषत् में सविषय इंद्रियों के साक्षी का ज्ञान बताने के बाद प्रसंगवश यह सूचित किया है कि एक-दूसरे के सापेक्ष जो इंद्रियाँ व विषय उन्ही से अनर्थमूल यह संसारचक्र चलता है, उनके बिना नहीं। विषय अधिप्रज्ञ हैं क्योंकि प्रज्ञा से अभिन्न इन्द्रियों पर ही विषयों की स्फुरत्ता अतएव सत्ता निर्भर है। ऐसे ही प्रज्ञामात्रायें अर्थात् इंद्रियाँ अधिभूत हैं क्योंकि भूतशब्दित विषयों को अधिकृत कर ही रहती हैं, उन पर निर्भर हैं। क्योंकि निर्विषय इंद्रिय होती नहीं इसलिये यदि

---

१. 'ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतं यद्धि भूतमात्रा न स्युर्न प्रज्ञामात्रा स्यु र्यद्वा प्रज्ञामात्रा न स्युर्न भूतमात्राः स्युर्नह्यन्यतरतो रूपं किंचन सिद्ध्येत् नो एतन्नाना' इति।

२. कारणत्वपर्यन्तमनुधावनं 'प्राणोस्मि प्रज्ञात्मे' त्यत्र तत्पदार्थस्यापि संग्रहेण महावाक्यत्वायेति साम्प्रदायिकाः।

करणं द्वादशविधं तावांश्च विषयोऽपि हि। भिन्नं नान्योन्यमप्येतत् प्रज्ञयाऽस्य कुतो भिदा॥४७५॥

विषयकरणयोः सापेक्षता

विषयो द्वादशविधो भूतमात्रात्मको हि यः। [करणग्राममाश्रित्य स सिद्धो नान्यथा क्वचित्।[1]

एवं हि करणग्रामः प्रज्ञामात्रात्मको हि यः।] नासौ निर्विषयः सिद्ध्येत् करणं नास्ति तादृशम्॥४७६॥

करणं विषयो वापि यद्येको नापरो भवेत्। तस्य तत्त्वं विहन्येत ह्यन्यापेक्षमिदं द्वयम्॥४७७॥

पुत्रः पितेति संज्ञेयं नाभावे पितृपुत्रयोः। यथा तथैव संज्ञेयं विषयः करणं त्विदम्॥४७८॥

विषयः करणापेक्षः करणं विषयं तथा। अपेक्षते यतस्तेन नान्याभावात् परं भवेत्॥४७९॥

ननु तस्य अद्वितीयता कथं, प्रकाश्यात् प्रकाशकस्य भेदादिति चेद्? न, प्रकाश्यस्य भिन्नत्वेन दुर्निरूपत्वादित्याह – करणमिति। द्वादशविधं करणं प्रज्ञामात्राशब्दितं तथा तस्य द्वादशविधकरणस्य विषयोऽपि तावान् द्वादशविधः; एतद् द्वयं करणविषयरूपम् अन्योन्यं परस्परम् अपि भिन्नं न संभवति, एतादृशस्य अस्य द्वयस्य प्रज्ञाभेदस्तु कुतः स्याद्? अधिष्ठानभूतप्रज्ञया भेदोऽत्यन्तं दुर्निरूपः सापेक्षत्वेन मिथ्यात्वादित्यर्थः॥४७५॥

विषयकरणयोः सापेक्षतां स्फुटयति – विषय इति पञ्चभिः। यो भूतमात्रात्मको द्वादशविधो विषयः असौ निर्विषयः विषयपदं भावप्रधानं विषयत्वेन हीनो न सिद्ध्येत् किन्तु विषयत्वरूपेणैव सिद्ध्येत्। विषयत्वं तु निरूपकत्वेन करणसापेक्षमिति भूतमात्रा विषयरूपाः प्रज्ञामात्राधीना इत्यागतम्। तथा तादृशं निर्विषयं विषयानपेक्षं करणं नास्ति, करणमित्युक्ते 'कस्य' इति विषयापेक्षणादिति प्रज्ञामात्रा भूतमात्राश्रिता इत्यर्थः॥४७६॥

करणं विषय इति। करणं विषय इत्यनयोर्मध्ये यद्येक एव करणं वा विषयो वा भवेदपरो द्वितीयस्तु न भवेत्तर्हि तस्य केवलस्य करणस्य विषयस्य तत्त्वं करणत्वं विषयत्वं वा विहन्येत विघातं प्राप्नुयाद् निरूपकाभावे निरूप्याभावाद्। अत इदं द्वयं करणविषयरूपं परस्परसापेक्षमिति॥४७७॥ तत्र दृष्टान्तमाह – पुत्र इति। पितृपुत्रयोः अन्यतरस्यापि अभावे पिता पुत्र इति संज्ञाद्वयं यथा न दृश्यते तथा करणं विषय इति संज्ञे इत्यर्थः॥४७८॥ विषयः करणेति। विषयः करणसापेक्षः करणं तु विषयापेक्षमित्यन्यतरस्य अभावे परं द्वितीयमपि न भवेद् इति॥४७९॥

भूतमात्रायें अर्थात् विषय न होते तो प्रज्ञामात्रायें अर्थात् इंद्रियाँ भी न होतीं। और अगर प्रज्ञामात्रायें अर्थात् इन्द्रियाँ न होतीं तो विषय क्योंकर होते? विषय विषय से नहीं जाना जाता है और न ही इंद्रिय इंद्रिय से जानी जाती है। इंद्रिय से विषय जाना जाता है और ज्ञात विषय के कारण ही इंद्रिय मालूम पड़ती है। इनमें से कोई भी अकेला इसमें समर्थ नहीं कि अपना या किसी का स्वरूप सिद्ध कर सके। अतः ये अलग-अलग हैं ही नहीं। जैसे पहिये का बाहरी चक्र ताड़ियों पर और ताड़ियाँ नाभि पर आश्रित होती हैं ऐसे ही विषय आश्रित हैं इंद्रियों पर तथा इंद्रियाँ आश्रित हैं प्राण पर। प्राणोपाधिक चेतन ही प्रज्ञापदवाच्य बुद्धिवृत्ति में प्रतिफलित होकर इन्द्रियों से सम्पृक्त होता है व विषयों से व्यवहार करता है। ग्रह-अतिग्रहरूप करणों व विषयों से ही संसारचक्र चल रहा है। कारणतोपलक्षक प्राणरूप उपाधि के रहते होने वाला अध्यास ही इसे गति दे रहा है। उक्त क्रम से विषय-इंद्रिय-प्राण तथा गौणप्रज्ञा का मुख्य प्रज्ञा से अभेदनिश्चय गौणप्रज्ञा व प्राण के बाध से सारे द्वैत का बाध कर देगा जिससे तादात्म्य के योग्य कुछ न रह जाने से तादात्म्य नहीं रहेगा। यह चक्र अलातचक्र की तरह हमेशा के लिये समाप्त हो जायेगा। इस विषय को पुराण में बताया जा रहा है।

'बारह प्रकार के करण हैं और इतने ही विषय हैं। ये आपस में भी भिन्न नहीं हैं तो इनका प्रज्ञा से भेद कैसे होगा?॥४७५॥ बारह प्रकार के भूतमात्रारूप जो विषय हैं वे इंद्रियों के सहारे ही सिद्ध होते हैं, उनके बिना नहीं। इसी तरह

१. अयमधिकः पाठः क्वचिल्लभ्यते।

शरीरमन्तःकरणं विहाय करणद्वयम्। सुखदुःखे तथा बुद्धिकामाद्यांश्च विहाय हि॥
दशेति वचनं ज्ञेयं श्रुतेर्बाह्येन्द्रियार्थयोः॥४८०॥

सापेक्षत्वादात्मसिद्धिः

सापेक्षाणि न सिद्ध्यन्ति ह्यन्योन्यापेक्षयैव हि। किन्त्वन्यनिरपेक्षं तमाश्रित्यैनामवाप्नुयुः॥४८१॥

ननु श्रुतौ भूतमात्रारूपेषु विषयेषु दशसंख्योक्ता तथा करणेषु। ग्रन्थकृता च द्वादशेति कथमुक्तम्? इत्याशङ्क्य; अन्तर्भावाभिप्रायेण दशेत्युक्तमित समाधानसंभवेपि वक्ष्यमाणनेम्यरादृष्टान्तानुगुण्याय बहिरिन्द्रियाणि बाह्यविषयानेव च विवक्षित्वा दशत्वाभिधानमिति समाधानमाह - शरीरमिति। शरीरं तथा अन्तःकरणम् इत्येतदान्तरार्थबोधकत्वाद् आन्तरं करणद्वयं विहाय तथा सुखदुःखरूपं शरीरविषयं धीपदार्थज्ञातव्यसहितकामसङ्कल्पादिरूपमन्तःकरणविषयं च विहाय बाह्येन्द्रियपरं बाह्यार्थपरं च श्रुतिसम्बन्धि दशेति संख्यावचनं बोध्यमित्यर्थः। तथा सति बाह्यविषयाणां नेमिनिभानाम् अरावद् मध्ये भासमानेषु बहिरिन्द्रियेषु आश्रितत्वाभिधानं सुबोधं भविष्यतीति भावः। ग्रन्थकृता तु आन्तरोऽपि विषयः करणापेक्षया बहिष्ट्वेनैव भासत इति मत्वा द्वादशेत्युक्तमित्यवधेयम्॥४८०॥

ननु अस्तु करणानां विषयाणां च परस्परापेक्षत्वं, तथापि परस्परापेक्षयैव स्वरूपलाभसिद्धौ सत्ताभानयोः कृते तृतीयानपेक्षणात् तेषां सत्ताभाननिर्वाहकत्वेन आत्मा न सिद्ध्येद्? इत्याशङ्क्य; परस्परापेक्षाणां स्वानपेक्षतृतीयापेक्षानियमं दर्शयति - सापेक्षाणीति द्वाभ्याम्। यानि यानि सापेक्षाणि वस्तूनि तानि तानि अन्योन्यापेक्षयैव न सिद्ध्यन्ति सिद्धिं सत्ताभानरूपां न लभन्ते किन्तु इतरानपेक्षं तं स्वातिरिक्तं कंचिद्भावमपेक्ष्यैव एनां स्वरूपसिद्धिम् अवाप्नुयुः प्राप्नुयुरित्यर्थः॥४८१॥

जो प्रज्ञामात्रारूप करणसमूह है वह विषय के बिना सिद्ध नहीं होता क्योंकि ऐसा कोई करण हुआ नहीं करता जो विषयसापेक्ष न हो॥४७६॥ क्योंकि विषय और करण एक-दूसरे के सापेक्ष हैं इसलिये करण और विषय में एक हो व दूसरा न हो तो न वह करण रह पायेगा तथा न वह विषय॥४७७॥ जैसे पिता व पुत्र जब साथ उपस्थित होते हैं तभी कहा जाता है 'यह पिता है, यह पुत्र है।' यदि दोनों में से एक उपस्थित न हो तब पिता या पुत्र ऐसा नहीं कहा जाता, देवदत्तादि नाम ही प्रयुक्त होता है; वैसे ही करण और विषय भी तभी कह सकते हैं जब दोनों हों॥४७८॥ करण की अपेक्षा से ही विषय होता है तथा करण को विषय की अपेक्षा रहती है। इसलिये एक के बिना दूसरा रह सकता नहीं'॥४७९॥

शंका होती है कि उपनिषत् ने यहाँ दस ही भूतमात्रायें और प्रज्ञामात्रायें कही हैं, पूर्वोक्त के परामर्श से बारह नहीं कही। तब शंकरानंद जी ने पुराण में (श्लो. ४७५ आदि में) बारहों का उल्लेख कैसे कर दिया? इसका एक समाधान तो सीधा ही है कि श्रुति में दस में ही बारहों का अंतर्भाव होने से यहाँ बारह का उल्लेख है। किंतु पुनः प्रश्न होगा कि आख़िर अंतर्भाव की ज़रूरत क्या थी, और दस ही क्यों श्रुति ने गिनकर कहे? इसका उत्तर है कि श्रुति को आगे जो चक्के का उदाहरण देना है उसे संगत बनाने के लिये बाह्य इंद्रियों व बाह्य विषयों को ही यहाँ श्रुति ने कह दिया है। बाहरी विषय चक्र की जगह और बाह्य इंद्रियाँ ताड़ियों की जगह आराम से समझे जा सकते हैं, सुख-दुःख और विचार-कामना को रूपादि के समान बाहरी समझना कुछ मुश्किल होगा, यह श्रुति का भाव है। पुराणकार ने विचार किया कि अंतःकरण से तो ये भी विषय बाहर ही लगते हैं अतः इन्हे जोड़कर भी उदाहरण समझना कठिन नहीं। श्रुति व पुराण के इस भेद को इंद्र के वचन से हटकर बीच में श्रीशंकरानंद जी स्वयं स्पष्ट कर देते हैं- शरीर व अंतःकरण इन दो करणों को एवं सुख-दुःख व विचार-कामनादि इन विषयों को छोड़कर केवल बाह्येन्द्रियों के व बाह्य विषयों के अभिप्राय से उपनिषत् में प्रज्ञामात्राओं और भूतमात्राओं को दस कहा है॥४८०॥

करण व विषय परस्पर सापेक्ष हैं तो परस्पर ही एक-दूसरे का स्वरूपलाभ करा देवें, सत्ता व भान के लिये एक तीसरे प्रज्ञात्मा की क्या ज़रूरत? इसका उत्तर भगवान् इंद्र देते हैं- 'सापेक्ष वस्तुयें एक-दूसरे की अपेक्षा से ही सिद्ध नहीं

रज्जुसर्पधियौ यद्वत् सापेक्षे नैव सिद्ध्यतः। अन्योन्यं रज्जुमेवैकामनपेक्षां विहाय हि॥४८२॥

'नो एतन्नाना' इत्यस्यार्थः

विषयाः करणैः सार्धं न भिन्नास्ते परस्परम्। आश्रयाच्च सहैवैते सापेक्षत्वेन हेतुना॥४८३॥

सापेक्षं न मिथो भिन्नं नाश्रयाच्च कथंचन। सर्पज्ञानादिकं यद्वत् स्वयं वा रज्जुतोऽपि वा॥४८४॥

विषयाः सर्व एवैते स्वज्ञानाद् न पृथक् क्वचित्। रज्जुसर्पस्य विज्ञानाद् यथा नान्योऽस्त्यसौ फणी॥४८५॥

तत्रोदाहरणमाह – रज्जुसर्पेति। यथा अयं सर्प इति भ्रम इदंपदार्थो रज्जुर्विशेष्यतया भासते सर्पस्तु प्रकारतया; सर्पोऽयमिति भाने तु विपर्ययेण; तथा रज्जुसर्पयोः प्रकारताविशेष्यताशालिनी धियौ विशेषणविशेष्यतया सापेक्षविषयत्वेन सापेक्षतया प्रसिद्धे, ते धियौ रज्जुस्वरूपं निरपेक्षं विहाय अनपेक्ष्य अन्योन्यम् अन्योन्येनैव न सिद्ध्यतः, किन्तु रज्जुस्वरूपं शुद्धमपेक्ष्यैव सिद्ध्यत इत्यर्थः। एवं प्रकृतेऽपि सापेक्षैः करणैः विषयैश्च स्वसिद्धयेऽपेक्ष्यमाण आत्मा सिद्धः, तेषां सापेक्षत्वेन मिथ्यात्वं चेति भावः॥४८२॥

एतत् सापेक्षं नाना भिन्नं न भवतीत्यर्थकं व्याख्येयश्रुतिवाक्यशेषमनुमानविधया व्याकरोति – विषया इति पंचभिः। करणैः सह विषया य उक्ताः ते परस्परमाश्रयाच्च न भिन्ना इति प्रतिज्ञा; सदैव सापेक्षत्वादिति हेतुः॥४८३॥

सापेक्षमिति। यद्यत् सापेक्षं तत्तद् मिथः परस्परम् आश्रयाच्च रज्जुतो रज्जुस्वरूपाच्च आश्रयाद् न भिन्नभिन्नमित्युदाहरणम्॥४८४॥

हो जाती किंतु किसी ऐसे के सहारे ही सिद्ध होती हैं जो अन्य से निरपेक्ष हो'॥४८१॥ जैसे गाड़ी चलकर बैटरी चार्ज कर देती है और बैटरी गाड़ी का चलना प्रारंभ आदि करती है, पर दोनों यह कर तभी सकते हैं जब दोनों से निरपेक्ष तेल आदि ऊर्जाप्रद कुछ होवे। इसी तरह प्रकृत में समझना चाहिये।

उक्त विषय में स्वयं दृष्टांत देते हैं– 'यह साँप है– इसमें यह-ज्ञान और साँप-ज्ञान परस्पर सापेक्ष हैं अतः एक-दूसरे से ही सिद्ध नहीं हो जाते किन्तु इनसे निरपेक्ष जो रज्जु, उसी के सहारे सिद्ध होते हैं। ऐसे ही करण व विषय प्रज्ञात्मा से ही सिद्ध होते हैं'॥४८२॥ 'यह है' सुनते ही प्रश्न होता है 'क्या है?' तथा 'साँप है' सुनते ही प्रश्न होता है 'कौन?' अतः दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। 'यह साँप है' सुनने पर ही निराकांक्ष ज्ञान हो पाता है। किंतु ये दोनों ज्ञान हो तभी सकते हैं जब सामने रस्सी आदि कोई अधिष्ठान है, अन्यथा नहीं। अतः इनकी सिद्धि रज्जु से है यह मानना पड़ता है। और यही व्याप्ति मिल जाती है कि परस्परसापेक्ष परस्पर साधक नहीं होते। इसमें अनुकूल तर्क भी है : जो किसी निरपेक्ष की अपेक्षा नहीं रखता वह स्वसापेक्ष की भी अपेक्षा नहीं रखता जैसे रज्जुस्वरूप। अतः ये यदि निरपेक्ष की अपेक्षा वाले न होते तो परस्पर सापेक्ष भी न होते, यह तर्क का आकार है। इस प्रकार विषयों व करणों से निरपेक्ष आत्मा सिद्ध होता है जो प्रज्ञापद का लक्ष्य है और साथ ही सापेक्ष होने से विषय व करण मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं। मूल में 'रज्जुसर्पधियौ' कहा है, वहाँ रज्जुपद इदन्त्वपरक ही समझना चाहिये। टीकाकार ने जो 'अयं सर्पः' और 'सर्पोऽयम्' ज्ञानों में विशेष्य और प्रकार का विपर्यास दिखाया है वह केवल अयं-धी और सर्प-धी को पृथक्-पृथक् सिद्ध करने के लिये। प्रकृत में 'अयं सर्पः' या 'सर्पोऽयम्' किसी भी एक से दृष्टांत सिद्ध हो जाता है।

कौषीतकी में कहा है 'नो एतद् नाना' अर्थात् ये सापेक्ष वस्तुयें विभिन्न नहीं हैं। इसे पाँच श्लोकों से समझाते हैं– 'करणों समेत विषय न परस्पर भिन्न हैं और न अपने आश्रय प्रज्ञा से भिन्न हैं क्योंकि हमेशा सापेक्ष हैं। जो सापेक्ष होता है वह न आपस में और न अपने आश्रय से भिन्न होता है जैसे पूर्वोक्त 'यह सर्प है' ज्ञानादि न आपसे में भिन्न हैं और न रज्जु से ही भिन्न हैं।'॥४८३-४८४॥ यद्यपि पिछले श्लोक में कहे ढंग से 'यह' और 'साँप' दोनों ज्ञान अलग लगते हैं तथापि अनुभव में 'यह साँप है' ऐसा एकमेक ज्ञान ही आता है। अतः यहाँ दृष्टांत उचित है क्योंकि यह एक ही ज्ञान है

करणादुत्थितानीह जडानि करणैः सह। विषयाश्रयभूतानि विज्ञानानि तु देहिनाम्॥४८६॥
विज्ञानद्रष्टृतः प्राणाद् न भिन्नानीति कर्हिचित्। स्वप्नविज्ञानवद् द्रष्टा प्राज्ञः प्राणस्ततोऽस्ति हि॥४८७॥

यदि विषयाः करणेभ्यो भिन्नाः स्युः तर्हि निःस्वरूपाः स्युः मिथ्याभूतानां ज्ञातसतां ज्ञानात् पृथक् सत्ताऽसम्भवाद् - इति तर्कं सूचयन् करणपदं करणावच्छिन्नप्रज्ञाभागपरमिति दर्शयति - विषयाः सर्व इति। सर्व एते विषयाः स्वज्ञानात् पृथक् भिन्ना न भवन्त्येव यथा रज्जुसर्पविज्ञानात् फणी रज्जुसर्पो नान्य इति। सर्व एव इत्युक्त्या करणेष्वपि यो विषयांशः सोप्येवमिति सूचितम्॥४८५॥

एवं प्रज्ञापदार्थं चिच्छबलवृत्तिरूपं विषयाः श्रिता इत्युक्तम। अथ प्रज्ञापदार्थं चिज्जडग्रन्थिरूपं विवेकसूच्या विमुच्य तत्र जडांशवृत्तिरूपं ज्ञानं विषयाणामाश्रयभूतं स्वभासकचितोऽनवच्छिन्नाया निरपेक्षाश्रयत्वेनोक्तायाः सकाशाद् न भिन्नमित्याह - करणादिति द्वाभ्याम्॥ यतः करणादुत्थितानि अत एव नित्यचिद्रूपज्ञानविलक्षणत्वेन जडानि वृत्तिरूपाणि देहिनां विज्ञानानि। कीदृशानि? करणैः सह वर्तमानानि; तदवच्छिन्नत्वात्। पुनः कीदृशानि? विषयाणामाश्रयभूतानि; शुद्धचितोऽसङ्गत्वेन शबलप्रज्ञापदार्थनिष्ठायाः विषयनिरूपिताश्रयतायाः 'सविशेषणे हि' इति न्यायेन विशेषणे पर्यवसानाद्धिति भावः॥४८६॥

विज्ञानेति। तानि जडविज्ञानानि सर्वविज्ञानानां द्रष्टुः प्रकाशकात् प्राणपदलक्ष्यार्थाद् न भिन्नानि यथा स्वप्नविज्ञानानि सविषयाणि द्रष्टुः साक्षिणो न भिन्नानि तद्वत्। फलितमाह - द्रष्टेति। तस्माद् यः सर्वद्रष्टा प्राज्ञः प्रज्ञोपलक्षितः प्राणः प्राणोपलक्षितश्च स एव अस्ति, न तु ततो द्वितीयमस्तीति सिद्धम्॥४८७॥

इसका लोक में बाध प्रसिद्ध नहीं। 'रज्जु से भिन्न नहीं' में रज्जुपद रज्जुज्ञान परक है। 'यह सर्प है' यह ज्ञान रज्जुज्ञान से भिन्न नहीं क्योंकि 'यह सर्प है' ज्ञान का विषय तो रज्जु ही है अतः है वह रज्जुज्ञान ही। 'ज्ञानादि' में आदि से सर्पपदार्थ समझना चाहिये, वह भी रज्जु से भिन्न नहीं। सर्प पदार्थ भी सापेक्ष ही है क्योंकि उसे रज्जु की अपेक्षा है, रज्जु के बिना वह टिक नहीं सकता।

पूर्वोक्तविधया करणों ने प्रज्ञा का दोहन कर रखा है अतः करणशब्द से करणों द्वारा सीमित प्रज्ञा समझना उचित है। विषय मिथ्या हैं अतः तभी तक विद्यमान रहते हैं जब तक उन्हें जाना जाये। इसलिये यदि करणों से (प्रज्ञा से) भिन्न (= निरपेक्ष) होते तो निःस्वरूप ही हो जाते। इस तर्क का प्रदर्शन करते हैं– 'ये सारे ही विषय कभी भी अपने ज्ञान से भिन्न नहीं जैसे रज्जु में कल्पित साँप उस साँप के ज्ञान से भिन्न नहीं होता'॥४८५॥ 'सारे ही' कहकर इन्द्रियों का भी ग्रहण हो गया। उपाधिभाग मिथ्या है, उपधेय प्रज्ञा ही सत्य है। सर्प को सर्पज्ञान से अभिन्न कहकर नास्तिकमतप्रवेश कर लिया ऐसा भ्रम नहीं होना चाहिये क्योंकि 'भिन्न नहीं' इतना ही कहा है, 'अभिन्न है' ऐसा नहीं। ज्ञानातिरिक्त निर्वचनयोग्य न होने से ज्ञान पर कल्पित अतः उससे अनतिरिक्त समझना आवश्यक है, ज्ञान की साकारता अभिप्रेत नहीं क्योंकि तब तो साँप सत्य हो जाता। यदि नास्तिक भी यही व्यवस्था समझता हो तब उसका ज्ञान को क्षणिक मानना ही अल्पापराध रह जायेगा।

इस प्रकार समझाया कि चिदाभासयुक्त वृत्तिरूप प्रज्ञा पर विषय आश्रित हैं। यह प्रज्ञा चेतन और जड की गाँठ लगा हुआ रूप है। विवेक से यह गाँठ खोलनी है। प्रज्ञापदवाच्य में वृत्ति जडांश है और वही विषयों का विषयसापेक्ष आश्रय है। उस वृत्ति का भी आश्रय है उसका प्रकाशक चेतन जो उस वृत्ति द्वारा दुह नहीं लिया गया है, सीमित नहीं कर लिया गया है, अर्थात् साक्षी। उसे ही यहाँ निरपेक्ष आश्रय सिद्ध किया था। वृत्ति उस आश्रय से भिन्न नहीं, प्रज्ञापदवाच्य की प्रज्ञापद लक्ष्य से स्वतंत्र सत्ता नहीं है, यह बताते हैं– 'देहधारियों को करणों से जो वृत्तिरूप ज्ञान होते हैं वे करणों समेत जड हैं और विषयों द्वारा आश्रित हैं। उन वृत्तिज्ञानों का प्रकाशक वही है जो प्राणपद का लक्ष्य है। वे वृत्तिज्ञान अपने उस प्रकाशक से कभी भी भिन्न नहीं हैं। जिस तरह स्वप्नज्ञान स्वप्नसाक्षी से भिन्न नहीं होते उसी प्रकार सभी ज्ञान अपने साक्षी से भिन्न नहीं होते। इसलिये प्रज्ञा और प्राण पदों से लक्षित जो सबका साक्षी, वही एकमात्र है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है'॥४८६-४८७॥

अरनेमिदृष्टान्तः

चक्रस्यारेषु लोकेऽस्मिन्नेमिर्यद्वत् प्रतिष्ठितः। नाभावराः स्थिता नैव नाभिः कुत्राऽपि संस्थितः॥४८८॥

विषयाः करणेष्वेवं करणानि मयीश्वरे। प्राणे प्रज्ञास्वरूपेऽस्मिन्नहं क्वापि न संश्रितः॥४८९॥

विषयेन्द्रियरूपस्य विश्वचक्रस्य सर्वदा। अहं नाभिरिति प्रोक्तो ह्यनन्याश्रयहेतुतः॥४९०॥

विषयो विषयी चेति द्वयं संसार ईरितः। अस्य सर्वस्य विज्ञाता प्रज्ञा प्राणोऽहमीरितः॥४९१॥

उक्तार्थस्य दृष्टान्तेन स्फुटीकरणपरं 'तद्यथा' (कौ.३.८) इत्यादि व्याकरोति-चक्रस्येति। यथा लोके रथचक्रस्य अरेषु तिर्यक्काष्ठेषु नेमिः भूमिस्पृग्वलयाकारकाष्ठरूपः प्रतिष्ठितः तानाश्रितः, तेऽराः तु नाभौ चक्रमध्यकाष्ठेऽक्षाधारच्छिद्रवति प्रतिष्ठिताः, स नाभिः तु कुत्राऽपि न प्रतिष्ठितः किन्तु सर्वाधारः॥४८८॥

दार्ष्टान्तिकमाह - विषया इति। विषया नेमिनिभाः। करणेषु अरनिभेषु। मयि नाभिनिभे॥४८९॥

नाभिसाम्यमेव स्फुटयति - विषयेन्द्रियेति। विषयाः कार्यरूपा इन्द्रियाणि करणरूपाणि। तथात्र कार्यकरणरूपस्य सर्वस्य संसारचक्रस्य नाभिः अहं नान्य आश्रयो यस्य स तथा, भावप्रधानो निर्देशः, तथा च अनन्याश्रयत्वाद्धेतुतः साधर्म्यादित्यर्थः॥४९०॥

दृष्टान्ते तटस्थस्य नाभेः संयोगमात्रेणाधारत्वं, मम तु विवर्तरूपप्रपंचस्य सत्ताभानप्रयोजकत्वलक्षणाभिन्ननिमित्तोपादानतया आधारत्वमिति विशेषोऽपि बोध्य इत्याह - विषयो विषयीति द्वाभ्याम्। विषयो नामादिः विषयी च करणतयोक्तः समष्टिव्यष्टिरूपः, एतावानेव संसारः; तस्य विज्ञाता भासकः अहम् इति॥४९१॥

विषयों का आश्रय वृत्तियों को क्यों कहा? इसलिये कि शुद्ध तो आश्रय हो नहीं सकता, असंग है। वृत्ति-विशिष्ट को आश्रयं कहें तो पुनः प्रश्न होगा कि वृत्त्यंश आश्रय है या विशेष्यांश? विशिष्ट को विशेष्य-विशेषणातिरिक्त मानना तो अनुभवविरुद्ध है। अतः उत्तर देना पड़ेगा कि वृत्त्यंश ही आश्रय है। इसीलिये वृत्तियों को आश्रय कह दिया। जैसे किसी का दिवाला निकले तो कहते हैं 'धनी देवदत्त नष्ट हो गया', यहाँ नष्ट केवल धन हुआ है, देवदत्त नहीं; ऐसे ही समझना चाहिये। यहाँ स्वप्नज्ञान व साक्षी को दृष्टांत बनाया है, पहले सर्पज्ञान व सर्प को दृष्टांत बनाया था। अभिप्राय एक ही है। स्वप्नोदाहरण और अधिक स्पष्ट है क्योंकि सभी का अनुभव है कि मुझसे अतिरिक्त वहाँ कुछ नहीं था। करणादिव्यापारकालिक दृष्टान्त के लिये सर्पदृष्टांत था। किं च, सर्पज्ञान सर्पीयतया जैसे मिथ्या है वैसे ही स्वप्नीय होने से स्वप्नसाक्षी भी मिथ्या है अत एव प्रसिद्ध है कि साक्षित्व कल्पित है, 'स्वप्नीय होना' कहें, 'साक्षित्व' कहें एक ही बात है। साक्षी सत्य है पर साक्षित्व मिथ्या है। जाग्रत्साक्षी में भी यही समझना चाहिये। अत एव दृष्टिसृष्टि से अजात स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः तो केवल गुरुकृपा से यह समझ आ सकता है।

औपनिषद चक्के का दृष्टांत समझाते हैं- 'जैसे लोक में रथादि के चक्के की ताड़ियों पर नेमि अर्थात् बाहरी घेरा आश्रित रहता है और ताड़ियाँ नाभि पर अर्थात् चक्के के मध्य में स्थित गोल लकड़ी आदि के पदार्थ पर स्थित रहती हैं किंतु नाभि सबका आधार है, वह किसी पर स्थित नहीं होती, ऐसे ही नेमिस्थानीय विषय ताड़ीस्थानीय करणों पर आश्रित हैं और करण नाभिस्थानीय मुझ प्राण-प्रज्ञास्वरूप ईश्वर पर आश्रित हैं। मैं किसी पर आश्रित नहीं हूँ॥४८८-४८९॥

क्योंकि मैं किसी अन्य पर आश्रित नहीं इसीलिये विषय-इंद्रियरूप संसार चक्र की नाभि हमेशा मुझे ही कहा जाता है'॥४९०॥

दृष्टांत में तो नाभि केवल संयोग से आधार बनती है पर मैं तो इस विवर्तरूप प्रपंच की सत्ता का और प्रतीति का प्रयोजक हूँ अतः इसका अभिन्ननिमित्तोपादान अर्थात् निमित्त व उपादान दोनों होने से आश्रय हूँ यह द्योतित करते हैं-

मत्तः प्राणात्मनः प्राज्ञादिदं सर्वं विनिर्गतम्। सदसद्रूपकं विश्वं यत्र मुह्यन्ति सूरयः।।
मय्यस्ति च तथान्तेऽपि लयमेष्यति मय्यदः।।४९२।।

विवर्ते दृष्टान्तः

यथैकस्माच्छिशोरेव सृष्टिस्थितिलयाः सदा। राक्षसस्य भवन्त्येवं मत्तो विश्वस्य सर्वदा।।४९३।।

एकस्मिन्नेव नभसि सर्वभेदविवर्जिते। यथा भेदाः प्रतीयन्ते मयि भेदास्तथा इमे।।४९४।।

पटे समे यथा चित्रदृष्टौ विषमधीर्भवेत्। एवं मयि समे प्राणे विश्वदृष्टौ विभेदधीः।।४९५।।

प्राणविशेषणोपपत्तिः

चतुर्विधानां भूतानां जीवनं मत्त एव हि। तेनाऽप्राणोऽप्यहं प्राणशब्दबुद्धिसमाश्रयः।।४९६।।

मत्त इति। प्राज्ञात् प्रज्ञा कार्यरूपा उपाधिभूता, नित्यातु स्वरूपभूता, अस्यास्तीति प्राज्ञः तस्मात्। सूरयः अपीति शेषः। अदः विश्वम्।।४९२।।

विवर्तोपादानताया दृष्टान्तमाह - यथेति। राक्षसस्य स्वशरीरे कल्पितस्य।।४९३।।

जडप्रपंचेऽखण्डचितो भेदेन भाने दृष्टान्तमाह - एकस्मिन्निति। इमे नानाप्रमातृरूपाः।।४९४।।

अयं भेदोऽपि परागदृशामुपाधिदर्शिनामेव भासते, प्रत्यग्दृशाम् उपाधिमुपेक्षमाणानां तु न भासत इति सूचयन् दृष्टान्तान्तरमाह - पट इति। यथा चित्राधारे पटे सम उन्नतत्वावनतत्वादिहीनेऽपि रङ्गनिर्मितप्रासादादिरूपचित्रस्य दृष्टौ सत्यां विषमा उन्नतत्वावगाहिनी धीर्नृणां भवति, पटस्वरूपमेव अनुसन्दधतां तु न सा; एवं मयि समेऽपि विश्वस्योपाधेर्दृष्टौ सत्यामेव भेदधीः, इतरथा तु नेति। तदुक्तं वार्तिककृद्भिः -

'अपामार्गलतेवासौ विषमो हि भवभ्रमः। प्रत्यग्दृशां विमोक्षाय निबन्धाय बहिर्दृशाम्।।' (बृ.वा.१.४.२७) इति।।४९५।।

नाभिस्थानीयस्यात्मनः प्राणादिविशेषणानि श्रुतौ दत्तानि, तेषामर्थमाह - चतुर्विधानामित्यादिना। यतः सर्वेषां जीवननिमित्तमहमस्मि इति तेन निमित्तेन प्राणेतिशब्दस्य तज्जन्यबुद्धेश्च समाश्रयो विषयोऽहं भवामि, प्राणयति जीवयतीति व्युत्पत्ते; न तु वायुविशेषे रूढस्य प्राणशब्दस्य यत् प्रवृत्तिनिमित्तं जातिविशेषः तदाश्रयत्वेन, यतोऽहम् अप्राणः वायुविशेषात्मकजडप्राणाद् भिन्नश्चिद्रूप इत्यर्थः।।४९६।।

'नामादि विषय और समष्टि-व्यष्टि करणरूप विषयी, बस ये दो ही संसार कहे जाते हैं। इस सबका भासक प्राण-प्रज्ञास्वरूप मैं ही बताया गया हूँ।।४९१।। गौणप्रज्ञारूप उपाधि वाला व मुख्य प्रज्ञास्वरूप वाला जो मैं प्राणात्मक प्राज्ञ, उस मुझ से ही सत् व असत् रूप वाला (अर्थात् प्रत्यक्ष-परोक्ष, ज्ञात-अज्ञात, कार्य-कारण, भाव-अभाव आदि रूपों में स्थित) विश्व निकला है, जिस विश्व के और उसके मुझसे निकलने के विषय में बुद्धिमान् लोग भी भ्रांत हो जाते हैं! यह विश्व केवल मुझसे निकला ही नहीं, अभी भी मुझ में ही है और अंत में मुझमें ही लीन होगा।।४९२।। जैसे बच्चे द्वारा कल्पित राक्षस की सृष्टि स्थिति व समाप्ति उस एक बच्चे से ही होती है, वैसे विश्व के भी सृष्ट्यादि हमेशा मुझ से ही होते हैं।।४९३।। जैसे अखण्ड आकाश के रहते ही घटाकाश, मठाकाश आदि भेद प्रतीत होते हैं ऐसे सारे भेदों से रहित मुझ में ही प्रमाता-प्रमाण आदि ये सारे भेद भास रहे हैं।।४९४।। जैसे समतल कपड़े पर बने चित्र की ओर दृष्टि जाने पर कपड़ा ऊँचा-नीचा आदि लगता है, इसी तरह विश्वरूप उपाधि की ओर दृष्टि रखने से ही प्राणरूप मुझ अभिन्न में ही भेद प्रतीत होते हैं'।।४९५।। इससे बताया कि अनात्मा की ओर ध्यान देने से ही भेदभाव होता है, आत्मा की ओर ध्यान देने से नहीं। भगवान् सुरेश्वराचार्य ने संसारभ्रम को अपामार्गलता की तरह बताया है जो आत्मा की ओर दृष्टि वालों के लिये विमोक्षका

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। प्रज्ञयैव तु जीवन्ति यस्यामेतावुपाश्रितौ॥४९७॥

प्रज्ञाविशेषणार्थः

ज्ञानकर्मेन्द्रियगणं सान्तःकरणदेहकम्। प्रजानाम्यात्मरूपः सन् प्रज्ञा तेनाऽहमीरितः॥४९८॥

मज्ज्ञप्तौ सकलं विश्वं भाति नान्येन हेतुना। तेन प्रज्ञेति नामाहमुदितो वेदवादिभिः॥४९९॥

देशकालस्वरूपाख्यभेदत्रयविवर्जनात्। स्वप्रकाशस्वभावाच्च प्रज्ञाऽहं वा प्रतर्दन॥५००॥

अथवा ज्ञानतो भिन्ना अध्यासानां समाश्रयाः। रज्ज्वादयस्तथा नाहं तेन प्रज्ञेति कीर्तितः॥५०१॥

ननु चिद्रूपस्य कथं जीवनहेतुत्वमपि? इति शंकां तैत्तिरीयवाक्येन (क.५.५) निरस्यति - न प्राणेनेति। प्रज्ञया अविलुप्तचिता श्रुतिगताऽपरपदोक्तया उपाश्रितौ संनिधिमात्रेण प्रवर्तितौ॥४९७॥

प्रज्ञाविशेषणार्थमाह - ज्ञानेति। प्रकृष्टं ज्ञानं हि प्रज्ञा, प्रकर्षश्च सर्वभासकत्वरूपः, स च मय्यात्मरूपेण साक्षिरूपेण सर्वभासके वर्तते, तेन निमित्तेन प्रज्ञा इत्युक्तोऽस्मीत्यर्थः॥४९८॥

सर्वोपजीव्यत्वलक्षणं प्रकर्षं प्रशब्दार्थमभिप्रेत्यार्थान्तरमाह - मज्ज्ञप्ताविति। मज्ज्ञप्तौ सत्यामेव सर्वं विश्वं भाति, न स्वीयप्रकाशेन; 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मु.२.२.१०) इति श्रुतेः। तेन वा प्रज्ञानामाहमिति॥४९९॥

अपरिच्छिन्नत्वलक्षणं स्वप्रकाशत्वलक्षणं वा प्रकर्षं प्रशब्दार्थमभिप्रेत्यार्थान्तरमाह - देशेति। देशकालस्वरूपैराख्या निरूपणं यस्य तादृशस्य भेदत्रयस्य विवर्जनात्, स्वप्रकाशत्वाद्वा प्रज्ञास्मीति॥५००॥

हेतु है और बाह्यदृष्टि वालों के लिये बंधन का हेतु है। अपामार्ग पर एक ओर से हाथ फेरो तो काँटे नहीं चुभते, दूसरी ओर से फेरो तो चुभ जाते हैं।

उपनिषत् ने नाभिस्थानीय आत्मा को प्राण, प्रज्ञा, आत्मा, आनन्द, अजर और अमृत कहा है। इन शब्दों से उसे क्यों कहा, यह स्पष्ट किया जाता है– 'अण्डजादि चारों तरह के भूतों का जीवन मुझसे ही होता है अतः चाहे मैं प्राणशब्दवाच्य वायुविशेष से सर्वथा अस्पृष्ट हूँ फिर भी क्योंकि मेरे कारण ही प्राणन होता है इसलिये मुझे प्राण कहा और समझा जाता है॥४९६॥ चिद्रूप मेरी जीवनहेतुता श्रुतिसिद्ध है क्योंकि कठवल्ली में कहा है कि कोई भी मरणधर्मा प्राणी केवल श्वास-निःश्वास से नहीं जीवित रहता बल्कि इनसे परे जो अविलुप्त ज्ञानरूप प्रज्ञा है, उसी से जीवित रहता है। स्वयं श्वास-निःश्वास भी उस प्रज्ञा की संनिधि से ही प्रवृत्त होते हैं'॥४९७॥ इस प्रकार प्राण विशेषण समझा दिया।

अब प्रज्ञा विशेषण समझाते हैं– 'ज्ञानेंद्रियाँ, कर्मेंद्रियाँ, अंतःकरण और देह, इन सबका आत्मा (= अधिष्ठान) होते हुए मैं इन्हे जानता हूँ, अतः प्रज्ञा कहा जाता हूँ'॥४९८॥ 'प्र' कहते हैं विशेषता को और 'ज्ञा' कहते हैं जानने को। मैं जानता तो हूँ ही, विशेषता यह है कि वह सब मुझ से ही सत्ता-स्फुरत्ता वाला है। अतः वस्तुतः प्रज्ञा मैं ही हूँ। अन्यत्र तो केवल 'ज्ञा' शब्द चरितार्थ होता है, यह पुराणकार का व्यंग्य है। यही अन्य विशेषणों के लिये भी समझना चाहिये। पूर्वाध्याय के संज्ञानादि पदों के अर्थों में भी आचार्य ने यह चातुरी दिखायी थी [१.७७३ आदि]।

मेरे ज्ञान में यह भी विशेषता है कि वह सबका उपजीव्य है, यह एक और हेतु है कि मैं प्रज्ञा हूँ, यह कहते हैं– 'मेरा प्रकाश होने पर ही सारी दुनिया भासती है, अपने या किसी अन्य के प्रकाश से नहीं। इसलिये भी वेदवादियों ने मुझे प्रज्ञा नाम से कहा है'॥४९९॥

किं च मेरा ज्ञान सीमाओं से रहित है और अन्यनिरपेक्ष है। इस विशेषता को भी अपने नामकरण का हेतु बताते हैं– 'हे प्रतर्दन! देश काल और वस्तु से निरूपणीय तीनों तरह के भेदों से (= सीमाओं से) रहित होने के कारण तथा अपने अपरोक्ष व्यवहार के लिये किसी की अपेक्षा न रखने के कारण भी मैं प्रज्ञा हूँ'॥५००॥

'प्राज्ञ' इति पाठेऽर्थः

स्वसजातिविजातीयवर्जितात्मस्वरूपया। प्रज्ञया नित्ययुक्तत्वात् प्राणः प्राज्ञोऽहमीरितः॥५०२॥

आत्मपदार्थः

योऽयं प्राज्ञो मया तुभ्यं कथितो ह्यसकृत् पुमान्। प्राणः प्राज्ञः स आत्मा ते स्थावरस्य चरस्य च॥५०३॥
अस्मद्धीशब्दगम्योऽयमस्मद्धीशब्दवर्जितः। एक एव जगत्यस्मिन् नभोवद् भेदवर्जितः॥५०४॥

लोकेऽधिष्ठानत्वं पराग्रूपाणां शुक्तिकारज्जुप्रभृतीनामेव प्रसिद्धं, न तु प्रत्यग्वस्तुनः; मम तु ज्ञानरूपस्य प्रत्यग्वस्तुनोऽपि सर्वाधिष्ठानत्वमिति लौकिकाधिष्ठानेभ्यो जडेभ्यो वैलक्षण्यरूपं प्रकर्षं प्रशब्दार्थमभिप्रेत्य अर्थान्तरं दर्शयति – अथवेति। लोके रज्ज्वादिरूपाध्यासानां समाश्रया अधिष्ठानानीति यावत्, ते प्रत्यग्रूपाज्ज्ञानाद् भिन्नाः पराञ्चः, अहं तु तथा ज्ञानाद्भिन्नो नास्मि किन्तु ज्ञानरूप एव सर्वाधिष्ठानमस्मि। तेन विशेषेण वा प्रज्ञेत्युक्त इत्यर्थः। रजतादीनामपि शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यमेवाधिष्ठानमिति तु लोका न जानन्तीति भावः॥५०१॥

प्राज्ञेति पाठान्तरमभिप्रेत्याह – स्वसजातीति। सजातीयादिहीनस्यात्मनः स्वरूपभूतया प्रज्ञया नित्ययुक्तत्वादहं प्राणः प्राज्ञ इति ईरितः। 'प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो ण' (५.२.१०१) इति मत्त्वर्थीयस्य णस्य नित्ययोगेऽपि संभवादिति॥५०२॥

आत्मपदार्थमाह – योऽयमित्यादिपंचभिः। योऽयम् अविलुप्तप्रज्ञायोगी प्राज्ञः परः पुमान् तुभ्यं मया प्राणः प्राणोपाधिकः प्राज्ञः प्रज्ञोपाधिकश्च असकृत् कथितः बोधितः स त आत्मा वास्तवं स्वरूपम्। न केवलं तवैव किन्तु सर्वस्य स्थावरस्य चरस्य च इति॥५०३॥

सर्वान्तरत्वमादायात्मशब्दोऽत्र वर्तत इति दर्शयन्नेकवचनार्थमप्याह– अस्मदिति। अहमित्याकारया धिया, अहमिति शब्देन च अन्तर्भावाभिमुखत्वेनायं गम्यत उपलक्ष्यते, न तु साक्षाद् विषयीक्रियते; अहमिति धियस्तद्भास्यत्वाद् अहमितिशब्दस्य च विशिष्टे शक्तत्वादिति भावः। उपलक्षणभूताभ्यामहंधीशब्दाभ्यां वर्जितोऽसंसृष्टः। उत्तरार्द्धं स्पष्टम्॥५०४॥

ज्ञानरूप आत्मा की एक और ख़ासियत है : दुनियाँ में यही प्रसिद्ध है कि 'यह' इस प्रकार उपलब्ध होने वाली वस्तु ही अधिष्ठान होती है जैसे रस्सी। किन्तु लौकिक सभी जड अधिष्ठानों से विलक्षण ज्ञानरूप आत्मा 'यह' ऐसे कभी भी उपलब्ध नहीं होता पर है सबका अधिष्ठान! इस विशेषता को 'प्र' उपसर्ग से सूचित करते हैं– 'अथवा, लोक में अध्यासों के अधिष्ठान ज्ञान से भिन्न रज्ज्वादि पदार्थ ही देखे गये हैं, पर मैं वैसा नहीं हूँ, इसीलिये प्रज्ञा हूँ'॥५०१॥ यद्यपि सिद्धांत में सर्पादि का अधिष्ठान रज्ज्वादि नहीं तदवच्छिन्नचिद्रूप ज्ञान ही होता है तथापि लौकिकों को वह बात समझ नहीं आती। और वैसा समझने पर भी आत्मा की यह विलक्षणता तो है ही कि लौकिक अधिष्ठान इदमास्पद से अवच्छिन्न ज्ञान होता है जबकि यह अर्थात् सर्वाधिष्ठान आत्मा ऐसा नहीं। दृष्टिसृष्टि होने से परागीश्वर की कारणता नहीं। यद्यपि स्वप्नाधिष्ठान अस्मदास्पद से अवच्छिन्न चित् ही है तथापि यह प्रकर्ष तो रहेगा ही कि बाकी सब अधिष्ठान अज्ञानातिरिक्त से अवच्छिन्न होते हैं जब कि सर्वाधिष्ठान ऐसा नहीं।

किसी परंपरा में उपनिषत् में यहाँ 'प्रज्ञा' की जगह 'प्राज्ञ' विशेषण मिलता है। उसका अर्थ करते हैं– 'स्वगत, सजातीय और विजातीय भेद से रहित आत्मभूत प्रज्ञा से कभी विलग न होने से मैं प्राज्ञ कहा गया हूँ'॥५०२॥ प्रज्ञावान् को प्राज्ञ कहते हैं। उक्त विशेषता वाली प्रज्ञा वाला होने से आत्मा प्राज्ञ है। आत्मा ऐसी प्रज्ञा से हमेशा युक्त ही मिलता है। यद्यपि आत्मा प्रज्ञा ही है तथापि लगता यही है कि 'मुझे ज्ञान है' 'मैं ज्ञान वाला हूँ'; इसीलिये यहाँ प्रज्ञावान् अर्थ किया। ज्ञान की अनुभूयमान धर्मरूपता का अपलाप पंचपादिकादि में भी नहीं किया, चाहे वह रूप है भ्रम ही।

अब 'आत्मा' इस विशेषण का अर्थ करते हैं–'प्राण-प्रज्ञा की उपाधि वाला और मुख्य प्रज्ञा स्वरूप जो यह परम-

नभसो नभ इत्येव नानाधिकरणेष्वपि। एकं नाम यथा तद्वदात्मेत्येकं ममात्मनः॥५०५॥

स्वप्ने यथा हि बहवः सुखदुःखादिभागिनः। आत्मानस्तद्वदेवेमे न भिन्ना वस्तुतः क्वचित्॥५०६॥

एक एव यथा स्वप्ने नानादेहात्मतां व्रजेत्। प्रतर्दन तथैकोऽहं त्वमन्येऽपि च जन्तवः॥५०७॥

यथाऽहमिति हिरण्यगर्भस्य नाम ऐकरूप्येण सर्वशरीरेषु अभिव्यज्यमानं हिरण्यगर्भस्यैकतां सूचयतीति बृहदारण्यके (बृ.१.४) प्रोक्तं, तथा आत्मेति नाम ममैकत्वमिति नभो दृष्टान्तेनैवाह – नभस इति। यः सर्वाधिकरणेषु घटमठादिषु उपाधिषु नभ इति आकारम् एकम् एव नाम तद्वन्ममात्मनः स्वरूपस्य आत्मेत्येकम् एव नामेति॥५०५॥

ननु यद्येकमात्मतत्त्वं तर्हि कथं बहुधाभावो भासते? इत्याशंक्य; अविद्यारूपदोषादेवेति स्वप्नदृष्टान्तेनाह – स्वप्न इति। यथा स्वप्ने सुखदुःखादिभागिनः आत्मानः प्रमातार एकेन दोषबलात् कल्पिताः तद्वदिमे जाग्रति भासमाना कल्पिता वस्तुतः तु न भिन्ना। इति॥५०६॥

एतदेव स्पष्टयति- एक एवेति। स्वप्नेऽपि देहा एव कल्पिताः, तेषामात्मा तु पूर्वसिद्ध एव भवति; तद्वदत्रापीति भावः॥५०७॥

पुरुष तुम्हे मैंने बार-बार बताया है यही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है, आत्मा है। तुम्हारा ही नहीं सारे जड चेतन प्रपंच का यही आत्मा है, स्वरूप है॥५०३॥ यद्यपि अपने द्वारा प्रकाशित की जाने वाली मैं-बुद्धि का यह विषय नहीं तथा वृत्तिआदिविशिष्ट में शक्ति वाले मैं शब्द का यह वाच्य नहीं तथापि मैं-बुद्धि और मैं-शब्द से इस आत्मा का अवगम हो जाता है। इस संसार में जैसे आकाश अकेला है ऐसे ही सब भेदों से रहित आत्मा ही एकमात्र है'॥५०४॥ सूत्रभाष्य में 'अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्' कहा है पर वह आत्मा को मैं-बुद्धि का विषय बताने के लिये नहीं। आचार्यों ने पंचपादिका में विस्तार से मैं किसे कहते हैं यह बताया है। चिदचित् की ग्रंथिरूप अहंकार को मैं कहा जाता है जो आत्मा का प्रत्यायक है क्योंकि स्वरूपतः अनिदम् चित् को इदम् से संवलित कर अभिव्यक्त कर देता है। इसी से मानो चेतन अहंकार का विषय हो जाता है : 'अतस्तस्य विषयवद् भवतीत्युपचारेणानिदश्चिदात्मधातुरस्मत्प्रत्ययविषय उच्यते' (पंच पा. पृ. २३८)। इसी बात को और प्रकट करते हुए अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने अस्मत्प्रत्यय का विषय है का अभिप्राय बताया है कि वह अधिष्ठान बन पाता है '...स्वरूपेणाऽविषयोऽपि अध्यस्ताहंकर्तृत्वादिविशिष्टरूपेण विषयो भवतीति अधिष्ठानत्वयोग्यो भवतीत्यर्थः' (प्रकटा. पृ. १३)। मैं-शब्द का भी वाच्य नहीं होता, उससे लक्षित हो जाता है क्योंकि उसका जो वाच्य अहंकार उसका प्रकाश आत्मा से ही होता है अतः वाच्यसम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार स्वरूप होने से इसे आत्मा कहते हैं और मैं-शब्द व मैं-ज्ञान से समझा जाने के कारण इसे आत्मा कहते हैं यह भगवान् इन्द्र ने स्पष्ट किया।

बृहदारण्यक के अनुसार सभी लोग ख़ुद को मैं कहते हैं जब कि 'मैं' है हिरण्यगर्भ का नाम, अतः सिद्ध होता है कि हिरण्यगर्भ एक ही है, तभी उसका नाम सभी शरीरों में एकरूप से अभिव्यक्त हो रहा है। इसी तरह सब ख़ुद को आत्मा समझते हैं जिससे आत्मा की एकता स्वतः सिद्ध है यह कहते हैं- 'जैसे सभी अधिकरणों में या उपाधियों में आकाश का 'आकाश' यह एक ही नाम बना रहता है उसी तरह सभी देहों में सबके स्वरूपभूत मेरा 'आत्मा' यह एक ही नाम बना रहता है। अतः मैं एक ही हूँ'॥५०५॥ इस प्रकार श्रुति में विशेषणों को एक वचनांत क्यों रखा इसका अभिप्राय स्पष्ट कर दिया।

यदि आत्मा एक है तो ऐसा लगता क्यों है कि नाना आत्मा हैं? इसका उत्तर है- 'जैसे सपने में सुख-दुःखादि भोगने वाले अनेक प्रमाता प्रतीत होते हैं जब कि है वहाँ स्वप्नद्रष्टा अकेला ही, ऐसे ही जाग्रत् में अनेक लगने वाले आत्मा केवल कल्पित हैं। वस्तुतः कहीं विभिन्न आत्मा नहीं हैं॥५०६॥ हे प्रतर्दन! जैसे सपने में एक ही व्यक्ति नाना देहों का आत्मा बन जाता है, इसी तरह अकेला मैं ही तुम हो तथा अन्य जन्तु हैं!'॥५०७॥ स्वाप्नदेह तो तत्काल अनिर्वाच्य

आनन्दपदार्थः

**अनुकूलस्वभावोऽहं सर्वप्रियतमत्वतः। आत्मार्थं सर्व एवाऽयं जन्तुरिच्छति सर्वदा।।
सुखादिकं तदर्थं न स्वात्मानं कर्हिचित् क्वचित्।।५०८।।**

नन्दः सुखं समाख्यातं मदुक्तोक्तिसमाप्तिकृत्। आनन्दात्मा ततोऽहं हि निःसीमसुखरूपभृत्।।५०९।।

प्रजापतेः शतं ये स्युरानन्दाः शतवत्सरम्। आनन्दवारिधेस्तेऽपि मम स्युर्हि कणोपमाः।।५१०।।

आनन्दपदार्थं निरूपयति – अनुकूलेति चतुर्दशभिः। अनुकूलस्वभावः अनुकूलैकस्वरूपः सर्वेषामतिशयेन प्रियत्वात्। लोके भोग्या भावाः प्रियाः, तज्जन्यं सुखं तु प्रियतरम्, आत्मा तु सर्वशेषित्वात् प्रियतम इति हेतोरानन्द इत्युक्त इति। आत्मनः सर्वशेषितां स्फुटयति – आत्मार्थमिति। सर्वो जन्तुः सुखादिकं यद् इच्छति तद् आत्मार्थमेव इच्छति, वैरिसम्बन्धित्वेन अभिमतसुखे कामनाऽदर्शनादिति। तदर्थं सुखाद्यर्थं तु कर्हिचिद् अपि आत्मानं न इच्छति। अतः सुखादीनामप्यात्मार्थत्वेन काम्यमानत्वात् सर्वशेषिताऽऽत्मनः सिद्धा – इति भावः।।५०८।।

आं समन्तात् स्थितो यो नन्दः सुखं मानुषानन्दत्वादितारतम्यपर्यवसानभूमिः स आनन्द इत्यभिप्रेत्याह – नन्द इति। मयेश्वरेण निःश्वसितवदुक्तो वेदः, तस्य या उक्तयो मानुषानन्दादिप्रतिपादिकाः तासां समाप्तिकृत्, यत्र ताः समाप्ता इत्यर्थः। एतादृशः अहमानन्दात्मा इति।।५०९।।

मानुषपितृगन्धर्व-कर्मदेवाऽऽजानदेव-प्रजापतिहिरण्यगर्भानन्दाः शतगुणोत्तरा उक्ताः। तत्र प्रजापत्यानन्दाः शतगुणीकृता हिरण्गर्भानन्दरूपा अपि मे लेशः किमुतान्य इत्याह – प्रजापतेरिति।।५१०।।

बन जाते हैं पर उनसे तादात्म्य तो हम ही करते हैं। अत एव स्वप्न-दृष्ट राजादि शरीर से भी भोग का अनुभव होता है। ऐसे ही यहाँ शरीर भले ही बहुतेरे हों पर उनमें अभिमान करने वाला प्राण-प्रज्ञा से उपहित आत्मा तो एक है।

अब 'आनन्द' विशेषण का अभिप्राय बताते हैं– 'मैं स्वभाव से ही सदा अपने अनुकूल हूँ क्योंकि मैं अपना सब से अधिक प्रियतम हूँ। ये सभी जंतु हमेशा अपने लिये ही सुखादि चाहते हैं। अपने आप को सुखादि के लिये चाहता हो ऐसा कहीं कोई नहीं'।।५०८।। बृहदारण्यक में (२.४) विस्पष्ट किया है कि सब का मुख्य प्रेम स्वयं से है, अपने लिये ही अन्यत्र प्रेम होता है। विषयों को प्रिय, उनसे प्राप्य सुख को प्रियतर और वह सुख भी जिसके लिये चाहिये उस आत्मा को प्रियतम कहना संगत है। 'सुख होवे' इतनी ही इच्छा नहीं क्योंकि शत्रु को होता सुख हमें इष्ट नहीं। 'वह मुझे होवे' यही इच्छा होती है। जहाँ कहीं सुख हो जावे और मैं उसका कारणादि बनता रहूँ ऐसा नहीं चाहते, मुझे सुख हो यह चाहते है अतः सुख शेष ही है तथा मैं शेषी ही हूँ। जहाँ पुत्रादि के सुख के लिये स्वयं को क्लेश दिया जाता है वहाँ भी उस क्लेश से स्वयं को होने वाला संतोषसुख ही प्रधान है। अत एव 'मेरे क्लेश से पुत्र सुखी नहीं हो रहा' ऐसा जानकर भी पितादि क्लेश पाते ही रहते हैं, विरत नहीं होते। किं च पुत्रादि में गौणात्मता होने से वह भी मैं को ही सुखी करने का प्रयास है, यह बात अलग है। इसी प्रकार स्वयं को दुःखसंबंध से छुड़ाने के लिये मरने आदि के प्रयासों में भी मैं ही प्रधान रहता हूँ। इसलिये सर्वशेषी, सर्वप्रियतम होने से मैं ही आनंद हूँ।

आनन्दशब्द के अवयवार्थ से अपनी तद्रूपता कहते हैं– 'नन्द कहते हैं सुख को। मेरे उपदेशरूप वेद के वाक्यों ने जो सुख का तारतम्य बताया है उसकी जहाँ समाप्ति होती है वह निःसीम सुखरूप मैं हूँ अतः मैं आत्मा ही आनन्द हूँ'।।५०९।। 'आ' अर्थात् पूरी तरह। क्योंकि सुखमीमांसा में मानुषानंद से प्रजापति के आनन्द तक सौ-सौ गुणा आधिक्य बताकर उससे भी सौ गुणा आत्मानन्द कहा है व उससे अधिक कोई कहा नहीं तथा क्योंकि व्यापकतम भूमानन्द को अहङ्कारादेश और आत्मादेश से प्रत्यग्रूप स्पष्ट किया है इसलिये सुखपूर्णता की न्यूनतम सीमा वही है तथा एकरस होने से आधिक्य की सीमा का प्रश्न ही नहीं उठता।

सुखानि ये प्रयच्छन्ति शब्दस्पर्शरसादयः। तेऽपि मामेव मत्प्राप्तिप्रकटीकृतमीश्वरम्॥५११॥

यथा समुद्रजो वायुः शीतदोऽत्र नृणां स्मृतः। एवं मत्स्पर्शिनस्तेऽपि विषयाः सुखदाः स्मृताः॥५१२॥

सुखैकरूपः सर्वेषां बुद्धिसाक्षी महेश्वरः। प्रज्ञा प्राणोऽहमेतस्य यदाऽज्ञानं नृणां भवेत्॥५१३॥

तदाऽऽवृतात्मरूपास्ते जन्तवो विषयार्थिनः। आप्नुवन्ति महद् दुःखं तत्त्वं वेत्सि प्रतर्दन॥५१४॥

तत्र हेतुतया 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै.२.७) इति वाक्यार्थं सूचयति – सुखानीति। ये शब्दस्पर्शरसादयो विषयाः सुखानि प्रयच्छन्ति इति सुखप्रदत्वेन व्यवह्रियन्ते तेऽपि मामेवेश्वरं भूमानं प्रयच्छन्ति इति व्यवहार्या, ममैव सुखरूपत्वादिति भावः। ननु कथं भवतो नानासुखात्मत्वं, तेषु भवल्लक्षणानुपलब्धेः? इत्याशंक्य; विशिनष्टि – मत्प्राप्तीति। मम या वेदान्तवाक्यात् प्राप्तिः तया प्रकटीकृतं स्फुटतां नीतमित्यर्थः। तथा च येषां मम स्वरूपे परिचयस्ते सर्वसुखेषु उपाधिपरिहारेण मम सत्यज्ञानादिलक्षणानि पश्यन्त्येव। मूढानान्त्वज्ञानमेवोत्तरमिति भावः। एष परमात्मैव हि यतो लोकानानन्दयति स्वरूपेण आनन्दवतः करोति, तस्मादानन्दरूपो यथा गुडः स्वसंसृष्टान् मधुरान् कुर्वन् मधुरः – इति भूमिकोक्तश्रुत्यर्थः॥५११॥

एतमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति – यथेति। अनुष्णाशीतोऽपि वायुः यथा समुद्रसंसर्गी सन् नृणां भ्रान्तानां शीतदः स्मृतः, वस्तुतः समुद्रस्य एव कणरूपेण शीतकरत्वाद्; एवम् अस्ति–भाति–प्रियमित्युक्तरूपस्य मम तादात्म्यलक्षणस्पर्शवन्तो विषयाः सुखदा इति मूढैरेव स्मृताः, सुखांशस्य मद्रूपत्वादिति भावः॥५१२॥

ननु तवैव सुखरूपत्वे सर्वदा कुतो न सुखभानं, विषयाः सुखप्रदा इति लोकभ्रमे च किं बीजम्? इति शंकाद्वयं निरस्यति – सुखैकेति पञ्चभिः। एतस्य सुखैकरूपत्वादिनोक्तस्य मद्रूपस्य अज्ञानं यदा भवेत् तदा इत्युत्तरेणान्वयः॥५१३॥ तदेति। तदा आत्माऽज्ञानकाले आवृतम् अज्ञानगततमसाच्छादितमात्मरूपं येषान्ते तथा। एतेन सर्वदा सुखरूपत्वेन अभाने हेतुरुक्तः। तादृशा जन्तवो रजसा विषयार्थिनः सन्तो महद्दुखं प्राप्नुवन्ति। तद् आत्मतत्त्वं वेत्सि अधुना मदुपदेशात् साक्षात्करोषि। यद्वा, तद् अज्ञानजं दुःखं त्वं वेत्सि स्मरसीत्यर्थः॥५१४॥

आनंदमीमांसा का सार बताते हैं– 'प्रजापति के आनंद से सौ गुणा आनंद सौ बरस तक हो तो भी मुझ आनन्दसमुद्र के एक बिन्दुतुल्य भी शायद ही हो!'॥५१०॥

तुच्छ सुख क्यों उस आत्मसुख को सीमित नहीं कर सकते इसका रहस्य खोलते हैं– 'जो शब्द स्पर्शादि विषय सुख देते हैं वे भी मेरी प्राप्ति से प्रकट किये ईश्वररूप मुझे ही देते हैं'॥५११॥ अर्थात् विषय–सुख भी विषयोपहित मैं ही हूँ। मेरी प्राप्ति होने पर जो ईश्वररूप प्रकट होता है वह परिपूर्ण है। विषय भी उसी मुझ ईश्वर के अनानन्दापादक आवरण को थोड़ा बहुत हटा लेते हैं जिससे सुख भासता है और लगता है कि विषय से सुख हुआ। क्योंकि विषयसुख भी हूँ मैं ही इसलिये मैं स्वयं की सीमा कैसे बनूँ? इससे विषयसुख की अतिहेयता भी व्यक्त की; भूमा को परिच्छिन्न रूप में उपस्थित करने वाला होने से विषय परिहार्य ही है यह भाव है।

आत्मसुख की वैषयिकता भ्रान्ति है यह सोदाहरण स्पष्ट करते हैं– 'वायु न गर्म है न ठण्डा, लेकिन समुद्र से बहकर आने वाले वायु को लोग भूल से ठण्डक देने वाला समझते हैं जबकि ठण्डक देने वाले हैं वायु में स्थित समुद्रकण। इसी प्रकार मुझसे तादात्म्य वाले विषयों को लोग सुख मानते हैं जबकि उनमें तादात्म्य वाला मैं ही सुखांश हूँ!'॥५१२॥ यहाँ एक रहस्य आचार्यों ने व्यक्त किया है जो अन्य सभी दर्शनों से वेदांत में विशेष है। सभी विषय आनंदात्मा पर स्वरूपतः अध्यस्त होने पर भी हमेशा सबको सुख नहीं देते। आधारविधया सुखप्रकाश होता तो सदा सर्वदा होना चाहिये। संसर्गाध्यास में चेतन का स्वातंत्र्य अनुभूत है, हम समझ–बूझकर अनेक व्यक्तियों से तादात्म्य रखते व समाप्त करते हैं। ऐसे ही परमेश्वर आनन्दात्मना विषयों से तादात्म्य स्वतंत्रता से ही करते हैं : जब जिसके प्रति जिसे सुख लगाना

विषयप्राप्तितस्तेषां दुःखमेतद् विनश्यति। विनष्टदुःखा धिषणा क्षणं भवति निश्चला॥५१५॥
यावद् न जायते जन्तोरिच्छा दुःखकरी परा। तावद् बुद्धिर्मयाऽऽनन्दरूपेणात्मस्वरूपिणा॥
व्याप्ता सुखैकरूपेव भाति बाह्यार्थनिःस्पृहा॥५१६॥
अयःपिण्डो यथा वह्निव्याप्तो भाति हि तादृशः। प्रतर्दन तथा बुद्धिर्मया व्याप्ता सुखं भवेत्॥५१७॥

विषयेति। पुण्यकर्मविपाकेन काम्यमानस्य विषयस्य प्राप्तेः हेतोः तेषां जनानाम् एतद् इच्छारूपेण परिणतं रजोमयं दुःखं विनश्यति, तदा तेषां धिषणा बुद्धिः विनष्टदुःखा शान्तरजस्का सती क्षणमात्रं सत्त्वगुणोदयाद् निश्चला भवति इति॥५१५॥

यावदिति। यावत् परा अन्या इच्छा न जायते तावद् बुद्धिः सुखैकरूपेव भाति। कीदृशी बुद्धिः? मयाऽऽनन्दरूपेण सर्वात्मस्वरूपिणा व्याप्ता सूर्येण दर्पणवद् अनुप्रविष्टा; अत एव बाह्यार्थनिःस्पृहा। कीदृशी इच्छा? दुःखकरी दुःखवर्द्धनशीलेति॥५१६॥

सुखव्याप्तत्वेन सुखरूपलाभे दृष्टान्तमाह – अयःपिण्ड इति। अयो लोहम्। सुखं भवेत् सुखरूपा भवेदित्यर्थः। एतेन तां बुद्धेरवस्थामेव सुखमिति मत्वा, तस्या अवस्थाया विषयप्राप्त्यन्वयव्यतिरेकौ च दृष्ट्वा, विषयाः सुखप्रदा इत्यज्ञजनैः व्यवह्रियन्त इति दर्शितम्॥५१७॥

चाहते हैं तभी उसी के प्रति उससे आनन्दतादात्म्य होता है। एवं च प्रत्येक सुख भगवान् का हमारे प्रति किया एक विशेष व्यापार है। इसके अनुसंधान से समस्त क्लेश व मोह निवृत्त हो सकते हैं। यही न्याय सत् व चित् में भी है। परिणामवाद में घट तो नित्य है यह घटभाष्यादि में स्पष्ट है। क्यों कभी वह 'है' यों व्यवहृत होता है तथा कभी 'नहीं है' व्यवहृत होता है? स्वरूपतः समान रहने पर भी जब परमात्मा सदात्मना तादात्म्य करते हैं तभी घट सद्रूप से व्यवहृत हो जाता है। ऐसे ही जब वे चिदात्मना तादात्म्य करते हैं तब घट ज्ञात हो जाता है। इस रीति से सारा व्यवहार परमेश्वर का विलास सिद्ध होता है। तादात्म्य के कादाचित्कत्व में कर्मादि की निमित्तता आदि सारी व्यवस्थायें यथावत् हैं। होगा यह तादात्म्य भी मायारूप ही अतः किसी प्रकार की सिद्धांतहानि की शंका नहीं। लाभ यह है कि अन्य वाद विषयों की सच्चिदानंदता कभी होती है कभी नहीं इसका कोई कारण कह नहीं पाते जब कि इस रीति से कारण स्पष्ट हो जाता है। एकजीववाद में भी यह प्रक्रिया स्वीकार्य है, जो उस पक्ष में ईश्वर की स्थिति है वही उसके इस व्यापार की हो जायेगी। वेदांत का कोई प्रस्थान तत्पदार्थ का निषेध तो करता नहीं, अतः सर्वत्र यह तथ्य समझ लेना चाहिये। शिव ही हमसे निरंतर क्रीडा कर रहा है यह भक्ति का स्वरूप इसी शांकर सिद्धांत से समझ आ सकता है। और क्योंकि ज्ञानवृत्ति से विषयावच्छेदेन विद्यमान आवरण को हटाकर, अपरोक्षवृत्ति से अंतःकरणावच्छेदेन विद्यमान आवरण को हटाकर तथा इच्छावृत्ति से अनिष्यमाणता को हटाकर मैं ही यह सब करता लग रहा हूँ इसलिये मैं ही शिव हूँ यह सहज में समझ आ जाता है।

सुखरूप आत्मा नित्य रहते दुःख क्यों? इसका उत्तर देते हैं– 'प्राण-प्रज्ञारूप मैं महेश्वर ही सभी की बुद्धियों का साक्षी हूँ, क्षेत्रज्ञ हूँ, व मैं ही आनन्दघनस्वरूप हूँ। पर लोगों को जब तक इसका अज्ञान रहता है तब तक ढके हुए आत्मस्वरूप वाले वे जंतु विषयाकांक्षी होकर महान् दुःख पाते हैं। हे प्रतर्दन! तुम्हे भी याद ही होगा कि मेरे उपदेश से पहले जब तक तुम आनन्दात्मा को नहीं समझे थे, कितना क्लेश पा रहे थे। अब तुमने उसे जान लिया है अतः तुम आनंदमग्न हो॥५१३-५१४॥ किन्तु जो अज्ञानी हैं उनको विषयकामनारूप दुःख होते रहते हैं। विषय मिलने पर वह कामनारूप दुःख हटता है और क्षणभर के लिये चित्त शांत होता है। उस शांत चित्त में जब तक जन्तु को दुःख देने वाली कोई और इच्छा उत्पन्न नहीं होती तब तक आत्मस्वरूप मैं आनन्दरूप से उस चित्त को व्याप्त करता हूँ जिससे लगता है मानो बुद्धि ही सुखरूप हो अर्थात् बुद्धि में सुख नामक कोई वृत्ति उत्पन्न हो गयी हो! अनात्म-वस्तु की इच्छा न रखने वाली बुद्धि ही सुखवृत्ति समझ लो, यद्यपि वैसी बुद्धि को आनंदरूप से व्याप्त करने वाला मैं ही सुख हूँ॥५१५-५१६॥ हे

समुद्रान्तःस्थितो राजन् सच्छिद्रः सर्षपो यथा। स्वप्रमाणेन गृह्णाति नीरं नैवाधिकं क्वचित्॥५१८॥

एवं विषयजा बुद्धिर्मय्यनन्तसुखोदधौ। पतिता मां हि गृह्णाति स्वसमानं सुखप्रदम्॥५१९॥

सुखे क्षुतादिजेऽप्येवमङ्गजाड्यादिमोचने। तत्रापीच्छाऽनुमातव्या तद्रोधेऽस्ति स्फुटा हि सा॥५२०॥

नन्वेतादृशबुद्ध्यवस्थाया एव लौकिकसुखत्वे लौकिकसुखानामविशेषापत्तिः? इत्याशंक्य; यथा नैर्मल्यतारतम्याद् दर्पणस्य प्रतिबिम्बग्रहणे विशेषः तथा बुद्धेः सत्त्वगुणात्मिकायाः सत्त्वनैर्मल्यानुसारेण आत्मनः सुखरूपस्य प्रतिबिम्बग्रहण इति सदृष्टान्तमाह – समुद्रान्तरिति द्वाभ्याम्। यथा सर्षपकणः छिद्रेण बिलेन सहितः समुद्रेऽपि स्थितः स्वबिलपरिमितमेव जलं गृह्णाति॥५१८॥ एवमिति। एवं मय्यनन्तसुखोदधौ पतिता अपि विषयजा बुद्धिः स्वसमानं स्वरूपेण सत्त्वगुणेन तारतम्यावस्थितेन समानमेव मां गृह्णाति स्वस्मिन् प्रतिबिम्बितं करोतीति यावत्। कीदृशं माम्? सुखप्रदम् इति॥५१९॥

सर्वेषां लौकिकसुखानामिच्छोपशमाभिव्यङ्ग्यत्वमिच्छोपशमस्य च पुनरिच्छोदयात् क्षणभङ्गुरत्वेन अनित्यत्वं च समानमित्याह – सुख इति। क्षुतं छिक्का, तत्प्रभृति जन्यतया प्रसिद्धे सुखेऽपि एवं क्षणभङ्गुरेच्छोपशमाभिव्यङ्ग्यत्वादिकं समानमित्यर्थः। ननु छिक्कासुखस्थल इच्छा न प्रसिद्धा? इत्यत आह – अङ्गेत्यादि। तत्र छिक्काजन्यसुखस्थलेऽपि अङ्गजाड्यादिमोचनविषयिका 'मम पीनसादिजन्यमङ्गजाड्यं निवर्तताम्' इत्याकारिका इच्छा सुखरूपकार्यलिङ्गेनैव अनुमातव्या। न केवलमनुमानमेव तत्रेच्छायाः किन्तु साक्षिप्रत्यक्षसिद्धत्वमपीत्याह – तद्रोध इति। तस्याश्छिक्काया रोधे सा इच्छा स्फुटा अनुभूयमानैवास्तीत्यर्थः॥५२०॥

प्रतर्दन! जैसे वह्नि से व्याप्त लोहपिण्ड वह्नि की तरह दीखता है, वैसे ही मुझसे प्राप्त बुद्धि सुख लगती है'॥५१७॥ अतः स्पष्ट है कि विषयों से वैराग्य कर मन शांत रखें तो आनन्द ही भासता रहेगा।

प्रश्न होता है कि अभाव में तारतम्य होता नहीं अतः हर स्पृहा की निवृत्ति वाली बुद्धि एकरूप ही रहेगी तो लौकिक सुखों में कमो-बेश का अनुभव कैसे? उत्तर है कि भाववस्तु को ही किसी व्यपेक्षा से अभाव कहते हैं अतः अभाव में तारतम्य संभव है, अत एव 'कमी', 'अधिक कमी', 'थोड़ी कमी' आदि अबाधित प्रत्यय संगत हो सकते हैं। ऐसे ही स्पृहानिवृत्ति से होने वाली चित्त की शांति में तारतम्य है। जैसे जल में वायु से कम्प होता है, पत्थर डालने पर और अधिक कंप होता है, हाथी प्रविष्ट हो जाने पर बहुत अधिक कंप होता है तथा इनके विपरीत क्रम से निवृत्त होने पर शांति बढ़ती जाती है, ऐसे ही प्रकृत में है। और जैसे निष्कंपता बढ़ने पर जल में मुखादिका प्रतिबिंब स्पष्टतर होता जाता है ऐसे ही चित्त में शांति बढ़ने पर सुखप्रकाश बढ़ता जाता है। रजोगुण व तमोगुण उसे जितना कम अभिभूत करेंगे उतना ही उसका स्वाभाविक सत्त्व अधिक व्यक्त होगा। एवं च विषयसुख में तारतम्य चित्तशांति के अनुपात से हो जाता है। इसमें भी कारणता ईश्वर की होने से पूर्वोक्त से विरोध नहीं। प्रकृत ग्रंथ में कही प्रक्रिया से सभी सुख प्राज्ञ-स्थिति में हैं क्योंकि विश्व-तैजस तो सवृत्तिकचित्त के रहते ही संभव हैं, तथा प्राज्ञ व ईश्वर का अभेद प्रसिद्ध ही है अतः अध्यात्मदृष्टि से भी पूर्वोक्त व्यवस्था का भंग नहीं। यदि समष्टिता न मानने का ही आग्रह हो तो अज्ञान में यह शक्ति समझनी चाहिये कि स्वतंत्रता से करते हुए भी हमें स्वतंत्रता का भान नहीं है। अभासमान भी आत्मस्वातन्त्र्य शास्त्रप्रामाण्य से मानना ही है।

लौकिक सुख का तारतम्य उदाहरणपूर्वक उपपन्न करते हैं– 'हे राजन्! छिद्रयुक्त सरसों का दाना चाहे समुद्र के अंदर पहुँच जाये, वह उतना ही पानी ग्रहण करता है जितना उसमें छेद है, उससे अधिक पानी कभी ग्रहण नहीं करेगा। इसी तरह विषयलाभ से उत्पन्न शान्ति वाली बुद्धि मुझ अनन्त सुखसागर में पड़कर भी निःसीम सुखप्रद मेरा उतना ही ग्रहण कर पाती है जितनी वह शांत हो गयी है'॥५१८-५१९॥ छिद्र के दृष्टांत से अभाव का तारतम्य व्यक्त कर दिया। आकाशरूप होने से छिद्र का बड़ा-छोटापन सर्षपादि के अवयवों के अभाव के तारतम्य से ही है। 'विषयजा बुद्धिः' में बुद्धिपद शान्तिविशिष्ट बुद्धि का वाचक है अतः विषय विशेषण का उत्पादक होने से 'विषयजा' ठीक ही कहा है।

एवं सर्वशरीरेषु सुखदोऽहं न चापरः। आनन्दात्मा त्वमेवैष प्रतर्दन न संशयः॥५२१॥

अजरामृतविशेषणार्थः

एवंभूतस्य नैवास्ति तव देहः कथञ्चन। तदभावात् कथं[1] तस्य धर्मौ स्यातां जरामृती॥५२२॥

नात्मनः पुण्यपापे

न च ते बुद्धिरप्यस्ति तस्याः साक्षिस्वरूपिणः। तदभावात् कथं स्यातामकर्तुः पुण्यपातके॥५२३॥

तयोरभावे केन त्वमिहामुत्र फलोपभाक्। आधिक्यन्यूनताभ्यांस्त ऐश्वर्यस्य हि सर्वदा॥५२४॥

फलोपभोगिनो नित्यं वृद्धिह्रासौ प्रतर्दन। अभोक्तुस्तव केनैतौ स्यातां राजन्नकारणौ॥५२५॥

फलितमाह – एवमिति। एवम् इच्छोपशमद्वाराऽभिव्यक्तिरीत्या। स च तव स्वरूपमेवेत्याह – आनन्दात्मेति॥५२१॥

अजरामृतविशेषणे व्याचष्टे – एवंभूतस्येति। एवंभूतस्य परिपूर्णानन्दरूपं जानतो देहः अवच्छेदकतया नास्ति, अध्यासमूलाविद्याया अभावादिति भावः। तदभावे देहाभावे तन्निष्ठजरामरणे कुतः स्यातामिति॥५२२॥

'न साधुना कर्मणा भूयान्' (कौ.३.९)[2] इत्यादि व्याकरोति – न च त इति त्रिभिः। 'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' (तै.२.५) इति श्रुतेः धर्माधर्मयोः तत्कारणयत्नस्य चाश्रयभूता बुद्धिरेव तावत् तव नास्ति। कीदृशस्य तव? तस्या बुद्धेः साक्षिरूपस्य। न हि लोकेऽपि साक्ष्यं साक्षिणं स्पृशतीति। तदभावात् तस्या बुद्धेरभावाद् अकर्तुः तव पुण्यपातके कथं स्यातामिति॥५२३॥

सभी सांसारिक सुखों में ये दो समानताये हैं कि वे इच्छा की उपशांति से अभिव्यक्त होते हैं और क्षणभंगुर होते हैं। यह बताते हैं– 'छींकने आदि से होने वाला सुख भी इच्छानिवृत्ति का ही फल है। 'मेरे अंगों की जडता आदि हट जाये' इत्यादि आकार वाली इच्छा पूरी करने वाली छींक ही सुख देती है अतः व्यक्त न होने पर भी अनुमान से इच्छा समझनी चाहिये। यदि छींक रुक जाये तब तो इच्छा स्पष्ट ही हो जाती है'॥५२०॥ किसी परिस्थिति में छींक आने से बड़ा दुःख होता है अतः स्वरूप से छींक सुखकारी नहीं, उसकी इच्छा का निवारण ही सुखकारी है।

'सार यह है कि सभी शरीरों में उक्त विधान से सुख देने वाला आनंदात्मा मैं ही हूँ, और कोई नहीं। हे प्रतर्दन! यह मैं तू ही है, इसमें कोई संशय नहीं'॥५२१॥

अवशिष्ट दोनों विशेषणों की व्याख्या करते हैं– 'ऐसे परिपूर्णानन्द तेरा देह होवे यह किसी तरह संभव नहीं। जब देह ही तेरा नहीं तो उसके धर्म जरा और मरण, वे तेरे कैसे होंगे?'॥५२२॥ यह 'अजरोऽमृतः' का स्पष्टार्थ है।

आत्मा की अविक्रियता बताने के लिये उपनिषत् में कहा है कि वह पुण्य कर्म से अधिक और पाप कर्म से न्यून नहीं हो जाता। तात्पर्य है कि चिच्छायावान् अहंकार के पुण्य-पाप में ममत्वाध्यास होने पर देवादिदेहों के अहंकार में अहन्त्वाध्यास होता है, सम्यक् ज्ञान से अध्यास की संभावना भी हट जाने पर अहंकार को पुण्य-पाप अंकुर को भुँजे बीज की तरह उत्पन्न करने में समर्थ नहीं रहते। चेतन को 'मैंने भोगा' ऐसा लगे तभी कर्म सफल है अन्यथा स्वर्गादि दृश्यरूप में परिणत होने पर भी उसे सफल नहीं कह सकते। यही विषय बताते हैं।

'धर्माधर्म और उसके कारणभूत प्रयत्न की आश्रय बुद्धि तेरा स्वरूप नहीं क्योंकि तू उसका साक्षी है। बुद्धिरहित तुझ अकर्ता के पुण्य-पाप क्योंकर होंगे?॥५२३॥ पुण्य-पाप के बिना इस लोक व परलोक में तुम फल भोगने वाले क्यों बनोगे? जो कर्मों के फलों का उपभोग करता है उसके कर्मफलरूप ऐश्वर्य के बढ़ने से उसकी वृद्धि (बढ़ोतरी) होती है

---

१. तदभावे कुतस्तस्य-इति टीकापाठः प्रतीयते॥ २. 'न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कर्मणा कनीयान्'।

'एष ह्येव साधु कर्मे' त्यादेरर्थः

सर्वसाक्षी मया यस्त्वं मद्रूप इह कीर्तितः। स त्वं कर्मपराधीनो नासि क्वापि कथञ्चन॥
कारयस्येव बुद्ध्यादीन् किन्तु त्वं पुण्यपातके॥५२६॥

पुण्यं तं कारयस्येष यं स्वर्गं नेतुमिच्छसि। पातकं चाधिकं तं यं नरकं नेतुमिच्छसि॥५२७॥

तयोरिति। तयोः पुण्यपापयोः अभावे सति इहामुत्र वा लोके फलोपभाक् फलभोक्ता केन हेतुना भवेदिति? न केनापीति। फलोपभोगिन एव च ऐश्वर्यस्य कर्मफलस्य आधिक्यन्यूनताभ्यां वृद्धिह्रासौ भूयस्त्वकनीयस्त्वरूपौ स्याताम्, तव तु अकर्तृत्वाद् अभोक्तुः एतौ वृद्धिह्रासौ कथं स्यातामिति॥५२४-५२५॥

एवं ज्ञाततत्त्वं प्रतर्दनं स्वाराज्यपदे स्थापयित्वा तस्मिन्नन्तर्यामिणो धर्मान् व्यपदिशन् 'एष ह्येव साधु कारयति' (कौ.३.९)[1] इत्यादिवाक्यं व्याकरोति – सर्वेति। यस्त्वं सर्वसाक्षी सर्वान्तरः मद्रूपः ममेश्वरस्य रूपमद्वयत्वं, तदेव रूपं यस्य, एतादृशो वर्णितोसि स त्वं कर्मपराधीनो नासि, किन्तु बुद्ध्यादीन् पुण्यं पातकं च कारयसि – कुर्वतः सन्निधिमात्रेण प्रेरयसीति॥५२६॥ तत्र व्यवस्थामाह – पुण्यमिति। एष त्वमीश्वरः यं स्वर्गं नेतुमिच्छसि तं पुण्यं साधु कर्म कारयसि। यं तु नरकं नेतुमिच्छसि तमधिकं पापं कारयसीति॥५२७॥

और उक्त ऐश्वर्य घटने से उसका ह्रास होता है। हे राजा प्रतर्दन! तुम अभोक्ता हो अतः तुम्हारे वृद्धि-ह्रास कैसे होंगे? कथमपि नहीं होंगे'॥५२४-५२५॥

तत्-त्वम्-पदार्थों की एकता स्पष्ट करने के लिये उपनिषत् ने अन्तर्यामी ईश्वर के धर्म प्राण-प्रज्ञोपलक्षित स्वरूप में बताये हैं। प्राण-प्रज्ञा के रहते ही अर्थात् जब चेतन उन पर आरुढ होकर नामादि ग्रहण करता है तब ही उसी चेतन में ईश्वरता भी है। उपाधिबाध के बाद तो निर्विशेषता ही है। किंतु उपाधिदशा में ईश्वररूप से वही चेतन कर्माध्यक्ष ही रहता है, जबकि प्राण-प्रज्ञादि में तादात्म्य वाला हुआ वही कर्मकृत् हो जाता है। जैसे पौधों के बढ़ने में वर्षा का पूर्ण योगदान है पर पौधों के भेद में बीज ही हेतु हैं, ऐसे ही ईश्वर ही सब कर्म कराता है पर कर्म के पुण्य-पापादि भेदों में हमरी वासनायें कारण हैं। श्रुति ने कहा है कि यह प्राण-प्रज्ञोपाधिक परमात्मा ही जिसे स्वर्ग ले जाना चाहता है उससे सत्कर्म करा लेता है और जिसे नरक ले जाना चाहता है उससे असत् कर्म करा लेता है। यही लोकपाल है, लोकों का अधिपति है, सर्वेश्वर है। इस पर एक शंका प्रायः उठती है कि प्रथमतः क्यों ईश्वर में ऐसी विषम इच्छा होती है और द्वितीयतः जबर्दस्ती कराये कर्म का फल भुगवाना क्या अन्याय नहीं है? इसका सरल समाधान है कि अनादि जन्म-प्रवाह में संचित हमारी वासनाओं के भेद से ही ईश्वर हमारे प्रति विषम इच्छा करता है तथा संनिधिरूप सामर्थ्य देना ही उसका 'कराना' है अतः करने वाले हम हैं जिससे फल हमें मिलना संगत है। कृपालु होने से हमारे स्वातंत्र्य का उपघात न करते हुए शास्त्र द्वारा हमें अच्छे-बुरे का बोध भी करा देता है। अथवा जिस प्रकार सरकार का हर अफ़सर सरकार है; किसी अफ़सर ने किया हो, कार्य वह एक सरकार द्वारा ही किया गया है, किन्तु मिथ्याभिनिवेशमात्र से 'पूर्व अफ़सर ने गलत किया' 'मैं अच्छा करूँगा' आदि मान्यता होकर राग-द्वेषादि होते हैं जो सुख-दुःख के हेतु हो जाते हैं; उसी प्रकार न केवल कराने वाला वरन् करने वाला भी वही एक महेश्वर है, 'हम' तो वह मिथ्याभिनिवेशरूप हैं जो बेवजह सुखी-दुःखी हैं। अतः स्वयं के प्रति ईश्वर का वैषम्य या सही-गलत कर सुख-दुःख भोगना संगत है। अफसररूप सरकार के गलत निर्णय का फलभूत घाटा सरकार का होता है। इसी दृष्टि से शंकरानन्द जी महाराज पुराण में बतायेंगे कि ईश्वर बुद्धि आदि से अच्छे-बुरे कर्म कराता है। वे जीव का प्रसंग ही नहीं लाते क्योंकि अभेदोपदेश के बाद प्रतर्दन को यह बात कही जा रही है जब उसका जीवभाव रह नहीं गया। किं च स्वप्नसम विवर्तभूत प्रपंच में वैषम्य, अन्याय आदि का होना कोई दोष

---

१. 'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमन्वानुनेषति एष एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो नुनुत्सते'।

पुण्यपापे च तद्वद्धि कारयस्यपि देहिनम्। तं यं मानुषलोकं त्वं नेतुमिच्छसि सर्वदृक्॥
अतः कर्मपराधीनः कथं भवसि मद्वपुः॥५२८॥

लोकपालादिविशेषणानामर्थः

य एष त्वं मया प्रोक्तः साक्षी सर्वनियामकः। एष एव जगत् पासि मातृवद् दीनवत्सलः॥५२९॥

अधिष्ठाय तथा सर्वं स्वकीयत्वेन देवराट्। स्वामी च विविधैर्भोगैः पासि सर्वानहर्निशम्॥५३०॥

आर्थिकमर्थमाह- पुण्यपापे चेति। तं देहिनं पुण्यपापे उभे कारयसि यं मानुषलोकं नेतुमिच्छसीति। न च वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गः, 'पुण्यः पुण्येन भवति' (बृ.३.२.१३) इति श्रुतेः पूर्वकर्मापेक्षया प्रवर्तनादित्याह- सर्वदृगिति। सर्वज्ञत्वात् पूर्वकर्मणामपि द्रष्टेत्यर्थः। फलितमाह - अत इति। मद्वपुः मद्रूपः॥५२८॥

'लोकपाले'ति[१] विशेषणस्यार्थमाह - य एष इति। जगत् सर्वं लोकं पासि पालयसि मातृवद् इति॥५२९॥

'लोकाधिपति'-विशेषणस्यार्थमाह - अधिष्ठायेति। सर्वं जगत् स्वकीयत्वेन अधिष्ठाय अभिमन्येति यावत्, सर्वान् विविधैर्भोगैरहर्निशं पासि तर्पयसीति। क इव? स्वामीव; यथा लोके गृहस्वामी बन्धून् विविधैर्भोगैः तर्पयति तद्वदित्यर्थः। यतस्त्वं देवराट् देवानामग्न्यादीनां शमादिमतां वा राड् राजेति॥५३०॥

नहीं यह दृष्टिसृष्टि के आलोचन से इसी अध्याय में स्पष्ट कर दिया गया है। वस्तुतस्तु द्वैत है ही नहीं कि ये प्रश्न हों व इनके समाधानों की जरूरत हो।

इन्द्र बताते हैं कि उक्त प्रज्ञात्मा ही ईश्वर है– 'सब के साक्षी जिस तुझे मैंने अपना स्वरूप कहा है वह तू कभी किसी तरह कार्य के परतन्त्र नहीं है। किन्तु बुद्धि आदि से तू पुण्य-पाप कराता है॥५२६॥ जिस बुद्धि आदि को तू स्वर्ग ले जाना चाहता है उससे यही प्रज्ञात्मा तू ईश्वर पुण्य करा लेता है तथा जिसे नरक ले जाना चाहता है उससे अधिकाधिक पाप करा लेता है॥५२७॥ जिस देहसम्बन्धी को तू मनुष्यलोक पहुँचाना चाहता है उससे पुण्य-पाप दोनों प्रायः बराबर करा लेता है। तू तो सभी कर्मों का द्रष्टामात्र है। मेरा स्वरूप होने से तू कर्मों के अधीन नहीं'॥५२८॥ यहाँ ध्यान दें तो मनुष्यपर्याय में 'देहिनम्' कहा जबकि पूर्व में 'बुद्ध्यादीन्' कहा था। एकरूपता के लिये, स्थूल शरीर को देह मानकर तत्सम्बद्ध बुद्ध्यादि ही देहिशब्दार्थ हैं यह समझ सकते हैं। वस्तुतः दृष्टिसृष्टि के समाश्रयण से स्वातिरिक्त स्थल पर अध्यास मानना अनपेक्षित होने से तथा स्वयं में अध्यास प्रत्यक्ष होने से यह कथनभेद है। किं च शास्त्राधिकार साध्यास को ही है अतः पुण्य-पाप अध्यासपुरःसर ही होंगे यह भी विवक्षित है। देहित्व हट जाने पर ईश्वर भी हमसे पुण्य-पाप नहीं करा सकता यह भाव है। यह भी जान लेना चाहिये कि एकभविकवाद तो अत्यन्त अस्वीकृत होने से यहाँ जो तत्तद् उद्देश्य से 'करा लेना' कहा वह न केवल प्रत्येक कर्म कराने के ही तात्पर्य से वरन् तत्तद् योनि आदि के आरंभक प्रारब्धचयन के तात्पर्य से भी है। अनंत संचित कर्मों से कुछेक निश्चित करने पड़ते हैं जिन्हे एक जन्म में भोगना है, यह कार्य ईश्वर करता है। पुनश्च क्यों देवतिर्यगादिभावों का क्रम वह चुनता है? यह प्रश्न नहीं करना चाहिये। अथवा मरणकालिकवासना का अनुसरण कर चुनता है इससे सन्तोष कर लेना चाहिये।

'लोकपाल' विशेषण का अर्थ बताते हैं– 'जो यह तू साक्षी मेरे द्वारा सबका नियामक कहा गया है वही तू दीनों पर वात्सल्य वाला है अतः माता की तरह सारे लोकों का पालन करता है'॥५२९॥

'लोकाधिपति' विशेषण का अभिप्राय स्पष्ट करते हैं– 'जैसे घर का मालिक नाना भोगों से अपने घर वालों को तृप्त करता रहता है ऐसे ही तू सारे जगत् को अपना मानकर सभी लोगों को रात-दिन तृप्त करता रहता है क्योंकि तू ही देवराज

---

१. 'एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वरः' इति।

एष सर्वान् हि शूरादीन् मर्यादासेतुभेदकान्। राजेव स्वबलेनैव नियच्छसि महेश्वरः॥५३१॥

'सम आत्मेति विद्यादि' त्यस्यार्थः

समः सर्वेषु भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च। महाभूतोपमो देव आत्मा ते कथितो मया॥
एवं मामात्मरूपेण विजानीहि प्रतर्दन॥५३२॥

इन्द्रोपदेशसमाप्तिः

एतद्धिततमं मन्ये मनुष्याय न चापरम्॥

गुरुराह

एवं हिततमं प्राह ह्यात्मज्ञानं शतक्रतुः। प्रतर्दनाय सर्वज्ञः सत्यपाशवशङ्गतः॥५३३॥

प्रतर्दनोऽपि तं नत्वा शक्रतुल्यपराक्रमः। अनुज्ञातोऽथ शक्रेण जगाम स्वपुरं प्रति॥५३४॥

प्रारब्धकर्मनिर्वाणं कुर्वन् नानाविधां श्रियम्। उपभुज्यास्य देहस्य पाते शक्रमवाप सः॥५३५॥

'लोकेश' विशेषणस्यार्थमाह – एष सर्वानिति। **मर्यादायाः** – **पुण्यवन्तः स्वर्गं गच्छन्ति पापिनो नरकम्** – **इत्यादिरूपायाः स्वकृताया ये सेतवः मृद्दार्वादिमयः सेतुर्यथा जलानां विधारकः तद्वद् ये विधारका वेदब्राह्मणादयः तेषां ये भेदका विरोधिनः शूराः, आदिपदेन मायाविनश्च, तान् स्वबलेनैव राजवद् नियच्छसि दमं प्रापयसि॥५३१॥**

अध्यायान्तिमवाक्यार्थमाह[१]– सम इति। **महाभूतमाकाशम्॥५३२॥**

एतन्निरूपणे वरपूर्तिं दर्शयति – एतदिति। **कथाशेषं पूरयति** – एवमित्यादिना॥५३३॥ प्रतर्दनोऽपीति॥५३४॥ प्रारब्धेति। **प्रारब्धस्य निर्वाणं समाप्तिं कुर्वन्, तदर्थमिति यावत्।** श्रियमुपभुज्य अस्य **वर्तमानस्य** देहस्य पाते **सति शक्रम् इन्द्रस्य पारमार्थिकं स्वरूपं ब्रह्मभावं विदेहमोक्षमिति यावत्।** अवाप **प्राप्तवानिति॥५३५॥**

है'॥५३०॥ प्रज्ञा की हिरण्यगर्भरूपता समझाना अभिप्रेत है।

'लोकेश' विशेषण का भाव व्यक्त करते हैं– 'जैसे सेतु तोड़ने आदि वालों को राजा नियंत्रित करते हैं ऐसे प्रज्ञात्मा महेश्वररूप तुम ही क्रतु की मर्यादा तोड़ने वालों को अपने बल से ही नियंत्रित कर लेते हो'॥५३१॥ ईश्वर ने ही मर्यादा बनायी है कि अमुक कर्म स्वर्गहेतु है, पुण्य है व अमुक नरकहेतु है, पाप है। यह मर्यादा तो कोई तोड़ नहीं सकता क्योंकि यह शाश्वत नियम है। किन्तु इन नियमों को व्यक्त करने वाले वेद, ब्राह्मण आदि हैं उनका विरोध वे लोग करते हैं जिन्हें अपने बल पर गर्व होता है, ख़ुद को शूरवीर मानते हैं। ऐसे ही नास्तिक और नास्तिकप्राय द्वैतवादी आदि उक्त नियमों को तोड़-मरोड़कर प्रकट करते हैं जिससे भोले-भाले लोग बहककर गलत मार्गों पर चल देते हैं। ऐसे सभी को भगवान् समय-समय पर नियंत्रित करते हैं। 'स्वबलेनैव' इसलिये कहा कि उनमें भी बल तो महेश्वर का ही है, दुरुपयोग भले ही उन्होंने किया हो। नियन्त्रण चाहने पर भगवान् उनसे बल छीन लेते हैं जैसे दुष्ट अफ़सर पदच्युत कर दिया जाता है। यहाँ भी मर्यादा तोड़ने वाले की शिवरूपता में संदेह नहीं इत्यादि पूर्ववत् ही जानना चाहिये। किसी परंपरा में उपनिषत् में 'लोकेशः' की जगह 'सर्वेशः' पाठ है। अर्थ एक ही है। पुराणकार ने दीपिका में 'सर्वेशः' पाठ माना है।

कौषीतकी के तीसरे अध्याय की समाप्ति में कहा है कि पूर्व में विस्तार से बताया आत्मा सम है, एकरूप है। इसका भी संग्रह करते हैं– 'हे प्रतर्दन! जिस आत्मदेव का मैंने तुझे उपदेश दिया वह आकाश की तरह है, स्थावर-जंगम सभी भूतों में एक-सा है। इस प्रकार तू मुझे आत्मरूप समझ'॥५३२॥ दीपिका में 'स मे' ऐसा पदविभाग है अर्थात्

१. 'सम आत्मेति विद्यात् सम आत्मेति विद्याद्' इति।

एवं हिततमं ज्ञानं महद्भिर्महतो वरात्। महद्भ्यः प्राप्तमेतत् तद् यदिदं कथितं तव॥५३६॥

उत्तराध्यायबीजम्

अस्याऽज्ञानाद्धि गुरवः शिष्यतां प्राप्नुवन्ति हि। गुरुत्वं हि यतो लोके गुरुज्ञानसमाश्रयात्॥५३७॥

ज्ञानस्य गौरवं नास्मादपरस्य हि विद्यते। गुर्वीयं वसुधा तस्माद् दक्षिणाऽस्य भवेद् न वा॥५३८॥

गुरुशब्दो हि लोके स्यादधिकार्थस्य वाचकः। सर्वस्मादधिको ह्यात्मा तदीयं च ततो गुरुः॥५३९॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याऽऽनन्दात्मपूज्यपादशिष्येण श्रीशङ्करानन्दभगवता विरचित उपनिषद्रत्न आत्मपुराणे कौषीतकीसारार्थप्रकाशे इन्द्रप्रतर्दनाख्यानं नाम द्वितीयोऽध्यायः॥

एतज्ज्ञानस्य दौर्लभ्यमाह – एवमिति। कीदृशमेतज्ज्ञानम्? महद्भिः प्रतर्दननिभैः अधिकारिभिः महतो वराद् महद्भ्य इन्द्रादिभ्यो गुरुभ्यः प्राप्तम्। किन्तज्ज्ञानम्? यदिदं तव शिष्यस्य पुरतो मया गुरुणा कथितम् इति॥५३६॥ शिष्यस्य उत्तराध्यायजिज्ञासामुत्थापयन्नुक्तात्मज्ञानस्य व्यतिरेके महाहानिप्रयोजकतामाह – अस्येति। अस्य आत्मतत्त्वस्य अज्ञानाद् ये गुरवः ते शिष्यतां प्राप्नुवन्ति। एतज्ज्ञानवन्तः शिष्यास्तु गुरुतां यान्तीति। एतज्ज्ञाने शिष्याणां गुरुत्वसंभवं दर्शयति – गुरुत्वमिति। गुरुज्ञानसमाश्रयाद् एव हि मुख्यं गुरुत्वम् इत्यर्थः॥५३७॥ ननु ज्ञानस्यैव गुरुत्वं कथम्? इत्याशङ्क्य; तदुपपादयति – ज्ञानस्येति द्वाभ्याम्। यद् ज्ञानस्य गौरवं महत्त्वं तदस्यैव, अस्माद् ज्ञानाद् अपरस्य तु तद् न एव विद्यते। अत एव च्छान्दोग्यश्रुत्या ज्ञानस्य समा दक्षिणा नास्तीत्युक्तमित्याह – गुर्वीयमिति। इयं वसुधा गुर्वी प्रसिद्धा, ज्ञानमपि गुरु, तत इयं वसुधा ज्ञानस्य दक्षिणा भवेद् इति संभावनामात्रं, वस्तुतो न एव समा भवेदिति। तथा च श्रुतिः 'यद्यप्यस्मै इमामद्भिः परिगृहीतां प्रयच्छेदेतदेव ततो भूय' (छा.३.११.६) इति। अस्मै ज्ञानदाय; इमां वसुधाम्; एतद् ज्ञानम्; ततः साब्धिवसुधायाः; भूयः अधिकम्; इति श्रुतिपदार्थः॥५३८॥ उपपत्तिमभिनयति – गुरुशब्द इति। गुरुशब्दो हि अधिकस्य महतो वाचकः। तथा च विश्वप्रकाशः 'गुरुर्महति चान्यवद्' इति। महत्त्वं तु परमात्मन्येव पर्यवसितमतः स एव गुरुः। तदीयं च यत् तदपि ततः तत्सम्बन्धादेव गुरु महदिति। परमात्मसम्बन्धस्तु यथाऽसाधारणं तत्स्वरूपं निष्प्रकारकतयाऽवगाहमानेन ज्ञानेन सह विद्यते तथा नान्येन केनचिद्, अन्यत्र विशिष्टरूपेणैव सम्बन्धाद्। यद्यपि सम्प्रदायविदां मतेऽज्ञानमपि शुद्धविषयकं तथापि तत् पृथुज्येष्ठभ्रातृनिषादवद् अप्रशस्तम्। ततो वेदान्तजन्यं तज्ज्ञानमेवेतरापेक्षया गुरु, तेन तद्वन्तोऽपीति भावः॥५३९॥

सर्वेशत्वादिगुणों वाले को ही मुझ इन्द्र की मैं-बुद्धि द्वारा व्यवहार्य समझ। उसे ही लक्ष्य कर मैंने कहा था 'मुझे जान'। पुराण में दोनों पदच्छेदों से अर्थ बता दिया है।

इन्द्र अपना वक्तव्य समाप्त करते हैं– 'मुझे आत्मा समझा जाये, इसे ही मैं मनुष्य के लिये सर्वाधिक हित समझता हूँ, और कुछ नहीं।' अतः इस उपदेश से मैंने वरप्रदान की प्रतिज्ञा पूरी की यह भाव है।

अब आचार्य शंकरानन्द स्वयं कथानक का उपसंहार करते हैं– सत्य के पाश में फँसे सर्वज्ञ इन्द्र ने इस प्रकार प्रतर्दन के प्रति हिततम आत्मज्ञान का उपदेश दिया॥५३३॥ इन्द्र के समान पराक्रमी वह प्रतर्दन भी देवराज तथा गुरु इन्द्र को प्रणाम कर उनकी अनुज्ञा पाकर अपनी राजधानी काशी की ओर चल पड़ा॥५३४॥ विद्या के श्रवण से उसे तत्त्वज्ञान हो ही चुका था, अब केवल प्रारब्धकर्मों की समाप्ति करते हुए विविध लक्ष्मियों का उपभोग कर अपने वर्तमान शरीर का अंत होने पर वह इन्द्र का पारमार्थिक स्वरूपमात्र रह गया, द्वैतभान का साहचर्य नहीं रह गया॥५३५॥

हे शिष्य! जो ज्ञान मैंने तुझे सहज में ही सुना दिया वही हिततम है जिसे प्रतर्दन जैसे महान् लोगों ने इंद्र जैसे महान् गुरुओं से इस प्रकार बड़े परिश्रम से मिले वरदान रूप में पाया है॥५३६॥

अब अगले अध्याय के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न कराते हुए इस ज्ञान का माहात्म्य कहते हैं– आत्मतत्त्व को न जानने से

योऽसौ पञ्चमुखाविर्भूः प्रज्ञया समुपाश्रितः। विश्वचक्रस्य नाभिश्च स देवः प्रीतिमश्नुताम्॥

इति श्रीदत्तकुलतिलककृष्णाचन्द्रात्मजदिलारामसूरितनूज-रामकृष्णस्य
श्रीविश्वेश्वराश्रमपूज्यपादानुगृहीतस्य कृतावात्मपुराणटीकायां
सत्प्रसवाख्यायां द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः॥

ही गुरु लोग भी शिष्य बन जाते हैं! क्योंकि संसार में वही गुरु माना जाता है जिसके पास कोई बड़ा भारी ज्ञान हो।५३७॥ परमात्मविद्या से अतिरिक्त किसी ज्ञान में इसके तुल्य बड़प्पन नहीं है। अतः सर्वाधिक भारी यह समग्र पृथ्वी भी शायद ही इस ज्ञान के अनुरूप दक्षिणा हो! वस्तुतः तो इसके अनुरूप कोई दक्षिणा है ही नहीं।५३८॥ छांदोग्य में कहा है कि ब्रह्मज्ञान के उपदेष्टा को यदि समुद्रों समेत भूमि भी दक्षिणारूप में दे दी जाये, तो भी यह ज्ञान ही भारी पड़ेगा।

ज्ञान को गुरु कहने का औचित्य बताते हैं– संसार में गुरु-शब्द का अर्थ होता है अधिक। क्योंकि सबसे अधिक अर्थात् महान् प्रमात्मा है और यह ज्ञान उसी का है इसलिये इसे गुरु कहना संगत है।५३९॥ परमात्मा का वास्तविक स्वरूप परा विद्या से ही प्रकट होता है अतः परा विद्या का परमात्मा से असाधारण संबंध है यह प्रकट है। यद्यपि अज्ञान भी परमात्मा से ही सम्बद्ध है तथापि जैसे एक ही पिता के पुत्र होने पर भी निषाद बुरा था और पृथु अच्छा था, वैसे अविद्या गुरु नहीं विद्या ही गुरु है।

इस प्रकार प्राण-प्रज्ञा के द्वारा परमात्मबोध का अतिविस्तृत स्पष्ट विवरण आचार्य श्रीशंकरानन्द जी ने कौषीतकी उपनिषत् का अनुसरण करते हुए इस अध्याय में किया।

॥ कौषीतकीसारार्थप्रकाश में इन्द्रप्रतर्दनाख्यान नामक दूसरा अध्याय सम्पूर्ण ॥

ॐ

तृतीयः अध्यायः

कौषीतकीसारार्थप्रकाशः

गार्ग्याजातशत्रुसंवादः

शिष्यप्रश्नः

एवं हिततमं ज्ञानं श्रुत्वा शिष्योऽतिविस्मितः। संशयाऽऽविष्टहृदयः पप्रच्छेदं गुरुं प्रति॥१॥
भगवन् भवता ज्ञानमैतरेयं समीरितम्। सेतिहासं हि संसारशूलातिक्रमकारणम्॥२॥
इन्द्रप्रतर्दनाख्याने तदेव सुदृढीकृतम्। नातो हिततमं यस्मादुक्तरीत्याऽस्ति किञ्चन॥
मह्यं कथितमेतेन कृतकृत्योऽस्मि सम्प्रति॥३॥

जीवाः सर्वेऽपि यं प्राप्य सुप्तावानन्दसीमगाः। भवन्ति परमात्मानं वेदवेद्यं स्मरामि तम्॥

पूर्वाध्याये प्राणोपाधिक आत्मोक्तः। स चोपाधिविवेकासमर्थेन दुर्ज्ञेयः, अतस्तस्यात्मनः प्राणाद् विविच्य बोधनपरं[१] कौषीतकिब्राह्मणचतुर्थाध्यायं व्याचिख्यासुः 'अस्याज्ञानाद्धि गुरवः' (२.५३७) इत्युपन्यासेनोत्थापितां शिष्यजिज्ञासां प्रश्नमुखेनाभिनयति- एवमिति सप्तभिः। संशयेनाविष्टं व्याप्तं हृदयं यस्य स तथा, इदं वक्ष्यमाणम्॥१॥

श्रुतपूर्वमनुवदति- भगवन्निति द्वाभ्याम्। ऐतरेयम् ऐतरेयोपनिषत्प्रकाश्यं ज्ञानं सेतिहासं समीरितम् इति संबन्धः॥२॥

तृतीय अध्याय

कौषीतकीसारार्थप्रकाश

गार्ग्य से अजातशत्रु का संवाद

पिछले अध्याय में प्राण-उपाधि वाले परमात्मा का उपदेश दिया गया। जो व्यक्ति उपाधिभूत प्राण को उपधेय आत्मा से अलग समझ न सकेगा उसके लिये वह उपदेश व्यर्थ ही होगा। अतः प्राण से आत्मा की भिन्नता व्यक्त करने के लिए कौषीतकी उपनिषत् के ही चौथे अध्याय के उपदेश का व्याख्यान श्रीमान् आचार्य शंकरानन्द इस अध्याय में करेंगे। क्योंकि इसमें कहा विषय स्पष्ट होने पर ही पूर्वोक्त बात समझ आ सकती है इसलिये उपनिषत् में व पुराण में यह क्रम रखा गया है। पूर्वाध्याय के अंत में गुरु ने शिष्य को बताया था कि आत्मविद्या न होने पर गुरु भी शिष्य हो जाते हैं। उसी बात से शिष्य को आश्चर्य व शंका हुई जिसका निवारण इस अध्याय में किया गया है।

पुराणकार उपोद्घात करते हैं- हिततम आत्मविद्या-का इस प्रकार कथा द्वारा श्रवण कर शिष्य को अति आश्चर्य हुआ। उसके मन में एक संशय हुआ जिससे उसने गुरु से यह पूछा :॥१॥

शिष्य का प्रश्न दिखाते हैं- 'हे भगवन्! पहले आपने ऐतरेयोपनिषत् में प्रकाशित तत्त्वज्ञान और उससे सम्बद्ध इतिहास भली भाँति समझाया। वही ज्ञान संसाररूप शूल से बचने का उपाय है॥२॥ उसी परमार्थबोध का दृढीकरण

---

१. विवेकप्रयोजनञ्चात्मनः साक्षात्कारलाभः। भिन्नयोरपि सतोर्यावन्नान्योन्यविलक्षणानुभवस्तावद् भिन्नत्वेन प्रतिबोधनेऽपि तथानुभवो न जायते। अत एव पदार्थविवेकोपयोगन्तीर्थकराः प्रतिपादयाम्बभूवुर्विना पदार्थसाक्षात्कारं वाक्यार्थध्यसम्भव इति सिद्धान्तनिश्चयः। एतेन हेतुतासङ्गति-र्दर्शिता। पूर्वाध्याययोरुक्तमात्मज्ञानमस्मिन्नध्यायउक्तपदार्थज्ञानेन हेतुना जायेतेति।

किन्तु मद्धृदयाम्भोजं संशयभ्रमरो मुहुः। चालयत्युत्थितो यस्माद् भवतो वाक्यमारुतात्॥४॥

भवता गुरवः शिष्या अस्याऽज्ञानाद्भवन्ति ते। इत्थमीरितमेतद्धि दुर्घटं प्रतिभाति मे॥५॥

त्वया हिततमज्ञानस्तुतिरेषा कृताऽथवा। वृत्तमेतत् क्वचित् पूर्वमदृष्टमधरोत्तरम्॥६॥

पादत्रं हि कथं शीर्ष्णि मौलिधारिणि वर्तते। शिष्याः केन गुरुत्वं हि गुरावेवाप्नुवन्त्यमी॥७॥

अतोऽस्ति यदि वेदेषु प्रवृत्तमधरोत्तरम्। तत्त्वं कथय नान्यो मां भवतो बोधयेत् पुमान्॥८॥

इन्द्रेति। तदेव ज्ञानम् इन्द्रप्रतर्दनाख्यानेन दृढीकृतं सद् मह्यं कथितं; यस्माद् च अतः अन्यद् हिततमं नास्ति; एतेन हिततमस्य दृढीकृत्या,[१] अभिधानेन कृतकृत्योऽस्मि[२] इति॥३॥

किन्त्विति। काचिज्जिज्ञासा वर्तत इति शेषः। संशयरूपो भ्रमरो मद्धृदयरूपं कमलं चालयति क्षुब्धं करोति। कीदृशः? भवद्वाक्यरूपाद् वायोरुत्थितः। प्रसिद्धं ह्येतद् यद्वायुवेगादुड्डीयमानो भ्रमरः कमलं चालयतीति॥४॥

संशयहेतुं वाक्यं स्मारयति –भवतेति। गुरवः अपि अस्याऽज्ञानाच्छिष्या भवन्ति इति भवता उक्तम्, एतद् च मम दुर्घटं दुःखेन घटयितुमुपपादयितुं शक्यं प्रतिभाति। अतः संशयो भवतीति भावः॥५॥

ननु मदुक्तेऽर्थे कथं तव सच्छिष्यस्य संशयः? इत्याशङ्क्य; भवद्वाक्यस्यैदम्पर्यानिश्चयादित्याह– त्वयेति। किम् एषा ज्ञानस्य स्तुतिरेव कृता, अथवा एतद् अधरोत्तरं- भावप्रधानो निर्देशः, अधरस्याधोभावार्हस्य उत्तरत्त्वमुन्नतपदलाभरूपं– क्वचित् पूर्वं वृत्तं सिद्धमासीत् तदेवोक्तम्? मया त्वेतद् अदृष्टम् इति। तथा च ममातीन्द्रियार्थे मानस्य भवद्वाक्यस्य किमिदं स्तुतिमात्रपरं, तत्त्वाख्यानपरं वा?– इति तात्पर्यसंशयाद् अनिश्चायकत्वे मम संशय उपपन्न इति भावः॥६॥

एवं भवद्वाक्यानिश्चायकत्वे यन्मयोक्तं 'दुर्घटं प्रतिभाति मे' (३.५) इति, तदुपपन्नमिति सूचयन्ननुपपत्तिं सदृष्टान्तमाह-पादत्रमिति। पादं त्रायत इति पादत्रम् उपानत्। शीर्ष्णि शिरसि मौलिः किरीटं– 'मौलिः किरीटे धम्मिल्ल' इति विश्वः। गुरुविषयकं गुरुत्वं शिष्याः केनाप्नुवन्ति? न कोऽपि हेतुस्तत्र संभाव्यत इत्यर्थः॥७॥

भवच्छिष्यस्य ममायं संशयो भवतैव वेदोक्तत्वाभिधानेन परिहार्य इत्याह–अत इति। प्रवृत्तं वर्णितमिति यावत्। वेदार्थनिर्णयप्रसङ्गाद् वेदेषु इत्युक्तम्॥८॥

आपने इन्द्र-प्रतर्दन के कथानक से किया। क्योंकि आपने यह बता दिया कि शास्त्रोक्त ढंग से निश्चित है कि इस विद्या से अधिक हितकारी कुछ नहीं है इसलिये इसे ही पूरा पाने से अतिरिक्त कुछ भी अब मुझे कर्तव्य नहीं लग रहा॥३॥ किन्तु मेरे हृदयरूप कमल को एक संशयरूप भ्रमर बार-बार क्षुब्ध कर रहा है क्योंकि आपके वाक्यरूप वात ने उसे उड़ने को बाध्य किया है॥४॥ आपने कहा कि गुरु लोग भी आत्मा के अज्ञान के कारण शिष्य बन जाते हैं। पर यह मुझे असंभव-सा लगता है। अतः संशय हो रहा है॥५॥ आपने क्या हिततम ज्ञान की यह केवल प्रशंसा की है या कहीं ऐसा हुआ भी है कि गुरु बनने के अयोग्य व्यक्ति आत्मज्ञान के कारण गुरु बना हो? मैंने तो ऐसा कहीं देखा नहीं॥६॥ मुकुटधारी सिर पर चप्पल कैसे रह सकती है? जो गुरु है उसके गुरु ये शिष्य लोग कैसे हो जायेंगे?॥७॥ इसलिये अगर वेदों में कहीं ऐसी घटना वर्णित हो जहाँ शिष्य गुरु बना हो, तो उसे आप मुझे बताने की कृपा करें। आपसे अतिरिक्त कोई व्यक्ति नहीं जो मुझे यह समझाये, क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, आप पर ही अटूट श्रद्धा रखता हूँ'॥८॥

शिष्य द्वारा यों पूछे जाने पर गुरु जी बहुत प्रसन्न हुए और उससे कहने लगे, 'यह मैंने कोरी प्रशंसा ही नहीं की है किन्तु प्राचीन काल में ऐसा हुआ है। महर्षि कौषीतकी ने और वाजसनेय शाखा के उपदेशक इन भगवान् सूर्य ने इस घटना

१. दृढीकरणं दृढीकृतिस्तया, अभिधानेन चेति। प्रथमाध्यायेभिधानं द्वितीये दृढीकरणमिति विवेकः। यद्वा दृढीकृत्य अभिधानेनेतिच्छेदः, अध्यायाभ्यामिति शेषः। २. कृत्यानि मया कार्याणीति म आग्रहो निरवर्तिष्टेत्यर्थः।

गुरोः प्रतिवचनम्

एवमुक्तो गुरुः शिष्यं प्रत्युवाचातिहृष्टधीः। नैषा स्तुतिर्मयोक्ता ते किन्तु वृत्तमिदं पुरा॥
कौषीतकिरुवाचेदं तद्वदेष दिवाकरः॥९॥

कौषीतकिस्तपस्तप्त्वा प्राप्तवान् मन्त्रदर्शनम्। लोकानुग्रहकामोऽयं द्विजातीन् प्रत्युवाच ह॥१०॥

सविताऽपि तथा चाऽयं याज्ञवल्क्येन तोषितः। मधुकाण्ड उवाचेदं लोकानुग्रहकारकः॥११॥

वर्णिनः सकलाः शिष्या गुरवो ब्राह्मणाः स्मृताः। ज्ञानार्थं ब्राह्मणः शिष्यो राज्ञोऽभूदिति विश्रुतम्॥१२॥

गुरुवाक्यमवतारयति– एवमिति। तदभिनयति– नैषेति। वृत्तं भूतम्। वेदोक्तत्वं स्फुटयति– कौषीतकिरिति। एतन्नामा शाखाप्रवर्तकः। तथा एष दिवाकरः च वाजसनेयोपदेष्टा इदम् उक्तवानिति॥९॥

एतत् स्पष्टयति–कौषीतकिस्तप इति। कौषीतकिः नाम ऋषिः मन्त्रदर्शनं मन्त्रस्य दर्शनसामर्थ्यरूपमृषित्वं प्राप्तः सन्ननुग्रहेण द्विजातीन् प्रति स्वनामाङ्कितां शाखां प्रोक्तवान्; तस्यामिदमुक्तमिति शेषः॥१०॥ सवितेति। सविता सूर्यः, भक्त्या याज्ञवल्क्येन तोषितः संस्तस्मै शुक्लानि यजूंष्युपदिशंस्तत्र मधुकाण्ड इदम् उक्तवानिति। बृहदारण्यकं हि काण्डचतुष्टयात्मकम्। तत्र प्रथमाध्यायद्वयं प्रवर्ग्यकाण्डः। तृतीयचतुर्थाध्यायौ मधुकाण्डः। ततः परं याज्ञवल्क्यकाण्डः, खिलकाण्डश्चेति। तत्र मधुकाण्डघटके चतुर्थाध्याये बालाक्यजातशत्रुसंवाद इदमुक्तमित्यर्थः॥११॥

'इदं'-पदार्थमाह– वर्णिन इति। सकला वर्णिनः सर्वे वर्णा इति यावद्। ब्राह्मणा एव गुरव इति प्रसिद्धम्। तथाप्यात्मज्ञानार्थं ब्राह्मणो राज्ञः शिष्योऽभूदिति विश्रुतं कौषीतकिबृहदारण्यकचतुर्थाध्याययोः प्रसिद्धमित्यर्थः॥१२॥

का वर्णन किया है॥९॥ कौषीतकि ऋषि ने तपस्या कर मन्त्रों का दर्शन प्राप्त किया और लोगों पर कृपा कर द्विजों को उन मन्त्रों का उपदेश दिया। उन्हीं के उपदेशरूप शाखा में यह घटना बतायी गयी है॥१०॥ महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा प्रसन्न किये गये इन भगवान् सूर्यनारायण ने उन्हे जिस शुक्ल यजुर्वेद का उपदेश दिया उसके शतपथ नामक ब्राह्मण के बृहदारण्यक नामक आरण्यक के मधुकाण्ड नामक हिस्से में भी यह इतिहास कहा गया है। सूर्यदेव ने भी लोगों का उपकार करने के लिये ही अनुग्रहवश शाखा का उपदेश दिया तथा आत्मज्ञान में प्रेरित करने के लिये इस विलक्षण घटना का वर्णन किया'॥११॥ ऋग्वेद के कौषीतकि आरण्यक के अंतिम चार अध्याय कौषीतक्युपनिषत् हैं। प्रथम अध्याय में मुख्य विषय है पर्यंकविद्या का और दूसरे में प्राणविद्या का। इस प्रकार सगुणब्रह्म का उपदेश देकर तीसरे-चौथे अध्याय में निर्विशेष ब्रह्म का प्रधान उपदेश है। तीसरे अध्याय का व्याख्यान पुराण में पूर्वाध्याय में कर चुके हैं। इस अध्याय में चौथे अध्याय की व्याख्या करेंगे। यत्किंचिद् अंतर से यही प्रसंग बृहदारण्यक में है अतः उसका भी आवश्यक संग्रह यहाँ हो जायेगा तथा इस प्रकार पुराण के अगले अध्यायों में यजुर्वेद के प्रसंगों की संगति भी स्थापित हो जायेगी। बृहदारण्यक में आरण्यक क्रम से चार काण्ड हैं। प्रथम दो अध्यायों में प्रवर्ग्य नामक कर्म बताया है। दूसरे दो अध्यायों में अश्वमेधोपासना से आरंभ कर मधुविद्या तक का उपदेश है। तदनन्तर दो अध्यायों में महर्षि याज्ञवल्क्य ही मुख्य उपदेष्टा हैं तथा अत्यधिक विस्तार से ब्रह्मविद्या का सूक्ष्मतम वर्णन है। आखिरी दो अध्याय खिल हैं अर्थात् पूर्वत्र बताने से रह गये बहुतेरे विषय इनमें संकलित कर दिये हैं। भगवान् भाष्यकार ने प्रथम काण्ड को कर्मबोधक होने से छोड़कर तीन काण्डों की विशद व्याख्या की है। मधुकाण्ड के द्वितीय अध्याय में अर्थात् आरण्यक क्रम से चौथे अध्याय में प्रथम ब्राह्मण में यह प्रसंग आया है जो कौषीतक्युपनिषत् में भी चौथे अध्याय मैं आया है। इसका वर्णन आचार्य श्रीशंकरानन्द प्रकृत अध्याय में करेंगे।

गुरुजी ने आगे कहा, 'यद्यपि स्मृतिआदि ग्रंथों में तथा लोक में प्रसिद्ध है कि ब्राह्मण गुरु होते हैं और बाकी वर्णों वाले शिष्य ही होते हैं तथापि वेद में यह सुना जाता है कि आत्मज्ञान पाने के लिये ब्राह्मण एक क्षत्रिय राजा का शिष्य

गार्ग्यस्येतिहासः

अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। ब्राह्मणस्य हि संवादं[1] राज्ञा शान्तेन तं शृणु॥१३॥

गर्गाणां गोत्रजः कश्चिद् बलाक इति विश्रुतः। ब्राह्मणो वेदवेदाङ्गपारगो धर्मसंस्थितः॥१४॥

तस्य पुत्रोऽभवत् कश्चित् तादृशो लालितो युवा। अहं विद्याधिको नान्यो मत्त एवं सदर्पधीः॥१५॥

स दिशां विजयं कुर्वंश्चचार विषयानिमान्। उशीनरांस्तथा मत्स्यान् कुरून् पञ्चालकानपि॥
काशीन्[2] विदेहानपरान् हिमसेत्वोश्च मध्यगान्॥१६॥

अत्र चेति। शान्तेन उपशमवता॥१३॥

अथ ह गार्ग्य इत्यादि[3] (कौ.४.१) व्याकरोति— गर्गाणामित्यादिना॥१४॥

तस्येति। तस्य बलाकस्य पुत्रो बालाकिः तादृशः वेदवेदाङ्ग[4] इति अनूचान-पदार्थः। धर्मे संस्थितिस्तु तस्य मदवशान्नाभूदिति हेतुगर्भैर्विशेषणैः दर्शयति— लालित इत्यादिना। लालितपदेन धनमदः सूचितः। एवम् एवमाकारा सदर्पा धीर्यस्य स तथा॥१५॥

बना॥१२॥ इस विषय में आचार्य लोग इस प्राचीन इतिहास का वर्णन करते हैं जिस में शान्तियुक्त राजा से एक ब्राह्मण का संवाद है। उस संवाद को मैं बताता हूँ, सुनो'॥१३॥

कौषितकी में वर्णन है कि गर्ग-गोत्र वाला और बलाक नामक पिता की सन्तान गार्ग्य बालाकि एक वेदवेत्ता था जिसकी कीर्ति चहुँ ओर फैली हुई थी। वह उशीनर, मत्स्य, कुरु, पांचाल, काशी, विदेह आदि त्रैवर्णिकों के निवासयोग्य देशों में भ्रमण करता था। एक बार वह काशीनरेश अताजशत्रु के पास गया और बोला 'आपको मैं परमात्मा का उपदेश दूँगा।' अजातशत्रु ने कहा 'इस बात पर ही मैं आपको हज़ार गायें देता हूँ! प्रसिद्ध लोग भी 'जनक ही परमात्मविद्या का ग्रहक है, वही ज्ञान तथा धन दे सकता है' ऐसा समझ कर उसी के पास दौड़े-दौड़े जाया करते हैं।' इस विषय को यहाँ बताते हैं।

संवाद की भूमिका बाँधते हैं 'गर्गगोत्र वालों के गोत्र में जन्मा एक बलाक नामक सुना गया है जो सांगवेद में पारंगत था तथा धर्म पर दृढ रहता था॥१४॥ उसका एक पुत्र था ज़िसे प्रेम से पाला गया था। वह पुत्र भी पिता की तरह विद्वान् था किन्तु जवानी होने से उसके मन में यह दर्प था, अभिमान था कि विद्याक्षेत्र में मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ, और कोई मुझसे श्रेष्ठ नहीं है। पिता का प्रेमपात्र था इसलिये पैतृक धन भी इसके पास पर्याप्त था, उसका भी इसे मद था। अतः शमादि स्वधर्म पर यह पिता की तरह दृढ नहीं रह पाया॥१५॥ उसने दिग्विजय करते हुए इन देशों में भ्रमण किया : उशीनर, मत्स्य, कुरु, पांचाल, काशी, विदेह तथा हिमालय और सेतुबंध रामेश्वर के बीच होने वाले अन्य भी सभ्य देश॥१६॥ वह आत्मा से अन्य सब विषयों का जानकार था, याददाश्त उसकी बहुत थी, सर्वत्र उसका यश फैला हुआ था और वह बहुत अच्छा

---

१. ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैः सह संवादः (गौ.सू.४.२.४५) इत्यादिना जिज्ञासुज्ञापकयोर्मध्ये यः शिक्षणव्यवहारः स संवादः।

२. देशपरत्वे ह्रस्वान्तो नित्यपुँल्लिङ्गबहुवचनान्तश्च काशिशब्दः, पुरीपरत्वे तु स्त्रीलिंग एकवचनान्तश्चेति व्यवस्था। उशीनरेति कन्धारदेशस्य संज्ञा। आधुनिकधोलपुरात्पश्चिमदिशि यमुनायाश्च पूर्वस्यां दशार्णदेशाद् (=मालवा) उत्तरस्यां च मत्स्यदेशः। सरस्वतीदृषद्वत्योर्मध्ये कुरुदेशोऽद्यापि प्रसिद्धः। चर्मण्वतीगंगाद्वारयोर्मध्यप्रदेशः पांचालाख्यः (दोआब)। मगधादैशान्यामाधुनिकतिरहुतचम्पारण्योभयात्मको विदेहदेशः। मगधस्तु राजगृहराजधानीको दक्षिणविहारात्मक इति ज्ञेयम्।

३. 'अथ गार्ग्यो ह वै बालाकिरनूचानः संस्पृष्ट आस सोऽवददुशीनरेषु स वसन्मत्स्येषु कुरुपांचालेषु काशीविदेहेष्विति स हाजातशत्रुं काश्यमेत्योवाच ब्रह्म ते ब्रवाणीति; तं होवाचाजातशत्रुः सहस्रं दद्मस्त इत्येतस्यां वाचि जनको जनक इति वा उ जना धावन्तीति॥१॥' इति।

४. वेदवेदाङ्गपारग इति पूर्णपदमिह स्यात्।

स्फीतकीर्तिः स मेधावी स्वात्मबोधविवर्जितः। सर्वज्ञः प्राणमात्मानं मन्यमानश्च वाग्म्यपि॥१७॥

निवसंस्तेषु देशषु जिगायात्मबलेन सः। त्रैवर्णिकाननेकांश्च ग्रामेषु नगरेषु च॥१८॥

तस्याज्ञस्य दर्पः

काशीनामाङ्किते देशे कदाचिद् गार्ग्य आगमत्। दृप्तो विद्याधिको विप्रो जेतुं त्रैवर्णिकान् परान्॥१९॥

त्रैवर्णिका जितास्तत्र तेन ते राजवर्जिताः। राजानं जेतुकामः स तमप्येष जगाम ह॥२०॥

अजातशत्रोः परिचयः

काशीश्वरोऽतिधर्मात्मा योऽग्रणीर्ब्रह्मवादिनाम्। विनीतः सत्यसन्धश्च सतां शुश्रूषणे रतः॥२१॥

बलाधिक्यान्न तस्यास्ति जातः शत्रुः पुमान् भुवि। तेन संज्ञामसौ प्राप्तोऽजातशत्रुरितीश्वरः॥२२॥

शत्रौ मित्रे तथोपेक्ष्ये स्वदेहे च कृमावपि। न यस्य विषमा बुद्धिः स्वप्नेऽप्यस्ति महीभृतः॥२३॥

तमेकदा सभासंस्थं जेतुकामो द्विजोत्तमः। काश्यमागत्य सहसा वचनं त्विदमुक्तवान्॥२४॥

स दिशामिति। स बालाकिः इमान् वक्ष्यमाणान्। उशीनरानिति। हिमस्य हिमालयस्य सेतोः सेतुबन्धस्य च मध्यगान् अपरान् च देशान् चचार इत्यनुषङ्गः॥१६॥

स्फीतेति। स्फीता प्रख्याता कीर्तिर्यस्य स तथेति श्रुतिगत'संस्पष्ट'-पदार्थः। सर्वज्ञ आत्मव्यतिरिक्तसर्वविद्, यतः प्राणम् एव आत्मानं मन्यमानः। वाग्मी प्रशस्तवाक्॥१७॥ निवसन्निति। तेषु उशीनरादिषु। जिगाय जितवान्॥१८॥

काशीति। दृप्तः सदर्पः। गार्ग्यः बालाकिः। परान् उत्कृष्टान्॥१९॥

त्रैवर्णिका इति। तं राजानं जगाम उपगतः॥२०॥

राजानं विशिनष्टि- काशीश्वर इति। अग्रणीः मुख्यः। सत्ये सन्धा स्थितिर्यस्य स तथा, 'सन्धा स्थितौ प्रतिज्ञायाम्' इति विश्वः॥२१॥

तन्नामव्युत्पत्तिमाह– बलेति। तेन शत्रोरजातत्वेन असौ काशिराजः अजातशत्रुरिति संज्ञां प्राप्तः॥२२॥

आन्तरशत्र्वभावादपि तादृशं नामोचितमित्याह– शत्राविति। व्यापिकाया विषमबुद्धेरभावात् तद्व्याप्यानां रागद्वेषादीनामभावो न्यायसिद्ध इति भावः॥२३॥

वक्ता भी था। किन्तु परमात्मा का ज्ञान उसे था नहीं अतः वह प्राण को ही आत्मा समझता था॥१७॥ उक्त देशों में रहते हुए उसने गावों में व नगरों में अनेक त्रैवर्णिकों को अपने विद्याबल से पराजित किया था॥१८॥

विद्याओं में पारंगत किन्तु दर्पयुक्त वह वेदज्ञ गार्ग्य अन्य उत्कृष्ट त्रैवर्णिकों को परास्त करने काशी नामक देश में पहुँचा॥१९॥ वहाँ उसने राजा से अतिरिक्त सब त्रैवर्णिकों पर विजय पा ली। वह राजा को भी जीतना चाहता था अतः उसके पास गया॥२०॥

उस समय काशीराज अत्यन्त धर्मात्मा और ब्रह्मवादियों में प्रमुख था। विनयशील वह राजा सत्य पर दृढ रहता था और सत्पुरुषों की सेवा में तत्पर था॥२१॥ उसका इतना अधिक बल था कि पृथ्वी पर कोई मनुष्य उसका शत्रु हुआ ही नहीं था अतः उस काशिराज का नाम ही पड़ गया था 'अज्ञातशत्रु'॥२२॥ बाहरी ही नहीं, आन्तरशत्रु भी उसमें नहीं थे क्योंकि दुश्मन, दोस्त, उपेक्षा-योग्य, अपना शरीर, कीड़ा, इन सबमें विषमता का निश्चय उसे सपने में भी नहीं होता था। इतना स्थिर समदृष्टि होने से विषमदृष्टि-मूलक राग-द्वेषादि की तो उसमें संभावना ही नहीं थी॥२३॥ उस राजा पर विजय

सभायां गार्ग्यवचनम्

अजातशत्रवे तुभ्यमज्ञायात्र निमज्जते। वदामि ब्रह्म यत्तत्त्वं सावधानमनाः शृणु॥२५॥

इत्थं गार्ग्यवचः श्रुत्वा राजा निर्मत्सरः स्वयम्। उत्पन्नहर्षः सहसा वचनं त्विदमुक्तवान्॥२६॥

राज्ञः प्रत्युक्तिर्दानं च

गार्ग्य यद्भवता प्रोक्तं वचनं निष्प्रसङ्गकम्।[1] तेन मे कर्णविवरे कृते वृष्ट्येव शीतले॥२७॥

निर्वृतिं हृदयं मेऽद्य प्राप्तं पुत्रगिरा यथा। नष्टपुत्रस्य वृद्धस्य मुमूर्षोर्धनिनो भुवि॥२८॥

आयान्ति शतशो विप्राः सभायां मम धीधनाः। दर्शयन्त्यपि चित्राणि वेदपाठात्तथार्थतः॥२९॥

तमिति। तं राजानं जेतुकामः, 'तुं काममनसोरपि' इति मलोपः। सहसा अविचार्य॥२४॥

अजातेति। अत्र संसारे॥२५॥ इत्थमिति। मत्सरेण परोत्कर्षासहनरूपेण हीनः। इदं वक्ष्यमाणम्॥२६॥

गार्ग्येति। तेन भवद्वाक्येन अमृतवृष्टिसमेन मम कर्णविवरे द्वे अपि शीतले गतसन्तापे कृते इति॥२७॥

निर्वृतिमिति। त्वद्वाक्येन मे हृदयं निर्वृतिं सुखातिशयं नीतम्। तत्र दृष्टान्तः– यथा नष्टपुत्रस्य देशान्तरगमनादिनाऽदर्शन-गतपुत्रकस्य मुमूर्षोः सन्निहितमरणस्य धनिनो वृद्धस्य तत्कालागतपुत्रगिरा हृदयं निर्वृतिमेति॥२८॥

ब्रह्मतत्त्वप्रकाशनप्रतिज्ञारूपं भवद्वाक्यं दौर्लभ्याद् ममातिहर्षहेतुरिति वक्तुं तस्य दौर्लभ्यमाह– आयान्तीति द्वाभ्याम्। धीरेव धनवत् परिपाल्या येषान्ते तथा। आगत्य च चित्राणि विस्मयजनकानि स्वकर्माणि दर्शयन्ति। कुतः? वेदपाठात्तथाऽर्थतः, ल्यब्लोपे पंचमी, वेदस्य पाठं विधायार्थं प्रकाश्य चेत्यर्थः॥२९॥

पाना चाहने वाला द्विजोत्तम गार्ग्य एक बार काशी में सभा में स्थित उस राजा के संमुख गया और विचार किये बिना ही यह बात बोला :॥२४॥

'अरे अजातशत्रु! तुम परमात्मतत्त्व से अनभिज्ञ हो अतः संसार-सागर में डूबे हुए हो। तात्त्विक परमात्मा का तुम्हे उपदेश देता हूँ, मन एकाग्र कर सुनो'॥२५॥

गार्ग्य के ऐसे वचन सुनकर अन्यों की श्रेष्ठता से अपनी हीनता का कभी अनुभव न करने वाले राजा को अत्यधिक प्रसन्नता हुई और विलम्ब किये बिना ख़ुद ही उससे यह बात कही :॥२६॥

'हे गार्ग्य! मेरे द्वारा प्रश्न न किये जाने पर भी आपने स्वयं ही जो यह कहा कि आप मुझे परमात्मोपदेश देंगे, उसीसे मेरे कान संतापहीन हो गये, मानो तपी भूमी पर वर्षा पड़ गयी हो॥२७॥ जैसे कोई धनी वृद्ध मरणासन्न हो व बहुत समय से अपने पुत्र का कोई समाचार न पाने से अत्यंत दुःखी हो और सहसा पुत्र आकर उससे कुछ कहे तो पुत्र की आवाज़ वृद्ध पिता को निरुपम हर्ष देती है, वैसे ही आप की बात से आज मेरा मन प्रसन्न हुआ है॥२८॥ मेरी सभा में सैकड़ों की तादाद में ऐसे वेदज्ञ आते हैं जो केवल ज्ञान को ही धन समझते हैं और निरंतर उसके संरक्षण और संवर्द्धन में तत्पर रहते हैं। नाना विकृतियों समेत, ऊहादि समेत आश्चर्यकारी वेदपाठ सुनाते हैं और वेदवाक्यों के विलक्षण तात्पर्य भी वे लोग प्रकाशित करते हैं॥२९॥ नाना प्रकार की प्रसिद्ध विद्याओं का भी वे प्रदर्शन कर देते हैं। किन्तु विद्वानों की और ब्रह्मविद्या

---

१. पृष्टे सति प्रसंगस्स्याद् न चाहमप्राक्षमित्यतो वचनमेवम्। एतेन गार्ग्यस्य कृपाविशेषोनुमीयतइति राज्ञोभिप्रायः। यत्तु निष्प्रसंगकमिति तद्वचोनिन्दार्थमिति केचित्तन्न, पूर्वं निर्मत्सर इत्युक्तत्वाद्, अनन्तरश्लोकेपु च कथनप्रशंसाया वैयर्थ्यात्। न च गार्ग्यस्यावैदुष्यं विदन्नवोचद्राजेत्यत्रास्ति मानम्। न चोत्तरत्र (श्लो.३८) राजाभिप्रायाविष्कारविरोधः, नापि 'मा वे' ति (श्लो.३२) राजवचनविरोधः। अभिप्रायस्य जनकमात्रे शुश्रूपत्वदित्सुत्वयोर्निरासात्मकस्य तत्र वर्णनात्। राजोक्तेश्च संभावनयाप्युपपत्तेः, गोकामत्वे च तल्लाभादुपरामसंभवात्।

वदन्ति विविधा विद्याः स्पष्टा जाते प्रशंसने। पृष्टा अपि वदन्त्येते ब्रह्मविद्यां न कर्हिचित्॥
प्रसिद्धाः स्थविराः सर्वे मिलिताश्च सहस्रशः॥३०॥

बालो भवानेक एव न पृष्टः केनचित्तथा। प्रसङ्गेन विना यस्मादिदं वचनमुक्तवान्॥
ब्रह्म तुभ्यं वदानीति तेन तुष्टोऽस्म्यहं तव॥३१॥

भवान् वदतु मे ब्रह्म मा वा किन्तु त्वयेदृशम्। ईरितं तस्य वाक्यस्य निष्क्रयोयं मया कृतः॥३२॥

घटोध्नीनां गवां नारीप्रजानां सौम्यवर्चसाम्। सद्यो द्वितीयं प्रजनं प्राप्तानां शुभलक्षणम्॥
सहस्रं ते ददाम्यद्य ब्रह्म वच्मीति भाषिणे॥३३॥

इत्युक्त्वाऽस्मा अदाद्राजा सहस्रं स गवां ततः। यथाशास्त्रं सुवर्णादिसहितं हृष्टचेतनः॥
अभिप्रायेणाऽमुनाऽसौ गार्ग्यायाऽदाद् नरेश्वरः॥३४॥

अजातशत्रुं धर्मज्ञं वदान्यं ब्रह्मवादिनम्। अज्ञात्त्वेमे प्रयान्त्येनं जनकं मिथिलेश्वरम्॥३५॥

धनस्य ब्रह्मविद्याया अपि दाता पितेव सः। श्रोता तस्याश्च जनक एवं व्यर्थं विमोहिताः॥३६॥

यतोऽहं ब्रह्मविद्याया वचनेऽपि ददाम्यदः। गवां सहस्रं जनकस्तूपदेशे ददाति सः॥३७॥

वदन्तीति। तथा स्पष्टाः प्रसिद्धा विविधा विद्याः च वदन्ति। ब्रह्मात्मविद्यायास्तु प्रशंसने जातेऽपि पृष्टा अपि च तां न वदन्ति। न च तेषां ब्रह्मवित्त्वेनाप्रसिद्धिः, अनौचित्यम्, असहायत्वं वाऽनभिधाने कारणमासीदिति बोधयितुं विप्रान् विशिनष्टि– प्रसिद्धा इत्यादिविशेषणत्रयेण॥३०॥

'त्वया तूक्तविशेषणव्यतिरेकेऽपि तथोक्तत्वादहं तुष्टोऽस्मि' इत्याह– बाल इति। इदं ब्रह्मेत्यादि वाक्यम्। तेन तव विशिष्टकर्मणा तुष्टोऽस्मीति॥३१॥ 'तिष्ठतु अर्थः, एतादृशवाक्यमात्रस्य इयं दक्षिणा मया सज्जीकृता' इत्याह– भवानिति। निष्क्रयो दक्षिणा। अयं वक्ष्यमाणः॥३२॥

निष्क्रयस्य रूपं देयत्वेन दर्शयति- घटोध्नीनामिति। घटवद्दूध आपीनं यासां तास्तथा तासाम्। नारीप्रजानां वत्सीप्रसवानाम्। सौम्यवर्चसाम् अनुग्रतेजसां सुशीलानामिति यावत्। सद्यः प्रसवानन्तरमेव द्वितीयं प्रजनं गर्भं प्राप्तानां प्रतिवर्षं प्रसूयमानानामिति यावत्। एतादृशां गवां सहस्रं शुभलक्षणकं ते तुभ्यं ब्रह्म वच्मीति भाषिणे ददामि इति॥३३॥

इत्युक्त्वेति। हृष्टचेतनः प्रसन्नमनाः। अभिप्रायेणेति। असौ नरेश्वरः अमुना आशयेन गोसहस्रं दत्तवान्॥३४॥

राज्ञोऽभिप्रायमभिनयति– अजातेति त्रिभिः। माम् अजातशत्रुं सर्वगुणम् अज्ञात्वा एव इमे जना जनकं प्रति प्रयान्ति। यदि मां जानीयुस्तर्हि न गच्छेयुरेवेति भावः॥३५॥ धनस्येति। कीदृशा इमे जनाः? व्यर्थम् एवमाकारं विमोहं गताः। 'एवं' कथम्? यद् जनक एव धनस्य ब्रह्मविद्यायाः च पितेव दाता श्रोता च इति; पिता यथा धनं ददाति, पुत्राधीतं च शृणोति तद्वदित्यर्थः। श्रुतौ जनकपदस्य अभ्यासाद् एकं जनकपदं पितृपरमुपमानतया व्याख्यातमिति बोध्यम्॥३६॥ विमोहितत्वं च जनानां मां ततोऽधिकमज्ञात्वा जनकं प्रति धावनादिति सूचयितुं स्वस्याधिक्यं दर्शयति– यत इति। वचने प्रकाशनप्रतिज्ञामात्रेऽपि जाते सति गवां सहस्रं ददामि, स जनकस्तु उपदेशे जाते सति पश्चाद् ददाति इति स्पष्टो विशेष इति भावः॥३७॥

इत्यविज्ञायेति। इति श्लोकत्रयेण वर्णितं राज्ञोऽभिप्रायम् अल्पधीत्वाद् अविज्ञाय एव गार्ग्यो बालाकिः ब्रह्म अपरं यथाज्ञातं वक्तुम् उपदेष्टुमुपचक्रमे प्रारेभे। कीदृशो गार्ग्यः? एनं राजानम् आर्तं जिज्ञासया व्याकुलं मन्यमानः 'अनेन तत्त्वजिज्ञासया एतदुपायनं दत्तम् अतोऽस्य जिज्ञासा पूरणीया' इति भ्रमं प्राप्तः सन्नित्यर्थः॥३८॥

इत्यविज्ञाय गार्ग्योऽपि राज्ञोऽभिप्रायमल्पधीः। आर्तमेनं हि मन्वानो ब्रह्म वक्तुं प्रचक्रमे॥३८॥

गार्ग्य उपदिशति

अध्यात्ममधिदैवं च समष्टिव्यष्टिरूपधृक्। ब्रह्माऽव्याकृतपर्यन्तमुक्तवान् निर्गुणं न तु॥३९॥[१]

यद्यद्वदति बालाकी राजा तत्तन्निराकरोत्। वदन् मामेति हस्तौ च चालयन् स नृपोत्तमः॥४०॥

१. कौषीतक्यां बृहदारण्यके चाजातशुत्रब्राह्मणोक्तोपासना

	आधारः	श्रुत्युक्तविशेषणम्	राजोक्तविशेषणं (श्रुत्युक्तभिन्नम्)	उपास्तिफलम्
१.	आदित्ये पुरुषः	बृहत्	पाण्डुरवासा, अतिष्ठाः, सर्वेषां भूतानां मूर्धा	अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा भवति
२.	चन्द्रमसि	अन्नम्	सोमो राजा अन्नस्यात्मा	अन्नस्यात्मा भवति
३.	विद्युति	सत्यम्	तेजस आत्मा	तेजस आत्मा भवति
४.	स्तनयित्नौ	शब्दः	शब्दस्यात्मा	शब्दस्यात्मा भवति
५.	वायौ	इन्द्रो वैकुण्ठः	अपराजिता सेना	जिष्णुः अपराजयिष्णुः अन्यतस्त्यजायी
६.	आकाशे	पूर्णम्	अपराजिता सेना	पूर्यते प्रजया पशुभिः, न स्वयं नास्य प्रजा पुरा कालात् प्रवर्तते
७.	अग्नौ	विषासहिः	–	विषासहिरन्येषां भवति
८.	अप्सु	तेजः	नाम्न आत्मा	नाम्न आत्मा भवति

अथ अध्यात्मम्

	आधारः	श्रुत्युक्तविशेषणम्	राजोक्तविशेषणं (श्रुत्युक्तभिन्नम्)	उपास्तिफलम्
१.	आदर्शे	प्रतिरूपः	१ –	प्रतिरूपोस्य प्रजायामाजायते नाप्रतिरूपः
२.	छायायाम्	द्वितीयः	४ मृत्युः	नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुरा कालात् संमोहमेति
३.	प्रतिश्रुत्कायाम्	असुः	२ द्वितीयः, अनपगः	विन्दते द्वितीयाद् द्वितीयवान् भवति
४.	शब्दे [शब्दः पुरुषमन्वेति]	मृत्युः	३ असुः	नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुरा कालात् प्रमीयते
५.	स्वप्ने [प्राज्ञ आत्मा]	यमः	६ (यमो) राजा	सर्वमस्माइदं श्रैष्ठ्याय कल्पते
६.	शरीरे	प्रजापतिः	५	प्रजायते प्रजया पशुभिः
७.	दक्षिणेऽक्षिणि	वाचः	७ नाम्न आत्मा, अग्नेरात्मा, ज्योतिष आत्मा	एतेषां सर्वेषामात्मा भवति
८.	सव्येऽक्षिणि	सत्यस्य	८ (सत्यस्य) आत्मा, विद्युत आत्मा, तेजस आत्मा	एतेषां सर्वेषामात्मा भवति।

बृहदारण्यके

	आधारः	श्रुत्युक्तविशेषणम्	राजोक्तविशेषणं (श्रुत्युक्तभिन्नम्)	उपास्तिफलम्
१.	आदित्ये पुरुषः		अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा	अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति
२.	चन्द्रमसि		बृहन् पाण्डरवासा सोमो राजा	अहरहः सुतः प्रसुतो भवति नास्यान्नं क्षीयते
३.	विद्युति		तेजस्वी	तेजस्वी, तेजस्विनी अस्य प्रजा भवति
४.	आकाशे		पूर्णम् अप्रवर्ति	पूर्यते प्रजया पशुभिः नास्यास्माल्लोकात् प्रजोद्वर्तते
५.	वायौ		इन्द्रो वैकुण्ठः अपराजिता सेना	जिष्णुः अपराजिष्णुः अन्यतस्त्यजायी
६.	अग्नौ		विषासहिः	विषासहिः विषासहिरस्य प्रजा भवति
७.	अप्सु		प्रतिरूपः	प्रतिरूपमेवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूपं प्रतिरूपोस्माज्जायते
८.	आदर्शे		रोचिष्णुः	रोचिष्णुर्भवति, रोचिष्णुरस्य प्रजा भवति, यैः संनिगच्छति सर्वांस्तानतिरोचते
९.	यन्तं पश्चाच्छब्दोनूदेति		असुः	अस्मिँल्लोके सर्वमायुरेति नैनं पुरा कालात् प्राणो जहाति
१०.	दिक्षु		द्वितीयः अनपगः	द्वितीयवान् नास्माद् गणश्छिद्यते
११.	छायामयः		मृत्युः	अस्मिँल्लोके सर्वमायुरेति नैनं पुरा कालात् मृत्युरागच्छति
१२.	आत्मनि		आत्मन्वी	आत्मन्वी भवति, आत्मन्विन्यस्य प्रजा भवति।

आदित्यचन्द्रौ विद्युच्च स्तनयित्नुर्नभो मरुत्। अग्निराप इमे ब्रह्म पुरुषा अधिदैवतम्॥४१॥

अथ द्वितीयकण्डिकामारभ्य सप्तदशकण्डिकार्थं संगृह्याह– अध्यात्ममिति षड्भिः। अध्यात्मं व्यष्टिरूपधृग्, अधिदैवं समष्टिरूपधृक् च सविशेषं ब्रह्म प्राणरूपं यथाज्ञातं बालाकिः उक्तवान्, तदपि अव्याकृतपर्यन्तम् अव्याकृतं पर्यन्ते परस्ताद् यस्य तद्, अव्याकृतादप्यपरमेव अवददित्यर्थः। निर्गुणं तु न, तस्य परतरत्वादिति भावः॥३९॥

यद्यदिति। बालाकिर्यद्यद् अवदद् राजा तत्तन्निराकरोत्। किं कुर्वन्? एतन्मया ज्ञातत्वाद् नोपदेष्टव्यमिति सूचनाय मा मा अत्र संवादं कुर्विति वदन् सन् तथा हस्तौ वारणमुद्रया चालयन् सन्निति॥४०॥

आदित्येति। आदित्यचन्द्रविद्युतः प्रसिद्धाः। स्तनयित्नुः मेघमण्डलशब्दः। नभ आकाशम्। मरुद् वायुः। अग्निः, आपः – इमे अष्टौ अधिदैवतं दैवते विराड्शरीरे घटकतया स्थिताः ब्रह्मपुरुषा अपरब्रह्मणो विभूतिरूपाणां पुरुषाणां शरीरभूताः। तथा च एतेषु अष्टसु अष्टौ उपास्यानि ब्रह्मस्वरूपाण्युक्तानीत्यर्थः॥४१॥

की प्रशंसा करके भी जब मैं उनसे परमात्मा के बारे में पूछता हूँ तब हज़ारों की संख्या में एकत्र हुए वे प्रसिद्ध वृद्ध पण्डित कभी उसका वर्णन नहीं करते॥३०॥ उनकी तुलना में आप अभी बच्चे ही हैं, विचार-विमर्श करने के लिये आपके कोई साथी भी उपस्थित नहीं हैं, किसी ने आप से पूछा भी नहीं, यहाँ उस विषय पर कोई चर्चा भी नहीं चल रही थी, फिर भी आपने जो यह बात कही 'तुम्हे ब्रह्म का उपदेश देता हूँ', उससे मैं आप पर प्रसन्न हूँ॥३१॥ आप चाहे मुझे ब्रह्मोपदेश दें या न दें, लेकिन आपने जो ऐसा वाक्य कह दिया उसी की मैं यह दक्षिणा देता हूँ :॥३२॥ घड़े की तरह फूले ऊध (= दुग्धसंचयांग) वाली, सुशील, प्रतिवर्ष सफल गर्भधारण करने वाली, शुभ लक्षणों से युक्त तथा बछिया वाली एक हज़ार गायें मैं आपको अभी देता हूँ क्योंकि आपने कहा 'तुम्हे ब्रह्म का उपदेश देता हूँ'।'३३॥

राजा का वचन सुनाकर गुरु जी कहते हैं– 'शास्त्रों में बताये ढंग से सोना आदि सहित एक हज़ार गायें राजा ने यों कहकर गार्ग्य को दान कर दीं। उस प्रसन्नचित्त भूपति ने इस अभिप्राय से गार्ग्य को यह दक्षिणा दी थी :॥३४॥

'अजातशत्रु धर्म का जानकार है, मुक्तहस्त दान करता है व ब्रह्मवादी है ऐसा न जानकर ये लोग मिथिला-नरेश जनक के पास ही जाया करते हैं॥३५॥ इन्हे बेकार ही यह आग्रह हो रखा है कि जैसे पिता धन दे देता है और पुत्र की पढ़ी विद्या मनोयोग से सुनता है ऐसे एक जनक ही है जो धन और ब्रह्मज्ञान देता है और ब्रह्मविद्या का श्रवण करता है॥३६॥ उनका आग्रह व्यर्थ इसलिये है कि जनक तो विद्योपदेश के बाद दक्षिणा देता है जबकि मैं ब्रह्मविद्या की बात पर ही हज़ार गायें दे देता हूँ'॥३७॥

किन्तु अल्पमति बालाकि ने ब्रह्मवादी राजा का अभिप्राय समझा नहीं बल्कि दक्षिणा देने की शीघ्रता से उसे जिज्ञासा से व्याकुल ही माना और अपने ज्ञानानुसार अपर ब्रह्म का उपदेश देना प्रारंभ कर दिया॥३८॥ अध्यात्म में व्यष्टिरूप धारण करने वाले और अधिदैव में समष्टिरूप धारण करने वाले प्राणरूप सविशेष ब्रह्म का बालाकि ने उपदेश दिया जो ब्रह्म अव्याकृत से भी अपर ही है। अतः अव्याकृत ईश्वर से भी परे जो निर्गुण तत्त्व है उसके उपदेश की संभावना ही कहाँ?॥३९॥ बालाकि जो जो कहता गया, राजा उस सब के लिये हाथ हिला कर मना करता गया कि 'यह तो मुझे मालूम है, इसके बारे में संवाद मत करो।'॥४०॥ यद्यपि परब्रह्म भी राजा को मालूम ही था तथापि राजा का तात्पर्य था कि 'ब्रह्म' शब्द का मुख्य अर्थ निर्विशेष ही है अतः उसे बताने की प्रतिज्ञा कर इस अपर ब्रह्म को क्यों बता रहे हो, मत बताओ।

उपनिषत् में बालाकि ने इस प्रकार कहा है: 'आदित्यमण्डलमें जो पुरुष है उसकी मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।' इस पर राजा ने कहा 'इस ब्रह्म का आप मुझे गुरुरूपसे उपदेश मत कीजिये, मैं इसे जानता हूँ।' फिर यह सोचकर कि गार्ग्य यह न समझे कि मैं यों ही कह रहा हूँ, राजा ने उपास्य की विशेषतायें और उपासना का फल भी बताया 'इस उपास्य ब्रह्म की ये विशेषतायें हैं: यह बृहत् अर्थात् अभ्यधिक है, पाण्डरवासा अर्थात् शुक्लगुणयुक्त जलरूप वस्त्र वाला है, अतिष्ठा अर्थात् सब भूतों को लाँघकर विद्यमान है, सभी भूतों का मस्तक है। इन गुणों से युक्त इसकी उपासना करने

अध्यात्मं च तथाऽऽदर्शो दिग्रूपं श्रोत्रमेव च। गच्छन्तमनुशब्दश्च छायात्मा पुरुषाकृतिः॥४२॥

अध्यात्ममिति। अध्यात्मम् आत्मनि व्यष्टिशरीरे स्थिता एतेऽष्टौ पूर्ववद् ब्रह्मपुरुषा उक्ताः। एते के? आदर्शः दर्पणाद्युज्ज्वलं प्रतिबिम्बग्राहकं वस्तु। दिग्रूपं श्रोत्रं श्रुतौ प्रतिश्रुत्पदेनोक्तम्। गच्छन्तं वेगेन चलन्तं पुरुषम् अनु तस्य पश्चाद् योऽयं ध्वनिरूपः शब्दः। पुरुषाकृतिः पुरुषसमानाकारं छायास्वरूपं च॥४२॥

वाला भी अतिष्ठा और सब भूतों का मस्तक अर्थात् सर्वश्रेष्ठ बन जाता है।' तदनन्तर गार्ग्य ने चन्द्रमण्डल में होने वाले पुरुष की ब्रह्मरूप से उपासना कही पर राजा ने उसकी भी पूर्वजानकारी बतायी तथा कहा 'मैं इसकी सोम राजा और अन्न की आत्मा रूप से उपासना करता हूँ इसका उपासक अन्नरूप या अन्नवान् हो जाता है।' फिर गार्ग्य ने विद्युत् में अर्थात् सौदामिनी मण्डल में होने वाले पुरुष का कथन किया जिसकी विशेषता राजा ने बतायी कि वह सत्य का आत्मा है। उपासना का फल सत्य का आत्मा होना ही है। तदनंतर स्तनयित्नु अर्थात् मेघमण्डल में स्थित पुरुष को बालाकि ने कहा जिसे राजा ने ध्वनि-रूप और वर्णरूप शब्द का आत्मा बताया। गार्ग्य ने जब आकाश में होने वाले पुरुष का कथन किया तब राजा ने उस पुरुष को परिपूर्ण, क्रियाशून्य और बृहत् बताया एवं उपासना का फल बताया कि उपासक प्रजा व पशु से पूर्ण रहता है, यश, ब्रह्म-तेज व स्वर्ग पाता है और पूर्ण आयु भोगता है। उसकी प्रजा भी पूर्ण आयु पाती है। गार्ग्य ने वायु में होने वाले पुरुष को ब्रह्मरूप से उपास्य कहा पर अजातशत्रु बोला 'इसकी मैं इन्द्र अर्थात् परम-ऐश्वर्य-संपन्न रूप से, वैकुण्ठ अर्थात् दूसरों द्वारा अनिवारणीयरूप से तथा जिसकी सेना पराजित नहीं होती इस रूप से उपासना करता हूँ जिसका फल है कि उपासक स्वभावतः जयी होता है, दूसरों द्वारा जीता नहीं जा सकता, शत्रुओं को पराजित ही करता है। बालाकि ने अग्नि में होने वाले पुरुष का कथन किया जिसका गुण राजा ने विषासहि अर्थात् स्वयं सहनशील व अन्यों द्वारा असह्य कहा। उपासना का भी विषासहित्व ही फल है। गार्ग्योक्त जलस्थ पुरुष का गुण बताया कि वह नाम का कारण या स्वरूप है। नाम का कारण या स्वरूप होना ही उपासना का फल है। यह तो देवताओं के सहारे ब्रह्मोपासन बताया गया। इसके बाद अध्यात्म अर्थात् शरीर के सहारे उपासना बताने का प्रयास गार्ग्य ने किया। पहले उसने दर्पण में होने वाले पुरुष को ब्रह्मत्वेन उपास्य बताया जिसका गुण राजा ने प्रतिरूपता अर्थात् सादृश्य या रोचिष्णुता कहा। गार्ग्य ने प्रतिश्रुत्का में अर्थात् दिशा में होने वाले को उपास्य ब्रह्म कहा। राजा बोला कि वह द्वितीय है और अनपग अर्थात् अपगमन न करने वाला है। इसके उपासक को पुत्रादि लाभ होता है व यावज्जीवन वे बने रहते हैं। बालाकि ने कहा 'जाते हुए पुरुष के पीछे जो यह ध्वनिरूप शब्द चलता है, वह मेरा उपास्य है।' राजा ने उसकी भी विशेषता बतायी कि वह असु अर्थात् जीवनहेतु है और उपासना का फल है कि उपासक की प्रजा की अकालमृत्यु नहीं होती। गार्ग्य ने छायारूप पुरुष को उपास्य कहा जिसके बारे में राजा ने कहा कि वह मृत्यु अर्थात् मरणहेतु है तथा उसके उपासक की एवं उपासक के पुत्रादि की अकालमृत्यु नहीं होती। गार्ग्योपदिष्ट शारीर पुरुष की विशेषता राजा ने कही कि वह प्रजापति अर्थात् प्रजा का पालन करने वाला है व उसके उपासक के पास प्रजा व पशु पर्याप्त होते हैं। गार्ग्य ने कहा 'नित्य प्रज्ञा से युक्त जो प्राणोपाधिक आत्मा है, जिससे जीव सपना देखता है, उसकी मैं उपासना करता हूँ।' राजा ने कहा 'उसके बारे में भी संवाद मत करो। मैं उसकी यम राजा रूप से उपासना करता हूँ। प्रत्यक्षादि से अवगत सब कुछ उसके उपासक की श्रेष्ठता के लिये होता है। तब गार्ग्य ने दाहिनी आँख में होने वाले पुरुष को उपास्य बताया जिसे राजा ने वर्णात्मक नाम का आत्मा, अग्नि का आत्मा और प्रकाशमात्र का आत्मा बताया व इन सबका आत्मा बनना ही उपासनाफल बताया। बालाकि ने बायीं आँख के पुरुष का कथन किया जिसे अजातशत्रु ने सत्य, विद्युत् और तेज का आत्मा बता दिया तथा उपासक को इनका आत्मा बनना ही फल होता है यह कहा। इतना औपनिषद प्रसंग निर्विशेष से साक्षात् सम्बद्ध नहीं अतः आचार्य श्रीशंकरानन्द जी चार श्लोकों में ही इसका संक्षेप कर देते है।

गार्ग्य के कथन का सार गुरु बताते हैं– 'विराट्-शरीर में घटकरूप से स्थित एवं अपर ब्रह्म के (प्राण के) विभूतिरूप पुरुषों के शरीरस्थानीय आठ हैं : सूर्य, चन्द्र, बिजली, मेघमण्डल का शब्द, आकाश, वायु, अग्नि और जल।

स्थूलं शरीरं तद्वच्च सूक्ष्मं प्राज्ञ इतीरितम्। दक्षसव्याक्षिसंस्थौ च ह्यष्टावष्टावुदीरिताः।।४३।।

राज्ञा तेषां ब्रह्मत्वनिरासः

गार्ग्येण राज्ञोऽस्योपास्या राजा तान् क्रमतोऽखिलान्। अतिष्ठादिगुणत्वेन ह्युक्तानुक्तान्निराकरोत्।।४४।।

आदित्यादिस्थितानेवं पुरुषानपि षोडश। ब्रह्मदृष्ट्या स्वयं प्रोक्तान् राज्ञा वीक्ष्य निराकृतान्।।४५।।

गार्ग्यस्य मूकीभावः

अतः परमजानानो ब्रह्मात्मानं स निर्गुणम्। अपप्रतिज्ञो बालाकिः परिम्लानमुखाम्बुजः।।
चोरवत् तत्सभामध्ये तूष्णीमासीदवाङ्मुखः।।४६।।

स्थूलं शरीरं शरीरपदेनैवोक्तम्। तथा सूक्ष्मं शरीरं प्राज्ञ इतीरितं सुषुप्त्यन्तर्गतस्वप्नदर्शनसाधनत्वेन 'न स्वप्नमाचरति' (कौ.४.१५) इति वाक्ये प्राज्ञपदप्रयोगार्हत्वेन विवक्षितम्। दक्षिणनेत्रस्थः सूक्ष्मशरीराकारः। वामनेत्रस्थश्च। एवम् अष्टावष्टौ अधिदैवमध्यात्मं च ब्रह्मपुरुषा उक्ता इत्येतावदत्र विवक्षितं, क्रमस्तु तेषां पुरुषाणां, विशेषणरूपा गुणाः, तेषां गुणानां चिन्तनजन्यफलानि च श्रुतेरेव बोध्यानीति।।४३।।

गार्ग्येणेति। गार्ग्येण षोडश पुरुषा अस्य राज्ञ उपास्यतया उक्ता 'अहमेतान् पुरुषान् आदित्यादिस्थितान् उपासे, त्वमपि उपास्व' इत्येवमुपदिष्टाः। राजा तु तान् पुरुषान् उपास्यत्वेन निराकरोत् –'नैते ममोपास्यत्वेन उपदेष्टव्या यतो मया ज्ञाता उपासिताश्च, अत्र तवोपदेशः सिद्धसाधनम्' इति उत्तररूपं निराकरणं कृतवान्। कीदृशान् पुरुषान्? बालाकेः पुरुषविशेषणज्ञानात् तत्फलज्ञानाच्च योऽभिमानस्तन्निराकरणाय अतिष्ठादिगुणत्वेनोक्तानुक्तान् वारं वारं राज्ञा वर्णितान्। तत्र अतीत्य ऐश्वर्येण सर्वमतिक्रम्य तिष्ठति इत्यतिष्ठा, इदमादित्यपुरुषस्य विशेषणम्। आदिपदेन बृहत्पाण्डुरवासा इत्यादि विशेषणानां जलप्रधानचन्द्रमयसुषुम्नातादात्म्येन लब्धानामस्यैव विशेषणानां, तथाऽन्नस्य आत्मेत्यादीनां चन्द्रादिविशेषणानां च ग्रहः।।४४।।

'तत उ ह' इत्यादि 'इति होवाच बालाकिः' (कौ.४.१९) इत्यन्तं वाक्यं व्याकरोति– आदित्यादिस्थितानिति अष्टभिः। आदित्यादिगतान् षोडश पुरुषान् ब्रह्मदृष्ट्या ब्रह्मबुद्ध्या उपास्यत्वेन स्वयं बालाकिना प्रोक्तान् राज्ञा निराकृतान् वीक्ष्य बालाकिः तस्य राज्ञः सभामध्ये चोरवत् तूष्णीमवाङ्मुखः च आसीत्। कीदृशो बालाकिः? अतः परं ब्रह्मात्मानं कारणोपाधिकं वस्तुतो निर्गुणमजानानः अविद्वान् सन्। पुनः कीदृशः? अपप्रतिज्ञः अपगता हानिं गता प्रतिज्ञा यस्य स तथा, अत एव परिम्लानमुखाम्बुज इति द्वयोरर्थः।।४५-४६।।

इनमें ब्रह्म के आठ उपास्य स्वरूप गार्ग्य ने बताये।।४१।। अपर ब्रह्म के ही विभूतिरूप पुरुषों के शरीरस्थानीय आठ व्यष्टि-शरीर में भी हैं : दर्पण, दिगात्मक श्रोत्र, वेग से चलते पुरुष के पीछे आने वाली ध्वनि, पुरुष के समान आकार वाली छाया, स्थूल शरीर, इस प्रसंग में प्राज्ञ कहा गया सूक्ष्मशरीर, दायीं आँख में होने वाला सूक्ष्मशरीर का आकार और बायीं आँख में होने वाला वैसा आकार। इनमें भी आठ उपास्यरूप बालाकि ने कहे।।४२-४३।। इन सोलह पुरुषों की उपासना करने के लिये गार्ग्य ने उस राजा को इनका उपदेश दिया किंतु राजा ने क्रमशः सभी पुरुषों के अतिष्ठादि गुण बताये और स्पष्ट कर दिया कि वह इन सब की उपासना कर चुका है अतः बालाकि का इनके विषय में उपदेश देना व्यर्थ है'।।४४।।

उपनिषत् में बताया है कि सोलहवे पुरुष को भी जब राजा ने पहले से ही ज्ञात बता दिया तो बालाकि चुप हो गया। उससे अजातशत्रु बोला 'हे बालाक ३! क्या इतना ही जानते हो या और भी कुछ जानते हो?' बालाकि ने कहा 'इतना ही जानता हूँ।' इस प्रसंग को आठ श्लोकों में बताते हैं।

गुरु ने आगे कथा सुनाई– 'इस प्रकार यह देखकर कि आदित्य आदि में स्थित जिन सोलह पुरुषों को ब्रह्मदृष्टि से उपास्य उसने बताया था उन सभी को राजा ने वास्तव में ब्रह्म मानना स्वीकार नहीं किया, वह बालाकि क्योंकि इससे परे

कुलविद्याधनमदैर्मत्तं ब्राह्मणबालकम्। नानात्रैवर्णिकजनतिरस्कारगतश्रियम्॥४७॥
अजातशत्रुस्तं वीक्ष्य शरन्मेघाभगर्जनम्। मदं सान्त्वयितुं राजा तस्य पापकरं तथा॥
इदं वचनमाहोच्चैः सभायां निर्घृणो यथा॥४८॥

'एतावन्नु' इत्यस्य वर्णनम्

रे बालाके शिशो विप्र ज्ञानमेतावदेव किम्। तव त्रैवर्णिकाक्षेपकारिणो दुष्टचेतसः॥४९॥
विप्रास्त्वदधिकज्ञाना अत्र सन्ति सहस्रशः। सभायां मम नैकोऽपि त्वद्वदन्यो विमोहितः॥५०॥
ततो यद्यस्ति ते किञ्चिज्ज्ञानमभ्यधिकं पुनः। तद्वदेत्येवमुक्तः स बालाकिरिदमुक्तवान्॥५१॥

कुलेति। कुलमभिजनः, विद्या च धनं च एतैर्मदैर्मदरूपेण परिणतैः मत्तं समदम्। तदुक्तम्—'विद्यामदो धनमदः तथैवाभिजनो मदः। एते मदा मदान्धानां त एव हि सतां दमाः'॥ इति। मदकृतेन नानात्रैवर्णिकजनतिरस्कारेण एव गता नष्टा श्रीः कान्तिर्यस्य स तथा तम्; अत एव शरत्कालिकमेघगर्जनाभं व्यर्थं गर्जनं यस्य स तथा तम्; एतादृशं ब्राह्मणबालकं वीक्ष्य तस्य बालाकेः पापकरं पापस्य परापमानरूपस्य प्रयोजकं मदं सान्त्वयितुम् इदं वचनं सभायामुच्चैराह। कीदृशो राजा? निर्घृणो यथा, अन्तः सदयोऽपि बहिर्निर्घृणवद् भासमान इति द्वयोरर्थः॥४७-४८॥

राजवाक्यमभिनयति— रे बालाक इति त्रिभिः। किम्पदं श्रुतिगत-नु-पदार्थं वितर्कमाह। रे बालाके! विप्र! किं तव एतावदेव ज्ञानं किं वाऽधिकमप्यस्ति? कीदृशस्य तव? त्रैवर्णिकानामाक्षेपं तिरस्कारं कर्तुं शीलं यस्य एतादृशस्य। पुनः कीदृशस्य? दुष्टधियः॥४९॥

विप्रा इति। त्वदधिकज्ञाना अपि विप्रा अत्र सभायां सन्ति परन्तु त्वद्वत् त्वमिव त्वदन्य एकोऽपि मदविमोहितो न अस्तीत्यन्वयः॥५०॥ तत इति। स्पष्टम्॥५१॥

कारण ब्रह्म को या निर्गुण आत्मतत्त्व को जानता था नहीं इसलिये 'ब्रह्म बताऊँगा' इस प्रतिज्ञा को पूरी नहीं कर पाया। उसका मुखकमल सूख गया और उस सभा में वह चोर की तरह सिर झुका कर चुपचाप खड़ा रहा॥४५-४६॥

कुल, विद्या और धन के नशों से मत्त, विविध त्रैवर्णिकों द्वारा किये गये तिरस्कार से कान्तिहीन और शरदृतु के बादल की तरह व्यर्थ गरजने वाले उस ब्राह्मण बालक की ओर देखकर दूसरों का अपमानरूप पाप कराने वाले उसके मद को समाप्त करने के लिये राजा अजातशत्रु ने कृपाहीन व्यक्ति की तरह ऊँचे स्वर में सभा में ये वचन बोले:'॥४७-४८॥ नीतिकारों ने कहा है कि विद्या, धन और कुल ये तीनों नीच पुरुषों के लिये नशे का काम करते हैं जब कि सत्पुरुषों के लिये नियंत्रण का काम करते हैं! सत्पुरुष सोचता है : मूर्ख भले ही यह गलती करे, मैं जानकार होकर ऐसा कैसे करूँ; गरीब भले ही निर्लज्ज होकर प्राणरक्षा के लिये गलती करे, मैं धनवान् होके कैसे करूँ; हीन कुल का व्यक्ति चाहे गलती करे, मैं अपने वंश पर धब्बा कैसे लगने दूँ? नीच व्यक्ति ठीक विपरीत सोचता है: मूर्ख नियमों से डरे, मैं तो गलत को भी विद्या से सही सिद्ध कर लूँगा; गरीब फँस सकता है, मैं तो धन के बल पर किसी का भी मुँह बन्द कर छूटा रहूँगा; मेरे वंश की कीर्ति का ख्याल कर कोई भी मुझ पर लांछन लगाने में डरेगा ही। बालाकि में विद्यादि ने मद का रूप ले रखा था। राजा था कृपालु पर बालाकि को रास्ते लाने के लिये कठोरता का व्यवहार करने लगा।

राजा बोला— 'अरे बालाकि! बच्चे! ब्राह्मण! सब त्रैवर्णिकों का तिरस्कार करने वाले दुष्टमति! तेरा ज्ञान क्या इतना ही है?॥४९॥ यहाँ मेरी सभा में तुझसे अधिक ज्ञान रखने वाले ब्राह्मण हजारों की तादाद में हैं पर उनमें एक भी ऐसा नहीं जो तेरी तरह मदवश स्वयं को ही श्रेष्ठ समझता हो॥५०॥ इसलिये यदि तेरे पास इससे अधिक ज्ञान हो तो बोल।'

ऐसा कहा जाने पर बालाकि ने कहा— 'हे राजेन्द्र! मैंने अब तक ब्रह्मस्वरूप का इतना ही उपदेश पाया है अतः मैं

गार्ग्योत्तरम्

एतावदेव राजेन्द्र मह्यं ब्रह्मोदितं पुरा। तेनाऽहं[1] नाधिकं जान एतस्माद् ब्रह्मणः क्वचित्॥५२॥

बृहदारण्यकोपसंहारेण राजोक्तिविस्तरः

एवमुक्ते तदा राजा वाक्यमेतदुदैरयत्। ब्रह्म नैतावता गार्ग्य विदितं केनचिद् भवेत्॥५३॥

अनृतवदननिन्दा

पुत्रैर्दारैर्धनैर्वाऽपि नानाविद्याविभूतिभिः। रक्षणीयं हि वचनं नानृतात् पातकं परम्॥५४॥

मृषावादी जगत्यस्मिन् कर्मचाण्डाल ईरितः। विशेषतो हि गुर्वादिसन्निधौ स्ववशो हि यः॥५५॥

एतावदेवेति। हे राजेन्द्र! एतावदेव ब्रह्मस्वरूपं मह्यं गुरुभिः उदितम् उपदिष्टमासीत्, तेन अधिकानुपदेशेन एतस्माद् निरूपितात् कार्यब्रह्मणः अधिकं न जान इति॥५२॥

बृहदारण्यकचतुर्थाध्यायस्य प्रथमब्राह्मणे 'नैतावता विदितं भवति' (बृ.२.१.१४) इत्युक्तम्, तदर्थमाह– एवमिति। एतद् वक्ष्यमाणम्। उदैरयद् उक्तवान्॥५३॥

'मृषा वै' (कौ.४.१९)[2] इत्यादिवाक्यार्थं प्रपंचयति– पुत्रैरिति त्रयोदशभिः। पुत्रादिभिरपि स्ववचः स्ववचनं रक्षणीयम्। यदि पुत्रादयोऽपि त्यज्यमानाः स्ववचनरक्षणे साधनं स्युः तदापि स्ववचनं रक्षणीयं सत्यं कर्तव्यमिति यावत्, यतोऽनृतात् परं पातकं न अस्ति। तदुक्तं मनुना 'अन्यथा संन्तमात्मानं योऽन्यथा सत्सु भाषते। स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः॥ वाच्यार्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः। तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः'॥ (मनु.४.२५५-६) इति। स्तेनयेद् व्यभिचरितार्थं ब्रूयादित्यर्थः॥५४॥

मृषेति। कर्मणा चाण्डालः, श्वपचादिस्तु जात्येति विशेषः। यः तु स्ववशः स्वतन्त्रः सन् गुरूणाम् आदिपदग्राह्य-राजादीनां च सन्निधौ मृषावादी स विशेषतः चाण्डाल इति॥५५॥

इस कार्यब्रह्म से अधिक नहीं जानता।'॥५१-५२॥

बृहदारण्यक में राजा ने बालाकि का यह वचन सुनकर जो कहा उसका भी संग्रह कर कौषीतकी में कहे राजवचन को गुरु बताते हैं– 'जब गार्ग्य ने ऐसा कह दिया तब राजा ने यह बात कही : 'हे गार्ग्य! केवल इतनी समझ प्राप्त करने से किसी के भी द्वारा ब्रह्म नहीं समझ लिया जाता'॥५३॥ उपनिषत् में राजा ने कहा है 'तुमने झूठे ही कह दिया कि मुझे ब्रह्म बताओगे?' इस वाक्य के अभिप्राय का तेरह श्लोकों में पुराणकार विस्तार करते हैं।

राजा आगे बोला– 'पुत्र, पत्नी, धन, विविध विद्यायें, वैभव, इन सब की अपेक्षा बहुत ज्यादा ज़रूरी है अपने वचन का पालन करना। झूठ से बड़ा कोई पाप नहीं है'॥५४॥ अर्थात् वचनपालन के लिये पुत्रादि का भी त्याग करना पड़े तो कर देना चाहिये। मनु महाराज ने बताया है कि जो व्यक्ति सत्पुरुषों के संमुख आत्मा का वैसा वर्णन करता है जैसा वह है नहीं, वह व्यक्ति सर्वाधिक पापकारी है, चोर है, आत्मा का ही उसने अपहरण कर लिया है। परंपरा से निश्चित सब वाच्यार्थों का मूल वाणी है, वाणी से ही वाच्यार्थ निकले हैं। जो व्यक्ति उस वाणी को चोर बनाता है वह नर सब कुछ चुराने वाला ही है। जो वस्तु जिसकी है उसे उसके पास न रहने देकर अपनी मर्ज़ी से उसका विनियोग करे वह चोर होता है। झूठ बोलने वाला भी यही करता है : जिसका जो स्वरूप है उससे उस स्वरूप को हटाकर चाहे जिससे जोड़ देता है। अतः वह वाणी को मानो चोर बना देता है। इससे स्मृतिकार ने यह घोषित कर दिया कि अन्यत्र चाहे कभी स्खलन

१. पित्राऽहमिति पाठान्तरम्।
२. 'मृषा वै किल मा समवादयिष्ठा ब्रह्म ते ब्रवाणीति' इति।

अकारणं हि यो वाक्यं मृषा ब्रूयाद् नराधमः। तस्य जिह्वां निकृन्तन्ति सन्दंशैर्यमकिङ्कराः॥५६॥

अपि प्रसिद्धा लोकेऽस्मिन्नधमाः पुरुषा हि ये। अधमः प्रथमस्तेषु योऽनृतं वक्ति मानवः॥५७॥

अग्न्यादीनां गुरूणां च राज्ञां वा सन्निधौ हि यः। अनृतं वक्ति तं पापं हन्यादेवाविचारयन्॥५८॥

ब्राह्मणत्वाद् न ते पाप ! दैहिकोऽत्र वधः कृतः। धर्मज्ञेन मया राज्ञा सभायां च विशेषतः॥५९॥

गार्ग्यपराधप्रकाशनम्

मिथ्याप्रतिज्ञस्त्वं जातो ब्रह्म वच्मीति यत्त्वया। प्रतिज्ञातं न तत् सिद्धं जनोपद्रवकारिणः॥६०॥

अकारणमिति। अकारणं **'वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेद्' (   )** इत्यादिशास्त्रबोधितं कारणं विना यो **मिथ्या वदति** तस्य जिह्वां यमकिङ्कराः सन्दंशैः निकृन्तन्ति **छिन्दन्ति। सन्दंशो दुर्ग्रहस्य ग्रहणसाधनं स्वर्णकाराद्युपकरणेषु प्रसिद्धः॥५६॥**

अपीति। लोके येऽधमाः प्रसिद्धाः तेषु **गण्यमानेषु प्रथमगण्योऽधमः स यो मिथ्या वदतीति॥५७॥**

अग्न्यादीनामिति। **अग्निप्रभृतीनां देवानां** गुरूणां वा राज्ञां वा सन्निधौ योऽनृतं वक्ति तं राजा हन्यादेव **इति॥५८॥**

ब्राह्मणत्वादिति। **हे पाप! तव दैहिको वधः शारीरो दण्डः** मया न कृतः, तव ब्राह्मणत्वात्। **कीदृशेन मया? धर्मज्ञेन सदा धर्मनिष्ठेन।** सभायां च विशेषतः तत्र धर्मे सावधानेनेति। **तथा च मनुः 'अक्षतो ब्राह्मणो व्रजेद्' (मनु.८.१२४) इति। नारदोऽपि 'वधादृते ब्राह्मणस्य न वधं ब्राह्मणोऽर्हति' (   ) इति॥५९॥**

ननु केनागसा मयि दण्डप्रसक्तिः? इत्याशंक्य; त्वत्कृतो जनोपद्रव एव येनादृष्टद्वारा तव प्रतिज्ञाहतेत्याह– मिथ्येति। मिथ्याप्रतिज्ञस्त्वं जातः यतः ब्रह्म **उपदिशामीति** त्वया प्रतिज्ञातं तत् **च तव प्रतिज्ञातं** न सिद्धं **जनोपद्रव-कारित्वादिति॥६०॥**

हो जाये किन्तु आत्मा के विषय में तो केवल प्रामाणिक अद्वैत का ही वर्णन करे अन्यथा चुप रहे, क्योंकि सद्वयता आदि गलत वर्णन करना सबसे घोर पाप है।

'इस संसार में झूठ बोलने वाला कर्म से चाण्डाल कहा जाता है। जो स्वतंत्रतापूर्वक व गुरु आदि की संनिधि में झूठ बोले वह तो विशेष रूप से चाण्डाल है'॥५५॥ अभिप्राय है कि जो तो पैदा होने से चाण्डाल है उसने सोच-समझकर उस नीचता को ग्रहण नहीं किया, पर झूठ बोलने वाले ने तो जान-बूझकर चाण्डाल बनना स्वीकारा है। अतः जाति से चाण्डाल की अपेक्षा भी झूठ बोलने वाला अधिक निकृष्ट है। 'गुरु आदि' में आदि से राजा का भी ग्रहण है।

'जो नीच पुरुष बिना समुचित कारण के ही झूठी बात बोलता है, यमराज के कर्मचारी सँड़सी से उसकी जीभ उखाड़ लेते हैं'॥५६॥ झूठ के समुचित कारण जैसे ब्राह्मण का वध बचाना, कन्या का विवाह करना इत्यादि। ऐसे मौके पर बोला झूठ तो किसी हद तक क्षम्य भी हो सकता है यह भाव है।

'इस लोक में जो नीच लोग प्रसिद्ध हैं उनमें अग्रगण्य वह मानव है जो झूठ बोलता है।॥५७॥ अग्नि आदि देवताओं की, गुरुओं की तथा राजाओं की संनिधि में झूठ बोलने वाले पापी का बिना विचारे वध कर देना चाहिये'॥५८॥

इस प्रकार सामान्य नियम बताकर राजा प्रकृत की बात कहता है– 'हे पापी! तू ब्राह्मण है, केवल इसलिये धर्म के जानकार मैंने तेरा शारीरिक वध नहीं किया। और खासकर सभा में वैसा दण्ड अन्यों के लिये अनुचित उपमान हो जाता॥५९॥ जो तुमने प्रतिज्ञा की थी 'ब्रह्म का उपदेश दूँगा', उसे तुम पूरा करने में असमर्थ रहे। अतः विद्वानों को वृथा परिभूत करने वाले तुम मिथ्याप्रतिज्ञ या झूठ बोलने वाले निकले॥६०॥ जो अधम व्यक्ति परमात्मा में तत्पर चित्त वाले

साधूनां समचित्तानां ब्राह्मणानां विशेषतः। कर्मणा मनसा वाचा पीडां यः कुरुतेऽधमः॥
सूर्यादयस्सदा तस्य घ्नन्ति सर्वान् मनोरथान्॥६१॥

भूतानां कुरुते योऽत्र सुखं वा दुःखमेव वा। आत्मनः कुरुते सर्वमिहलोके परत्र च॥६२॥

विद्यादिमदमोहेन भवतात्र तिरस्कृताः। बहवः साधवस्तत्त्वां फलमद्य समागतम्॥६३॥

अद्यप्रभृति माऽतस्त्वं मृषावादं कृथाः क्वचित्। ब्रह्म तेऽहं ब्रवाणीति यथा मामुक्तवानिह॥६४॥

गुरुरात्मवतां शास्ता बालाके सर्वदेहिनाम्। विशेषतो ब्राह्मणानामविप्रः शासको नहि॥६५॥

दण्ड्या राज्ञा दुरात्मानो ब्राह्मणा नैव चेति हि। शास्त्रद्वयं समाश्रित्य भर्त्सनं ते कृतं मया॥६६॥

जनोपद्रववशात् स्वकीयकरणदेवता एव तस्येष्टं घ्नन्ति इत्याह– कर्मणेति। सूर्यादयः चक्षुरादिदेवताः॥६१॥

न्याय्या च परापकारिणोऽनिष्टप्रसक्तिरित्याह– भूतानामिति। यो हि स्वशिरः परशिरोबुद्ध्या ताडयति स पीडित एव भवति, एवमात्मनोऽनतिरिक्तानि भूतानि परबुद्ध्या पीडयन् कथं न दुःखितो भवेदिति भावः॥६२॥

भवानपि तादृश इत्याह– विद्यादीति। विद्यादिमदजन्यमोहेन करणेन भवता कर्त्रा बहवः साधवः तिरस्कृताः तत् तस्मात् साधुतिरस्काराद्धेतोर्जन्यं फलं त्वामद्य प्राप्तमिति॥६३॥ अद्येति। अत एतादृशफलदर्शनाद् अद्यप्रभृति ब्रह्म तेऽहं ब्रवाणीति आकारं मृषावादं वृथा मा कृथाः, यथा मृषावादं मां प्रति उक्तवान् असीति॥६४॥

गुरुरिति। आत्मवतां पुरुषार्थादनपेतानां वश्येन्द्रियाणामिति यावत्। ईदृशानां सर्वदेहिनां गुरुः एव शास्ता अनुशासकः। अविप्रः क्षत्रियादिः तु न शासकः। अविप्रस्य विद्योपदेशेऽनाधिकाराद् विद्यातिरिक्तस्य चात्मवद्भिरनपेक्षितत्वादिति। ब्राह्मणानान्तु क्षत्रियाद्यशास्यत्वे ब्राह्मणत्वजातिर्विशेषहेतुरित्यर्थः। तव तु उन्मार्गवर्तित्वेन आत्मवत्त्वाभावाद् मया शासनं कृतमिति भावः॥६५॥

तव दण्डोऽप्येवं विचार्य मया कृत इत्याह– दण्ड्या इति। दुरात्मान उक्तात्मवद्विपरीता धर्माच्चलिता इति यावत्। ते राज्ञा दण्ड्या इत्यर्थकमेकं शास्त्रं, यथा 'नाऽदण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति धर्माद् विचलितः स्वकाद्' इत्यादि। ब्राह्मणा नैव दण्ड्या इत्यर्थकमपरं, यथा 'अक्षतो ब्राह्मणो व्रजेद्' (मनु.८.१२४) इति। तत् शास्त्रद्वयं समाश्रित्य उत्सर्गापवादन्यायेन व्यवस्थाप्य ते तव भर्त्सनम् एव कृतम् इति। तथा हि– धिग्दण्डस्त्वथ वाग्दण्डो धनदण्डः शरीरदण्डश्चेति चतुर्विधदण्डेषु चतुर्थस्य द्वितीयशास्त्रेण बाधात्, तृतीयस्यानौचित्यात् प्रथमयोरनुष्ठानमिति॥६६॥

साधुपरुषों को और विशेषकर ब्राह्मणों को क्रिया, मन या वाणी से पीडा पहुँचाता है चक्षुरादि के अधिष्ठाता सूर्यादि देवता उसके सब मनोरथ भंग कर देते हैं॥६१॥ संसार में जो किसी भी प्राणी को सुख या दुःख देता है वह इहलोक और परलोक में अपने ही लिये सुख या दुःख एकत्र करता है'॥६२॥ अभिप्राय है कि अगर दूसरे का सिर समझकर अपना सिर फोड़ो तो खुद ही पीडित होना पड़ता है; ऐसे ही प्राणियों को अपने से भिन्न मानकर पहुँचायी पीडा वस्तुतः खुद को ही भोगनी पड़ती है। पुण्य-पापवश स्वयं ही सुखी-दुःखी होने पड़ता है। इस लोक में भी अन्यों को सुख देने वाले की सेवादि हो जाती है अतः वह सुखी रहता है और सबको पीडित करने वाला आवश्यकता पड़ने पर किसी की सहानुभूति भी नहीं पाता। अतः किसी को पीडा नहीं देनी चाहिये।

'विद्या आदि के नशे से अविवेक को प्राप्त तू ने बहुतेरे साधुओं का अपमान किया है। उस का आज तुझे फल मिला है॥६३॥ अतः आज के बाद तुम कभी ऐसी झूठी बात न बोलना जैसी तुमने मुझसे कही कि 'मैं तुम्हे ब्रह्म का उपदेश देता हूँ'॥६४॥ हे बालाकि! इन्द्रियों पर नियंत्रण वाले पुरुषार्थ के प्रति जागरूक सभी लोगों के अनुशासक उनके गुरु ही होते हैं क्योंकि गुरु शिक्षा देते हैं और ऐसे लोगों को मर्यादा में रहने के लिये वही पर्याप्त होती है। विशेषतः ब्रह्मणों पर

उत्तमेभ्योऽधमेभ्यो वा राज्ञा वाच्यं हितं सदा। एतच्छास्त्रं समाश्रित्य हितं ते वच्मि तच्छृणु॥६७॥

गार्ग्याय हितोपदेशः

षोडशानां त्वदुक्तानां पुरुषाणां महात्मनाम्। कर्ता विश्वस्य चाप्यस्य ज्ञातव्यो भवता सदा॥६८॥

उत्तमेभ्य इति। सर्वेभ्यो राज्ञा हितम् उपदेष्टव्यमित्यर्थकं शास्त्रम् आलम्ब्य तुभ्यं हितम् उपदिशामीत्यर्थः। तथा च मनुः 'प्रजानां पालनं दानम्' (१.८९) इत्यादि क्षत्रधर्मानुपदिशति। तत्र पालनं हितोपदेशः, उपदेशातिक्रमे दण्डः, वृत्तिपरिकल्पनं, प्रतिपक्षिभ्यस्त्राणं चेति नानाविधम्। अतो हितोपदेशो मया क्रियत इति भावः॥६७॥

'यो वै बालाक एतेषाम्' (कौ.४.१९)[१] इति वाक्यार्थमाह– षोडशानामिति। त्वदुक्तानां षोडशपुरुषाणां यः कर्ता जनकः; तिष्ठन्तु पुरुषाः, सर्वस्य अस्य जगतोऽपि यः कर्ता; यस्य सर्वं कार्यं श्रुतौ कर्मपदेनोक्तं, स एव पुरुषेण ज्ञातव्य इति॥६८॥

नियंत्रण करने के लिये गैर ब्राह्मण की आवश्यकता पड़ती ही नहीं'॥६५॥ तात्पर्य है कि तू गलत रास्ते पर ही नहीं अपने पर नियंत्रण वाला भी नहीं है अतः गुरुओं द्वारा दी शिक्षा तुझे अनुशासन में नहीं रख पायी। इसी से एक गैर विप्र द्वारा तुझे इतना लज्जित होना पड़ रहा है।

'शास्त्र में यह भी कहा है कि धर्म से विपरीत आचरण करने वाले और गुरुओं द्वारा अनुशासित न किये जा सकने वाले दुरात्मा राजा द्वारा दण्डित किये जाने योग्य है; और यह भी कहा है कि ब्राह्मण कभी राजा द्वारा दण्डित होने योग्य नहीं। इन दोनों वचनों की व्यवस्था बनाते हुए मैंने तेरी केवल भर्त्सना की है'॥६६॥ व्यवस्था यह की है: ब्राह्मण दण्डयोग्य नहीं यह सामान्य नियम है और दुरात्मा दण्डयोग्य है यह विशेष नियम है। विशेष नियम सर्वत्र सामान्य नियम का बाधक होता है अतः दुरात्मा होने से गार्ग्य का दण्ड्य होना उचित है। किं च ब्राह्मण की अदण्ड्यता में उसे मारने का, उसका खून गिराने का निषेध बताया है जब कि मारने से अन्य भी दण्ड अन्यत्र प्रतिपादित हैं। धिक्कारना, डाँटना-फटकारना, धन छीन लेना और मारना ये चार तरह के दण्ड कहे गये है। इनमें अंतिम भले ही ब्राह्मण के लिये निषिद्ध हो अन्य दण्ड तो दे ही सकते हैं। ब्राह्मण का धन छीनना भी उचित नहीं क्योंकि सारे धन पर उसका स्वाभाविक अधिकार है। इसलिये धिक्कारना और डाँटना ही उसके योग्य दण्ड है।

'शास्त्र कहता है कि राजा को चाहिये श्रेष्ठ कनिष्ठ सभी को हमेशा हितकारी बात बतावे। इस आज्ञा के अनुसार मैं तुझे हित बताता हूँ, सुन'॥६७॥ प्रजा का पालन राजधर्म है। पालन में सर्वप्रथम है हित का उपदेश करना। फिर यदि वह उपदेशानुसार न चलकर अनुचित करे तो दण्ड देना। रोज़गार के उपाय उपस्थित करना, दुश्मनों से बचाना आदि सब पालन में आते हैं।

अजातशत्रु गार्ग्य को उसके हित की बात बताता है– 'तुम्हारे द्वारा बताये सोलह महान् पुरुषों का, और उन्हीं का

---

१. 'यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत् कर्म स वै वेदितव्य इति' इति वाक्यम्। अत्र वेदितव्यः प्राणो वा स्याज्जीवो वा स्यात् तयोरेव सकर्मतया यस्य वैतत्कर्मेत्युक्त्युपपत्तेरिति शङ्कायामुत्तरं– परमेश्वर इह वेदितव्यः, स एवैषामुक्तानां ब्रह्मपुरुषाणां कर्ता, ब्रह्म ब्रवाणीति परस्मिन्नेवोपक्रमौचित्यादकारणं ब्रह्मपदस्य सावच्छिन्नपरत्वायोगात्, एतत्कर्मेत्यत्रैतच्छब्दो जगन्मात्रं ब्रूते, विशेषणानुपादाने वस्तुमात्रस्यात्र निर्दिष्टत्वप्रतीतेः। उपक्रमोपसंहाराभ्यां, 'नैतावता' विदितमित्यर्थवादेन 'एवं विद्वान् सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति' इति सफलत्वेन, 'ज्ञपयिष्यामी' ति अपूर्वत्वेन, 'क्षुरः क्षुरधाने, विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाय' इत्याद्युपपत्त्या, 'एतस्मादात्मनः प्राणा विप्रतिष्ठन्ते' इत्याद्यभ्यासेन च ब्रह्मविषयत्वमेवास्य ब्राह्मणस्य, न जीवोपासने प्राणोपासने वा तात्पर्यम्। न च सुप्तोत्थापनादौ जीवोपन्यासवैयर्थ्यम्, ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थमुपन्यास इति श्लिष्टतरत्वात्। अत एव प्राणाद्यन्ये जीवे प्रतिबोधिते तद्व्यतिरिक्तं राजा पप्रच्छ– 'क्वैषोऽशयिष्टे' ति 'कुत आगाद्' इति च। वाजसनेयके तु विज्ञानमयशब्देन जीवं निगद्य 'आकाशस्तस्मिञ्शेत' इत्याकाशपदेन स्पष्टं परमात्मनो निर्देशः। तदेवं परमात्मपरत्वमस्य सन्दर्भस्य बालाक्यधिकरणे (१.४.५.१६-१८) प्रतिपादयाम्बभूवुराचार्याः।

गुरूपदेशतस्तस्माद् गुरून् गच्छात्र मा चिरम्। विद्यादिमद एष त्वामन्यथा नरकं नयेत्॥६९॥
ब्रह्मशब्दधियोर्गम्यः स एवेह न चापरः। सृष्टिस्थित्यन्तहेतुर्यो जगतोऽस्य जगच्च यः॥७०॥

गार्ग्यस्य मनोदशावर्णनम्

इति राजवचः श्रुत्वा गतदर्पो महामनाः। अभिप्रायेणामुनैनं गुरुत्वेन जगाम सः॥७१॥
गुरुर्गरीयसोऽर्थस्य दर्शको धर्मतः स्मृतः। यः कश्चिदखिले लोके घातकोऽपि लघीयसः॥७२॥

'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (क. २.९) इत्यादिश्रुतेर्गुरूपदेशादेव स ज्ञेय इत्याह— गुरूपदेशत इति। अन्यथा गुरूपदेशात्तज्ज्ञानाऽसम्पादने। नरकं जन्ममरणप्रबन्धरूपम्॥६९॥

ब्रह्मेति। स एव मदुक्तो जगत्कर्तैव अद्वितीयपरस्य ब्रह्मशब्दस्य तज्जन्यधियश्च गम्यो गोचर इत्यर्थः। तत्र हेतुत्वेन ब्रह्मलक्षणं स्मारयति सृष्टीति। तस्य ताटस्थ्यं वारयति— जगच्च य इति॥७०॥

'तत उ ह' इत्यादिवाक्यं व्याकरोति— इति राजवच इति। महद्विचारक्षमं मनो यस्य स तथा एतादृशः स बालाकिः अमुना वक्ष्यमाणेन अभिप्रायेण एनम् अजातशत्रुमेव गुरुत्वेन गुरुभावेन जगाम निश्चितवान्॥७१॥

बालाक्यभिप्रायमावेदयति— गुरुरिति द्वाविंशतिश्लोकैः। लोके यः कश्चिद् अपि एतादृशः स धर्मतो न्यायतः गुरुः स्मृतः; 'धर्मो न्याय' इति विश्वः। एतादृशः कीदृशः? गरीयसः स्वज्ञातुर्गुरुत्वाधायकत्वाद् अतिगुरुभूतस्य आत्मतत्त्वादेः दर्शकः प्रकाशकः; तथा लघीयसः स्वाश्रयस्य लघुत्वाधायकत्वेनातिलघोः मदादेः घातकः निवर्तकश्चेति। तथा च— स्वसंसृष्टं मधुरं कुर्वन् स्वरसविपरीतं रसं चाभिभवन् गुडादिर्न्याय्यमधुरताकः, तथाऽस्य राज्ञो गुरुताऽपि न्याय्येति भावः॥७२॥

नहीं इस सारे जगत् का जो बनाने वाला है, यह सब जिसका कार्य है, उसे हमेशा जानना चाहिये॥६८॥ और इसकी सही जानकारी गुरु के उपदेश से ही होती है। अतः तुम ब्रह्मनिष्ठ गुरुओं की शरण जाओ, इसमें विलम्ब मत करो, अन्यथा विद्यादिनिमित्तक यह मद तुम्हे नरक ले जायेगा॥६९॥ इस विषय में याद रखो कि जगत्कर्ता परमेश्वर ही ब्रह्म कहा और समझा जाता है, और किसी को ब्रह्म न कहते हैं न समझते हैं। जो इस जगत् के जन्मका, बने रहने का और समापन का कारण है तथा जो स्वयं इस जगत् के आकार में उपलब्ध है, वही ब्रह्म है'॥७०॥ अजातशत्रु ने स्पष्ट कर दिया कि ब्रह्मरूप से उपास्य चाहे जो हो पर ज्ञेय तो एकमात्र महादेव हैं। पूर्वाध्याय में परमात्मज्ञान ही हिततम कहा जा चुका है अतः उसे ही यहाँ हित बताया। साथ ही उसका ज्ञान अपनी मनीषा से पाने की कोशिश नहीं करनी चाहिये किंतु गुरु से ही उसे पाना चाहिये यह विधान भी कर दिया। श्रीमान् शंकराचार्य जी ने कथानक से यह अभिप्राय माने हैं : राजस-तामस बुद्धि से नहीं सात्त्विक बुद्धि से आत्मा समझा जाता है, गुरु से ही इसे जान सकते हैं, केवल तर्कबुद्धि से यह ग्रहण किया जा सकता नहीं और ब्रह्मविज्ञान में श्रद्धा परम साधन है। किं च यह भी इस कथा से निश्चित होता है कि उत्तम से विद्या लेते हुए प्रणिपात आदि करने चाहिये पर अधम से लेते समय श्रद्धादि ही पर्याप्त है, प्रणिपात आदि नहीं करने चाहिये। ऐसे आचारयुक्त ही इसके सही वक्ता-श्रोता होते हैं।

राजा के कथन के अनंतर श्रुति में कहा है कि बालाकि जैसे उपदेश ग्रहण करने गुरु के पास जाना चाहिये ऐसे हाथ में भेंट लेकर राजा के संमुख उपस्थित होकर कहने लगा 'यदि आप अनुज्ञा दें तो शिष्यरूप से आपके निकट आऊँ।' इस प्रसंग का विस्तार पुराण में बताते हैं।

गुरु जी आगे की घटना सुनाते हैं— 'विचार करने में समर्थ मन वाले उस बालाकि ने राजा के इस प्रकार यथार्थ और समुचित वचन सुनकर मन से उसे गुरु समझते हुए अभिमान त्याग कर इस अभिप्राय से उसके संमुख उपस्थित होने का

विद्याधनकुलाख्योऽयं मदो मे नरकप्रदः। लघीयान् यस्य संसर्गादभवं लघुरीदृशः॥७३॥

असावनेन निहतोऽलघुदुःखकरो मम। अनादृतोऽपि तेनासावभूद्राजा गुरुर्मम॥७४॥

परित्यज्य यदा यामि गुरुमन्यमहं तदा। भविष्यामि कृतघ्नोऽत्र तत एनं व्रजाम्यहम्॥७५॥

अपि चात्र यथा राजाऽजातशत्रुर्महामनाः। ब्रह्म वेत्ति स्फुटं तद्वद् नान्यो जानाति मानवः॥७६॥

गुरवो मे स्वयं यावज्ज्ञातवन्तो महाधियः। प्राणप्रियाय तत् सर्वं मह्यमेते समादिशन्॥७७॥

तत्र लघीयसो घातकत्वं स्पष्टयति— विद्येति द्वाभ्याम्। विद्या च धनं च कुलं च एतैराख्या निरूपणं यस्य ईदृशो मदः लघीयान् अतिलघुः यस्य मदस्य सम्पर्कादहम् ईदृशः सत्सभायामनादृतरूपः लघुः लाघवं गतोऽभूवमिति॥७३॥

असाविति। असौ मम अलघुदुःखकरः मदः अनेन राज्ञा निहतः, तेन लघीयसो हननेन गुरुलक्षणेन असौ राजा गुरुरभूद् इति। कीदृशो मदोऽनेन राज्ञाऽनादृतः चित्तभूमौ जायमानो विवेकेन प्रतिरुद्ध इत्यर्थः। तथा च परेषां मदहरः स्वयं निर्मदश्चायं कथं न गुरुतामर्हतीति भावः॥७४॥

परित्यज्येति। एनं राजानं गुरुत्वप्रयोजकव्यापारं कृतवन्तं परित्यज्याहं यदि अन्यं यामि अन्यत्र गुरुत्वं भावयामि, तदा कृतघ्नो भविष्यामि कृतं व्यापारं हन्ति विफलयतीति कृतघ्नः एतादृशः स्यामिति। तथा च 'तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन्' (   ) इति निषेधोल्लंघनप्रयुक्तो दोषः स्याद् अवज्ञानरूपद्रोहापत्तेरिति भावः॥७५॥

गरीयसोऽर्थस्य दर्शकत्वमप्यत्र इति दर्शयति— अपि चात्रेति। अत्र लोके द्रष्टैव दर्शको भवतीति भावः॥७६॥

ननु न तव पूर्वगुरवोऽपि ब्रह्म जानन्ति? इत्याशंक्य; यदि तेऽज्ञास्यंस्तर्हि मह्यं प्राणप्रियायोपदेक्ष्यन्, उपदेशाभावाज्ज्ञायते ते यथावद् न विदन्तीत्याह— गुरव इति॥७७॥

निश्चय किया॥७१॥ 'सारे संसार में उसे ही गुरु समझना युक्त है जो अतिलघुता को दूर करे और किसी सारवान् अर्थ का ज्ञान करावे'॥७२॥ गुरुशब्द 'भारी' का बोधक है अतः लघुता अर्थात् हल्कापन हटाना और भारीपन लाना ये गुरु के उचित धर्म हैं। आत्मतत्त्व का भारीपन यह है कि वह अपने जानकार को गुरु बना देता है। ऐसा आत्मतत्त्व राजा ने प्रकाशित किया है। मद आदि अतिलघु हैं क्योंकि वे जिसमें होते हैं उसे लघु अर्थात् हल्का या परीक्षावायु से तुरन्त उखड़कर उड़ जाने वाला बना देते हैं। उनका निवारण भी राजा ने कर दिया है। अतः जैसे गुड जिससे संबद्ध होता है उसे मीठा बनाता है और उसमें होने वाले अन्य स्वादों को दबा देता है इसलिये गुड का मिठा उचित है, ऐसे ही राजा ने मुझे भी आत्मज्ञान से परिचित कराकर गुरु बनाया तथा मेरे मद आदि को अभिभूत कर दिया है इसलिये राजा का गुरु होना उचित है।

राजा द्वारा अपनी लघुता हटायी जाने पर बालाकि का विचार बताते हैं— 'विद्य, धन और कुल का यह मद मेरे लिये नरकप्रद ही होता। वह मद अतिलघु है क्योंकि उसके सम्पर्क वाला होने से मैं सत्पुरुषों की सभा में अनादररूप लघुता को प्राप्त हुआ॥७३॥ अत्यंत दुःखद वह मेरा मद जिसे नियंत्रित करने के प्रति मैं सर्वथा उपेक्षाशील था, इस राजा द्वारा नष्ट कर दिया गया है। अतः यह मेरा गुरु हो ही गया'॥७४॥ किं च मैंने इसका अनादर किया फिर भी इसने मुझे बड़प्पन की ओर ही प्रेरित किया अतः खुद मदरहित और अन्यों का मद हटाने वाला यह राजा ज़रूर गुरु होने योग्य है।

राजा की सलाह से किसी ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण की शरण जाने के प्रति गार्ग्य क्यों उत्सुक नहीं हुआ यह बताते हैं— 'गुरु बनने योग्य काम कर चुके इस राजा को छोड़कर अगर मैं किसी अन्य को गुरु बनाने जाऊँ तो मेरी कृतघ्नता होगी। अतः इसी के पास शिष्याभाव से जाऊँगा॥७५॥ और भी, यह महामना राजा अजातशत्रु ब्रह्म को जितना स्पष्ट जानता है, संसार में कोई और मानव उतना स्पष्ट जानता नहीं। विस्पष्ट ज्ञाता ही तो दूसरे को समझा सकता है॥७६॥ मेरे महान् विद्वान्

त्रैवर्णिकानहं चान्यान् हिमसेत्वोश्च मध्यगान्। स्फीतकीर्तीन् विजित्यात्र राजानं जेतुमागतः॥७८॥

एतदन्ये ततः सर्वे शिष्यतामगमन् मम। लप्स्ये तेभ्यस्ततः केन ब्रह्मविद्यां सुदुर्लभाम्॥७९॥

राजवैशिष्ट्यमपश्यत्

राजाऽयं देवसदृशस्तेभ्यो वाप्यधिको यतः। ब्रह्मविद्यां विजानाति परेभ्यश्च प्रयच्छति॥८०॥

देवा देववधूवक्त्रमद्यपानविमोहिताः। जानन्तोऽपि न जानन्ति मद्यपा इव भूमिगाः॥८१॥

अयं चैतादृशीं लक्ष्मीं प्राप्तोऽपि मुनिवत् स्थितः। हर्षशोकौ च न स्तोऽस्य प्रियाप्रियसमागमे॥८२॥

पुत्राश्च शत्रवस्तद्वत् समा अस्य महीभृतः। यतो न कुरुते द्वेषं द्वेषिण्यपि महायशाः॥
कामक्रोधविहीनोऽयमेक एव न चापरः॥८३॥

तर्हि गुरुभ्योऽन्यान् ब्रह्मविज्ञानायोपगच्छ? इत्याशंक्य; तेषां मच्छिष्यतां गतत्वाद् न जिज्ञासया गमनार्हतेत्याह– त्रैवर्णिकानिति द्वाभ्याम्॥७८॥

एतदन्य इति। एतस्माद् राज्ञ इतरे मम शिष्यतामगमन् प्राप्ताः ततः शिष्यतां गतत्वात् तेभ्यः त्रैवर्णिकेभ्यः केन हेतुना ब्रह्मविद्यां लप्स्ये प्राप्तो भविष्यामि? तेषां मत्तोऽधिकज्ञत्वमेव हि तेभ्यो विद्यालाभे हेतुः स्याद्, मच्छिष्यतां गतत्वेन चाधिकज्ञताया अभावो निर्णीत इति भावः॥७९॥

अस्माद्राज्ञस्तु ब्रह्मविद्यालाभः संभाव्यत इति दर्शयति– राजाऽयमिति। अयं राजा मानुषोऽपि गुणैर्देवसमः, वा अथवा तेभ्यो देवेभ्यः समधिको भवति। तत्र हेतुमाह– यत इत्यादि। ब्रह्मविद्यां विजानाति अप्रमत्तो धारयति परेभ्यः अधिकारिभ्यः प्रयच्छति च इति॥८०॥

देवेभ्य आधिक्यं स्फुटयितुं देवानां भोगव्यासङ्गरूपमपकर्षमाह– देवा इति। देवा जानन्तोऽपि न जानन्ति यतो देववधूनां वक्त्राण्येव दर्शनरूपपानेन मादकत्वाद् मद्यं तत्पानेन विमोहिताः। तथा च भोगलिप्साप्रतिबद्धेन ज्ञानेन स्वरूपनिष्ठताया असम्पादनाद् 'जानन्तोऽपि न जानन्ति' इत्युक्तमिति भावः। विफलज्ञाना ' न जानन्ति' इत्येव व्यवहार्या इत्यत्र दृष्टान्तः– मद्यपा इव भूमिगा इति। भूलोकगताः सुरापा यथेत्यर्थः॥८१॥

राज्ञो विशेषं स्फुटयति– अयमिति। मुनिवत् परमहंसयतिवत्। मुनिवत्स्थितिमभिनयति– हर्षेत्यादिना॥८२॥

हर्षशोकाभावे रागद्वेषाभावं हेतुत्वेनाह– पुत्रा इति। द्वेषिणि द्वेषशीले। कामेति। अयमेक एव कामक्रोधविहीनो, न चापरः एतत्समः काम-क्रोधहीनो मया न दृष्ट इति यावत्॥८३॥

गुरुओं ने ख़ुद जितना जाना, प्राणप्रिय मुझे उस सब का उपदेश दे दिया॥७७॥ हिमालय व सेतुबन्ध के बीच सर्वत्र विद्यामान् अन्य प्रसिद्ध त्रैवर्णिक विद्वानों को तो मैं जीतकर इस राजा को जीतने आया था॥७८॥ अतः अन्य पण्डित मेरे शिष्यस्थानीय हो गये, मुझसे अधिक नहीं जानते। इसलिये यह अतिदुर्लभ ब्रह्मज्ञान उनसे कैसे मिलेगा?॥७९॥ यह राजा तो मानो देवता है, बल्कि उनसे भी बढ़कर है क्योंकि इसने पूरी सावधानी से परमात्मा को जाना है और अधिकारियों को उपदेश भी देता है॥८०॥ जैसे पृथ्वीलोक के शराबी नशे में विवेकशून्य हो जाते हैं, ऐसे देवता लोग दिव्य स्त्रियों को देखकर विमोहित हो जाते हैं, मानो उन स्त्रियों का मुँह ही मदिरा हो और उसे देखना ही उस मदिरा को पीना हो, और यों भोगलिप्सावश उनकी आत्मनिष्ठा बन नहीं पाती। उन्हे आत्मज्ञान हो चुकने पर भी विफल ही है क्योंकि निष्ठापूर्वक मोक्षका हेतु बनता नहीं॥८१॥ उनसे विपरीत यह राजा ऐसी लक्ष्मी पाकर भी परमहंस संन्यासी की तरह है। प्रिय के समागम से हर्ष या अप्रिय के समागम से इसे शोक नहीं होता॥८२॥ इस राजा के लिये पुत्र और शत्रु समान हैं क्योंकि इससे द्वेष करने वाले से भी यह द्वेष नहीं करता। इस महान् यशस्वी राजा से अन्य इसके समान कामना और क्रोध से रहित

यतो मे ब्रह्म वच्मीति वादिनेऽदात्सहस्त्रकम्। गवामेतेन नास्त्यस्मिन् कामः कोऽपि न संशयः॥८४॥

राज्ञः कामक्रोधराहित्यमज्ञासीत्

कामिनः कामिनीनां वा कामिनीपृष्ठगामिनाम्। नटानां चाऽपि दद्युस्ते सहस्त्राणि शतानि च॥८५॥

ब्रह्मवादरतेभ्यस्ते नाऽपि पञ्चवराटकान्। दद्युस्तस्मै वदद्भ्यो वा परेभ्यस्तु कथं पुनः॥८६॥

ततः कामकृतं दोषं जानात्येष महीपतिः। दोषज्ञो मदनस्य स्याद् निष्कामो निश्चितं पुमान्॥८७॥

तत्र कामहीनतां प्रपञ्चयति– यत इति चतुर्भिः। ब्रह्म ते वच्मीति वादिने मह्यं गवां सहस्त्रं यतोऽदाद् दत्तवान् एतेन हेतुना ज्ञायते यद् अस्मिन् राज्ञि कामो नास्ति इति॥८४॥

ननु ब्रह्मवादिने दानं कथं कामाभावे हेतुः? इत्याशंक्य; यथा धूमव्यापकवह्निविरुद्धं जलं ह्रदादौ धूमाभावानुमितिहेतुः तथा कामव्यापकाऽपात्रदानविरुद्धत्वात् पात्रदानं कामाभावे हेतुः, व्यापकविरुद्धस्य व्याप्याभावहेतुताया न्याय्यत्वादित्याशयेनाह– कामिन इति द्वाभ्याम्। कामिनो हि कामिनीभ्यः कामिनीपृष्ठगामिभ्यः कामिनीकिंकरेभ्यो वा नटेभ्यो वा कामिन्यनुकारिभ्यो मुद्रिकाणां सहस्त्राणि शतानि च दद्युः इति। अपात्रत्वसूचनाय षष्ठीप्रयोगः॥८५॥ ब्रह्मेति। ते कामिनः ब्रह्मवादिभ्यः पञ्चवराटकानपि न दद्युः। कीदृशेभ्यो ब्रह्मवादिभ्यः? तस्मै कामिने वदद्भ्य उपदिशद्भ्योऽपि। वा-शब्दोऽप्यर्थः। परेभ्यः अनुपदिशद्भ्यः तु पुनः कथं दद्युः?– अनुपदिशद्भ्यो दानवार्ताऽपि दुर्लभेत्यर्थः॥८६॥

फलितमाह– तत इति। ततः पात्रे दानप्रवृत्तेरेव ज्ञायत इति शेषः। किं ज्ञायत इत्यत आह– कामेत्यादि। एष महीपतिः कामकृतं दोषं जानाति। यश्च पुमान् मदनस्य कामस्य दोषज्ञ स एव निश्चितं निष्कामो भवतीति। कामकृतो दोषश्च–

'मृगयाऽक्षा दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः। तौर्यत्रिकं[1] वृथाट्या च कामजो दशको गणः'॥

(७.४-७) इति मनूक्तः। 'काम एष क्रोध एष' (३.३७) इति भगवद्गीताद्युक्तः संसारसन्ततिलक्षणो वा बोध्यः॥८७॥

और कोई है ही नहीं॥८३॥ 'मैं ब्रह्मोपदेश दूँगा' ऐसा कहते ही मुझे इसने हज़ार गायें दे दीं इससे निश्चित है कि इसे कोई कामना नहीं है'॥८४॥

प्रश्न हो सकता है कि यों दान कर देने से अकामुकता का निश्चय कैसे? उत्तर है कि यह नियम है कि जो जो व्यक्ति अपात्र को दान देता है वह कामुक होता है अतः सत्पात्र को दान देने वाला निष्काम हो यह उचित है। उदाहरणार्थ धूम का व्यापक है वह्नि क्योंकि धूमसत्त्व वह्निसत्त्व का ज्ञापक है। वह्नि से विरुद्ध है जल। अब, तालाब में जल देखकर यह अनुमान करना उचित है कि तालाब में धुआँ नहीं है, क्योंकि धूमका व्यापक वह्नि ही जब वहाँ संभव नहीं तो धूम का प्रश्न ही कहाँ? ऐसे ही कामना का व्यापक है अपात्र को दान देना क्योंकि कामुक अवश्य अपात्र को देगा। अपात्रदान से विरुद्ध है सत्पात्र को दान। अतः सत्पात्र को दान देने से कामना न होना समझा जाये यह संगत है। इसे स्पष्ट करने के लिये गार्ग्य कामुकों का आचार याद करता है– 'कामुक लोक सैकड़ों हज़ारों रुपये कामिनियों को, उनके टहलुओं को व नटों को दे देंगे पर परमात्मचर्चा में लगे सत्पुरुषों को कभी पाँच कौड़ी भी न देंगे। जो उन्हें ब्रह्मचर्चा सुनाये उसे भी वे कुछ देने को राजी नहीं तो जो उपदेशादि न करते हुए अंतर्मुखवृत्ति से रहने वाले ब्रह्मवादी हैं उन्हे तो देंगे कहाँ?॥८५-८६॥ इसलिये कह सकते हैं कि यह भूपति कामनाप्रयुक्त दोष जानता है और कामना के दोष जानने वाला पुरुष निश्चय ही निष्काम होगा'॥८७॥ मनु महाराज ने कामना से होने वाले ये दोष बताये हैं : शिकार का शौक, जुआ खेलना, ख़्याली पुलाव बनाना, परायी निंदा करना, स्त्रियों के संपर्क में रहना, नशा करना, संगीत का शौकीन होना और बिना प्रयोजन सैर-सपाटा करना। यह तो सामान्य दोष हैं। कामने से संसारबंधन दृढतर होता जाता है यह प्रबल दोष है।

---

१. गीतं वाद्यं नृत्यञ्चेति।

कृतापकारे नृपतौ क्रोधः क्वापि न दृश्यते। आगत्यात्र कृतं यस्मात् सभायां हेलनं मया॥
अज्ञेन ब्रह्मविदुषो राज्ञोऽस्य द्युमणेरिव॥८८॥

अवज्ञातोऽप्ययं मह्यं हितमिच्छति भूपतिः। क्रोधस्ततोऽस्य नैवास्ति लोकद्वयभयङ्करः॥८९॥

राज्ञो गुरुत्वनिर्णयः

कामक्रोधौ च सर्वस्य हृदि जन्तोः प्रतिष्ठितौ। हित्वा ब्रह्मविदं त्वित्थं गुरुशास्त्राच्छ्रुतं मया॥९०॥

अप्रत्यक्षा अपि सुरास्तपोभिर्बहुभिर्नृणाम्। जन्मन्यस्मिन् भवन्त्येते दृश्या जन्मान्तरेऽथवा॥९१॥

ब्रह्मनिष्ठेषु कश्चित् स्यादेकः सोऽपि हि राजसः। वदेद् मह्यं न वा ब्रूयाद् मोहयेद् वा वरान्तरात्॥९२॥

क्रोधविहीनतां स्फुटयति— कृतेति द्वाभ्याम्। क्रोधनो हि पुरुषः कृतोऽपकारो यस्य एतादृशः सन् स्वस्मिन् शरीरे परस्मिन् वा क्रोधफलं दर्शयति; अस्मिन् नृपतौ तु कृतापकारेऽपि सति क्रोधः क्रोधफलं क्वापि न दृश्यत इति। एतदेवाभिनयति— आगत्येति। यस्माद् मया अज्ञेन अत्र सभायामागत्य अस्य द्युमणेरिव सूर्यसदृशस्य ब्रह्मविदुषो ब्रह्मविदो राज्ञो हेलनम् अवज्ञा कृता॥८८॥ अवज्ञात इति। एवम् अवज्ञातोऽपि अयं भूपतिः मह्यं हितमिच्छति, ततः कृतापकारस्यापि हितप्रवृत्तेः अस्य क्रोधो[1] नैवास्ति इति॥८९॥

कामक्रोधाभावादेव अस्य ब्रह्मवित्त्वं निश्चितमित्याह— कामक्रोधाविति। ब्रह्मविदं हित्वा वर्जयित्वा सर्वस्य जन्तोः हृदि कामक्रोधौ प्रतिष्ठितौ— इत्थं मया गुरुशास्त्राच्छ्रुतम् गुरुश्च शास्त्रं च तयोः समाहारो गुरुशास्त्रं तस्माद् गुरुमुखात् तथा शास्त्रात् 'योऽकामो निष्काम आत्मकामः' (बृ.४.४.६) इत्यादेः आत्मकामतां निष्कामतायां हेतुतया ब्रुवत इत्यर्थः॥९०॥

कामनारहितता की तरह राजा में क्रोधरहितता का चिंतन भी गार्ग्य ने किया— 'इसका अपकार करने वाले पर भी यह नृपति क्रोध करता हो ऐसा नहीं लगता क्योंकि सूर्यतुल्य तेजस्वी और ब्रह्मवेत्ता इस राजा का मुझ अज्ञानी ने यहाँ आकर सभा में अपमान किया पर अपमानित होकर भी इसने मेरा हित ही करना चाहा। अतः इहलोक व परलोक में दुःख देने वाला क्रोध भी इसमें सर्वथा नहीं है'॥८८-८९॥ क्रोध के दोष भी मनुस्मृति में कहे हैं : बिना जाने ही दोषारोपण करना, सत्पुरुषों पर अनधिकार नियंत्रण करना, छिपकर घात करना, परायी अच्छाई सहन न होना, दूसरे के गुण को भी दोष ही समझना, धन छीनना, कठोर वाणी बोलना और अनावश्यक कठोर दण्ड देना। भगवान् के अनुसार तो कामना ही क्रोध का आकार लेती है अतः राजा में कामना न होने से कोध न होना अर्थसिद्ध है। इससे निर्लोभता भी स्पष्ट ही है।

कामक्रोध के न होने से यह भी निश्चित है कि यह ब्रह्मज्ञानी है ऐसा बालाकि को समझ आता है— 'गुरुओं से व शास्त्र में मैंने सुना है कि एक ब्रह्मज्ञानी को छोड़कर बाकी सब जंतुओं के हृदय में कामना और क्रोध होते अवश्य हैं'॥९०॥ उपनिषत् (कठ.६.१४) कहती है कि हृदयस्थ सब कामनायें निवृत्त होते ही पुरुष ब्रह्मभाव पा जाता है। शतपथ में भी जो जीवन्मुक्त रहने के बाद विदेहकैवल्य पाता है उसे ही निष्काम कहा है। भगवान् भी परमात्मदर्शन से ही रस अर्थात् कामना की समाप्ति कहते हैं। उसके पूर्व साधक कामना का क्षेत्र व तीव्रता घटा भले ही ले, समाप्त कर नहीं सकता। अतएव शिष्ट जन सत्कामना के लिये ही प्रेरित करते हैं।

---

१. अत्रापि मनुरवोचत् 'पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयाऽर्थदूषणम्। वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः'॥ (७.४८) इति। तत्र अविज्ञातदोषाविष्करणं पैशुन्यमन्यगुणाऽसहिष्णुत्वमीर्ष्येति विवेकः। साधोर्बन्धनादिग्रहः साहसं, छद्मवधश्च द्रोहः। अर्थदूषणं त्वर्थानामपहरणं देयानामदानं चेति। राज्ञि लोभाभावोप्यतएवावसेयो लोभस्यैव कामादिहेतुत्वाद्। एतदपि तेनैवागादि 'द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः। तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गुणौ'॥ (७.४९)॥ इति। एतौ कामक्रोधावित्यर्थः।

सुरेभ्यस्त्वपरे सर्वे जन्तवो ब्राह्मणादयः। मत्तो न्यूनाऽऽत्मविज्ञानास्तस्मादेनं व्रजाम्यहम्॥९३॥

गार्ग्यस्य राजोपसत्तिः

इति संचिन्त्य बालाकिर्गतपापो महामनाः। श्रोत्रियो ब्रह्मविद्यार्थं समित्पाणिस्तमभ्ययात्॥९४॥

हस्ते गृहीत्वा समिधो यथा गर्भाष्टमः[1] पुमान्। त्रैवर्णिको वदत्येत्य शिष्योऽहं शाधि मामिति॥
एवं राजानमागत्य बालाकिर्वाक्यमब्रवीत्॥९५॥

दर्शयन्निति लोकेऽस्मिन् ब्रह्मविद्याधिको गुरुः। यः कश्चिदपरः शिष्यः स्वयं साक्षाद् बृहस्पतिः॥९६॥

तस्मादेतं राजानं हित्वा ब्रह्मविद्यार्थमन्यत्र न गन्तव्यमिति दर्शयितुं देवेभ्यो ज्ञानलाभः सन्दिग्ध इत्याह— अप्रत्यक्षा इति द्वाभ्याम्। यतः सुरा अतप्ततपसाम् अप्रत्यक्षाः सन्ति, तद्दर्शनाय बहुभिस्तपोभिः कृतैरपि अस्मिन् जन्मनि दृश्याः प्रत्यक्षा भवेयुः जन्मान्तरे वा—इति संशयः॥९१॥ ब्रह्मेति। प्रत्यक्षत्वेऽपि ब्रह्मनिष्ठेषु एकः प्रथमं गण्यः कश्चिद् एव विरल एव देवः स्यादिति; सोऽपि मिलितः सन् भोगप्राचुर्येण राजसो मह्यम् उपदिशेद् न वा उपदिशेद्, वरान्तरं दत्त्वा मोहयेद् वा इति विद्यालाभे संशय इति॥९२॥

देवभिन्नास्तु मत्तो न्यूनविज्ञानकत्वाद् नोपगन्तव्या इत्याह— सुरेभ्य इति। तस्माद् इतरत्र ज्ञानलाभसंशयाद् एनम् अजातशत्रुम्॥९३॥

एवं श्रुतिगतस्य 'उ ह' इति पदस्यार्थं वितर्कमभिनीय परिशिष्टं व्याचष्टे— इति संचिन्त्येति। गतपापः निर्भर्त्सनदण्डेन शुद्धः। तं राजानम्। अभि अभिमुखम् अयात्॥९४॥

हस्त इति। हस्ते समिधं गृहीत्वा इति समित्पाणिपदार्थः। गर्भाष्टमः गर्भकालादष्टमवर्षावच्छिन्नः, अष्टवर्ष इति यावत्। एतादृशः त्रैवर्णिकः पुमान् बालो गुरुमेत्य शिष्योऽहं मां शाधि इति वदति, एवं राजानमागत्य बालाकिः वाक्यं जिज्ञासयोपगच्छामि तं शाधि इत्याकारं श्रुतौ 'उपयानि' इत्युक्तम् अब्रवीदिति॥९५॥

दर्शयन्निति। किं कुर्वन् बालाकिरेवमब्रवीद्— इति दर्शयन्; 'इति' किम्? अस्मिन् लोके यो ब्रह्मविद्ययाऽधिकः स एव गुरुः। अपरः तु विद्यान्तरेषु बृहस्पतिसमोऽपि शिष्य एवेति॥९६॥

राजा योग्य गुरु है इतना ही नहीं, अन्यत्र गति भी नहीं है यह भी बालाकि ने समझ लिया— 'इन्द्रादि देवता उपदेश देते सुने गये हैं किन्तु सामान्यतः देवता हम लोगों को प्रत्यक्ष होते नहीं। लोग बहुत तपस्या करते हैं तो इस जन्म में या किसी अन्य ही जन्म में उन्हें देवदर्शन होता है। किं च देवताओं में कोई विरला ही मुख्य ब्रह्मविद्वरिष्ठ होता है और वह भी अपनी योनि के अनुरूप रजोगुणी ही होता है। कथंचित् उसका भी दर्शन मुझे हो पर यह नहीं कह सकते कि वह मुझे उपदेश देगा ही। नहीं भी दे सकता है और कोई अन्य वरदान देकर मोह में भी डाल सकता है। अतः देवताओं से विद्यालाभ होगा यह नामुमकिन ही है॥९१-९२॥ देवों से भिन्न सभी ब्राह्मणादि जंतु तो मुझसे कम ही जानकारी वाले हैं क्योंकि मुझसे शास्त्रार्थ में हार चुके हैं। अतः राजा के संमुख ही शिष्यरूप से जाना उचित है'॥९३॥

गुरु जी आगे कहते हैं— 'भर्त्सनारूप दण्ड से पापमय मद जिसका निवृत्त हो चुका था वह महामना वेदज्ञ बालाकि यह पूर्वोक्त विचार कर ब्रह्मविद्या प्राप्त करने के लिये हाथों में समिधा लेकर राजा से सामने गया॥९४॥ जैसे उपनयनयोग्य अवस्था वाले त्रैवर्णिक बालक हाथ में समिधा लेकर गुरु के सामने आकर कहता है 'मैं आपका शिष्य हूँ, मुझे उपदेश दीजिये।' उसी प्रकार बालाकि ने राजा के पास आकर कहा॥९५॥ इससे गार्ग्य ने यह दिखा दिया कि इस संसार में जो परमात्मविद्या में श्रेष्ठ होता है वही गुरु है। परमात्मज्ञान न हो तो खुद बृहस्पति भी शिष्य ही है'॥९६॥ इसी अभिप्राय से

१. त्रैवर्णिक इत्युत्तरार्धानुरोधाद्गर्भाष्टम इति गर्भनवमगर्भैकादशयोरुपलक्षणम्।

धर्मज्ञराज्ञः प्रत्युक्तिः

इत्थं गार्ग्यं निरीक्ष्यासौ विनीतं विनयान्वितः। उत्थायाऽऽसनतः प्राह प्राञ्जलिर्वचनं त्विदम्॥९७॥

गुरवो ब्राह्मणा जात्या विधात्राऽत्रैव निर्मिताः। स्वभावेनाऽपरे शिष्याः क्षत्रियाद्याश्च वर्णिनः॥९८॥

तर्हि किं ब्राह्मणो भूत्वा कर्मेदं प्रतिलोमकम्। आत्मनः शिष्यतामत्र क्षत्रिये मयि वांछसि॥९९॥

अपि मद्वचनाद् ब्रह्मन् जातकोप इदं बत। कृतवानसि भीतो वा बाल्यादज्ञानभावतः॥१००॥

क्षमस्व त्वं मया यत्ते कटुकं वाक्यमीरितम्। राजधर्मं समाश्रित्य बालेनाऽकृतबुद्धिना॥१०१॥

'तं होवाच' इत्यादेः 'ज्ञपयिष्यामि' (कौ.४.१९) इत्यन्तस्य वाक्यस्य अर्थं प्रपञ्चयति– इत्थमित्येक विशंतिश्लोकैः। इत्थं विनीतं त्यक्तगर्वं गार्ग्यं निरीक्ष्य विनयान्वितः प्रणतः असौ राजा प्राञ्जलिः बद्धाञ्जलिः सन् आसनतः उत्थाय इदं वक्ष्यमाणं वचनं प्राह इति॥९७॥

गुरव इति। अत्र सर्गे विधात्रा ब्रह्मणा ब्राह्मणजात्यैव गुरवो निर्मिताः। अपरे क्षत्रियाद्या वर्णिनः स्वभावेन शिष्या निर्मिता इति। तथा च मनुः 'उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद् ब्रह्मणश्चैव धारणात्। सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः'॥ (१.९३) इति॥९८॥ तर्हीति। तर्हि तथा सति त्वं ब्राह्मणो भूत्वा क्षत्रिये मयि आत्मनः शिष्यतारूपं प्रतिलोमं विपरीतं कर्म किं वांछसि–कुतस्तव विपरीतकर्मणीच्छेत्यर्थः॥९९॥

तत्र हेतून् वितर्कयति– अपीति। मद्वचनाद् अपि जातकोपः सन् इदं प्रतिलोमं कृतवानसि। हितोपदेष्टुर्वचनात् कोपो नोचित इति अपिना सूच्यते। भीतो भयाद् वा बाल्याद् वा, कीदृशाद् बाल्याद्? अज्ञानभावतः अज्ञानं भावः स्वभावो यस्य तत्तथा तस्मात्॥१००॥

भगवान् शंकराचार्य ने कहा है कि ब्रह्मनिष्ठ चाण्डाल भी गुरु है। ब्रह्मनिष्ठा से सभी लघुता बाधित हो जाती है, जब जीवभाव ही नहीं रह जाता तो उसके ब्राह्मणत्वादि विशेष कहाँ रहेंगे? अतः वह गुरु है।

उपनिषत् में बतलाया है कि जब बालाकि ने गुरु के समीप जाने की विधि से राजा के पास जाकर विद्याप्राप्ति की प्रार्थना की तब धर्मनिष्ठ अजातशत्रु ने कहा 'यह तो मैं गलत समझता हूँ कि क्षत्रिय ब्राह्मण का विधिवत् गुरु बने, आओ एकांत में चलें, समझा मैं तुम्हे देता हूँ।' इस प्रकार आचार का उल्लंघन किये बिना राजा ने बालाकि को उपदेश दिया। यह बात इक्कीस श्लोकों द्वारा पुराण में कही जा रही है।

'इस प्रकार गार्ग्य को गर्वरहित हुआ देख वह विनयशील राजा अपने सिंहासन से उठकर हाथ जोड़कर ये वचन बोला :॥९७॥

'ब्रह्मा जी ने संसार में ब्राह्मणों को ही गुरु बनाया है। क्षत्रियादि अन्य वर्णों वाले स्वभाव से ही शिष्य बनाये गये हैं'॥९८॥ मनुस्मृति में बताया है कि विराट्पुरुष के उत्तमांग से (मुख से) उत्पन्न होने से, पहले उत्पन्न होने से (द्रष्टव्य बृ.१.४.११) और वेद धारण करने से इस सारी सृष्टि पर ब्राह्मण का धार्मिक (नैतिक) अधिकार है। अतः गुरु होने योग्य ब्राह्मण जाति में उत्पन्न ही हो सकता है। इतरजातीय यदि किसी विद्या में पारंगत हो भी जाये और शिक्षा दे भी दे, तो भी उसका गुरु होना योग्य नहीं। यहाँ वैध गुरुता का प्रसंग है। ज्ञानप्रद होने से गुरुता मानी जाती है यह तो गार्ग्य के विचार में बता चुके। किंतु आचार परिपालन में विधिवत् गुरुता नहीं माननी चाहिये यह राजा के कथन से स्पष्ट कर रहे हैं।

'तब आप ब्राह्मण होकर यह उल्टा काम क्यों कर रहे हैं कि मुझ क्षत्रिय के शिष्य बनना चाह रहे हैं?॥९९॥ क्या मेरी बात से क्रुद्ध होकर आपने ऐसा किया, या डर कर किया अथवा बालकपन या गैरसमझी से ऐसा किया है?॥१००॥ हे ब्रह्मदेव! यदि आप को क्रोध हुआ हो तो मैंने जो आपसे कड़वी बातें कही उन्हें क्षमा कीजिये। यद्यपि मैंने राजा का

मदत्रयपराधीनो भवान् बहुजनाद् मया। श्रुतो दृष्टश्च तेनैतच्छिक्षार्थं भवतः कृतम्॥१०२॥

ब्राह्मणा अपि निर्भर्त्स्या दुराचारा महीभुजा। दृढं परीक्ष्य विज्ञाता इति शास्त्रं मया श्रुतम्॥१०३॥

प्रसीदाज्ञस्य विप्रेन्द्र तेन पण्डितमानिनः। मम धिङ्मां तथा राज्यं धर्मं क्रूरतमं त्वमुम्॥१०४॥

भीतिश्च तव मा विप्र भूयाद् मत्तः कथञ्चन। महापराधिनं चाऽहं न हन्मि प्राणिनं क्वचित्॥१०५॥

चौरेभ्योऽपि च वित्तानि दत्त्वा चौर्याद् निवर्तये। तावताऽपि च ये पापाद् निवर्तन्ते न मोहिताः॥
निःसारयामि तान् देशात् स्वकीयात् पापकारिणः॥१०६॥

अथैवमप्यशक्यत्वे ललाटे श्वपदेन तान्। अङ्कयाम्यथ चेत् कुर्युश्छेदयाम्यङ्गमेव हि॥
हस्तयोः पादयोरेकमष्टमे हन्मि तान् नरान्॥१०७॥

तत्र, कोपश्चेदत्र हेतुः, तर्हि क्षमया निवर्तनीय इति क्षमायोग्यतां दर्शयन् प्रार्थयते— क्षमस्वेति चतुर्भिः। यद् मया राजधर्मं समाश्रित्य ते तुभ्यं कटुकं वाक्यमीरितं तत् क्षमस्व। ब्राह्मणस्य गुरुत्वं स्फुटयन् शिष्यवदात्मानं विशिनष्टि— बालेनाकृतबुद्धिनेति। अकृता आगमाचार्यसत्सङ्गादिभिः अपरिपक्वा बुद्धिर्यस्य स तथा तेन॥१०१॥

कटुवाक्याभिधाने प्रयोजकं निवेदयति— मदेति। भवान् मदत्रयस्य विद्याधनकुलाख्यस्य पराधीनो मया बहुजनमुखात् श्रुतः, स्वयं दृष्टश्च। तेन अपराधनिर्णयेन एतत् कटुकाभिधानं भवतः शिक्षार्थं कृतम् इति॥१०२॥

राजधर्मवाक्यार्थमभिनयति— ब्राह्मणा इति। शास्त्रस्वरूपं तूक्तम्[1]॥१०३॥

भवद्भिर्ब्राह्मणैरेव उपदिष्टे दुर्लक्ष्ये धर्मे मम प्रमादं पश्यसि चेत् तथापि क्षमस्व, अहन्तु भवत्क्षोभं दृष्ट्वाऽस्मादुद्विग्नोऽस्मीत्याह— प्रसीदेति। तेन ब्राह्मणैरुपदिष्टस्यैव मयाऽऽचरणेन मम अज्ञस्य उपरि प्रसीद इति। अमुं राजसम्बन्धिनम्॥१०४॥

द्वितीयोऽनुचिताचरणहेतुर्भयरूपो यः शङ्कितः, तं वारयति— भीतिश्चेति पञ्चभिः। मत्तो भीतिस्तव मा भूयाद् यतो महापराधिनम् अपि प्राणिनं प्रायो न हन्मीति॥१०५॥

कर्तव्य निभाते हुए वैसा कहा था तथापि आप ब्राह्मण होने के नाते गुरु हैं, अतः अशिक्षित बालक को जैसे क्षमा किया जाता है ऐसे मुझे क्षमा करें॥१०१॥ मैंने बहुत लोगों से सुना था कि आप विद्या, धन और कुल के मद के वश में रहते हैं और ख़ुद भी मैंने ऐसा ही पाया अतः आपको शिक्षा देने के लिये मैंने ऐसा किया॥१०२॥ शास्त्रों का निर्देश मैंने आचार्यों से सुना है कि पक्का परीक्षण कर दुराचारी सिद्ध हो जाये तो ब्राह्मण की भी भर्त्सना करना राजा का कर्तव्य है॥१०३॥ हे श्रेष्ठ वेदज्ञ! ब्राह्मणों के ही उपदेश से ज्ञात धर्म के पालन में मुझसे प्रमाद हुआ हो तो क्षमा कीजिये, उद्वेग छोड़िये। मुझे लगा कि मैं समझ-बूझकर कर रहा हूँ, फिर भी भूल हो सकती है। मुझे, इस राज्य को और अतिकठोर इस राजधर्म को धिक्कार है जिससे ब्राह्मणों को क्षोभ होता है॥१०४॥

यदि आपने किसी डर से मेरा शिष्य बनने को कहा हो तो याद रखिये कि मुझसे आप को किसी तरह का भय नहीं है। जो प्राणी महान् अपराध भी करते हैं उन्हें प्रायः मैं कभी मारता नहीं॥१०५॥ चोरों को तो पहले अपनी ओर से धन देकर प्रेरित करता हूँ कि उससे कोई रोज़गार आदि करें, चोरी करना छोड़ें। किंतु मोहवश जो उतने पर भी पापकर्म से निवृत्त नहीं होते उन पापरतों को अपने देश से निकाल देता हूँ॥१०६॥ ऐसा होने पर भी जो फिर कथंचित् यहाँ घुसकर गलत काम करते हैं, तपे हुए लोहे से उनके माथे पर कुत्ते के पैर का चिह्न दगवा देता हूँ। इसके बाद भी जो पुनः अपराध

---

१. श्लो.६६ टीकायाम्।

युद्धायाभिमुखो यो मां हन्यात् पूर्वं युवा पुमान्। सावधानः सुशस्त्रेण तमेकं हन्मि नापरम्॥१०८॥
कुतो द्विजोत्तमं हन्यामवध्यं सर्वदेहिभिः। इति विज्ञाय विप्रेन्द्र स्वस्थो भव गतज्वरः॥१०९॥
प्रतिलोमं कृथा मा त्वं लोकद्वयविनिन्दितम्। यथाऽऽगतं प्रयाहि त्वं गुरून् वा व्रज ते नमः॥११०॥

गार्ग्यस्य पुनः जिज्ञासाप्रकाशनम्

एवमुक्तोऽथ बालाकिरधोवदन आतुरः। नागमद् निःश्वसंस्तस्थौ भूमिं पादाग्रतो लिखन्॥
इङ्गितज्ञोऽजातशत्रुर्बालाकिं पुनरुक्तवान्॥१११॥

प्रायेणाऽहननमभिनयति– चौरेभ्य इति। प्रथमेऽपराधे वित्तदानेन चौर्याद् निवर्तनं करोमि। द्वितीये देशाद् निःसारणमिति॥१०६॥ अथैवमिति। अथ एवमपि देशाद् निःसारणे कृतेऽपि तेषां चौर्यत्यागस्य अशक्यत्वे सति, तृतीयेऽपराध इति यावत्। तान् तृतीयापराधिनः ललाटे शुनः पदेन लोहमयेन तप्तेन अङ्कयामि। अथ चतुर्थादिकमपराधं चेत् कुर्युः तर्हि वामदक्षिणहस्तयोः वामदक्षिणपादयोश्च एकम् अन्यतरं छेदयामि। एवं सप्तमापराधपर्यन्तं व्यवस्थायां सत्यामपि अष्टमं चेत् कुर्युः तदा हन्मि इति॥१०७॥

युद्धेऽपि धर्मेणैव हन्मीत्याह– युद्धायेति। युद्धाय युद्धं कर्तुम् अभिमुखः सावधानो युवा च सन् मां शस्त्रेण पूर्वं यो हन्यात् तमेकं युद्धे हन्मि, नापरम् उक्तविशेषणहीनमित्यर्थः॥१०८॥

भवतस्तु शङ्कैव नोचितेत्याह– कुत इति। स्वस्थः क्षोभहीनः। गतज्वरो गतसन्तापः॥१०९॥

प्रतिलोमम् इति। कर्मेति शेषः। अज्ञानरूपबाल्यनिवृत्त्यै चेदेवं करोषि, तथापि गुरून् गच्छ। ते तुभ्यं नमः अस्तु॥११०॥

एवमिति। एवमुक्तो बालाकिर्नागमत् किन्तु चिन्तालजयोः सूचनाय अधोवदनत्वेन श्वासादिवैशिष्ट्यरूपातुरत्वेन विशिष्टः पादाग्रेण भूमिं लिखन् सरेखां कुर्वन् तस्थौ एवेति। इङ्गितज्ञ इति। इङ्गितैर्भाववेत्ता अजातशत्रुः वक्ष्यमाणविधया पुनरुक्तवान्। तत्र अधोवदनत्वभूलेखनाभ्यां लिङ्गाभ्यां क्षत्रियपादग्रहणोद्यमरूपशास्त्रविरुद्धाचरणजन्या लज्जा ज्ञाता। श्वासादेश्च 'कथमन्यतो ज्ञानं लप्स्य' इति चिन्ता च ज्ञाता। तथा चोक्तम्–

'दुराचारादिभिर्व्रीडा धार्ष्ट्याभावोऽभिधीयते। वस्त्राङ्गुलीयकस्पर्शभूरेखाधोमुखादिकृद्'॥ इति। 'चिन्ता ध्यानं हितानाप्तेः शून्यता श्वासतापकृद्' इति च॥१११॥

करे उसके हाथों या पैरों में से एक को कटवा देता हूँ। सात बार छूटने पर भी जो फिर अपराधी बनें वे ही लोग मेरे द्वारा मारे जाते हैं॥१०७॥ युद्धभूमि पर भी जवान सावधान पुरुष सामने होकर लड़े और पहले मुझ पर वार करे केवल उस पर ही मैं कूटशस्त्र के बिना सच्छस्त्र से वार करता हूँ, अन्य पर नहीं॥१०८॥ अतः सभी प्राणियों द्वारा अवध्य आप उत्तम द्विज को मैं शारीरिक पीडा कैसे दे सकता हूँ? हे विप्रेंद्र! यह समझकर आप क्षोभ और संताप छोड़ दीजिये॥१०९॥ दोनों लोकों में निंदित यह उल्टा कार्य आप मत करें। जैसे आप गुरुभाव से आये थे वैसे ही आप लौटें। यदि अपना अज्ञान दूर करना चाहते हैं तो योग्य गुरुओं की शरण जाइये। आपको नमस्कार है'॥११०॥

गुरुजी बालाकि की प्रतिक्रिया बताते हैं–'राजा द्वारा यों कहा जाने पर चिंताकुल बालाकि गया नहीं बल्कि नीचा मुँह किये, लम्बे श्वास छोड़ते हुए, पैर के अंगूठे से भूमि घिसते हुए वहीं रुका रहा। राजा तो इशारों से भावों को समझने वाला था, वह बालाकि से पुनः बोला :'॥१११॥ राजा ने गार्ग्य के इशारों से जान लिया कि उसे लज्जा और चिंता दोनों सता रहे थे। मुँह नीचा कर अंगूठे से भूमि घिसने से तो क्षत्रिय का चरणस्पर्श आदि करना रूप शास्त्रविरुद्ध आचरण के प्रयास से जन्य लज्जा मालूम पड़ी तथा लंबे साँसों से यह चिंता कि 'किस अन्य से कैसे ज्ञान पाऊँगा?' साहित्यादि में

राज्ञो विद्यादानप्रतिज्ञा

प्रतिलोममिदं विप्र ब्राह्मणः क्षत्रियं व्रजेत्। ब्रह्म मे वक्ष्यतीत्येवमभिप्रायेण धार्मिकः॥११२॥

याजनाध्यापनं चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः। ब्राह्मणस्यैव कर्मैतत् क्षत्रियस्य न कर्हिचित्॥११३॥

अध्यापनेऽधिकारोऽस्ति यस्य नैव कथं हि सः। उपनेता भवेल्लोके क्षत्रियोऽधमवर्णभाक्॥११४॥

व्रतं च मम विप्रेन्द्र ब्राह्मणेभ्यः सदैव हि। ददामि याचितं प्राणान् किमु दारादिकं परम्॥११५॥

गुरवेऽपि ततस्तुभ्यमहं विज्ञापयामि भोः। याचकायात्मनो विद्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम्॥११६॥

तत्र लज्जादुःखं चिन्तानिवृत्त्योपशान्तं भविष्यतीति मत्त्वा बालाकिचिन्तितं विद्यालाभप्रकारमपवदन् प्रकारान्तरं दर्शयति— प्रतिलोममिति षड्भिः। इदं विपरीतरूपं कर्म मन्ये। 'इदं' किम्? यद् ब्राह्मण उत्तमवर्णः क्षत्रियम् अधमवर्णम् 'अयं मह्यं वक्ष्यति उपदेक्ष्यति' इति अभिप्रायेण व्रजेद् दीक्षाया उपगच्छेद्। कीदृशो ब्राह्मणः? धार्मिकः स्वधर्मं चरति आसेवत इति स तथा। अधार्मिकस्तु शूद्रवत्।

'नानुतिष्ठति यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्। स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः'॥ (२.१०३) इति मनूक्तेः। द्विजकर्मणः सत्कारादेरिति तद्व्याख्यातारः॥११२॥

क्षत्रियस्य च ब्राह्मणदीक्षणमनुचितमित्याह— याजनेति। याजना 'ण्यासश्रन्थे'ति (३.३.१०७) युच्। विशुद्धाद् अपतितात्। एतत्त्रयं ब्राह्मणस्यैव विहितमिति शेषः। क्षत्रियस्य यजनाध्ययनदानैर्ब्राह्मणसमानकर्मणोऽपि याजनादिकं न कर्हिचिद् विहितमिति॥११३॥

अध्यापन इति। यस्य क्षत्रियस्य अध्यापने नाधिकारः स उपनेता उपनयनस्य आचार्यत्वफलकस्य विधिवदात्मसमीप-नयनरूपस्य कर्ता कथं भवेद् इति। 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत' (द्र.याज्ञस्मृ.१.१४) इत्यादिश्रुतौ उपनयनस्य अध्यापनसमानकर्तृकत्वेन विधानादिति भावः॥११४॥

बताया है कि दुराचार आदि से होने वाली लज्जा को ही धृष्टता-राहित्य कहते हैं और इससे व्यक्ति अपने वस्त्र को कसकर पकड़ना, अंगूठी को घुमाना, ज़मीन पर लकीरें खीचना, मुँह झुकाये रखना आदि करता है। ऐसे ही कोई चिंता हो, किसी का ध्यान आ जाये, कोई हितकारी वस्तु छूट रही हो, अचानक स्तब्धता हो जाये तो साँस की गति विकृत हो जाती है। यह सब ज्ञान राजा को था।

राजा ने सोचा कि उक्त चिंता हट जाये तो लज्जा का दुःख भी मिट जायेगा अतः बालाकि ने जो विद्यालाभ का उपाय निश्चित किया था उसका निषेध करते हुए उसने दूसरा उपाय सुझाया– 'हे विप्र! कोई धार्मिक ब्राह्मण किसी क्षत्रिय के संमुख 'यह मुझे परमात्मा का उपदेश देगा' ऐसा सोचकर शिष्य बनने जाये, यह उल्टी बात है'॥११२॥ अजातशत्रु ने 'धार्मिक' विशेषण दिया क्योंकि मनुमहाराज लिखते हैं 'जो ब्राह्मण प्रातः और सायं प्रतिदिन सन्ध्यावंदन नहीं करता उसे सभी ब्राह्मणोचित सत्कारादि से शूद्र की तरह वंचित रखना चाहिये।' अतः अधार्मिक ब्राह्मण यदि नीच जाति वाले से शिक्षा लेने की सोचता तो बात समझ भी आती, पर आपने वैसा सोचा यह अनुचित है, यह भाव व्यक्त होता है।

ब्राह्मण तैयार हो भी जाये तो भी क्षत्रिय के लिये ब्राह्मण को दीक्षा देना अनुचित है यह कहता है– 'यज्ञ कराना अर्थात् पौरोहित्य, वेद-विद्या पढ़ाना तथा अपतितों से दान लेना, ये तीन कर्म ब्राह्मण के ही हैं, क्षत्रिय के लिये किसी भी स्थिति में इनका विधान नहीं है॥११३॥ जिसे वेदविद्या पढ़ाने का अधिकार ही नहीं है वह ब्राह्मण से निम्न वर्ण वाला क्षत्रिय संसार में उपनयन करने वाला कैसे हो सकता है?'॥११४॥ जो बालक का उपनयन करता है वह उसे वेद

दातृयाचकसम्बन्धो नावयोर्गुरुशिष्यता[1]। भूयादतः शृणु त्वं तत् तुभ्यं विज्ञापयामि यत्॥११७॥

नीचैरुपविश्य राज्ञ उपदेशः

इत्युक्त्वाऽजातशत्रुस्तं प्रणम्यात्मन आसने। संस्थाप्याऽथ स्वयं भूमावुपविश्येदमुक्तवान्॥११८॥

तथापि तुभ्यं दानविधया वक्ष्यामीत्याह– व्रतमिति। मम इदं व्रतं नियमः। 'इदं' किम्? यद् ब्राह्मणेभ्यः प्राणरूपं याचितम् अपि ददामि किमुतान्यदिति॥११५॥ गुरवेऽपीति। तत उक्तनियमवशाद् ब्राह्मणत्वेन गुरवेऽपि तुभ्यं याचकाय आत्मनो विद्यां विज्ञापयामि एव ददाम्येव, न तु तां प्राणेभ्यो गरीयसीम्[2] अनुसन्धाय वञ्चयिष्यामीत्यर्थः॥११६॥ दातृयाचकेति। आवयोः दातृयाचकत्वलक्षणः सम्बन्धो भूयादिति, गुरुशिष्यतारूपस्तु मा भूयादिति। अत एतस्मात् तव विद्यालाभोपायात् चिन्तिताद् हेतोः त्वं तच्छृणु यत्तुभ्यं विज्ञापयामि बोधयामीति॥११७॥

'तं ह पाणौ' (कौ.४.१९) इत्यादिकम् 'उत्तस्थौ' इत्यन्तं वाक्यं व्याकरोति– इत्युक्त्वेत्यादित्रयोदशभिः। श्रुतेः प्रथमांशेन पाणावाभिमुख्येन अत्यादरेण गृहीत्वा इत्यर्थकेन सूचितमत्यादरं तावद् दर्शयति– तं बालाकिं प्रणम्यात्मन आसने राजासने संस्थाप्य उपवेश्य, स्वयं तु राजा भूमौ नीचासन[3] उपविश्य इदम् उत्तरश्लोकमयं वाक्यम् उक्तवान् इति॥११८॥

पढ़ाकर उसका आचार्य बनता है अतः जिसे वेद पढ़ाने का अधिकार हो वही उपनयन करे यही शास्त्रीय विधान है। कुछ लोग प्रवाहण जैवलि का (छां.५.३) प्रसंग इस प्रकरण से तुलित करने का प्रयास करते है। किंतु अर्थवाद विधि-निषेध सापेक्ष होकर ही आचार में प्रमाण हो सकता है यह सिद्धांत है। किं च अर्थवाद एकदेश में ही तात्पर्य वाला होता है। प्रवाहण के प्रसंग में जो गौतम को साल भर संनिकट रहने के लिये कहा गया है वह यह दिखाने के लिये कि विद्याप्रदान न्यायानुसार ही करना चाहिये तथा शिष्य को गुरुनिर्देश के पालन में तत्पर होना चाहिये। वहाँ यह अभिप्राय नहीं कि क्षत्रिय को ब्राह्मण का उपनयन करने का अधिकार है।

इस प्रकार गार्ग्य के सोचे उपाय का निषेध कर उचित उपाय खुद ही अजातशत्रु बताता है– 'हे श्रेष्ठ विप्र! मेरा नियम है कि ब्राह्मणों द्वारा माँगी वस्तु मैं अवश्य उन्हे देता हूँ, माँगने पर मैं उन्हें प्राण भी दे सकता हूँ तो पत्नी आदि अन्य वस्तुएँ दे सकता हूँ इसमें कहना ही क्या?॥११५॥ अतः क्योंकि ब्राह्मणरूप से गुरु होने पर भी आपने याचना की है इसलिये प्राणों से भी अधिक कीमती आत्मविद्या आपको समझा देता हूँ॥११६॥ इस प्रकार हमारा संबंध दाता और याचक का ही रहेगा जो शास्त्रीय मर्यादा के अनुकूल है, न कि गुरु-शिष्य का। अतः मैं जो बताता हूँ उसे सुनिये'॥११७॥

उपनिषत् में बताया है कि 'बिना उपनयन किये ही बता देता हूँ' कहकर राजा ने सस्नेह गार्ग्य का हाथ पकड़ा और दोनों सभा से निकल पड़े। वे एक थके-माँदे सोये व्यक्ति के पास पहुँचे। उसे अजातशत्रु ने 'बृहन्! पाण्डरवासा! सोम! राजन्!' यों पुकारा, पर वह आदमी सोया ही पड़ा रहा। तब उसने उसे ज़ोर से दण्डा मारा जिससे वह तुरंत उठ गया। बृहदारण्यकानुसार हाथ मसल कर उसे उठाया। इस प्रसंग का वर्णन तेरह श्लोकों में किया जायेगा।

विद्यालाभ का पूर्वोक्त उपाय बताकर अजातशत्रु ने क्या किया? यह गुरुजी आगे सुनाते हैं– 'ऐसा कहकर अजातशत्रु ने गार्ग्य को प्रणाम किया और उसे अपने आसन पर बैठाकर खुद नीचे आसन पर बैठ गया और यह बोला : ॥११८॥

---

१. न चैवमुपक्रमविरोधस्तत्राधरोत्तरभावस्य प्रतिज्ञानाद् इति शङ्क्यम्, उपक्रमे गुरुपदस्य शिक्षकपरत्वाद् इह च तस्योपनीयाध्यापकपरत्वाद्। अधरोत्तरभावस्य च गार्ग्येण समिदादाय शाधीत्युक्त्यैव दर्शितत्वात्।

२. प्राणेभ्यो ममासुभ्यइत्यर्थः यद्वा त्वया ज्ञातात्प्राणतत्त्वादपीयं गुरुतरेति तव न्यूनसामर्थ्यमनुसन्धायेत्यर्थः।

३. भूमिमात्रोपवेशे दानानौचित्याद् आसनोपविष्ट एव दद्यादित्यादिशासनात्।

प्राणादिभ्यः समस्तेभ्यो व्यतिरिक्तो महेश्वरः। आनन्दात्मा स्वप्रकाशो गार्ग्य ब्रह्मेति विद्धि तम्॥११९॥

इत्युक्ते जातविश्वासं गार्ग्यं बोधयितुं नृपः। अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुत्तस्थौ स्वयमासनात्॥१२०॥

'सुप्तं पुरुषमाजग्मतु' रित्यस्य वर्णनम्

तस्य दत्त्वा करं स्वस्य राजवद्राजसत्तमः। परित्यज्य सभामन्तःपुरमेष विवेश ह॥१२१॥

तत्र कश्चित् पुमान् सुप्तो द्वारि तिष्ठति निःश्वसन्। गार्ग्येण सहितस्तस्थौ राजा तस्य समीपतः॥१२२॥

अजातशत्रुः पुरुषमामन्त्रयदनेकधा। गार्ग्यप्रसिद्धैः प्राणस्य नामभिर्नादपूरितैः॥१२३॥

आदित्यचन्द्रमोरूप बृहत्[1] पाण्डुरनीरग। उपर्यधो विभागेन वासोवन्नीरसंवृत॥
प्रियदर्शन सोमाख्य राजन् दीप्तिसहस्रभाक्॥१२४॥

एवमामन्त्रितः प्राणो देवतानामभिस्तदा। अभोक्तृत्वाज्जागरूको नाबुद्ध्यत कथंचन॥१२५॥

प्राणादिभ्य इति। प्राणादिभ्यो जडेभ्यो व्यतिरिक्तः त्रिविधपरिच्छेदहीन ईश्वरः स्वप्रकाशानन्दरूपः सर्वात्मा योऽस्ति तम् एव ब्रह्मपदार्थं विद्धि इति॥११९॥ इत्युक्त इति। इति वाक्ये राज्ञा उक्ते सति जातो विश्वास उत्कटकोटिक-संशयात्मकसंभावनात्वेन प्रसिद्धो यस्य एतादृशं गार्ग्यम् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां बोधयितुं सनिश्चयं कर्तुं स्वयमासनादुत्तस्थौ इति॥१२०॥

तस्येति। तस्य बालाकेर्महासनादवतरतो मानाधिक्याय राजसत्तमः अजातशत्रुः स्वकरं दत्त्वा रहस्यार्थबोधनाय सभां त्यक्त्वा बालाकिना सह अन्तःपुरं विवेश इति॥१२१॥

तत्रेति। तत्र अन्तःपुरे द्वारि द्वारदेशे सुप्तो निःश्वसन् प्राणमात्रव्यापारवान् तिष्ठति स्मेति तदन्तिके बालाकिना सह तस्थौ इति॥१२२॥

अजातेति। तत्र स्थित्वा आत्मत्वेन बालाक्यभिमतप्राणस्य अनात्मतास्फुटीकरणाय गार्ग्यप्रसिद्धैः गार्ग्येण सम्यग् ज्ञातैः नादपूरितैः उच्चैरुच्चारितैः च प्राणस्य नामभिः एव सुप्तं पुरुषमामन्त्रयत् सम्बोधितवानित्यर्थः॥१२३॥

प्राणस्य सर्वदेवतारूपस्य नामान्यभिनयति– आदित्येति। आदित्यचन्द्रमसौ रूपे यस्य प्राणस्य स तथा तत्सम्बोधनं हे आदित्यचन्द्रमोरूप! हे बृहन् अभ्यधिक! पाण्डुरं शुक्लवर्णं यन्नीरं तद्गच्छति आश्रयते, 'आपोमयः प्राण' (छां.५.५) इति श्रुतेः, तत्सम्बोधनं हे पाण्डुरनीरग! इति। उपर्यधो विभागेन वाससा उत्तरीयान्तरीयरूपेण एकेन यथा पुरुषः संवीतो भवति तद्वद् नीरेण संवृत! हे प्रियदर्शन! हे सोमाख्य! सोमनामक! हे ब्राह्मणानां राजन्! हे दीप्तिसहस्रभाक्! असंख्यातदेवतारूपकिरणशालिन्!॥१२४॥ एवमिति। एवं देवतानामभिः प्राणस्य समष्टिरूपप्रतिपादकैर्नामभिः आमन्त्रितः सम्बोधितोऽपि प्राणो नाबुद्ध्यत न प्रबोधं प्राप्तः। कुतः? अभोक्तृत्वाद् अचेतनत्वेन भोगाश्रयताऽनर्हत्वात्; यदि प्राण एव चेतनत्वव्याप्यभोक्तृत्ववान् स्यात् तर्हि स्वकीयं नाम बुद्ध्वा प्रबुद्ध्येतेति भावः। न च प्राणस्य अप्रबोधे सुप्तिः प्रयोजिका, श्वासादिस्वव्यापारारूढत्वेन सुप्तेर्दुर्वचत्वादिति दर्शयितुं प्राणं विशिनष्टि– जागरूक इति॥१२५॥

'हे गार्ग्य! प्राण आदि सभी जड वस्तुओं से विलक्षण जो त्रिविध परिच्छेदों से रहित स्वयम्प्रकाश आनन्दरूप सर्वात्मा है, उसे ही तुम ब्रह्म जानो'॥११९॥

ऐसा कहने पर गार्ग्य को विश्वास तो हो गया पर उसे अन्वय-व्यतिरेक द्वारा स्पष्ट समझाने के लिये राजा अपने आसन से उठ खड़ा हुआ॥१२०॥ जैसे किसी राजा का संमान किया जाता है ऐसे उस श्रेष्ठ राजा ने बालाकि को हाथ का

१. बृहन् इति पाठेन भाव्यम्।

प्राणाऽनात्मत्वबोधनम्

घट बुध्नोदराकारपृथो जलविधारण। इत्यादिनामभिर्बोध्यः स्वं न वेत्ति यथा घटः॥
अचेतनत्वात् प्राणोऽपि नैवमात्मानमण्वपि॥१२६॥
दोधूयमानोऽपि भृशं नावैद् भूपालबोधितः। अनात्मता ततस्तस्य घटस्येव विनिश्चिता॥१२७॥

भोक्तृप्रदर्शनम्

बालाकिनेऽथ भोक्तारं दर्शयन्नकरोदिदम्। स्वकीयेन करेणास्य पेषयामास वै करम्॥
भृशं तथा परेणैनं यष्ट्याघातयदीश्वरः॥१२८॥

अचेतनत्वादबोधं सदृष्टान्तमाह– घटेति। हे घट! बुध्नोदरयोर्मूलमध्ययोराकारः पृथुर्विशालो यस्य स तथा तत्सम्बोधनं हे बुध्नोदराकारपृथो! हे जलविधारण! जलधारक! इत्यादिनामभिर्बोध्यः सम्बोधयितुमिष्टोऽपि घटः स्वम् आत्मानं यथा न वेत्ति अचेतनत्वाद् एवं घटवत् प्राण आत्मानमण्वपि किञ्चिदपि न वेत्ति स्मेति॥१२६॥

ततः किम्? अत आह– दोधूयमान इति। यतः प्राणो दोधूयमानः स्वव्यापारं कम्पनरूपमतिशयेन कुर्वाणो भूपालेन राज्ञा सम्बोधितोऽपि नावैद् न ज्ञातवान्, ततः अबोधादेव हेतोः तस्य प्राणस्य अनात्मता बालाकिना निश्चिताऽऽसीदिति॥१२७॥

सहारा देते हुए उच्चासन से उतारा और सभा छोड़कर उसे साथ लिये हुए अंतःपुर की ओर चल पड़ा॥१२१॥

अन्तःपुर के दरवाजे पर कोई व्यक्ति सो रहा था, खर्राटे ले रहा था। राजा और गार्ग्य दोनों उसके पास खड़े हो गये॥१२२॥ गार्ग्य ने प्राण के जिन नामों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया था उन्हे बहुत जोर से बोलते हुए अजातशत्रु ने उस सुप्त पुरुष को अनेक तरह से पुकारा :॥१२३॥ 'हे सूर्य-चन्द्ररूप! हे अधिक! हे सफेद जल पर आश्रित! हे ऊपर व नीचे बँटे कपड़े की तरह पानी से ढके! हे प्रिय दीखने वाले! हे सोम नाम वाले! हे राजन्! हे असंख्य किरणों वाले!'॥१२४॥ राजा ने उन्हीं विशेषणों का प्रयोग किया जो बालाकि ने प्राण के बताये थे जिससे स्पष्ट हो जाये कि प्राण इन नामों को समझने में अक्षम है। सोये आदमी का प्राण तो उपस्थित ही था, कार्यकारी था, वह आत्मा होता हो अपने नाम सुनकर प्रतिक्रिया करता। सभी देवों का स्वरूप होने से प्राण को सूर्य-चंद्ररूप कहा। श्रुति प्राण को जलमय कहती है अतः यहाँ उसे जल पर स्थित कहा। श्रुति में 'पाण्डरवासः!' सम्बोधन का यह अर्थ समझाकर दूसरे ढंग से भी उसे समझ सकते हैं यह बताने के लिये कपड़े की तरह पानी से ढका होना बताया। उत्तरीय (= चद्दर) और अधोवस्त्र (= धोती) यों दो तरह बँटे कपड़े से जैसे शरीर ढका जाता है ऐसे ही भोजन के प्रारंभ और समापन में आचमन करने से प्राण को दोनों ओर से वस्त्र पहनाया जाता है। बृहदारण्यक में (६.१.१४) और छान्दोग्य में (५.२.२) इसका विस्तार से वर्णन है। प्राण सबको सर्वप्रिय लगता ही है। क्योंकि राजा ने प्राण को चन्द्रमा और लताविशेषरूप सोम से एक कर उपासित किया था इसलिये उसे सोम नाम वाला कहा। सोम ही ब्राह्मणों का राजा कहा गया है। सूर्यादि की किरणों की तरह सभी देवता प्राण का ही फैलाव हैं, उसका विस्तार हैं अतः असंख्य देवतारूप किरणों वाला वह है।

इस प्रकार पुकारने पर क्या हुआ यह गुरु जी बताते हैं– 'इस तरह देवता नामों से पुकारा जाने पर भी वह जगा हुआ प्राण किसी तरह कुछ नहीं समझा क्योंकि वह अचेतन है, भोक्ता नहीं॥१२५॥ जैसे अगर घड़े के प्रति कहें 'हे घट! हे ऐसे मोटे जिसका पेट ही मूल है! हे जलधारण करने वाले!' तो वह घड़ा खुद कुछ नहीं समझता क्योंकि अचेतन है, उसी तरह प्राण ने भी स्वयं थोड़ा भी नहीं समझा कि उसे पुराका जा रहा है॥१२६॥ प्राण चल तो रहा ही था, क्योंकि साँस लेने से उस आदमी का पेट आदि ऊँचा-नीचा होता दीख रहा था। फिर भी राजा द्वारा सम्बोधित होने पर उसने कुछ नहीं जाना। अतः निश्चित हो गया कि घड़े की तरह वह जड है॥१२७॥

यष्टिघातात् पाणिपेषाद् भोक्ता सञ्जातवेदनः। उत्तस्थौ स तदा दीप्तो भस्माऽपाये यथाऽनलः॥१२९॥

करणग्रामसहितं भोक्तारं ज्ञातवानसौ। बालाकिर्न ततो भिन्नं बुद्धिसाक्षिणमीश्वरम्॥१३०॥

भुक्तिनिरूपणम्

भुजिक्रिया न भुक्तिः स्यात् क्रियाया दुःखरूपतः।हस्ताऽऽस्यादौ च सत्त्वेन नैषा भोक्तरि निश्चिता॥१३१॥

यद्यप्येषा भवेत्तृप्तिर्न पुष्ट्याख्येयमीरिता। लेपनेन यतः कुड्यं पुष्टं भवति नित्यशः॥
सुखदुःखे ततो ज्ञेये तुष्ट्याख्ये भुक्तिशब्दिते॥१३२॥

एवं प्राणस्यानात्मताबोधनेऽपि शुद्धात्मनः साक्षाद् बोधयितुमशक्यत्वात् स्थूलारुन्धतीन्यायेन शुद्धात्मबोधनाय विशिष्टरूपे भोक्तरि आत्मबुद्धिमवतारयितुमुपायान्तरं चकारेत्याह- बालाकिनेऽथेति। अथ बालाकिने भोक्तारं दर्शयितुम् इदमीश्वरो राजा चकार। 'इदं' किम्? यत् स्वकीयेन करेण अस्य सुप्तस्य करं पेषयामास गाढं न्यपीडयदिति। यच्च परेण प्रयोज्यकर्त्रा पुरुषेण एतं सुप्तं यष्ट्या यष्टिकया अघातयत् ताडितं कृतवानिति॥१२८॥

यष्टीति। यष्टिघातपाणिपेषणरूपहेतुद्वयात् सञ्जाता वेदना पीडा यस्य एतादृशो भोक्ता सुखदुःखयोरनुभविता पुरुष उत्तस्थौ पीडानुभवेन प्रबोधं प्राप। कीदृशः? दीप्तः क्रोधेन ज्वलन्निवेति; दीप्तौ दृष्टान्तः– भस्मापाये भस्मनोऽपनयनेऽपहारे कृते सति यथाऽनल इति॥१२९॥

एवम् 'उत्तस्थौ' इत्यन्तं व्याख्याय तद्भावमभिनयन्नुत्तरश्रुतिग्रन्थमवतारयति– करणेति द्वाविंशतिश्लोकैः। एतावता निदर्शनेन बालाकिः सोपाधिकमेव भोक्तारं ज्ञातवान्। ततो भोक्तुः भिन्नं शुद्धं न ज्ञातवान् इत्यर्थः॥१३०॥

ननु शुद्धस्यैव भोक्तृत्वं कुतो न स्याद्? इत्याशंकां वारयितुं, भोक्तृपदप्रवृत्तिनिमित्तभूतां भुक्तिं निरूपयति– भुजिक्रियेति द्वाभ्याम्। भुजिधात्वर्थयोः फलव्यापारयोः मध्ये भुजिक्रिया व्यापाररूपा न भुक्तिः न भोक्तृपदप्रवृत्तिनिमित्तार्हा। तत्र हेतुं नियमेन भोक्तरि सत्त्वाभावमाह–नैषा भोक्तरि निश्चितेति। एषा भुजिक्रिया भोक्तरि निश्चिता नियमेनोपलभ्यमाना न भवति, तत्र असतीति यावत्। नियमाभावे हेतू अव्याप्त्यतिव्याप्ती दर्शयति– मध्यपादद्वयेन। कष्टं कर्मेति न्यायेन क्रियाया दुःखरूपत्वाद् भोक्तृत्वस्य सुखेनाऽपि निरूपितत्वादव्याप्तिः। भोक्तृत्वाऽनधिकरणेषु दन्तमुखजिह्वादिषु क्रियाया वर्तमानत्वेन चातिव्याप्तिरिति भावः॥१३१॥

यद्यपीति। यद्यपि भुजिधातोः फलत्वेनार्थभूता तृप्तिरेषा प्रवृत्तिनिमित्तभूता भुक्तिः स्यात्, तथापि अयं विशेषोऽवधार्य इति शेषः। यतः फलैस्तृप्तः, पितृनताप्सीद् इत्यादिप्रयोगवशात् तृप्तेः पुष्टिस्तुष्टिरिति द्वे रूपे प्रसिद्धे। न च पुष्टितुष्टिशब्दयोः पर्यायत्वं, 'यथाऽश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोनुघासम्' (११.४.४२) इति भागवतैकादशे सह प्रयोगात्। तत्र पुष्ट्याख्या तृप्तिः इयं भुक्तिः नेरिता। तत्र हेतुं भुजिक्रियावदतिप्रसङ्गमेव दर्शयति– लेपनेनेति। कुड्ये भोक्तृत्वाऽभावेऽपि पुष्टेर्दर्शनादित्यर्थः। परिशेषात् सुखदुःखात्मिका तुष्टिस्तृप्तेः स्वरूपभूता भुक्तिरित्याह– सुखेति। विद्यारण्यैरप्युक्तम्– 'सुखदुःखाभिमानाख्यो विकारो भोग इष्यते' (पंच.७.१९५) इति॥१३२॥

राजा चाहता था बालाकि को शुद्धात्मा समझाने के लिये पहले प्राण से आत्मबुद्धि हटाकर भोक्ता को आत्मा बताना अतः भोक्ता का रूप दिखाने के लिये राजा ने यह किया कि अपने हाथ से सोये व्यक्ति का हाथ मरोड़ा और किसी चौकीदार आदि से उस पर लकड़ी का प्रहार कराया॥१२८॥ डण्डा पड़ने और हाथ मरोड़े जाने से उस सोये व्यक्ति को पीडा हई और वह सुख-दुःख का भोक्ता उठ बैठा। राख हटने से जैस आग तेज़ हो जाती है ऐसे वह नींद हटने पर क्रोधित.हो रहा था॥१२९॥ इस प्रक्रिया से बालाकि ने इन्द्रियसमूह वाले भोक्ता पुरुष को प्राण से अतिरिक्त जान लिया। उससे भी अतीत बुद्धिसाक्षी परमेश्वर को अभी वह समझ नहीं पाया था॥१३०॥'

शुद्ध आत्मा ही भोगता होगा? यह संदेह हटाने के लिये भोक्ता किसे कहते हैं यह समझाते हुए भोग का निरूपण

दुःखं न भोगशब्दाख्यं मुख्यं लोकेऽस्ति कुत्रचित्। स्त्रग्विणं भोगिनं प्राहुर्न शूलस्थं यतो नरम्।।१३३।।
कस्मैचिदपि नैवात्र रोचते दुःखमण्वपि। तेन तृप्तिश्च नैव स्यादरुचौ तृप्तता कुतः।।१३४।।
अनुकूले भुज्यमान आवृत्तौ च सुखोदयः। तृप्तिरित्युच्यते लोके प्रतिकूले कथं हि सा।।१३५।।
ततो दुःखस्य भोग्यत्वमुपचारादिहोच्यते। सुखावाप्तिर्यथा पुंसि कुरुतेऽतिशयं तदा।।
दुःखावाप्तिस्तथा साऽतो भुक्तिरित्युच्यते जनैः।।१३६।।

भोगस्याऽऽध्यासिकता

पुंसि योऽतिशयो दृष्टः सुखदुःखसमागमे। आनन्दात्मनि चासङ्गे कथं स स्यात् स्वरूपतः।।१३७।।

तत्र दुःखस्य भोगशब्दार्थान्तर्भाव उपचारादिति वक्तुं मुख्यार्थताया असम्भवमाह— दुःखमिति त्रिभिः। दुःखं लोके क्वचिदपि मुख्यं भोगशब्देन वाच्यं न भवति। तत्र हेतुं तथा व्यवहाराभावमाह— स्रग्विणमिति। स्रग्विणं स्रग्जन्यसुखशालिनमेव नरं यतो लोका भोगिनं प्राहुः, शूलस्थं शूलारोहदुःखमनुभवन्तं न तथाऽऽहुरिति।।१३३।।

ननु मास्तु सुखरूपतया दुःखस्य भोगशब्दार्हत्वं, सुखजनकतया तु स्याद्? इत्याशंक्य; न तथापीत्याह— कस्मैचिदिति। अत्र लोके दुःखं कस्मैचिदपि अण्वपि न रोचते न कस्याऽपि प्रीतिं जनयतीति यावत्। दुःखेन प्रीतिजननाभावे तस्य तृप्तिजनकत्वमपि दुर्वचं, तृप्तेः प्रीत्यात्मकतुष्टिरूपताया दर्शितत्वादित्याह— तेनेति। तेन दुःखेन अरुचौ प्रीत्यनुकूलव्यापाररूपरुच्यभावे दुःखगते सति तेन दुःखेन तृप्तता कुतः स्यात्, कारणाभावे कार्याभावस्य न्याय्यत्वादिति भावः।।१३४।। सामान्याप्रयोजकस्य विशेषाप्रयोजकत्वमिति न्यायादपि दुःखस्य तृप्त्यप्रयोजकत्वमिति दर्शयितुं तृप्तेः प्रीतिविशेषतामाह— अनुकूल इति। अनुकूले भुज्यमाने सति भोगस्य आवृत्तौ पौनःपुन्यरूपायां सत्यां यः सुखोदयः उदितं सुखमिति यावत्, सा तृप्तिरित्युच्यते, सा तृप्तिः प्रतिकूले कथं स्यादिति।।१३५।।

फलितमाह— तत इति। ततः मुख्यत्वासम्भवाद् उपचारः सादृश्येन प्रवृत्तिः, इह व्यवहारे। उपचारे बीजमाह— सुखेति। पुंसि भोक्तरि। अतिशयं चित्तपरिणामविशेषं दर्पादिरूपम्। सा दुःखावाप्तिः। अतः अतिशयाधायकत्वरूपसाधर्म्यात्।।१३६।।

करते हैं—'भोगरूप क्रिया के कारण देवदत्त आदि भोक्ता नहीं कहा जाता। क्रिया तो दुःखरूप ही होती है जबकि भोग का अर्थ सुख भी होता है, अतः क्रिया भोग नहीं। किं च हाथ आदि में भी क्रिया रहती है जब कि उन्हें भोग होता नहीं। क्रिया केवल भोक्ता व्यक्ति में रहती हो, हाथ आदि में नहीं ऐसी बात तो है नहीं।।१३१।। यद्यपि तृप्ति भोग कही जा सकती है तथापि पुष्टि कहलाने वाली तृप्ति तो भोग नहीं है क्योंकि प्रतिदिन गोबर आदि लीपने से दीवार पुष्ट तो होती है पर उसे कोई भोगने वाला नहीं मानता! इसलिये तुष्टि कहलाने वाले सुख-दुःख को भोगशब्द का अर्थ समझा जा सकता है।।१३२।। किंतु संसार में कहीं दुःख को भोग शब्द का वाच्य अर्थ नहीं माना जाता क्योंकि माला आदि पहने सुखी को ही भोगी कहते है, सूली पर चढ़े दुःखी पुरुष को कोई भोगी नहीं कहता!।।१३३।। दुःख किसी को भी थोड़ा भी अच्छा नहीं लगता अतः दुःख से किसी को तृप्ति नहीं होती। जो रुचे नहीं उससे तृप्ति कैसे होगी?।।१३४।। अनुकूल पदार्थ का बारम्बार सेवन करते हुए जो सुख होता है उसे ही लोक में तृप्ति कहते हैं। प्रतिकूल के पुनः पुनः सेवन से तृप्ति कैसे हो सकती है?।।१३५।। इसलिये दुःख को जो भोग कहा जाता है वह औपचारिक या गौण ही है। सुख-प्राप्ति जैसे मन में दर्पादिरूप विशेषता ला देती है वैसे ही दुःख-प्राप्ति भी मन में आकुलतादि विशेषता लाती है। अतः 'मन में विशेषता लाना' इस समानता से दुःख को भोग लोग कह देते हैं।।१३६।।'

प्रसिद्ध है कि आत्मज्ञान से कृतकृत्यता होती है पर उक्त भोक्ता को समझने से तो कृतकृत्यता होती नहीं अतः इतना ही आत्मा का स्वरूप राजा ने बताया हो यह संभव नहीं क्योंकि उसने प्रतिज्ञा की थी कि वह आत्मा का विज्ञान करायेगा।

स्वयम्प्रकाशचैतन्ये कार्यकारणवर्जिते। आनन्दात्मनि नाध्यासाद् विना केनाऽपि कल्पते॥१३८॥

स्वसजातिविजात्युत्थभेदत्रयविवर्जिते। आनन्दात्मनि मायाऽतः कल्पिता[1] वेदवादिभिः॥१३९॥

द्विस्वभावा हि सा दृष्टा विक्षेपावृतिकारिणी। आवृतिः सर्वदा सिद्धा विनानन्दात्मबोधनम्॥१४०॥

एतादृशभुक्त्याश्रयस्य भोक्तुर्ज्ञानमात्रेण न कृतकृत्यतेति हेतोः 'ज्ञापयिष्याम्येवे' ति प्रतिज्ञातवतो राज्ञो वक्तव्यमवशिष्यत एवेति सूचयन्नुक्तभोक्तृत्वस्य शुद्धेऽसम्भवम्, आध्यासिकत्वं कल्पितस्य, तस्य कल्पितमेवाश्रयं च दर्शयति– पुंसीत्यादिना। यः अयं भुक्तिसंज्ञः सुखदुःखसमागमकालिकः अतिशयः पुंसि विशिष्टरूपे दृष्टः 'अहं सुखी' त्यादिरूपेणानुभूयमानः स आनन्दात्मनि अद्वितीयेऽसङ्गे च आत्मनि स्वरूपतः स्वरूपमालोच्य कथं स्यात् संभवेत्? अद्वयादिरूप आत्मनि परिच्छिन्नादिरूपस्य भोक्तृत्वस्य न कथंचिदपि संभव इति यावत्॥१३७॥

कथं तर्हि भोक्तृत्वस्यात्मनि भानोपपत्तिरिति चेद्? अध्यासादित्याह– स्वयमिति। पूर्वार्द्धोक्त आनन्दात्मनि भोक्तृत्वम् अध्यासाद् विना अध्यासमन्तरेण न कल्पते नोपपद्यत इति। अध्यासस्तु अतस्मिंस्तद्बुद्धिरित्युक्तलक्षणः कार्याविद्यात्वेन प्रसिद्धः॥१३८॥

अध्यासान्यथानुपपत्त्यैव च मायादिपदवाच्यमज्ञानमभ्युपगतमित्याह– स्वसजातीति। स्वश्च सजातिश्च विजातिश्चेति स्वसजातिविजातयः तेभ्य उत्तिष्ठति निरूपितं भवतीति स्वसजतिविजात्युत्थम्, एतादृशं यद् भेदत्रयं तेन विवर्जित आनन्दात्मनि। अतः अध्यासानुपपत्तेरेव माया कल्पिता वेदवादिभिः इति। अनेन बन्धमोक्षादिश्रुतार्थापत्तिरपि अज्ञाने मानमिति सूचितम्। 'कल्पिता' इति पदेन च मिथ्याभूताध्यासोपपादनाय कल्प्यमाना मिथ्याभूतैव कल्प्यते, 'यादृशो यक्षस्तादृशो बलिः' इति न्यायादिति सूचितम्॥१३९॥

भोक्तृत्वाद्यध्यासोपपादकं तस्याः स्वभावद्वयमाह– द्विस्वभावेति। सा माया यतो विक्षेपावरणयोः करणशीलाऽतो द्विस्वभावा द्वौ विक्षेपावरणशक्तिरूपौ स्वभावौ यस्या एतादृशी दृष्टा दृष्टार्थानुपपत्त्या कल्पिता। तत्र आवृतिः मायास्वभावप्रयुक्ता सर्वदा सुषुप्त्याद्यवस्थात्रयेऽपि सिद्धा साक्षिप्रत्यक्षेणेति शेषः। कीदृशी आवृतिः? आनन्दात्मबोधनं विना वर्तमाना, आत्मबोधैकनिवर्त्येतियावत्॥१४०॥

इसलिये राजा ने आगे भी उपदेश दिया यह सूचित करते हुए गुरु जी भूमिकारूप से समझाते हैं कि शुद्ध आत्मा भोग करे यह संभव नहीं, कल्पित भोग करने वाला कल्पित आत्मा ही है। कल्पित, आध्यासिक, औपाधिक, मिथ्या आदि का एक ही अर्थ है– 'सुख-दुःख मिलने पर पुरुष में 'मैं सुखी' आदि रूप से अनुभव किया जाने वाला जो वैशिष्ट्य है वह असंग आनन्दरूप अद्वितीय आत्मा में हो, यह उस आत्मा के स्वरूप का विचार करें तो असंभव है यह निश्चित होता है॥१३७॥ स्थूल-सूक्ष्मशरीरों से रहित स्वयम्प्रकाशज्ञानरूप आनंदघन प्रत्यक्तत्त्व में अध्यास के सिवाय कोई ढंग नहीं कि भोग होवे॥१३८॥ इसी उपपत्ति के लिये वेद के सिद्धांत के प्रतिपादकों ने स्वगत, सजातीय व विजातीय, तीनों भेदों से रहित आनन्दात्मा में माया की कल्पना की है॥१३९॥ विक्षेप (= गलत प्रदर्शन) और आवरण (= सही की जानकारी न होने देना) करने वाली वह माया दो स्वभावों वाली है अर्थात् इन दो कार्यों की शक्ति वाली है। वह आनंदरूप परमात्मा का ज्ञान न होने तक सुषुप्त्यादि तीनों ही अवस्थाओं में हमेशा सिद्ध है अर्थात् साक्षी को उसका भान रहता ही है॥१४०॥

---

१. कल्पितेति। न च विवरणादौ प्रत्यक्षानुमानशब्दार्थापत्तिप्रमाणैः साधनात्कल्पितेति विरुद्ध्यत इति वाच्यम्; तत्राप्यस्या वास्तवत्वास्वीकारात्तन्मात्रतायाश्चात्र कल्पितेत्युक्तेरभिप्रेतत्वात्। न हि सांख्यादीनामिव माया नाम पदार्थोस्माभिरुच्यते, किन्तर्हि? बन्धनाद्युपपादनायाध्यारोप्यत एव। अपवादो ह्यस्याः करिष्यमाणो विरुद्ध्येत प्रमाणसिद्धामेनां यदि ब्रूमहा इति। ननु तर्हि कथमाचार्याणां तावान् प्रयासः? मायेतरकारणासम्भवबोधनाय तस्याः सम्भावनामात्रसिद्ध्यै। कल्पनामात्रतया कथने न श्रद्दधते यथा मानैर्निरूपण इति लोकबुद्धिमनुसरद्भिः श्रुत्युक्तमार्गेण मोक्षप्रापणाय कारुणिकैर्यतितम्। तेन तस्या वास्तवत्वं तदभिप्राय इति परं परिपक्वदुरदृष्टानामेव केषांचिद्भ्रमः। किंच तैरपि तदेकत्वमिथ्यात्वचिन्निष्ठत्वादावेव प्रमाणान्युक्तानि, तस्यास्तु साक्षिसिद्धत्वाङ्गीकारेण प्रामाणिकत्वाऽनभ्युपगमादित्यन्यत्र विस्तरः।

विक्षेपो द्विविधः प्रोक्तः स्वप्नो जागरणं त्विति। सुप्रसिद्धं जागरणं भूतानां बुद्धिजीवनम्॥१४१॥

यत्राऽयं व्यवहारः स्यादिन्द्रियैर्बाह्यचारिभिः। स्वप्नः संस्कारजो ज्ञेयो मनोमात्रैकहेतुकः॥१४२॥

भोगस्याश्रयनिर्धारणम्

सुखदुःखकृतो दृष्टः स्वप्नेऽप्यतिशयो नृणाम्। स्वप्ने यत्रैव दृष्योऽयं तत्र जागरणेऽपि च॥१४३॥

अन्तःकरणमात्रं हि स्वप्ने तिष्ठति नापरम्। इन्द्रियाणां विलीनत्वात् प्राणस्याऽचेतनत्वतः॥१४४॥

सुखदुःखातिशयवत् स्वप्ने तेन मनो मतम्। ततो जागरणेऽपि स्यात् तदेवातिशयास्पदम्॥
अन्यथा शयनोत्थाने प्रत्यभिज्ञा न संभवेत्॥१४५॥

जडस्यापि मनसो भोगाश्रयता

यद्यप्यचेतनं तत् स्यात् प्राणादेरादिमद्ध्रुवम्। तथाप्यस्य प्रकाशत्वं विद्यते नाऽपरस्य हि॥१४६॥

द्वितीयस्वभावप्रयुक्तं विक्षेपं विभजते— विक्षेप इति। तत्र जागरणं भूतानां **प्रसिद्धम्। कीदृशं जागरणम्?** बुद्धिजीवनं **बुद्धिर्जीवनं धारणं यस्य बुद्ध्याश्रितमिति यावत्; 'जीवनं वर्तने नीरे प्राणधारणयोरपि' इति विश्वः॥१४१॥**

जाग्रल्लक्षणमाह— यत्रेति। **बाह्याः स्थूलविषयाः। स्वप्नलक्षणमाह**— स्वप्न इति। **मात्रपदेन इन्द्रियव्यावृत्तिः॥१४२॥**

एवमध्याससामग्रीं प्रदर्श्य भोगस्य आत्मनि अध्यासेन भासमानतया उक्तस्य मुख्यमाश्रयं निर्धारयति— सुखेति **त्रिभिः। सुखादिकृतः** अतिशयः परिणामविशेषः स्वप्नेऽपि दृष्टः, अयम् अतिशयः स्वप्ने यत्र यन्निष्ठः तत्रैव जागरणेऽपि **मन्तव्यः॥१४३॥** अंतरिति। **भोगसंज्ञस्यातिशयस्य आश्रयतायोग्यं स्वप्ने मन एव। तत्र हेतुमाह**— इन्द्रियाणामिति। **शुद्धात्मनोऽसङ्गत्वाच्चेत्यपि बोध्यम्॥१४४॥**

सुखदुःखातिशयवदिति। तेन **अन्यस्य भोगाश्रयतायोग्यस्य अभावेन** मन एव तदाश्रयत्वेन मतं चेत् **तर्हि जाग्रत्यपि तदेव अस्त्विति। अन्यथा स्वप्नजाग्रतोः भोगस्य भिन्नाश्रयत्वाभ्युपगमे प्रत्यभिज्ञा 'य एवाहं स्वप्ने साम्राज्यसुखमन्वभूवं स एवाहमेकान्तवाससुखमनुभवामि' इत्याद्याकारा भोक्त्रैक्यावगाहिनी न उपपद्येतेति॥१४५॥**

विक्षेप दो प्रकार का बताया गया है : सपना और जागना। बुद्धि के सहारे ही जिसका निर्वाह होता है वह जागरण तो सबके लिये प्रसिद्ध ही है जहाँ बाह्य विषयों से सम्पर्क करने वाली इंद्रियों से यह व्यवहार होता है। इंद्रियाँ नहीं, मन जिसका कारण है वह अवस्था स्वप्न है जो संस्कारों से उत्पन्न होती है'॥१४१-१४२॥

इस प्रकार अध्यास की सामग्रीभूत माया का वर्णन कर आत्मा में अध्यासवश प्रतीत होते भोग के प्रमुख आश्रय का निरूपण गुरु जी करते हैं– 'सुख-दुःख से होने वाला हर्ष-विषादादि अतिशय (= विशेषता) स्वप्न में भी लोगों को अनुभव में आता ही है। यह अतिशय सपने में जहाँ होता है वहीं जागरण में भी होता है यही मानना लाघवानुसारी है॥१४३॥ सपने में भोगसंज्ञक अतिशय का आश्रय बनने योग्य वस्तु एक अंतःकरण ही रहता है क्योंकि इंद्रियाँ विलीन हो चुकती हैं, प्राण अचेतन (= भोग न करने वाला) सिद्ध किया ही जा चुका है और आत्मा तो शुद्ध है, असंग है॥१४४॥ इसलिये सपने में सुख-दुःख से होने वाले अतिशय वाली वस्तु मन ही स्वीकृत है। अतएव जाग्रत्-कालिक अतिशय का आश्रय भी वही होना संगत है, नहीं तो सपने से उठने पर होने वाली प्रत्यभिज्ञा, कि 'जिस मैंने सपने में साम्राज्य के सुख का अनुभव किया था, वही मैं अब जगकर एकांतवास के सुख का अनुभव कर रहा हूँ', जो भोक्ता की एकता को विषय करती है, वह उपपन्न न हो पायेगी'॥१४५॥

प्रश्न होता है कि प्राण की तरह मन भी तो जड है, तब वह कैसे भोगाश्रय होगा? इसका उत्तर गुरुजी देते हैं–'प्राण

जडतायां समानायां प्रदीपघटयोरिह। प्रदीपेनैव दृश्यः स्याद् घटस्तेन न दीपकः॥१४७॥

न चाऽनपेक्ष्य चैतन्यं प्रकाशो मानसोऽपि हि। प्रकाशयति तेनायं जडतां च जहाति नः।
ततो नानाविधज्ञानमन्तःकरणमीरितम्॥१४८॥

तत्रस्थः परमात्माऽयं विज्ञानमयशब्दितः । पूरयत्येष देहादि तस्मात्पुरुष इत्यपि॥१४९॥

यद्वद् दुःखं सुखं तद्वज्जडत्वाद्यैर्हि कारणैः। न विद्यते जायमानमानन्दात्मनि किञ्चन॥१५०॥

ननु मनसोऽपि प्राणवज्जडत्वात् कथं भोगाश्रयतायोग्यत्वम्? इत्याशंक्य; विशेषं दर्शयति– यद्यपीति। तद् मनः यतः प्राणादेः प्राणकारणाद् भूतसूक्ष्मरूपाद् आदिमद् लब्धजन्मकं तथापि अस्य मनसः प्रकाशत्वम् अभ्युपगन्तव्यं, दर्शनबलाद्; अपरस्य प्राणादेस्तु न प्रकाशत्वमिति॥१४६॥

जडत्वेप्यवान्तरविशेषे दृष्टान्तमाह– जडतायामिति। प्रदीपघटयोः जडतायां समानायाम् अपि प्रदीपेनैव घटो दृश्यः प्रकाश्यः, तेन घटेन दीपस्तु न प्रकाश्य इति सर्वैर्मतं, तद्वदिति॥१४७॥

ननु मनसो जडस्यापि प्रकाशकत्वाभ्युपगमे बाह्यमतापत्तिः? इत्याशंक्य; न वयं स्वतन्त्रां मनसः प्रकाशतां मन्महे, किन्तु चित्प्रतिबिम्बसापेक्षाम्, पूर्वं प्रदर्शिता प्रकाशता तु प्रतिबिम्बग्रहणयोग्यतारूपैव इत्याह– न चेति। मानसोऽपि प्रकाशो वृत्तिरूपः चैतन्यं चिदाभासम् अनपेक्ष्य न प्रकाशयति किन्त्वपेक्ष्यैव, तेन चिदाभासापेक्षणेन अयं मनसः प्रकाशो जडतां जहाति चेतनायमानो भवति, न औपनिषदानां मत इति शेषः। एतेन सर्वदाज्ञानापत्तिश्च परास्तेत्याह– तत इति। ततः चैतन्यापेक्षाभ्युपगमादेव अन्तःकरणं नानाविधज्ञानशालि उक्तमिति। तथा च योगसूत्रं 'तदुपरागापेक्षत्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताऽज्ञातम्' (४.१७) इति। अयं भावः– यदि अन्तःकरणं स्वभावतः चिद्रूपं स्यात् तर्हि एकविधज्ञानमेव स्यात्। परापेक्षत्वे तु यदा यदा इच्छादिविलक्षणा चित्प्रतिबिम्बग्रहणक्षमा वृत्तिर्जायते तदैव सज्ञानं भवतीति नानाविधज्ञानतोपपद्यत इति॥१४८॥

तत्रस्थ इति। तत्र अन्तःकरणे तिष्ठति आविद्यकसम्बन्धेन सम्बद्धो भवतीति स तथा, ईदृशः परमात्मा विज्ञानमयशब्दितो भवति, प्रकृतवचने मयट्, विज्ञानमन्तःकरणं प्रकृतं सुखदुःखाद्यन्वये प्रधानं यस्य स तथा, ईदृगर्थकविज्ञानमयशब्दभाग् भवतीत्यर्थः। तथा एष तत्रस्थः परमात्मा यतो देहादिकं पूरयति चिदाभासरूपेण आप्याययति तस्मात् पुरुष इत्यपि शब्दितो भवति। पूरी आप्यायन इत्यस्मादौणादिको बाहुलकात् कुषन्[1]॥१४९॥

के कारण जो सूक्ष्म भूत, उन्हीं से पैदा हुआ मन यद्यपि अवश्य ही अचेतन है तथापि मन की प्रकाशरूपता है जो प्राणादि की नहीं॥१४६॥ जैसे लोक में दीपक और घड़ा दोनों में जडता समान होने पर भी दीपक से ही घट प्रकाश्य होता है, घट से दीपक प्रकाश्य नहीं होता, उसी प्रकार जडता होने पर भी प्राणादि की अपेक्षा मन में भोगाश्रय होने की विलक्षणता है॥१४७॥ मन का वृत्तिरूप प्रकाश भी चेतन की अपेक्षा रखे बिना प्रकाश नहीं करता अतः स्वतंत्र प्रकाश न होने से हम वेदांतियों के सिद्धांत में वह जड ही बना रहता है और इसलिये वह नाना प्रकार के ज्ञानों वाला बताया गया है'॥१४८॥ अभिप्राय है कि यदि मन स्वभाव से ही ज्ञानरूप होता तो उसका ज्ञान साक्षिरूप ज्ञान की तरह एकरूप ही होता। किंतु ऐसा है नहीं। अतः उसका परापेक्ष ज्ञान स्पष्ट है। स्वभावतः मीठी मिसरी का स्वाद एकरूप होता है और उसकी अपेक्षा रखने वाली मिठाइयाँ विविध स्वादों वाली होती हैं यह प्रत्यक्षसिद्ध है।

'अविद्यारूप संबंध से अन्तःकरण में रहने वाला यह परमात्मा विज्ञानमय कहा जाता है। अन्तःकरण में स्थित परमात्मा देहादि को चिदाभासरूप से पूरा कर देता है इसलिये इसे पुरुष कहते हैं'॥१४९॥ विज्ञानमय-शब्द में विज्ञान का

---

१. पुरः कुषन् (उ.४.७४)

स्वयम्प्रकाशमात्मानं बुबोधयिषुरीश्वरः। पुरुषं विज्ञानमयमिति बुद्ध्या स पृष्टवान्॥१५१॥

विज्ञानमयविषये राजप्रश्नः

पुरुषो विज्ञानमयो भोक्तेत्यवगतस्त्वया। प्राणाद् विलक्षणः क्वाऽयमकरोच्छयनं प्रभुः॥
शयनं च तथा कुत्र कुतश्चागादयं पुमान्॥१५२॥

यद्वदिति। वस्तुतस्तु आनन्दात्मनि आनन्दरूप आत्मनि यद्वद् दुःखं न विद्यते न संभवति तद्वज्जायमानं जन्यमन्तः-करणवृत्तिरूपं सुखम् अपि न विद्यते, जडत्वादिभ्यो हेतुभ्यः। तथा च प्रयोगः– जन्यसुखम्, आत्मनि न विद्यते, जडत्वात् परिच्छिन्नत्वाद् दृश्यत्वाच्च दुःखवद्– इति। 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' (श्वे.६.१९) इत्यादिश्रुतयोऽपि अनुसन्धेयाः। अत्र फलभूतसुखदुःखयोर्निरासे तत्साधनानामर्थाद् निरासात् कार्यकरणवर्जित आत्मेति सूचितम्॥१५०॥

स्वयमिति। स्वयम्प्रकाशमात्मानं विज्ञानमयस्य पारमार्थिकं रूपं बुबोधयिषुः बोधयितुमिच्छन् ईश्वरो राजाऽजातशत्रुः विज्ञानमयं पृष्टवान् विज्ञानमयगोचरान् प्रश्नांश्चकार। कया? इति–बुद्ध्या। इति एकविंशतिश्लोकैरुक्तेनाभिप्रायेणेत्यर्थः। बालाकिना ज्ञातोऽपि भोक्ता विज्ञानमयोऽन्तःकरणात्मनोरन्योन्याध्यासेन सिद्धरूपत्वाद् मिथ्यात्मा, तस्य पारमार्थिकं रूपमस्मै प्रतिज्ञाबद्धेन अवश्यं मया बोधनीयमित्यभिप्रायस्वरूपम्॥१५१॥

'क्वैष एतद् बालाके' (कौ.४.१९)[1] इत्यादिप्रश्नवाक्यं साभिप्रायं व्याकरोति– पुरुष इति पञ्चभिः। य एष विज्ञानमयः पुरुषः प्राणाद् विलक्षणः स एव भोक्तृत्वेन त्वया सुप्तोत्थापनव्यापारेण अवगतो बुद्धः। अथ एतत् त्वया वक्तव्यम्– अयं प्रभुः भोक्ता क्व कस्मिन् देशे स्थितः सन् शयनमकरोत् कृतवानिति प्रथमः प्रश्नः। तथा शयनं कुत्र किमाधारकमिति द्वितीयः। अयं पुमान् कुत आगाद् जागरणमागतवान् इति तृतीयः। अत्र विज्ञानमय इति विशेषणं बृहदारण्यकचतुर्थाध्याय- प्रथमब्राह्मणादुपसंहृतमिति[2] बोध्यम्॥१५२॥

अर्थ है अंतःकरण। आत्मा के सुख-दुःखादि से सम्बंध में अंतःकरण ही प्रधान होता है अतः आत्मा को (= जीव को) विज्ञानमय कहते हैं।

'जैसे आनन्दरूप आत्मा में दुःख नहीं रहता, वैसे ही जडता आदि कारणों से मनोवृत्तिरूप जन्य सुख भी उसमें नहीं रहता'॥१५०॥ जब फलरूप सुखादि ही नहीं रहते तब उनके साधनों का न रहना तो अर्थसिद्ध है। इस प्रकार सूचित हुआ कि आत्मा शरीर-इंद्रियों से रहित है।

'स्वयम्प्रकाश आत्मा का बोध कराने की इच्छा वाले राजा ने इस पूर्वोक्त अभिप्राय से विज्ञानमय पुरुष के विषय में प्रश्न किये'॥१५१॥ राजा का अभिप्राय यह था : बालाकि ने जिस भोक्ता को जाना है वह अंतःकरण और आत्मा के इतरेतराध्यास से सिद्ध स्वरूप वाला है अतः मिथ्या आत्मा ही है। उसका वास्तविक स्वरूप बताने के लिये मैं प्रतिज्ञाबद्ध हूँ अतः उसका उपाय करना चाहिये।

उपनिषत् में राजा का प्रश्न है : यह प्राणादि का मालिक कहाँ सो रहा था? यह सोना कहाँ था? जगने पर यह कहाँ से आया है? इसी का अब पुराणकार वर्णन करेंगे।

अजातशत्रु ने गार्ग्य से पूछा– 'प्राण से विलक्षण विज्ञानमय पुरुष भोक्ता है यह आपने इस सोये पुरुष के जगने से समझा होगा। अब बताइये देहेन्द्रियों का मालिक यह भोक्ता किस देश में स्थित हुआ सो रहा था? सोना कहाँ हो रहा था? जगने पर यह पुरुष कहाँ से आ गया?॥१५२॥

---

१. 'क्वैष एतद् बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्वैतदभूत् कुत एतदागा ३ दिति' इति।

२. 'स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाऽभूत् कुत एतदागादिति' इति तत्र वाक्यम् (२.१.१६)।

स्वस्मिन् वाऽपि परस्मिन् वा शयानः पुरुषो भवेत्। शयानो यत्र तत्रैव शयनं चाऽपरत्र वा॥१५३॥

मञ्चके हि शयानस्य पुरुषस्यान्तरं नृभिः। कथ्यते शयनं तेन शयनं पृथगीरितम्॥१५४॥

मञ्चके हि शयानः सन्नागच्छति ततो न हि। किन्तु तस्मात् समुत्थाय गृहे स्थित्वा गृहाद् बहिः॥
आगच्छति ततो युक्तं कुत इत्यादि भाषणम्॥१५५॥

शयानं शयनं तस्याऽऽगतेश्चाधारकाऽवधीन्[1]। तं च बोधयितुं राजा गार्ग्यमेतद्धि पृष्टवान्॥१५६॥

तेषां प्रश्नानां लौकिकदृष्ट्या प्रसक्तां भेदबुद्धिं बाधित्वा तत्त्वप्रदर्शनार्थत्वमिति सूचयितुं लौकिकदृष्ट्यनुसारेण प्रश्नविषयस्य सन्दिग्धत्वमाह– स्वस्मिन्निति। लोके शयानः शयनं कुर्वन् पुरुषः कदाचित् स्वस्मिन् स्वाश्रितो भवेद्, यथा तिष्ठन् शयानः। कदाचित् परस्मिन् शय्यादिरूपे पराश्रितो भवतीति शयानाधारगोचरः संशयः प्रसिद्धः। न चैतत्संशयनिवृत्त्या शयनाधारगोचरः संशयो निवर्तते, शयनाधारस्य शयानाधारात् पृथक्त्वेनाऽपि लोके प्रसिद्धेः; अत एव च द्वितीयः प्रश्नः पृथक् कृत इति सूचयन् शयनाधारगोचरं संशयमाह– शयान इति। शयनकर्ता मञ्चकादिरूपयदाधारकः, शयनम् अपि तदाधारमित्यपि लोके प्रसिद्धम्, अपरत्र शयानाधारादपराश्रितमित्यपि प्रसिद्धमित्यर्थः॥१५३॥

'अपरत्र वा' इत्येतत् स्पष्टयति– मञ्चके हीति। हि यतः मञ्चके शयानस्य पुरुषस्य यद् अन्तरं मञ्चकान्तर्धायकं तूलकादि तदेव शयनं शयनाधारो नृभिः कथ्यते व्यवह्रियते। तेन एतादृशलोकव्यवहारदर्शनेन शयनं शयनाधाररूपं पृथगीरितं पृष्टमित्यर्थः॥१५४॥

ननु तथापि तृतीयः प्रश्नः किमर्थः, शयनाधारनिर्णयेनैव आगमनावधेर्निर्णयसम्भवादिति चेद्? न, लोक इतरथाऽपि प्रसिद्धेरित्याह–मञ्चके हि शयान इति। मञ्चके शयानः सन् पुरुषः ततो मञ्चकाद् आगच्छति इति लोके न हि व्यवह्रियते, किन्तु तस्माद् मञ्चकात् समुत्थाय गृहे स्थित्वा गृहाद्बहिरागच्छति इति व्यवह्रियते। ततः शयनाधारादागमनावधेः पृथक्त्वेन प्रसिद्धेः कुत इत्यादिकं 'कुत आगतवान्' इत्याकारं तृतीयप्रश्नरूपं भाषणं युक्तं योग्यमेवेत्यर्थः॥१५५॥

गुरु जी समझाते हैं कि इन प्रश्नों का तात्पर्य तत्त्व का प्रदर्शन करना है। उसके लिये लोकबुद्धि से प्राप्त भेद का बाध करना ज़रूरी है। अतः लौकिक दृष्टि से प्रश्न का विषय सन्दिग्ध है यह बताते हैं– 'लोक में सोता हुआ पुरुष कभी खुद पर ही आश्रित होता है जैसे जब खड़ा-खड़ा सो जाता है, और कभी शय्या आदि किसी अन्य वस्तु पर आश्रित होता है। अतः प्रथम प्रश्न संगत है। ऐसे ही शयनकर्ता जिस खाट आदि पर सोता है वहीं सोना होता है और कभी उससे अन्यत्र भी हो जाता है क्योंकि खाट पर सोये पुरुष के सोने का आधार गद्दा चद्दर आदि है ऐसा लोग कहते हैं। इसलिये शयनका आधार राजा ने अलग पूछा है॥१५३-१५४॥ इसी प्रकार खाट पर सोया पुरुष खाट से ही सीधा बाहर नहीं आता किंतु खाट से उठकर कमरे में कुछ देर रुक कर तब कमरे से बाहर आता है। अतः 'कहाँ से आ गया?' यह प्रश्न भी उचित है'॥१५५॥

इस तरह लोकानुसारी भेददृष्टि से सोने वाले का आधार, सोने का आधार और उठ कर आने का अपादान विभिन्न संभव हैं। इनका प्रकृत में भेद है नहीं यह समझाने के लिये ही राजा के प्रश्न हैं। इसे गुरु जी स्पष्ट करते हैं– 'सोने वाले का स्वरूप, सोने का स्वरूप, सोने वाले और सोने का आधार तथा सोकर आने वाले की अवधि अर्थात् अपादान; इन सबका ज्ञान कराने के लिये उस गार्ग्य से राजा ने यह पूछा था'॥१५६॥ सोने वाला है केवल अंतःकरण से विशिष्ट चेतन। सामान्यतः देहादि को आत्मा समझने वाले यह तथ्य नहीं जानते। इसी दृष्टि से कहीं-कहीं इंद्रियों को सोने वाला कह दिया जाता है। यद्यपि सोना है जीव की अवस्था तथापि जीव तो एक संघात का नाम है अतः सोनारूप अवस्था को संभव करने

---

१. प्रश्नगतत्वेन बहूक्तिरविवक्षितेति द्रष्टव्यम्।

गार्ग्यो नाजानात्

गार्ग्योऽपि गहनार्थं तं प्रश्नं स्वात्ममनस्ययम्। विचार्य बहुधा नैव प्रत्यपद्यत किञ्चन॥१५७॥

राजैवोत्तरयति

ततो राजाऽजातशत्रुरनूद्य वचनं निजम्। अदादुत्तरमेतद्धि सर्वसंशयभेदकम्॥१५८॥

द्विविधं शयनम्

बालाके शयनद्वैधं पुरुषस्यास्ति सर्वदा। एषां बाह्येन्द्रियाणां हि शब्दादिविषयं सदा॥
स्वीकृत्य याति विज्ञानं मानसेनैव तेन सः॥१५९॥

उक्तविधया भेददर्शिमूढदृष्ट्या प्राप्तां बुद्धिमपाकृत्य, राज्ञा प्रश्नैर्बुबोधयिषितमर्थं संगृह्याह– शयानमिति। शयानं शयनकर्तुः स्वरूपं केवलान्तःकरणविशिष्टरूपं देहाद्यात्मदर्शिभिरज्ञातं तं गार्ग्यं बोधयितुं; तथा शयनं 'परिच्छिन्नस्य पूर्णेन तादात्म्यं शयनं भवेत्। साहङ्कारस्य जगतो विलयः सुप्तिरुच्यते॥' (   ) इति विज्ञानमयजगद्भ्यां निरूपणभेदेन द्विविधं यच्छयन-सुप्तिपदाभ्यां विद्यारण्यैर्व्यवहृतं, वक्ष्यमाणस्वप्नसुषुप्तिभेदेन वा द्विविधं तद् च बोधयितुं तस्य द्विविधशयनस्य, आगतेः आगमनस्य च अनयोः आधारकाऽवधीन् आधारकौ च अवधिश्च ते तथा तान्, अज्ञाते कप्रत्ययः। तत्र विज्ञानमयशयनाधारः परमात्मा विज्ञानमयस्य परमार्थतः स्वरूपभूतः, जगन्निरूपितशयनाधारोऽपि परमात्मैवाज्ञानविशिष्टः। वक्ष्यमाणभेदपक्षे स्वप्नाधारो नाड्यः, सुषुप्ताधारः परमात्मेति। शयनाधार एवागमनावधिरित्येतानर्थांश्च बोधयितुं राजा एतत् प्रश्नत्रयं गार्ग्यं प्रत्युवाचेत्यर्थः॥१५६॥

'तत उ ह' इत्यादि 'यत एतदागाद्' इत्यन्तवाक्यार्थमाह– गार्ग्योऽपीति। अयं गार्ग्यः तं राज्ञस्त्रिविधं प्रश्नं गहनार्थं दुरवगाहनार्थकं स्वात्ममनसि स्वीयचित्ते बहुधा विचार्य किञ्चन अप्युत्तरं नैव प्रत्यपद्यत न विज्ञातवान्॥१५७॥

तत इति। ततो बालाक्यप्रबोधं निरीक्ष्यापि प्रतिज्ञाबद्धो राजा स्वयमेव उत्तरमदात्। किं कृत्वा? निजं वचनं प्रश्नत्रयरूपम् अनूद्य पुनः पठित्वा। कीदृशमुत्तरम्? सर्वसंशयभेदकम् इति॥१५८॥

वाली उपाधिविशेष समझना ज़रूरी है। शयन में दो कार्य होते हैं : अहंकार समेत परिच्छिन्न चेतन पूर्ण चेतन से अभिन्न हो जाता है तथा जगत् का विलय हो जाता है। यह विलय एकजीववाद में सारे जगत् का और सृष्टिदृष्टि मानने वाले नानाजीववाद में अध्यात्म-जगत् का होता है यह बात अलग है। किं च सपना और गहरी नींद, यों दो तरह का शयन होता है। यह भी राजा समझाना चाहता है। विज्ञानमय जीव का पारमार्थिक स्वरूप परमात्मा ही शयन का आधार है। अज्ञानरूप विशेषण वाला परमात्मा ही जगद्विलयरूप शयन का आधार भी है। और वही आने का अपादान भी है। ये बातें राजा को बताना इष्ट है।

उपनिषत् में बताया है कि बालाकि इन प्रश्नों का कोई उत्तर न दे पाया। तब राजा ने ही बताया कि प्राणियों की 'हित' कहलाने वाली हृदयसम्बंधी नाडियाँ हैं जो हृदय से निकलकर पुरीतत अर्थात् हृदयवेष्टनको (या उपलक्षणया पूरे शरीर को) घेरे रहती हैं। बाल के हज़ारवे भाग जैसी वे सूक्ष्म हैं। सफेद, काले, पीले, लाल, आदि अनेक रंगों के रसों से वे भरी हैं। शयनकाल में पुरुष उनमें रहता है। किंतु गहरी नींद के समय प्राण से ही एकरूप हुआ रहता है। तब वाणी आदि अपने विषयों समेत इसके साथ ही विलीन रहती हैं। जब पुरुष जगता है तब जैसे जलती आग से सर्वत्र चिनगारियाँ फैल जाती हैं ऐसे इस आत्मा से निकलकर इंद्रियाँ अपने गोलकों में स्थित हो जाती हैं, इन्द्रियों से देवता और देवताओं से विषय प्रकट हो जाते है। इस प्रसंग का वर्णन करते हैं।

'उस गंभीर अर्थ वाले प्रश्न का अपने मन में बहुत तरह विचार करने पर भी गार्ग्य को कोई उत्तर समझ नहीं आया॥१५७॥ तब राजा अजातशत्रु ने प्रश्न दुहरा कर सभी शंकाओं का समाधान करने वाला यह उत्तर दिया:॥१५८॥

विज्ञानमयशब्दोऽयं भोक्ता भवति वै तदा। अयं शेतेऽत्र नाडीषु हृदये वा पुरीतति॥१६०॥

प्राणिनामिह सर्वेषां सच्छिद्रे उदरोरसी। देहान्तरे तयोः सन्धावस्ति पद्ममधोमुखम्॥
हृदयं नाम तत् प्रोक्तं हृद्यस्यायतनं परम्॥१६१॥

परितो हृदयस्यास्य कृमिपुञ्जनिभं महत्। गोलकाकारमन्त्राख्यं पुरीतदिति गीयते॥१६२॥

उदरस्य विभेदे हि द्रष्टुं शक्यं स्वयं हि तत्। स्वस्य मांसेन नेत्रेण हृदयं नात्मनस्तथा॥१६३॥

अथ शयानस्य स्वरूपं केवलान्तःकरणविशिष्टात्मकं स्वप्नावस्थायां स्पष्टं बोधयितुं स्वप्नसुषुप्तिभेदेन द्वैविध्यं राजा प्रतिजानीते– बालाक इति। द्वैधं प्रकारद्वयं। तत्र स्वप्नः सुषुप्तिद्वारभूतो निरूप्यत इति शेषः। तत्र बृहदारण्यक-चतुर्थस्य प्रथमब्राह्मणाद् 'य एष विज्ञानमयः पुरुषः तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (बृ.२.१.१७) इति वाक्यमुपसंहृत्य व्याचष्टे– एषामिति। जाग्रत्काले हि मानसेन मनस्यविभक्तेन चिदाभासलक्षणेन विज्ञानेनाभिमानाकारेण इन्द्रियेभ्यो विज्ञानं स्वस्वविषयसामर्थ्यरूपमात्मा ददाति, तेन च चक्षुर्मयः श्रोत्रमय इत्यादिसंज्ञो भवति। शयनाभिमुख्ये तु तेन मानसेन विज्ञानेन एव एषां बाह्येन्द्रियाणां शब्दादिविषयकं विज्ञानसामर्थ्यं स्वीकृत्य समादायैव शयनं याति प्राप्नोतीति॥१५९॥

विज्ञानेति। तदा तस्मिन्निन्द्रियसामर्थ्योपसंहारकाले केवलं विज्ञानमयशब्दवाच्यो भवति, चक्षुर्मयादिसंज्ञाः परित्यजतीति यावत्। तदा च विविक्तं भोक्तुः शयानस्य स्वरूपं भवतीति भावः। अथ 'हिता नाम' इत्यादि 'तासु तदा भवति' (कौ.४.१९) इत्यन्तं[1] वाक्यं शाखान्तरवाक्योपसंहारपूर्वकं व्याकरोति– अयमित्यादिना। अयं विज्ञानमयो भोक्ता अत्र स्वप्नसंज्ञप्रथमशयने नाडीषु हितासंज्ञासु शेते शयनं करोति प्रकृतश्रुत्यनुसारात्। हृदये वा 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते' (बृ.२.१.१७) इति वाजसनेयकेऽजातशत्रुब्राह्मणगतश्रुत्यन्तरात्। तत्र आकाशस्य परमात्मलक्षणस्य द्वितीयशयनाधारताया वक्ष्यमाणत्वेन हृदयं स्वप्नाधार इति भावः। पुरीतति वा; 'ताभिः प्रत्यवसृत्य पुरीतति शेते' (बृ.२.१.१९) इति तत्रत्यश्रुत्यन्तरात्। एतेषां प्रासादे शेते पर्यङ्के शेत इति न्यायेन समुच्चय एव। वा-शब्दस्तु नानाशाखावाक्यानुसाराभिप्रायक इत्याकरेषु विस्तरः॥१६०॥

तत्र हृदयपदार्थमाह– प्राणिनामिति। उदरं च उरश्च ते सच्छिद्रे भवतः। तयोः उदरोरसोः सन्धिदेशे यत् पद्मम् मांसमयमन्यत्र प्रसिद्धं तद् हृदयं नाम तस्य च हृदयसंज्ञकचित्तस्य मुख्यायतनत्वात्। चित्तस्यैव मुख्यहृदयपदवाच्यता तु 'हृद्ययम्' (८.३.३) इति च्छान्दोग्य आत्मोपलब्धिसाधनत्वस्य प्रवृत्तिनिमित्ततयाऽभिधानादिति भावः॥१६१॥

'हे बालाकि! पुरुष का शयन हमेशा दो तरह का होता है। (जाग्रत्काल में तो मन में अभिव्यक्त अभिमानरूप विज्ञान द्वारा इंद्रियों को अपने विषय प्रकाशित करने की सामर्थ्यरूप विज्ञान देकर आत्मा चक्षुर्मय, श्रोत्रमय आदि बनता है किन्तु जब सोने लगता है तब) उस मनोभिव्यक्त विज्ञान द्वारा ही इन बाह्येन्द्रियों के शब्दादिविषयक विज्ञान को ग्रहण कर नींद की स्थिति प्राप्त करता है॥१५९॥ यों इंद्रियों की विषयप्रकाशन-सामर्थ्य को जब उपसंहृत किये होता है तब यह चक्षुर्मय आदि न कहा जाकर केवल विज्ञानमय कहाता है। इस शयन को स्वप्न कहते हैं और इस शयन के समय यह भोक्ता नाडियों में, हृदय में और पुरीतत् में सोता है॥१६०॥ सभी प्राणियों के शरीर में उदर और छाती छिद्रयुक्त हैं। उदर और छाती का जो संधिस्थान है वहाँ नीचे को मुँह किया एक पद्माकार मांसखण्ड है जिसे यहाँ हृदय कहा जा रहा है। चित्त के रहने का मुख्य स्थान वही है॥१६१॥ इस हृदय के चारों ओर इसे लपेटे रखने वाला गोल आकार का चमड़ा है जिसे 'अन्त्र' कहते हैं, वही पुरीतत् है। हृदय से वह बड़ा है और कृमियों के समूह के समान प्रतीत होता है॥१६२॥ किसी का

---

१. 'हिता नाम हृदयस्य नाड्यो हृदयात् पुरीततमभिप्रतन्वन्ति तद्यथा सहस्रधा केशो विपाटितः तावदण्व्यः पिङ्गलस्याणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य कृष्णस्य पीतस्य लोहितस्येति तासु तदा भवति' इति।

केशः सहस्रधा भिन्नो यावान् भवति मानतः। मानेन तावता नाड्यो हृदये सन्त्यनेकशः॥१६४॥
प्रथमग्रन्थितो यद्वज्जाले सूत्राण्यनेकशः। निर्गच्छन्ति तथा नाड्यो हृदयादिह निर्गताः॥१६५॥
हृदयद्रुमतः पूर्वं शतमेकाधिकं बहिः। निर्गतं कन्दसदृशं[1] नाडीनां मूलकारणम्॥१६६॥
एकैकस्मिन् हि नाडीनां स्कन्धे स्कन्धे शतं शतम्। प्रौढशाखात्मकं जातं नाडीनां दिव्यवर्चसाम्॥१६७॥
प्रौढशाखात्मके तस्मिन्नेकैकस्मिन्नलौकिके। द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीशाखाः प्रजज्ञिरे॥१६८॥
पिङ्गलेन रसेनैव पूर्णाः काश्चिद्धि नाडिकाः। शुक्लेन काश्चिदपराः कृष्णेनैव प्रपूरिताः॥
पीतेन काश्चिदन्यास्तु लोहितेन रसेन हि॥१६९॥
रसानां सूक्ष्मतादृष्ट्या मुह्यतीव मनो मम। आसामन्तश्चरन्त्येते तस्मात्तेषु हि का भवेत्॥१७०॥

पुरीततो लक्षणमाह– परित इति। अस्य उक्तलक्षणस्य हृदयस्य परितः समन्ताद् यद् वेष्टनचर्म; कीदृशम्? कृमिराशिनिभं गोलकाकारमन्त्रसंज्ञं च, तत् पुरीतदिति उच्यते॥१६२॥ उदरस्येति। तत् सवेष्टनं हृदयं हि यत उदरस्य विभेदे विदारणे सति स्वयं द्रष्टुं शक्यम् अत एव स्वकीयमांसमयनेत्रेण आत्मनो हृदयं न द्रष्टुं शक्यं किन्तु परस्यैव मांसमयनेत्रेण द्रष्टुं शक्यमिति॥१६३॥

अथ नाडीर्वर्णयति– केश इत्याद्यष्टभिः। भिन्नो विभक्तः। स मानतो मानेन यावान् भवति तावता मानेन परिच्छिन्ना अनेकशो नाड्यः सन्तीति॥१६४॥ तत्र दृष्टान्तः- प्रथमेति। स्पष्टम्॥१६५॥

'एतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि' (प्र.३.६) इति प्रश्नवाक्यानुसारेण नाडीसंख्यामाह– हृदयेति त्रिभिः। पूर्वं प्रथमं हृदयद्रुमाद् एकाधिकं नाडीशतं निर्गतम् उदितम्। कीदृशं नाडीशतम्? स्कन्धसदृशम् यत इतरनाडीनां मूलभूतं कारणमिति॥१६६॥ एकैकस्मिन्निति। एकैकस्मिन् उक्तनाडीशतान्यतमरूपे स्कन्धे स्कन्धे प्रौढशाखानिभं नाडीनां शतं शतं जातम् इति। कीदृशीनां नाडीनाम्? दिव्यवर्चसाम् अलौकिकानाम्॥१६७॥ प्रौढेति। तस्मिन् स्कन्धजातत्तयोक्ते प्रौढशाखारूप एकैकस्मिन् द्व्यधिकसप्ततिसहस्राणि नाडीरूपाः स्वल्पशाखा जाताः। सङ्कलने सङ्ख्यास्वरूपन्तु द्वासप्ततिकोटयो द्वासप्ततिलक्षाणि दशसहस्रं च शतद्वयं चैका च भवति– इति प्रश्नभाष्यटीकोक्तं बोध्यम्॥१६८॥

उदरसमीपवर्ति वह शरीरभाग काटने पर अपने मांसमय नेत्र से ही वह पुरीतत् समेत हृदय देखा जा सकता है, हाँ अपना हृदय स्वयं तो नहीं देख सकते!॥१६३॥ एक केश के हज़ार टुकड़े करें तो जितना सूक्ष्म हिस्सा होगा उतनी सूक्ष्म अनेकों नाडियाँ हृदय में हैं। जैसे जाल में पहली गाँठ से अनेकों की तादाद में धागे निकलते हैं ऐसे शरीर में हृदय से नाडियाँ निकली हैं॥१६४॥

पहले हृदयरूप वृक्ष से एक सौ एक नाडियाँ बाहर निकली हैं जो पेड़ के तने की तरह हैं व अन्य नाडियों का कारण हैं, मूल हैं॥१६६॥ स्कन्धसदृश उक्त हर नाडी से प्रौढ शाखा की तरह दिव्य-दीप्ति वाली सौ-सौ नाडियाँ निकली हैं॥१६७॥ प्रौढशाखारूप उक्त उस प्रत्येक नाडी से बहत्तर हज़ार नाडियाँ उत्पन्न हुई हैं॥१६८॥ कुछ नाडियाँ अन्न के विकारभूत पिंगल रंग के रस से भरी हैं, कुछ सफेद रस से, कुछ काले से, कुछ अन्य पीले से तथा कुछ लाल रस से भरी हैं॥१६९॥ रसों की सूक्ष्मता का विचार करने पर तो मन मानो व्याकुल हो जाता है क्योंकि सूक्ष्मतम नाडियों के भीतर बहने वाले रस की सूक्ष्मता क्या कही जाये!?॥१७०॥ हृदय से निकली ये नाडियाँ पैर से सिर तक पूरे देह में व्याप्त हैं जैसे

---

१. स्कन्धसदृशमिति टीकापाठः। उत्तरश्लोकानुसारी च।

हृदयाद् निर्गता एता व्याप्य तिष्ठन्ति सर्वतः। आपादमस्तकं देहं यथा पर्णं हि शङ्कवः॥१७१॥
इन्द्रियाणि गृहीत्वान्तस्ततो याति यदा मनः।

बृहदारण्यवाक्योपसंहारः

कर्मपाशनिबद्धं सद् वासनाकोटिवासितम्। कर्मकर्तृविभेदेन स्थितं पुरुषवीक्षितम्॥१७२॥

तदा शयानः पुरुषः पूर्वदृष्टसरूपकान्। मायाबलेन निखिलानिह लोकान् विलोकयेत्॥१७३॥

भिक्षुकोऽपि महाराजो भवतीह कदाचन। पुल्कसोऽपि कदाचित्तु महाविप्रो भवेदयम्॥१७४॥

ब्रह्माऽपि स्थावरः क्वाऽपि विट्चरो वा कृमिर्भवेत्। स्थावरो वा कृमिर्वाऽपि क्वचिद्भूयात् पितामहः॥१७५॥

एवमुच्चावचं देहं स्वप्ने प्राप्नोति देहभाक्। तत्तत्कर्मानुसारेण मायया परिमोहितः॥१७६॥

प्रकृतवाक्यमादत्ते– पिङ्गलेनेति। 'पिङ्गलः कपिलेऽन्यवद्' इति विश्वः। रसेन अन्नस्येति शेषः। पीतेनेति। स्फुटमन्यत्॥१६९॥ रसानामिति। रसानां सूक्ष्मतामालोच्य मे मनो मुह्यति व्याकुलीभवति यत एते रसाः तासां सूक्ष्मतमनाडीनाम् अन्तः चरन्ति तस्मात्तेषु रसेषु का कीदृशी सूक्ष्मता भवेद् इति॥१७०॥

हृदयादिति। एता नाड्यो हृदयाद् निर्गत्य देहमापादमस्तकं व्याप्य तिष्ठन्ति। कथम्? यथा पर्णं प्रत्येकं व्याप्य शङ्कवो वृन्तरूपाः तिष्ठन्ति तथेति॥१७१॥

'तानि यदे' त्यादि 'इत्युच्चावचं निगच्छति' इत्यन्तवाक्यानि[१] 'मनो गृहीतम्' इत्यंशस्य व्याख्यास्यमानत्वेन तद्भिन्नानि बृहदारण्यकचतुर्थस्य प्रथमब्राह्मणगतानि अर्थतः संगृह्णाति– इन्द्रियाणीति पञ्चभिः। इन्द्रियाणि घ्राणादीनि गृहीत्वा उपसंहृत्य ततः – सार्वविभक्तिकः तसिः– तासां नाडीनाम् अन्तर्यदा मनो याति तदा इत्युत्तरेण सम्बन्धः। मनोविशेषणानि कर्मपाशनिबद्धम् इत्यादीनि। कर्म दृश्यं रथादि, कर्त्ता द्रष्टा, क्रिया च तदाकारवृत्तिरूपा, एतत्त्रिपुटीरूपेण स्थितं पुरुषेण साक्षिणा भासितम्॥१७२॥ तदेति। शयानः पुरुषः विज्ञानमयः लोकान् कर्मफलानि मायया बलेन विलोकयेत् पश्येत्। कीदृशान् लोकान्? पूर्वदृष्टैर्लोकैः सरूपकान् समानरूपान्। एतेन 'ते हास्य लोका' (बृ.२.१.१८) इत्यंशो व्याख्यातः॥१७३॥

पत्तों में वृन्त व्याप्त रहते हैं। [पीपलादि के पत्तों में सूक्ष्म जाल स्पष्ट होता है जो पूरे पत्ते में व्याप्त होता है]'॥१७१॥

कौषीतकी में न कहे पर बृहदारण्यक में कहे वाक्य के अर्थ का भी संग्रह पुराणकार राजा के मुख से करा देते हैं– 'घ्राण आदि इन्द्रियों को उपसंहृत कर मन जब उन नाडियों के भीतर जाता है तब सोये पुरुष को सपना दीखता है। तब भी मन कर्मों के पाश में बँधा ही होता है तथा अनन्त वासनाओं से (संस्कारों से) युक्त रहता है। स्वप्नस्थित रथ, घट आदि कर्म और सारथि, कुम्हार आदि कर्ता तथा क्रिया, सभी विभिन्न आकारों में एक ही मन स्थित हो जाता है तथा साक्षी द्वारा प्रकाशित होता रहता है॥१७२॥ उस समय सोया व्यक्ति अर्थात् विज्ञानमय पुरुष माया की अशक्यप्रदर्शनशक्ति के कारण पहले दीखी वस्तुओं के समान भारी वस्तुयें शरीर के भीतर ही देख लेता है॥१७३॥ भिखारी भी कभी सपने में महाराजा हो जाता है। कभी तो यह पुल्कस (शूद्र पिता व क्षत्रिय माता की संतान) भी सपने में श्रेष्ठ ब्राह्मण हो जाता है॥१७४॥ स्वप्न में यह कभी हिरण्यगर्भ बन जाता है, कभी वृक्ष, कभी सुअर तो कभी कीड़ा। कभी पहाड़ बनता है,

---

१. 'तानि यदा गृह्णाति अथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद् गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग् गृहीतं चक्षुः गृहीतः श्रोत्रं गृहीतं मनः॥१७॥ स यत्रैतत् स्वप्न्यया चरति ते हास्य लोकाः तदुतेव महाराजो भवत्युतेव महाब्राह्मण उतेवोच्चावचं निगच्छति' इति। अत्र महाब्राह्मणपदं न गर्हार्थम्। यद्यपि लोके 'शङ्खे तैले च मांसे च वैद्ये ज्यौतिषिके द्विजे। शयने पथि यात्रायां महच्छब्दो न दीयते॥' इत्याद्युक्तेर्महाब्राह्मणइति श्रेष्ठो ब्राह्मणो नोच्यते तथापि वेदे तथा नियमाभावः। अत एव पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खमित्यादिप्रयोगोप्यार्षत्वाद्व्याख्येयः।

जागरणस्य स्वप्नसाम्यम्

यथा स्वप्नं तथा गार्ग्य विद्धि जागरणं त्विदम्। मायया दृश्यते स्वप्ने तथा जागरणेऽपि च॥१७७॥

अज्ञानं स्वात्मनः स्वप्ने तथा जागरणेऽपि च। दुर्घटं[1] दृश्यते स्वप्ने दृष्टं जागरणे तथा॥१७८॥

जडानामेकरूपत्वे भेदो दीर्घाद्यकारणम्। पार्थिवत्वं यतो दृष्टं धनवस्त्रतृणेष्विह॥१७९॥

करोति विषमं कार्यं करणं नैव दृश्यते। एक एव शयानः सन् स्वप्ने भेदान् प्रपश्यति।।
आनन्दात्मा तथैवैको भेदान् जागरणेऽपि च॥१८०॥

कथम्– इत्याकाङ्क्षायामाह– भिक्षुक इति। श्रुतौ उत-पदम् अप्यर्थकम्; इव-पदं च मिथ्यात्वसूचकमिति बोध्यम्। ब्राह्मणशब्दात् पूर्वस्य महाशब्दस्य लोके गर्हितत्वेऽपि छन्दसि बाहुलकाद् न तथात्वमिति च॥१७४॥ ब्रह्मेति। ब्रह्मा हिरण्यगर्भः, स्ववृत्त्येति शेषः। विट्चरो ग्रामसूकरः॥१७५॥ एवमिति। स्पष्टम्॥१७६॥

एतत्प्रकरणस्य आत्मनः परिशुद्धत्वबोधने तात्पर्याद् मिथ्याभूतस्वप्नसाम्यं जागरणस्य दर्शयति– यथेति चतुर्भिः। मायामयदर्शनं स्वप्नेन समं जागरण इत्युत्तरार्द्धार्थः॥१७७॥

आत्मतत्त्वाऽज्ञानं दुर्घटदर्शनं च सममित्याह– अज्ञानमिति। स्फुटम्॥१७८॥

ननु स्वप्नपदार्थेभ्यो जाग्रत्पदार्थानां दीर्घत्वादिलक्षणो[2] भेदोऽपि दृश्यते? अत आह– जडानामिति। जडानां पृथिवीत्वाद्यवान्तरसामान्यरूपेण सत्तारूपमहासामान्यरूपेण च एकरूपत्वे सति दीर्घादि भावप्रधानो निर्देशः दीर्घत्वादिलक्षणो भेदः अकारणं वस्तुनो भेदनेऽप्रयोजकः। विशेषाणां सामान्ये कल्पितत्वेन मृगतृष्णानदीवद् धर्मिसंस्पर्शाभावादिति भावः। 'वाचारम्भणम्' (छां.६.१.४) इत्यादिश्रुतिरप्यत्रानुकूलेति। एतेन तदुपाधिक आत्मभेदः प्रत्युक्तः। एकरूपतामभिनयति– पार्थिवत्वमिति॥१७९॥

विषमकार्यकरणत्वं, विचाराऽसहोपकरणकत्वं च स्वप्नेन सममित्याह– करोतीति। यथाऽमृतमयश्चन्द्रो विरहिणस्तापयति इत्याद्युदाहरणं बोध्यम्। वस्तुत एकस्यानेकदर्शित्वं सममित्याह– एक इति॥१८०॥

कभी कीट और कभी विराट् बन जाता है॥१७५॥ देहधारी सपने में इस तरह उस-उस समय फलोन्मुख होने वाले कर्मों के अनुसार ऊँचे-नीचे शरीर पाता है क्योंकि माया से मोहित है॥१७६॥

हे गार्ग्य! जैसा स्वप्न सर्वथा मिथ्या है, ऐसा ही तो यह जागरण भी है, यह निश्चय रखो। सपने में सारा संसार माया से ही दीखता है, ऐसे ही जाग्रत् में भी माया से ही दीखता है॥१७७॥ अपने स्वरूप का अज्ञान जैसे स्वप्न में है वैसे जागरण में है। सपने में जिस तरह असंभव भी होता हुआ दीखता है उसी तरह जाग्रत् में भी असंभव काम होते हुए दीख रहे हैं॥१७८॥ जड वस्तुओं की मिथ्यात्वेन एकरूपता है जिसमें वस्तु के अधिक या कम काल रहने से कोई अंतर नहीं आता। यह इसलिये निश्चित है क्योंकि धन, कपड़ा, तिनका आदि में पार्थिवता एक-सी देखी जाती है'॥१७९॥ राजा का अभिप्राय है कि स्वाप्न वस्तुओं की स्वल्पकालिकता से वे मिथ्या भले ही हों बाप दादों के काल से होने वाले और जल्दी नष्ट होते न लगने वाले पहाड़ आदि मिथ्या कैसे? यह प्रश्न बालाकि को विचलित न करे क्योंकि लोक में यह निर्णीत है कि जिस रूप से समानता होती है उससे विपरीत रूप होने पर ही वह समानता नहीं रहती, केवल रूपान्तर होने पर

---

१. स्वात्मनोऽज्ञानं दुर्घटमपि स्वप्ने दृश्यतेऽतएव ब्राह्मणआत्मनो ब्राह्मणत्वस्याज्ञानादेव ब्राह्मणोऽहम् इत्यजानन्नेव स्वं पुल्कसं पश्यति। एतेन ज्ञानरूपे ब्रह्मणि स्वस्याज्ञानमसमंजसमिति शङ्का निराकृता। न च जागरपुरुषस्य बोधाय विशेषज्ञानस्यावश्यकतया तदानीन्तस्य अभावात्तज्ज्ञानाभावोपपादनं क्षेमाय, परमात्मस्थलेऽपि तुल्यत्वादिति दिक्।

२. दीर्घत्वं कालकृतमपि बोध्यमेवं ह्रस्वत्वमपि।

शयनकर्तुर्वर्णनम्

प्राणादन्यो मया भोक्ता स्वप्नेऽस्मिन् कथितः स्फुटः। यतः प्राणः पुरो रक्षां कुरुते राजभृत्यवत्॥
तस्यान्तर्यामी भोक्तान्यो महाराजसमो महान्॥१८१॥

यथा जनपदाध्यक्षो महाराजः कुतश्चन। सर्वैर्जानपदैः सार्धं स्वदेशे सर्वतो व्रजेत्॥१८२॥

इन्द्रियाणि समादाय समनस्कः कलेवरे[1]। एवमेवाऽत्र भोक्ताऽपि व्रजत्येष यदृच्छया॥१८३॥

शयनकर्तुर्विज्ञानमयस्य अत्रावस्थायां स्पष्टतामभिनयति— प्राणादिति। पुरः स्थूलशरीररूपपुरस्य। तस्य प्राणरूप-भृत्यस्य। अन्तर्यामी अन्तस्थः सन् प्रेरकः। भोक्ता ततः प्राणाद् अन्यो महाराजवद् महान् भासत इति शेषः॥१८१॥

तत्र दृष्टान्तपरं बृहदारण्यकचतुर्थाध्याय-प्रथमब्राह्मणवाक्यं 'स यथा महाराज' (बृ.२.१.१८) इत्यादिकं[2] व्याकरोति— यथेति द्वाभ्याम्। यथा देशाधिपतिः महाराजः कुतश्चित् कुतुकादिनिमित्ताद् एकं भृत्यं पुररक्षायां संस्थाप्य स्वदेशे जनपदनिवासिभिः सह भ्रमेत्॥१८२॥ इन्द्रियाणीति। एवं भोक्ताऽपि इन्द्रियाणि गृहीत्वा समनस्कः कलेवरे यदृच्छया यथेच्छं व्रजति परिवर्तते, नानाविषयदर्शनलक्षणं भ्रमणं करोतीत्यर्थः॥१८३॥

समानता नहीं हटती। उदाहरणार्थ घड़ा, कुल्हड़, सिकोरा आदि मिट्टीरूप से समान हैं। हालाकि घड़ारूप से घड़ा व कुल्हड़ समान नहीं, फिर भी मिट्टीरूप से समान हैं क्योंकि घड़ारूप और कुल्हड़रूप मिट्टीरूप का विरोधी नहीं है। आगे घड़ा और बर्फ मिट्टीरूप से समान नहीं क्योंकि बर्फरूप मिट्टीरूप का विरोधी है, कारण कि जो निश्चितरूप से मिट्टी न हो ऐसा जल ही बर्फ होता है। किंतु महाभूतरूप से घड़ा और बर्फ समान है ही। प्रकृत में सपने और जाग्रत् की समानता मिथ्यारूप से कही जा रही है। अतः इसके अविरोधी रूपभेदों से यह समानता निवृत्त नहीं होती। इसीलिये चतुरायी करने की कोशिशवाले कुछ तथाकथित विचारक स्वप्न का मिथ्यात्व स्वीकारते नहीं। यदि कहीं कुछ भी मिथ्या स्वीकार लें तो उस समानता को नकारने का मौका खो देंगे। परन्तु उनकी मान्यता सर्वानुभव से बाधित है, स्वयं वे भी भ्रमसिद्ध वस्तुओं को पारमार्थिक मानकर लोक में व अपने शास्त्र में व्यवहार नहीं करते, अतः ऐसा प्रयास केवल उनकी धूर्तता है, प्रवंचना है। इससे अर्थक्रियाकारित्व आदि स्वभाववैभिन्र्य, प्रमाता अबधित रहते बाध्यतादि भेद, वेदोक्त उत्पत्तिमत्त्व आदि अन्तर, इत्यादि से प्रपंच को गैर-मिथ्या सिद्ध करने वालों का भी निराकरण हो गया।

'सपने की तरह जाग्रत् में भी विज्ञानमय विषम कार्य कर लेता है तथा उसी तरह बहुतेरे ऐसे कार्य हो जाते हैं जिनके कोई समुचित कारण उपलब्ध होते नहीं। जैसे अकेले ही सोया व्यक्ति सपने में विविध भेद देखता है, ऐसे ही आनंदरूप आत्मा अकेला ही है पर जाग्रत् में अनेक भेद देख रहा है॥१८०॥

इस स्वप्नावस्था में जो भोक्ता है वह प्राण से अन्य है यह मैंने तुम्हे स्पष्ट रूप से समझाया है। स्थूलशरीर की रक्षा करते हुए प्राण तो जगा हुआ ही रहता है, अतः वह स्वप्न का भोक्ता हो नहीं सकता जैसे राजा का नौकर दरवाजे पर खड़ा पहरा देता है और भीतर उसका मालिक राजा भोग किया करता है, ऐसे ही जो अंदर अर्थात् प्रत्यक् रहते हुए प्राण का भी शासन करने वाला विज्ञानात्मा है वह प्राण से अन्य है, उससे महान् है और महाराजा के समान वही भोक्ता है॥१८१॥ जैसे कोई देशाधिपति महाराजा कुछेक पहरेदारों को नगररक्षा के लिये छोड़कर सभी नागरिकों के साथ अपने देश में हर ओर भ्रमण करे, ऐसे यह भोक्ता भी प्राण को शरीररक्षा के लिये छोड़कर इन्द्रियों व मन को अपने साथ ले शरीर में ही यथेच्छ भ्रमण करता है, नाना विषयों का अनुभव करता है॥१८२-१८३॥

---

१. कलेवर एवेत्यर्थो, न ततो बहिर्यातीति भावः।

२. 'स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेत एवमेवैष एतत् प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते'॥१८॥ इति।

सुषुप्तिवर्णनम्

यदा च तन्मनो वश्यं विज्ञानमयशब्दकृत्। विलीयते तदा देवो द्वितीयं शयनं व्रजेत्॥१८४॥

नाडीभिरुक्तरूपाभिः पुरीतद्वेष्टितं महद्। हृदयाम्बुजमध्यस्थमात्माकाशं व्रजत्यसौ॥१८५॥

सेन्द्रियं च मनो ह्यत्र लीयते शयने सदा। यथा विलीयते नीरे सामुद्रे लवणं घनम्॥१८६॥

चित्रं यथा विलीयेत पटे सङ्कोचमागते। एवमेव विलीनं तद् मनश्चित्रमिहात्मनि॥१८७॥

अथ प्रायो[1] वाजसनेयकगतसुषुप्तिपरवाक्यानामर्थं संगृह्णन् 'शयानं शयनम्' (३.१५६) इत्यत्र शयनपदेन विवक्षितां सुषुप्तिं स्वप्नापेक्षया द्वितीयशयनत्वेनाह— यदा चेत्यादिना। यदा च तद् मनः विलीयते कारणाज्ञानोपाधौ विलयं क्षयं गच्छति तदा देवः उपाधिपरिच्छिन्न आत्मा द्वितीयं शयनं परिपूर्णतालक्षणं व्रजेत्। कीदृशं मनः? विज्ञानमयशब्दप्रवृत्तेः कारणम्। पुनः कीदृशम्? अन्तर्यामिणोऽधीनम्। अवश्यम् इति च्छेदे विज्ञानमयस्यानधीनमित्यर्थः॥१८४॥

तदाधारमाह द्वाभ्याम्— नाडीभिरिति। उक्तरूपाभिः नाडीभिः द्वारभूताभिः पुरीतद्वेष्टितं हृदयाम्बुजमध्यस्थं च आत्मरूपाकाशम् असौ विज्ञानमयः व्रजति उपाधिकृतपरिच्छेदं विहाय परिपूर्णभावं व्रजति। आत्माकाशस्य हृदयादिवेष्टनप्रयुक्ता परिच्छिन्नता नेति सूचनाय तद्विशिनष्टि— महदिति। 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश' (८.१.३) इत्यादिच्छान्दोग्यश्रुतेः। तथा चात्मैव विज्ञानमयस्य शयनाधार इति भावः॥१८५॥ मनआदिजडवर्गलयाधारोप्ययमेवात्मा अज्ञानविशिष्ट इत्याह— सेन्द्रियमिति। अत्र आत्माकाशे। शयने सुषुप्तिकाले। कार्यस्य कारणे लये दृष्टान्तः— यथेति। समुद्रजलमेव घनीभूतं लवणमासीत् तद् यथा पुनर्नीरं भवेत् तद्वदिति॥१८६॥

चित्तलयेन तत्कार्यप्रलये दृष्टान्तः—चित्रमिति। मनसा निर्मितं चित्रं सकार्येन्द्रियरूपं मनश्चित्रम् इह उक्तं॥१८७॥

जिसके कारण आत्मा विज्ञानमय कहा जाता है वह मन, जो अन्तर्यामी के अधीन है, जब अपने कारणभूत अज्ञान में विलीन हो जाता है तब उपाधिपरिच्छिन्न यह आत्मा दूसरे शयन अर्थात् सुषुप्ति को प्राप्त होता है॥१८४॥ उक्त रूपों वाली नाडियों द्वारा वह विज्ञानमय उस आत्मरूप आकाश में पहुँचता है जो हृदय कमल के मध्य है अतः पुरीतत् से घिरा है पर फिर भी महान् है, व्यापक है। सुषुप्ति में हमेशा ही इंद्रियों समेत मन भी आत्माकाश में विलीन हो जाता है जैसे नमक की डली समुद्र के जल में विलीन हो जाती है'॥१८५-१८६॥

नाडियों द्वारा हृदय तक जाता लिंगदेह है अतः तदुपाधिक विज्ञानमय का जाना भी संगत है। वहाँ पहुँचकर मन समेत लिंग देह (प्राण को छोड़कर क्योंकि वे तो बाहर शरीर में छोड़े जा चुके हैं) विलीन हो जाता है अतः उपाधि न रह जाने से परिच्छिन्नभाव निवृत्त होकर स्वाभाविक परिपूर्णता आत्मा की हो जाती है। सुषुप्ति में भी आत्मा को अज्ञान बना ही रहता है अतः अज्ञानविशिष्ट होने से वही आत्मा जड मनआदि का लयस्थान भी है और विज्ञानमय कहलाने वाले भोक्ता को भी अपने से एक-मेक कर लेता है। आकाशपद से भूताकाशादि भ्रम न हो इसलिये 'महान्' विशेषण दिया है। एवं च पुरीतत् और हृदय से परिच्छिन्न रूप से बताया होने पर भी यहाँ उनसे अपरिच्छिन्न अज्ञानोपाधिक आत्मा विवक्षित है यह स्पष्ट हो गया। उनसे परिच्छिन्नतया कहना इसे स्पष्ट करने के लिये है कि वह अज्ञानोपाधिक उससे भिन्न नहीं जो इनसे परिच्छिन्न है। अविद्यामात्र उपाधि रहने पर भी आवरणवशात् ईश्वरभाव नहीं है फिर भी उपाधि वही है जो ईश्वर की भी है इसलिये कहीं तब ईश्वर-भाव कह भी दिया जाता है। समुद्र का जल ही घनीभूत होकर नमक बनता है अतः नमक उसमें पड़कर

---

१. 'अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमाभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वा एवमेवैष एतच्छेते॥१९॥' इति। तत्रैव चतुर्थतृतीयेऽपि जनकाय याज्ञवल्क्योऽवस्था उपदिदेश।

पान्थः कामी परिष्वक्तः प्रियया द्व्यष्टवर्षया। माघे सौधान्तरे सुप्तो यथा वेत्ति न किञ्चन॥१८८॥

आनन्दपरिपूर्णः सन् सुरतस्यान्तकर्मणि। आत्मानं च प्रियां चैव पश्यन्नेव[1] न पश्यति॥१८९॥

एवमानन्दभुग् देव आत्मन्याकाशशब्दिते। आगत्य च न वेत्त्येष मायामप्यात्मनि स्थिताम्॥१९०॥

ननु कथं सुषुप्तेऽद्वितीयता, अज्ञानस्य अवशेषादिति चेत्? सत्यं, तथापि तस्य स्फुटतया भानाभावाद-सत्प्रायत्वमित्यभिप्रायेण 'तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' (बृ.४.३.२१) इत्यादिवाक्यार्थमाह-पान्थ इति चतुर्भिः। पान्थः प्रवासाद् गृहमागतः। परिष्वक्त आलिङ्गितः। द्व्यष्ट षोडश। माघे मासे। सौधान्तरे हर्म्यान्तरे॥१८८॥

आनन्देति। स्पष्टम्॥१८९॥ एवमिति। आनन्दभुक् चैतन्यदीप्ताभिरज्ञानवृत्तिभिरानन्दानुभविता देवो विज्ञानमय आकाशशब्दित आत्मनि आगत्य तादात्म्यं लब्ध्वा आत्मनि स्वस्मिन् स्थितामपि मायां न वेत्ति इति॥१९०॥

फिर समुद्र का जल बन जाता है। जलमात्र नमक नहीं है अतः 'सामुद्र' कहना संगत है। यह शंका नहीं करनी चाहिये कि सामुद्र जल में भी नमक मिला हुआ ही है और जल सूखने पर केवल नमक बचता है, जल नमक नहीं बनता। इसी शंका के निवारणार्थ 'घनम्' या 'डली' पद रखा है। डली को सजल नमक ही स्वीकारना पड़ेगा। सूक्ष्मेक्षिका से दृष्टांत को समझने का आग्रह हो तो दार्ष्टांत में भी सूक्ष्मेक्षिका ही करनी चाहिये। तब तो अज्ञानांश ही उपाधि का कारण है और उसी में विलय है तथा जैसे डली बनने के लिये अकेला लवण समर्थ नहीं, जलसंबंध से ही वह वैसा होता है ऐसे ही अकेला अज्ञान उपाधि का कारण नहीं बन सकता, चेतनाधिष्ठित होकर ही बनता है। इस प्रकार यथोक्त ही संगत है।

चित्त के विलय से उसके कार्यों का भी विलय हो जाता है इसे राजा उदाहरण से बताता है– 'चित्राधारभूत कपड़े को समेट देने पर जैसे चित्र विलीन हो जाता है, इसी तरह कार्यों सहित इन्द्रियाँ रूप मनःकल्पित चित्र अज्ञानोपाधि आत्मा में विलीन हो जाता है॥१८७॥ इस तरह स्पष्ट किया कि विज्ञानमय के शयन का आधार और मन आदि जडसमूह के लय का आधार आत्मा ही है।

आचार्य श्रीशंकरानन्द की गुणोपसंहारन्याय का प्रयोग करने की कुशलता का उल्लेख पहले भी किया जा चुका है। इस प्रसंग में भी वे केवल अजातशत्रु-विद्या के प्रसंग के वर्णन में ही सीमित नहीं। इस विषय की पूर्णता के लिये अन्यत्र कहे श्रौत वाक्यों का भी संग्रह कर रहे हैं। बृहदारण्यक में जनक-याज्ञवल्क्यसंवाद में (४.३) जनक ने भी पूछा है 'आत्मा कौन है?' और याज्ञवल्क्य ने भी विज्ञानमय से ही प्रबोधन प्रारंभ किया है। वहाँ भी आत्मा के दो स्थान और तीसरा स्वप्नस्थान बताये हैं। स्वप्न में स्वप्रकाशत्व को स्फुट किया है तथा स्वाप्न दृश्यों की मिथ्या सृष्टि बतायी है। प्राण को रक्षकरूप से समझाया है जो सुप्त पुरुष के शरीर की रक्षा करता है। स्वप्न में उच्चावच रूपों की प्राप्ति बतायी है। पाप-पुण्य से अननुगत असंग पुरुष को महामत्स्य की तरह जाग्रत्-स्वप्नरूप दोनों किनारों पर संचरण करता वर्णित किया है। थका पक्षी जैसे पंख पसार लेता है तो आकाश में ही आराम कर लेता है, गिरता नहीं, ऐसे ही आत्मा सुषुप्ति में जाता है। जाते हुए कदाचित् नाडियों में रहते हुए सपने देख लेता है। फिर गहरी नींद में पहुँचता है जहाँ भीतर-बाहर का इसे कोई भान नहीं रहता, परमानंद ही रहता है। भेद होने पर ही विषयज्ञान होते हैं पर आत्मप्रकाश तो नित्य अविलुप्त है। वही आनंद की चरम सीमा है। इस प्रसंग के भी आवश्यक विषय यहाँ पुराण में संगृहीत हैं।

सुषुप्ति में अज्ञान रहने पर भी उसका स्फुट भान न होने से तब अद्वैत ही होता है ऐसा कहा जाता है, यह बात राजा

---

१. श्रुतौ यद्यपि न वेदेत्येवोक्तं तथापि सुखमस्वाप्सं नावेदिषमिति स्मृत्यन्यथानुपपत्त्या स्वीक्रियमाणोऽनुभवोपि दर्शनीय इति कृत्वेह पश्यन्नेवेति कथितम्। दृष्टान्तेऽपि कालान्तरे स्मरत्येव कामुकः प्रियाक्रीडामात्मनश्च सुखमिति। तत्कालं तु सुखविशेषस्य अतिशयवशादेकाग्रीभूयान्यत्किमपि स्फुटं न जानाति, अस्फुटं तु जानीत एव अन्यथा स्मरणासम्भवादिति द्रष्टव्यम्।

कुतः स्वप्नादिकं तस्याः कार्यं लीनस्वरूपकम्। अन्यत् किञ्चिद् विजानीयात् परिष्वक्तस्तथा पुमान्॥१९१॥

सुषुप्तौ दृष्टान्तत्रयविस्तरः

स्तनन्धयो यथा मात्रा पायितः स्तनमागलम्। यूकादिरहिते तद्वच्छायितश्च मृदौ शुचौ॥१९२॥

आसने परमानन्दं प्राप्य वेत्ति न किञ्चन्। पश्यन्नपि समीपस्थान्न पश्यति हसन् हि सः॥१९३॥

एवमस्मिन् हि शयने भोक्ता तृप्तो गतार्तिकः। मायामिमां हि सम्पश्यन् न पश्यति कदाचन॥१९४॥

उदयास्तमयौ यावत्तावदाप्त इमां भुवम्। वित्तैर्बहुविधैः पूर्णामसपत्नां दृढो युवा॥१९५॥

नीरोगो बलसम्पन्नो रूपलावण्यसंयुतः। कीर्तिमान् धर्मसम्पन्नो वेदवेदाङ्गपारगः॥१९६॥

मनोऽनुकूलललनायूथेन परिसेवितः। तूर्यवादित्रघोषेण गीतेन मधुरेण च॥१९७॥

जयाशीर्भिर्द्विजेन्द्राणां तथा चारणबन्दिनाम्। स्वसमानगुणैः पुत्रैः पितृभक्तिपरैरपि॥१९८॥

एवं सर्वगुणोपेतो महाराजो यथासुखम्। प्राप्नुयाद् भोगसम्प्राप्त्या सुषुप्तोऽपि तथा पुमान्॥१९९॥

मायाया एव स्फुटतया दर्शनाभावे तत्कार्यदर्शनाभावः कैमुत्यन्यायसिद्ध इत्याह—कुत इति। तस्या मायायाः। तथा उक्तप्रकारेण परिष्वक्तः श्रुतौ प्राज्ञशब्दितेन परमात्मना तादात्म्यलक्षणमालिङ्गनं गतः॥१९१॥

सुषुप्तिकाले विशेषाभिमानलक्षणदुःखपरिहारेण निरतिशयानन्दप्राप्तौ दृष्टान्तास्त्रयो वाजसनेयक उक्ताः—कुमारः, महाराजः, महाब्राह्मणश्चेति। तत्र कुमारदृष्टान्तं विशदयति— स्तनन्धय इति त्रिभिः। यैर्दोषैर्बालस्य विशेषज्ञानप्रसक्तिः तद्वारकाणि विशेषणानि। स्तनन्धयः स्तन्यमात्रभुग्बालः। मात्रा आगलं गलपर्यन्तं स्तनं पायितः स्तन्यपानं नीतः सन् तथा यूकादिरहिते मृदौ कोमले शुचौ निर्मले च आसने पर्यङ्किकायां शायितश्च सन् यथा परमानन्दं प्राप्य किञ्चन अपि न वेत्ति हि यतः स बालः हसन् हसिन आनन्दं सूचयन् समीपस्थान् पश्यन्नपि न पश्यति इव—इति द्वयोरन्वयः। अत्र परमानन्दपदम् अतिघ्नीपदेन— अतिशयेन दुःखं हन्तीति अर्थकतया आनन्दपरमकाष्ठाभिधायकेन—समानार्थमिति॥१९२-१९३॥

दार्ष्टान्तिकमाह—एवमिति। तृप्त आनन्दपरमकाष्ठां गतः। अत एव गतार्तिकः गतदुःखो भोक्ता विज्ञानमय इमां मायां पश्यन् अपि न पश्यति इति॥१९४॥

सदृष्टांत कहता है– 'शीतकालिक माघमास में दीर्घप्रवास से घर लौटा कामविह्वल पति कमरे के भीतर सोलह वर्षीया अपनी परमप्रिय पत्नी के साथ लेटा हुआ ग्राम्यधर्म की क्रियानिर्वृत्ति के क्षण में आनंद से परिपूर्ण हो और कुछ भी नहीं जानता; स्वयं को व पत्नी को देखते हुए भी नहीं देखता। इसी तरह चैतन्य द्वारा प्रकाशित अज्ञानवृत्तियों से आनंद का अनुभव करता यह विज्ञानमय आकाश-शब्द से कहे आत्मा से तादात्म्य प्राप्त कर अपने में विद्यमान भी माया को (अज्ञान को) नहीं जानता॥१८८-१९०॥ श्रुति में प्रज्ञाशब्द से कहे परमात्मा से तादात्म्यरूप आलिंगन में बँधा विज्ञान-मय पुरुष जब माया को ही नहीं जानता तो उस समय विलीन हुए उसके स्वप्न आदि अन्य कार्यों को कैसे जानेगा?॥१९१॥

बृहदारण्यक में बताया है कि सुषुप्ति में विशेष-अभिमानरूप दुःख निवृत्त होने से निरतिशय सुख स्फुट होता है। इसके लिये वहाँ तीन दृष्टांत दिये हैं : बच्चा, महाराजा और श्रेष्ठ ब्राह्मण। इन्हीं दृष्टांतों का विशेष अभिप्राय स्पष्ट करते हुए अजातशत्रु कहता है– 'जैसे किसी दुधमुँहे बच्चे को माँ दूध पिला कर तृप्त कर दे और जू खटमल आदि से रहित कोमल साफ बिछौने पर लेटा दे, तो वह बच्चा परम सुख पाता है, अन्य कुछ नहीं जानता, समीपस्थ लोगों को देखते हुए भी नहीं देखता व हँसते हुए अपना सुख व्यक्त कर देता है; ऐसे इस सुषुप्ति रूप शयन में विज्ञानमय दुःखरहित हो आनंद की चरमसीमा प्राप्त करता है और इस माया को देखते हुए भी कभी नहीं देखता॥१९२-१९४॥

महाराजो यथा दुःखं न जानातीह किञ्चन। सुषुप्तोऽपि तथा नैतद्वेत्ति विक्षेपशून्यतः॥२००॥

ब्राह्मणोदाहरणे साधनप्रदर्शनम्

इन्द्रियाणि यथा जित्वा बाह्यान्याभ्यन्तराणि च। इच्छामात्रं परित्यज्य प्राप्तं प्राप्तं भजन् सदा॥२०१॥

कर्मणा मनसा वाचा परैरपकृतोऽपि सन्। जानन्नपि च तेभ्यो न द्वेष्टि तेषूपकारकृत्॥२०२॥

आत्मनः प्रतिकूलं यः परस्य कुरुते पुमान्। कर्मणा मनसा वाचा कर्तुरेव भवेद्धि तत्॥२०३॥

इदानीं वाऽपि देहेऽस्मिन् पतिते वा न संशयः। अनुकूलमपि ह्येवमिति बुद्धिं समाश्रितः॥२०४॥

महाराजदृष्टान्तं स्फुटयति– उदयास्तमयाविति षड्भिः। राज्ञोऽपि विशेषणानि यैश्चित्तविक्षेपो भवति तादृशलिप्सादिदोषवारकाणि। दृढः स्थूलो बलवांश्च॥१९५॥ नीरोग इति। लावण्यम् अङ्गेषूज्ज्वलता। कीर्तिमान् धर्मसम्पन्नत्वाद् नरकभयशून्यः। मूर्खतादुःखहीनतामाह–वेदेति॥१९६॥ मनोऽनुकूलेति। मनोऽनुकूलललनायूथेन कर्त्रा तूर्यवादित्रघोषेण मधुरेण गीतेन च करणेन परिसेवितः॥१९७॥ जयेति। द्विजेन्द्राणां तथा चारणबन्दिनां जयाशीर्भिः परिसेवितः। पुत्रैः च परिसेवितः। चारणा बन्दिविशेषाः; बन्दिनस्तु अमलप्रज्ञाः प्रस्तावसदृशोक्तयः॥१९८॥ एवमिति। भोगानां सम्यक्प्राप्त्या॥१९९॥ दुःखज्ञानाभावेनापि महाराजसमतामाह–महाराज इति। स्पष्टम्॥२००॥

महाब्राह्मणदृष्टान्तं प्रपञ्चयति–इन्द्रियाणीति चतुर्दशभिः। ब्राह्मणस्य महत्त्वं यैर्विशेषणैर्भवति तानि दर्शयति–; यथा-शब्दस्य तथेति त्रयोदशगतेन सम्बन्धः। इन्द्रियाणि जित्वा निष्कामः सन् प्राप्तं प्राप्तं प्रारब्धफलं भजन् सेवमानः॥२०१॥

कर्मणेति। कर्मणा शरीरव्यापारेण परैः अपकृतः कृतापराधः सन् तदपकारं जानन्नपि च तेभ्यः अपकारिभ्यः न द्वेष्टि किन्तु तेषु उपकारकृद् एव भवति॥२०२॥

एतादृशो यया बुद्ध्या भवति तामभिनयति– आत्मन इति द्वाभ्याम्। आत्मनो यत् प्रतिकूलं भासते तद् यः परस्य कुरुते कर्मादिभिः, तत् प्रतिकूलं कुर्तुरेव भवति प्राप्नोति॥२०३॥

कदा भवति? इत्याकाङ्क्षायामाह– इदानीमिति। इदानीं जीवद्दशायां वा देहे पतिते परलोके वेत्यर्थः। एवमनुकूलमपि स्वस्मिन् परीक्षितं सत् परस्य कृतं चेदपि[1] कर्तारं भजत इत्येवमाकारां बुद्धिं समाश्रितः॥२०४॥

उदयाचल से अस्ताचल तक की इस समग्र पृथ्वी को जिसने प्राप्त कर लिया हो, और वह भी नाना प्रकार के धनों से भरी हुई तथा जिस पर अपना अधिकार जतलाने वाला और कोई न हो, ऐसा सामर्थ्यशाली, जवान, स्वस्थ, बलवान्, सौंदर्य व कान्ति से युक्त, सुविख्यात, धर्मपालक, वेद-वेदांगों का जानकर, राजा अपने मन को भाने वाली युवतियों के समूह से हर तरह सेवा प्राप्त करता हुआ, तुरही आदि की ध्वनि तथा कर्णप्रिय गीत सुनता हुआ, विप्रवरों के आशीर्वाद पाते हुए, चारणों व बन्दियों द्वारा प्रशंसित होते हुए, अपने समान श्रेष्ठ गुणों से युक्त पितृभक्त पुत्रों से सेवित होते हुए समग्र भोग प्राप्ति से जैसे सुख प्राप्त करता है, सुषुप्त पुरुष भी वैसे ही सुखी रहता है॥१९५-१९९॥ उक्तविधया सभी गुणों से युक्त राजा जैसे किसी दुःख का अनुभव नहीं करता वैसे ही गहरी नींद में गया पुरुष भी किसी दुःख का अनुभव नहीं करता क्योंकि उसे कोई विक्षेप होता नहीं॥२००॥

उत्तम ब्राह्मण के सुख की तरह सौषुप्त सुख है। ऐसा ब्राह्मण महान् कहा जाता है : बाह्य-आन्तर इन्द्रियों को अपने नियंत्रण में रख, निष्काम होकर जो यथालाभ सन्तोष रखे; क्रिया, मन और वाणी द्वारा दूसरों से अपकृत होकर भी और उस अपकार को जानते हुए भी जो अपकार करने वालों से द्वेष न करे, बल्कि उनका उपकार ही करे;॥२०१-२०२॥ जो ऐसा विचार रखे, 'जो पुरुष स्वयं को प्रतिकूल होने वाला आचरण कर्म, मन या वाणी से दूसरे के प्रति करता है उससे

१. चेत्तदपीति स्यात्।

वेदार्थस्य समग्रस्य वेत्ता न परनिन्दकः। स्वदोषदृष्टिः सततं दुष्टसङ्गविवर्जितः॥२०५॥

जडं विनश्वरं तद्वदजडं शाश्वतं पुनः। एवं विवेकसम्पन्न ऊहापोहविशारदः॥२०६॥

अन्नपानानि चित्राणि ललनाश्च मनोरमाः। शब्दादीन् विषयांश्चान्यान् लोकद्वयगतानपि।
छर्दितान्नसमान् पश्यंस्तेषु नेच्छापरः सदा॥२०७॥

सुखदुःखे सुनियते सशरीरस्य देहिनः[1]। इति विज्ञानसम्पन्नो मुमुक्षुर्देहदोषवित्॥२०८॥

सशिखं वपनं कृत्वा परित्यज्यान्यमाश्रमम्। सपरिष्करमादाय तुरीयं मोक्षसाधनम्॥२०९॥

आश्रमं ज्ञानसम्पन्नं गुरुमेत्य विधानतः। वेदवाक्यानि श्रुत्वाऽथ गुरुवक्त्रारविन्दतः॥२१०॥

सार्थानि मनसा तेषामुपपत्तिं विचार्य च। परित्यज्य च पाण्डित्यं तत्त्वमस्यादिबोधने॥२११॥

एकाग्रं मन आपाद्य जडबालपिशाचवत्। अहम्ब्रह्मेतिवाक्यार्थसाक्षात्कृतिमुपेयिवान्॥२१२॥

वेदार्थस्येति। समग्रस्य वेदार्थस्य वेत्ता, परनिन्दकत्वाभाववान्, स्वदोषेषु एव दृष्टिर्यस्य स तथा, कुसङ्गहीनश्चेति॥२०५॥

जडमिति। जडमात्रं विनाशि, अजडम् एव च शाश्वतं नित्यम् एवं नित्यानित्यविवेकवान्। ऊहापोहयोः पूर्वपक्षसिद्धान्ततर्कयोः कुशलः॥२०६॥

अन्नेति। छर्दितं वान्तम्। तेषु विषयेषु। इहामुत्रभोगविरागवानिति यावत्॥२०७॥

सुखेति। सशरीरस्य देहद्वयेन अध्यासलक्षणसम्बन्धशालिनो देहिनः प्राणिमात्रस्य सुखदुःखे नियते अवश्यंभाविनी, 'न ह वै सशरीरस्य' (छां.८.१२.१) इत्यादिश्रुतेः। इति विज्ञानेन देहद्वयात्मकसंसाराद् मुमुक्षुः यतो देहदोषवित्॥२०८॥

मोक्षसाधनं ज्ञानमेव दृष्ट्वा तत्साधनसंन्यासपूर्वकश्रवणादिकर्तेत्याह— सशिखमिति। शास्त्रोक्तविधिना सशिखमुण्डनं कृत्वा अन्यं त्रयाणां वानप्रस्थान्तानामन्यतमम् आश्रमं विहाय, परिष्कैरः दण्डाद्युपकरणैः सहितं तुरीयम् आश्रमं मोक्षसाधनमादाय गृहीत्वा, अथ ब्रह्मनिष्ठं गुरुं विधिवदुपेत्य, अथ तस्य गुरोर्मुखाम्बुजात् सार्थानि वेदवाक्यानि श्रुत्वा, तेषां वाक्यानां स्वार्थपरत्व उपपत्तिं च शारीरके प्रपञ्चितां मनसा विचार्य, एतादृशं श्रवणं सम्पाद्येति यावत्। अथ तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थबोधे पाण्डित्यं श्रवणाभ्यासं परित्यज्य, रागद्वेषराहित्येन जडबालपिशाचवद्भावरूपं मननं संपाद्य, अथ मनस एकाग्रतालक्षणं निदिध्यासनं श्रुतौ मौनशब्दोदितं सम्पाद्य; तथा च श्रुतिः 'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद् बाल्यं पाण्डित्यं निर्विद्याथ मुनिः' (बृ.३.५) इति। तिष्ठासेत् स्थातुमिच्छेत्। अथोक्त-साधनफलभूताम् अहं ब्रह्मेति आकारां वाक्यार्थसाक्षात्कृतिमुपेयिवान् प्राप्तः—इति चतुर्णामर्थः॥२०९-२१२॥

करने वाले को ही प्रतिकूलता की प्राप्ति होती है इसमें संशय नहीं। वह प्राप्ति चाहे इसी शरीर में हो, चाहे परलोक में हो, पर होती उसे ही है। इसी तरह दूसरे के प्रति किया अनुकूल आचरण भी स्वयं को ही अनुकूल फल देता है।';॥२०३-२०४॥ जो उपनिषदर्थ समेत सारे वेद का अर्थ जानता हो; दूसरों की निंदा न करता हो; अपने दोषों पर निगरानी रखता हो; कुसंग से दूर रहता हो;॥२०५॥ 'जैसे सभी जड विनाशी ही हैं ऐसे चेतन शाश्वत ही है' ऐसा विवेक रखता हो; युक्तियुक्त शंकाओं की उद्भावना कर उनके समाधान में कुशल हो;॥२०६॥ जो विविध आहारों व पेयों को, मनोहारिणी रमणियों को, इहलोक व परलोक में विद्यमान् अन्यान्य शब्दादि विषयों को उल्टी किये अन्न के समान समझते हुए कभी उनकी इच्छा में तत्पर न हो;॥२०७॥ 'शरीरधारी देहाभिमानी को सुख-दुःख होना अवश्यंभावी है' ऐसा निश्चय रखता हो; देहद्वयरूप संसार से छूटना चाहता हो; शरीरों के दोषों को याद रखता हो;॥२०८॥ जिसने बाकी आश्रम छोड़ शिखासमेत

---

१. शरीरस्येत्येतावतैव देहित्वस्योक्तत्वाद् देहीति देहाभिमानवानुक्तस्तेन जीन्मुक्तस्य सशरीरत्वेऽपि तदनभिमानान्न सुखादिनियतिः। प्रारब्धभोगमपि बाधितं पश्यतः सुखाद्यप्रसंगादित्यर्थः।

आनन्दात्मसुखं प्राप्तो ब्राह्मणेषु महानयम्। तथा सुषुप्तः पुरुषः सुखमभ्येति नित्यशः॥२१३॥

रागद्वेषादयो दोषाः सर्वानर्थकरा यथा। न विद्यन्ते महाविप्रे सुषुप्तेऽपि तथा न हि॥२१४॥

सुप्ताधारतयाप्रदर्शनाभिप्रायः

शयानस्य तथा सुप्तेः[1] हृदयाकाश एव हि। आश्रयो न परः कश्चिच्छयनं चैतदेव हि॥२१५॥

आनन्दात्मेति। अयम् उक्तविधो ब्राह्मणेषु महान् श्रेष्ठतमः 'मौनं चामौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः' (बृ.३.५) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धत्वात्। पुराणेऽप्युक्तम् 'मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः। न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात्'।( ) इति। स यथा आनन्दसंज्ञं पूर्णात्मसुखं प्राप्तो भवति तथा इत्यादि स्पष्टम्॥२१३॥

रागद्वेषाद्यात्मकानर्थरूपसंसाराभावोऽपि सुषुप्ते महाब्राह्मणे च सम इत्याह—रागेति॥२१४॥

अथ व्याख्यातश्रुतिग्रन्थस्य तात्पर्यार्थं स्पष्टयति— शयानस्येत्यादिषट्चत्वारिंशच्छ्लोकैः। शयानस्य शयनकर्तुः तथा सुप्तेः शयनस्य च आश्रयं आधारो यः प्रथमद्वितीयप्रश्नाभ्यां पृष्टः स हृदयाकाश एव हृदयोपलक्षितः परमात्मरूपाकाश एव, न अन्य इति। शयनस्वरूपमपि एतदेव यद् विज्ञानमयस्य हृदयाकाशभावः, उपाधेश्च हृदयाकाशे लय उक्तः। इति॥२१५॥

शिरोमुण्डन कर दण्डादि उपकरणों का ग्रहण कर मोक्ष के साधनभूत चतुर्थ आश्रम को स्वीकारा हो; संन्यासी होकर विधिवत् ब्रह्मनिष्ठ गुरु के निकट जाकर गुरु के मुखारविन्द से अर्थ-सहित वेदवाक्यों का तात्पर्य-अवधारण किया हो; वेदवाक्यों की स्वार्थपरता में मनोयोग से युक्तियों का विचार किया हो; श्रवण से अदृढ ज्ञान हो चुकने पर जिसने श्रवण का अभ्यास छोड़कर मूर्ख, बालक या पिशाच की तरह राग-द्वेषरहित हो पूर्ण तत्परता से मन एकाग्र कर श्रुतार्थ-विषयक सभी संशय मिटा लिये हों और यों अपने निश्चित स्वरूप से अन्य वृत्तियाँ न बनने देकर 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्यादि महावाक्यों के वास्तविक अर्थ का जिसने दृढ साक्षात्कार प्राप्त कर लिया हो॥२०९-२१२॥ यह महान् ब्राह्मण जैसे आनन्दात्मरूप सुख को प्राप्त होता है वैसे सुषुप्त पुरुष प्रतिदिन सुख को प्राप्त होता है'॥२१३॥ इस दृष्टांतविवरण में आचार्यों ने ज्ञान-साधना का संग्रह प्रकाशित कर दिया है। बृहदरण्यक के तृतीयाध्याय के कहोलप्रश्न में महर्षि याज्ञवल्क्य ने जो साधनाक्रम बताया है उसका निवेश बड़ी सहजता से यहाँ हो गया है। वहाँ श्रुति ने श्रवण-मनन को पाण्डित्य से कहकर बाल्य से निदिध्यासन कहा है और मन से केवल यह अनुसंधान करना कि 'मैं आत्मा ही परब्रह्म हूँ, मुझसे अतिरिक्त कुछ नहीं है', इसे मौन कहा है। जब अपना फल उत्पन्न कर यह मौन भी छूट जाता है तब महावाक्य के अर्थ की अवगति रूप वास्तविक ब्राह्मणता बतायी है। यहाँ निदिध्यासन से केवल अनात्म-प्रत्ययों का तिरस्कार अर्थात् विषयदृष्टि न बनने देना ही विवक्षित है अतः मौन का पृथक् विधान है। श्रवण से हुए आत्मसाक्षात्कार के ही दार्ढ्य के लिये बाल्य वह मौन अनिवार्य हैं। जो तो निदिध्यासन की ध्यानरूपता का निषेध है वह इस अभिप्राय से कि प्रायः प्रमा की स्मृति को ध्यान नहीं कहते, जबकि यहाँ प्रमा की स्मृति कही जा रही है। तथा 'प्रमा उत्पन्न होते ही अज्ञान नष्ट कर देती है, आवृत्ति की अपेक्षा नहीं रखती' कहने पर प्रमाशब्द दृढ प्रमा के तात्पर्य से है जो बाल्य व मौन के बाद होती है। इस प्रकार अंतरंग साधनों का स्वरूप यहाँ बताया गया है। ज्ञानी महापुरुष की श्रेष्ठता अन्यत्र भी कही है : 'जिस पुरुष ने अपने आपको (मन को) मुझे अर्पित कर दिया, 'करने वाला परमेश्वर ही है' ऐसा समझकर सब कर्म भी मुझ पर ही छोड़ दिये, ऐसे कर्तृत्वरहित समदर्शी (ब्रह्म-ज्ञानी) से परे और कुछ है ऐसा मैं नहीं समझता।' इत्यादि।

'सभी अनर्थों के कारणभूत राग-द्वेषादि दोष जैसे उक्त श्रेष्ठ ब्राह्मण में नहीं होते वैसे गहरी नींद में गये पुरुष में भी नहीं होते'॥२१४॥

---

१. सुप्तेर्हृदयाकाश इति पाठष्टीकायाम्।

भोक्ता यस्ते मया प्रोक्तो हृदयाकाश एव सः। आ समन्तादयं यस्मात् काशते देहधारिषु॥२१६॥

मामन्यं च न जानामीत्यज्ञत्वेन महेश्वरः। सुखमस्वाप्समिति वा काशते सर्वदेहिषु॥
आकाशवदभिन्नोऽतो मम तेऽप्यपरस्य च॥२१७॥

विज्ञानमयता स्वप्ने तद्वज्जागरणेऽपि च। हृदयाकाशरूपस्य विद्यते भेदकारणम्॥२१८॥

सुप्ते तस्य विनाशे हि भेदः केन हि सम्भवेत्। घटादीनां विनाशे किं भेदो नभसि तिष्ठति॥२१९॥

आधाररूपबोधनेन च त्वम्पदार्थविज्ञानमयस्य तत्पदार्थपरमात्मना ऐक्यं बुबोधयिषितमिति दर्शयति— भोक्तेति। यः तुभ्यं बालाकये मया भोक्ता विज्ञानमयो घटाकाशसमः प्रोक्तः स महाकाशसमहृदयाकाशरूप एव सः। एतत् सर्वसंसारधर्मातीतं रूपं सुषुप्तौ उपाधिलये तुभ्यं दर्शितमिति यावत्। हृदयाकाशस्य अद्वितीयतारूपां परमात्मतां स्पष्टयन्नाकाशपदस्य अवयवार्थेन तत्र वृत्तिमाह— आ समन्तादिति। यस्मादयं हृदयोपलक्षितः परमात्मा आ समन्ताद् अधिव्याप्य काशते दीप्यते तस्माद् आकाश इत्युक्त इति शेषः॥२१६॥

समन्तात् काशनमेवाभिनयति— मामिति। माम् आत्मानम् अन्यं च न जानामीति आकारेण अज्ञत्वेन अज्ञानाश्रयत्वेन रूपेण; अहं सुखमस्वाप्समिति सुषुप्तिसाक्षित्वेन वा महेश्वरः आत्मा मदीयो-ऽन्यदीयो वा भासते, अतः अस्मात् समन्ताद्भासनरूपहेतोः आकाशवदभिन्न एकरूप इत्यर्थः। तथा च प्रयोगः--आत्मा, एकरूपः, उपाधिपरामर्शमन्त-रेणानुपलभ्यमानभेदत्वाद्, आकाशवदिति। एतेन आकाशपदस्य भूताकाशे रूढत्वाभ्युपगमत्वेऽपि अत्र गौणवृत्ति-सम्भवाद् न कोऽपि दोष इति भावः॥२१७॥

अस्यात्मनः सर्वदैकरूपत्वेऽपि सुषुप्ताधारतया प्रदर्शनं तु उपाधिविविक्ततया प्रदर्शनार्थमेवेत्यभिप्रायमावेदयति— विज्ञानमयतेति। स्वप्नजाग्रतोः सविलासान्तःकरणसम्बन्धरूपा विज्ञानमयता भेदकारणम्। सुषुप्ते तु तस्य विज्ञान-शब्दवाच्यसविलासान्तःकरणस्य विनाशे सति केन भेदो निरूपणीयो, न केनापि। यथा घटाद्युपाधिनाशे नभसो न भेदः—इति द्वयोरर्थः॥२१८-२१९॥

अब राजा स्वयं विस्तार से अपने उपदेश का तात्पर्य समझाता है– 'सोने वाले पुरुष का और सुषुप्ति का आधार हृदय से उपलक्षित परमात्मरूप आकाश ही है, और कोई नहीं। शयन का (सुषुप्तिका) स्वरूप भी यही है कि विज्ञानमय और उसकी उपाधि, हृदयाकाश से पूर्वोक्त-विधया एकमेक हो जायें'॥२१५॥

सुप्ताधाररूप से बताने का प्रयोजन है त्वम्पदार्थ विज्ञानमय का तत्पदार्थ ईश्वर से अभेद समझाना, यह बताता है– 'जिस विज्ञानमय को मैंने तुम्हे भोक्ता बताया था वह हृदयाकाशरूप परमात्मा ही है क्योंकि देहधारियों में 'आ' अर्थात् पूरी तरह व्याप्त हो यही 'काश' प्रकाशता है'॥२१६॥ जैसे घटाकाश महाकाश ही है ऐसे विज्ञानमय परमात्मा ही है। इससे उन मूर्खों का प्रत्याख्यान हो जाता है जो जीव में सर्वज्ञतादि ईश्वरगुण न दीखने से महावाक्यों को उपचरितार्थ बताते हैं। घटाकाश में कमरा-भर अनाज नहीं समा सकता यह बताने के लिये ग्रन्थ-निर्माण की आवश्यकता किस पण्डित को पड़ सकती है! अस्तु। सांसारिक धर्मों से अतीत आत्मस्वरूप सुषुप्ति में स्पष्ट हो जाता है क्योंकि तब जीवोपाधि अंतःकरण कार्यकारी नहीं रह जाता। यद्यपि जीवत्व का प्रयोजक उपाधि अज्ञान ही है तथापि विषयभोगरूप संसरण के लिये मनोवस्थ अज्ञान को भी उपाधि होना पड़ता है यह अनुभव-सिद्ध है। अत एव पुराण में 'भोक्ता' कहा। वह परमात्मा अद्वितीय है यह उसके 'आकाश' इस नाम से स्पष्ट है।

'सभी देहधारियों में 'मैं स्वयं को व अन्यों को नहीं जानता' इस तरह अज्ञान के आश्रयरूप से तथा 'मैं सुख से सोया' इस तरह सुषुप्ति के साक्षिरूप से एकस्वरूपवाला महेश्वर ही भासता है। अतः मेरा, तेरा व अन्य सभी का आत्मा भेदरहित महेश्वर ही है जैसे घट, परई, कुल्हड़ आदि से निरूपित एक ही आकाश है'॥२१७॥ यहाँ स्वयं को न जानने का

सुप्तौ वागादयः सर्वे मनसा सहिता इमे। हृदयाकाशे लीयन्ते हृदयाकाशभेदकाः॥२२०॥

सुप्तावज्ञानस्याभेदकत्वम्

सुप्तौ यद्यपि मायेयमात्माऽज्ञानस्वरूपिणी। अस्ति नैषा तथाप्यत्र भवेद्भेदस्य कारणम्॥२२१॥

अज्ञाने न हि भेदोऽस्ति सर्वेषामिह देहिनाम्। किन्तु विक्षेपयोर्भेदः सुप्तौ स च विलीयते॥२२२॥

अज्ञाने लयः

यथाऽतिबहुले रात्रौ तमस्यभ्रोद्भवादिकम्। वर्षासु लीयते तद्वदात्माज्ञान इदं जगत्॥२२३॥

यथा तस्मिन्नपगते भानुनिर्गमनादिना। नष्टप्रायं तदैवैतत् तस्मादेव विनिःसरेत्॥२२४॥

हृदयाकाशतोऽप्येवं जगदेतत् प्रजायते। कर्मण्युद्भूत एकस्मिन् स्वप्ने जागरणेऽपि वा॥२२५॥

सुप्तावुपाधिनाशमभिनयति—सुप्ताविति। हृदयाकाशभेदका मनसा सहिता वागादयः सर्वे हृदयाकाशे लीयन्त इति॥२२०॥

ननु सुप्तौ शिष्यमाणाज्ञानमेव भेदकमस्तु? इत्याशङ्क्य; किमावरणरूपेण ज्ञानस्य भेदकत्वं, विक्षेपरूपेण वा? नाद्यः, तत्रैव भेदाननुभवात्। न द्वितीयः, कार्यरूपविक्षेपस्य सुप्तौ लयाद्।—इत्याह—सुप्तौ यद्यपीति द्वाभ्याम्। अज्ञानमावरणम्। विक्षेपयोः विक्षेपरूपयोरुपाध्योरेव भेदः, यथा 'देवदत्तयज्ञदत्तौ भिन्नौ' इत्यत्र देवदत्तयज्ञदत्तोपाधी एव प्रतियोग्यनुयोगितया भेदनिरूपकौ। सुप्तौ तु स च विक्षेपो विलीयत इति॥२२१-२२२॥

सुषुप्तौ कार्यवर्गलये दृष्टान्तमाह— यथेति। यथा वर्षासु रात्रौ अतिबहुले तमसि सति अभ्रोद्भवादिकम् उद्भवदभ्रादिकम्—कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशत इति न्यायाद्—जायमानं मेघादिकं विलीयते तत्र तमसि लयं गच्छति, तथा इदं जगत् सुप्तौ आत्माज्ञाने विलीयत इति॥२२३॥

यथा तस्मिन्निति। यथा दृष्टान्ते तस्मिन् तमसि भानुनिर्गमनादिना अपगतेऽभिभूते सति तदैव तत्क्षणमेव एतद् अभ्रादिकं तस्माद् अभिभूततमस एव विनिःसरेत् प्रादुर्भवेत्; एवं हृदयाकाशादज्ञानशबलाद् एतज्जगत् स्वप्ने जागरणे वा प्रजायते। कस्मिन् सति? स्वप्नजाग्रद्भोगप्रदकर्मणोः एकस्मिन् अन्यतरत्र उद्भूते सतीत्यन्वयः॥२२४-२२५॥

अर्थ है अपनी वास्तविकता न जानना व अन्य को न जानने से घटादि को न जानना कहा गया है। अथवा 'सुषुप्ति में न अपना भान रहता है न अन्य किसी का', इस पूर्वोक्त का अनुसंधान कर अज्ञानाश्रयता बतायी है। सुषुप्तिपरामर्श सभी का एकरूप होता है जिससे तत्काल में सब का अभेद मानना सहज है। उपाधि रहते ही आत्मा में भेद समझा जा सकता है। सुषुप्ति में उपाधि न रहने पर कोई भेद न प्रतीत होता है न कहा जा सकता है। जिस वस्तु में उपाधि के सहारे ही भेद रहे वह स्वभावतः भेदरहित होती है यह आकाशादि में प्रसिद्ध ही है।

यदि विज्ञानमय हमेशा परमात्मा ही है तो सुषुप्ति के प्रसंग को बताने का परिश्रम क्यों? परिश्रम इसलिये कि तब आत्मा को उपाधि से पृथक् कर समझना सरल है। यही राजा कहता है– 'हृदयाकाशरूप परमात्मा से भेद करने वाली विज्ञानमयता (अर्थात् सवृत्तिकान्तःकरणसम्बन्ध) स्वप्न व जागरण में विद्यमान रहती है। सुषुप्ति में उसका विनाश हो जाने पर भेद क्यों संभव होगा? घटादि नष्ट हो चुकने पर क्या आकाश में कोई भेद रहता है?॥२१८-२१९॥ हृदयाकाश से जीव को भिन्न बनाने वाले मन समेत ये इंद्रियादि सुषुप्ति में हृदयाकाश में ही विलीन हो जाते हैं॥२२०॥ आत्मा का अज्ञान जिसका स्वरूप है ऐसी यह माया यद्यपि सुषुप्ति में रहती है तथापि वह उस अवस्था में भेद का कारण नहीं होती। संसार में सभी देहधारियों के अज्ञान में कोई भेद नहीं है किंतु विक्षेपरूप स्थूल-सूक्ष्म उपाधियों का ही भेद है, और सुषुप्ति में विक्षेप का विलय हो जाता है॥२२१-२२२॥ जैसे उठते हुए भी बादल बरसात की रात के घने अँधेरे में विलीन हो जाते हैं वैसे ही आत्मा के अज्ञान में यह जगत् विलीन हो जाता है॥२२३॥ जिस प्रकार रात को नष्टप्राय हुए मेघादि प्रातः सूर्य

स्वप्नाज्जागरणं याति सुषुप्तादपि वा प्रभुः। एवं जागरणात्स्वप्नं सुषुप्तं वापि स व्रजेत्॥
कदाचित् स्वप्नतः सुप्तिं व्रजेज्जागरणं च वा॥२२६॥

जीवः क्रीडाकन्दुकसमः

आत्माज्ञानादयं देवः क्रीडाकन्दुकवत् सदा। अस्मिन् देहे तथाऽन्यत्र ह्यवस्थात्रयमाव्रजेत्॥२२७॥

यष्टिहस्तैर्यथा गोपैः क्षिप्तो नभसि कन्दुकः। दिक्षु भूमौ तथाऽऽकाशे धावत्येष निरन्तरम्॥२२८॥

एवं पूर्वकृतैश्चित्रैः कर्मभिर्जगदीश्वरः। स्वप्ने जागरणे सुप्तौ जीवन् धावति नित्यशः॥२२९॥

वायुना नीयमानस्य तूलस्य न गतिः स्थिरा। यथा तथाऽत्र देहेऽपि न स्थिरा कर्मवायुना॥२३०॥

भ्राम्यते वायुना यद्वत् खे सर्वा मेघमण्डली। तद्वद् देहादिका सृष्टिर्भ्राम्यते कर्मवायुना॥२३१॥

यथा जलप्रवाहेण काष्ठमुच्चावचस्थले। पात्यते जन्तुरप्येवं योनिष्वायाति कर्मतः॥२३२॥

देवो वा मानवो वाऽयं कृमिर्वा स्थावरोऽपि वा। भवत्युच्चावचे स्थाने काष्ठं यद्वद्धि नीरगम्॥२३३॥

कर्मनिमित्तां व्यवस्थामेव अभिनयति– स्वप्नादिति। कदाचित् स्वप्नानन्तरं जागरणं गच्छति कदाचित् तु सुषुप्तानन्तरम्, एवमग्रेऽपि॥२२६॥

उक्तरीत्या कर्मणो व्यवस्थामात्रहेतुत्वेऽपि संसारं प्रति मुख्यप्रयोजकत्वमज्ञानस्यैवेत्याह– आत्माज्ञानादिति। अस्मिन् अपरोक्षे; अन्यत्र आमुष्मिके। आव्रजेत् प्राप्नुयात्॥२२७॥

क्रीडाकन्दुकदृष्टान्तं स्फुटयति– यष्टीति। गोपबालैः यष्टिप्रहारेण नभसि क्षिप्तः कन्दुकः पतंश्च पुनस्ताडितो यथा अनेकत्र भ्रमति॥२२८॥

एवमिति। चित्रैः नानाविधफलप्रदैः। जीवन् अविद्यया जीवभावं गच्छन् सन्॥२२९॥

कर्मनिमित्तकानवस्थितसृष्टौ दृष्टान्तान्तराणि दर्शयति–वायुनेति त्रिभिः। देहेपि इत्यनन्तरम् अवस्थात्रयगतिरिति शेषः॥२३०॥ भ्राम्यत इति। स्पष्टम्॥२३१॥ यथेति। जाग्रद्वद्वर्तमानदेहः, आमुष्मिकदेहास्तु स्वप्नवदिति सूचयितुं योनिषु इत्युक्तम्॥२३२॥

निकलने आदि से अँधेरा अभिभूत होने पर उसी अभिभूत अँधेरे से प्रादुर्भूत हो जाते हैं, उसी प्रकार कर्म फलोन्मुख होने पर यह जगत् स्वप्न या जाग्रत् में हृदयाकाश से ही उत्पन्न हो जाता है॥२२४-२२५॥ जीव हुआ परमात्मा स्वप्न से जाग्रदवस्था में भी आता है और कभी सुषुप्ति से भी जाग्रत् में आता है। ऐसे ही कभी जाग्रत् से स्वप्न में जाता है कभी सीधे ही सुषुप्ति में जाता है और स्वप्न से भी सुषुप्ति में जाकर या बिना गये जाग्रत् में आ जाता है। अर्थात् अवस्थाक्रम का नियम नहीं॥२२६॥ वस्तुतः देव होते हुए भी अपनी वास्तविकता न जानने से यह आत्मा खेल की गेंद की तरह इस शरीर में व अन्य शरीरों में तीन अवस्थाओं में भटकता रहता है॥२२७॥ जैसे हाथ में बल्ला लिये ग्वालों द्वारा गेंद आसमान में उछाली जाती है, नीचे लौटने पर पुनः प्रहार खाकर वह भूमि व आकाश में चारों ओर उछलती रहती है, ऐसे ही अविद्या से जीवभाव को प्राप्त जगदीश्वर ही पहले किये विविध कर्मों से प्रतिदिन स्वप्न, जागरण व सुषुप्ति में जाता-आता रहता है॥२२८-२२९॥ जिस प्रकार हवा से उड़ाये जाते हलके से तिनके की (या रुई के छोटे से हिस्से की) सर्वथा अनिश्चित ही गति होती है, उसी प्रकार कर्मरूप वायु से चलते जीव की शरीर में भी होने वाली अवस्थात्रयप्राप्ति अनियत है॥२३०॥ जैसे आकाश में वायु सारी मेघमण्डली को इधर-उधर घुमाती रहती है ऐसे देहादिरूप सृष्टि को कर्मरूप वायु चलाती रहती है॥२३१॥ जल के बहाव से लकड़ी ऊँची-नीची जगहों पर पटकी जाती है, इसी तरह कर्म से यह जंतु भी नाना योनियों में पहुँचा दिया जाता है॥२३२॥ पहाड़ी नदी में बहती लकड़ी की तरह यह ऊँची-नीची योगभूमियों पर

सर्वत्रैवमवस्थास्ता ज्ञातव्या बुद्धिजीविषु। अवस्थात्रयनिर्मुक्तं सत्त्वं किञ्चिन्न विद्यते॥२३४॥

अस्वप्नताऽपि देवानां ज्ञेया स्यादुपचारतः। देवानां प्रथमो यस्माच्छेते शेषगतो हरिः॥२३५॥

यथा क्षणे क्षणे स्वप्नं पश्यन्ति मनुजादयः। नैवं देवास्ततस्ते स्युरस्वप्ना नान्यथा क्वचित्॥२३६॥

एवं तस्य सुषुप्तस्य हृदयाकाशरूपिणः। उद्भवे कर्मणो ह्यस्य सदा जागरणं भवेत्॥२३७॥

प्राणे लयोक्तेरर्थः

सुप्तौ विलीयते सर्वं कार्यं श्वासात्मकं विना। प्राणं तेन प्राणशब्दो हृदयाकाश ईरितः॥२३८॥

'योनिषु' इत्युक्तं विशदयति—देव इति। उत्तरार्द्धस्य इत्येवमित्यादिः॥२३३॥

उक्तावस्थानां सर्वत्रानुगम एवेत्याह— सर्वत्रेति। बुद्धिजीविषु सान्तःकरणेषु॥२३४॥

ननु देवानामस्वप्नसंज्ञया प्रसिद्धत्वात् कथं तेषु अवस्थात्रयानुगमः? इत्याशङ्क्य; 'अनुदरा कन्या' इतिवद् नञोऽल्पार्थताया अपि दृष्टेर्मैवमित्याह— अस्वप्नेति द्वाभ्याम्। उपचारतः— अस्वप्नपद-घटकनञोऽभावार्थस्य बाधेन अल्पत्वरूपगौणार्थपरत्वादित्यर्थः।[1] मुख्यार्थस्तु वक्तुमशक्यः यस्माद् देवानाम् आद्यो भगवान् विष्णुरपि अवस्थात्रयानुगम-सूचनाय लीलाविग्रहेण शेषशयनलीलामङ्गी करोतीति॥२३५॥

अल्पतामभिनयति—यथेति॥२३६॥

एवमिति। एवम् उक्तविधया तस्य विज्ञानमयस्य सदा जागरणं भवेत्। कीदृशस्य तस्य? सुषुप्तस्य हृदयाकाशरूपिणः सुषुप्ते हृदयाकाशरूपपरमात्मभावं गतस्य। जागरणनिमित्तं तु उक्तः अस्य जाग्रद्भोगप्रदकर्मण उद्भवो विपाकाभि-मुखतारूप इति॥२३७॥

ननु वाजसनेयानुसारेण हृदयाकाशेऽद्वितीयात्मनि लयस्य वर्णनेऽपि व्याख्येयकौषीतकिवाक्येन विरोधः; अत्र 'प्राण एव एकधा भवती'ति प्राणे लयाभिधानाद् इति चेद? न, सुप्तपुरुषाभिप्रायेण 'न किञ्चिदवेदिषम्' इति परामर्शरूपेण परमात्मनि लयाभिधानेऽपि लौकिकानां प्राणशेषतां मन्यमानानामभिप्रायानुसारेण प्राणे लयाभिधा-नाऽविरोधाद्—इत्याशयं स्पष्टयति—सुप्ताविति त्रिभिः। सुप्तौ श्वासात्मकं प्राणं विना सर्वं कार्यं विलीयते, तेन प्राणस्य लौकिकदृशावशेषेण प्राणशब्दो लक्षणया हृदयाकाश ईरितः प्रकृतश्रुतौ प्रयुक्त इत्यर्थः॥२३८॥

देवता, मनुष्य, कीड़ा या पौधा आदि होता रहता है॥२३३॥ जितने भी प्राणी कार्यकारी अंतःकरण से युक्त हैं उन सब की इसी तरह स्वप्नादि अवस्थायें होती हैं, कोई ऐसा नहीं जो इन तीन अवस्थाओं से रहित हो॥२३४॥ देवताओं को 'अस्वप्न' कहते हैं पर यह जान लो कि कम सोने के कारण ही उपचार से उन्हे वैसा कहा जाता है जैसे बहुत दुबली कन्या को 'बिना कमर वाली' कह देते हैं। देवता भी सोते अवश्य हैं क्योंकि उनमें सर्वश्रेष्ठ श्रीविष्णु स्वयं शेषशय्या पर शयन करते हैं॥२३५॥ मनुष्यादि जैसे जल्द जल्दी स्वप्न देखते हैं वैसे ये देवता नहीं देखते (किंतु दीर्घ काल के अन्तराल से सोते हैं) बस इतने से ही उन्हें अस्वप्न कहते हैं। ऐसा नहीं कि वे सोते न हों॥२३६॥

हृदयाकाशरूप हुए उस सुषुप्त विज्ञानमय के जब जाग्रत्-कालिक भोग देने वाले कर्म फलोन्मुख होते हैं तब ही जगना होता है'॥२३७॥

किसी को शंका हो सकती है कि बृहदारण्यक में यह बताया है कि सुषुप्ति में हृदयोपलक्षित आकाशशब्दित आत्मा से विज्ञानमय का अद्वैत हो जाता है किंतु कौषीतकी में प्राण में विलय कहा है, अतः श्रुतियों में विरोध है। इसका समाधान

---

१. लक्षणयाऽन्यार्थबोधनमुपचारः। अत्र 'नञश्चैष स्वभावो यत्स्वसमभिव्याहृताभावबोधनम्' इत्यङ्गी कृत्यैवोपचारत्वोक्तिः। यदा तु 'नञर्थाः षट् प्रकीर्तिता' इति बह्वर्थतयाऽल्पतापि नञो मुख्यएवार्थविशेषः तदा-नायं क्लेश इति द्रष्टव्यम्॥

प्राणेऽस्मिन् हृदयाकाशे सर्वभेदविवर्जिते। कार्यकारणसङ्घात एकतां यात्यदर्शनात्॥२३९॥
सुषुप्तौ न हि लभ्यन्ते वागाद्या विषयैः सह। मनोऽन्तास्तत एवैते प्राणे लीनास्तदाऽभवन्॥२४०॥
हृदयाकाशसम्प्राप्तो विज्ञानमय एव हि। नाधाराधेयभेदेन तमाप्नोति कदाचन॥२४१॥
गृहाकाशे घटाकाशो गत्वा घटविभेदतः। सम्बन्धं यादृशं गच्छेत् तादृशं पुरुषोऽत्र हि॥२४२॥

हृदयस्य वैशिष्ट्यम् जीवस्य घटाकाशता

यावच्छरीरमरणं पुरुषो हृदयेऽस्ति हि। गृहाकाशसमस्तस्य गमनागमने न हि॥२४३॥
घटाकाशसमो ज्ञेयो मनस्येष व्यवस्थितः। गमनागमनं तस्य भवेन्नित्यं मनःकृतम्॥२४४॥

तथा च प्रकृतवाक्यस्यैवमर्थ इत्याह– प्राण इति। प्राणपदलक्ष्यार्थे हृदयाकाशे स्थूलसूक्ष्मप्रपंचो लीयते, दर्शनाभावाद्, दृष्टिसृष्टेः पूर्वाध्याये (२.३१४ इत्यादिना) प्रदर्शितत्वादिति॥२३९॥

अदर्शनमभिनयति–सुषुप्ताविति। मनोऽन्ता मनःपर्यन्ता वागाद्याः सुप्तौ सह विषयैः न लभ्यन्तेऽत एव प्राणे लीना उच्यन्त इति शेषः॥२४०॥

'एकधा भवति' (कौ.४.१९) इत्यंशस्य तात्पर्यमाह– हृदयाकाशेति द्वाभ्याम्। हृदयाकाशं प्राप्तो विज्ञानमय एव इन्द्रियादिव्यतिरिक्तः तं हृदयाकाशम् आधाराधेयभेदघटितसम्बन्धेन नाप्नोति किन्तु एकतामेव गच्छति। इन्द्रियादिकं तु भेदसहिष्णुमभेदं तादात्म्यं गच्छतीत्यर्थः॥२४१॥

एकतापत्तौ दृष्टान्तमाह– गृहाकाश इति। गृहाकाशे घटाकाशो गत्वा घटस्फुटनानन्तरं यादृशम् एकतालक्षणं सम्बंधं गच्छेत् तादृशं सम्बन्धं पुरुषो विज्ञानमयः अत्र हृदयाकाशे सुप्तिकाल उपाधिसम्बन्धं विहाय गच्छतीति॥२४२॥

परमात्मनो हृदयाकाशव्यवहारे प्रयोजकं सम्बन्धविशेषं दर्शयन् दृष्टान्तं दार्ष्टान्तिके सङ्गमयति– यावदिति द्वाभ्याम्। शरीरमरणपर्यन्तं पुरुषः परमात्मा हृदयेऽन्तर्यामिरूपेण विशेषसंनिहितः अस्ति। अन्तर्यामिब्राह्मणादिश्रुतिभ्यः, 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (१८.६१) इत्यादिस्मृतिभ्यश्च। स पुरुषः गृहाकाशसमः तस्य न गमनागमने इति॥२४३॥ घटेति। एष उक्त एवात्मा मनसि व्यवस्थितः प्रतिबिम्बितः सन् घटाकाशवद् गमनागमने भजतीत्यर्थः। गमनागमनम् इति समाहारद्वन्द्वः॥२४४॥

है कि बृहदारण्यक में सुप्त व्यक्ति के अनुभव का अनुसरण कर कहा गया है जबकि कौषीतकी में जगे हुए लौकिक लोगों की दृष्टि से कहा है क्योंकि उन्हें एक प्राण ही चलता दीखता है। इस प्रकार अभिप्रायभेद होने से श्रुतियों में विरोध नहीं। यही बात स्वयं राजा व्यक्त करता है– 'सुषुप्ति में श्वास-प्रश्वासरूप प्राण से अतिरिक्त सारा कार्य विलीन हो जाता है अतः प्राणशब्द लक्षणा से हृदयाकाश को ही श्रुति में कह रहा है। एवं च कौषीतकी में जो कहा कि 'प्राण में लीन होता है' उसका मतलब है सभी भेदों से रहित इस हृदयाकाश में कार्य-कारण-संघात लीन हो जाता है अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म सारा प्रपंच उसी से एक हो जाता है क्योंकि उससे भिन्न हुआ उपलब्ध नहीं होता॥२३८-२३९॥ क्योंकि विषयों समेत वाणी आदि और मन सुषुप्ति में स्व-रूप से उपलब्ध नहीं होते इसलिये निश्चित है कि वे तब प्राण में—प्राण से लक्षित हृदयाकाश में—लीन हुए थे॥२४०॥

इन्द्रियादि से विलक्षण विज्ञानमय ही उस हृदयाकाश को प्राप्त होता है पर आधार व आधेय का भेद रखते हुए किसी सम्बन्ध से उससे कभी नहीं जुड़ता, एकता को ही प्राप्त होता है। उपाधियाँ तो भेदसहिष्णु अभेदरूप तादात्म्य से हृदयाकाश से एक होती हैं॥२४१॥ घटाकाश गृहाकाश में पहुँचकर घट फूटने पर गृहाकाश से जैसा एकतारूप सम्बन्ध प्राप्त करता है वैसा ही सम्बंध सुषुप्तिकाल में उपाधिसम्बंध छोड़कर विज्ञानमय हृदयाकाश से प्राप्त करता है॥२४२॥ जब तक शरीर मर

यद्यप्याकाशसदृशो बहिरन्तरवस्थितः। देहस्यात्मा तथाप्यत्र हृदयेऽतिशयोऽस्ति हि॥२४५॥

सुखदुःखोपभोगार्थं जन्तोर्देहोऽत्र जायते। उपभोगः प्रकाशः स्यात् प्रकाशः करणैर्भवेत्॥
अन्तःकरणमेवैकं करणानां नियामकम्॥२४६॥

अमूनि न विदन्त्यर्थं यतो व्यापारवन्त्यपि। तदा चित्तेन जानीमः पराधीनानि सर्वथा॥२४७॥

मनसः करणनियामकत्वे काष्ठक्रीडनकदृष्टान्तः

यथा काष्ठकृतानां स्युर्दशानां वाजिनामपि। सूत्राण्येकत्र बद्धानि नानास्थाननिवासिनाम्॥२४८॥

नलिकायां तथा देहे ज्ञानकर्मात्मनामपि। सूत्राणि हृदये सन्ति निर्मितानि स्वयम्भुवा॥२४९॥

अथोक्तार्थमुपपादयन्नन्तर्यामितया हृदये स्थितिं वक्ष्यमाणोपयोगाय अनुवदति— यद्यपीति। यद्यपि आत्मा **आकाशवद् देहस्य समष्टिव्यष्टिरूपस्य** अन्तर्बहिरवस्थितः तथाप्यत्र **आत्मनि हृदयावच्छेदेन अन्तर्यामितारूपः** अतिशयोऽस्ति **प्रसिद्ध इति॥२४५॥**

उक्तान्तर्यामिनियम्यमनसः करणान्तरेभ्यो विशेषं प्रतिबिम्बग्रहणाद्युपयोगिनं दर्शयति—सुखेति षड्भिः। देहो हि भोगार्थः, भोगस्तु प्रकाशरूप उक्तः स च विषयप्रकाश इन्द्रियरूपकरणाधीनः। सकलकरणनियामकत्वाद् मनसः स्पष्टो व्यतिरेक इति॥२४६॥

करणनियामकतैव कुत इत्यत आह— अमूनीति। अमूनि **चक्षुरादिकरणानि** व्यापारवन्त्यपि **सन्ति चित्तसम्बन्धं विना अर्थं विषयं स्वं स्वं** न विदन्ति **न जानन्ति,** तदा **वयमेतद्** जानीमो **यत्** चित्तेन **तानि** पराधीनानि। **चित्तेनेति प्रकृत्यादित्वात् (२.३.१८ तमे वार्तिकम्) तृतीया; तथा च चित्तरूपं यत् परं तदधीनानीत्यर्थः॥२४७॥**

नहीं जाता तब तक परमात्मा हृदय में अंतर्यामीरूप से है। वह गृहाकाश की तरह समझा जा सकता है। उसका कहीं जाना-आना नहीं होता॥२४३॥ मन में प्रतिबिम्बित हुआ यही आत्मा घटाकाश की तरह समझा जा सकता है। घटस्थानीय मन के गमनागमन से इस घटाकाश-स्थानीय विज्ञानमय के भी गमन-आगमन हमेशा होते रहते हैं'॥२४४॥ आकाश में कोई गति नहीं। उपाधिसंपर्क से आकाश में विशेषबुद्धि होती है 'घटाकाश'। घटाकाश कोई पदार्थांतर नहीं है, केवल घट को दृष्टि में रख समझा हुआ आकाश है। अब जब घट में गति होती है तब लगता है 'घटाकाश चला'– गति का आरोप भी आकाश पर हो जाता है। ऐसे ही मनआदिउपाधिसंपर्क से आत्मा में विज्ञानमयता का आरोप और उपाधि के गमागम से उसी में गमागम का आरोप होता रहता है यह अभिप्राय है।

'जैसे घट और घर के बाहर व भीतर सर्वत्र आकाश स्थित है ऐसे ही आत्मा भी समष्टि-शरीर के तथा व्यष्टि शरीरों के बाहर-भीतर सर्वत्र व्याप्त है, पर फिर भी हृदय से अवच्छिन्न आत्मा में अन्तर्यामितारूप विशेषता है जो सुप्रसिद्ध है'॥२४५॥

उक्त अंतर्यामी द्वारा नियमित रखा जाने वाला मन अन्य इन्द्रियों से वैलक्षण्य रखता है। आत्मा के चिदंश का सीधा प्रतिबिम्ब उसी में पड़ता है, अन्य इंद्रियों में वह मन के द्वारा ही पहुँचता है। इस विषय को अजातशत्रु स्पष्ट करता है– 'जन्तु का देह संसार में सुख-दुःख के भोग के लिये पैदा होता है। भोग प्रकाश अर्थात् ज्ञान ही है। ज्ञान अर्थात् प्रकाश करणों द्वारा (इंद्रियों द्वारा) होता है। बाह्य सब करणों का अकेला नियामक है अंतःकरण या मन॥२४६॥ क्योंकि इंद्रियाँ व्यापार करने पर भी चित्तसंबंध के बिना अपने विषयों को नहीं जान पाती इसलिये हम जानते हैं कि वे सर्वथा चित्त के पराधीन हैं॥२४७॥ लोक में एक खिलौना प्रसिद्ध है : लकड़ी की चौकी पर लकड़ी के ही दस घोड़े बनाकर अलग-अलग स्थान पर रखे रहते हैं। उन घोड़ों के पैरों से बँधे धागे चौकी में हुए छेद से आकर नीचे स्थित नलिका (खोखले

बालको हि यथा सूत्रैर्व्यापारयति तान् हयान्। मनो बालकमप्येवं व्यापारयति तान्यपि॥२५०॥

आश्रित्य हृदयाम्भोजं पञ्चच्छिद्रमधोमुखम्। अनेकनाडीविवरं वायुसूत्रसमाश्रयम्॥२५१॥

मनःस्थात्मनः संसारः

सावित्रं हि यथा तेजः सर्वदेहेष्ववस्थितम्। एकरूपं तथाप्यस्य भेदो दृष्टो महानिह॥२५२॥

कुसूले दर्पणे तद्वत् कृपाणे च मणावपि। सूर्यकान्ते च तत्रस्थं दाहपाकादिकृद् भवेत्॥२५३॥

मनसः करणनियामकतां दृष्टान्तेन विशदयति– यथेति चतुर्भिः। **लोकप्रसिद्धमेषक्रीडनकवद् यदि काष्ठनिर्मिता दश वाजिनोऽश्वा नानास्थाननिवासिनो दीर्घकाष्ठे कृतनानाविधायतनाः स्युः तेषां च पादबद्धानि दीर्घकाष्ठमध्यच्छिद्रद्वारा** एकत्र नालिकायाम् अधःस्थायां बद्धानि प्रोतानि स्युः, तथा देहे दीर्घकाष्ठसमे ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपाणां वाजिनामा-कर्षणसूत्राणि वायुमयानि नाडीरूपच्छिद्रद्वारा हृदये नलिकानिभे प्रोतानि सन्ति। कीदृशानि सूत्राणि? स्वयम्भुवा परमेश्वरेण मायया निर्मितानि इति द्वयोरर्थः॥२४८-२४९॥

बालक इति। दृष्टान्ते यथा बालकः पितुरङ्कस्थः पित्रा ग्राहितसूत्रः सन् तान् काष्ठमयान् हयान् अश्वान् व्यापारयेत् चालयेद्, एवं बालकवद् बालकम् अज्ञं मनः अन्तर्यामिणः पितुरङ्कस्थं तेन ग्राहितसूत्रं सत् तानि ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि, अपि-शब्दाद् वायुमयसूत्राणि च व्यापारयतीति। 'बालकोऽज्ञ' इति विश्वः॥२५०॥

अन्तर्यामिरूपपितुरङ्कोपमितं देशं दर्शयति– आश्रित्येति। **हृदयाम्भोजदेशम्** आश्रित्य तानि व्यापारयति **इति पूर्वेण सम्बन्धः। दिक्चतुष्टये मध्ये च पञ्च च्छिद्राणि यत्र हृदयाम्भोजे तत्तथा। अनेकानि नाडीरूपाणि विवराणि सूक्ष्मच्छिद्राणि यत्र तद् वायुमयसूत्राणामाधारमिति॥२५१॥**

एवं मनसः करणान्तरेभ्य उत्कर्षप्रदर्शनेन तस्य सत्त्वातिशयः सूचितः, तस्य सत्त्वातिशयस्य प्रतिबिम्बविशेषे चितो गृहाकाशसमतोपपादक उपयोगं दृष्टान्तेनाह–सावित्रमिति चतुर्भिः। यथा सावित्रं **सूर्यसम्बन्धि तेजः स्वभावादेकरूपतया सर्वत्र स्थितं** तथापि तस्य **सावित्रतेजसः कुसूलाद्युपाधिवशाद्** भेदो **विशेषो दृष्ट इति॥२५२॥**

बाँस) में पिरोये रहते हैं। खेलने के लिये बच्चे उन धागों को हिलाते हैं और घोड़े भी अपने पैर उठाने-पटकने लगते हैं। इसी प्रकार शरीर-रूप चौकी पर ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ ये दस घोड़े हैं। इनका संचालन करने वाले 'धागे' नाडीरूप छिद्र के द्वारा हृदयरूप नलिका में पिरोये हुए हैं। स्वयम्भू प्रमेश्वरने माया से उन वायुमय 'धागों' का निर्माण किया है॥२४८-२४९॥ जैसे पिता की गोद में बैठा बालक धागों से उन घोड़ों को चलाता है, ऐसे बालक की तरह अज्ञ मन अंतर्यामी-रूप पिता की गोद में बैठकर वायुमय सूत्रों को एवं दसों इन्द्रियों को चलाता है॥२५०॥ हृदय कमल पर आश्रित होकर मन इंद्रिय संचालन करता है। पिता की गोद की तरह अंतर्यामी की दृष्टि से हृदयकमल है। वह हृदय-कमल पाँच छिद्रों वाला है और नीचे को मुँह किये है। अनेक नाडियाँ ही उस कमल में सूक्ष्म छेद हैं। वायुमय धागों का आधार भी वही है'॥२५१॥

राजा ने यह कहा कि अन्य करणों से मन में उत्कृष्टता अधिक है। इससे सूचित होता है कि उसमें सात्त्विकता की अधिकता है। पहले चेतन को गृहाकाश के स्थान पर रख कर अभेद समझाया था (श्लो. २४२) मन को घड़े के स्थान पर कहा था। उस मन का घर है हृदय यह समझाकर उस दृष्टांत को विस्पष्ट करेंगे। पहले मन की अधिक सात्त्विकता का फल दृष्टांत-पूर्वक समझाते हैं– 'जैसे सूर्य का प्रकाश सभी देहों में एक रूप से स्थित है, फिर भी जिन पर वह पड़ता है उनकी विशेषता से प्रकाश में भेद देखा जा सकता है। धातुनिर्मित अनाज के बर्तन पर, दर्पण पर, तलवार पर, मणि पर और सूर्यकांत पर (उभयतः उन्नतोदर काँच पर), सभी पर सूर्यप्रकाश एक-सा पड़ने पर भी सूर्यकांत पर पड़ा सूर्यतेज तो जला डालता है, पाक भी कर सकता है, पर अन्यत्र पड़ा वही तेज ये काम नहीं कर पाता॥२५२-२५३॥ इसी प्रकार स्वतः

एवं देहे तथा प्राणे कर्मज्ञानात्मकेषु च। बहिर्बुद्धौ च सर्वत्र तिष्ठत्यात्मैकरूपधृक्॥२५४॥
तथापि मनसि स्थित्वा भोक्ता भवति स प्रभुः। सूर्यकान्ते मणौ यद्वत् स्थित्वा दहति भास्करः॥
स्थित्वान्तःकरणे तद्वदात्मा संसृतिमाप्नुयात्॥२५५॥

घटसमोपाधेर्गृहसमहृदये स्थितिलयौ

बुद्धिश्च हृदये नित्यं सर्वसूत्रविधारिणि। तिष्ठत्येषा ततस्तत्र सुषुप्तौ पुरुषो व्रजेत्॥२५६॥
पशवो वा मनुष्या वा देशं यान्ति यथा निजम्। नाशानाशौ समौ कृत्वा बुद्धिस्तद्वद्धृदम्बुजे॥२५७॥
जन्तवो हि निजे देशे भवेयुः सुखिनो गताः। कदाचिद् दुःखिनोऽपि स्युरेवं बुद्धिर्हृदम्बुजे॥२५८॥

उत्तरोत्तरमभिव्यक्त्याधिक्यहेतूनुपाधीन् गणयति–कुसूल इति। कुसूले धातुमयान्नकोष्ठके स्वल्पसावित्रतेजसोऽभिव्यक्तिः, ततोऽधिका दर्पणे, ततः कृपाणे, ततो मणौ, सर्वतः सूर्यकान्ते यतः तत्र सूर्यकान्ते स्थितं सावित्रं तेजः दाहादिकं करोतीति॥२५३॥

एवमिति। कुसूलदर्पणकृपाणमणिसमेषु देहप्राणकर्मेन्द्रियज्ञानेन्द्रियेषु सूर्यकान्तसमबुद्धौ च आत्मापेक्षया बाह्यायां तिष्ठति प्रतिबिम्बितो भवति। कीदृश आत्मा? स्वतः सर्वत्र एकरूप इति॥२५४॥ तथापीति। तथापि सर्वत्र बिम्बितत्वेऽपि मनसि बुद्धिशब्देनोक्तेऽन्तःकरणे स्थित्वा एव भोक्ता भवति। एतत् स्फुटयति–सूर्येति। सूर्यकान्तसंज्ञे मणौ स्थितो भास्करः यथा दाहकर्ता भवति तथाऽन्तःकरणे स्थितः आत्मा संसृतिं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिरूपाम् आप्नुयाद् घटाकाशवद् इहामुत्र गामी भवतीति यावत्॥२५५॥

अथ घटाकाशसमविज्ञानमयस्य उपाधेः घटसमाया बुद्धेः गृहाकाशोपाधिगृहसमहृदये स्थितिं, लयरूपं भंगं च उपपादयति– बुद्धिश्च इत्यष्टभिः। बुद्धिः उक्तान्तःकरणं सर्वसूत्राधारे हृदयेऽम्भोजरूपे तिष्ठति गृहवद्वसति, चक्षुरादिदेशं तु बुद्धिवृत्तिरूपेण प्रवासमिव गच्छति इति यावत्। ततो हृदयस्य स्वोपाधिबुद्धेर्निवासस्थानत्वात् पुरुषो विज्ञानमयः दक्षिणनेत्रादिदेशात् तत्र हृदये सुषुप्तिकाले व्रजेद् आगच्छेद् उपाधिपरतन्त्रत्वादित्यर्थः॥२५६॥

इतस्ततः परिवृत्य बुद्धेर्हृदयदेशागमने दृष्टान्तमाह– पशव इति। नाशानाशौ क्षयोदयौ समौ कृत्वा हानिमप्युदयसमां मत्वेति यावत्; एवं मत्वा पशवो मनुष्या वा स्वदेशं प्रति यथा यान्ति तथा बुद्धिः हृदयाब्जमिति॥२५७॥

सर्वत्र एकस्वरूप आत्मा शरीर में, प्राण में, कर्मेन्द्रियों में, ज्ञानेन्द्रियों में तथा आत्मा की अपेक्षा बहिर्भूत बुद्धि में, सभी जगह रहता है। फिर भी वह आत्मरूप प्रभु मन में स्थित होकर भोक्ता होता है। जैसे सूर्य सूर्यकांत मणि में स्थित होकर घासादि जला डालता है, ऐसे अंतःकरण में स्थित आत्मा कर्तृत्व-भोक्तृत्व-आदि रूप संसरण प्राप्त करता है॥२५४-२५५॥ जिस तरह घट में स्थित आकाश का गमनादि होता है उसी तरह मन में स्थित आत्मा का इहलोक-परलोक में आवागमन होता रहता है। विज्ञानमय है घटाकाश के समान व उसकी उपाधिरूप बुद्धि है घट के समान।

घट जिस गृहाकाश में रहता है उसकी उपाधि गृह है ऐसे ही बुद्धि जिस हृदयाकाश में रहती है उसकी उपाधि हृदय है। घट फूटने की तरह बुद्धि वहीं विलीन भी होती है। यह व्यक्त किया जाता है– 'बुद्धि सदा सभी सूत्रों का धारण करने वाले हृदय में रहती है अतः सुषुप्ति में पुरुष वहीं जाता है'॥२५६॥ बुद्धि अर्थात् अंतःकरण का निजी स्थान तो हृदयकमल है, प्रवास में जाने की तरह वृत्तिरूप से वह इन्द्रिय-देशों में पहुँचती है। अतः जाग्रत् में दायीं आँख में रहता हुआ विज्ञानमय सुषुप्ति होने पर उस स्थान को छोड़कर अपनी उपाधि के स्वाभाविक स्थान में, घर में आ जाता है।

'पशु हों या मनुष्य, सभी अपने निजी ग्रामादि स्थान पर लौट ही आते हैं चाहे उसमें लाभ हो या हानि। बुद्धि भी इसी तरह हृदय-कमल में आ जाती है॥२५७॥ अपने देश पहुँचने पर प्राणी प्रायः सुखी ही होते हैं, कदाचिद् दुःखी भी

देहः सकरणग्रामः पुरीतच्च शिरस्तथा[1]। बुद्धेर्विदेश इत्युक्तो मुक्त्वैकं हृदयाम्बुजम्॥२५९॥

स्वप्नजागरणोद्भूते प्रक्षीणे कर्मणी यदा। तदा तत्र गता बुद्धिर्मूर्च्छिता भवति क्षणाद्॥२६०॥

दृढां मूर्च्छां यथा प्राप्तः पुरुषो मृत उच्यते। मूर्च्छिता बुद्धिरप्येवं विलीनेत्यत्र गीयते॥२६१॥

यथा नभोगतं तूलं सूक्ष्मं लीनमितीरितम्। एवं हृदयगा बुद्धिर्वेदे लीनेति कीर्तिता॥२६२॥

यथा पटस्य सङ्कोचात् पटचित्रं प्रलीयते। एवं हृदयसङ्कोचाद् बुद्धिर्लीनेति गीयते॥२६३॥

जाग्रतः पुरुषात् सृष्टिः

एवं स हृदयाकाशे शयित्वा पुरुषः परः। उद्भूतौ कर्मणः पश्चाद् याति जागरणं तदा[2]॥२६४॥

तन्तुनाभो यथा जन्तुस्तन्तून् सृजति भूरिशः। अनपेक्ष्य परं किञ्चित् तथाऽसावुत्थितः पुमान्॥२६५॥

जन्तव इति। यथा निजं देशं गतानां जन्तूनां कदाचित् सुखं कदाचिद् दुःखं वा भवति, एवं हृदयकमलगता बुद्धिः सुखदुःखे भजति। हृदयदेश एव सुखदुःखयोरनुभवादिति भावः॥२५८॥

देह इति। नखाग्रपर्यन्तो देहः सेन्द्रियगोलकः। पुरीतद् उक्ता। शिरः च। एतानि बुद्धेः परदेशसमानि, हृदयाम्बुजं तु स्वदेश इति यावत्॥२५९॥

अथ बुद्धेर्घटविभेदसमं लयमभिनयति– स्वप्नेति। स्वप्नजागरणार्थं ये उद्भूते फलाभिमुखतां गते कर्मणी ते यदा प्रक्षीणे भवतः तदा तत्र हृदयकमलमध्यवर्तिनि आकाशे दहराख्ये माया-शबले गता सती बुद्धिः मूर्च्छां कारणलयरूपां प्राप्ता भवति इति। एतेन हृदयकमलदलादिदेशो बुद्धेः स्वप्नादिस्थानमेवेति सूचितम्॥२६०॥

तत्त्वज्ञानात्पूर्वं कारणे सूक्ष्मतया स्थितिरेव लयः, औपनिषदमते निरन्वयनाशाऽनभ्युपगमाद्, लोकेऽपि तथा व्यवहारदर्शनाच्चेत्याह–दृढामिति। लोके मूर्च्छितस्य मृतव्यवहारो यथा, एवं मूर्च्छितबुद्धेः अत्र वेदान्ते विलीनेति व्यवहार इत्यर्थः॥२६१॥

हृदयान्तराकाशे बुद्धेर्लये दृष्टान्तमाह– यथा नभ इति। अत्यन्तसूक्ष्मस्य शाल्मल्यादितूलस्य आकाशे लयो व्यवह्रियते, एवं हृदयान्तराकाशगा बुद्धिः लीनेति उक्ता वेदे– 'गृहीतं मनः' (बृ.२.१.१७) इति वाजसनेयके, 'मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति' (कौ.४.१९) इति प्रकृतश्रुतौ चेत्यर्थः॥२६२॥

उक्तबुद्धिलयं प्रति पित्तेन द्वारनिरोधात्मको हृदयकमलसङ्कोचोऽपि हेतुरिति दृष्टान्तेन दर्शयति– यथा पटस्येति। पटचित्रं पटान्तर्गतं चित्रं प्रलीयते लीनमिति व्यवह्रियते॥२६३॥

होते हैं। ऐसे ही हृदयपद्म में बुद्धि को सुख व दुःख दोनों होते हैं॥२५८॥ इंद्रियों समेत शरीर, पुरीतत् और सिर, सभी बुद्धि के लिये विदेश है। केवल एक हृदयकमल ही उसका स्वदेश है॥२५९॥ स्वप्न व जाग्रत् के अनुभव कराने के लिये फलोन्मुख कर्म जब क्षीण हो जाते हैं तब हृदयकमल में स्थित दहर नामक आकाश में गयी बुद्धि कारण में झट से विलीन हो जाती है॥२६०॥ लोक में जैसे गहरी मूर्छा में गये व्यक्ति को मृत कह देते हैं ऐसे ही मूर्छित हुई बुद्धि को वेदांतों में विलीन हुआ कह दिया गया है। सूक्ष्मरूप से वह बनी रहती है॥२६१॥ सेमल की रुई का अतिसूक्ष्म अवयव आकाश में उड़ जाये तो कह देते हैं कि वह लीन हो गया। इसी प्रकार हृदय में गयी बुद्धि को वेद कह देता है कि वह लीन हो गयी॥२६२॥ जैसे कपड़ा समेट देने से कपड़े पर बना चित्र प्रलीन हो जाता है, वैसे पित्त द्वारा हृदय के दरवाज़े बन्द कर देना रूप हृदयकमल के संकुचित होने से बुद्धि लीन हुई कही जाती है॥२६३॥

वह परम पुरुष इस प्रकार (= विज्ञानमय रूप से) हृदयाकाश में सोकर जब जाग्रद्भोगप्रद कर्म फलोन्मुख होते हैं

१. देहमात्रस्य स्वशब्देनोक्तत्वादिह 'शिरास्तथे'ति पाठेन भाव्यमिति युक्तमुत्पश्यामः। २. सदेति टीकाकारोऽपाठीत्।

यथा ज्वलन् महावह्निः कणकानात्मरूपकान्। शयनादुत्थितोऽप्येवं सृजत्यात्मेन्द्रियादिकम्॥२६६॥

उत्थितो हृदयाकाशात् प्राणान् बुद्धिं सृजत्ययम्। ज्ञानकर्मेन्द्रियैः सार्धं व्यापारैर्विविधैरपि॥२६७॥

इन्द्रियेभ्यस्ततो देवा वह्न्याद्या अधिदैवतम्। जायन्ते तत एवैते लोका विषयसंवृताः॥२६८॥

नित्यं जनिमृती एवमिन्द्रियाणां महात्मनाम्। देवानाञ्च सलोकानां सर्वेषामिह देहिनाम्॥२६९॥

अतीन्द्रियार्थे वेद एव मानम्

अविश्वासो न कर्तव्यः शास्त्रार्थे पण्डितैः सदा। अर्थे त्वतीन्द्रिये यस्माद् मानं शास्त्रादृते न हि॥२७०॥

'स यदा प्रतिबुध्यत' इत्यादेः 'लोका' इत्यन्तस्य[1] (कौ.४.१९) अर्थमाह– एवं स इति षड्भिः। स पुरुषः विज्ञानमयः वस्तुतः परः परमात्मरूप एवम् उक्तविधया शयित्वा उपाधिलयद्वारा पूर्णभावरूपं शयनमनुभूय जाग्रद्भोगप्रदकर्मणः पश्चात् प्राक्कृतस्य उद्भूतौ प्रादुर्भावे सति सदा जागरणं याति इति॥२६४॥

तन्तुनाभ इति। तन्तुनाभो लूतासंज्ञः कीटः यथा परं साधनम् अनपेक्ष्य तन्तून् सृजति एवं शयनादुत्थितः पुमान् प्राणादीन् सृजतीत्यर्थः॥२६५॥

यथा ज्वलन्निति। यथा महान् वह्निः ज्वलन् सन् कणकान् सृजति, एवम् आत्मा इन्द्रियादिकं सृजति। कीदृशान् कणकान्? आत्मरूपकान् अल्पार्थे कन्प्रत्ययः; 'रूपमाकारश्लेषयोरपि' इति विश्वः; 'क्वचित् स्वार्थिका लिङ्गवचनानि अतिक्रामन्ति' इति वचनात्पुंस्त्वम्; तथा च– आत्मनः स्वल्पाकारानित्यर्थः॥२६६॥

उत्थित इति। अयं विज्ञानमयः हृदयाकाशादुत्थितः सन् प्राणान् सृजति। प्राणपदार्थमाह– बुद्धिम् इत्यादिना। ज्ञानकर्मेन्द्रियैः सव्यापारैः सहिता बुद्धिः श्रुतिगतप्राणपदार्थ इति भावः। अत्र वाय्वात्मकप्राणस्य सुप्तपुरुषदृष्ट्या लयस्य सिद्धान्तितत्वात् तस्यापि प्राणशब्देन संग्रहो बोध्यः॥२६७॥

इन्द्रियेभ्य इति। इन्द्रियेभ्यो देवसृष्टेराशयः प्रथमाध्याये[2] दर्शितः। अधिदैवतम्– दैवते विराजि करणतया वर्तमाना वह्न्याद्या देवा इन्द्रियेभ्यो जायन्ते। ततो देवेभ्य एते विषयैः संवृताः सहिता लोकाः सञ्जायन्त इति॥२६८॥

नित्यमिति। एवं सर्वदेहिसम्बन्धिनाम् इन्द्रियाणां तथा महात्मनाम् इन्द्रियदेवानां लोकानां च नित्यं जनिमृती बोध्ये इत्यन्वयः॥२६९॥

तब जग जाता है॥२६४॥ जैसे मकड़ी अन्य किसी की अपेक्षा रखे बिना अनेक जाले उत्पन्न कर लेती है, वैसे यह सोकर उठा पुरुष प्राणादि उत्पन्न कर लेता है॥२६५॥ जिस तरह जलती हुई महान् आग अपने ही छोटे-छोटे आकाररूप चिनगारियाँ पैदा कर देती है, उसी तरह सोकर उठा आत्मा इन्द्रियादि को पैदा कर देता है॥२६६॥ हृदयाकाश से उठा हुआ यह विज्ञानमय पुरुष प्राणों को, बुद्धि को, ज्ञानेन्द्रियों को, कर्मेन्द्रियों को व उनके व्यापारों को उत्पन्न कर देता है। (यदि प्राण जगा ही रहा था ऐसा मानना हो तो यहाँ प्राणशब्द का अर्थ व्यापारयुक्त ज्ञानकर्मेन्द्रियों समेत बुद्धि ही है यह समझना चाहिये।)॥२६७॥ फिर इंद्रियों से वह्न्यादि देवता उत्पन्न होते हैं जो विराट् शरीर में करण-रूप से विद्यमान हैं। विषयों सहित लोक देवताओं से उत्पन्न होते हैं॥२६८॥ इस प्रकार सभी देहधारियों की इंद्रियों के, व्यापकतादात्म्य रखने वाले देवताओं के तथा लोकों के जन्म-मरण प्रतिदिन होते रहते हैं॥२६९॥ शास्त्र द्वारा बताये इस अर्थ में पण्डितों द्वारा अविश्वास कभी नहीं किया जाना चाहिये क्योंकि इंद्रियातीत विषय में शास्त्र से अतिरिक्त कोई प्रमाण है नहीं।'॥२७०॥ राजा

---

१. 'स यदा प्रतिबुद्ध्यते यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मन प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः॥' इति।

२. श्लो. ७७। देवा लोकपालाः सत्सु लोकेषु तेषां पालकत्वसम्भवः। लोकशब्दः करणव्युत्पत्त्येन्द्रियपरः। तस्माद्युक्तमिन्द्रियेभ्योनन्तरं देवसर्जनम्।

प्रत्यक्षस्य च बाधोऽत्र दृश्यते प्रायशो नृभिः। अनुमानं च मानं स्वं समपेक्ष्यैव जायते॥
अन्यथा नानुमानत्वं भवेत्तस्य कथंचन॥२७१॥

अक्षमक्षं प्रति यदा प्रत्यक्षं जायते नृणाम्। सर्ववस्तुषु तन्नैकं तदा मानं हि तद् भवेत्॥२७२॥

अयमर्थो न सम्भाव्यते? इत्याशङ्क्य; द्वितीयाध्याये[१] प्रपञ्चितं समाधानमधिकयुक्त्याभिधानायानुवदति– अविश्वास इति। शास्त्रस्य वेदस्यार्थेऽविश्वासो न कर्तव्यः। अविश्वासो हि प्रमाणान्तरविरोधात् सम्भवति। विरोधश्च समानविषययोः प्रसिद्धः। अत्र तु शास्त्रविषये प्रमाणान्तरस्याऽप्रवृत्तेः स विरोधो दुर्वच इत्याह– अर्थे त्विति।२७०॥

शास्त्रविषये मानान्तरस्य अप्रवृत्तिं विशदयति– प्रत्यक्षस्येति षड्भिः। अत्र शास्त्रविषये स्वर्गापूर्वदेवतादौ प्रत्यक्षस्य प्रमाणेषु ज्येष्ठस्य बाधोऽभावः प्रायशो नृभिर्दृश्यते– 'न वयमेतत् प्रत्यक्षेण पश्याम' इत्याकारेणानुभूयते। योगिव्यावृत्तये प्रायःपदम्। योगिप्रत्यक्षविशेषस्यापि शास्त्रानुकूलाचरणेन जायमानस्य न पूर्वसिद्धशास्त्रसमानविषयत्वं शास्त्रस्य अनुवादकताप्रयोजकं वक्तुं शक्यमिति भावः। अनुमानस्य तथात्वं निरस्यति– अनुमानमिति। अनुमानं हि स्वं स्वोपयोगि-व्याप्त्यादिग्राहकतया स्वसम्बन्धि प्रत्यक्षादिकम् अपेक्ष्य उपजीव्य एव जायतेऽन्यथा प्रमाणान्तरस्य प्रथमवृत्तिमनपेक्ष्य प्रवर्तमानत्वे तस्य अनुमानस्य अनुमानत्वम् अनुमानशब्दवाच्यत्वं न भवेत्, मानमनुगतमनुमानमित्यवयवार्थासम्भवादित्यर्थः। अत्रानुमानशब्दे 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' (वार्ति.१.४.७९ तमे) इति समासो विवक्षितः। अयं भावः– अतीन्द्रियेऽर्थे प्रमाणान्तरसापेक्षस्य अनुमानस्य प्रत्यक्षापेक्षा वा प्रवृत्तिः, शास्त्रापेक्षा वा? नाद्यः, प्रत्यक्षस्य बाधोक्त्या निरस्तत्वाद्। न द्वितीयः, पूर्वसिद्धशास्त्रापेक्षया प्रवृत्तस्य शास्त्रनिष्ठानुवादकताऽऽधायकत्वानुपपत्तेः–इति॥२७१॥

प्रत्यक्षस्य स्वल्पविषयाऽप्रसिद्धेरपि[२] शास्त्रविषये तत्प्रसरो वक्तुमशक्य इत्याशयेन प्रत्यक्षस्य विषयेषु सङ्कुचद्वृत्तितामाह– अक्षमिति द्वाभ्याम्। अक्षमक्षं प्रति यद् जायते तत् प्रत्यक्षम् इति व्युत्पत्तिकेन 'प्रतिपरिसमनुभ्योऽक्ष्ण' इत्यच्प्रत्ययान्तेन प्रत्यक्षशब्देन अभिधेयं प्रत्यक्षज्ञानं प्रतीन्द्रियं पृथक् पृथक् जायते– इति यदा निश्चितं तदा सर्ववस्तुषु तत् प्रत्यक्षं मानम् एकं न भवेत् किन्तु अनेकं चक्षुरादिकरणभेदाद् चाक्षुषरासनादिसंज्ञमेव भवेदिति। तस्य च चक्षुराद्ययोग्ये शास्त्रार्थेऽनवकाश इति भावः॥२७२॥

गार्ग्य को सावधान कर रहा है कि इस विषय में शुष्क तर्क का प्रयोग न किया जाये। एक ज्ञान साधन से प्राप्त ज्ञान में प्रमाणान्तर का विरोध होने पर ही अविश्वास होना उचित है। एक विषय में सक्षम प्रमाणों का ही आपसी विरोध संभव है। शास्त्रबोधित विषय किसी अन्य प्रमाण के क्षेत्र में आता नहीं। अतः प्रमाणांतर के विरोध का प्रसंग न होने से अविश्वास का कारण नहीं। 'पण्डितैः' कहकर सूचित किया कि शास्त्रोक्त अर्थ में अविश्वास करने वाले दुर्बुद्धि ही होते हैं। अत एव मानान्तरविरोध प्रदर्शित कर अद्वैतबाध बताने वाले माध्वादि पण्डित नहीं यह ध्वनित होता है।

'शास्त्र के विषयभूत स्वर्ग, अपूर्व, देवता आदि में ज्येष्ठ प्रमाण प्रत्यक्ष का विरोध ही लोगों को प्रायः लगता है। अनुमानरूप प्रमाण तो अपने उपयोगी प्रत्यक्षादि की अपेक्षा से ही उत्पन्न होता है; ऐसा न हो तो वह 'अनु' अर्थात् पश्चात् होने वाला 'मान' अर्थात् प्रमासाधन किसी तरह न बन पायेगा'॥२७१॥ सामान्यतः लोग यही कहते हैं 'यह सब हमें दीखता नहीं, कैसे माने?' अतः प्रत्यक्षविरोध ही कहा जाता है। 'प्रायः' इसलिये कहा कि कुछ लोग योगसिद्धि आदि से स्वर्गादि का प्रत्यक्ष कर भी लेते हैं, वे शास्त्रार्थ में प्रत्यक्षविरोध नहीं मानते। अनुमान व्याप्ति-ग्रहणादि की ज़रूरत रखने से प्रत्यक्ष के सहारे ही टिकता है। उसके नाम में 'अनु' शब्द से भी यही पता चलता है कि वह किसी प्रमाण के पीछे

१. श्लो. ४२९-३९ पर्यन्तेन ग्रन्थेन। तत्रापौरुषेयत्वं हेतूकृत्योक्तं 'तस्मादेव यदस्माकं कथयेद् वेद ईश्वरः। राजशासनवत् तद्धि ग्राह्यमस्माभिरादृतैः'॥४३१॥ इति।

२. स्वल्पविषयप्रसिद्धेरिति वा स्वल्पविषयताप्रसिद्धेरिति वा पाठं मन्महे। श्लो. २७५ तमस्यावतरणिकायां 'प्रत्यक्षस्याल्पविषयताभिधानफलम्' इत्युक्तेरिहापि तथा बोध्यम्।

अपि स्वस्य यदैव स्यात्तद्योगोऽपि हि वस्तुनि। तदा परस्य तन्नापि किमतीन्द्रियवस्तुनि॥२७३॥

अपि दोषकलाशून्यं नाध्यक्षं केवलं भवेत्। यतोऽक्षगतदोषाणामध्यक्षेण निदर्शनम्॥२७४॥

अनुमानं न तत्र स्याद् मूलाभावात् कथञ्चन। अनुमानविभेदा ये ह्यर्थापत्त्यादयः[१] कथम्॥
मानमत्र भवेयुस्ते भिन्ना न स्वयमेव हि॥२७५॥

सन्निकर्षापेक्षतयाऽपि प्रत्यक्षस्य सङ्कुचद्वृत्तितेत्याह– अपि स्वस्येति। स्वस्य **कस्यचित्प्रमातुः कस्मिंश्चिद्** वस्तुनि **तद्योग इन्द्रिययोगः** अपि यदा स्यात् तदाऽपि परस्य **तद्भिन्नस्य** तत्त **प्रत्यक्षं** न भवतीति **प्रसिद्धम्। तथा च इन्द्रिययोगेष्वपि[२] न प्रत्यक्षस्य स्वतन्त्रा वृत्तिः**, अतीन्द्रियवस्तुनि तु किं वक्तव्यमिति **शेषः। न च वेदेऽपि श्रवणादिकमपेक्ष्य ज्ञानजनके समानोऽयं दोष इति वाच्यम्, सूर्यवद् भासकस्य वेदस्य प्रमाजननेऽन्यानपेक्षत्वात्। श्रवणमननादीनां तु मन्ददृष्टेरञ्जनवद् बुद्धिसंस्कारमात्रत्वात्। चक्षुरादीनां तु दीपवत् सामर्थ्यमेव स्वल्पमेव विशेषाद् इति[३]॥२७३॥**

दोषवत्त्वेन प्रसिद्धेश्च प्रत्यक्षस्य न निर्दोषवेदसमानविषयतेत्याह–अपि दोषेति। केवलम् **आगमनिरपेक्षं यत् प्रत्यक्षं तद् दोषकलाशून्यं दोषलेशहीनं** न **सम्भवेद्,** यत **इन्द्रियदोषाणामन्धत्वबधिरत्वादीनाम्** अध्यक्षेण निदर्शनं **निश्चय इत्यर्थः॥२७४॥**

चलता है। शास्त्रीयार्थ में भी अनुमान या प्रत्यक्ष को सहारा बनाकर प्रवृत्त होगा, या स्वयं शास्त्र को। प्रत्यक्ष शास्त्रीयार्थ को विषय करता नहीं अतः उस अर्थ में वह अनुमान को सहारा नहीं दे सकता। शास्त्र सहारा देगा तो शास्त्र का विरोध अनुमान से हो ही नहीं पायेगा।

प्रत्यक्ष का विषयक्षेत्र अतिसीमित है अतः शास्त्रविषय में वह प्रवृत्त नहीं होता यह राजा प्रतिपादित करता है– 'लोगों की हर इंद्रिय को जो ज्ञान होता है (या हर इंद्रिय से लोगों को जो ज्ञान होता है) उसे ही प्रत्यक्ष कहते हैं; जब यह निश्चित है तब सर्ववस्तुविषयक प्रत्यक्ष-रूप कोई एक प्रमाण नहीं सिद्ध होता, किन्तु इंद्रियभेद से चाक्षुष, रासन आदि नामक अनेक प्रत्यक्ष वस्तुओं को विषय करते हैं यही सिद्ध होता है। शास्त्रप्रतिपाद्य अर्थ चक्षु आदि के अयोग्य है अतः उसे विषय करने वाला प्रत्यक्ष सर्वथा असंभव है'॥२७२॥

इतना ही नहीं, प्रत्यक्ष को विषयेन्द्रिय सम्बंध की ज़रूरत है इससे भी इसका क्षेत्र सीमित है यह भी राजा बताता है– 'किसी प्रमाता का किसी वस्तु से इन्द्रिय-सम्बंध भी जब होगा तब भी उससे अन्य का प्रत्यक्ष होगा नहीं। अतः अतीन्द्रिय वस्तुविषयक प्रत्यक्ष नहीं होता इसमें कहना ही क्या?'॥२७३॥ इंद्रिययोग्य वस्तु का प्रत्यक्ष करने में ही जब प्रत्यक्ष स्वतंत्र नहीं तब इन्द्रियों के अयोग्य का प्रत्यक्ष कैसे करेगा? चक्षुरिंद्रिय से घट तक पहुँचा हुआ भी मन घटस्पर्श का प्रत्यक्ष नहीं कर पाता, घट के भीतर के रूप का भी प्रत्यक्ष नहीं कर पाता तो जिससे इंद्रियसम्पर्क असंभव है उसके प्रत्यक्ष की आशा कहाँ? वादी साक्षिप्रत्यक्ष स्वीकारता नहीं अतः उसके सहारे शंका करेगा नहीं। स्वमत में साक्षिप्रत्यक्ष है तो शास्त्रीय अर्थ भी स्वीकृत है अतः शंका नहीं। अर्धजरतीय युक्त नहीं। प्रश्न होने पर भी दृष्टिसृष्टि के अनुसार समाधान जान लेना चाहिये।

'आगम से निरपेक्ष अकेला प्रत्यक्ष सर्वथा निर्दोष कभी नहीं होता क्योंकि इन्द्रियों में होने वाले दोष प्रत्यक्षसिद्ध

१. नन्वर्थापत्तिर्नैयायिकरीत्यानुमानान्तर्गतास्तूपमानादेस्तथात्वं कुत इति चेत्? उपमानमपि प्रत्यक्षमपेक्ष्यैव जायते गां दृष्ट एव तत्सदृशं गवयं दृष्ट्वा तत्सादृश्यं गवि उपमिनुयाद् अतो मानम् अनु एव प्रवर्तमानमुपमानमनु-मानान्तर्गतमुक्तम्। एवं प्रतियोगिज्ञानमनु एव जायतेऽभावधीरित्यनु-पलब्धेरपि युक्तोनुमानेऽन्तर्भावः।

२. योग्येष्वपीति स्यात्।

३. इति विशेषाद् दोष इति न वाच्यमित्यन्वयः। न चानुमानमपि प्रमाजननेऽन्यानपेक्षमिति तुल्या चर्चेति वाच्यम्, स्वजननेऽन्यापेक्षत्वाद्वेदस्य तु नित्यत्वेनाऽतथात्वादिति।

अनुमानाद् विभिन्नत्वमस्तु तेषामथाऽपि ते। निदर्शनमुपाश्रित्य तोषयन्ति[१] क्वचिद् नरम्॥
निदर्शनं च प्रत्यक्षं प्रत्यक्षं च निराकृतम्॥२७६॥

अतोऽयं भगवान् वेदः सर्वदोषविवर्जितः। यद् वक्ति तत् परिग्राह्यं राजशासनवत् सदा॥२७७॥

इन्द्रियाणामयं प्राह सृष्टिं संहृतिमेव च। दिने दिने ततो गार्ग्य विश्वासं व्रज सर्वदा॥२७८॥

प्रत्यक्षस्याल्पविषयताभिधानफलमाह– अनुमानमिति। तत्र **अतीन्द्रियेऽर्थे। मूलस्य प्रत्यक्षस्य अभावाद्** अनुमानं कथञ्चन **अपि** न स्याद् इति। **नन्वर्थापत्त्यादीनामस्तु प्रवृत्तिरिति चेत्? ते किम् अनुमानाद् अभिन्ना भिन्ना वा? नाद्य इत्याह**– अनुमानविभेदा इति। येऽर्थापत्त्यादयः **अनुमानभेदाः** तेऽत्र **शास्त्रविषये** कथं मानं भवेयुः; **यतः तेऽर्थापत्त्यादयः स्वयम् अनुमानाद् भिन्ना एव न भवन्ति। अनुमानाऽभेदे हि अनुमानदोषास्तेषु प्राप्ता एवेति भावः॥२७५॥**

न द्वितीय इत्याह– अनुमानादिति। तेषाम् **अर्थापत्त्यादीनाम्** अनुमानाद् **भिन्नत्वम्** अस्तु, अथापि **एवमपि ते स्वतन्त्राः प्रमां न जनयन्ति। किन्तु?** निदर्शनं **दृष्टान्तमाश्रित्य पुरुषस्य बालस्येव क्वचित् परितोषमात्रं जनयन्ति। निदर्शनं तु प्रत्यक्षेऽन्तर्भूतम्। प्रत्यक्षं तु निरस्तमेवेति॥२७६॥**

फलितमाह– अत इति। अतः **प्रमाणान्तराविषयबोधकत्वाद् इति॥२७७॥**

हैं'॥२७४॥ वैद्यादि प्रत्यक्ष ही इंद्रिय-दोषों का निदान व उपचार करते हैं। गोलक में ही दोष होगा व उसका प्रत्यक्ष होगा किंतु गोलकद्वारा ही इंद्रिय को कार्य करना है अतः गोलकदोष ऐंद्रिय प्रवृत्ति को विकृत कर निर्दुष्ट प्रत्यक्ष नहीं होने देगा, फलतः दोष इंद्रिय का ही माना जाये तो भी कोई हर्ज नहीं। इस प्रकार इंद्रिय अप्रत्यक्ष होने पर भी उनके दोष प्रत्यक्ष होना संगत हो जाता है। लोक व्यवहार केवल बहुमत के आधार पर चलता है। सूर्यप्रकाश में बहुतेरे लोग जिसे पीला आदि देखें वह पीला माना जाये आदि केवल मन-माने मापदण्डों से प्रत्यक्ष का सहीपन जाँचा जाता है। अतः निरपेक्ष सत्य के बारे में उसका प्रामाण्य हमेशा संदिग्ध है।

प्रत्यक्ष की अगति का फल क्या हुआ? यह राजा कहता है– 'अपने मूल कारण प्रत्यक्ष के अविषय के बारे में अनुमान किसी भी तरह संभव नहीं। अनुमान के ही प्रकारविशेष अर्थापत्ति आदि भी जब स्वयं अनुमान से भिन्न नहीं तो वे अनुमानमात्र के अविषयभूत शास्त्रतात्पर्य के विषय में कैसे प्रमाण हो सकते हैं?॥२७५॥ यदि उन्हे अनुमान से पृथक् मान लें तो भी वे अतींद्रिय अर्थ में प्रमाण नहीं क्योंकि वे केवल दृष्टांत का सहारा लेकर पुरुष को केवल संतोष दिला देते हैं कि उसे किसी विषय में ज्ञान हुआ है। दृष्टांत तो प्रत्यक्ष के अंतर्गत है और प्रत्यक्ष का प्रामाण्य अतींद्रियार्थ में नहीं यह समझाया जा चुका है'॥२७६॥ ऐंद्रियविषयक अनुमानादि के निराकरण में यहाँ तात्पर्य नहीं। अर्थापत्ति को तार्किकों ने अनुमान का ही रूप माना है अतः उसका अनुमान में अंतर्भाव मानकर उसकी अप्रवृत्ति कही। उपमान तो दृष्टांत से संतोष कराता है यह स्पष्ट है। अत एव 'गोसदृश गवय होता है' सुनकर जंगल गये पुरुष को गवय दीखने पर 'यह गवय है' ऐसा ज्ञान होने पर भी जब तक कोई जानकार उसे पुष्ट न करे तब तक संदेह बना ही रहता है क्योंकि सादृश्य इतने अधिक ढंगों का होता है कि कई जानवरों को गोसदृश कहा जा सकता है। अनुपलब्धि तो प्रत्यक्ष ही तार्किक द्वारा स्वीकृत है।

'अन्य प्रमाणों के अविषय का बोधक होने से यह वेद भगवान् ही सभी दोषों से रहित है। अतः वह जो कहे उसे राजाज्ञा की तरह निःसंदेह स्वीकार कर लेना चाहिये॥२७७॥

वेद कहता है कि प्रतिदिन इंद्रियों का उत्पत्ति व विनाश होता है। अतः हे गार्ग्य! इस बारे में हमेशा निश्चय रखना ही उचित है'॥२७८॥

---

१. वास्तवप्रामाण्यं प्रत्यक्षादेर्नास्तीति तानि तोषयन्त्येव। अर्थापत्त्यादिवत्प्रत्यक्षादिकमपि तोषयत्येवेति ज्ञेयम्।

क्षुराग्निदृष्टान्तयोस्तात्पर्यम्

आकाशेऽनुपपत्तिं त्वं मा कृथाः स्वात्मदेहगे। हृदयाकाशगेप्येवमानन्दात्मस्वरूपिणि॥२७९॥

आकाशरूप आत्माऽयं वागादौ च व्यवस्थितः। एकैकत्र यथाऽऽकाशः स शरावघटादिषु॥
अकृत्स्नमेनमात्मानं मावगच्छ कदाचन॥२८०॥

न चात्र हृदयाम्भोज एकदेशे व्यवस्थितः। क्षुरोयथा नापितस्य क्षुरपात्रे क्वचित् स्थितः॥२८१॥

अविश्वासनिरासमुपसंहरति— इन्द्रियाणामिति। अयं वेदः प्रकृतश्रुतिरूपः प्रतिदिनम् इन्द्रियाणां सदैवतानां सविषयाणां च सृष्टिं जागरादौ, संहारं च शयने प्राह, ततः प्रभुणा वेदेनोक्तत्वादेवात्रार्थे विश्वासं श्रद्धां हे गार्ग्य! बालाके! व्रज धेहीत्यर्थः॥२७८॥

'स एष प्राण' इत्यादि द्वितीय-'आनखेभ्य' इत्यन्तं (कौ.४.२०) वाक्यं[१] तात्पर्यतो व्याकरोति— आकाश इति दशभिः। अनवच्छिन्ने चिदाकाश आनन्दात्मरूपेऽनुपपत्तिं पूर्णेऽनुपपत्तिमतीं परिच्छिन्नत्वदृष्टिं मा कृथा मा कुरुष्व। ननु को मम परिच्छिन्नत्वदृष्टेः प्रसङ्गहेतुः?— अत आकाशं विशिनष्टि— स्वात्मदेहगे सुप्तोत्थापनादिवाक्यैः देहवर्तितयोक्ते, 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः' (बृ.२.१.१७) इति वाजसनेयकवाक्येन हृदयच्छिद्रगततया चोक्ते। तथा चैतादृशवाक्यानि दृष्ट्वा कस्यचिद् मन्दमतेः वागाद्यवच्छिन्नमपि मत्त्वा वक्तास्मि श्रोतास्मीत्याद्याकारा भ्रान्तिरात्मनि प्रसज्यते, तां व्यावर्तयितुं 'स एष' इत्यादिवाक्यमिति भावः॥२७९॥

एतमभिप्रायमेव विशदयति— आकाशरूप इति। अयमाकाशरूप आत्मा वागादौ एकैकत्र प्रत्येकमपि स्थितः, यथा शरावे मृन्मयपानपात्रे घटादिषु च तद्वत्। एनं वागाद्यवच्छिन्नमपि मूढा आत्मतया मन्यन्ते, त्वं तु तथा न अवगच्छ—इति बोधयितुम् अग्निक्षुरदृष्टान्तावुच्येते इति शेषः॥२८०॥

उपनिषत् में कहा है कि वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा है जो इस शरीर में नख व लोम पर्यन्त अनुप्रविष्ट है। जैसे क्षुरधान (उस्तरा रखने के खोल) में क्षुर (उस्तरा) रखा रहता है या अरणि आदि में आग रहती है वैसे ही यह प्रज्ञात्मा इस शरीर में नख-लोम पर्यन्त अनुप्रविष्ट है। शंकरानंदी दीपिकानुसारी पाठ में प्राण ही प्रज्ञात्मा है जो शरीर में अनुप्रविष्ट है— यह वाक्यखण्ड उपनिषत् में नहीं है। वहाँ क्षुरधानादि दृष्टांत से प्राज्ञ आत्मा की अनुप्रविष्टता समझायी है। इसी भाग का व्याख्यान पुराणकार कहते हैं—

राजा कहता है— 'अपने शरीर में व हृदयाकाश में होने वाले आनन्द-आत्म-स्वरूप आकाश के विषय में तुम परिच्छिन्नत्व दृष्टि मत करना'॥२७९॥ राजा का अभिप्राय है कि आत्मा को वक्ता, श्रोता आदि नहीं मान लेना चाहिये, वह परिपूर्ण प्रज्ञा ही है। यद्यपि उसे देहवर्ती समझा जा रहा है और शास्त्र उसे दहराकाश से अवच्छिन्न बताता भी प्रतीत हो रहा है तथापि हृदयस्थ आत्मा को ही पृथ्वी, अंतरिक्ष द्यु आदि सब से बड़ा भी कहा (छां.३.१४) होने से शास्त्र की एकवाक्यता कर आत्मा को व्यापक ही समझना चाहिये। परिच्छेदानुभवों को भ्रम ही जानना चाहिये।

'आकाशरूप यह आत्मा वाणी आदि प्रत्येक में भी स्थित है जैसे स्थूल आकाश घट, शराव आदि प्रत्येक में भी स्थित रहता है। इस वागादि-स्थित अपूर्ण को तुम आत्मा कभी मत समझना'॥२८०॥ यद्यपि परिच्छिन्नरूप भी है वही तथापि उतना ही आत्मा है यह समझना गलत है। किं च, परिच्छिन्न में आत्मबुद्धि होने पर अंततः भी निरवच्छिन्न को आत्मा नहीं समझ पायेंगे जैसे अत्यन्त निर्जगद् व्योम समझ में नहीं आ सकता (पंचदशी), अथवा प्रकाश्य से असम्बद्ध

---

१. विंशतितमखण्डारम्भः— 'तद्यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद् विश्वंभरोवा विश्वंभरकुलाय एवमेवैष प्रज्ञ आत्मेदं शरीरमात्मानमनुप्रविष्ट आलोमभ्य आनखेभ्यः॥' इति।

किन्तु सर्वत्र जन्तूनां बहिरन्तरवस्थितम्। मनइन्द्रियदेहादौ काष्ठेऽग्निमिव विद्धि तम्॥२८२॥
अयं हि हृदयाम्भोजे बुद्धावात्मा निरूपितः। क्षुरधानादिदृष्टान्तैरेकदेशे महेश्वरः॥२८३॥
बुद्धेर्विशुद्धरूपत्वात् प्रकाशस्तत्र जायते। अभिप्रायेणाऽमुनैव तत्र नावगमाय हि॥२८४॥
चतुर्विधान्यतो देहान्युत्पाद्यायं महेश्वरः। चैतन्यव्याप्तिमकरोदानखाग्राद्धि सर्वतः॥२८५॥
यथा सर्वगतो वह्निः काष्ठेष्वस्ति विशेषतः। एवं सर्वेषु देहेषु सोऽस्ति बोधविशेषतः॥२८६॥

ननु दृष्टान्तयोरपि परिच्छिन्नदृष्टिपरत्वं किं न स्याद्? इति मन्दाशङ्कां वारयितुं दृष्टान्तेन विवक्षितार्थं दर्शयति– न चात्रेत्यादिना। यथा क्षुरो नापितस्य क्षुरपात्रे श्रुतिगतक्षुरधानपदेनाधिकरणसाधनेनोक्ते क्वचिदेकदेशे स्थितः, तथा अत्र हृदयाम्भोज एकदेशे व्यवस्थितत्वेन आत्मा न विवक्षित इति शेषः॥२८१॥

कथं विवक्षितः? इत्यत आह– किन्त्विति। यथा सर्वत्र स्थितमपि अग्निं काष्ठ उपलब्धियोग्यताभिप्रायेण काष्ठे स्थितं जानन्ति, तथा सर्वत्र स्थितमात्मानं मनइन्द्रियदेहादौ उपलब्धियोग्यतया स्थितं विद्धि इति विवक्षितमिति॥२८२॥

एतत् स्फुटयन् क्षुरदृष्टान्ताशयमाह– अयं हीति द्वाभ्याम्। अयमात्मा हृदयाम्भोजनिष्ठबुद्धिरूप एकदेशे निरूपितः। तन्निरूपणम् अमुनैवाऽभिप्रायेण बोध्यम्। 'अमुना' केन? यत् क्षुरधाने नापितपात्रे क्षुरस्येव तत्र बुद्धावात्मनः प्रकाशः शीघ्रमुपलब्धिरुपजायते। कस्माद्? बुद्धेः विशुद्धरूपत्वेन अभिव्यक्तिहेतुत्वादिति। तत्र बुद्धावेव आत्मा नान्यत्रेति अवगमाय तु न तथोक्त इति द्वयोः सम्बन्धः॥२८३-२८४॥

एवं हृदये विशेषव्याप्तिप्रदर्शकं क्षुरदृष्टान्तं व्याकृत्य शरीरे तदपेक्षयापकृष्टसामान्यव्याप्तिप्रदर्शकं द्वितीयं श्रुतिगत-विश्वम्भरपदोक्ताग्निदृष्टान्तं विशदयति– चतुर्विधानीति चतुर्भिः। अत उक्ताभिव्यक्त्यभिप्रायाद् एव महेश्वर इत्युक्त इति शेषः। 'इति' किम्? यद् चतुर्विधानि जरायुजादीनि देहान्युत्पाद्य आनखाग्राद् चैतन्यरूपेण तेषु व्याप्तिम् अकरोद् इति। 'देहः क्लीबपुंसोः' इत्यमरः॥२८५॥

तत्र दृष्टान्तमाह– यथेति। यथा सर्वगतः अपि वह्निः विशेषमालोच्य काष्ठेष्वस्ति इति व्यवह्रियत एवम् आत्मापि चैतन्यप्रयुक्तं विशेषमालोच्य देहेऽस्ति इति व्यवह्रियत इत्यर्थः॥२८६॥

प्रकाश समझ में नहीं आता। अतः जैसे छपे कागजों को ही ग्रंथ समझने वालों को नित्य वेद हृदयंगम नहीं होता ऐसे सीमित ज्ञानों वाले को आत्मा समझें तो निर्विषय ज्ञानरूप आत्मा बुद्धि में नहीं बैठ पाता। इसीलिये ईश्वर से जीव के अभेद को वेदांतों में कहा गया है।

'जैसे नाई का उस्तरा अपने खोल में कहीं पड़ा रहता है ऐसे हृदय कमल रूप एकदेश में आत्मा निश्चित रूप से रहता है यह श्रुति में विवक्षित नहीं। किन्तु प्राणियों के बाहर-भीतर सर्वत्र आत्मा है। जैसे व्यापक होने पर भी आग काठ में ही उपलब्धि-योग्य है, ऐसे मन, इंद्रिय, शरीरादि में आत्मा उपलब्ध होने योग्य है। यह श्रुति में विवक्षित है॥२८१-२८२॥ हृदयकमल में स्थित बुद्धिरूप एकदेश में यह आत्मरूप महेश्वर है, ऐसा जो क्षुरधान (उस्तरे का खोल) आदि दृष्टांतों से बताया वह केवल इस अभिप्राय से कि जैसे क्षुर अवश्य ही क्षुर-धान में मिल जाता है वैसे क्योंकि बुद्धि विशुद्ध रूप वाली अर्थात् सात्त्विक होने से अभिव्यक्तिहेतु बनती है इसलिये बुद्धि में शीघ्र ही आत्मा उपलब्ध हो जाता है। उदाहरण का यह मतलब नहीं कि आत्मा हृदय में ही है, अन्यत्र नहीं॥२८३-२८४॥

'इनमें आराम से अभिव्यक्ति हो जायेगी' इस अभिप्राय से इस महेश्वर ने चार प्रकार के (जरायुजादि) देह उत्पन्न कर नखाग्र पर्यंत पूरी तरह उन्हे चैतन्यरूप से व्याप्त कर लिया॥२८५॥ जैसे सर्वव्यापक आग 'काठ में आग है' यों समझी जाती है क्योंकि काठ में कोई विशेषता है, इसी तरह बोधरूप विशेषता होने से कहा गया कि आत्मा सब देहों में

यथा सर्वगतो वह्निः काष्ठेष्वेवोपलभ्यते। ततः काष्ठे प्रविष्टोऽयं कथ्यते लौकिकैरिह॥२८७॥
एवमाकाश आत्माऽयं चैतन्येनोपलभ्यते। आनखाग्राच्छरीरेषु प्रविष्टस्तेन कथ्यते॥२८८॥

आत्मनोऽन्यत्र न सुखप्रज्ञे

मनइन्द्रियदेहादौ सङ्घाते विक्रियाऽस्ति हि। प्रज्ञा काऽपि न तस्मिन् हि हित्वा प्राज्ञं महेश्वरम्॥२८९॥
अज्ञाऽतः प्रकृता प्रज्ञा या काचिदिह लभ्यते। मनइन्द्रियदेहादौ जडे सर्वविकारिणि॥२९०॥

दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्विशेषपदार्थमुपलब्धियोग्यतारूपमभिनयति– यथा सर्वेति द्वाभ्याम्। काष्ठेषु अरणीप्रभृतिषु श्रुतौ विश्वम्भरकुलायपदोक्तेषु; कुलायपदं नीडवाचकम्। ततः काष्ठेषूपलब्धियोग्यत्वादेव॥२८७॥

एवमिति। आकाशः परिपूर्ण आत्मा चैतन्यरूपेण देहे यत उपलभ्यते तेन तत्र प्रविष्ट इत्युक्त इति॥२८८॥

एवमुपाधिभ्यो विवेचित आत्मैव सर्वेश्वर इति बोधने तत्त्वंपदार्थस्य स्वराड्भावे व्यवस्थापनपरं 'तमेतम्' इत्यादि 'आत्मानं भुञ्जन्ति'-अन्तं वाक्यं[1] व्याचष्टे–मन इत्यादिद्वादशभिः। मनइन्द्रियदेहादिरूपे सङ्घाते विक्रिया परिणामिता प्रसिद्धैव। तस्मिन् परिणामिनि मृदादिसमे प्रज्ञा काऽपि मुख्या गौणी वा न वक्तुं शक्या। यद्यपि चैतन्याविवेककाले तेषु गौणी आध्यासिकी प्रज्ञाऽऽसीद्, विवेककाले तु साऽपि गतेत्याह–हित्वेति। प्राज्ञं स्वरूपभूतया प्रज्ञया नित्ययुक्तं महेश्वरं हित्वा विविच्येत्यर्थः॥२८९॥

ननु बुद्धिरूपा प्रज्ञा तेष्वस्ति? इत्याशङ्क्य; किं तया भवति, तस्या बुद्धेरपि जडत्वादित्याह– अज्ञेति। अतः चिद्व्यतिरिक्तस्य जडत्वादेव मनइन्द्रियदेहादौ जडे सर्वविकाराश्रये या काचित् प्रकृता बुद्धिरूपा प्रज्ञा अस्ति सापि अज्ञा एव जडैव, परिणामित्वाविशेषादिति भावः॥२९०॥

है॥२८६॥ जिस प्रकार सर्वव्यापक भी वह्नि काठ में ही उपलब्ध (प्रकट) होती है अत एव संसार में लौकिक लोग कहते हैं 'काष्ठ में आग घुसी हुई है।' उसी प्रकार परिपूर्ण भी यह आत्मा चैतन्यरूप से (ज्ञानरूप से) नखाग्रपर्यन्त शरीरों में उपलब्ध होता है, इसी से कह दिया जाता है कि वह शरीरों में प्रविष्ट है'॥२८७-२८८॥

आगे उपनिषत् में बताया है कि जैसे कुटुम्बी अपने कुटुम्ब के साथ भोग करता है और कुटुम्ब वाले लोग उस कुटुम्बी पर आश्रित रहते हैं वैसे प्रज्ञात्मा वागादि के साथ भोग करता है और वे इसके आश्रित ही रहते हैं। अधिदैव से भिन्न होकर अध्यात्मभाव को प्राप्त वागादि आत्मप्रकाश का अनुगमन करते हैं यह अनुभवसिद्ध है व पूर्व में विस्तार से समझाया जा चुका है। ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति रूप उपाधि वाला आत्मा इंद्रियों द्वारा ही भोग करता है। करणरूप इन्द्रियों के बिना असंग उदासीन चित्स्वभाव आत्मा का कोई भोग नहीं। अजातशत्रु ने काशिराज प्रतर्दन के गुरु इंद्र के बारे में कहा है कि आत्मज्ञान न होने तक इंद्र असुरों से हारता रहा पर ज्ञान होने के बाद उसने असुरों को हरा दिया, स्वाराज्य पाकर सभी देवों में श्रेष्ठ हो गया। जो कोई भी अवस्थात्रय से अतीत इस महेश्वर को साक्षात् जान लेता है वह भी इंद्र की तरह ही सब कर्मबंधनों से निर्मुक्त हो जाता है। इतना बताकर उपनिषत् समाप्त हुई है। इस भाग का वर्णन अब पुराण में किया जायेगा।

'मन-इंद्रिय-देह आदि रूप संघात में बदलाव प्रसिद्ध ही है अतः मिट्टी आदि के तुल्य होने से उसमें किसी भी तरह की प्रज्ञा नहीं है। अविवेकदशा में गौण प्रज्ञा स्वीकार्य थी किंतु प्रज्ञारूप महेश्वर से संघात का विवेक हो जाने पर वह भी नहीं बची। चेतन से अन्य जड ही होता है अतः विकारशील मन-इन्द्रिय-देहादि जडों में जो बुद्धिरूप प्रज्ञा है वह भी परिणामी होने से जड ही है, अज्ञ ही है'॥२८९-२९०॥ पूर्व में मुख्यप्रज्ञा के अवगम के लिये अनुभव के अनुसार

१. 'तमेतमात्मामेनत आत्मानोऽन्ववस्यन्ति यथा श्रेष्ठिनं स्वाः। तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा स्वा श्रेष्ठिनं भुञ्जन्ति एवमेवैष प्रज्ञात्मा एतैरात्मभिर्भुङ्क्ते। एवं वै तमात्मानमेत आत्मानो भुञ्जन्ति।' (कौ.४.२०)।

एवं सुखं च नैतेषु किञ्चिदस्ति कदाचन। हित्वा प्राणं[1] महेशानमानन्दात्मस्वरूपिणम्॥२९१॥
सुखप्रकाशरूपोऽयमानन्दात्मा महेश्वरः। मनइन्द्रियदेहादीन् सुखज्ञानविवर्जितान्॥
कुरुते स्वात्मसम्पत्त्या सुखज्ञानविभागिनः॥२९२॥

श्रेष्ठिदृष्टान्तस्यार्थः

एतं सर्वप्रियतमं प्रज्ञानन्दात्मरूपिणम्। नित्यबोधेन जानन्तमनुजानन्ति देवताः॥२९३॥
सम्यग्वा विपरीतं वा जानन्तं धनिनं यथा। अनुजानन्ति मनुजास्तदीयाः सर्वतः स्थिताः॥२९४॥

यथाऽऽत्मव्यतिरिक्तेषु ज्ञानं नास्ति एवं सुखमपि नास्तीत्याह– एवमिति। एतेषु आत्मव्यतिरिक्तेषु॥२९१॥

एवं सुखज्ञानाभ्यां राहित्ये मनआदीनां निश्चिते सति यत्तेषु ज्ञानं सुखं वा भासते तत्सर्वमात्मप्रसादलभ्यमित्याह– सुखेति। सुखरूपः प्रकाशरूपश्च अयमानन्दात्मा पूर्ण आत्मा स्वतः सुखज्ञानाभ्यां वर्जितान् मनःप्रभृतीन् स्वात्मसम्पत्त्या स्वीयसुखादिसम्पदा करणभूतया सुखभागिनो ज्ञानभागिनश्च करोति, यथा धनिकः स्वाश्रितानित्यर्थः॥२९२॥

एवं तात्पर्यार्थं प्रदर्श्य तत्र वाक्यं समन्वितं करोति–एतमिति। एतं स्वात्मसम्पत्त्या परान् सुखज्ञानभागिनः कुर्वाणमात्मानम् आनन्दात्मकरूपत्वात् सर्वप्रियतमं देवता अध्यात्माधिदैवभिन्ना वागाद्या अनुसृत्य जानन्ति व्यवसायं लभन्ते, न स्वतन्त्राः सामर्थ्यहीनत्वादिति भावः॥२९३॥

तत्र दृष्टान्तभागं विवृणुते–सम्यगिति द्वाभ्याम्। यथा धनिनम् अनेकैरुपजीव्यत्वेन प्रशस्तधनवन्तं, प्रकृतेर्भाव-प्रधानत्वेन श्रेष्ठत्ववद्वाचकश्रेष्ठिपदेन श्रुतिगतेनोक्तं प्रभुं तदीयाः तत्सम्बन्धिनः श्रुतौ स्वपदेनोक्ताः, तस्य सर्वतः परिपार्श्वे स्थिता मनुजाः तमनुसृत्य जानन्ति निश्चयं कुर्वत इत्यर्थः॥२९४॥

बुद्धिवृत्ति को गौण प्रज्ञा माना था। किंतु विवेक हो चुकने पर वह प्रज्ञा का गौण स्वरूप भी नहीं यह मालूम पड़ जाता है। जब तक दाल व चावल को पृथक्-पृथक् न समझे तभी तक खिचड़ी का बोध बना रहता है, उन दोनों के पार्थक्यबोध के बाद खिचड़ी नामक कोई पदार्थ नहीं दीखता। जब तक स्फटिक ठीक से समझ नहीं लेते तब तक उसमें दीखती लाली कथंचित् उसमें स्थित मान लेते हैं पर सही समझ के बाद दीखने पर भी पूर्ण निश्चय रहता है कि किसी भी तरह उसमें लाली नहीं है। इसी प्रकार बुद्धिवृत्ति की ज्ञानता है। यद्यपि मुख्य प्रज्ञा के बोध का उपाय वृत्तिरूप प्रज्ञा ही है तथापि मुख्य प्रज्ञा के बोध से वृत्ति की प्रज्ञारूपता सर्वथा बाधित हो जाती है। अत एव वृत्ति में ज्ञानत्व का उपचार आचार्यों ने बताया। जैसे बालक में कथंचिद् भी सिंहत्व नहीं होता ऐसे ही प्रकृत में है। जीवन्मुक्त को जैसे वस्तुओं का असत्त्वोल्लेखयुक्त भान होता है ऐसे बुद्धि का अचित्त्वोल्लेखयुक्त भान होता है।

'आत्मा से अतिरिक्त में जैसे ज्ञान नहीं ऐसे इनमें थोड़ा भी सुख कभी नहीं है। आनंद-आत्मस्वरूप प्राणोपलक्षित परमेश्वर को छोड़ कहीं आनंद नहीं है॥२९१॥ सुखरूप एवं ज्ञानरूप यह परिपूर्ण आनन्दात्मा महेश्वर स्वतः सुख व ज्ञान से रहित मन-इंद्रिय-देहादि को अपनी सुख-ज्ञानरूप सम्पत्ति द्वारा सुखभाक् व ज्ञानभाक् बनाता है जैसे धनिक लोग अपनी सम्पत्ति से अपने अश्रित कुटुम्बियों को धनवान् बना देता है'॥२९२॥ अथवा 'स्वात्मसम्पत्त्या' का अर्थ है 'स्वात्मा का सम्पादन करने से' अर्थात् उनमें तादात्म्याध्यास करने से।

'नित्य ज्ञान से जानने वाले प्रज्ञान-आनंदस्वरूप सबसे अधिक प्रिय इस आत्मा का अनुसरण कर ही अध्यात्म व अधिदैव सभी देवता जानते हैं'॥२९३॥ देवताओं का प्रकाश आत्मप्रकाश के परतंत्र है क्योंकि आत्मप्रकाश ही देवताओं को प्राप्त होकर उनका प्रकाश बनता है। जैसे सूर्य के भासने पर ही चंद्र प्रकाश कर पाता है अन्यथा नहीं, वैसे समझना चाहिये।

---

१. सुषुप्त्याधारः प्राण इत्युक्तत्वात्प्रकृताभिप्रायेण प्राणेत्युक्तम्।

धनिनं न विहायैते स्वयं कृत्वाऽपि कुर्वते। निश्चयं कार्यमुत्पन्नमनुजानन्त्यतस्त्विमे॥२९५॥

तथैव परमात्मानं जानन्तमनुजानते। कार्याकार्यादिकं सर्वं वागाद्या मिलिता अपि॥२९६॥

सुखी वैश्यो यथा भुङ्क्ते भृत्याद्यैः स्वजनैः सह। एवमात्माऽपि विषयान् भुङ्क्ते वागादिभिः सह॥२९७॥

वैश्यस्य पुत्रा वैश्येन विना यद्वद् न भुञ्जते। वागाद्या अपि तद्वत्त आत्मना सह भुञ्जते॥२९८॥

ननु बाह्यकार्ये आश्रितानां प्रभुपरतन्त्रत्वेऽपि निश्चये कथं परतन्त्रता? इत्याशङ्क्य; प्रभुनिश्चयं विनाऽऽश्रित-निश्चयस्य अकार्यक्षमत्वेन असत्प्रायत्वादित्याह– धनिनमिति। एत आश्रितमनुजाः कार्यविशेषानुकूलं निश्चयं स्वयं कृत्वाऽपि धनिनं विहाय उपेक्ष्य उत्पन्नं प्रसक्तमपि कार्यं न कुर्वते, किन्तु धनिकनिश्चयं प्रतीक्षन्ते। अतस्तेषां निश्चयस्याऽकार्यक्षमत्वाद् इम आश्रिता धनिनम् अनुजानन्ति इति व्यवह्रियन्त इति सम्बन्धः॥२९५॥

दार्ष्टान्तिके योजयति– तथैवेति। तथा वागाद्या देवा मिलिताः समुदिताः सन्तः अपि-शब्दात् प्रत्येकं वा स्थिता यदिदं कार्यमवश्यकर्तव्यम् इदमकार्यम् इति, आदिपदेन इदं वक्तव्यमिदमवक्तव्यमित्यादिरूपेण, जानन्ति तत् सर्वं परमात्मानम् अनुसृत्यैव जानत इत्यन्वयः। अत्र दृष्टान्त आश्रितानां धनिकज्ञानात् पृथक् ज्ञानानि, दार्ष्टान्तिके तु आत्मज्ञानमेव वागाद्यवच्छिन्नं नानेव, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (श्वे. ६.१४) इति श्रुत्यन्तराद् इति विशेषसत्त्वेऽपि अनुजानन्तीतिपदेन द्विविधज्ञानसङ्ग्रहात् श्लेषेण साम्यमिति बोध्यम्॥२९६॥

एवं ज्ञाने प्राधान्यबोधकं दृष्टान्तं विशदीकृत्य भोगे सुखसाक्षात्काररूपे प्राधान्यप्रदर्शकं 'तद्यथा' (कौ.४.२०) इत्यादिनोक्तं दृष्टान्तं विशदयति– सुखीति। यथा सुखी बहुविधभोगसाधनसम्पन्नो वैश्यो वणिग् भृत्यप्रभृतिस्वकीयजनैः सह एव भुङ्क्ते, न तु केवलः, चोरादिभयाद्; एवमात्माऽपीति। अत्रापि पूर्ववच्छ्लेषेण साम्यं बोध्यम्। एतद्दृष्टान्तेन आत्मन उपहितस्यैव भोक्तृता न तु केवलस्येति सूचितम्॥२९७॥

भोक्तृत्वस्य मिथ्यात्वं स्फुटयितुं वागादीनामपि केवलानां न भोक्तृत्वमिति प्रदर्शकं 'यथा वा स्वा' इत्यंशं विवृणोति– वैश्यस्येति। वैश्यस्य धनिनः पुत्ररूपाः सम्बन्धिनो यथा वैश्यं विना अन्नं न भुञ्जते तद्वत् ते वागाद्या अपि आत्मना सह एव भुञ्जते, केवलास्तु न भोक्तार इति यावत्। तथा च भोक्तृत्वस्य वास्तवाश्रयालाभाद् मिथ्यात्वं स्फुटमिति भावः। अत्र व्याख्येयश्रुतेरत्रार्थे समन्वयस्तु स्वकीया यद्भुञ्जन्ति तद् धनिनमेव धनद्वारा भोग्यभावमापन्नं भुञ्जन्ति, तं विना तु तेषां न भोक्तृत्वमित्यर्थेन बोध्यमिति॥२९८॥

'धनी व्यक्ति सही या गलत जो निश्चय करता है, उसके चारों ओर स्थित उसके सम्बंधी भी उसी का अनुसरण कर वही निश्चय कर लेते हैं। आश्रित लोग किसी विषय में स्वयं निश्चय करके भी धनी की उपेक्षा कर किसी उपस्थित कार्य को नहीं करते किन्तु धनिक के निश्चय की ही प्रतीक्षा करते हैं। अतः धनिक से निरपेक्ष इनका निश्चय कार्यक्षम न होने से नहीं जैसा ही है। इसी से कहा जाता है कि आश्रित लोग अपने आश्रय के अनुसार ही निश्चय करते हैं॥२९४-२९५॥ इसी तरह जानने वाले परमात्मा का अनुसरण कर ही वाक् आदि प्रत्येक व सब मिलकर कर्तव्य-अकर्तव्य आदि सब कुछ जान पाते हैं'॥२९६॥ यद्यपि कार्य-अकार्य, वक्तव्य-अवक्तव्य आदि विषय में आत्मा कुछ जाने तदनुसार वागादि जानें ऐसा नहीं है तथापि आत्मरूप ज्ञान ही वागादि से अवच्छिन्न होकर इनका ज्ञान बनता है, स्वयं इनका कोई ज्ञान नहीं, इसलिये कहा कि आत्मा के जानने पर ये जानते हैं।

जैसे ज्ञान में आत्मा का प्राधान्य है वैसे सुखसाक्षात्कारात्मक भोग में भी है यह स्पष्ट किया जाता है– 'जिस तरह सुखी वैश्य अपने नौकर आदि स्वजनों सहित ही भोग करता है उसी तरह आत्मा भी वागादि सहित ही विषयों का भोग करता है'॥२९७॥ यद्यपि वैश्य तो खुद भी व अकेला भी भोग करता है तथापि आत्मा तो उपहित हुआ ही भोक्ता है, अकेला नहीं।

भोक्तापन मिथ्या है यह स्पष्ट करने के लिये राजा बताता है कि केवल वागादि भी भोक्ता नहीं–'जैसे बनिये के

भोक्तर्युपसंहाराभिप्रायः

एवं हि हृदयाकाशः प्रोक्तः प्राज्ञो महेश्वरः। सङ्घातेनैकतां प्राप्तो दुर्ज्ञेयो धीधनैरपि॥२९९॥

ततो गार्ग्योऽसि विभ्रान्तो मा कृथाः खेदमण्वपि। कोऽग्निमिन्धनसंसृष्टं विहायान्यं प्रपद्यते॥३००॥

प्रश्नत्रयार्थसङ्क्षेपः

हृदयाकाश आत्माऽयमाधारोऽवधिरेव च। शयनस्य शयानस्य तद्वदागच्छतोऽपि च॥३०१॥

ननु भोक्तृत्वरूपेणोपसंहार आत्मनः प्रतिपादनं किमर्थमिति चेत्? तटस्थत्ववारणेन महावाक्यार्थसूचनायेत्याह– एवमिति द्वाभ्याम्। एवम् उक्तान्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधानेन हृदयाकाशः शुद्धतया य उक्तः स एव महेश्वरः सर्वसङ्घाताधिपतिरिति प्रोक्तो भवति। अन्यथा तु अयमात्मा सङ्घातेन एकतां तादात्म्याध्यासं प्राप्तः सन् बुद्धिमद्भिरपि दुर्ज्ञेय इति। अयमर्थः श्रुतावपि 'तमेतम्' इति तत्पदेन हृदयाकाशं परामृश्य प्राधान्य-विधानेन सूचितमिति बोध्यः॥२९९॥

अस्य दुर्ज्ञेयतां तव महामतेर्विभ्रम एव स्फुटयतीत्याह– तत इति। ततो दुर्ज्ञेयत्वात्। ननु सङ्घाते दुर्ज्ञेयश्चेदात्मा तर्हि सङ्घाताद् बहिः कुत्रचिद् निरूपणीयः, तत्रैवाहं प्रणिधास्यामि? इत्याशङ्कां वारयति– मा कृथा इत्यादिना। त्वम् अन्यत्र विज्ञानाय अण्वपि यथा भवति तथा खेदं खेदप्रदमुत्साहं मा कृथाः। तत्र हेतुं न्यायविरोधं दर्शयति– कोऽग्निमिति। इन्धनसंसृष्टम् उपलब्धिस्थानभूतेनेन्धनेन सम्बद्धम् अग्निं विहायान्यं तदसंस्पृष्टं कः प्रतिपद्यते प्राप्नोति, न कोपीति यावत्। तथा चाग्नेरिन्धनवद् आत्मन उपलब्धिस्थानं सङ्घातं विहाय तदन्वेषणं वृथेति भावः। तदुक्तं भागवतेऽपि 'त्वामात्मानं परं मत्त्वा परमात्मानमेव च। आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य आहोऽज्ञजनताज्ञता'॥ (१० पू.१४.२७) इति॥३००॥

प्रश्नत्रयेणोक्तमर्थजातं संगृह्णाति–हृदयाकाश इति। हृदयाकाश एव सर्वस्य आत्मा, शयनस्य शयानस्य चाधारतयोक्तः, आगच्छतः च आगमनस्य अवधितयोक्त इति॥३०१॥

पुत्रादि उस बनिये के बिना भोजन नहीं करते ऐसे ही वे वागादि भी आत्मा के साथ ही भोग करते हैं, अकेले नहीं'॥२९८॥ एवं च भोक्तापन न केवल आत्मा में है, न केवल वागादि में। इन दोनों के इतरेतराध्यासरूप अहंकार में ही भोक्तापन है। अतः मिथ्या आश्रय में होने से वह भी मिथ्या ही है।

प्रश्न होता है कि उपदेश के उपसंहार में आत्मा का भोक्तारूप से प्रतिपादन काहे के लिये किया? उत्तर है कि आत्मा की तटस्थता का निषेध करना है, वह कोई दूसरी दुनिया की अजीब चीज़ है ऐसा नहीं समझने देना है बल्कि अपने से अभिन्न है यही समझाना है। अतः स्वयं को भोक्ता मानने वाले को आत्मा भोक्ता है कहना संगत है। महावाक्य का अर्थभूत जीव-ईश्वर-अभेद इस रीति से सूचित हो जाता है। भोक्ता कहकर त्वम्पदार्थ और हृदयाकाश कहकर तत्पदार्थ, यों दोनों का अभेद स्पष्ट हो जाता है। इसे राजा कहता है– 'इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक बताकर जिसे शुद्ध रूप से हृदयाकाश कहा था वही सब संघातों का अधिपति (क्षेत्रज्ञ) है। संघात से तादात्म्याध्यास किया हुआ आत्मा अन्वय-व्यतिरेक से अतिरिक्त किसी उपाय से ज्ञेय नहीं, बुद्धिमान् लोग भी उसे अन्य किसी तरह नहीं जान सकते'॥२९९॥ अथवा, जो प्राज्ञ महेश्वर हृदयाकाश बताया गया था वही संघात से एकता को प्राप्त होता है, वह बुद्धिमानों के लिये भी दुर्ज्ञेय है, यह अर्थ है। आत्मा को अन्वय-व्यतिरेक से ही समझना पड़ता है। तीनों अवस्थाओं में अन्वय होने से प्रत्यक् ही आत्मा है व प्राण-प्रज्ञा का व्यतिरेक होने से वे अनात्मा हैं।

'आत्मा की दुर्ज्ञेयता के कारण ही तुम उसके विषय में भ्रान्त हो। हे गार्ग्य! अपने भ्रम के लिये खिन्न मत होवो, वह वस्तु ही ऐसी है जिसके बारे में महान् लोग भी भ्रम में पड़ जाते हैं। और न ही तुम यह सोचो कि संघात में दुर्ज्ञेय है तो कहीं अन्यत्र ही उसे जान लो। आग चाहने वाला ऐसा कौन होगा जो ईंधन से सम्बद्ध अग्नि को छोड़कर अन्य वस्तु का ग्रहण करे?'॥३००॥ आग की उपलब्धि का स्थान जैसे ईंधन है ऐसे आत्मा की उपलब्धि का स्थान संघात है। अन्वेषणीय आत्मा के अखण्ड साक्षात्कार से पूर्व आत्मा में जीवरूपता भासती है। जीव का ही अन्वेषण करने पर सब

शयानः करणग्रामः शयनं बुद्धिसंश्रयम्। आगन्ताऽपि स एव स्यात् सर्वो धिषणया सह।।
स्वप्नं जागरणं वाऽपि प्रोक्तमागमनं बुधैः।।३०२।।

फलप्रदर्शनम्

प्राणप्रज्ञे मया यस्ते हृदयाकाशरूपधृक्। उक्तः प्रतर्दनायेममादाविन्द्रो जगाद ह।।३०३।।

एतद्विज्ञानतः पूर्वं जिगायेन्द्रोऽसुरान् महान्। ब्राह्मणांश्च यतींस्तद्वद्धतवान् न्यायवर्जितान्।।३०४।।

हत्वाऽसुरांस्त्रिलोकस्य सदोपद्रवकारिणः। देवानामपि सर्वेषां श्रेष्ठश्चातीव देवराट्।।
निरपेक्षः सदा कार्ये युद्धादौ प्रथमो बली।।३०५।।

शयानादिस्वरूपमभिनयति– शयान इति। शयनशब्दस्य कारणलयपरत्वात् स्वप्नसंज्ञशयनस्य कर्त्ता करणग्रामो बुद्धिव्यतिरिक्तः। द्वितीयं सुषुप्तिसंज्ञं शयनं तु बुद्धिसंश्रयम् बुद्ध्याश्रितम्, तत्कर्तृत्वं बुद्धेरेवेति यावत्। यद्यपि पूर्वं विज्ञानमयस्य कर्तृत्वमुक्तं तथापि विज्ञानमयशब्दस्य बुद्धिविशिष्टचिद्वाचकत्वेन विशेष्ये कर्तृत्वबाधे विशेषणे पर्यवसानस्य 'सविशेषणे हि' इति न्यायसिद्धत्वाद् एवमुक्तमिति बोध्यम्। एवं सति आगन्ता आगमनकर्ता अपि स करणग्राम एव बुद्धिसहितो बोध्य इति।।३०२।।

अध्यायद्वयोक्तज्ञानस्य फलं पूर्वमिन्द्रेण लब्धमिति प्रदर्शकं 'स यावद्' (कौ.४.२०) इत्यादि वाक्यं[१] व्याकर्तुं पूर्वाध्यायेन एकवाक्यतां दर्शयति– प्राणेति। प्राणश्च प्रज्ञा च तयोः समाहारः प्राणप्रज्ञं तस्मिन् प्राणप्रज्ञ उपाधौ हृदयाकाशरूप आत्मा यस्ते मया उक्तः सुषुप्तौ लोकदृष्ट्या प्राणावशेषात् प्राणोपाधिकस्य विज्ञानमयविशेषणेन बुद्ध्युपाधिकस्य चाभिधानाद् इमम् एवात्मानम् आदौ पूर्वम् इन्द्र उवाचेति।।३०३।।

उपाधियों से रहित आत्मा भासता है। ईश्वर आत्मा है ऐसा जानकर भी जो उसे अपने से अलग ही ढूँढना चाहते हैं वे घोर अज्ञानी हैं ऐसा भागवत में भी व्यक्त किया है।

'हृदयाकाश ही सबका आत्मा है। सोने का और सोने वाले का आधार भी यही है और जगकर आने वाले की आगमनक्रिया का अपादान भी यही है।।३०१।। बुद्धि से अतिरिक्त बाकी इंद्रियों का समूह स्वप्न नामक शयन करता है। सुषुप्ति नामक शयन बुद्धि करती है। बुद्धि सहित इंद्रियसमूह ही सोकर आने वाला है। बुद्धिमानों द्वारा सपना और जागना दोनों 'आना' कहा गया है'।।३०२।। यद्यपि विज्ञानमय को सोने वाला कहना चाहिये तथापि उपाधि में ही सोना-जागना आदि परिवर्तन हैं, चेतन में नहीं, इस अभिप्राय से यहाँ इंद्रियसमूह को और बुद्धि को सोने वाला और उठकर आने वाला कहा। सुषुप्ति से हटना स्वप्न व जाग्रत् दोनों में होने से दोनों अवस्थाओं की प्राप्ति को 'आना' कह दिया गया है। स्वप्न में बुद्धि 'आ' जाती है व जाग्रत् में इंद्रियाँ भी 'आ' जाती हैं।

ज्ञान की साम्प्रदायिकता व्यक्त करने के लिये राजा गार्ग्य को बताता है कि प्रजापति से इन्द्र ने व इन्द्र से प्रतर्दन ने विद्या प्राप्त की। प्रतर्दन काशी का ही राजा था यह गत अध्याय में कह चुके हैं। अजातशत्रु काशिराज था ही। अतः अजातशत्रु ने सूचित किया कि कुल परंपरा से उसे यह परा विद्या प्राप्त हुई है। ब्रह्मज्ञान यदि सम्प्रदाय से न प्राप्त हो तो सफल नहीं होता। कदाचित् वैध संप्रदायसम्बंध के बिना उपलब्ध ज्ञान को भी या जन्मांतर में सम्प्रदायलब्ध जानना चाहिये और या सिद्धों के अनुभवानुसार भगवान् को ही उपदेष्टा जानना चाहिये। तत्त्वनिष्ठों को ऐसा अनुभव हुआ है कि साक्षात् महादेव ने ज्ञान दिया। छांदोग्य में (४.९) वर्णन है कि विद्या पाकर भी सत्यकाम को तब तक संतोष न हुआ जब तक आचार्य ने उसे सत्यापित नहीं कर दिया। कहीं गार्ग्य भी राजा से विद्या पाकर इसी तरह असंतुष्ट न रह जाये इसलिये

---

१. स यावद्ध वा इन्द्र एतमात्मानं न विजज्ञे तावदेनमसुरा अभिबभूवुः। स यदा विजज्ञेऽथ हत्वाऽसुरान् विजित्य सर्वेषां देवानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं परीयाय तथो एवैवं विद्वान् सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद य एवं वेद।।२०।। इति चतुर्थाध्यायान्त्यवाक्यम्।

बभूव बलभित्[1] पूर्वं राजमानः स्वतेजसा। गुणकीर्त्यादिभिर्युक्तो देवानां प्रथमोऽभवत्॥३०६॥
अपेक्षारहितश्चैव स्वामी शक्रो यथा तथा। अपरोऽप्यात्मविज्ञानाद् भवत्येव न संशयः॥३०७॥
इन्द्रो यावदिदं ज्ञानं नाप्तवांस्तावदेव हि। असुराः परिभूयैनं त्रिलोक्याः पतयोऽभवन्॥३०८॥

उत्तराध्यायबीजं वपन् गुरुराह

कौषीतकिरिदं वाक्यमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह। सत्यस्य सत्यमित्येतद् ब्रह्मनामेति सार्थकम्॥
नोक्तवान् भगवान् सूर्यः सर्वमेतदुवाच ह॥३०९॥

एतदिति। एतस्यात्मनः प्रजापत्युपदेशाद् यद् विज्ञानं तद्बलेन महानिन्द्रः पूर्वं पुरा असुरान् जिगाय जितवान्, तथा न्यायवर्जितान् ब्राह्मणान् त्वाष्ट्रादीन्, यतींश्च हतवान्। न्यायवर्जित इति प्रथमान्तपाठ उत्तरत्र असुरहननकर्त्रा सम्बन्धः, छलेन तेषां हननस्य पूर्वाध्याय उक्तेरिति॥३०४॥ हत्वेति। भूरादिभेदेन जाग्रदादिभेदेन वा त्रिविधो लोकस्त्रिलोकस्तस्य सदोपद्रवकरणशीलान् असुरान् हत्वा सर्वेषां देवानामतीव श्रेष्ठतां प्राप्तः। श्रेष्ठतामभिनयति– निरपेक्ष इति। युद्धादि-रूपकार्य इतरनिरपेक्षः, बलिनां प्रथमगण्यश्च बभूव इत्युत्तरादपकर्षः॥३०५॥

बभूवेति। यतो बलनाम्नोऽसुरस्य भेदकः–इत्यपि पूर्वत्रैव हेतुतया सम्बद्ध्यते। स्वेन राजत इति स्वराट् तस्य भाव इति व्युत्पत्तिकस्वाराज्यपदार्थं संगृह्णाति–राजमान इत्यादिना॥३०६॥

आधिपत्यपदार्थमुपादत्ते–अपेक्षेति। इतरानपेक्षः स्वामी अधिष्ठाय पालयितेत्यर्थः। 'तथा' इत्यादि चरमवाक्यं (कौ.४.२०) व्याकरोति–शक्र इति। शक्रो यथा श्रेष्ठत्वादिमानभवत् तथा अन्यः अपि उक्तविधात्मज्ञानाद् भवति इति॥३०७॥

'स यावद्' इति प्रथमांशं (कौ.४.२०) विवृणुते– इन्द्र इति। इन्द्रस्य प्रजापतेरुक्तात्मज्ञानलाभात् पूर्वमेव असुराः तं जित्वा त्रिलोकीराज्यं कृतवन्तः, ज्ञानानन्तरं तु इन्द्र एवाधिपतिरभवदिति यावत्॥३०८॥

पदद्वयाभ्यासेन सूचितामुपनिषत्समाप्तिं दर्शयन्नुत्तराध्यायजिज्ञासां शिष्यस्योत्थापयति– कौषीतकिरिति त्रिभिः। इदं वेदेऽत्यन्तमभ्यस्तं वाक्यमुक्त्वा तूष्णीभावं मौनं जगामेति। कस्य कथनप्रसङ्गे मौनं कृतम्? अत आह– सत्यस्येति। ब्रह्मनिरूपणानन्तरं तस्य रहस्यं नामापि वक्तव्यमासीत् तच्च सत्यस्य सत्यम् इत्याकारम्–सत्यस्य स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चस्य प्राणस्वरूपस्य सत्यम् अधिष्ठानभूतं पारमार्थिकं रूपमित्यर्थकम्; एतद् नोक्तवान्। तर्हि एतन्नामसहितं ब्रह्मनिरूपणं केन कृतम्? अत आह– भगवानिति। वाजसनेयक इति शेषः॥३०९॥

अजातशत्रु को अपनी सांप्रदायिकता बताना जरूरी हुआ। वैध न होने पर भी गुरु वह बना ही था क्योंकि ब्रह्मविद्या का यह माहात्म्य है कि स्वभावतः गुरु बनने के अयोग्य भी विद्यावान् होकर गुरुभाव को प्राप्त हो जाता है। साथ ही विद्या का फल और उसकी प्रशंसा का कथन भी अपेक्षित है। अतः राजा ने कहा– 'हृदयाकाश का रूप धारण करने वाला जो आत्मा मैंने तुझे प्राण-प्रज्ञारूप उपाधि से समझाया, इसी आत्मा को पहले इंद्र ने प्रतर्दन को समझाया था॥३०३॥ प्राचीन काल में प्रजापति के उपदेश से प्राप्त इसी आत्मज्ञान के बल से महान् देवराज इंद्र ने असुरों पर विजय पायी थी तथा कुनीति का अनुसरण करने वाले त्वाष्ट्र आदि ब्राह्मणों का एवं ज्ञानतत्परतारूप स्वधर्म त्यागने वाले संन्यासियों का वध किया था॥३०४॥ तीनों लोकों में हमेशा उपद्रव खड़ा करने वाले असुरों को मार कर इंद्र सब देवताओं में भी अतिश्रेष्ठ हो गया, देवताओं का राजा हुआ। युद्धादि कार्यों में उसे किसी की सहायता की ज़रूरत न रही और वह बलशालिओं में अग्रगण्य हुआ॥३०५॥ बलनामक असुर का भेदन भी इंद्र ने किया। गुण, कीर्ति आदि से युक्त तथा देवताओं का अध्यक्ष वह अपने ही तेज़ से प्रकाशमान हुआ॥३०६॥ जिस तरह इंद्र किसी अन्य का मुखापेक्षी हुए बिना अध्यक्ष होकर पालनकर्ता है उसी

१. बलाख्यासुरं तु विष्णुर्जघानेति पुराणेषु प्रसिद्धम्। विष्णुनाऽयमिन्द्रोऽभिन्नो बभूवेति तात्पर्यम्। क्वचिद् 'बलसूदने'ति इन्द्रनाम स्मर्यते। अन्यः कश्चन बलोनेन हतः स्यात्, प्रार्थनया विष्णुं प्रचोद्य बलहत्याहेतुत्वाद्वा बलभिदिन्द्रः।

अजातशत्रुणा प्रोक्तमनुक्तं च कृपान्वितः। मुनये याज्ञवल्क्याय स्वशिष्यायात्मबोधनम्॥३१०॥

पर्यङ्कप्राणविद्या या एतदन्ता उदीरयन्। कौषीतकिस्ततो भीत इन्द्रादुपरराम ह॥३११॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्या-ऽऽनन्दात्मपूज्यपाद-शिष्येण श्रीशङ्करानन्दभगवता विरचित उपनिषद्रत्न आत्मपुराणे कौषीतकिसारार्थप्रकाशे गार्ग्याजातशत्रुसंवादो नाम तृतीयोऽध्यायः समाप्तः॥

सर्वपदार्थं विशदयति– अजातेति पूर्वार्द्धेन। कस्मै प्राह? अत आह– मुनय इति। कीदृशमेतद्? आत्मबोधनम् आत्मबोधसाधनमिति॥३१०॥

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदोऽध्यायचतुष्टयप्रतिपाद्यप्रदर्शनपूर्वकं मौने कारणमाह–पर्यङ्केति। प्रथमेऽध्याये साङ्गोपाङ्गे प्राणरूपपर्यङ्के स्थितस्य ब्रह्मण उपासनरूपा विद्योक्ता। द्वितीये प्राणविद्याः साङ्गाः कथिताः। तृतीयचतुर्थयोस्तु व्याख्यातविधया निर्गुणब्रह्मविद्या निरूपिता। इत्येवं पर्यङ्कप्राणविद्या या एतदन्ता एषा अजातशत्रुप्रोक्ता विद्याऽन्ते यासामेतादृशीर्विद्याः समुदीरयन् सन् कौषीतकिः शाखाप्रवक्ता इन्द्राद् भयेन उपरामं समाप्तिं कृतवान्। एतदुत्तराध्याये स्फुटीभविष्यतीत्यलम्॥३११॥

ज्ञानात् सुखाच्च सर्वत्र सान्निध्यं यस्य भासते। सर्वान्तराय देवाय तस्मै पूर्णात्मने नमः॥

इति श्रीदत्तकुलतिलक-कृष्णचन्द्रात्मज-दिलारामसूरितनूज-
रामकृष्णस्य श्रीविश्वेश्वराश्रमपूज्यपादानुगृहीतस्य
कृतावात्मपुराणटीकायां सत्प्रसवाख्यायां
तृतीयोऽध्यायः समाप्तः॥

तरह अन्य व्यक्ति भी आत्मसाक्षात्कार से सर्वनिरपेक्ष व स्वामी बन जाता है॥३०७॥ जब तक इंद्र ने यह ज्ञान प्राप्त नहीं किया था तभी तक असुर उसे हरा कर त्रिलोकी के मालिक बन बैठे थे'॥३०८॥

गुरु जी अगले अध्याय का बीजारोपण करते हुए इस कथा का समापन करते हैं–'इतनी बात कहकर कौषीतकि महर्षि चुप हो गये। 'सत्य का सत्य' यह जो ब्रह्म का सार्थक नाम है वह कौषीतकि ने नहीं बताया। भगवान् सूर्य ने यह सब बताया है॥३०९॥ कृपालु होकर उन्होंने अपने शिष्य मुनि याज्ञवल्क्य को आत्मज्ञान के उपायभूत वे सारे तथ्य बताये हैं जिनमें से बहुतेरे अजातशत्रु ने कहे हैं व कुछेक नहीं भी कहे हैं'॥३१०॥

कौषीतक्युपनिषत् में पहले अध्याय में प्राणरूप पर्यंक (पलंग या सिंहासन) पर स्थित अपर ब्रह्म की उपासना बतायी है। उत्तम शिष्य तो गुरु द्वारा सोपपत्ति एक बार उपदिष्ट होकर तत्त्वनिष्ठ हो जाता है। जिसे सुनना ही बारम्बार पड़ता है, एवं च खुद को व गुरु को क्लेश दिये बिना जो समझ नहीं पाता वह मन्द शिष्य है। मध्यम शिष्य वह है जो गुरु का उपदेश समझ तो लेता है पर अपना चित्त निरुद्ध नहीं कर पाता। उसके चित्त को उपशांत करने के उद्देश्य से भगवती श्रुति ने दूसरे अध्याय में अनेक फलों वाली प्राणोपासना बतायी है। यह उपनिषद्दीपिका में पुराणकार ने व्यक्त किया है। पर्यंकस्थ अपर ब्रह्म की उपासना से शोधित और प्राणोपासना से एकाग्रीकृत चित्त वाले को इन्द्र-प्रतर्दनोपाख्यानपूर्वक ब्रह्मविद्या का उपदेश तीसरे अध्याय में किया। उसमें निर्विशेष को समझने के लिये प्राणरूप उपाधि का सहारा लिया जिससे कथंचित् भ्रम हो सकता है कि प्राण ही आत्मा होगा, अतः सुषुप्त पुरुष का प्राण से भेद दिखाकर आनंदात्मा श्रीमहेश्वर के उपदेश के लिये चौथा अध्याय है। इतना उपदेश देकर भी कौषीतकि ने कुछ रहस्य प्रकट नहीं किया इसे सकारण बताते हुए गुरु जी यह अध्याय समाप्त करते हैं– 'पर्यंकोपासना व प्राणोपासना से अजातशत्रु के उपदेश तक की विद्याओं का कथन करते हुए कौषीतकि महर्षि आत्मप्रसंग में और कुछ बताने से उपरत हो गये क्योंकि इन्द्र से डरते थे!'॥३११॥

॥ कौषीतकीसारार्थप्रकाश में 'गार्ग्य-अजातशत्रुसंवाद' नामक तीसरा अध्याय सम्पूर्ण हुआ ॥

॥ उपनिषद्रत्न आत्मपुराण में ऋग्वेद की उपनिषदों का विवरण पूरा हुआ ॥